प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय,
मत्री, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली ।

पहली बार . ३०००
अप्रैल सन् १९३८
मूल्य, दोनो खण्डो का
[illegible] रुपये

मुद्रक,
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,
नई दिल्ली ।

क्षमा-प्रार्थना

हमारा इरादा 'झलक' के दोनो खण्डो को एकसाथ ही प्रकाशित करने का था, जो लेकिन अनुवादको से दूसरे खण्ड का मैटर आने में और प्रेस की ओर से छपाई मे अनिवार्य रूप से जो देरी हुई उसके कारण पहला खण्ड दिसम्बर के अन्त मे प्रकाशित करना पडा। इसमे हमें तो असुविधा हुई ही, पाठको को भी असुविधा हुई होगी इसके लिए हम पाठको से क्षमा चाहते है।

इस खण्ड के अन्त में जो निर्देशिका (Index) दी गई है उसके तैयार कराने में भी हमे बहुत असुविधा और मिहनत उठानी पडी। एक मित्र ने इसके तैयार करने का भार उठाया था, लेकिन उनपर और दूसरे काम का भार आजाने से वह इसे पूरा न कर सके, इस कारण अपने और कार्यों को करते हुए, यह भी हमीको करना पडा। पहले से इस कार्य का कोई अनुभव न होने से इसमे कई त्रुटियाँ रह गई होगी, इसके लिए हम पाठको से क्षमा चाहते है। १५०० पृष्ठो को महीने-सवा महीने के थोडे-से समय मे पढकर उनकी निर्देशिका बनाना आसान काम नही था। अगर इस कार्य मे अपने साथी श्री पुरुषोत्तम पन्त और श्री हरिभाऊ उपाध्याय के निजी मत्री तथा 'राजस्थान-सघ' के सदस्य श्री सुधीन्द्र बी० ए० की अनवरत सहायता न मिलती तो हमे इस पुस्तक मे निर्देशिका लगाने का विचार ही छोड देना पडता। अत इन दोनो मित्रो का और 'राजस्थान सघ' का हम हृदय से आभार मानते है।

पहले खण्ड मे हमने सन् १९३२ से अबतक की घटनाओ की सूची देने की बात लिखी थी, लेकिन हमे बडा अफसोस है कि हम उसका प्रबन्ध अन्त समय तक नही कर सके। एक जिम्मेदार मित्र ने इसके तैयार करने का जिम्मा अपने ऊपर लिया था, लेकिन वह भी अपने और कामो मे इतने लगे रहे कि इस ओर ध्यान न देसके। और समय पर सूची बनाकर नही दे सके। अत इसके लिए हम पाठको से क्षमा चाहते है। इसका दूसरा सस्करण हुआ तो उसमे हम अवश्य जोड देगे।

यद्यपि इस पुस्तक की छपाई मे प्रेस की ओर से काफी देरी हुई है और पाठको के सामने इसके देर से आने मे, एक बडे अशतक, प्रेस जिम्मेदार है, लेकिन फिर भी हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस और उसके कर्मचारी धन्यवाद के पात्र है। इसको इतनी सुन्दरता मे छापने मे उन्होने मिहनत तो की ही है।

मंत्री
सस्ता साहित्य मण्डल

विषय-सूची

विश्व-इतिहास की झलक

[दूसरा खण्ड]

: १३२ :

समाजवाद का आगमन

१३ फरवरी, १९३३

मैं तुम्हे लोकसत्ता की प्रगति के बारे मे लिख चुका हूँ, मगर, याद रखना, इस प्रगति के लिए खूब लडना पडा था। किसी प्रचलित व्यवस्था में जिन लोगो का स्वार्थ होता है, वे तब्दीली नहीं चाहते और कोई तब्दीली होती है तो उसे सारा जोर लगाकर रोकने की कोशिश करते हैं। फिर भी ऐसी तब्दीलियो के बिना कोई सुधार या तरक्की नहीं हो सकती। किसी भी संस्था या शासन-प्रणाली को उससे अच्छी के लिए जगह खाली करनी पडती है। जो लोग यह तरक्की चाहते हैं, उन्हे पुरानी सस्था या पुराने रिवाज पर हमला करना ही पडता है। इस तरह उन्हे सदा मौजूदा हालत की मुखालफत करनी और जो लोग उस हालत से फायदा उठाते हैं उनके साथ जद्दोजहद करना लाजिमी होजाता है। पश्चिमी योरप में शासकवर्ग ने हर तरह की तरक्की की कदम-कदम पर मुखालफत की। इंग्लैण्ड में उन्होने तब हथियार डाले जब देख लिया कि ऐसा न करने से हिंसात्मक क्रांति होने की सम्भावना है। जैसा मैं पहले बता चुका हूँ, उनके लिए आगे बढ़ने का दूसरा कारण नये व्यवसायी लोगो का यह खयाल था कि थोडी-सी लोकसत्ता तिजारत के लिए फायदेमन्द है।

मगर मैं तुम्हे फिर याद दिलाता हूँ कि उन्नीसवीं सदी के पहले आधे हिस्से में ये लोकसत्तात्मक विचार पढ़े-लिखे लोगो तक ही महदूद थे। मामूली आदमियो पर उद्योगवाद की तरक्की का जबरदस्त असर हुआ था और वे ज़मीन छोड़-छोड़-कर कारखानो में जाने लगे थे। कारखानो के मजदूरो का वर्ग बढ़ रहा था। आम तौर पर कोयले की खानो के पासवाले शहरो में वे भद्दे और गन्दे मकानो में भेड़-बकरियो की तरह भरे रहते थे। इन मजदूरो के खयालात जल्दी-जल्दी बदल रहे थे और उनके अन्दर एक नई मनोवृत्ति का विकास हो रहा था। जो किसान और कारीगर भूख के मारे कारखानो में आ-आकर भरती हुए थे उनसे ये मजदूर बिलकुल जुदा थे। जैसे इन कारखानो के खोलने में इंग्लैण्ड सबसे आगे बढ़ा हुआ था, वैसे ही कारखानो के मजदूरो का वर्ग भी पहलेपहल इंग्लैण्ड में पैदा हुआ और बढ़ा। कारखानों के भीतर की हालत खौफनाक थी और मजदूरो के घर या झोपडे और भी बुरी हालत में थे। उन्हें तकलीफ भी बहुत थी। छोटे-छोटे बच्चो और औरतो को इतनी देर तक काम करना पड़ता था कि आज उस बात पर यकीन नही होता।

फिर भी इन कारखानो और घरो की हालत कानून के जरिये सुधारने के लिए जितनी कोशिशें की गई, मालिको ने डटकर उनकी मुखालफत की। उनका कहना था कि यह सम्पत्ति के अधिकारो में शर्मनाक दस्तन्दाजी है। खानगी मकानो को जबरदस्ती साफ करवाने का उन्होने इसी बिना पर विरोध किया। बहुत-कुछ इसी तरह की मनोवृत्ति आज हिन्दुस्तान में भी न सिर्फ कारखानेदारो और जमींदारो मे बल्कि सामाजिक और धार्मिक कट्टरो में भी पाई जाती है। ये पिछले भले आदमी सुधार में बाधा डालने को सदा मजहब और रिवाज की आड लेते है।

गरीब अग्रेज मजदूर धीरे-धीरे भूख और ज्यादा काम के बोझ से मरे जा रहे थे। नेपोलियन की लडाइयो से देश थक गया था और आर्थिक मन्दी फैल गई थी। इससे ज्यादा तकलीफ मजदूरो को ही हुई। (१९१४–१८ के महायुद्ध की विरासत की शक्ल में आज कुछ इसी तरह की हालत सारी दुनिया की हो रही है।) स्वभावत मजदूर अपनी हिफाजत करने और अच्छी हालत के लिए लड़ने को सघ बनाना चाहते थे। पुराने जमाने मे कारीगरो और दस्तकारो की पंचायते होती थी, मगर वे इन सघो से बिलकुल जुदा ढग की थी। फिर भी उन पंचायतो की याद से कारखानो के मजदूरो को अपने संघ बनाने में प्रोत्साहन मिला होगा। मगर उन्हे ऐसा नही करने दिया गया। ब्रिटेन का शासक-वर्ग फ्रास की राज्यक्राति से इतना डर गया कि उन्होने 'सम्मिलन कानून' (Combination Acts) के नाम से ऐसे नियम बना दिये कि गरीब मजदूर अपने दु:ख-सुख की चर्चा करने के लिए इकट्ठे भी न हो सके। 'कानून और व्यवस्था' का सदा से यही काम रहा है—इंग्लैण्ड मे भी था और हिन्दुस्तान में भी है—कि जिन मुट्ठीभर लोगो के हाथ में सत्ता है उनके उद्देश्य पूरे होते रहे और उनकी जेबो पर आँच न आने पावे।

लेकिन मजदूरो को इकट्ठा होने मे रोकनेवाले कानूनो से हालत नही सुधरी। उनसे वे और भडक गये और निराश होगये। उन्होने गुप्त समितियाँ बनाई, अपनी बाते गुप्त रखने की कसम खाई और सुनसान जगहो में आधी रात गये सभायें करने लगे। धोखा खाने या भेद खुल जाने पर षडयंत्र के मुकदमे चलते और भयकर सजायें दी जाती। कभी-कभी वे गुस्से में आकर कलो को तोड़-फोड़ डालते, कारखानो में आग लगा देते और अपने मालिको का खून भी कर डालते थे। आखिर १८२५ ई० में मजदूर सगठनो पर से पाबन्दियाँ कुछ-कुछ हटाली गई और मजदूर-सघ (Trade Unions) बनने लग गये। ये संघ अच्छी तनखाह पानेवाले होशियार मजदूरो ने बनाये। मामूली मजदूर लम्बे अर्से तक असगठित ही रहे। इस तरह मजदूर-आदोलन की यह सूरत होगई कि मिलकर शर्तें तय करने के तरीके पर मजदूरो

की हालत सुधारने के लिए मजदूर-संघ बन गये। मजदूरो के हाथ में असली हथियार तो सिर्फ हडताल करने के अधिकार का था, यानी वे जिस कारखाने में या जहाँ कही काम करते थे वहाँ काम बन्द करके उसका चलना रुकवा सकते थे। बेशक यह बडा हथियार था, मगर उनके मालिको के हाथ मे इससे भी जबरदस्त हथियार यह था कि वे मजदूरो को भूखो मारकर कब्जे में कर सकते थे। इस तरह मजदूरो की लडाई जारी रही। उन्हे कुरबानी बहुत करनी पडी और धीरे-धीरे फायदा भी होता गया। पार्लमेण्ट पर उनका सीधा असर नहीं था, क्योकि उन्हे मत देने का हक भी नही मिला था। १८३२ ई० के जिस 'सुधार कानून' (Refoım Bıll) पर इतना शोर मचा था उससे सिर्फ सम्पन्न मध्यमवर्ग के लोगो को राय देने का हक हासिल हुआ था। मजदूर ही नहीं, गरीब मध्यमवर्ग के लोग भी वोट के हक से महरूम रहे थे।

इस बीच में मञ्चेस्टर के कारखानेदारो मे ही एक रहमदिल आदमी पैदा हुआ। उसे मजदूरो की दिल दहलाने वाली हालत देखकर दर्द हुआ। उसका नाम राबर्ट ओवेन था। उसने अपने कारखानो में बहुत-से सुधार किये और मजदूरो की हालत अच्छी की। वह अपने मालिक भाइयो में आन्दोलन मचाता रहा और दलीलो से उन्हे मजदूरो के साथ अच्छा बर्ताव करने के लिए समझाता रहा। कुछ उसके कारण और कुछ दूसरी हालतो से मजबूर होकर ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने मजदूरों को मालिको के लालच और खुदगर्जी से बचाने के लिए पहला कानून पास किया। यह १८१९ ई० का 'कारखानो का कानून' (Factoıy Act) था। इस कानून में एक नियम यह था कि नौ-नौ वर्ष के छोटे बच्चो से बारह घण्टे से ज्यादा काम न लिया जाय। इस धारा से भी तुम्हे कल्पना होजायगी कि मजदूरो को कैसी दर्दनाक हालत में रहना पड़ता था।

कहते हैं कि रॉबर्ट ओवेन ने ही १८३० ई० के आसपास 'समाजवाद' शब्द का पहलेपहल प्रयोग किया। अलबत्ता गरीब-अमीर को एक सतह पर लाने का और सम्पत्ति के बराबर बँटवारे का विचार नया नहीं था। पहले भी बहुत लोगो ने यह खयाल जाहिर किया था। पुरानी ग्राम-पंचायतो में एक तरह का साम्यवाद था ही, क्योंकि उनमें जाति या गॉवभर का जमीन और दूसरी सम्पत्ति पर सम्मिलित अधिकार होता था। इसे प्रारम्भिक साम्यवाद (Primitive Communism) कहते हैं और यह हिन्दुस्तान और दूसरे कई देशो में पाया जाता था। मगर नये समाजवाद में सबको बराबर कर देने की निश्चित इच्छा के अलावा और भी बहुत कुछ था। यह अधिक निश्चित है और शुरू में इसका उद्देश्य यह था कि यह

कारखानो वाली उत्पत्ति की नई प्रणाली पर लागू होजाय। इस तरह यह औद्योगिक प्रणाली की औलाद था। ओवेन का खयाल यह था कि मजदूरो की सहयोग-समितियां बन जायें और मजदूरो का कारखानो में हिस्सा होजाय। उसने इंग्लैण्ड और अमेरिका में नमूने के कारखाने और आश्रम खोले और उन्हे कहीं कम और कहीं ज्यादा कामयाबी भी मिली। मगर वह अपने मालिक भाइयो या सरकार के खयालात नहीं बदल सका। फिर भी अपने समय में उसका असर बहुत था और उसने 'समाजवाद' का एक ही शब्द ऐसा चला दिया जिसने उसी समय से करोडो के दिलो पर कब्जा कर लिया।

इस बीच में पूजीवादी उद्योग-धन्धे बराबर बढते गये, और जैसे-जैसे इसे कामयाबी-पर-कामयाबी मिलती गई वैसे-वैसे मजदूरो का सवाल भी जोर पकडता गया। पूजीवाद का नतीजा यह हुआ कि उत्पत्ति बहुत बढ गई और उसकी वजह से आबादी भी बहुत तेजी से बढी, क्योकि अब पहले से ज्यादा आदमियों की परवरिश हो सकती थी। एक तरफ बडे-बडे व्यवसाय खडे होगये और उनके अलग-अलग विभागो में पेचीदा ढग का सहयोग स्थापित होगया। दूसरी तरफ छोटे-छोटे धन्धो की मुकाबिला करने की ताकत कुचलकर बरबाद करदी गई। इग्लैण्ड में दौलत का दरिया उलट पडा, और उसे ज्यादातर नये कारखाने और रेलें बनाने या ऐसे ही दूसरे व्यवसाय खडे करने में लगाया गया। मजदूरो ने भी हडतालें कर-करके अपनी हालत सुधारने की कोशिश की, मगर ये हडतालें आम तौर पर बुरी तरह नाकामयाब होती थीं। बाद में मजदूर १८४० ई० के चार्टिस्ट आन्दोलन में शामिल होगये। मैं तुम्हे किसी पिछले खत में बता चुका हूँ कि यह आन्दोलन १८४८ ई० की क्रान्ति के वर्ष में बैठ गया था।

पूजीवाद की कामयाबी से लोगो की आँखो में चकाचौध होगई, मगर फिर भी कुछ उग्र सुधारक, ऊँचे खयालात के या दूसरो की भलाई की ख्वाहिश रखनेवाले ऐसे लोग रह गये थे, जिन्हे इस हत्यारी स्पर्धा यानी एक-दूसरे का गला काटनेवाली लाग-डाट से खुशी नहीं होती थी। वे देश की दौलत बढ़ती रहने पर भी इससे होनेवाले मजदूरो के दुखो से दुखी थे। इग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी में इन लोगो ने जुदा-जुदा उपाय भी सोचे और अलग-अलग हल सुझाये। इन्हीं सबका इकट्ठा नाम समाजवाद, समष्टिवाद या सामाजिक लोकसत्ता है। थोडे-बहुत फर्क के साथ इन सब शब्दो का एक ही अर्थ है। ये सब सुधारक आमतौर पर इस बात पर सहमत थे कि झगडे की जड उद्योगो पर व्यक्तिगत स्वामित्व और नियंत्रण यानी कुछ थोडे-से लोगो की मालिकी और कब्जे का होना है। व्यक्तियो के बजाय राष्ट्र या राज्य

उद्योगो का या कम-से-कम ज़मीन और बडे-बडे उद्योगों का, यानी उत्पत्ति के ख़ास-ख़ास ज़रियो का, मालिक बन जाय और वही उन्हे चलावे तो मज़दूरो के यो चूसे जाने का खतरा न रहे। इस तरह, एक धुंधली शक्ल में ही सही, लोग पूजीवादी व्यवस्था के मुकाबिले का दूसरा कोई उपाय ढूँढने लगे। मगर पूंजीवादी व्यवस्था घर बैठना नही चाहती थी। उसका ज़ोर तो बढ़ता चला जारहा था।

इन समाजवादी विचारो के चलानेवाले शिक्षित और दिमागी लोग थे और कारखानेदारो में से रॉबर्ट ओवेन था। मज़दूर-संघो का आन्दोलन कुछ समय के लिए दूसरी दिशा मे चला गया और सिर्फ़ ज्यादा मज़दूरी और पहले से अच्छी हालत के लिए कोशिश करने लगा। मगर उसपर इन विचारो का आम तौर पर असर पडा और उसका खुद का असर समाजवाद के विकास पर भी खूब हुआ। योरप के बडे-बडे उद्योगवादी देश इंग्लैण्ड, फ्रास और जर्मनी थे। इन तीनो में अपने-अपने यहाँ के मज़दूरवर्ग के बल और स्वभाव के मुताबिक समाजवाद का विकास ज़रा अलग-अलग तरह से हुआ। सारी बातो को देखते हुए अग्रेज़ो का समाजवाद अनुदार था। उसका विश्वास धीरे-धीरे उन्नति के तरीको पर था और दूसरे यूरोपियन देशो का समाजवाद उग्र और क्रान्तिकारी था। अमेरिका की हालत बिलकुल जुदा थी, क्योंकि वह बड़ा लम्बा-चौड़ा देश ठहरा और वहाँ मज़दूरो की माँग भी बहुत थी। इसीलिए बहुत अर्से तक वहाँ कोई ज़ोरदार मज़दूर-आन्दोलन नही पनप सका।

उन्नीसवीं सदी के बीच से लगाकर आगे एक पीढी तक ब्रिटिश उद्योग ससार पर हावी रहा और दौलत की नदी उसीकी तरफ बहती रही। कारखानो का मुनाफ़ा और हिन्दुस्तान और दूसरे गुलाम मुल्को से चूसा हुआ रुपया बराबर उसकी जेब में आता रहा। इस धन का एक हिस्सा मज़दूरो के पास भी पहुँच गया और उनके रहन-सहन का दर्जा इतना ऊँचा हो गया जितना पहले कभी नहीं हुआ था। खुशहाली और क्रान्ति का क्या साथ? ब्रिटिश मज़दूरो की पुरानी क्रान्ति की भावना काफूर होगई। ब्रिटिश छाप का समाजवाद सबसे नरम होगया। इसका नाम फैबियनवाद पड़ गया। इस नाम का एक रोमन सेनापति था। वह दुश्मन से सीधी लडाई न लड़कर उसे धीरे-धीरे थका मारता था। १८६७ ई० में इंग्लैण्ड में राय देने का हक और भी बढा दिया गया और थोडे-से शहरी मज़दूरो को भी राय देनें का हक मिल गया। मज़दूर-संघ इतने सयाने और खुशहाल होगये थे कि मज़दूरदल का मत ब्रिटिश उदारदल को मिलने लगा था। इस समय के बारे में लिखते हुए कार्ल मार्क्स कहता है:—"अंग्रेज़ी मज़दूर का नेता होना इज्जत की बात नहीं है, उसका नेता न होना

इज्ज़त की बात है, क्योकि इन नेताओ में से ज्यादातर ने अपनेआपको उदारदल के हाथो बेच दिया है।" यह बात पचास वर्ष से ज्यादा होगया तब लिखी गई थी, मगर आज भी अंग्रेज़ी मजदूर नेता इस बात के लिए बदनाम है कि जिन लोगो के कारण वे बड़े आदमी बनते है उन्हींको भूल जाते है और अपने पुराने दल और काम के प्रति बेवफा साबित होते हैं। आज तो उन्होंने इतनी तरक्की और करली है कि उदारदल के बजाय अब उनकी राय अनुदार दल के साथ रहती है।

इधर इंग्लैण्ड वैभव के मारे फूला न समा रहा था और उधर योरप के दूसरे मुल्को में एक नया मत जोर पकडता जाता था। यह मत अराजकतावाद (Anarchism) कहलाता था। जो लोग इसके बारे में कुछ नही जानते वे इस शब्द से ही डर जाते है। अराजकतावाद का अर्थ यह है कि जहाँतक होसके समाज में हुकूमत करनेवाली कोई केन्द्रीय सरकार न रहे और व्यक्तियो को ख़ूब आज़ादी मिले। अराजकता के आदर्श में अलौकिक ऊँचाई थी। उसके अनुसार एक "ऐसे आदर्श राष्ट्र में विश्वास होना चाहिए, जिसका आधार परोपकार-बुद्धि, ऐक्य-भाव और दूसरे के अधिकारो का स्वेच्छापूर्वक लिहाज़ हो।" राज्य की तरफ से कोई बल-प्रयोग या ज़बरदस्ती न हो। थोरो नाम के अमेरिकन ने कहा है:—"सरकार सबसे अच्छी वह है जो बिलकुल शासन न करे और जब मनुष्य ऐसी सरकार के लिए तैयार होजायँगे तब उन्हे वैसी ही सरकार मिल जायगी।"

यह आदर्श बडा बढिया मालूम होता है। हरेक को पूरी आज़ादी हो, हरेक आदमी दूसरे का लिहाज़ रक्खे, सब तरफ नि स्वार्थता का बोलबाला हो और लोग खुशी-खुशी आपस में सहयोग करे—इससे ज्यादा और क्या चाहिए ? मगर आज की खुदगर्ज़ और हिंसा से भरी दुनिया के लिए यह दिल्ली अभी बहुत दूर है। अराजकतावादियो की यह इच्छा कि केन्द्रीय सरकार कतई न हो या वह नाम-मात्र को शासन करे, शायद इस कारण पैदा हुई होगी कि स्वेच्छाचारी एकतंत्री शासन ने लोगो को बहुत दिनो तक दु ख दिये थे। चूंकि सरकारो ने रिआया को कुचला और सताया था, इसलिए सरकार रहने ही न दी जाय। अराजकतावादियो को ऐसा भी लगा कि कुछ तरह के समाजवाद में राष्ट्र उत्पत्ति के सारे साधनो का मालिक होता है और इसलिए मुमकिन है वह खुद निरकुश बन जाय। इस तरह अराजकतावादी लोग ऐसे समाजवादी थे जिनका स्थानीय और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर बहुत ज़ोर था। समाजवादियो में से भी बहुत लोग अराजकतावादियो के मत को एक आगे या बहुत दूर के आदर्श के रूप में मानने को तैयार थे, मगर उनकी राय में कुछ समय तक समाजवाद में भी एक केन्द्रीय और मज़बूत सरकार का होना ज़रूरी था। इस तरह,

हालाँकि समाजवाद और अराजकतावाद में काफी अन्तर था, फिर भी दोनो के बहुत-से विचारो की छाया एक-दूसरे पर पड़ती और मिलती थी ।

आधुनिक उद्योग-धंधो के कारण एक संगठित मजदूरवर्ग पैदा हुआ । अराजकतावाद का स्वभाव ही ऐसा था कि वह कोई सुसगठित आन्दोलन नही बन सकता था । इसलिए उद्योगवादी देशो में जहाँ मजदूर-सघ और ऐसी ही संस्थायें बढ रही थी, वहाँ अराजकतावादी विचारो के फैलने की बहुत कम सभावना थी । इस तरह न इग्लैण्ड मे और न जर्मनी मे ही अराजकतावादियो की कोई बडी सख्या हुई । लेकिन दक्षिणी और पूर्वी योरप उद्योग-धंधो मे पिछड़ा हुआ था, इसलिए वहाँ इन विचारो के लिए ज्यादा उपजाऊ जमीन थी । जैसे-जैसे वर्तमान उद्योगवाद का दक्षिण और पूर्व में प्रचार हुआ, वैसे-वैसे अराजकतावाद कमजोर पडता गया । आज यह करीब-करीब एक मुर्दा उसूल हो गया है, मगर स्पेन जैसे पिछडे हुए बडे-बडे कल-कारखानो से सूने देश में फिर भी कहीं-कही इसके निशान मिलते है ।

अराजकतावाद का आदर्श भले ही बहुत सुन्दर हो, मगर इससे न केवल जल्दी भडकनेवाले और असन्तुष्ट लोगो को ही बल्कि ऐसे स्वार्थियो को भी आश्रय मिला जो आदर्श की आड़ में अपना फायदा करना चाहते थे । और इसके कारण एक खास तरह की हिंसा का जन्म होगया जो अराजकता का नाम लेते ही तुरन्त हर किसीकी समझ मे आजाती है और जो इतनी बदनाम भी हो चुकी है । अराजकतावादी चाहते तो यह थे कि समाज को बदला जाय, मगर किसी बडे पैमाने पर यह कुछ न हो सका तो उन्होने एक नये ढंग से प्रचार करने का इरादा किया । यह 'करके दिखाने का तरीका' कहलाता था । इसके अनुसार वे मुल्क के खिलाफ बहादुरी के काम करके और अपने प्राणो की कुरबानी देकर साहस का नमूना पेश करते और उसका असर डालते थे । इस खयाल से अलग-अलग मुकामो पर बलवे हुए । जिन लोगो ने इनमें हिस्सा लिया उन्होने तुरन्त किसी कामयाबी की उम्मीद नही रक्खी थी । अपने काम का इस नये ढंग से प्रचार करते हुए वे खुशी से अपनी जान जोखिम मे डालते थे । पर ये विद्रोह दबा दिये गये और फिर अराजकतावादियो ने व्यक्तिगत आतकवाद का आश्रय लेना शुरू कर दिया । राजाओ और बडे हाकिमो पर बम फेंके जाने लगे और उन्हे गोली का शिकार बनाया जाने लगा । यह बेवकूफी से भरी हिंसा बढ़ती हुई कमजोरी और निराशा की खुली निशानी थी । धीरे-धीरे उन्नीसवीं सदी के खतम होते-होते अराजकतावाद आन्दोलन की हैसियत से एकदम खत्म होगया । बहुत-से अराजकतावादी नेताओ ने बम फेंकने और 'कुछ काम कर दिखाने' के प्रचार के इस तरीके को नापसन्द किया और उसकी निन्दा भी की ।

तुम्हें कुछ मशहूर अराजकतावादियो के नाम बताऊँगा। मजे की बात यह है कि खानगी जीवन में अधिकाश अराजकतावादी नेता निहायत शरीफ, आदर्शवादी और पसन्द करने लायक आदमी थे। शुरू के अराजकतावादी नेताओ में पायरे प्राउ-धा नाम का एक फ्रासीसी था। यह १८०९ से १८६५ ई० तक जिन्दा रहा। उससे कम उम्र में छोटा माइकेल बॅकुनिन नाम का रूसी रईस था। यह योरप का, और खास तौर पर दक्षिण में, एक बडा लोकप्रिय मजदूर नेता था। इसने एक अन्तर्राष्ट्रीय सघ बनाया था, मगर मार्क्स के साथ भिडन्त हो जाने के कारण उसने इसे सघ से निकाल दिया। तीसरा नाम रूसी राजकुमार पीटर क्रोपाटकिन का है। यह तो हमारे अपने समय की बात है। उसने अराजकतावाद और दूसरे विषयो पर कुछ बहुत ही रोचक पुस्तकें लिखी हैं। चौथा और आखिरी नाम जो मैं तुम्हे बताऊँगा वह है इटली-निवासी एनरीको मालाटेस्टा का। यह अभी जिन्दा है और ८० वर्ष से ज्यादा उम्र का है। यह उन्नीसवीं सदी के महान् अराजकतावादियो का बचा हुआ निशान है।

मालाटेस्टा के बारे में एक सुन्दर कहानी कहे बिना मैं नहीं रह सकता। इटली की एक अदालत में उसपर मुकदमा चल रहा था। सरकारी वकील ने बहस में कहा कि उस इलाके के मजदूरो में मालाटेस्टा का बहुत ज्यादा असर है और उसने उनका स्वभाव ही बिलकुल बदल दिया है। वह तो अपराधवृत्ति का ही खात्मा कर रहा है और जुर्मों की तादाद बहुत घटती जा रही है। अगर अपराध बन्द हो गये तो फिर अदालतें क्या करेंगी? इसलिए मालाटेस्टा को जेल भेजा जाय। मालाटेस्टा को सचमुच छ महीने कैद की सजा हुई।

बदकिस्मती से अराजकतावाद के साथ हिंसा का दूध-पानी का-सा सम्बन्ध हो-गया और लोग यह भूल गये कि यह भी एक तत्त्वज्ञान और एक आदर्श है जिसने बहुत-से अच्छे-अच्छे आदमियो पर असर डाला है। आदर्श के रूप में हमारी आज-कल की अधूरी दुनिया मे यह अब भी बहुत दूर है और इसने जो सरल उपाय बताये है वे हमारी आधुनिक पेचीदा सभ्यता के अनुकूल नहीं हैं।

कार्ल मार्क्स और मज़दूर-संगठनों की वृद्धि

१४ फरवरी, १९३३

उन्नीसवीं सदी के बीच के आसपास योरप के मजदूर और समाजवादी संसार में एक नये और प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला आदमी हुआ। यह आदमी कार्ल मार्क्स था, जिसका नाम इन खतो में पहले ही आ चुका है। वह एक जर्मन यहूदी था। उसका जन्म १८१८ ई० में हुआ था। उसने कानून, इतिहास और तत्त्वज्ञान का अध्ययन किया और एक अखबार निकाला, जिसके कारण उसका जर्मनी के अधिकारियो से झगड़ा होगया और वह पेरिस चला गया। पेरिस में वह नये-नये लोगो के सम्पर्क में आया, उसने समाजवाद और अराजकतावाद पर नई-नई किताबें पढ़ीं और समाजवादी बन गया। वही पेरिस में फ़्रेडरिक एञ्जेल्स नामक दूसरे जर्मन से उसकी मुलाकात हुई। यह इंग्लैण्ड आकर बस गया था और वहाँ रुई के बढ़ते हुए उद्योग में एक कारख़ाने का मालिक बन गया था। एञ्जेल्स भी वर्तमान सामाजिक स्थिति से दुखी और असन्तुष्ट था और अपने चारो तरफ दीखनेवाली ग़रीबी और शोषण को रोकने के उपायों की तलाश कर रहा था। सुधार-सम्बन्धी रॉबर्ट ओवेन के ख़यालात और कोशिशें उसे अच्छी लगी और वह ओवेन का अनुयायी बन गया। पेरिस जाने पर उसकी कार्ल मार्क्स से पहलेपहल मुलाकात हुई। इससे भी उसके ख़यालात बदले। आगे से मार्क्स और एञ्जेल्स गहरे दोस्त और साथी होगय। दोनों के एक-से ख़याल थे और दोनो एक ही उद्देश्य के लिए दिलोजान से मिलकर काम करने लगे। उम्र में भी दोनो करीब-करीब बराबर के थे। उनका सहयोग इतना गहरा था कि जो किताबें उन्होने छपाई उनमें से ज्यादातर दोनो की लिखी हुई थी।

उस वक़्त की फ़्रांस की सरकार ने मार्क्स को पेरिस से निकाल दिया। यह लुई फिलिप का जमाना था। मार्क्स लन्दन चला गया और वहाँ बहुत वर्ष तक रहा। वहाँ वह ब्रिटिश म्यूज़ियम की किताबें पढ़ने में लगा रहता। उसने खूब मेहनत करके अपने उसूल पक्के कर लिये और फिर उनपर लिखने लगा। मगर वह कोरा अध्यापक या तत्त्वज्ञानी नहीं था, जो उसूल गढ़ा करता हो और मामूली बातो से सरोकार न रखता हो। जहाँ उसने समाजवादी आन्दोलन की धुँधली विचार-रेखा का विकास किया और उसे स्पष्ट किया और उसके सामने निश्चित और साफ़-साफ़ विचार और ध्येय उपस्थित किये, वहाँ वह मजदूरो और उनके आन्दोलन को

सगठित करने का काम भी असली तौर पर, जोरो के साथ, करता रहा। सन् १८४८ मे, जो योरप मे क्रान्तियो का वर्ष कहलाता है, जो घटनायें हुईं उनका मार्क्स पर [illegible] असर पड़ा। उसी साल उसने और एञ्जेल्स ने मिलकर एक घोषणा-पत्र या मैनीफेस्टो प्रकाशित किया, जो बहुत मशहूर हुआ। यह 'साम्यवादी घोषणापत्र' [illegible] था, जिसमें उन्होने उन खयालात का इजहार किया था [illegible] राज्य-क्रान्ति और बाद में १८३० और १८४८ ई० की [illegible]। उन्होने इस घोषणापत्र में यह भी बताया कि वे खयालात [illegible] से किस तरह मेल नहीं खाते थे और उनके लिए वे कितने नाकाफी थे। उन्होने [illegible] स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभाव की लोकसत्तावादी [illegible] की आलोचना की और यह दिखाया कि इन आवाजो का आम लोगो के [illegible] मतलब है नहीं, हां, मध्यम श्रेणी के अमीरो के राज्य को एक अच्छा [illegible] मिल गया है। उस घोषणा में उन्होने आगे चलकर, मुख्तसर में समाज-वाद के [illegible] का प्रतिपादन किया। इसका कुछ हाल मैं तुम्हे आगे कहूँगा। [illegible] के आखीर में उन्होने सारे मजदूरो से इन शब्दो में अपील की —"संसार के मजदूरो, एक हो जाओ। तुम्हे खोना कुछ नहीं है सिवाय अपनी गुलामी की जंजीरो के और पाने को संसार पड़ा है।"

यह अमल करने की पुकार थी। इसके बाद मार्क्स ने अखबारो और [illegible] प्रचार शुरू कर दिया और मजदूर सगठनो को नजदीक लाने की [illegible] कोशिश करने लगा। ऐसा जान पड़ता है कि उसे योरप में कोई बडा [illegible] आता दिखाई दे रहा था और वह चाहता था कि मजदूर उसके लिए तैयार [illegible] ताकि वे उससे पूरा फायदा उठा सके। उसके समाजवादी उसूलो के मुता-बिक पूंजीवादी प्रणाली में सचमुच ऐसा सकट-काल आये बिना नहीं रह सकता था। [illegible] ई० में न्यूयार्क के एक अखबार में लिखते हुए मार्क्स ने कहा था—"फिर भी हमें यह न भूलना चाहिए कि योरप में छठी सत्ता भी है जो खास-खास मौको पर [illegible] सत्ताओ पर अपनी प्रभुता रखती है और उन सबको [illegible] है। यह सत्ता क्रान्ति की सत्ता है। इसे चुपचाप एकान्तवास करते हुए [illegible] हो गये। अब मुसीबतें और भूख इसे फिर लड़ाई के मैदान में बुला रही है। [illegible] की जरूरत है। फिर तो योरप की छठी और सबसे बडी ताकत [illegible] पहने और हाथ में तलवार लिये हुए निकल पड़ेगी। यह इशारा [illegible] के युद्ध से मिल जायगा।"

[illegible] युद्ध के बारे में मार्क्स की भविष्यवाणी ठीक नहीं निकली।

उसके लिखने के साठ साल बाद ससारव्यापी युद्ध हुआ और उससे योरप के एक हिस्से में ही क्रान्ति हुई। यह तो हम देख ही चुके हैं कि पेरिस के पंचायती राज्य के रूप में १८७१ ई० में क्रान्ति की जो कोशिश हुई वह बेदर्दी के साथ कुचल दी गई थी।

१८६४ ई० मे मार्क्स लन्दन मे एक पचमेल सभा करने में कामयाब हुआ। उसमें अनेक दलो के लोग, जो अपनेको समाजवादी कहते थे, इकट्ठे हुए। उनके विचार सुलझे हुए नहीं थे। एक तरफ तो योरप के कई गुलाम देशो के लोकसत्तावादी और देशभक्त आये थे। समाजवाद में उनका विश्वास बहुत दूर की चीज था और उनकी ज्यादा दिलचस्पी कौमी आजादी हासिल करने में थी। दूसरी तरफ अराजकतावादी लोग थे, जो तुरंत लड़ाई मोल लेना चाहते थे। सभा मे मार्क्स के सिवा दूसरा प्रभावशाली आदमी अराजकतावादी नेता बैकुनिन था। वह कई वर्ष साइबेरिया मे कैद रहकर तीन साल पहले भागकर निकल आया था। बैकुनिन के अनुयायी खास तौर पर दक्षिण योरप के इटली और स्पेन वगैरा लैटिन मुल्को से आये थे। इन देशो मे बडे उद्योग-धधो का विकास नही हुआ था और वे इसमे पिछडे हुए थे। वे पढ़े-लिखे बेरोजगार और तरह-तरह के क्रान्तिकारी लोग थे जिनको मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में कोई जगह नहीं मिलती थी। मार्क्स के अनुयायी उद्योगवादी देशो से, खासकर जर्मनी से, आये थे, जहाँ मजदूरो की हालत अच्छी थी। इस तरह मार्क्स तो बढ़ते हुए, सगठित और खुशहाल मजदूरो का प्रतिनिधि था और बैकुनिन गरीब और असंगठित मजदूरो, शिक्षितो और असंतुष्ट लोगो का। मार्क्स का यह कहना था कि जबतक कुछ कर गुजरने का वक्त आवे, उस वक्त तक धीरज के साथ मजदूरो को समाजवादी उसूलो की तालीम दी जाय और उसी ढग पर उनका सगठन किया जाय। बैकुनिन और उसके चेले तुरत कुछ करने के पक्ष में थे। सब बातो को देखते हुए जीत मार्क्स की हुई। 'अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ' (International Workingmen's Association) कायम हुआ। यह मजदूरो का पहला अन्तर्राष्ट्रीय सगठन (Worker's International) था।

तीन साल बाद यानी १८६७ में मार्क्स का महान ग्रथ कैपिटल (Capital) अर्थात् 'पूंजी' जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ। लदन में उसने कई वर्ष तक जो मेहनत की थी, यह उसीका परिणाम था। इसमे उसने प्रचलित आर्थिक सिद्धान्तो की छानबीन करके उनकी बुराई-भलाई दिखाई और अपने समाजवादी उसूल विस्तार के साथ समझाये। यह शुद्ध वैज्ञानिक ग्रंथ था। उसने सारी अनिश्चित और आदर्शवाद की बाते छोड़कर व्यावहारिक ढंग से, निष्पक्ष और वैज्ञानिक तरीके पर, इतिहास और अर्थशास्त्र के विकास का निरूपण किया। उसने खास तौर पर

बडी-बडी मशीनो की औद्योगिक सभ्यता के विकास की चर्चा की और विकास, इतिहास और मानवसमाज के वर्गयुद्ध के बारे में कुछ दूर तक असर करनेवाले नतीजे निकाले । मार्क्स का यह नया गढा-गढाया और ज़ोरदार दलीलो वाला समाजवाद इसीलिए 'वैज्ञानिक समाजवाद' (Scientific Socialism) कहलाया। यह उस अस्पष्ट, हवाई या आदर्शवादी समाजवाद से जुदा था जो अबतक प्रचलित था। मार्क्स की किताब 'पूंजी' (Das Capital) पढ़ने में सहल किताब नही है। असल में इससे ज्यादा मुश्किल किताब की कल्पना नहीं की जा सकती। फिर भी यह उन थोडी-सी किताबो में से एक है जिनसे बहुत लोगो के विचार करने के तरीके पर असर हुआ है; उनके खयालात बदल गये है और मानव विकास पर प्रभाव पड़ता है।

१८७१ ई० में पेरिस की पचायत (Commune) की घटना हुई। शायद यह जान-बूझकर की गई पहली ही समाजवादी बगावत थी। इससे योरप की सरकारे डर गई और मजदूर-आन्दोलन की तरफ से उनका रुख और भी कड़ा होगया। दूसरे वर्ष मार्क्स के कायम किये हुए अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की बैठक हुई और मार्क्स ने उसका प्रधान कार्यालय सात समन्दर पार अमेरिका के न्यूयार्क शहर में भिजवा दिया। इसमें मार्क्स का साफ मतलब यही होगा कि बैकुनिन के अराजकतावादी अनुयायियो से पीछा छूटे; और शायद यह भी कि चूंकि उसके ख़याल से पेरिस की पचायत के बाद योरप की सरकारो की आँखें लाल हो गई थी इसलिए उनकी हुकूमत में सघ इतना महफूज नही रह सकेगा जितना अमेरिका में। मगर सदा के लिए अपने सारे मुख्य केन्द्रो से इतनी दूर रह सकना मुमकिन नहीं था। उसकी ताकत योरप में थी और योरप में भी मजदूर-आन्दोलन के बुरे दिन थे। इसलिए पहला अन्तर्राष्ट्रीय सघ धीरे-धीरे बेजान होकर मर गया।

मार्क्सवाद या मार्क्स का समाजवाद योरप के और खास तौर पर जर्मनी और आस्ट्रिया के समाजवादियो में फैला। वहाँ यह आम तौर पर 'समाजवादी लोकसत्ता' (Social Democracy) के नाम से मशहूर हुआ। लेकिन इंग्लैण्ड ने इसकी अन्धी नकल नहीं की। उस वक्त वह इतना खुशहाल था कि वहाँ किसी आगे बढ़े हुए सामाजिक मत के प्रचार की गुञ्जाइश नहीं थी। अंग्रेजो के समाजवाद का नमूना फेबियन सोसायटी थी और उसका बहुत दूर की और हल्की तब्दीली का कार्यक्रम था। फेबियन लोगो का मजदूरो से कोई वास्ता नही था। ये आगे बढ़े हुए उदार विचारो के तालीमयाफ्ता लोग थे। शुरू के फेबियन लोगो की नीति का पता दूसरे मशहूर फेबियन सिडनी वेब के इस मशहूर जुमले से लग सकता है कि 'परिवर्तन धीरे-धीरे होना अनिवार्य है।' यह महाशय अब लार्ड बन गये है।

फ्रास में पचायत के बाद समाजवाद को फिर से जोर पकड़ने मे धीरे-धीरे करके बारह वर्ष लग गये; मगर इस बार इसका स्वरूप नया हो गया। वह अराजकतावाद और समाजवाद के मेल से बना। इसे सिंडिकेट 'Syndicalism' या संघवाद कहते है। फ्रेंच भाषा के सिंडिकेट (Syndicat) शब्द से निकला है, जिसका मतलब मजदूरो का संगठन या मजदूर सघ है। समाजवाद का उसूल यह था कि राज्य सारे समाज का प्रतिनिधि है, इसलिए उसीका उत्पत्ति के साधनो यानी जमीन और कारखानो पर स्वामित्व और कब्जा होना चाहिए। थोड़ा-सा मतभेद था तो यह कि समाज का स्वामित्व और कब्जा कहाँतक हो ? यह जाहिर है कि औजारो और घरेलू यंत्रो जैसी बहुत-सी खानगी चीजो पर समाज का कब्जा करना बेहूदा-सी बात होगी। मगर इस बात पर समाजवादियो का एक मत था कि जिस किसी चीज का इस्तेमाल दूसरों के कामो से खुद फायदा उठाने में किया जा सकता हो वह राष्ट्र की सम्पत्ति बना दी जानी चाहिए। अराजकतावादियो की तरह सघवादी राज्य-सस्था को बहुत पसन्द नहीं करते थे और वे उसकी ताकत को महदूद कर देने की कोशिश करते थे। वे चाहते थे कि हरेक उद्योग पर उस उद्योग के मजदूरो का अपने सघ के जरिये कब्जा रहे। (तुम्हे हमेशा याद रखना चाहिए कि मजदूर से मतलब सिर्फ हाथ से काम करनेवालो का ही नही है, बल्कि हाथ और दिमाग दोनो से काम करनेवाले सब तरह के मजदूरो से है)। कल्पना यह थी कि अलग-अलग सघ अपने-अपने प्रतिनिधि चुनकर बडी परिषद में भेजेंगे और परिषद सारे देश के मामलो को सम्हालेगी। यह परिषद मामूली काम-काज के लिए एक तरह की पार्लमेण्ट होगी, मगर उसे किसी खास उद्योग के भीतरी इन्तजाम में दखल देने का हक न होगा। यह स्थिति पैदा करने के लिए सघवादी आम हड़ताल के पक्ष में थे, यानी वे देश के सब उद्योग-धंधो और कारखानो में एकसाथ काम बन्द करवाकर अपना उद्देश्य पूरा करना चाहते थे। मार्क्स के अनुयायी संघवाद को बिलकुल पसन्द नही करते थे, मगर दिल्लगी की बात यह थी कि मार्क्स के मरने के बाद संघवादी उसे अपनेमे का ही एक आदमी मानते थे।

कार्ल मार्क्स ठीक पचास साल पहले यानी १८८३ ई० में मरा। उस वक्त तक इंग्लैण्ड, जर्मनी और दूसरे उद्योगवादी देशो में मजदूर संघो का संगठन जबरदस्त और ताकतवर हो चुका था। ब्रिटिश उद्योगो के अच्छे दिन बीत चुके थे और जर्मनी और अमेरिका की बढती हुई लाग-डॉट के मुकाबिले में उनका पतन हो रहा था। यह ठीक है कि अमेरिका को कुदरत की तरफ़ से बडी सहूलियतें थी, जिनसे वहाँ औद्योगिक विकास तेजी से होने में मदद मिली। जर्मनी मे राजनैतिक निरंकुशता और औद्योगिक प्रगति का अजीब मेल था। उस निरंकुशता में कमजोर और सत्ताहीन-सी

पार्लमेण्ट का पुट भी लगा हुआ था। बिस्मार्क की मातहती मे और बाद मे भी जर्मन सरकार ने उद्योग-धंधो की कई तरह मदद की और मजदूरो की हालत अच्छी करनेवाले समाज-सुधार के कानून बनाकर मजदूरवर्ग को खुश करने की कोशिश की। इसी तरह अग्रेजी उदारदल ने कुछ सामाजिक कानून पास करके काम के घंटे घटा दिये और मजदूरो की हालत कुछ सुधार दी। जबतक खुशहाली रही तबतक इस तरीके से काम चल गया और अग्रेज मजदूर नरम और दबे हुए रहे और वफादारी के साथ उदारदल के पक्ष में राय देते रहे। मगर १८८० के बाद दूसरे देशो की लाग-डॉट के कारण खुशहाली का लम्बा जमाना खत्म हुआ और इंग्लैण्ड मे व्यापार की मन्दी शुरू होगई और मजदूरो की मजदूरी घटगई। इस तरह फिर मजदूरो में जागृति हुई और वायुमण्डल मे क्रान्ति की भावना फैल गई। इग्लैण्ड मे बहुत लोगो की नजर मार्क्सवाद की तरफ जाने लगी।

१८८९ में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ बनाने की दूसरी बार कोशिश हुई। बहुत-से मजदूरसंघो और श्रमजीवी दलो का बल और साधन अब काफी बढ गया था और उनके बहुत-से तनख्वाह पानेवाले कर्मचारी थे। मार्क्स और बैकुनिन के जमाने से अब उनकी इज्जत भी बहुत ज्यादा होगई थी। १८८९ मे बना हुआ यह सघ दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय संघ (Second International) कहलाता है। मेरे खयाल से उस वक्त इसका नाम 'मजदूर और समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय सघ' (Labour and Socialist International) रक्खा गया था। यह पच्चीस वर्ष तक रहा। फिर महायुद्ध आगया। उसमें इसका इम्तिहान होगया और यह बेकार साबित हुआ। इस सघ में बहुत लोग ऐसे भी थे जिन्होने आगे चलकर अपने-अपने देशो में ऊँचे-ऊँचे पद ग्रहण किये। मालूम होता है, उन्होने मजदूरो का अपने सहारे और तरक्की के लिए इस्तेमाल किया था और जब उनका काम होगया तो उन्होने मजदूरो को किस्मत के भरोसे छोड दिया। वे प्रधान मत्री, अध्यक्ष और इसी तरह और कुछ बन-बनकर अपनी जिन्दगी सफल कर गये, मगर जिन लाखो आदमियो ने उन्हे आगे बढाया और उनपर यकीन रक्खा उन्हे इन लोगो ने मँझधार मे छोड़ दिया। इन नेताओ मे से जो मार्क्स के नाम की कसमे खाते थे या बडे जोशीले सघवादी थे, वे भी पार्लमेण्टो में घुस गये या बडी-बडी तनख्वाहे पाने वाले मजदूरसघो के मुखिया बन बैठे। उनके लिए अपनी आराम की जगहो को जोखिम मे डालकर बिना सोचे-समझे किसी बात का बीडा उठा लेना दिन-दिन मुश्किल होगया। इस तरह वे ठण्डे पड गये और जिस वक्त मामूली मजदूरो ने निराश होकर क्रान्ति का बाना पहना और कुछ-न-कुछ करने की मॉग की तब भी इन लोगो ने उन्हे दबाकर रखने

की ही कोशिश की। युद्ध के बाद जर्मनी के समाजवादी लोकसत्तात्मक दल के लोग प्रजातन्त्र के अध्यक्ष और प्रधान मंत्री (Chancellor) बने। फ्रांस में आम हड़ताल का पक्षपाती आग उगलने वाला सघवादी ब्रियाँद ग्यारह बार प्रधान मंत्री बना और उसने अपने पुराने साथियो की हडताल को कुचला। इंग्लैण्ड मे रैम्जे मैक्डोनॉल्ड इस समय प्रधान मंत्री है[1]। यह दूसरी बात है कि नरम होते हुए भी उसके अपने मजदूर दल और ब्रिटिश मजदूर सघो ने उससे कोई वास्ता नही रक्खा है। यही हाल स्वीडन, डेनमार्क, बेलजियम और आस्ट्रिया का है। पश्चिम योरप आज ऐसे सर्वेसर्वा यानी डिक्टेटर शासको और सत्ताधारियो से भरा पड़ा है जो अपने शुरू के ज़माने में समाजवादी थे, मगर ज्यो-ज्यो उनकी उम्र ढलती गई त्यो-त्यो वे नरम पड़ते गये और कार्य का पुराना जोश भूल गये। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो ये लोग अपने पुराने साथियो के खिलाफ भी होगये। इटली का कर्त्ताधर्ता मुसोलिनी पुराना समाजवादी है। पोलैण्ड का सर्वेसर्वा पिल्सूदस्की भी समाजवादी रह चुका है।

मजदूर-आन्दोलन को ही क्या, करीब-करीब आजादी की हर कौमी तहरीक को नेताओ और मुख्य कार्यकर्त्ताओ की ऐसी बेवफाई से अक्सर नुकसान पहुँचा है। कामयाबी न मिलने से वे थोडे अर्से बाद थक जाते है और शहीदी का थोथा चोला उन्हे बहुत दिन तक अच्छा नही लगता। उनका जोश ठण्डा पड़ जाता है। कुछ लोग, जो ज्यादा महत्वाकाक्षी या बेउसूल होते है, दूसरे पक्ष में जा मिलते है और जिन लोगो से कल तक मुकाबिला और लड़ाई करते थे उन्हीं से ज़ाती समझौता कर लेते हैं। आदमी जो कुछ करने की ठान लेता है उसके अनुकूल अन्तःकरण बना लेना उसके लिए आसान है। इस बेवफाई से आन्दोलन की हानि होती है और वह थोड़ा पीछे हटता है। जो लोग मजदूरो के दुश्मन होते है वे यह बात अच्छी तरह जानते है। इसलिए वे तरह-तरह के लालच देकर और मीठी-मीठी बाते करके व्यक्तियो को अपनी तरफ मिलाने की कोशिश करते है। मगर व्यक्तियो पर महर-बानी कर देने या उनसे मीठी-मीठी बाते करने से मामूली मजदूरो या आजादी के लिए लड़नेवाले किसी दलित राष्ट्र का कष्ट दूर नही होता। इसलिए व्यक्तियो की बेवफ़ाई और आन्दोलन के बीच-बीच में पीछे हटने के बावजूद लड़ाई अपनी मंजिल की तरफ जरूरी तौर पर चलती रहती है।

१८८९ ई० में बने हुए दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय संघ के सदस्यो की तादाद और संघ की इज्जत बढ़ी। थोडे ही वर्ष बाद उन्होंने मालाटेस्टा और उसके अराजकतावादी अनुयायियो को इस बिना पर निकाल बाहर किया कि वे पार्लमेण्टो के मताधिकार

१ नवम्वर १९३७ मे इनकी मृत्यु होगई

का फायदा उठाने को राजी नहीं थे। अन्तर्राष्ट्रीय सघ के समाजवादियो ने साबित कर दिया कि उन्हे आम लड़ाई मे अपने पुरानें साथियो का साथ देने से पार्लमेण्टो में जाना ज्यादा पसन्द है। योरप मे लड़ाई छिड़ जाने पर समाजवादी क्या करे, इस बारे में उन्होने बडी बढ़-बढ़कर बाते की। जहाँतक काम का ताल्लुक था, समाजवादी राष्ट्रीय सीमाओ यानी कौमी हद को नहीं मानते थे। वे मामूली मानी में राष्ट्रवादी नही थे। उन्होने कहा कि लड़ाई की मुखालफत करेगे। मगर जब १९१४ ई० में लडाई छिडी तो दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय संघ का सारा ढाँचा तहस-नहस होगया और हर देश के समाजवादी और मजदूर दल ही नही, क्रोपाटकिन-जैसे अराजकतावादी भी और लोगो की तरह निरे राष्ट्रवादी और दूसरे मुल्को से नफरत करनेवाले बन गये। थोडे ही आदमियों ने लडाई की मुखालफत की और इसके लिए उन्हे तरह-तरह की तकलीफें और कुछ लोगो को लम्बी-लम्बी सजायें दी गई।

लड़ाई खत्म होने पर लेनिन ने १९१९ ई० में मास्को में एक नया अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-सघ खोला। यह शुद्ध साम्यवादी सगठन था और इसमे खुली घोषणा करने-वाले साम्यवादी ही शामिल हो सकते थे। यह अब भी है और तीसरे अन्तर्राष्ट्रीय सघ (Third International) के नाम से मशहूर है। पुराने दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय सघ के बचे-खुचे लोग भी लड़ाई के बाद धीरे-धीरे इकट्ठे होगये। थोडे मास्को के सघ में मिल गये। मगर ज्यादातर को मॉस्को और उसके मत से सख्त नफरत थी और वे उसके पास फटकने को भी तैयार नही थे। उन्होने दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय सघ को फिर से चलाया। यह भी मौजूद है। इस तरह आजकल दो अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-सघ हं और दूसरे और तीसरे संघ के नाम से मशहूर है। ताज्जुब की बात यह है कि दोनो ही मार्क्स के अनुयायी होने का दावा करते है, मगर दोनो ही उसके विचारो का अपना-अपना अलग अर्थ करते हैं और अपने समान शत्रु-पूंजीवाद से भी कहीं अधिक घृणा आपस मे रखते हैं।

इन दोनो अन्तर्राष्ट्रीय संघो में ससार के सारे मजदूर-सघ शामिल नही हं। बहुत-से सगठन दोनो से ही अलग हैं। अमेरिका के मजदूर-संघ इसलिए अलग हैं कि उनमें से ज्यादातर बहुत पुरानें विचार के हैं। हिन्दुस्तान के मजदूर-सघो का भी दोनो में से किसी अन्तर्राष्ट्रीय सघ से सम्बन्ध नही है, क्योकि वे कोई निश्चय ही नही कर पाते।

शायद तुम 'इण्टरनैशनल' गीत को जानती हो, जोकि दुनियाभर के मजदूरो और समाजवादियो का माना हुआ गीत है।

: १३४ :

मार्क्सवाद

१६ फरवरी, १९३३

पिछले पत्र में मैंने तुम्हे मार्क्स के खयालात के बारे मे कुछ बताने का इरादा जाहिर किया था। इन खयालात ने योरप की साम्यवादी दुनिया में बडी हलचल मचा दी थी। मगर मेरा खत बहुत लम्बा होगया था और मुझे यह विषय रोक लेना पडा था। मैं इस विषय का कोई खास जानकार नही हूँ, इसलिए इसके बारे में लिखना मेरे लिए आसान नही है। फिर भी विशेषज्ञो और पंडितों में भी मतभेद होता है। मैं तुम्हे मार्क्सवाद की सिर्फ मोटी-मोटी बाते बताऊँगा और इसके मुश्किल हिस्सो को छोड़ दूगा। यह जोड़-गाठकर बनाई हुई-सी चीज होगी, मगर मेरा काम यह भी नही है कि इन खतो में किसी चीज की पूरी और लम्बी-चौडी तसवीरे दूं।

मैं कह चुका हूँ कि समाजवाद कई तरह का होता है। मगर उद्देश्य की इस एक बात मे सब सहमत है कि पैदावार और उसे बॉटने के साधनो पर यानी खानो, जमीन, कारखानो, रेलवे और बैंको वगैरा संस्थाओ पर राज्य का नियंत्रण यानी कब्जा रहे। कल्पना यह है कि व्यक्तियो को अपने खानगी फायदे के लिए इन साधनो या संस्थाओ से और दूसरो की मेहनत से काम न लेने दिया जाय। आज तो ये ज्यादातर अलग-अलग आदमियो के हाथ मे है और वे ही इनसे काम लेते हैं। नतीजा यह हो रहा है कि कुछ लोग मालामाल होकर आनन्द भोगते हैं और समाज का खूब नुकसान होता है और आम जनता गरीब बनी हुई है। उत्पत्ति के इन साधनो के मालिको और अधिकारियो की भी बहुत सारी ताकत आजकल आपस की गहरी रकाबत या लाग-डांट में—एक दूसरे से लड़ने मे—ही खर्च हो जाती है। अगर इस खानाजंगी के बजाय समझदारी के साथ पैदावार का और खूब विचारपूर्वक बॅटवारे का इंतजाम कर दिया जाय तो समाज की हालत कहीं अच्छी हो जाय और यह फिजूल की जबरदस्त लाग-डॉट न रहे और जुदा-जुदा वर्गों और देशो के बीच की धन-सम्बन्धी महान् असमानतायें मिट जायँ। इसलिए उत्पत्ति, बॅटवारा और कुछ दूसरे महत्त्व के काम ज्यादातर समाज यानी राज्य के हाथ में रहे; मतलब यह कि वे सारी जनता के कब्जे में आजायँ। समाजवाद की यही मूल कल्पना है।

समाजवाद में राज्य या सरकार का रूप क्या हो, यह सवाल है तो बडे महत्त्व का, मगर अभी हमें उसकी चर्चा करने की जरूरत नहीं है।

समाजवाद के आदर्श की बात पर एकराय होजाने के बाद दूसरी बात तय

करने की यह रह जाती है कि उसे हासिल कैसे किया जाय ? यहीसे समाजवादियो में मतभेद शुरू होता है। उनमें कई दल है और वे अलग-अलग रास्ते बताते है। मोटे तौर पर उनके दो हिस्से किये जा सकते हैं . (१) धीरे-धीरे परिवर्त्तन और विकास चाहनेवाले दलो का यह विश्वास है कि एक-एक कदम बढ़ाकर चलना चाहिए और पार्लमेण्टो के जरिये काम करना चाहिए। ब्रिटिश मजदूर दल और फेबियन लोग इसी वर्ग में है। (२) क्रान्तिकारी दलो का विश्वास यह है कि पार्लमेण्टो से कुछ बहुत मिलनेवाला नहीं है। दूसरे वर्ग में ज्यादातर लोग मार्क्स-वादी है। कभी-कभी ये लोग भी पार्लमेण्टो में पहुँचते है, मगर इनका मतलब दूसरे दलो से मिल-जुलकर काम करना नही बल्कि अडगे डालना और झगडा खडा करना होता है।

पहला यानी विकासवादी दल अब बहुत छोटा-सा रह गया है। इग्लैण्ड में भी अब इसकी ताकत कम हो रही है और इसके, उदार (लिबरल) दल के और दूसरे असमाजवादी दलो के बीच का भेद मिटता जा रहा है। इसलिए अब मार्क्सवाद को ही आमतौर पर समाजवादी मत समझ लेना चाहिए। मगर मार्क्सवादियो में भी योरप में दो मुख्य भेद है। एक तरफ रूसी साम्यवादी है और दूसरी तरफ लोकसत्ता के माननेवाले जर्मनी, आस्ट्रिया और दूसरे देशो के समाजवादी है। इन दोनो में जरा भी प्रेम नही है। महायुद्ध के वक्त और बाद में भी ये लोकसत्तावादी अपने दावे पूरे नहीं कर सके, इसलिए इनकी पुरानी इज्जत बहुत कम होगई। इनमें से ज्यादा जोशीले लोग तो बहुत-से साम्यवादियो में जा मिले है, मगर अब भी पश्चिमी योरप के विशाल मजदूर-सघो का संचालन इन्हींके हाथो में है। रूस में कामयाबी मिल जाने के कारण साम्यवादी मत बढ रहा है। आज योरप और दुनिया-भर में यही पूँजीवाद का सबसे बडा विरोधी है।

तो फिर यह मार्क्सवाद है क्या ? यह इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, मानव-जीवन और मानव-इच्छाओ को समझने का एक तरीका है। इसमें उसूल भी है और कुछ कर गुजरने की पुकार भी है। यह ऐसा तत्त्वज्ञान है जो मनुष्य-जीवन के ज्यादा-तर कामो के बारे में कुछ-न-कुछ बात बताता ही है। इसमें मानव इतिहास पर—गुजरे हुए, आजकल के और आगे आनेवाले जमाने पर—विचार करके यह साबित करने की कोशिश की गई है कि यह सब कडे तर्कों या दलीलो के मुताबिक चलने-वाली प्रणाली है और 'किस्मत' की तरह इसके कानून भी टल नही सकते। जिन्दगी यो बिलकुल दलीलो पर चलनेवाली और कडे नियमो और प्रणालियो पर इतनी ही निर्भर हो, ऐसा बहुत साफ तो नही दीखता और बहुत लोगो को इसमे शुबहा भी है,

मगर मार्क्स ने वैज्ञानिक ढग से पिछले इतिहास को देखा और उससे कुछ खास नतीजे निकाले। उसे मालूम हुआ कि इनसान को शुरू से ही जिन्दगी की लड़ाई करनी पडी है। यह लड़ाई कुदरत के साथ भी थी और आदमी के साथ भी। आदमी को खाना और दूसरी जीवन-सामग्री जुटाने के लिए काम करना पडा। जैसे-जैसे समय बीता वैसे-वैसे उसके तरीके बदलते और पेचीदा और प्रगतिशील होते गये। मार्क्स की राय के मुताबिक रोजी हासिल करने के ये तरीके इनसान और समाज की जिन्दगी में सभी युगो मे सबसे महत्व की बात रहे है। इतिहास के हरेक युग में इन तरीको की प्रधानता रही और उस युग के सारे कामो और सामाजिक सम्बन्धो पर इसका असर पडा। जैसे-जैसे ये बदले वैसे-वैसे बडी-बडी ऐतिहासिक और सामाजिक तब्दीलियाँ हुई। इन खतो के दौरान में हम कुछ हद तक तो देख चुके है कि इन तब्दीलियो का कितना बड़ा असर हुआ है। उदाहरण के लिए, जब पहले-पहले खेती शुरू हुई तो बड़ा भारी फर्क होगया। आवारा फिरनेवाले खानाबदोश लोग बस गये और गाँव और शहर बन गये। खेती से पैदावार बढ़ी तो माल बच रहा और आबादी बढ़ी। दौलत और फ़ुर्सत की वजह से कला-कौशल यानी कारीगरी पैदा हुई। दूसरी मिसाल औद्योगिक क्रान्ति की भी जाहिर है। पैदावार के लिए बडी-बडी मशीनों के जारी होने से दूसरा बडा भारी अन्तर पैदा हुआ। इसी तरह और भी बहुत-से दृष्टान्त दिये जा सकते है।

इतिहास के किसी खास समय में पैदावार के तरीके वैसे ही होते है जितनी लोग निश्चित रूप में प्रगति कर चुके होते है। उत्पत्ति के इस काम के बीच में और इसके कारण मनुष्यो के आपसी ताल्लुकात कायम होते है: जैसे चीजो का तबादला, खरीदना, बेचना और विनिमय वगैरा। ये ताल्लुकात उत्पत्ति यानी पैदावार के तरीकों के मुताबिक होते है। ताल्लुकात मिलकर समाज का माली ढाँचा बनाते है। इसी आर्थिक बुनियाद पर क़ानून, राजनीति, सामाजिक रीति-रिवाज, विचार और दूसरी सब बातो की उठान होती है। इसलिए मार्क्स के इस खयाल के मुताबिक जैसे-जैसे पैदावार के तरीके बदलते है वैसे-वैसे आर्थिक रचना भी बदलती है और उसका नतीजा यह होता है कि लोगो के विचारो, कानूनो और राजनीति वगैरा मे भी तब्दीलियाँ होती है।

इतिहास के बारे में मार्क्स का यह भी खयाल था कि वह जुदा-जुदा वर्गो के आपसी संघर्ष का एक रेकर्ड यानी बयान है। "सारे मानव-समाज का पिछला और मौजूदा इतिहास वर्ग-युद्ध का इतिहास है।" जिस वर्ग के हाथ में उत्पत्ति के साधन होते है उसीकी प्रधानता रहती है। वह दूसरे वर्गो की मेहनत से बेजा

फायदा उठाता है। जो परिश्रम करते है उन्हे अपनी मेहनत का पूरा फल नही मिलता। उन्हे जिन्दगी की मामूली जरूरियात के लिए भी मुश्किल से थोडा-सा हिस्सा मिलता है और बाकी का सारा हिस्सा शोषक यानी उनको चूसनेवाले वर्ग को मिलता है। इस तरह शोषक-वर्ग इस फालतू धन से और भी धनवान बनता है। चूकि उत्पत्ति पर इस वर्ग का कब्जा होता है इसलिए राज्य या सरकार पर भी इसीका नियत्रण या दबाव रहता है और इस तरह इस शासक-वर्ग की रक्षा करना ही राज्य का मुख्य उद्देश्य रह जाता है। मार्क्स कहता है "राज्य सारे शासक-वर्ग के काम-काज का इतजाम करने के लिए हमारी प्रबध-समिति यानी इतजामिया कमेटी है।" इसी गरज से कानून बनाये जाते है और तालीम, मजहब और दूसरे जरियो से लोगो को यह समझाया जाता है कि इस वर्ग की प्रभुता न्यायानुकूल और स्वाभाविक है। इस तरह सरकार और कानून के इस वर्गीय रूप को छिपाने की हर तरह कोशिश की जाती है, ताकि दूसरे शोषित वर्ग असली हालत न जान सके और उनमें असतोष पैदा न हो। मगर कोई शख्स नाराज होकर इस प्रणाली का सामना करता है तो राज्य उसे समाज और सदाचार का दुश्मन और पुराने रीति-रिवाज तोडनेवाला कहकर कुचल देता है।

मगर हजार कोशिश करने पर भी एक ही वर्ग सदा सबके सिर पर बैठा नही रह सकता। जिन कारणो से उसे यह ताकत और हुकूमत हासिल होती है वे ही उसके खिलाफ काम करने लगते है। वह शासक और शोषक-वर्ग इसी कारण बन जाता है कि उस वक्त के उत्पत्ति के साधन उसके हाथ में होते है। जब पैदावार के तरीके नये होते है तो उनपर काबू भी नये वर्गों का होजाता है और वे किसीसे दबकर रहना नहीं चाहते। नये-नये विचार मनुष्यो के दिल और दिमाग में हलचल मचा देते है और जिसे विचार-क्रान्ति कहते है वह होने लगती है। इससे पुराने खयालात और उसूलों की बेडियां टूटती है। और इस उठते हुए नये वर्ग के और सत्ता से चिपटे रहनेवाले पुराने वर्ग के बीच में कशमकश होती है। नये वर्ग के हाथ में आर्थिक सत्ता यानी माली ताकत होती है, इसलिए जीत उसीकी होती है और पुराने वर्ग का खेल खत्म होकर वह नेस्त-नाबूद हो जाता है।

इस नये वर्ग की विजय राजनैतिक और आर्थिक दोनो तरह की होती है। यह उत्पत्ति के नये तरीको की फतह की निशानी होती है और इसके पीछे-पीछे समाज की सारी रचना में ही तब्दीली होने लगती है—नये खयालात, नई राजनैतिक रचना, कानून, रीति-रिवाज, सभी बातो पर असर पड़ता है। अब यह नया वर्ग अपने नीचे के वर्गों के लिए शोषक-वर्ग बन जाता है और फिर उन वर्गो में से किसी एक के हाथो

वह हटा दिया जाता है। इस तरह जबतक एक वर्ग दूसरे का शोषण करनेवाला रहेगा तबतक यह कशमकश चलती रहेगी, जैसे कि अबतक चलती आई है। यह झगड़ा उसी वक़्त खत्म होगा जब अनेक वर्ग न रहकर सिर्फ एक ही वर्ग रह जायगा; क्योकि तब शोषण की गुंजायश ही नही रहेगी। कोई वर्ग अपना शोषण तो कर नही सकता। इसलिए, उसी वक्त समाज में समझौता और सहयोग होगा। फिर यह आज का-सा लगातार सघर्ष और प्रतिस्पर्धा न रहेगी। और राज्य के लिए आज दमन का काम जो मुख्य हो रहा है वह भी न रहेगा, क्योकि दबाने के लिए कोई वर्ग ही न होगा। इस तरह धीरे-धीरे राज्य खुद मिट जायगा और अराजकतावाद का आदर्श नजदीक आ जायगा।

इस तरह मार्क्स इतिहास को इस नजर से देखता था कि वह अनिवार्य वर्ग-युद्ध की एक विशाल विकास-क्रिया है। ढेरो मिसाल और तफ़सील देकर उसने साबित किया कि गुजिश्ता जमाने मे यह सब किस तरह हुआ, बडी-बडी मशीनो के आने से सामन्तशाही का युग पूँजीवादी जमाने में कैसे बदल गया और जागीरदारो की जगह दौलतमन्द कैसे आगये। उसके मत से आखिरी वर्ग-युद्ध हमारे जमाने में अमीरो और मजदूरो में हो रहा है। पूँजीवाद खुद उस वर्ग की ताकत और तादाद बढ़ा रहा है जो अखीर में पूँजीवाद पर गालिब आकर वर्ग-रहित समाज और समाजवाद की स्थापना करेगा।

इतिहास को इस ढंग से देखने का तरीका, जो मार्क्स ने समझाया, 'इतिहास की पदार्थमूलक या भौतिक धारणा' कहलाता है। इसे भौतिक इसलिए कहते है क्योकि यह 'आदर्शवादी' तरीका नहीं है और इस 'आदर्शवादी' शब्द का प्रयोग एक खास मानी में मार्क्स के जमाने के तत्त्ववेत्ताओं ने बहुत किया था। उस वक़्त विकास-वाद के विचार लोकप्रिय हो रहे थे। मै तुम्हे बता चुका हूँ कि जहाँतक प्राणी-समूहो की उत्पत्ति और विकास का ताल्लुक है, डार्विन ने ये खयाल लोगो के दिमाग़ मे जमा दिये थे। मगर इससे मनुष्यो के सामाजिक सम्बन्धो के कारण समझ में नहीं आ सकते थे। कुछ तत्त्ववेत्ताओ ने अनिश्चित आदर्शवादी कल्पनाओ के जरिये यह बताने की कोशिश की कि मनुष्य की प्रगति मन की प्रगति पर निर्भर है। मार्क्स इन सब बातो को ग़लत कहता था। उसके ख़याल से बिना सिर-पैर की हवाई कल्पनायें और आदर्शवाद खतरनाक चीजें है, क्योकि इस तरह से लोग तरह-तरह की निराधार बातो को मानने लग सकते है। इसलिए मार्क्स ने ज्यादा अमली और वैज्ञानिक ढंग से घटनाओ और स्थिति को देखा। पदार्थमूलक या भौतिक शब्द इसीलिए प्रचलित हुआ।

मार्क्स ने लगातार शोषण और वर्ग-युद्ध की चर्चा की है। हममें से भी बहुत लोग करते हैं और हमें जोश भी आजाता है। मगर मार्क्स के खयाल से नेक सलाह पर गुस्से में आने की कोई बात नहीं हो सकती। शोषण में शोषण करनेवाले व्यक्ति का कसूर नहीं है। एक वर्ग पर दूसरे को प्रभुता होना ऐतिहासिक प्रगति का कुदरती नतीजा है। समय पाकर उसकी जगह दूसरी व्यवस्था होजायगी। अगर कोई आदमी सत्ताधारी वर्ग का है और उस हैसियत से दूसरो को चूसता है तो इसमें वह कोई भय-कर पाप नहीं करता। वह एक पद्धति का अग है और उसे गालियाँ देना वाहियात बात है। व्यक्तियो और प्रणालियो के बीच का यह भेद हम बहुत भूल जाते है। हिन्दुस्तान ब्रिटिश साम्राज्यवाद के मातहत है और हम अपनी सारी ताकत लगाकर इस साम्राज्यवाद से लडते है। मगर जो अग्रेज हिन्दुस्तान में इस प्रणाली का पोषण करते है उनका क्या कसूर है? वे बेचारे एक बडी भारी मशीन के छोटे-छोटे पुर्जे है। उसकी चाल में जरा भी फर्क करना उनकी ताकत के बाहर की बात है। (इसी तरह हममें से भी कुछ लोग समूची जमींदारी-प्रथा को बुरी और किसानो के लिए बहुत ज्यादा नुकसानदेह समझ सकते है, क्योंकि इससे उनको बुरी तरह चूसा जा रहा है। मगर इसका भी यह मतलब नहीं है कि जुदा-जुदा जमींदारो का कोई कसूर है। पूजीपतियो को अक्सर शोषण करनेवाले कहकर बुरा बताया जाता है, मगर उनकी बात भी ऐसी ही है। कसूर सदा प्रणाली यानी तौर-तरीके का होता है, व्यक्तियो का नहीं।)

मार्क्स ने वर्ग-युद्ध की तालीम नहीं दी। उसने यह साबित किया कि असल में वर्ग-युद्ध पहले से मौजूद है और किसी-न-किसी शक्ल में सदा से रहा है। 'पूजी' नाम की किताब लिखने का उसका उद्देश्य यह था कि 'वर्तमान समाज की गति के आर्थिक नियम साफ-साफ, अपने नगे रूप में, जाहिर हो जायँ।' ऊपर का यह परदा हटा देने से समाज के जुदा-जुदा वर्गो की जबरदस्त आपसी कशमकश सामने आगई। वर्ग-युद्ध की तरह ये सघर्ष सदा प्रकट नही होते, क्योंकि प्रधान वर्ग हमेशा अपने वर्गीय रूप को छिपाने की कोशिश करता है। लेकिन जब वर्तमान व्यवस्था के लिए ही खतरा पैदा होजाता है तब प्रधान वर्ग सारे बहाने और आड़ छोड़कर असली शक्ल में जाहिर होजाता है और फिर वर्ग-वर्ग में खुली लड़ाई होने लगती है। जब यह होता है तब लोकसत्ता, साधारण कानून और जाब्ता सब ताक में रख दिये जाते है। कुछ लोग कहते है कि ये वर्ग-युद्ध गलतफहमी या आन्दोलको की शरारत के कारण होते है। मगर बात ऐसी नहीं है। यह तो समाज के स्वभाव में है और असल में जब हित-विरोध की बात लोग अच्छी तरह समझने लगते है तब तो वर्ग-युद्ध और भी बढ़ जाते है।

अब जरा मार्क्स के इन उसूलो का मुकाबिला हिन्दुस्तान की मौजूदा हालत से करो। ब्रिटिश सरकार का शुरू से यह दावा है कि हिन्दुस्तान मे उसकी हुकूमत का पाया इनसाफ और हिन्दुस्तानियो की भलाई है। पहले हमारे बहुत-से देशवासी भी जरूर यह मानते थे कि इस दावे मे थोडी सचाई है। मगर अब तो इस शासन के खिलाफ बड़ा सार्वजनिक आन्दोलन खड़ा होकर इसे जोरदार चुनौती दे रहा है; इस कारण इसकी असली शक्ल बडे ही भद्दे और नगे तरीके पर जाहिर होरही है। आज अन्धे को भी दीख सकता है कि बन्दूको के बल पर चलनेवाले इस साम्राज्य-वादी शोषण की असलियत क्या है। इसके ऊपर का सुहावनी सूरतो और चिकनी-चुपडी बातो का सारा मुलम्मा जाता रहा है। आर्डिनेसो और भाषण, सम्मेलन और लेखन यानी बोलने, मिलने और लिखनें के प्रारम्भिक अधिकारो के दमन ने देश के साधारण कानून और जाब्ते की जगह लेली है। मौजूदा हुकूमत की जितनी ज्यादा मुखालफत होगी, यह हालत उतनी ही बढ़ती जायगी। जब एक वर्ग दूसरे वर्ग के लिए खतरनाक होजाता है तब भी यही हाल होता है। यह भी आज हमारे देश में होता हुआ हम देख रहे है। किसानो और मजदूरो को और उनके लिए काम करनेवाले कार्यकर्त्ताओ को अमानुषिक सजायें दी जाती है।

इस तरह इतिहास के बारे में मार्क्स का उसूल यह था कि समाज सदा बद-लता और बढ़ता रहता है। इसमे कोई चीज स्थिर नही है। इस कल्पना में गति ही गति है। कुछ भी होता रहे, यह तो आगे ही आगे बढ़ती है और एक तरह की सामाजिक व्यवस्था के स्थान पर दूसरी आजाती है। लेकिन एक व्यवस्था उसी समय नष्ट होती है जब वह अपना काम पूरा कर चुकती है और उसका पूरी तरह विकास हो चुकता है। इससे पहले वह व्यवस्था नही मिटती। जब समाज उससे आगे बढ जाता है तब भी वह सिर्फ पुरानी व्यवस्था के वस्त्र उतारकर फेंक देता है और नई और बडी पोशाक पहन लेता है; क्योंकि पुराने कपडे तंग होकर बदन को जकड़ने लगते है।

मार्क्स के मत से इनसान का काम इस महान् ऐतिहासिक विकास-क्रिया में मदद पहुँचाना था। पहले की सब मंजिले तय हो चुकी। अब पूँजीवादी समाज और मजदूरवर्ग की आखिरी लड़ाई होरही है। (अलबत्ता यह बात उन देशो की है जहाँ उद्योग-धंधे बहुत बढ़े-चढ़े है और पूंजीवाद का पूरा विकास हो चुका हे। दूसरे देशो में जहाँ पूँजीवाद का विकास नही हुआ है, लड़ाई की शक्ल कुछ खिल्त-मिल्त और दूसरी ही तरह की है। मगर असलियत यह है कि वहाँ भी लड़ाई की कुछ-न-कुछ यही शक्ल है; क्योकि संसार के देशो का सम्बन्ध एक-दूसरे से दिन-दिन ज्यादा बढ़ता

जा रहा है।) मार्क्स का कहना है कि पूंजीवाद को मुश्किल पर मुश्किल और मुसीबत पर मुसीबत का सामना करना पडेगा और अखीर में वह गिर पडेगा; क्योंकि उसमें समतोल तो कहीं है ही नही। यह बात लिखे हुए मार्क्स को साठ वर्ष से ऊपर होगये और तबसे पूंजीवाद के लिए नाजुक वक्त भी बहुत आये। लेकिन उसका खात्मा तो रूस के सिवा कहीं नहीं हुआ। वह अभी ज्यो-का-त्यो कायम है, बल्कि पहले से भी ज्यादा ताकतवर हुआ है। हाँ, जिस वक्त मैं यह लिख रहा हूँ उस वक्त दुनियाभर में पूंजीवाद बुरी तरह बीमार दिखाई देता है और चिकित्सक लोग उसके अच्छा होने के बारे में सिर हिला-हिलाकर चिन्ता प्रकट कर रहे है।

कहा जाता है कि पूंजीवाद ने जो अपनी जिन्दगी इतनी बढाली, इसका एक खास कारण था, जो मार्क्स के ध्यान में भी पूरी तरह नहीं आया होगा। वह यह कि पश्चिम के जो देश उद्योग-धधो में बहुत बढ़ गये है वे पिछडे हुए देशो पर राज्य करके उनका शोषण करते हैं। इससे पूंजीवाद को नई जिन्दगी और खुशहाली हासिल होगई और उसकी कीमत चुकानी पडी उन गरीब गुलाम और चूसे जानेवाले देशो को।

हम इस बात की बहुत बार निन्दा करते है कि मौजूदा पूंजीवाद में गरीब का अमीर और मजदूर का पूंजीपति शोषण करते है। बात सोलह आने सही है। इसलिए नही कि पूंजीवादी का कसूर है, बल्कि इसलिए कि इस प्रणाली का पाया ही इस तरह के शोषण पर है। मगर साथ ही हमें यह भी नहीं समझ लेना चाहिए कि पूंजीवाद में ही यह कोई नई बात है। सभी पिछले युगो और सारी प्रणालियो में मजदूरो और गरीबो की किस्मत में शोषण तो रहा ही है। असल में यह कहा जा सकता है कि पूंजीवादी शोषण के बावजूद वे आज पिछले जमाने से ज्यादा खुशहाल हैं। पर इतना कहने से पूंजीवाद की अच्छाई साबित नहीं होती। उसके पक्ष में यह बहुत छोटी-सी बात है।

मार्क्सवाद का सबसे बडा आधुनिक व्याख्याता लेनिन हुआ है। उसने इसकी व्याख्या और अर्थ ही नहीं किये, उनके अनुसार आचरण भी किया। फिर भी उसने हमें यह चेतावनी दी है कि कही हम मार्क्सवाद को कोई ऐसा सिद्धान्त न मान बैठें जिसमें किसी तरह के उलट-फेर की गुंजाइश न हो। उसे इसके तत्त्व की सचाई पर विश्वास था, मगर वह इसकी हरेक छोटी-छोटी बात को मानने और हर कहीं बिना सोचे-समझे लागू करने को तैयार नही था। वह हमें बताता है—"हम किसी भी मानी में मार्क्सवाद को कोई ऐसी चीज नहीं समझते कि वह सम्पूर्ण है और उसमें कोई दोष नहीं निकाला जा सकता। इसके खिलाफ हमारा दृढ़ विश्वास है कि वे उसूल एक ऐसे विज्ञान के आधार हैं जिसकी समाजवादियो को हर दिशा में उन्नति

करनी चाहिए, वर्ना वे जिन्दगी की दौड़ में पीछे रह जायँगे। हमारे ख़याल से रूसी समाजवादियों के लिए मार्क्स के उसूलों का निष्पक्ष अध्ययन ख़ास तौर पर ज़रूरी है, क्योंकि इन उसूलों से सिर्फ रास्ते की तरफ इशारा करनेवाले मामूली विचार मिलते हैं। ये विचार इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी और रूस में अलग-अलग ढंग पर लागू हो सकते हैं।"

इस खत में मैंने तुम्हें मार्क्स के उसूलों का कुछ हाल बताया है, मगर न मालूम इस भानमती के पिटारे से तुम्हें कुछ फ़ायदा होगा या नहीं और कोई साफ विचार मिलेंगे या नहीं। इन उसूलों को जान लेना इसलिए अच्छा है कि आज इनका विशाल जन-समूहों पर असर पड़ रहा है और इनसे हमें अपने देश में भी मदद मिल सकती है। रूस के महान् राष्ट्र और सोवियट संघ के दूसरे हिस्सों ने मार्क्स को अपना बड़ा पैग़म्बर बनाया है और आज के कष्ट-पीड़ित संसार में बहुत लोग इलाज और प्रेरणा के लिए उसकी तरफ आँखें लगाये हुए हैं।

मैं इस खत को अंग्रेज कवि टेनीसन की कुछ पंक्तियों के साथ ख़त्म करूँगा :

"The old order changeth yielding place to new,
And God fulfils himself in many ways,
Lest one good custom should corrupt the world"

पुरानी व्यवस्था बदल कर नई के लिए जगह ख़ाली करती है,
और परमात्मा का काम कई तरीकों से पूरा होता रहता है, ताकि ऐसा न हो कि कहीं एक अच्छा रिवाज सारी दुनिया को ख़राब करदे।

मार्क्स का प्रथाओं के बदलने में विश्वास था, लेकिन धर्म में उसकी श्रद्धा नहीं थी। उसे तो वह 'लोगों के लिए अफीम' बताता था।

: १३५ :

इंग्लैण्ड का विक्टोरिया-युग

२२ फरवरी, १९३३

समाजवादी विचारों के विकास का वर्णन करते हुए मैंने अपने खतों में तुम्हें बताया है कि अंग्रेजों का समाजवाद सबसे नरम ढंग का रहा है। उस वक्त योरप में जितनी विचार-सरणियाँ प्रचलित थीं उनमें यह सबसे कम क्रांतिकारी था। हालत सुधारने के लिए यह बहुत धीरे-धीरे तब्दीली होने की बाट देखा करता था। कभी-कभी जब व्यापार बिगड़ जाता, मन्दी फैल जाती, बेकारी बढ़ जाती, मजदूरी घट जाती और लोगों को तकलीफ होने लगती, तब इंग्लैण्ड में भी क्रान्ति की लहर

उठ खडी होती थी। मगर जरा हालत अच्छी हुई कि फिर जोश ठण्डा पड़ जाता। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजो के विचारो की इस नरमी का इग्लैण्ड की खुशहाली से गहरा ताल्लुक था, क्योकि खुशहाली और क्राति मे मेल नही होता। क्राति का अर्थ है बडा परिवर्तन, और जो लोग मौजूदा हालत से सतुष्ट-से होते है उन्हे और अच्छी हालत होजाने की अनिश्चित आशा पर अपने को जोखिम में डालकर साहस का काम कर बैठने की इच्छा नही होती।

उन्नीसवीं सदी असल में इग्लैण्ड की महानता का समय था। अठारहवी सदी में उसने औद्योगिक क्रान्ति करके और दूसरे देशो से पहले नये कारखाने बनाकर जो अगुआपन हासिल कर लिया था वह उन्नीसवी सदी के ज्यादातर हिस्से में भी कायम रहा। मैं कह चुका हूँ कि वह दुनिया का कारखाना था और उसमें दूर-दूर के देशो से आ-आकर धन की वर्षा होती थी। हिन्दुस्तान और दूसरे उपनिवेशो की लूट से उसके पास बेशकीमत और अटूट दौलत चली आ रही थी और उसकी प्रतिष्ठा खूब बढती थी। जिस वक्त योरप के करीब-करीब सभी मुल्को मे तब्दीलियाँ हो रही थी उस वक्त भी इग्लैण्ड मे कोई क्राति या विस्फोट नही हुआ और वह चट्टान की तरह मजबूत और ठोस होकर खडा दिखाई देता था। समय-समय पर मुसीबते जरूर आई, मगर वह थोडे-से और आदमियो को राय देने का हक देकर टाल दी गई। हम यह भी देख चुके है कि इस बीच में फ्रास में एक के बाद एक प्रजातन्त्रो और साम्राज्यो का ताँता बँधा रहा; इटली में एक लम्बे जमाने की फूट के बाद सारा प्रायद्वीप एक होगया और एक नया राष्ट्र बन गया, और जर्मनी में एक नये साम्राज्य ने जन्म लिया। बेलजियम, डेनमार्क और यूनान जैसे छोटे-छोटे देश भी कई तरह बदले। आस्ट्रिया में तब भी योरप के सबसे पुराने राजघराने हैप्सबर्ग की राजधानी थी, लेकिन उसे फ्रास, इटली और प्रशिया ने बार-बार नीचा दिखाया। सिर्फ पूर्व में रूसी जार बडे मुगलो की तरह निरकुश शासन चला रहा था और रूस में कोई तब्दीली दिखाई नहीं दे रही थी। मगर वह औद्योगिक दृष्टि से बहुत पिछडा हुआ था और किसानो का राष्ट्र था। नये विचारो और नये कारखानो की अभी उसे हवा भी नही लगी थी।

इग्लैण्ड अपनी दौलत, अपने साम्राज्य और अपनी समुद्री ताकत के कारण योरप और ससार-भर पर हावी होरहा था। वह बहुत बड़ा राष्ट्र होगया था और उसका जाल दुनियाभर में फैला हुआ था। अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र अभीतक अपने भीतरी झगडो में फँसे हुए थे और उन्हे दुनिया के मामलो से घर की तरक्की की ज्यादा फिक्र थी। आमदरफ्त के जरियो में हैरतअंगेज तब्दीलियाँ हो

रही थी और उनके कारण पृथ्वी छोटी और घनी होती दिखाई दे रही थी। इन बातो से भी इंग्लैण्ड को दूर देशों पर अपना पंजा मजबूत करने में मदद मिली। इन सब तब्दीलियो के होते हुए भी इंग्लैण्ड में सरकार की सूरत वही रही। वहाँ वैध यानी ऐसा राजा रहा जिसके हाथ में नाम-मात्र की सत्ता हो और सारी असली ताकत पार्लमेण्ट की समझी जाय। इस पार्लमेण्ट को पहलेपहल मुट्ठीभर जमीदारो और धनी व्यापारियो ने चुना था, मगर बाद मे जब-जब विकट स्थिति पैदा हुई तब-तब आफ़त टालने के लिए ज्यादा-ज्यादा लोगो को राय देने का हक दे दिया गया।

इस सदी के ज्यादातर हिस्से मे विक्टोरिया इग्लैण्ड की रानी थी। वह जर्मनी के हनोवर घराने की लड़की थी। इस घराने नें अठारहवीं सदी में ब्रिटिश राजसिहासन को जार्ज नाम के कई राजा दिये। विक्टोरिया १८३७ में गद्दी पर बैठी। उस वक़्त वह १८ वर्ष की लड़की थी। उसने सदी के अन्त यानी १९०० ई० तक ६३ वर्ष राज्य किया। इंग्लैण्ड में इस लम्बे समय को अक्सर विक्टोरिया-युग के नाम से पुकारते हैं। इस तरह रानी विक्टोरियाने योरप में और दूसरे देशो मे बहुत-सी बडी-बडी तब्दीलियाँ देखी, जिनसे पुराने जमाने के निशानात मिट गये और उनकी जगह पर नये कायम होगये। उसने योरप की क्रांतियाँ, फ़्रांस की तब्दीलियाँ, इटली के राज्य और जर्मनी के साम्राज्य का जन्म देखा। मरते समय वह एक तरह से योरप और योरप के राजाओं की दादी थी। मगर योरप मे विक्टोरिया का समकालीन एक और राजा भी था, जिसका भी वैसा ही इतिहास है। वह आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग राजघराने का सम्राट् फ़्रांसिस जोजेफ था। जब क्रांति के वर्ष १८४८ ई० में वह अपने साम्राज्य की गद्दी पर बैठा तो उसकी भी उम्र १८ वर्ष की ही थी। उसने ६८ वर्ष हुकूमत की और किसी तरह आस्ट्रिया, हंगरी और दूसरे हिस्सों को अपनें मातहत एक करके रखने मे कामयाब हुआ। लेकिन महासमर ने उसका और उसके साम्राज्य दोनो का काम तमाम कर दिया।

विक्टोरिया उससे ज्यादा खुशकिस्मत थी। अपने शासन-काल मे उसने इग्लैण्ड की ताकत को बढ़ते और उसके साम्राज्य को फैलते हुए देखा। जब गद्दी पर बैठी तब कनाडा मे उपद्रव था। वहाँ खुली बगावत थी और उपनिवेश के बहुत-से बाशिन्दे इग्लैण्ड से अलग होकर अपने पडौसी अमेरिका के संयुक्त राज्यो में मिल जाना चाहते थे। मगर इंग्लैण्ड ने अमेरिका की लड़ाई से सबक सीख लिया था और उसने जल्दी से कनाडा वालो को स्वशासन का बड़ा हिस्सा देकर राजी कर लिया। थोडे समय बाद वह बढते-बढ़ते अन्दरूनी मामलो मे पूरी तौर पर आजाद उपनिवेश बन गया।

साम्राज्य में यह नये ढग का प्रयोग था, क्योंकि आजादी और साम्राज्य साथ-साथ नही रह सकते। मगर परिस्थिति से मजबूर होकर इंग्लैण्ड को ऐसा करना पड़ा, वर्ना वह कनाडा को खो बैठता। कनाडा के ज्यादातर लोग अंग्रेजी नस्ल के थे, इसलिए मातृ-भूमि यानी मादरे वतन इंग्लैण्ड के साथ उन्हे बडी मुहब्बत थी। इधर इस नये देश में लम्बी-चौडी जमीन यूं ही पडी थी, उसका कोई विकास नही था और आबादी भी बहुत कम थी। इसलिए उसे अपनी तरक्की के लिए अंग्रेजी माल और अंग्रेजी पूंजी पर निर्भर रहना पडता था। इस तरह उस वक्त दोनो देशो के स्वार्थो में कोई विरोध नही था और उनके बीच में जो अजीब और नया रिश्ता कायम हुआ उसपर कोई जोर नहीं पडा।

इसी सदी में आगे चलकर अंग्रेजो की विदेशी बस्तियो को स्वराज्य देने के इस तरीके का और विस्तार हुआ। सदी के बीच तक आस्ट्रेलिया कैदियो को रखने की जगह थी। सदी के अन्त में वह साम्राज्य के भीतर आजाद उपनिवेश बना दिया गया।

दूसरी तरफ हिन्दुस्तान में अंग्रेजो का पजा और भी मजबूत होगया और लडाइयो पर लडाइयाँ करके और इलाके पर इलाके जीतकर यहाँ अंग्रेजी साम्राज्य का विस्तार किया गया। हिन्दुस्तान अंग्रेजो के पूरी तरह मातहत होगया। स्वशासन का नाम-निशान भी नही रहा। १८५७ का विद्रोह कुचल दिया गया और हिन्दुस्तान को साम्राज्य के पूरे बोझ का अनुभव करा दिया गया। मैं तुम्हे दूसरी जगह बता चुका हूँ कि इंग्लैण्ड ने मुख्तलिफ तरीको से हिन्दुस्तान को किस तरह लूटा और चूसा। बिला किसी शुबहे के ब्रिटेन का साम्राज्य हिन्दुस्तान ही था और ससार के सामने इस सचाई का ऐलान करने के लिए रानी विक्टोरिया ने हिन्दुस्तान की साम्राज्ञी की पदवी ग्रहण की। मगर हिन्दुस्तान के अलावा दुनिया के अलग-अलग हिस्सो में और भी कई छोटे-छोटे देश इंग्लैण्ड के मातहत थे।

इस तरह दो किस्म के मुल्को से बना हुआ ब्रिटिश साम्राज्य एक अजीब भानमती का पिटारा होगया। एक तरफ तो अपने अन्दरूनी मामलो में खुदमुख्तार देश थे जो बाद में आजाद उपनिवेश होगये, और दूसरी तरफ मातहत और रक्षित देश थे। पहली तरह के देश थोडे या बहुत एक ही कुटुम्ब के सदस्य थे और मातृ-देश इंग्लैण्ड को अपना मुखिया मानते थे। दूसरी किस्म के देश साफ तौर पर चाकर और गुलाम थे, उन्हे नीचा समझा जाता था, उनके साथ बुरा बर्ताव होता था और उनका शोषण किया जाता था। खुदमुख्तार उपनिवेशो के लोग ब्रिटिश या दूसरे यूरोपियन और उनकी औलाद थे और मातहत देशो के लोग गैर-ब्रिटिश और गैर-

यूरोपियन थे। ब्रिटिश साम्राज्य के दोनो हिस्सो में यह फर्क आजतक बना हुआ है।

इंग्लैण्ड के पास दौलत भी थी और ताक़त भी। इसलिए वह सन्तुष्ट-सा था। बिलकुल सन्तुष्ट तो नहीं था, क्योंकि साम्राज्य की भूख कभी पूरी नही होती। सीमायें उसे नही सुहातीं और वह आगे-से-आगे बढ़ना चाहता है। फिर भी इंग्लैण्ड को खास चिन्ता यह नही थी कि और ज्यादा कैसे लिया जाय, बल्कि यह थी कि जो मिल गया है उसकी हिफ़ाजत कैसे की जाय? हिन्दुस्तान उसके लिए सोने की चिड़िया थी। उसे अख़ीर तक अपने पंजे में रखने की उसे बडी ख्वाहिश थी। उसकी सारी वैदेशिक नीति का आधार यह था कि हिन्दुस्तान उसके कब्ज़े में रहे और पूर्व के समुद्री रास्ते महफ़ूज़ रहे। इसी कारण उसने मिस्र में हाथ डाला और अखीर में उसे अपने कब्ज़े में किया; और इसी वजह से उसने ईरान और अफ़ग़ानिस्तान में दस्तन्दाज़ी की। उसने बडी चालाकी से स्वेज़ नहर की कम्पनी के हिस्से खरीद कर नहर पर अधिकार पा लिया।

उन्नीसवीं सदी के ज्यादातर हिस्से में योरप के बहुतेरे दूसरे देशो की तरफ़ से इग्लैण्ड को चिन्ता नही रही, क्योंकि उनके घर के झगडे ही बहुत थे और अक्सर वे आपस में लडते रहते थे। इंग्लैण्ड अपने उसी पुराने खेल के मुताबिक योरप में एक देश को दूसरे से लड़ाकर समतौल कायम रखता और उनके आपसी झगडो से खुद फायदा उठाता रहा। तीसरे नेपोलियन से उसे खतरा लगा था, मगर वह खत्म हो गया और फ्रांस को सम्हलने में कुछ वक़्त लग गया। जर्मनी अभी इतना नहीं बढ़ा था कि उसको संजीदगी के साथ मुख़ालिफ समझा जाता। लेकिन एक देश ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती देनेवाला जरूर दिखाई देता था और वह था ज़ारशाही रूस। वह पिछड़ा हुआ था, मगर नक़्शे में वह बड़ा लम्बा-चौडा देश था। जैसे इंग्लैण्ड हिन्दुस्तान और दक्षिणी एशिया में फैल गया था, वैसे रूस का विस्तार उत्तरी और मध्य-एशिया में हो चुका था। उसकी सरहद हिन्दुस्तान से बहुत दूर भी न थी। रूस की यह निकटता ब्रिटिश लोगो के लिए सदा खतरे की बात थी। मैंने हिन्दुस्तान का बयान करते वक़्त तुम्हे बता दिया है कि ब्रिटिश लोगो नें अफगानिस्तान पर हमले किये थे और अफगानो से लड़ाई की थी। इस सबका मुख्य कारण ज़ारशाही रूस का डर था।

योरप में भी इंग्लैण्ड और रूस की टक्कर हुई। रूस एक ऐसा अच्छा बन्दरगाह चाहता था जो बारहो महीने काम दे सके और जाडे में जिसका पानी जम न जाय। उसका इलाका बहुत लम्बा-चौड़ा था, मगर उसके सारे बन्दरगाह कहीं-न-कही आर्टिक घेरे के पास थे और कुछ महीनो तक वहाँका पानी जमकर बर्फ हो जाता था।

हिन्दुस्तान और अफ़ग़ानिस्तान में, इसी तरह ईरान में, भी ब्रिटिश लोग उसे समुद्र तक नहीं पहुँचने देते थे। काले समुद्र का मुँह बास्फोरस और दर्रे दानियाल पर तुर्की का कब्ज़ा होने से बन्द था। पहले रूस ने कुस्तुन्तुनिया पर कब्ज़ा करने की कोशिश की, मगर तुर्क लोग उससे ज्यादा ताकतवर साबित हुए। इस वक्त तुर्कों का ज़ोर घट गया था और जिस चीज पर रूस की अर्से से राल टपक रही थी वह उसके हाथ में आती दिखाई दी। उसने उसे लेने की कोशिश की। मगर इंग्लैण्ड आडे आगया और बिलकुल स्वार्थपूर्ण कारणो से वह तुर्कों का हिमायती बन गया। १८५४ ई० में क्रीमिया की लड़ाई से और बाद में दूसरी लड़ाई की धमकी से रूस की तलवार म्यान में ही रक्खी रह गई।

१८५४ से १८५६ तक की इसी क्रीमियन लडाई में वीरागनाओ का एक स्वय-सेविका-दल फ्लोरेंस नाईटिंगेल के नेतृत्व में घायलो की सेवा के लिए गया। उस वक्त यह एक गैरमामूली बात थी, क्योंकि विक्टोरिया-युग की मध्यमवर्ग की स्त्रियाँ आजकल की बहुत-सी शिक्षित हिन्दुस्तानी स्त्रियो की तरह घर में पडी रहनेवाली और मुख्यत' दीवानखाने की शोभा बढानेवाली थी। फ्लोरेंस नाईटिंगेल ने उनके सामने सेवा करने की एक नई मिसाल रक्खी और वे बहुत-सी औरतो को घर की चहारदीवारी से बाहर लाई। इस तरह स्त्रियो की उन्नति के आन्दोलन में उनका महत्वपूर्ण स्थान है।

ब्रिटेन की सरकार का ढाचा ऐसा था जिसे वैध एकतंत्री शासन या 'मुकुटधारी प्रजातत्र' कहते है। इसका अर्थ यह है कि राजा के हाथ में असली ताकत कुछ न थी और उसे वही कहना और करना पडता था जो पार्लमेण्ट के विश्वासपात्र मत्री चाहते थे। राजनैतिक दृष्टि से वह मन्त्रियो के हाथ की कठपुतली होता था और कहा यह जाता था कि वह 'राजनीति से परे' है। असल बात यह है कि कोई तेज बुद्धि या मजबूत इरादे वाला आदमी सिर्फ कठपुतली बनकर नही रह सकता और अंग्रेज़ राजाओ या रानियो को भी सरकारी मामलो में दखल देने के बहुत अवसर मिलते थे। आमतौर पर यह बात परदे के भीतर होती है, और जनता को या तो कुछ मालूम ही नही हो पाता या होता भी है तो बहुत समय बाद। खुली दस्तन्दाजी पर बड़ा असन्तोष फैल सकता है और बादशाहत खतरे में पड सकती है। वैध शासक में बडा गुण जो होना चाहिए वह है कौशल। अगर यह उसमें है, तो फिर उसका काम चल सकता है और वह कई तरह से अपना असर डाल सकता है।

विधान और कानून की रू से अमेरिका की तरह प्रजातन्त्रो के अध्यक्षो के पास पार्लमेण्ट वाले देशो के मुकुटधारी शासको से कही ज्यादा सत्ता होती है। मगर

अध्यक्ष जल्दी-जल्दी बदलते रहते है और राजा लम्बे समय तक बने रहते है और चुपचाप ही सही, मगर काम-काज पर किसी खास दिशा मे लगातार असर डाल सकते है। राजा को साजिश रचने और सामाजिक दबाव डालने के भी बहुत मौके मिलते है, क्योकि सामाजिक दुनिया में उसीकी तूती बोलती है। असल में शाही दरबारो का सारा वायुमण्डल अधिकारवाद, ऊँच-नीच, पदवियो और वर्गो से भरा रहता है और उससे देशभर के लिए एक खास पैमाना बन जाता है। इस चीज का सामाजिक समानता और वर्ग-नाश से मेल नही बैठ सकता। इसमे कोई शक नहीं कि इंग्लैण्ड के शाही दरबार का अंग्रेजो की मनोवृत्ति बनाने और उनको समाज की वर्ग-व्यवस्था से सहमत करने मे बडा असर पड़ा है। या शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि जहाँ दुनिया के सारे बडे-बडे देशो में से राजाशाही यानी बादशाहत गायब होगई वहाँ इंग्लेंण्ड मे वह अब भी बची रह[१] गई है और उसका कारण यही है कि वहाँ लोगो ने ऊँच-नीच वर्ग की व्यवस्था को मजूर कर रक्खा है। एक पुरानी कहावत है कि "हरेक अंग्रेज को किसी-न-किसी सामन्त से प्रेम है।" इसमें बहुत-कुछ सचाई है। योरप या अमेरिका मे, और शायद जापान और भारत के सिवा एशिया में भी, कही वर्गभेद इतने तीव्र नही है जितने इंग्लैण्ड में है। यह ताज्जुब की बात है कि जो इग्लेंण्ड पहले राजनैतिक लोकसत्तावाद और उद्योगवाद का नेता रह चुका है वह आज सामाजिक दृष्टि से इतना पिछड़ा हुआ और मौलिक बातो में इतना अनुदार है।

ब्रिटिश पार्लमेण्ट 'पार्लमेण्टो की जननी' कहलाती है। उसका जीवन लम्बा और सम्मानपूर्ण रहा है और बहुत-सी बातो में राजा की मनमानी से लड़ने में वह सबसे आगे रही है। उस एकतंत्री शासन की जगह मुट्ठीभर अमीरो की पार्लमेण्ट का राज्य कायम हुआ। फिर लोकसत्तावाद की सवारी गाजे-बाजे के साथ आई और बडी खीचतान के बाद ज्यादातर लोगो को पार्लमेण्ट की आम सभा के मेम्बर चुनने के लिए राय देने का हक मिला। अमल में इसका नतीजा यह नही हुआ कि शासन पर सचमुच लोकसत्तात्मक नियंत्रण कायम होगया, बल्कि इतना-सा ही नतीजा निकला कि धनवान कारखानेदारो के हाथ में पार्लमेण्ट की बागडोर आगई। लोक-सत्ता के बजाय धन-सत्ता कायम होगई।

ब्रिटिश पार्लमेण्ट में शासन चलाने और कानून बनाने का काम-काज करने के लिए एक अजीब प्रणाली पैदा होगई। यह दो दलो की प्रणाली कहलाती है। इन दोनों में कोई खास फर्क नही था। उनके कोई विरोधी सिद्धान्त न थे। दोनो अमीरो के गिरोह थे और उस वक़्त की सामाजिक व्यवस्था को मानते थे। एक दल में पुराने

जमींदार वर्ग के आदमी ज्यादा थे तो दूसरे में धनी कारखानेदारो की बहुतायत थी। मगर यह तो एक ही चीज के दो नामो वाली बात थी। वे पहले टोरी और व्हिग कहलाते थे। बाद में उन्नीसवी सदी में उनका नाम अनुदार और उदार दल पड गया। पार्लमेण्ट के भीतर और बाहर वे एक-दूसरे के खिलाफ खूब शोर मचाते थे। मगर यह दोनो की मिली भगत का खेल था। एक दल के हाथ में सत्ता होती तब दूसरा दल विरोधी दल नाम धारण कर लेता। ताज्जुब की बात यह है कि सत्ताधारी दल 'सम्राट् की सरकार' और विरोधी दल 'सम्राट् का विरोधी दल' कहलाता था।

योरप के दूसरे देशो में दूसरी ही बात थी। वहाँ सचमुच अलग-अलग विचार और कार्यक्रम रखनेवाले दल होते थे और उनकी पार्लमेण्ट के भीतर और बाहर खूब गर्मागर्म लडाई होती थी। मगर इग्लैण्ड में तो घर की-सी बात थी, विरोध भी एक प्रकार का सहयोग होगया था, और दोनो दल बारी-बारी से सत्ताधारी और विरोधी वन जाते थे। गरीबो और अमीरो की सच्ची कशमकश और वर्ग-युद्ध पार्लमेण्ट में प्रकट नही हुआ, क्योंकि दोनो बडे-बडे दल धनवानो के दल थे। न तो जनता के जोश को उभाड़नेवाले कोई मजहबी सवाल थे और न दूसरे यूरोपियन देशो के-से जातीय या कौमी सवाल थे। सदी के पिछले हिस्से में गरमी आई तो वह आयर्लण्ड के राष्ट्रीय सदस्यो की तरफ से आई थी, क्योंकि उनके लिए आयर्लैण्ड की आजादी का सवाल राष्ट्रीय सवाल था।

जब इतने बडे दो दल पार्लमेण्ट के लिए मेम्बर खडे करे तो आजाद आदमियो या छोटे-छोटे गिरोहो के आदमियो का चुना जाना बहुत मुश्किल होता है। लोकसत्ता और मताधिकार के होते हुए भी गरीब वोटर को इस मामले में बोलने का कुछ भी हक नही होता। वह मानो दोनो में से किसी दल के उम्मीदवार के लिए राय देदे या घर बैठ रहे और राय ही न दे। और दोनो दलो के मेम्बरो को पार्लमेण्ट में कोई आजादी भी नही रहती। वे अपने-अपने दल के नेताओ की आज्ञा मानकर राय देने के सिवा और कुछ नही कर सकते। इसके बिना वे अपने दल को सगठित और मजबूत नहीं बना सकते और न ताकत हासिल कर सकते हैं। यह सगठन और एकरसता अपनी जगह पर अच्छी चीज है, मगर इसे लोकसत्ता नही कह सकते।

हम देखते हैं कि इग्लैण्ड को अक्सर लोकसत्ता की उन्नति का नमूना बताया जाता है, मगर वहाँ भी लोकमत को बहुत ज्यादा कामयाबी नहीं मिली। शासन का बडा सवाल यह होता है कि जनता अपने ऊपर शासन करने के लिए अच्छे-से-अच्छे आदमी कैसे चुने? यह सवाल वहाँ भी सतोषजनक रूप में हल नही हुआ। अमल

में लोकसत्ता का यह अर्थ होता है कि लोग जोरदार व्याख्यानबाजी करे और गरीब वोटर या मतदाता ऐसे आदमियों को चुनदें जिनके बारे में वे कुछ भी नही जानते। आम चुनावो को खुला नीलाम कहा गया है, जहाँ तरह-तरह के वादे किये जाते है। मगर इन सब खामियो के होते हुए भी यह झूठी या नकली लोकसत्ता चलती रही, क्योंकि इंग्लैंड खुशहाल था और इस खुशहाली के कारण वहाँकी व्यवस्था नही टूटती थी और लोगो में एक हद तक सन्तोष रहता था।

उन्नीसवी सदी के पिछले आधे हिस्से में इग्लैण्ड के राजनैतिक दलो के दो बडे नेता डिजरैली और ग्लैडस्टन थे। डिजरैली आगे चलकर बीकस्फील्ड का अर्ल बना दिया गया था। वह अनुदार दल का नेता था और कितनी ही बार प्रधानमंत्री बना। यह उसके लिए बडी कामयाबी की बात थी, क्योंकि वह यहूदी था और उसके कोई बडे ताल्लुकात भी नही थे और यहूदियो को अंग्रेज लोग पसन्द भी नहीं करते। लेकिन सिर्फ अपनी योग्यता और लगन के जोर पर उसने अपने विरोध पर फतह हासिल की और वह रास्ता चीरकर आगे आगया। वह बड़ा साम्राज्यवादी था, उसीने विक्टोरिया को 'कैसरे हिन्द' बनाया। ग्लैडस्टन एक पुराने अंग्रेज धनी घराने का आदमी था, वह उदारदल का नेता बन गया और वह भी कई बार प्रधानमंत्री हुआ। जहाँतक साम्राज्यवाद और विदेशी नीति का ताल्लुक था वहाँतक ग्लैडस्टन और डिजरैली में कोई मौलिक अन्तर नही था। मगर डिजरैली अपने साम्राज्यवाद की बात साफ-साफ कहता था और ग्लैडस्टन पूरा अंग्रेज था। वह असलियत को मीठी बातों और मजहब की दुहाइयो में छिपा लेता था। वह ऐसा प्रकट करता था, गोया जो कुछ वह करता था उसमे परमात्मा की खास तौर पर सलाह रहती हो। बालकन देशो में तुर्कों के जुल्मो के खिलाफ उसने बड़ा आन्दोलन मचवाया और डिजरैली ने उसके विरोध में तुर्कों का पक्ष लिया। असल में दोष तुर्कों और उनकी कई बालकन जातियो की रिआया इन दोनो का था। वे बारी-बारी से एक-दूसरे पर भयंकर हत्याकाण्ड और अत्याचार करते थे।

ग्लैडस्टन ने आयर्लैण्ड के लिए होमरूल (स्वराज्य) का भी समर्थन किया। उसे कामयाबी नही मिली और अंग्रेजो ने इतनी मुखालफत की कि खुद उदारदल के दो टुकडे होगये और एक हिस्सा अनुदार दल में जा मिला। इन्हे अब यूनियनिस्ट कहते है, क्योंकि ये आयर्लैण्ड के साथ मेल बनाये रखना चाहते है।

मगर इस बारे मे और विक्टोरिया-युग की दूसरी बातो के बारे मे तो अब अगले खत में ही ज्यादा बातें लिखूंगा।

: १३६ :

संसार का साहूकार इंग्लैण्ड

२३ फरवरी, १९३३

उन्नीसवीं सदी में इंग्लैण्ड जो इतना सम्पन्न हुआ उसका कारण उसके उद्योग-धंधे और उपनिवेशो और मातहत देशो का शोषण था। उसकी बढती हुई दौलत का आधार चार उद्योग थे। इन्हे प्रधान उद्योग कह सकते है। ये रुई, कोयला, लोहा और जहाज-साजी थे। इनके साथ-साथ और इनसे अलग भी बेशुमार छोटे-बडे दूसरे उद्योग खडे होगये। बडे-बडे व्यवसाय-भवन और साहूकारी कोठियाँ बन गई। अंग्रेजो के व्यापारी जहाज दुनिया के हर हिस्से में पाये जाने लगे। वे ब्रिटिश माल ही नही ले जाते थे, बल्कि दूसरे उद्योग-प्रधान देशो का माल भी ले जाते थे। ये जहाज ससार के व्यापार की सामग्री को लेजाने के मुख्य साधन बन गये। लन्दन में लॉयड का बीमे का बडा दफ्तर ससार के समुद्री व्यापार का मुख्य केन्द्र बन गया। पार्लमेण्ट पर इन उद्योगो और व्यवसायो के मालिको का नियन्त्रण था।

देश में धन की बाढ आगई और ऊँचे और मध्यमवर्ग के लोग मालामाल होते चले गये। इस धन का कुछ हिस्सा मजदूरो को भी मिला और उनका रहन-सहन भी ऊँचा होगया। धनवानो को जो इतना सारा धन मिला था उसका वे क्या करते? उसे पडा रखना तो बेवकूफी होती। इसलिए हर कोई उद्योग-धंधो को उत्तेजन देने और ज्यादा-ज्यादा माल पैदा करके ज्यादा-से-ज्यादा मुनाफा करने लगा। इस धन के अधिकांश भाग से इंग्लैण्ड और स्काटलैण्ड में नये-नये कारखाने, रेलें और दूसरे ऐसे ही धंधे जारी किये गये। थोडे अर्से बाद जब कारखानो की तादाद बहुत बढ़गई और देश में उद्योग-धंधो का पूरा जाल बिछ गया, तो नफे की दर घटना स्वाभाविक था, क्योंकि साथ-साथ स्पर्धा यानी लाग-डॉट भी बढ गई थी। तब पूँजीपतियो ने पूँजी लगाने को अधिक लाभदायक क्षेत्रो के लिए विदेशो में आँखें फैलाई और उन्हे साधन भी बहुतायत से मिल गये। दुनियाभर में रेल, तार और कारखाने बन रहे थे। योरप, अमेरिका, अफरीका और ब्रिटिश-राज्य के मातहत देशो में ऐसे बहुतसे कामो में ब्रिटेन की फालतू पूंजी खूब लगी। अमेरिका के सयुक्त राज्यो के पास प्राकृतिक धन की कमी नहीं थी, मगर वे तेजी से तरक्की कर रहे थे, इस कारण उनकी रेलो वगैरा में बहुत-सी ब्रिटिश पूंजी खप गई। दक्षिण अमेरिका में, और वहा भी खासकर अर्जेण्टाइन में, अंग्रेजो ने बडे-बडे व्यापारी बगीचे लगा लिये। कनाडा और आस्ट्रेलिया की तो रचना ही ब्रिटिश रुपये से हुई। चीन में रिआयतो की जो लडाई हुई उसका कुछ हाल मै

बता चुका हूँ। और हिन्दुस्तान पर तो अग्रेजो का कब्जा ही था। यहाँ उसने रेलो और दूसरों कामों के लिए अपनी मनमानी शर्तो पर कर्ज़ा दिया।

इस तरह इंग्लैण्ड संसार का साहूकार बन गया और लन्दन दुनिया का सराफा यानी पूँजी का बाजार होगया। मगर इसका यह अर्थ न समझ लेना कि जब रुपया भेजा जाता था तो कोई सोने, चाँदी या सिक्कों की बोरियाँ भर-भरकर इग्लैण्ड से दूसरे मुल्को की जाती थी। आजकल व्यापार इस तरीके से नही होता। ऐसा हो तो काफी सोना-चाँदी घूमने-फिरने को कहाँसे आये ?(बेवकूफ लोग सोने-चाँदी को बहुत ज्यादा महत्व देते है,) मगर वे तो विनिमय के साधन मात्र है और माल को इधर-उधर पहुँचाने के काम आते है। इन्हे न कोई खा-पहन सकता है और न इनसे और कुछ काम निकल सकता है। इनके जेवर अलबत्ता बन सकते है, मगर उनसे किसीको कोई फ़ायदा नही। सच्चा धन तो ऐसे माल का हाथ में होना है जो किसी काम आ सके। इस तरह ब्रिटिश पूँजीपतियो के रुपया उधार देने का अर्थ यह हुआ कि वे विदेशी कारखानो या रेलो में एक रकम लगाते थे, मगर नकद रुपया न भेजकर उसके बराबर की कीमत का अंग्रेजी माल देते थे। इस तरह ब्रिटिश मशीनो और रेलो का सामान दूसरे देशो को भेजा जाता था। इससे ब्रिटिश उद्योग-धंधों को मदद मिलती थी और साथ ही साथ ब्रिटिश पूंजीपतियो को अपनी फालतू पूंजी बढ़िया मुनाफे के कामो में लगाने के साधन मिलते थे।

साहूकारी मुनाफे का धन्धा है और इंग्लैण्ड ने जितना ही इसे अपनाया उतना ही वह मालदार हुआ। इससे एक बड़ा निठल्ला वर्ग पैदा होगया। वह केवल व्यव-साय के मुनाफे और हिस्से पर गुज़र करने लगा। इन लोगों को किसी चीज़ को बनाने या पैदा करने के लिए कोई मेहनत नही करनी पड़ती थी। उनके किसी रेलवे-कम्पनी, चाय के बगीचे या किसी और व्यापार में हिस्से होते थे और उनका मुनाफा उनके पास वक्त पर पहुँच जाता था। इन निठल्ले अंग्रेजो की फ्रेञ्च रिवीरा, इटली और स्वीजरलैण्ड जैसी अच्छी-अच्छी जगहो में बस्तियाँ बस गई। हाँ, इनमें से ज्यादातर लोग तो इंग्लैंड में ही रहे।

जिन देशो ने इस तरह इंग्लैण्ड से कर्ज लिया था वे सब व्याज या मुनाफा किस तरह चुकाते थे ? यह भी वे सोना-चाँदी की शक्ल में नही भेज सकते थे। उनके पास ये पदार्थ साल-दर-साल देने को काफी थे भी नही। इसलिए वे माल की शक्ल में अदा करते थे। पक्का माल तो इतना नही देते थे, क्योंकि खुद इंग्लैण्ड पक्का माल पैदा करनेवाले देशो में मुखिया था। मगर वे खाद्य पदार्थ और कच्चा माल भेजते थे। उनके यहां से इंग्लैण्ड की ओर गेहूं, चाय, कहवा, मास, फल, शराब, रुई और ऊन वगैरा की अटूट धारा बहती थी।

दो देशो के व्यापार का अर्थ है चीजो का तबादला। यह मुमकिन नही कि एक खरीदता ही रहे और दूसरा बेचता ही चला जाय। ऐसा कोई करने लगे तो चुकारा सोना या चादी के रूप ही में करना पडेगा और वहाँ थोडे ही समय में सोना चादी खतम होजायगा या फिर एकतर्फा व्यापार अपनेआप बन्द होजायगा। परस्पर व्यवसाय में लेन-देन दोनो होते है और वे घटते-बढते रहते है। कभी कोई देश बेचता अधिक है तो कोई खरीद ज्यादा लेता है। अगर हम उन्नीसवीं सदी के इग्लैण्ड के व्यापार की जाँच करे तो मालूम होगा कि सारी बातो को देखते हुए इग्लैण्ड से जितना माल बाहर गया उससे ज्यादा माल उसके यहाँ आया। यानी, हालाकि उसने भारी मिकदार में माल बाहर भेजा, ताहम उसने उससे ज्यादा कीमत का माल मँगवाया। फर्क इतना ही था कि उसने भेजा पक्का माल और मँगाया ज्यादातर कच्चा माल और खाद्य पदार्थ। इस तरह जाहिरा तौर पर तो उसने खरीदा ज्यादा और बेचा कम, और यह व्यापार करने का कोई अच्छा तरीका मालूम नही होता। मगर असल बात यह थी कि उसके आयात की अधिकता उसके उधार दिये हुए रुपये का मुनाफा ही थी। यह वह नजराना या कर था जो कर्जदार देश या हिन्दुस्तान-जैसे मातहत मुल्क उसे भेजते थे।

लगी हुई सारी पूजी का मुनाफा इग्लैण्ड में ही नही पहुँच जाता था। उसका बहुत-सा हिस्सा कर्जदार देश में रह जाता था और उसे ब्रिटिश पूजीपति फिर वही लगा देते थे। इस तरह, बिना नई पूजी लगाये या इग्लैण्ड से माल भेजे हुए, विदेशो में लगी हुई अग्रेजो की पूजी की रकम बढती जाती थी। हिन्दुस्तान में हमें बार-बार याद दिलाया जाता है कि रेलो, नहरो और बहुत-से दूसरे कामो में अंग्रेजो का बेशुमार रुपया लगा हुआ है और इस हिसाब से हिन्दुस्तान पर इग्लैण्ड का बड़ा भारी कर्जा बताया जाता है। हिन्दुस्तानियो को इसपर कई तरह का एतराज है, परन्तु यहाँ उस बात की चर्चा करने की जरूरत नही। हाँ, इतना ध्यान में रखना चाहिए कि लगी हुई पूजी की इस भारी रकम में इग्लैड से आया हुआ नया रुपया बहुत नहीं है। यह तो हिन्दुस्तान में कमाया हुआ मुनाफा यहीं फिरसे लगाया हुआ है। मै तुम्हे बता चुका हूँ कि प्लासी और क्लाइव के समय में सचमुच अंग्रेज हिन्दुस्तान से बहुत-सा सोना और खजाना इग्लैण्ड ले गये थे। उसके बाद हिन्दुस्तान के शोषण का तरीका दूसरा होगया और इतना खुला नही रहा और मुनाफे का कुछ हिस्सा इसी देश में व्यवसाय में फिर लगा दिया गया।

इग्लैण्ड ने देख लिया कि साहूकारी का ससार-व्यापी धन्धा चलाने का सिर्फ यही उपाय सम्भव है कि माल के रूप में व्याज लेना मंजूर किया जाय। मै तुम्हे

ऊपर बता चुका हूँ कि सोना ही लेने की जिद नही रक्खी जा सकती थी। इसके दो बडे नतीजे हुए। एक तो इंग्लैण्ड ने अपने लोगों के खाने के लिए बाहर से खाद्य-पदार्थ आने दिये और अपनी खेती को बिगाड़ लिया। उसने बाहर बेचने के लिए कारखानो में पक्का माल तैयार करने पर सारा जोर लगा दिया और अपने किसानो की हालत पर ध्यान नही दिया। अगर बाहर से खाने की चीजें सस्ती मिल जायें तो घर में पैदा करने की झंझट क्यो की जाय ? और अगर कारखानो से ज्यादा लाभ हो सके तो खेती करने की तकलीफ क्यो गवारा की जाय ? इस तरह इग्लैण्ड निरा उद्योग-प्रधान देश बन गया और खाने के लिए विदेशो पर निर्भर रहने लगा।

दूसरा नतीजा यह हुआ कि उसने मुक्त-व्यापार (Free Trade) की नीति इख्तियार करली, यानी उसके बन्दरगाहो पर दूसरे देशो से आकर जो माल उतरता था उसपर वह या तो कर लगाता ही न था या बहुत कम लगाता था। चूंकि वह मुख्य औद्योगिक देश था, इसलिए पक्के माल के मामले में उसे बहुत वक्त तक स्पर्धा या लाग-डॉट का डर नही था। विदेशी माल पर महसूल लगाने का मतलब होता विदेशो से आनेवाली अपनी खूराक और कच्चे माल पर महसूल लगाना। इससे जनता के भोजन का दाम बढ़ता और अपने ही पक्के माल की कीमत भी बढ़ती। इसके सिवा, अगर भारी टैक्स लगाकर वह विदेशी माल को अपने यहॉ आने से रोक देता तो विदेशी कर्जदार अपना कर्ज इंग्लैण्ड को कैसे चुकाते ? वे तो माल देकर ही कर्ज चुका सकते थे। यही कारण था कि जहॉ दूसरे सब उद्योग-प्रधान देश संरक्षण-करो के तरफदार (Protectionist) थे, यानी वे विदेशी माल पर टैक्स लगाकर अपने बढ़ते हुए उद्योग-धधो की रक्षा कर रहे थे, वहॉ इंग्लैण्ड ने मुक्त-व्यापार की नीति ग्रहण कर रक्खी थी। संयुक्तराज्य, फ्रांस, जर्मनी सब संरक्षणवादी थे।

मुक्त-व्यापार और संरक्षणवाद का सवाल हर मुल्क में पैदा होचुका है और उसपर गर्मागर्म बहस हुई है। आज तो असल में सारी दुनिया के सामने यह सवाल है। इंग्लैण्ड के दोनों बडे दलो में अर्से तक मतभेद का यही मुख्य विषय रहा। उदार-दल वाले मुक्त व्यापार के तरफदार थे। शायद इस सवाल का ऐसा जवाब नहीं दिया जा सकता जो हर हालत में लागू हो सके। मै तुम्हे याद दिलाऊँ कि जब अंग्रेज लोग यहॉ आये ही आये थे तब उन्होने हिन्दुस्तानी कपडे को इंग्लैण्ड में न घुसने देने के लिए उसपर भारी चुंगी लगाई थी। उस वक्त इंग्लैण्ड संरक्षणवादी था, क्योकि इसीमें उसे सहूलियत थी। बाद में मुक्त या खुला व्यापार उसके अनुकूल पड़ने लगा तो वह उसका तरफदार होगया। और अब कुछ महीनो से वह फिर संरक्षण-वादी देश बन गया

है और उसने विदेशी माल पर भारी चुगी लगा दी है। मगर अब वह दुनिया का साहूकार नही रहा।

उन्नीसवी सदी में अंग्रेजो ने खेती की उपेक्षा करने, उद्योग-धधो पर सारा जोर लगाने, खाने को बाहर से मँगा लेने और बाहर के मुनाफे पर मौज करने की जो नीति रक्खी, वह उस वक्त तो फायदेमन्द और सुहावनी लगी, मगर उसमें खतरा तो था ही और वह अब सामने आ रहा है, उस नीति का आधार इग्लैण्ड का उद्योग-धधो में हावी होना और उसका जबरदस्त विदेशी व्यापार था। लेकिन यह प्रधानता न रहे और साथ-साथ विदेशी व्यापार भी बरबाद होने लगे तो? उस हालत में वह खाने का दाम कैसे चुकावे? और अगर चुका भी दिया तो किसी जबरदस्त दुश्मन के रास्ता रोक लेने की हालत में वह खूराक उसे बाहर से मिल ही कैसे पायेगी? पिछले महायुद्ध में वहाँके लोगो को आधा भूखा रहना पडा था, क्योकि खाद्य पदार्थों के आने के जरिये करीब-करीब कट गये थे। इससे भी बडा खतरा यह है कि विदेशी स्पर्धा की वजह से उसका विदेशी व्यापार दिन-दिन गिरता जा रहा है। यह स्पर्धा उन्नीसवी सदी के आखरी बीस सालो में ज्यादा स्पष्ट होगई है, क्योकि तभीसे अमेरिका और जर्मनी भी विदेशी बाजार ढूँढने लगे है। धीरे-धीरे दूसरे देश भी उद्योग-प्रधान बन गये और इस तलाश में शरीक होगये, और अब तो करीब-करीब सारा ससार किसी-न-किसी हद तक उद्योगवादी हो चला है। हर देश अपनी जरूरत का माल ज्यादा-से-ज्यादा खुद तैयार करके विदेशी माल को अपने यहाँ नही आने देना चाहता। हिन्दुस्तान विदेशी कपडे की आमद रोकना चाहता है। तब लकाशायर और विदेशी व्यापार पर निर्भर रहनेवाले दूसरे ब्रिटिश उद्योग क्या करें?

इन सवालो का जवाब देना इग्लैण्ड के लिए मुश्किल है और उसके बुरे दिन भी आते दिखाई दे रहे है। वह कछुआ बनकर कोने में नहीं बैठ सकता और न अपनी खूराक और दूसरी जरूरियात पैदा करके स्वावलम्बी जिन्दगी ही बिता सकता है। आजकल की परस्पर गुँथी हुई दुनिया में यह मुमकिन ही नही। और अगर वह अपनेको सबसे अलग-थलग कर भी ले तो इसमें सन्देह ही है कि वह अपनी बहुत ज्यादा आबादी के लिए काफी खाद्य-सामग्री पैदा कर सकेगा। लेकिन ये सवाल आज के है, उन्नीसवीं सदी में इनका बहुत थोडा महत्व था। इसलिए इग्लैंड ने अपने भविष्य की बाजी लगाई, और इस उम्मीद पर कि उसकी प्रधानता बनी रहेगी, सब-कुछ दाँव पर धर दिया। बाजी बडी थी और जोखिम भारी था—यानी या तो संसार का मुखिया राष्ट्र बनकर रहने या खत्म ही हो जाने का सवाल था। कोई बीच का रास्ता नही था। लेकिन विक्टोरिया-युग के मध्यमवर्ग के अंग्रेज में न तो आत्मविश्वास

की कमी थी और न झूठे घमण्ड की। उसे मुद्दत से जो खुशहाली, कामयाबी और व्यवसाय एवं उद्योग मे अगुआपन हासिल था उसके कारण उसे यकीन होगया था कि वह दुनिया के दूसरे इनसानों से ऊँचे दर्जे का प्राणी है। वह सब विदेशियो को नाचीज समझने लगा। एशिया और अफ्रीका के लोग तो पिछडे हुए और जंगली थे ही। वे तो इसीलिए पैदा हुए मालूम होते थे कि पिछडी हुई जातियो पर हुकूमत करने और उन्हें सुधारने के लिए अंग्रेजो को अपनी जन्मजात प्रतिभा का प्रयोग करने का मौका मिले। योरप के दूसरे देश भी अज्ञानी और अंधविश्वासी थे। उनमें से अग्रेजी जबान ही बहुत थोडे लोग जानते थे! सभ्यता की चोटी पर बैठे हुए खास लोग तो अग्रेज ही थे। योरप बाकी की सारी दुनिया का सिरमौर था और इंग्लैण्ड योरप का नेता बनकर आगे बढ़ रहा था। ब्रिटिश साम्राज्य एक तरह की दैवी वस्तु थी और इसने ब्रिटिश जाति की महानता पर मुहर लगा दी थी। लॉर्ड कर्जन तीस वर्ष पहले भारत का वायसराय था और अपने समय का एक निहायत काबिल अग्रेज था। उसने अपनी एक किताब उन लोगों को समर्पण की थी, "जो यह मानते हो कि ब्रिटिश साम्राज्य भगवान की इच्छा से कायम है और आजतक ससार में इससे ज्यादा भलाई करनेवाली कोई चीज पैदा नही हुई।"

मै विक्टोरिया-युग के अंग्रेज के बारे में इतना सब जो लिख रहा हूँ उसमे कुछ ज्यादती और असाधारणता दिखाई देती है और शायद तुम यह भी सोचने लगो कि मै उसका मजाक उड़ा रहा हूँ। यह ताज्जुब की बात है कि कोई भी समझदार आदमी इस तरह का बर्ताव करे और इस तरह का अजीब, घमड-भरा और अपने मुँह मियाँ-मिट्ठूपन का रुख इख्तियार करे। लेकिन राष्ट्र-समूहो के मिथ्याभिमान को सन्तोष मिलता हो और उनका फायदा भी होता हो तो वे किसी भी तरह की बात पर यकीन कर लेते है। व्यक्तियों को अपने पडोसियो के प्रति ऐसा भद्दा और गँवारू बर्ताव करने का कभी खयाल भी नही आता, मगर राष्ट्रो को ऐसी आत्म-ग्लानि नही हुआ करती। बदकिस्मती से हम सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे है और अपने-अपने राष्ट्रीय गुणो की शेखी बघारते फिरते है। थोडे-से फर्क के साथ विक्टोरिया-युग के अग्रेज का नमूना अक्सर सभी जगह मिलता है। सारे यूरोपियन राष्ट्रो के ऐसे ही नमूने हो चुके है। जर्मनी का नमूना तो बीस वर्ष पहले खास तौर पर जोर-जबरदस्ती से भरा हुआ था। अमेरिका और एशिया में भी ऐसा ही हुआ है।

इंग्लैण्ड और पश्चिमी योरप की खुशहाली की वजह उद्योगवाद और पूजीवाद की तरक्की थी। यह पूंजीवाद मुनाफे की लगातार खोज मे सरपट दौड़ रहा था। सफलता और लाभ ही वहाँके लोगो के आराध्यदेव बन गये थे, क्योकि पूजीवाद

में धर्म या सदाचार से क्या वास्ता ? उसूल यह होगया कि जो व्यक्ति और राष्ट्र भयकर स्पर्धा यानी जबरदस्त लाग-डाँट में आगे निकल जाय वह बाजी मार लेजाय, और जो पीछे रह जाय वह जाय जहन्नुम में ! विक्टोरिया-युग के लोगो को अपनी धार्मिक सहिष्णुता पर घमण्ड था । उनका प्रगति और विज्ञान में विश्वास था और उनके व्यापार और साम्राज्य की कामयाबी ने ही यह साबित कर दिया था कि वे एक खास तरह और ऊँचे दर्जे के इनसान थे और इसीलिए जिन्दगी की लड़ाई में वे बच रहे थे । क्या डार्विन ऐसा नही कह गया था ? असल में धर्म के प्रति उनकी सहनशीलता नही थी, उदासीनता थी । आर एच. टॉनी नाम के अग्रेज लेखक ने इस स्थिति का अच्छा बयान किया है । वह कहता है कि दुनियावी मामलात से अलग करके ईश्वर को अपनी जगह पर बिठा दिया गया था । "जैसी जमीन पर नियत्रित राजाशाही थी वैसी ही स्वर्ग में भी कायम करदी गई !" अमीरो का तो यह खयाल था, मगर गरीबो को गिरजाघर जाने और धर्म को मानने का इस आशा से उत्साह दिलाया जाता था कि इससे शायद उनमें क्रान्तिकारी विचार पैदा न हो पायेंगे । धार्मिक सहिष्णुता का मतलब यह नहीं था कि और मामलो में भी बर्दाश्त से काम लिया जाता हो । जिन बातो को ज्यादातर लोग महत्व देते थे उनमें जरा भी सहनशीलता नही थी, जरा खिचाव हुआ कि सहनशीलता काफूर ! हिन्दुस्तान में भी अग्रेजी सरकार धर्म के मामलो में निहायत सहनशील है और इसे अपना एक खास सद्गुण बताती है । मगर उसकी राजनीति और उससे ताल्लुक रखनेवाली किसी बात की जरा भी टीका करो तो फौरन उसके कान खड़े होजाते हैं । उस वक्त उसकी सहनशीलता की कोई शिकायत नही की जा सकती ! उसपर जितना ज्यादा जोर डालो, वह उतनी ही नीचे उतर आयगी, और अगर जोर काफी पड जाय तो फिर सरकार सहनशीलता का बुर्का उतारकर खुले और शर्मनाक ढंग से आतकवाद का आश्रय लेती है । हिन्दुस्तान में हम आज यही देख रहे है । थोडे दिन हुए, मैंने अखबार में पढ़ा था कि कुछ अग्रेज कर्मचारियो को धमकी के खत लिखने के जुर्म में एक निमूछिये छोकरे को ८ साल सख्त कैद की सजा दी गई है !

पूँजीवादी उद्योग के बढने से कई तब्दीलिया हुई । पूँजीवाद के काम का विस्तार बढता ही गया । छोटे-छोटे व्यवसाय और कारखानो की बनिस्बत बडे पैमाने पर व्यवसाय और कारखाने चलते भी अच्छे और उनसे मुनाफा भी ज्यादा होता था । इसलिए बहुत बडी-बडी कम्पनियाँ बनने लगी और उन्होने उद्योग-पर-उद्योग हाथ में लेलिये और छोटे-छोटे स्वतत्र उत्पादको और कारखानो को हड़प कर लिया । व्यक्तियो के लिए स्वतत्ररूप से कुछ कर सकने का मौका बहुत कम रह गया, इसलिए

जैसा हो वैसा होने देने (लेसे फेयर) के पुराने ख्यालात इस नई स्थिति के सामने टिक नहीं सके। ये जबरदस्त कम्पनियाँ और व्यापार-सघ सरकारों पर भी हावी होगये।

पूँजीवाद के कारण साम्राज्य का एक और भी खौफनाक रूप पैदा हुआ। उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में जो देश उद्योग-धधो में बहुत आगे बढ़ गये थे उनमें जैसे-जैसे आपसी लाग-डॉट बढ़ी, वैसे-वैसे वे बाजारो और कच्चे माल की तलाश में और भी दूर-दूर देशो की तरफ आँखें फाड़ने लगे। दुनियाभर में साम्राज्य के लिए भयकर छीना-झपटी शुरू हुई। एशिया में यानी हिन्दुस्तान, चीन, बृहत्तर भारत और ईरान मे जो कुछ हुआ उसका हाल जरा विस्तार के साथ तुम्हे बता चुका हूँ। अब योरप की कौमें गिद्धो की तरह अफरीका पर टूट पडी और उसे आपस में बॉट लिया। यहाँ भी इंग्लैण्ड ने सबसे बड़ा हिस्सा लेलिया। उत्तर में मिस्र और पूर्व, पश्चिम व दक्षिण में बडे-बडे प्रदेश उसके हाथ लगे। फ्रांस भी मजे में रहा। इटली इस लूट के माल में से हिस्सा चाहता था, लेकिन एबीसीनिया के मुकाबिले में उसे बुरी तरह मुँह की खानी पडी। इससे सभीको बड़ा आश्चर्य हुआ। जर्मनी को हिस्सा मिला, मगर उससे सन्तोष नहीं हुआ। सब जगह साम्राज्यवाद की धूम थी। वह चीखता, धमकाता और इधर-उधर हाथ-पैर पीटता था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लोकप्रिय कवि रुडयार्ड किपलिंग ने 'गोरो के भार' (Whiteman's burden) का गीत बनाया। फ्रासवाले अपने सभ्यता-प्रचार के पवित्र ध्येय की बातें करनें लगे। जर्मनी को अपनी सस्कृति फैलाना ही था। इस तरह ये सभ्यता के प्रचारक दूसरो की हालत सुधारने और उनका बोझा ओढ़ने की पूरी त्याग-भावना के साथ घर से निकले और भूरे, पीले और काले लोगों की गर्दनो पर सवार होगये। मगर कालो के बोझे का गीत कौन गाता ?

एक-दूसरे से लड़नेवाले ये साम्राज्यवाद इस बुरी तरह पैर फैलाते जा रहे थे कि पृथ्वी इनके लिए छोटी पड़ गई। बाजारो की भूख इनमे से हरेक देश को आगे-से-आगे धकेल रही थी और इनकी आपस में ही अक्सर भिड़न्त हो जाती थी। इग्लैण्ड और फ्रास में लड़ाई होते-होते बच गई। मगर हितो मे सच्ची कशमकश तो अंग्रेजी और जर्मन उद्योग के बीच पैदा हुई। जर्मनी उद्योग और जहाजो के व्यवसाय में इंग्लैड के बराबर होगया और हर बाजार में उसका मुकाबिला करने लगा। लेकिन उसने देखा कि सरजमीन के अच्छे हिस्सों पर पहले ही इग्लैण्ड का कब्जा हो चुका है। वह बड़ा घमण्डी और उच्चाकांक्षी देश ठहरा, इस तरह दूसरे राष्ट्र उसे पीछे पड़ा रक्खें, यह बात उसे बुरी तरह खटकती थी। इसलिए उनके साथ एक जबरदस्त लडाई करने के लिए वह जोरो से तैयारी करने लगा। सारे योरप में तैयारियाँ शुरू होगई और जल और स्थल सेनायें बढ़ने लगी। अलग-अलग देशो में गुटबन्दी हुई। अखीर में दो

जिस वक्त योरप वार-वार क्रान्तियाँ करने और उन्हे दबा देने की कोशिश कर रहा था, उस वक्त सयुक्तराज्य पश्चिम की ओर फैलते जा रहे थे। दमन के कारण योरप के लोग अपने-अपने देश छोडकर जा रहे थे और लम्बे-चौडे देश और ऊँची-ऊँची मजदूरी की कहानियाँ उन्हे बडी तादाद में अमेरिका की तरफ खीच रही थी। जैसे-जैसे पश्चिम में आवादी वढी वैसे-वैसे नये-नये राज्य बनते और सघ में शामिल होते गये।

उत्तरी और दक्षिणी राज्यो में शुरू से ही बडा भेद था। उत्तरी राज्य उद्योग-प्रधान थे और वहाँ वडी-वडी मशीनो वाले नये-नये कारखाने तेजी से बढ गये। दक्षिण में वडे-वडे व्यापारी वगीचे थे और उनमें गुलाम लोग मजदूरी करते थे। गुलामी की प्रथा कानून से जायज थी, मगर उत्तर के लोग उसे पसन्द नही करते थे और वहाँ उसका कोई महत्व भी न था। दक्षिण का सारा दारोमदार ही गुलामी पर था। ये गुलाम अफरीका के हब्शी थे। गोरा एक भी गुलाम नहीं था। आजादी के ऐलान मे 'सव मनुष्य जन्म से समान हैं' यह जो उसूल माना गया था वह गोरो पर ही लाग होता था, कालो पर नही।

इन हब्शियो को अफरीका से किस तरह लाया गया था, यह कहानी बडी दर्द-नाक है। गुलामो का व्यापार सत्रहवी सदी के शुरू में आरम्भ हुआ और १८६३ ई० तक जारी रहा। पहलेपहल तो यह हुआ कि जब अफरीका के पश्चिमी समुद्रतट से व्यापार के माल से लदी हुई नावे गुजरतीं, तो जो भी अफरीका-निवासी उनके हाथ पड जाते उन्हे पकडकर वे अमेरिका ले जाती। इस किनारे का एक हिस्सा अब भी 'गुलामो का किनारा' (Slave Coast) कहलाता है। खुद अफरीका के बाशिन्दो में गुलामी का रिवाज वहुत कम था। वे सिर्फ लडाई के कैदियो और कर्जदारो के साथ ही गुलामो का-सा वर्ताव करते थे। अफरीकन लोगो को अमेरिका लेजाकर बेच देने का धन्धा वड मुनाफे का पाया गया। गुलामो का व्यापार पढा और इसमें अंग्रेज, स्पेनिश और पोर्चुगीज लोगो ने पैसा लगाया। गुलामी के व्यापार के लिए खास तरह के जहाज वनाये गये। उनमें पटावो के वीच में लम्वी और तग कोठरियाँ रक्खी गई और उनमें ये अभागे हब्शी पैरो में जजीरे और हाथो में हथकडियाँ बाँधकर दो-दो करके लिटा दिये जाते थे। अटलाण्टिक महासागर पार के समुद्री सफर में कई हफ्ते और कभी-कभी महीने लग जाते थे। इस सारे अर्से में ये हब्शी इन तग कोठरियो में बँधे पडे रहते। इनमें हरेक को ५॥ फीट लम्वी और १६ इच चौडी जगह दी जाती थी।

गुलामो के व्यापार के कारण लिवरपूल बडा शहर बन गया। १७१३ ई० में ही जब यूट्रेच्ट की सधि हुई तो इग्लैण्ड ने स्पेन से अफरीका और स्पेनिश अमेरिका के वीच में गुलामो को लेजाने का विशेषाधिकार छीन लिया। इससे पहले भी इग्लैण्ड

अमेरिकन इलाको मे गुलाम पहुँचाया करता था। इस तरह अठारहवी सदी में कोशिश की गई कि अफरीका और अमेरिका के गुलामो के व्यापार पर अंग्रेजों का ठेका हो जाय। १७३० ई० में लिवरपूल के १५ जहाज इस व्यवसाय मे लगे हुए थे। यह तादाद बढ़ती-बढ़ती सन् १७९२ ई० में १३२ होगई। औद्योगिक क्रान्ति की शुरुआत मे इग्लैण्ड के लंकाशायर प्रदेश में रुई की कताई का काम बहुत बढ़ गया और इसके कारण संयुक्तराज्यो में गुलामो की मॉग भी बहुत बढ़ गई। इसका कारण यह था कि लकाशायर की मिलो में जो रुई काम में लाई जाती थी वह अमेरिका के दक्षिणी राज्यो के रुई के बडे बगीचों में से आती थी। ये बगीचे बडी तेजी से बढ़े, अफरीका से गलाम भी उतने ही ज्यादा आये और हब्शियो की औलाद बढ़ाने की कोशिश भी की गई.। १७९० ई० में संयुक्तराज्यों में गुलामो की तादाद ६,९७,००० थी। १८६१ ई० में वह बढकर ४०,००,००० होगई।

उन्नीसवीं सदी के शुरू में ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने गुलामी के रिवाज के खिलाफ कडे कानून पास किये। योरप और अमेरिका के दूसरे देशो ने भी ऐसा ही किया। इसतरह गुलामी का व्यापार गैरकानूनी ठहरा दिया गया, मगर हब्शियो को अफरीका से अमेरिका ले जाने का सिलसिला फिर भी जारी रहा। फर्क इतना ही हुआ कि सफर में उनकी हालत और भी खराब होने लगी। वे खुले तौर पर तो ले जाये नही जा सकते थे, इसलिए उन्हे टॉडो पर ऊपर-नीचे पटककर लोगों की नजर से छिपा दिया जाता था। एक अमेरिकन लेखक कहता है--"कभी-कभी बर्फ की भरी गाडी (Toboggan) पर सवार होनेवालो की तरह उन्हे एक-दूसरे के ऊपर टॉग पर टॉग रखकर लाद दिया जाता था!" यह कितनी खौफनाक बात होती होगी, इसका खयाल करना भी दुश्वार है। उन जहाजो की इतनी गन्दी हालत हो जाती थी कि चार-पॉच बार के सफर के बाद उन्हें छोड़ देना पड़ता था। मगर मुनाफा बहुत ज्यादा होता था और जब व्यापार का खूब जोर था, यानी अठारहवी सदी के अखीर और उन्नीसवी के शुरू मे, तो हर साल अफरीका के गुलामो के किनारे से एक लाख गुलाम लेजाये जाते थे। याद रहे कि इतने आदमियो को लेजाने का यह मतलब था कि हब्शियो को पकड़ने के लिए जो छापे मारे जाते थे उनमें इनसे कही ज्यादा की मौत होती थी।

उन्नीसवी सदी के शुरू मे या उसके आस-पास सभी बडे-बडे देशो ने इस व्यवसाय को कानून के खिलाफ ठहरा दिया। संयुक्तराज्यो ने भी ऐसा ही किया। इस तरह गुलामी का व्यापार बन्द होगया, मगर अमेरिका में गुलामी बन्द नही हुई, यानी वहॉ पुराने गुलाम फिर भी गुलाम ही बने रहे। और चूंकि गुलामी जायज

ताकत कमज़ोर पड़ गई। उत्तर वालो की समुद्री फौज ने दक्षिण का उसके योरप के बाज़ारो से ताल्लुक बिलकुल काट दिया और रुई और तम्बाकू का बाहर जाना रोक दिया। इसमे दक्षिण के हाथ-पैर कट गये। लेकिन इसका असर लकाशायर पर भी बहुत जबरदस्त हुआ। वहाँ रुई न पहुँचने से बहुतसी मिले बन्द होगईं। लकाशायर के मजदूर बेकार होगये और उन्हे बडी मुसीबत उठानी पडी।

इस लडाई के बारे में अंग्रेज़ी लोकमत की आम तौर पर दक्षिण वालो के साथ हमदर्दी थी, या कम-से-कम धनिकवर्ग की राय दक्षिण की तरफ थी। सुधारक लोग उत्तरवालो के तरफदार थे।

गृह-युद्ध की असली वजह दास-प्रथा नहीं थी। जैसा मैं कह चुका हूँ, लिंकन आखीर तक आश्वासन देता रहा था कि गुलामी की प्रथा जहाँ कही है वहाँ उसका खयाल रक्खा जायगा। झगडे की जड़ तो असल में दक्षिण और उत्तर के जुदा-जुदा और कुछ विरोधी आर्थिक स्वार्थ थे और आखीर में लिंकन को सघ की रक्षा के लिए लड़ना पड़ा। युद्ध छिड जाने के बाद भी लिंकन ने दास-प्रथा के बारे में कोई साफ ऐलान नहीं किया, क्योंकि उसे डर था कि कहीं उत्तर के वे बहुत लोग जो गुलामी की प्रथा के तरफदार थे और किनारे के राज्य भड़क न उठें। हाँ, जैसे-जैसे लड़ाई बढ़ती गई वैसे-वैसे यह साफ बाते करने लगा। पहले उसने यह प्रस्ताव रक्खा कि मालिको को मुआवज़ा देकर कांग्रेस गुलामो को आज़ाद करदे। बाद में उसने मुआवज़ा देने का विचार छोड दिया और आखिर १८६२ ई० के सितम्बर में उसने जो मुक्ति की घोषणा निकाली उसमें यह ऐलान कर दिया कि १८६३ ई० की पहली जनवरी से सारे बागी राज्यो के गुलाम आज़ाद होजायेंगे। इस घोषणा के निकालने की ख़ास वजह शायद यह थी कि वह दक्षिण की ताकत लडाई में कमज़ोर कर देना चाहता था। इसका नतीजा यह हुआ कि चालीस लाख गुलाम आज़ाद होगये और उनसे यह उम्मीद ज़रूर रक्खी गई थी कि सम्मिलित राज्यो में ये लोग बखेडा खडा करेगे।

जब दक्षिणवाले बिलकुल थक गये तो १८६५ ई० में गृहयुद्ध खत्म हुआ। वैसे तो लड़ाई कभी भी हो तो भयंकर चीज़ ही होती है, मगर खानाजगी तो और भी खतरनाक चीज़ है। चार वर्ष की इस जबरदस्त लड़ाई का बोझ सबसे ज्यादा राष्ट्रपति लिंकन पर पडा और उसका जो नतीजा हुआ वह भी बहुत कुछ उसीकी शान्त दृढ़ता के कारण ही हुआ। उसने सारी निराशाओ और मुसीबतो की परवा न की और अपना काम जारी रक्खा। उसे सिर्फ जीतने की ही धुन नहीं थी। वह यह भी चाहता था कि इस विजय में कम-से-कम बदगुमानी पैदा हो, ताकि जिस संघ के खातिर वह लड़ रहा था वह हृदयो का सम्मेलन हो और कोरा जबरदस्ती से लदा हुआ मेल न हो।

इसलिए लड़ाई मे विजयी होते ही उसने हारे हुए दक्षिण के साथ उदारता का बर्ताव करना शुरू कर दिया। लेकिन कुछ दिनो के भीतर ही किसी फिरे दिमाग के आदमी ने उसे गोली से उड़ा दिया।

अब्राहम लिंकन अमेरिका के बड़े-से-बडे शूरवीरो में से है। उसका स्थान दुनियाभर के महान पुरुषो मे भी है। शुरू मे वह बहुत ही छोटा आदमी था। स्कूल मे उसने थोडी-सी तालीम पाई थी। जो कुछ उसने सीखा ज्यादातर अपनी ही मेहनत से सीखा था। फिर भी वह बढ़ते-बढते एक बहुत बड़ा राजनीतिज्ञ और वक्ता बन गया और उसने मुसीबत के बहुत बड़े जमाने में अपने देश की नाव को पार लगाया।

लिंकन के मरने के बाद अमेरिका की कांग्रेस दक्षिणी गोरो के प्रति उतनी उदार नहीं रही, जितनी कि वह हो सकती थी। इन दक्षिणी गोरो को कई तरह की सजा दी गई और बहुतो का मताधिकार छीन लिया गया। उधर हब्शियो को नागरिकता के पूरे हक देकर इस बात को अमेरिका के विधान में शामिल कर दिया गया। यह भी नियम बना दिया गया कि कोई राज्य किसी आदमी को उसकी जाति, रंग या पहले की गुलामी के कारण राय देने के हक से वंचित नही कर सकेगा।

हब्शी लोग अब कानून की रू से आजाद होगये और उन्हे राय देने का हक भी मिल गया। लेकिन उनकी माली हालत वही रही, इस कारण उन्हे बहुत कम फ़ायदा पहुँचा। आजाद किये गये हब्शियो मे से किसीके पास जायदाद नहीं थी और उनके लिए क्या किया जाय, यह सवाल होगया। उनमें से कुछ लोग उत्तर के शहरो मे जा बसे, लेकिन ज्यादातर जहाँ थे वहीं रहे। उनपर उनके पुराने गोरे दक्षिणी मालिको का वैसा ही दबाव रहा। वे पुराने बागीचो मे काम करते रहे और जो मजदूरी उनके गोरे अन्नदाता देदेते वही उन्हे लेनी पड़ती। दक्षिणी गोरो ने भी हर तरह के आतंक द्वारा हब्शियो को दबाये रखने के लिए अपना संगठन कर लिया। उन्होने कूक्लक्स क्लैन नाम की एक गैरमामूली ढंग की गुप्त-सी सस्था बना ली। इसके सदस्य बुर्के पहन-पहनकर हब्शियो को डराते फिरते थे और उन्हे चुनाव में राय देने से भी रोकने लगे।

पिछले पचास वर्ष में हब्शियो ने कुछ तरक्की की है। बहुतो के जायदाद भी होगई है और उनकी कई बढिया शिक्षण-संस्थायें है। फिर भी निश्चित रूप में उनकी जाति गुलाम है। सयुक्त राज्यो में उनकी तादाद एक करोड़ बीस लाख के करीब यानी सारी आबादी का दसवा हिस्सा है। जहां कहीं उनकी तादाद थोडी है वहा उन्हे बरदाश्त कर लिया जाता है। उत्तर के कुछ हिस्सो में कुछ ऐसा ही होता है।

मगर ज्योही उनकी तादाद बढ़ने लगती है त्योही उनपर बुरी तरह हमले होने लगते हैं और उन्हे यह अनुभव करा दिया जाता है कि पुराने गुलामो से उनकी हालत बहुत अच्छी नही है। होटलो, गिरजो, कालेज, बागो, स्नान करने के घाटो, ट्राम-गाड़ियो और भण्डारो तक में, सभी जगह, उन्हे गोरो से अलग रक्खा जाता है। रेलो में उन्हे खास डिब्बो में बैठना पडता है। गोरो और हब्शियो मे शादी की कानून से मनाई है। असल में तरह-तरह के विचित्र कानून है। अभी १९२६ ई० में ही वर्जीनिया राज्य ने एक कानून बनाकर गोरे और काले का एक आँगन में साथ-साथ बैठना भी मना कर दिया है।

कभी-कभी गोरो और हब्शियो मे भयकर दगे होते है। दक्षिण में अक्सर ऐसे भयकर मामले हो जाते है कि भीड किसी आदमी पर मुजरिम होने का शुबहा करके उसे पकड़ लेती है और मार डालती है। इन्ही वर्षो में ऐसी घटनायें भी हुई है कि गोरे लोगो की भीड़ ने हब्शियो को खम्भे से बाँधकर जिन्दा जला दिया।

यो तो सारे अमेरिका में और खास तौर पर दक्षिणी राज्यो में हब्शियो की हालत अब भी बहुत दर्दनाक है। जब मजदूरो का मिलना कठिन हो जाता है तब अक्सर बेकसूर हब्शियो को दक्षिण के कुछ राज्यो में किसी बनावटी जुर्म मे जेल भेज दिया जाता है और फिर उन कैदियो को ठेके पर मजदूरी करनें के लिए खानगी ठेकेदारो के हवाले कर दिया जाता है। यह बात खुद ही बहुत बुरी है, मगर इसके साथ और जो हालत होती है वह तो बहुत भयंकर है। इस तरह हम देखते है कि आखिर कानूनी आजादी मिल जाना ही कोई बहुत बडी बात नहीं होती। मगर एक बात में हब्शियो ने पश्चिमी दुनिया पर फिलहाल फतह हासिल कर ली है और वह है उनका 'जैज' (Jazz) सगीत।

क्या तुमने हैरियट बीचर स्टो की 'टॉम काका की कुटिया' पढ़ी है, या उसका नाम सुना है ? यह पुस्तक दक्षिणी राज्यो के पुराने जमानें के हब्शी गुलामो के बारे में है ओर इसमें उनकी दर्दनाक कहानी दी गई है। यह गृहयुद्ध से दस वर्ष पहले प्रकाशित हुई थी और अमेरिका के लोगो को दास-प्रथा के खिलाफ खडा करने मे इसका बडा असर पडा था।

: १३८ :

अमेरिका का अदृश्य साम्राज्य

२८ फरवरी, १९३३

गृह-युद्ध ने अमेरिका में बहुत ज्यादा तादाद में नौजवानो की जानें ली और वह कर्ज का बहुत भारी बोझ भी छोड़ गया। लेकिन उस समय यह देश जवान था और उमंगो से भरा था। इसकी तरक्की जारी रही। इस देश में प्राकृतिक सम्पत्ति का पार न था, खासकर खनिज पदार्थ इसमें बहुत ज्यादा पाये जाते थे। कोयला, लोहा और पेट्रोल, जो तीन चीजें आजकल व्यवसाय और सभ्यता की जड है, इस मुल्क में बहुत काफी थी। इस देश में जल-शक्ति भी इतनी ज्यादा थी कि खूब बिजली पैदा की जा सके। इस सिलसिले में नियागरा का जल-प्रपात तो तुम्हे याद आ ही जायगा। अमेरिका एक बहुत लम्बा-चौड़ा मुल्क था; इसकी आबादी औरो के मुकाबिले कम थी और हरेक आदमी के लिए आगे बढ़नें की गुंजाइश थी। तरक्की करके एक महान् व्यावसायिक और औद्योगिक देश बन जाने की सारी सहूलियते इस देश में पाई जाती थीं। अमेरिका इस रास्ते पर बहुत तेजी के साथ तरक्की भी करने लगा। ईसवी सन् १८८० तक पहुँचते-पहुँचते अमेरिका का व्यवसाय विदेशी बाजारो में ब्रिटिश व्यवसाय का मुकाबिला करने लग गया था। ब्रिटेन ने वैदेशिक व्यापार पर सौ वर्ष से अपना जो प्रभुत्व यानी क़ब्ज़ा आसानी के साथ कर रक्खा था, अमेरिका और जर्मनी ने उसे ख़त्म कर दिया।

लोग इस देश में दूसरे देशो से आकर बसने लगे। योरप से सब तरह के लोग आये; जैसे जर्मन, स्केडीनेवियन, आयरिश, इटालियन, यहूदी, पोल वगैरा। इनमें से बहुत-से तो अपनें देश में होनेवाले राजनैतिक जुल्मो से घबराकर आये थे और बहुत-से बेहतर रोजी और रोजगार की तलाश में। जरूरत से ज्यादा घनी आबादी वाले योरप ने अपनी फ़ाजिल आबादी को अमेरिका में भेजना शुरू कर दिया। इस मुल्क में जातियो, राष्ट्रों, भाषाओ और धर्मो का एक असाधारण पचमेल पैदा होगया। योरप में ये लोग अलग-अलग रहते थे, हरेक की अपनी छोटी-छोटी जुदा दुनिया थी, एक-दूसरे की तरफ नफरत और डाह के भावो से भरे रहा करते थे। अमेरिका में इन लोगो नें एक-दूसरे को नय वातावरण में जाना, जहाँ पुरानी नफरतो का कोई खास असर नहीं दिखाई देता था। अनिवार्य शिक्षा की एक समान प्रणाली ने इनकी राष्ट्रीय विषमताओ को घिसकर चौरस कर दिया और विभिन्न जातियो के इस चो-चों के मुरब्बे से अमेरिकन टाइप पैदा होने लगा। पुराने ऐंग्लो-सैक्सन लोग अपनेको ऊँची जाति का समझते

रहे। समाज के यही अगुआ थे। इनके बाद, किन्तु इनके करीब, उन लोगो का स्थान था जो उत्तरी योरप से आये थे। ये उत्तरी यूरोपियन लोग दक्षिण योरप से आये हुए लोगों को, खासकर इटली के लोगो को, नीची नज़र से देखते थे और उन्हे 'डागो' (Dagos) कहकर पुकारते थे। हब्शी लोग तो अलग थे ही। ये सब जातियो से नीचे समझे जाते थे और किसी भी गोरी कौम से मिलते-जुलते नही थे। पश्चिमी समुद्र के किनारे कुछ चीनी, जापानी और हिन्दुस्तानी आ बसे थे। ये लोग उस समय आये थे जब अमेरिका में मजदूरो की माँग बहुत ज्यादा थी। एशिया की ये कौमें भी औरो से अलहदा हो रहीं।

रेल और तार के हर जगह फैल जाने से यह विशाल देश एक सूत्र में बँध गया। पुराने जमाने में ऐसा होना नामुमकिन था, क्योंकि उस समय एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुँचने में हफ्तो और महीनो लग जाते थे। हम देख चुके हैं कि पुराने जमाने में एशिया और योरप में अक्सर बडे-बडे साम्राज्य कायम हुए, लेकिन वे एक धागे में इसलिए नहीं बँध सके थे कि आमदरफ्त और ससर्ग की सहूलियते नहीं थीं। साम्राज्य के मुख्तलिफ हिस्से एक-दूसरे से बिलकुल अलग रहते थे और अपना जीवन पूरी आजादी के साथ गुजारते थे। इतनी बात जरूर होती थी कि वे सम्राट की मातहती कबूल करते थे और उसे खिराज देते थे। ये साम्राज्य असल में एक सम्राट या शासक की मातहती में अनेक देशो के ढीले-ढाले गिरोह होते थे। इन सभी में आदर्शों या उसूलो का कोई समान दृष्टिकोण नहीं पाया जाता था। लेकिन अमेरिका के सयुक्तराष्ट्र ने रेलवे और आमदरफ्त के दूसरे जरियो की वजह से और एक-समान शिक्षा-प्रणाली के कारण अपने देश की अनेक जातियो में समान दृष्टिकोण पैदा कर दिया। ये अनेक जातियाँ धीरे-धीरे मिलकर एक जाति होगई। यह प्रवृत्ति अभीतक खत्म नहीं हुई है, मेल का यह सिलसिला अभीतक जारी है। इतने बडे पैमाने पर सम्मिश्रण का कोई दूसरा उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता।

सयुक्तराष्ट्र ने योरप की पेचीदगियो और यूरोपीय ताकतो की साजिशो से दूर रहने की कोशिश की। सयुक्तराष्ट्र यह भी चाहता था कि योरप उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के मामलात से अलग रहे। मैं तुम्हे 'मनरो सिद्धान्त' (Monroe Doctrine) के बारे में बता चुका हूँ। जब चन्द यूरोपियन शक्तियो ने अपनेको 'पवित्र मित्रदल' (Holy Alliance) का नाम देकर दक्षिण अमेरिका में स्पेन का साम्राज्य कायम रखने के लिए दखल देना चाहा, उस वक्त अमेरिका के प्रेसीडेण्ट मनरो ने इस राजनैतिक उसूल का ऐलान किया था। वह यह कि सारे अमेरिका में संयुक्त-राष्ट्र किसी भी यूरोपियन शक्ति को फौजी दस्तन्दाजी करने की इजाजत न देगा।

इसीका नाम 'मनरो डाक्टरिन' पड़ा। इस उसूल ने नये पैदा हुए दक्षिण अमेरिका के प्रजातन्त्रो को योरप के चगुल से बचा लिया। इसकी वजह से इंग्लैण्ड से एक दफा लड़ाई भी छिड़ गई, लेकिन अमेरिका इस सिद्धान्त पर, आज सौ बरस से ज्यादा होते है, डटा रहा है।

दक्षिण अमेरिका उत्तरी अमेरिका से बिलकुल जुदा था और सौ बरस के जमाने में इस भेद में कोई कमी नहीं हुई। उत्तर में कनाडा दिन-दिन संयुक्तराष्ट्र की तरह होता जाता है। लेकिन दक्षिण अमेरिका के प्रजातन्त्र वैसे नही बन रहे है। मैंने तुम्हे पहले बताया है कि दक्षिण अमेरिका के ये प्रजातन्त्र—और इनमें मैक्सिको को भी शामिल करलेना चाहिए, गो वह उत्तर अमेरिका में है—लैटिन प्रजातन्त्र कहलाते है। अमेरिका और मैक्सिको की सरहद दो भिन्न जातियो और संस्कृतियो को जुदा करती है। इस सरहद के दक्षिण में मध्य-अमेरिका को पतली पट्टी के उसपार और दक्षिण अमेरिका के विशाल महाद्वीपभर में, सभी जगह, जनता की भाषा स्पेनी और पुर्तगाली है। स्पेनी भाषा का ज्यादा जोर है। मेरा खयाल है कि पुर्तगाली सिर्फ़ ब्राजिल में ही बोली जाती है। दक्षिण अमेरिका के कारण ही स्पेनी भाषा आज संसार की बडी भाषाओ में स्थान रखती है। लैटिन अमेरिका अब भी संस्कृति के सम्बन्ध में स्पेन का मुंह देखता है। संयुक्त अमेरिका और कनाडा में जो जातीय वर्ग-भेद पाये जाते हैं वे लैटिन अमेरिका में नही पाये जाते। स्पेनी लोगों और अमेरिका के आदिम निवासियो यानी रेडइंडियनों में, और कुछ हद तक हब्शियों के साथ, शादी-ब्याह आपस में बराबर होते है। इसकी वजह से यहाँ एक मिश्रित जाति पैदा होगई है।

सौ वर्षो से आजाद होते हुए भी लैटिन अमेरिका के ये प्रजातन्त्र शान्तिपूर्वक जिन्दगी बिताना पसन्द नहीं करते। समय-समय पर इन देशो में क्रान्ति होती है और सैनिक डिक्टेटर पैदा होते रहते है। यहाँकी हमेशा तब्दील होनेवाली राजनीति और सरकारो की प्रगति को समझना आसान नही है। दक्षिण अमेरिका के तीन बडे-बडे देश, अर्जेण्टाइन, ब्राजिल और चाइल है। इनको ए० बी० सी० देश भी कहते ह, क्योकि इनके नाम का पहला अक्षर क्रमश ए० बी० सी० है। उत्तर अमेरिका में खास लैटिन अमेरिकन देश मैक्सिको है।

'मनरो सिद्धान्त' के ज़रिये संयुक्तराष्ट्र ने लैटिन अमेरिका के मामलात में योरप को दखल देने से रोक दिया। लेकिन ज्यो-ज्यो संयुक्तराष्ट्र वाले खुद अमीर और खुशहाल होते गये, अपने विस्तार के लिए बाहर नये क्षेत्र की तलाश करने लगे। स्वभावतः इनकी आँखें पहले लैटिन अमेरिका पर पडीं, लेकिन ये लोग साम्राज्य बनाने के पुराने ढंग पर नहीं चले। इन्होने लैटिन अमेरिका के किसी भी हिस्से पर

जबर्दस्ती कब्जा नहीं किया। इन लोगो ने इन देशो में अपने देश का बना हुआ माल भेजा और इनके बाजारो पर कब्जा कर लिया। इन्होंने दक्षिण में रेलवे, खान तथा दूसरे रोजगारो में अपनी पूजी लगादी। सरकारो को, और कभी-कभी क्रान्तियो के समय एक-दूसरे के खिलाफ लडनेवाले दलो को, कर्ज देना शुरू किया। 'इन्होंने' से मेरा मतलब अमेरिकन पूजीपति और साहूकारो से है। अमेरिका की गवर्मेण्ट इनके पीछे इनकी मदद पर थी। धीरे-धीरे ये साहूकार लोग उस दौलत की वजह से, जो इन्होंने लगा रक्खी थी या कर्ज दे रक्खी थी, मध्य और दक्षिण अमेरिका की अनेक छोटी-छोटी सरकारो का नियन्त्रण करने लगे। ये साहूकार इन देशो की एक पार्टी को धन या लडाई का सामान कर्ज देकर और दूसरी पार्टी को मदद से इन्कार करके क्रान्ति तक पैदा करा सकते थे। इन साहूकारो और पूजीपतियो के पीछे उत्तरी-अमेरिका की ताकतवर सरकार थी। इसलिए दक्षिण अमेरिका के छोटे और कमजोर देश इनका क्या कर सकते थे? कभी-कभी संयुक्तराष्ट्र ने इन प्रदेशो में शान्ति और अमन कायम रखने के बहाने किसी एक दल की मदद करने के लिए बाकायदा अपनी फौजें भी भेजी।

इस तरह अमेरिकन पूंजीपतियो ने दक्षिण अमेरिका के इन छोटे-छोटे देशो पर प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित कर लिया। अपने बैंक चलाये, रेले जारी की और खानें खोदी, और इन देशों से खूब मुनाफा उठाते रहे। लैटिन अमेरिका के बडे देशो में भी पूजी लगाये रहने की वजह से और मुद्रा पर अधिकार रखने के कारण इनका बहुत काफी असर था। इसका मतलब यह हुआ कि सयुक्तराष्ट्र ने इन देशो के धन पर या उसके बहुत बडे हिस्से पर कब्जा कर लिया था। यह गौर करने की चीज है, क्योंकि यह नये किस्म के साम्राज्य—आधुनिक ढग के—साम्राज्य का नमूना है। इसे अदृश्य यानी आंख से न दिखाई देनेवाला साम्राज्य कहना चाहिए। यह आर्थिक साम्राज्य है, क्योंकि इस किस्म के साम्राज्य में साम्राज्य के जाहिरा चिन्ह न होते हुए भी देशो पर अधिकार रहता है और उनका शोषण किया जाता है। दक्षिण अमेरिका के प्रजातन्त्र राजनैतिक और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से आजाद है। नक्शे को देखने से ये बडे विशाल देश मालूम पडते हैं और इस बात का कोई भी निशान नहीं दिखाई देता कि किसी भी रूप में ये परतन्त्र होगे, लेकिन इनमें से ज्यादातर मुल्को पर सयुक्तराष्ट्र हावी है।

हमने अपने इतिहास की झलक में देखा है कि भिन्न-भिन्न युगो में भिन्न-भिन्न प्रकार के साम्राज्य होते रहे हैं। इतिहास के शुरू में अगर एक जाति दूसरी जाति पर विजय पा जाती थी, तो उसका यह मतलब होता था कि हारी हुई जाति और भूमि

के साथ विजयी जो चाहे करे। विजयी लोग जमीन पर भी कब्जा कर लेते थे और जनता पर भी; यानी हारे हुए लोग गुलाम होजाते थे। यही आम रिवाज था। बाइबिल में हम पढ़ते है कि यहूदियो को बैबीलोनियन लोग गुलाम बनाकर अपने देश पकड़ ले गये थे, क्योंकि यहूदी बैबीलोनियन लोगो से लड़ाई में हार गये थे। इस किस्म की बहुत-सी मिसाले मिलती है। धीरे-धीरे साम्राज्य का यह ढग बदला और इसकी जगह पर दूसरे किस्म का साम्राज्य आगया, जिसमें सिर्फ जमीन पर कब्जा कर लिया जाता था लेकिन जनता को गुलाम नहीं बनाते थे, क्योकि यह स्पष्ट होगया था कि गुलाम बनाने की बनिस्बत टैक्स लगाकर या शोषण के अन्य साधनो से गुलामो से ज्यादा आसानी के साथ पैसा निकाला जा सकता है। हममें से ज्यादातर लोग अभीतक इसी किस्म के साम्राज्य को साम्राज्य समझते है, जैसे हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्य, और हम लोगो का खयाल है कि अगर अंग्रेजो के हाथ से हिन्दुस्तान की राजनैतिक हुकूमत निकल जाय तो हिन्दुस्तान आजाद हो जायगा। लेकिन अब तो साम्राज्य का यह रूप खतम होजाता है और इसकी जगह पर एक उन्नत और परिपूर्ण ढग का साम्राज्य पैदा हो रहा है। सबसे नई तरह के इस साम्राज्य में हारे हुओ की जमीन पर भी कब्जा नही किया जाता। ऐसे साम्राज्य तो सिर्फ देश की दौलत पर या उसकी उत्पत्ति के साधनो यानी पैदावार के जरियो पर अपना अधिकार जमाते है। इस ढग से हारे देश का अच्छी तरह शोषण करके खूब मुनाफा भी उठाया जा सकता है और साथ ही उस देश पर हुकूमत करने या दमन करने की जिम्मेदारी से भी बचत हो जाती है। असली तौर से जनता और भूमि दोनो पर कब्जा रहता है और कम-से-कम परेशानी से उन्हे वश में रक्खा जाता है।

इस तरह ज्यो-ज्यो जमाना बीतता गया है, साम्राज्यवाद अपनेको पक्का और और ठोस करता गया है; और आधुनिक ढंग का साम्राज्य अदृश्य आर्थिक साम्राज्य है। जब गुलामी का रिवाज मिट गया और उसके बाद जब सामन्ती ढंग की गुलामी दूर हुई, तब लोगों का खयाल था कि मनुष्य अब आजाद रहेगें। लेकिन जल्दी ही यह मालूम होगया कि जनता को फिर वही लोग दुह रहे है और दबाये हुए है, जिनके हाथ में पैसे की ताकत है। गुलाम और आसामी न रहकर लोग मजदूरी के गुलाम होगये। उनके लिए आजादी फिर भी दूर ही रही। यही हालत राष्ट्रो की भी है। लोग समझते है कि एक जाति का दूसरे पर राजनैतिक शासन ही सिर्फ एक मुसीबत है और अगर यह जाती रहे तो आजादी आप ही आप आजायगी। लेकिन यह बात सही नहीं मालूम होती, क्योकि हम देखते है कि अनेक देश ऐसे है जो राजनैतिक दृष्टि से तो आजाद है लेकिन आर्थिक गुलामी के कारण पूरी तौर पर दूसरे देश की मुट्ठी में

है। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्य तो बहुत प्रकट और स्पष्ट है। हिन्दुस्तान पर ब्रिटेन का राजनैतिक शासन है। इस दीखनेवाले साम्राज्य के साथ-साथ और इसके एक आवश्यक अग के रूप में ब्रिटेन का भारतवर्ष पर आर्थिक प्रभुत्व भी है। यह बिलकुल सम्भव है कि भारतवर्ष पर से ब्रिटेन का ऊपर से दीखनेवाला साम्राज्य बहुत दिन गुजरने के पहले ही जाता रहे, लेकिन आर्थिक शासन अदृश्य साम्राज्य के रूप में बना रहे। अगर ऐसी हालत हो तो इसका मतलब यह होगा कि ब्रिटेन के जरिये हिन्दुस्तान का शोषण जारी है।

विजयी शक्ति के लिए आर्थिक साम्राज्यवाद कम-से-कम परेशानी पैदा करनेवाला प्रभुत्व है। इसके कारण पराजितो में उतना असंतोष नही फैलता जितना राजनैतिक प्रभुत्व होने पर फैलता है। क्योकि बहुत-से लोग इसे नहीं देख पाते। लेकिन जब इस प्रभुत्व का बोझ दबाने लगता है, तब लोग इसके बुरे असर को महसूस करने लगते हैं और जनता मे क्रोध पैदा होने लगता है। लेकिन अमेरिका में आजकल सयुक्तराष्ट्र के प्रति कोई प्रेम नहीं, काफी क्रोध पाया जाता है। बहुत बार कोशिश की गई कि लैटिन अमेरिकन कौमो को सगठित करके उत्तरी अमेरिका के प्रभुत्व को रोका जाय। लेकिन ये कौमें उस वक्त तक ज्यादा कामयाबी हासिल नहीं कर सकती, जबतक इनके आपसी झगडे और इनकी अक्सर होती रहनेवाली महलो तक ही महदूद क्रान्तियाँ बन्द नही होतीं।

सयुक्तराष्ट्र का दीखनेवाला साम्राज्य फिलीपाइन के टापुओ पर है। मैंने तुम्हे अपने पहले ख़त में बताया था कि किस तरह अमेरिका ने इन टापुओ पर स्पेन की लडाई के बाद कब्जा कर लिया था। १८९८ ई० में अटलाटिक सागर के क्यूबा नामक टापू के बारे में यह लडाई शुरू हुई थी। क्यूबा आजाद होगया, लेकिन यह आजादी सिर्फ नाम की है। क्यूबा और हेटी दोनो पर अमेरिका का नियत्रण है।

कुछ वर्ष हुए, पनामा की नहर खुली। यह मध्य-अमेरिका की एक छोटी-सी पट्टी है, जो प्रशान्तसागर और अटलाटिक सागर को मिलाती है। ५० वर्ष से ज्यादा गुजरे, स्वेज नहर को बनानेवाले फर्डिनेण्ड डी लेसेप्स ने इसकी योजना बनाई थी, लेकिन वह बेचारे परेशानी में फँस गये और अमेरिकन लोगो ने इस नहर को बनाया। अमेरिकन लोगो को मलेरिया और पीतज्वर के कारण बहुत कठिनाई में पड़ जाना पड़ा, लेकिन इन लोगो ने इन बीमारियो को मिटा देने का इरादा कर लिया था और उसमें ये सफल रहे। जिन-जिन जगहो पर मलेरिया के मच्छर पैदा होते थे, उनको और बीमारी फैलाने के दूसरे सारे जरियो को इन्होने मिटा दिया और नहर के क्षेत्र को बिलकुल स्वास्थ्यवर्द्धक बना दिया। यह नहर पनामा के नन्हे-से प्रजातन्त्र के अन्दर है। लेकिन

संयुक्तराष्ट्र का इस नहर पर भी नियंत्रण है, और पनामा के छोटे-से प्रजातन्त्र पर भी। अमेरिका के लिए यह नहर बडे फायदे की चीज है, नही तो जहाजो को दक्षिण अमेरिका के चारों ओर घूमकर जाना पड़ता। लेकिन फिर भी पनामा नहर का उतना महत्व नहीं, जितना स्वेज नहर का है।

इस तरह संयुक्तराष्ट्र दिन-दिन मजबूत और अधिक दौलतमन्द होता गया। इस देश ने बहुत-सी चीजें पैदा कीं—जैसे करोड़पति लोग और आकाशचुम्बी महल। अमेरिकन लोगो ने बहुत-सी बातो में योरप की बराबरी करली और उससे आगे भी बढ गये। व्यावसायिक दृष्टि से ये लोग संसार की प्रमुख कौम होगये, और इनके यहां के मजदूरो के रहन-सहन का ढंग और देशो की बनिस्बत ऊँचा होगया। इस खुशहाली की वजह से १९वीं सदी के इंग्लैण्ड के समान इस देश में साम्यवाद और दूसरे उग्र विचारो को प्रोत्साहन नही मिला। दो-चार अपवादो को छोड़कर अमेरिका के मजदूर बहुत ठडे और झगडो से अलग रहनेवाले थे। यहांके मजदूरो को दूसरी जगहों की बनिस्बत बेहतर मजदूरी मिलती है, इसलिए ये लोग भविष्य की सदेह से भरी हुई बेहतरी की उम्मीद में वर्त्तमानकाल के अपनें निश्चित सुखों को खतरे में क्यो डाले? अमेरिका के मजदूरों में ज्यादातर इटैलियन और दूसरे 'डागो' वर्ग के लोग थे (जैसा कि उन्हे हिकारत के लफ्जो में कहा जाता था)। ये लोग कमजोर और असंगठित थे और नफरत की नजर से देखे जाते थे। जिन मजदूरो की तनख्वाहे ज्यादा थी, वे भी इन 'डागों' से अपनेको अलग और ऊँचा समझते थे।

अमेरिका की राजनीति में दो दल पैदा हुए। एक 'रिपब्लिकन' (जनतन्त्रवादी) और दूसरा 'डेमोक्रेटिक' (प्रजासत्तावादी)। इंग्लैण्ड के समान, और बहुत हद तक उससे भी ज्यादा, यहा ये दोनो दल दौलतमन्दो के प्रतिनिधि थे। इनमें उसूलो का कोई विशेष झगड़ा नहीं था। इसे अगर नागनाथ और साँपनाथ का उदाहरण कहा जाय तो अनुचित न होगा।

जब महायुद्ध आरम्भ हुआ तो यह हालत थी और अन्त में अमेरिका भी खिचकर लड़ाई के भँवर में जा पडा।

फ्रांस की तरह आयरिश लोगों को भी हरा कर देश के बहुत बड़े हिस्से पर कब्जा कर लिया। ग्यारहवीं सदी के शुरू में 'ब्रियान बोरुना' नाम के मशहूर आयरिश राजा ने डेन्स लोगों को हराकर कुछ वक्त के लिए आयर्लैण्ड को एक सूत्र में बाँध लिया। लेकिन उसकी मृत्यु के बाद यह जाति फिर बिखर गई।

तुम्हें याद होगा कि नार्मनों[1] ने विजेता 'विलियम' की मातहती में ग्यारहवीं सदी में इंग्लैण्ड को जीता था। इन्हीं ऐंग्लो-नार्मनों ने सौ बरस के बाद आयर्लैण्ड पर धावा किया और जिस हिस्से पर कब्जा किया उसका नाम 'पेल' रक्खा। शायद इसीसे अंग्रेजी भाषा में 'बियाण्ड दि पेल' वाक्य प्रचलित हुआ है। 'पेल' के बाहर यानी जाति से अलग। ११६९ ई० के इस ऐंग्लोनार्मन हमले ने गैलिक संस्कृति को सख्त धक्का पहुँचाया और इसी समय से आयरिश जातियों के साथ बराबर लड़ाई की शुरुआत होती है। ये लड़ाइयां, जो करीब सौ बरस के जारी रहीं, बहुत ज्यादा जंगली और क्रूर थीं। ऐंग्लो-नार्मन लोग, जिन्हें अब अंग्रेज कहना चाहिए, आयरिश लोगों को अर्द्ध-सभ्य जाति समझकर हमेशा नफरत की नजर से देखते रहे। इन दोनों में जाति का भेद था ही—अंग्रेज लोग ऐंग्लो-सैक्सन जाति के थे और आयरिश केल्ट थे—बाद को इनमें धर्म का भी भेद पैदा होगया। अंग्रेज और स्काच प्रोटेस्टेण्ट होगये और आयरिश लोग अपने पुराने धर्म रोमन कैथलिक पर ही कायम रहे। इसलिए अंग्रेज और आयरिश लोगों की इन लड़ाइयों में जातीय (Racial) और मजहबी लड़ाइयों की पूरी कटुता पाई जाती है। अंग्रेजों ने इरादा करके दोनों कौमों के मिलाप को रोका। एक कानून भी इस सम्बन्ध में बना—'किल्कैनी का कानून', जिसके मुताबिक अंग्रेज और आयरिश में अन्तर्जातीय विवाह रोक दिया गया।

आयर्लैण्ड में एक गदर के बाद दूसरा गदर होता था और ये सब कठोर निर्दयता के साथ दबा दिये जाते थे। आयरिश लोग स्वभावतः अपने विदेशी शासकों और जालिमों से नफरत करते थे और जब कभी इन्हें मौका मिलता, और बेमौका भी, ये लोग अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह कर बैठते थे। "इंग्लैण्ड की मुसीबत आयर्लैण्ड का सुअवसर है," यह पुरानी कहावत है। राजनैतिक और धार्मिक कारणों से आयर्लैण्ड अक्सर इंग्लैण्ड के दुश्मनों की, जैसे फ्रान्स और स्पेन की, तरफदारी करता रहता था। इससे अंग्रेजों को बहुत क्रोध होता था और वे समझते थे मानो किसीने पीछे से कटार मार दी। इसीलिए वे हर तरह के जुल्म के साथ इनसे बदला लेते थे।

[1] नार्मन—स्कैन्डिनेविया की एक जाति जो दसवीं सदी की शुरुआत में उत्तरी फ्रान्स में आकर बस गई और जिसने वहां नार्मण्डी की रियासत का निर्माण किया। इसका मतलबी अर्थ नार्मण्डी का बाशिन्दा है।

रानी एलिजाबेथ के जमाने मे, सोलहवी सदी मे, यह तय किया गया कि आयर्लैण्ड के सरकश बाशिन्दों की बागी ताकत को तोड़ने के लिए इनमे अंग्रेज जमीदार कायम कर दिये जायं, जो इन्हे बराबर दबाये रहे। इसलिए आयर्लैण्ड की जमीन जब्त करली गई और वहाँ के पुराने जमीदारों की जगह पर अंग्रेज जमीदार क़ायम किये गये। इस तरह आयर्लैण्ड किसानो का राष्ट्र बन गया, जिनके जमीदार विदेशी थे। ये जमीदार लोग आयरिश लोगो के लिए सैकडो बरस गुजर जाने पर भी विदेशी ही बने रहे।

रानी एलिजाबेथ के वारिस जेम्स प्रथम ने आयरिश लोगो की शक्ति तोडने की कोशिश में एक कदम और आगे बढ़ाया। उसने यह निश्चय किया कि आयर्लैण्ड में विदेशी लोगो का बाकायदा उपनिवेश बना दिया जाय और इसलिए बादशाह ने उत्तरी आयर्लैण्ड में अलस्टर के छहो जिलो की सारी जमीन जब्त करली। जमीन मुफ्त में मिलने लगी और लेभगुओ के झुण्ड-के-झुण्ड स्काटलैण्ड और इंग्लैण्ड से वहाँ पहुँच गये। इग्लैण्ड और स्काटलेण्ड से आये हुए ये लोग जमीन लेकर यहीं बस गये और किसानी करने लगे। उपनिवेश की इस प्रवृत्ति को सफल बनाने के लिए लन्दन शहर से भी मदद गाँगी गई, और लन्दन वालो ने तो 'अलस्टर की बस्तियों' (Ulster Plantations) के लिए एक खास संस्था ही बना दी थी। इसी वजह से उत्तर का 'डेरी' नाम का शहर आज 'लन्दन डेरी' कहलाता है।

इस तरह अलस्टर आयर्लैण्ड में ब्रिटेन का एक पैबन्द बन गया और इसमे कुछ आश्चर्य नही अगर आयरिश लोगो को इस बात से बड़ा गुस्सा पैदा होता हो। ये नये अलस्टरी आयर्लैण्ड के लोगों से नफ़रत करते थे और उन्हे नीच समझते थे। इग्लैण्ड की यह कितनी आश्चर्यजनक चालाकी की साम्राज्यवादी हरकत थी कि उसने आयर्लेण्ड के इस तरह एक-दूसरे के खिलाफ दो हिस्से कर दिये। अलस्टर की गुत्थी अभी तक, तीन सौ बरस गुजर जाने पर भी, नही सुलझ सकी है।

अलस्टर में इस उपनिवेश के कायम होजाने के बाद इग्लैण्ड में चार्ल्स प्रथम और पार्लमेण्ट के दरमियान गृह-युद्ध शुरू हुआ। पार्लमेण्ट की तरफ प्रोटेस्टेण्ट और प्यूरिटन थे, कैथलिक आयर्लेण्ड स्वभावत बादशाह की तरफ झुका। अलस्टर ने पार्लमेण्ट का साथ दिया। आयरिश लोग डरते थे और डरने की वजह भी थी कि प्यूरिटन लोग कैथलिक धर्म को नष्ट कर देंगे। इसलिए १६४१ में इन लोगो ने एक बहुत बडा विद्रोह खड़ा कर दिया। यह विद्रोह और इसका दमन पहले के विद्रोहो और दमन की बनिस्वत कही अधिक जंगली और क्रूर था। आयर्लैण्ड के कैथलिक लोगो ने प्रोटेस्टेण्ट लोगो को बेरहमी से कत्ल किया था। क्रामवेल ने इसका भयकर बदला लिया।

आयरिश लोगो का कई दफा कत्लेआम हुआ, खास कर कैथलिक पादरियो का, और आयर्लैण्ड में आजतक क्रामवेल का नाम कटुता के साथ याद किया जाता है।

इस जुल्म और बेरहमी के होते हुए भी एक पीढी बाद आयर्लैण्ड में फिर बगावत और घरेलू लडाई उठ खडी हुई, जिसकी दो घटनायें मशहूर है। एक लन्दन-डेरी का और दूसरे लिमेरिक का घेरा। १६८८ ई० में आयर्लैण्ड के कैथलिक लोगो ने लन्दनडेरी के प्रोटेस्टेंण्ट लोगो को घेर लिया। प्रोटेस्टेण्ट लोगो ने बहुत बहादुरी मे मुकाबिला किया, हालाँकि उनके पास खाने की सामग्री भी नही थी और वे भूखो मर रहे थे। अग्रेजी जहाज आखिर चार महीने के घेरे के बाद खाने की सामग्री और सहायता लाये।

१६९० ई० में लिमेरिक में बिलकुल इसका उलटा हुआ। वहाँ कैथलिक मत माननेवाले आयरिश लोगो को अग्रेजो ने घेर लिया था। इस घेरे का वीर पुरुष पैट्रिक सार्सफील्ड था, जिसने बहुतसी दिक्कतो के होते हुए भी बहुत शान के साथ लिमेरिक की हिफाजत की। इस लडाई में आयर्लैण्ड की स्त्रियाँ भी लडी और आयर्लैण्ड के गाँवो में आजतक सार्सफील्ड और उसके बहादुर जत्थे की वीरता के गाने गैलिक भाषा में गाये जाते है। सार्सफील्ड को अखीर में यह बहादुराना लडाई बन्द करनी पडी, लेकिन तब जब अग्रेजो ने उससे सम्मानपूर्ण सुलह की। लिमेरिक के इस सुलहनामे की एक शर्त यह थी कि आयरिश कैथलिको को पूरी नागरिक और मजहबी आजादी दी जायगी।

लिमेरिक के इस सुलहनामे को अग्रेजो ने, या यो कहो आयर्लैंड में बसे हुए अग्रेज जमीदार के कुटुम्बो ने, तोड डाला। ये प्रोटेस्टेण्ट जमींदार डबलिन की मातहत पार्लमेण्ट पर हावी थे। लिमेरिक मे कस्मिया वादा करने के बाद भी, इन्होने कैथलिक लोगो को नागरिक या मजहबी आजादी देने से इन्कार कर दिया। उलटे इन्होने कुछ खास कानून ऐसे बना दिये जिससे कैथलिक लोगो के साथ अन्याय होता था और जिससे आयर्लैंड के ऊन के व्यवसाय का सत्यानाश होगया। कैथलिक किसान बेरहमी से कुचल दिये गये। याद रक्खो कि यह कार्रवाई चन्द विदेशी प्रोटेस्टेण्ट जमीदारो ने जनता की बहुत बडी तादाद के खिलाफ की थी, जो कैथलिक थी और जिसमें ज्यादातर किसान थे। लेकिन सब शक्ति तो इन अग्रेज जमीदारो के हाथ में थी और ये लोग अपनी रियासतो से दूर रहते थे और अपने किसानो को इन्होनें अपने कारिन्दो और नौकरो की बेरहमी से भरी लालच के हाथ मे छोड दिया था।

लिमेरिक की कहानी तो पुरानी है, लेकिन वादाखिलाफी के कारण क्रोध और विद्वेष की जो आग उस वक्त भडकी थी, वह अभीतक शान्त नही हुई है और आज भी

आयलैंण्ड के राष्ट्रीय लोगो के सामने लिमेरिक की घटना अग्रेजो की धोखाबाजी की जबरदस्त मिसाल है। इस वादाखिलाफी, असहिष्णुता, दमन और जमीदारो के अत्याचार के कारण उस वक्त आयलैंण्ड की बहुत काफी जनता दूसरे देशो मे जा बसी। आयलैंण्ड के चुने-चुने नवयुवक विदेशच ले गये और किसी भी ऐसे देश की फौज मे भर्ती होगये जो अंग्रेजो से युद्ध कर रहा हो। जहाँ भी कही अग्रेजो के खिलाफ लडाई होती, ये आयरिश नवयुवक वहाँ जरूर पहुँच जाते थे।

जोनाथन स्विफ्ट, जिसनें 'गुलीवर्स ट्रावेल' नामक पुस्तक लिखी है, इसी युग मे हुआ है। यह १६६७ से १७४५ तक जिन्दा रहा। इसने अपने देशवासियो को एक सलाह दी है। इस सलाह से अग्रेजो के प्रति इसके क्रोध की मात्रा का अन्दाज लगाया जा सकता है। इसकी सलाह यह थी—"इनके (अग्रेजो के) कोयले को छोड़कर बाकी हरेक अंग्रेजी चीज जला डालो।" डबलिन में सेट पैट्रिक गिरजे में चन्द पंक्तियाँ, जो जोनाथन स्विफ्ट की कब्र पर लिखी है, इससे भी ज्यादा कटु है। ये पक्तियाँ शायद उसने खुद ही लिखी थी।

Here lies the body of
Jonathan Swift
For thirty years Dean
Of this Cathedral
Where savage indignation can
No longer gnaw his heart
Go, traveller, and
Imitate, if you can, one who
Played a man's part in defence
Of liberty

"यहाँ जोनाथन स्विफ्ट का शरीर पड़ा हुआ है। वह ३० वर्ष तक इस गिरजे का डीन (अधिकारी) था। जगली रोष उसके हृदय को काट न सका। हे यात्री! जाओ और कर सको तो उस आदमी का अनुकरण करो, जिसने आजादी की रक्षा मे एक मर्द का पार्ट अदा किया है।"

१७७४ ई० में अमेरिका की आजादी की लड़ाई छिडी, और एटलाटिक के पार अग्रेजी फौज का भेजना जरूरी होगया। आयलैंण्ड में कोई ब्रिटिश फौज न रह गई और उधर फ्रान्सीसी हमले की चर्चा होने लगी, क्योकि फ्रान्स ने भी हालैंड के खिलाफ लड़ाई शुरू कर दी थी। इसलिए आयरिश कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट दोनो ने रक्षा के लिए वालटियर (स्वयसेवक) दल बनाना शुरू कर दिया। कुछ अरसे के लिए ये लोग अपना पुराना झगड़ा भूल गये; आपस में सहयोग करने लगे और इनको अपनी शक्ति का पता चल गया। एक दूसरे विद्रोह का खतरा इंग्लैण्ड के सामने खड़ा होगया और, इस डर से कि कही आयलैंण्ड भी अमेरिका की तरह हाथ से न निकल जाय, इग्लैंण्ड ने

आयर्लैण्ड को स्वतन्त्र पार्लमेण्ट देदी। इस तरह उसूल की दृष्टि से तो आयर्लैण्ड, ब्रिटिश बादशाह के अधीन, इग्लैण्ड से आज़ाद होगया, लेकिन आयरिश पार्लमेण्ट वही पुरानी और ज़मीदारो की संकीर्ण सस्था रही, जिसमे केवल प्रोटेस्टेण्ट शामिल थे और जो कैथलिक लोगो पर पहले दबाव डालते रहे थे। कैथलिक लोगो पर अभीतक अनेक प्रकार की बन्दिशें थी। हॉ, फर्क सिर्फ इतना ज़रूर होगया था कि अब कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट एक-दूसरे के ज्यादा नज़दीक आते जाते थे। इस पार्लमेण्ट के नेता हेनरी ग्रेटेन, जो स्वय प्रोटस्टेण्ट थे, यह चाहते थे कि कैथलिक लोगो पर जो बन्दिशे है, वे हटा दी जायें, लेकिन इस बात में उनको बहुत कम कामयाबी हासिल हुई।

इसी दरमियान फ्रान्स में क्रान्ति होगई, और आयर्लैण्ड को उससे बहुत आशाये बँध गई। आश्चर्य तो यह है कि इस क्रान्ति का स्वागत कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट दोनो ने किया, जो अब धीरे-धीरे एक-दूसरे के बहुत नज़दीक होते जाते थे। 'सयुक्त आयरिश' (United Irishmen) नाम की एक सस्था खुली, जिसका उद्देश यह था कि कैथलिक और प्रोटेस्टेण्टो में मेल-जोल पैदा कराया जाय और कैथलिक लोगो को आज़ादी दिलाई जाय। सरकार ने इस 'यूनाइटेड आयरिशमेन' नाम की संस्था को पसन्द नही किया और यह दबा दी गई। इसलिए हस्बमामूल होनेंवाली अनिवार्य क्रान्ति १७९८ ई० में फिर भडक उठी। यह क्रान्ति पहले की क्रान्तियो की तरह अलस्टर और देश के दूसरे हिस्सो के दरमियान की मज़हबी लड़ाई नही थी। यह एक राष्ट्रीय क्रान्ति या बगावत थी, जिसमें कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट दोनो शामिल थे। इस क्रान्ति को भी अग्रेज़ो ने दबा दिया और इसके वीर पुरुष उल्फ टोन को, विद्रोही होनें के अपराध में, फासी पर लटका दिया गया।

इस तरह अब यह स्पष्ट था कि आयर्लैण्ड मे एक स्वतन्त्र पार्लमेण्ट बना देने से आयरिश लोगो की स्थिति में कोई फर्क नही आया था। अंग्रेज़ी पार्लमेण्ट भी उस समय एक सकीर्ण और दूषित सस्था थी, जिसमें रिश्वत देकर लोगो का चुनाव हुआ करता था और जिसकी बागडोर ज़मीदारो का एक छोटा-सा गुट और चन्द बडे-बडे व्यापारी अपनी मुट्ठी में रखते थे। आयरिश पार्लमेण्ट में भी यही सब दोष पाये जाते थे। इसके अलावा उसमें खास खराबी यह थी कि वह पार्लमेण्ट कैथलिक देश में क़ायम होते हुए भी मुट्ठीभर प्रोटेस्टेण्टो के हाथ में थी। ब्रिटिश सरकार ने यह निश्चय किया कि आयरिश पार्लमेण्ट को ख़त्म कर दिया जाय और आयर्लैण्ड को ब्रिटेन से मिला दिया जाय। आयर्लैण्ड मे इस प्रस्ताव का ज़ोरो से विरोध किया गया, लेकिन डबलिन की पार्लमेण्ट के मेम्बरो ने बहुत बडी-बडी रक़मे रिश्वत लेकर अपने ही वोट से अपनी पार्लमेण्ट को ख़त्म कर दिया। सन् १८०० ई० मे "ऐक्ट आफ यूनियन"

(Act of Union) पास हुआ और इस तरह ग्रेटन की चन्द दिनो की पार्लमेण्ट का खात्मा हो गया। उसकी जगह पर अब चुने जाकर कुछ आयरिश सदस्य ब्रिटिश पार्लमेण्ट में लन्दन जाने लगे।

इस दूषित आयरिश पार्लमेण्ट के खात्मे से शायद बहुत बडा नुकसान नही हुआ, सिवा इसके कि यह मुमकिन था कि कुछ दिन के बाद यह पार्लमेण्ट बेहतर हो जाती। लेकिन यूनियन ऐक्ट ने एक बहुत बडा नुकसान पहुँचाया और शायद यही नुकसान पहुँचाने के लिए वह बनाया भी गया था। प्रोटेस्टेण्ट और कैथलिको के दरमियान उत्तर और दक्षिण मे मेल-जोल की जो प्रवृत्ति चल रही थी वह ख़त्म होगई। प्रोटेस्टेण्ट अलस्टर ने बाकी आयर्लैण्ड से मुँह मोडकर अपना रुख दूसरी तरफ कर लिया और ये दोनो हिस्से एक-दूसरे से अलग होकर अपने-अपने रास्ते पर चल पडे। इन दोनो मे एक दूसरा फर्क और पैदा होगया। अलस्टर ने इंग्लैण्ड के ढंग पर आधुनिक व्यवसाय को अपना लिया। आयर्लैण्ड के बाकी हिस्से में खेती का ही जोर रहा; लेकिन खेती भी इस प्रदेश में तरक्की नही कर सकी, क्योकि कृषि-सम्बन्धी कानून दूषित थे। आयरिश जनता दूसरे देशो में जाकर बराबर बस रही थी, इसलिए उत्तर तो व्यावसायिक हो गया लेकिन दक्षिण और पूर्व और खास तौर से पश्चिम व्यावसायिक दृष्टि से पिछड़े और मध्य युग के जैसे ही बने रहे।

'ऐक्ट आफ यूनियन' के खिलाफ भी बगावत हुई। तेजस्वी नौजवान राबर्ट इम्मेट इस क्षणिक बलवे का नेता था, और इसने अपने अनेक पूर्वज देशवासियो के समान फाँसी के तख्ते पर प्राण दिये।

आयरिश सदस्य ब्रिटिश पार्लमेण्ट के 'हाउस आफ कामन्स' यानी साधारण सभा मे जाते थे, लेकिन कोई कैथलिक नहीं जा सकता था। कैथलिक लोगो को न तो आयर्लैण्ड और न इंग्लैण्ड मे पार्लमेण्ट के सदस्य बनने का हक था। ये बन्दिशें १८२९ ई० से टूटी और तबसे ही कैथलिक लोग ब्रिटिश पार्लमेण्ट में बैठने के अधिकारी समझे गये। डैनियल ओ कॉनेल नाम के आयरिश नेता ने ये बन्दिशें तुड़वाई थी, इसलिए उसे 'लिबरेटर' यानी 'उद्धारक' की पदवी दी गई। धीरे-धीरे एक दूसरी भी तब्दीली हुई। वोट देने का हक ज्यादा लोगो को दिया गया। चूंकि आयर्लैण्ड इंग्लैण्ड से मिला दिया गया था, इसलिए इन देशो पर एक ही कानून लागू था। इस कारण १८३२ ई० का मशहूर 'रिफार्म बिल' आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड दोनो पर लागू हुआ और इसी प्रकार बाद का मताधिकार यानी राय देने का कानून भी। इस तरह ब्रिटिश कामन्स सभा में आयरिश सदस्य का रूप बदलने लगा। जमींदारो के प्रतिनिधि से बदलकर वह कैथलिक किसानो और आयरिश राष्ट्रीयता का प्रतिनिधि होगया।

गरीबी के कारण, जमींदारो से पीड़ित और लगान से दबे हुए आयर्लैण्ड के किसानो का मुख्य भोजन आलू ही था। ये लोग करीब-करीब सिर्फ आलू ही खाकर जिन्दगी बसर करते थे और आजकल के हिन्दुस्तानी किसानो की तरह इनके पास भी सचय का अभाव था। इनके पास कुछ भी नहीं बचता था। जिससे संकट के समय ये सहारा पा सकें। ये लोग जिन्दगी और मौत की सीमा पर अपनी जिन्दगी गुजारते थे और इनमें प्रतिरोध की कोई ताकत बाकी नही बची थी। १८६४ ई० में आलू की फसल नष्ट होगई, जिसके कारण इस देश में जबरदस्त अकाल पड़ गया। लेकिन अकाल के होते हुए भी जमींदारो ने लगान वसूल किया और जो न दे सके उन किसानो को खेतो से बेदखल कर दिया। आयरिश लोगो की बहुत बडी तादाद अपनी मातृभूमि छोड़कर अमेरिका चली गई, और आयर्लैण्ड करीब-करीब उजड़ गया। बहुत-से खेत बेजुते पडे रहे और चरागाह बन गये।

जोते और बोये जा सकनेवाले खेतो का भेडो के लिए चरागाह बनते रहने का यह सिलसिला आयर्लैण्ड में करीब सौ बरस से ज्यादा वक्त तक जारी रहा और अभी हम लोगो के जमाने तक चलता रहा है। इसकी खास वजह यह थी कि इग्लैण्ड में ऊनी कपडो के कारखानें बढ़ रहे थे। जितनी ज्यादा मशीनें काम मे आती थी, उत्पत्ति उतनी ही बढती थी और ऊन की उतनी ही ज्यादा जरूरत पड़ती थी। इसलिए आयर्लैण्ड के जमींदारो को खेतो की बनिस्वत, जिनमें किसान काम करते थे, चरागाहो मे ज्यादा मुनाफा था जिनमें कि भेडें चरती थीं। चरागाहो में बहुत कम आदमियो की जरूरत पड़ती है। इनमें तो सिर्फ चन्द मजदूरो से, जो भेडो की निगरानी कर सके, काम चल जाता है। इसलिए खेती करनेवाले मजदूर जमींदारो के लिए बेकार होगये और उन्होने अपने यहासे किसानो को निकाल दिया। इस तरह आयर्लैण्ड में, जिसकी आबादी बहुत कम थी, हमेशा बहुत-से फाजिल और बेरोजगार लोग पाये जाते थे। इस कारण आबादी के घटने का सिलसिला भी जारी रहा। आयर्लैण्ड बस 'व्यवसायी' इग्लैण्ड को कच्चा माल पहुँचाने का एक क्षेत्र बन गया। खेतो के चरागाह बनने का पुराना सिलसिला अब उलट गया है और हल को अब फिर अपना पुराना स्थान मिल रहा है। आश्चर्य तो यह है कि यह स्थिति उस व्यापारिक युद्ध का नतीजा है, जो पारसाल १९३२ ई० मे इंग्लैण्ड और आयर्लैण्ड के दरमियान जारी है।

उन्नीसवीं सदी के ज्यादातर हिस्से मे खेती की समस्या, अनुपस्थित यानी दूर रहनेवाले ताल्लुकेदारो के शिकार दुखी किसानो की दुर्दशा, आयर्लैण्ड की मुख्य समस्या रही है। अखीर में ब्रिटिश सरकार ने यह निश्चय किया कि अनिवार्य तरीके से सब जमींदारियाँ खरीद कर और किसानो में बाँटकर जमींदारो को बिलकुल

खत्म कर दिया जाय। जमीदारो को कोई नुकसान नही रहा। उन्हे सरकार से अपनी जमींदारी के पूरे दाम मिल गये। किसानो को जमीन मिली; लेकिन कीमत के बोझ के साथ। किसानो को इन खेतो के दाम एकदम नही देने पडे। तय यह हुआ कि छोटी-छोटी सालाना किस्तो मे कीमत अदा की जाय। ये किस्ते अभीतक पूरी अदा नही हो सकी है और इनके बारे में इंग्लैण्ड और आयर्लेण्ड के दरमियान आजकल बहस-मुबाहसा चल रहा है।

१७९८ ई० की कौमी बगावत के बाद सौ बरस से ज्यादा तक आयर्लैण्ड में कोई बडी बगावत नही हुई। पहले की सदियो के प्रतिकूल आयर्लैण्ड की उन्नीसवी सदी इस बार-बार होनेवाली घटना से खाली रही; लेकिन इसका कारण यह नहीं था कि लोगो में सन्तोष की भावना थी। लोगो में पिछले विद्रोह की, भीषण दुष्काल की और निर्जनता की थकावट थी। इस सदी के पिछले आधे हिस्से मे किसी हद तक लोगो का ध्यान ब्रिटिश पार्लमेण्ट की तरफ झुका था, और उनको यह आशा बँधी थी कि शायद आयरिश सदस्य ब्रिटिश पार्लमेण्ट के जरिये कुछ काम कर सकेगे। लेकिन बहुत-से आयरिश लोग ऐसे भी थे, जो इस बार-बार होनेवाली बगावत की परिपाटी जिन्दा रखना चाहते थे। उनका ख्याल था कि केवल इसी ढंग से आयर्लैण्ड की आत्मा को स्वच्छ और अकलुषित रक्खा जा सकता है। अमेरिका में बसे हुए आयरिश लोगो ने आयर्लैण्ड की आजादी के लिए एक संस्था खोली। ये लोग, जिन्हे 'फेनियन' कहा जाता था, आयर्लेण्ड में छोटे-छोटे विद्रोह कराया करते थे, लेकिन जनता से इनका संसर्ग नही था और ये लोग बहुत जल्द पस्त कर दिये गये।

अब इस खत को मुझे खत्म कर देना चाहिए, क्योंकि लम्बा काफी होगया है, हालाकि आयर्लैण्ड की कहानी अभीतक खत्म नही हुई है।

: १४० :

आयर्लैण्ड में होमरूल और सिनफेन

९ मार्च, १९३३

इतने सशस्त्र विद्रोहो के बाद और दुष्काल तथा दूसरी आफतो की वजह से, आयर्लैण्ड आजादी हासिल करने के इन साधनो से कुछ थक-सा गया था। उन्नीसवी सदी के दूसरे आधे हिस्से में जब आयरिश जनता को ज्यादा तादाद में वोट देने का अधिकार मिला, तब अनेक राष्ट्रीय आयरिश कामन्स सभा के सदस्य चुने गये। जनता उम्मीद करने लगी कि शायद यही लोग आयर्लैण्ट की आजादी के लिए कुछ कर सकें,

और अब पुराने जमाने के सशस्त्र विद्रोह के बजाय आयरिश जनता पार्लमेण्टरी या वैध कामो की तरफ उम्मीद-भरी निगाह से देखने लगी।

उत्तर के अलस्टर में और आयर्लैंड के बाकी हिस्सो में फिर भेदभाव पैदा होगया था। जातीय (Racial) और धार्मिक विषमता तो कायम ही थी, इसके अलावा आर्थिक असमानता ज्यादा स्पष्ट होगई। इंग्लैण्ड और स्काटलैण्ड की तरह अलस्टर भी व्यावसायिक देश होगया था, और यहाँके कारखानो में बहुत काफी माल बनता था। देश का बाकी हिस्सा कृषि-प्रधान, मध्यकालीन, उजाड़ और गरीब था। आयर्लण्ड में फूट पैदा कर देने की इंग्लैण्ड की पुरानी नीति बहुत काफी सफल हो चुकी थी। इस नीति में इतनी सफलता हुई थी कि बाद को जब खुद इंग्लैण्ड ने इस नीति को बदलना चाहा, तो वह भी नाकामयाब रहा। आयर्लैण्ड की आजादी के रास्ते में सबसे बड़ा काँटा अलस्टर था। खुशहाल और प्रोटेस्टेण्ट अलस्टर को डर था कि आयर्लैण्ड के आजाद होने पर गरीब कैथलिक आयर्लैण्ड उसे हज्म कर जायगा।

अब ब्रिटिश पार्लमेण्ट और आयर्लैण्ड में दो नये शब्द प्रचलित हुए। ये दो शब्द थे—होमरूल। आयर्लैण्ड ने अब 'होमरूल' माँगना शुरू किया। पिछले सात-सौ बरस की आजादी की माँग से यह माँग बहुत कम और जुदा थी। इसका मतलब यह था कि आयर्लण्ड को एक मातहत पार्लमेण्ट दी जाय, जो स्थानीय मामलात का इन्तजाम करे और खास-खास महत्वपूर्ण विषयो पर ब्रिटिश पार्लमेण्ट का ही शासन जारी रहे। बहुतेरे आयरिश लोग आजादी की पुरानी माँग को इस तरह घटा देने के तरफदार नहीं थे। लेकिन देश बगावत और विद्रोहो से तग आगया था, इसलिए उसने बलवा करने की बहुतेरी फुटकर कोशिशो में हिस्सा लेने से इन्कार कर दिया।

ब्रिटिश कानून सभा में चार्ल्स स्टीवर्ट पारनेल नाम का एक आयरिश सदस्य था। यह देखकर कि ब्रिटिश पार्लमेण्ट के दोनो दल, कजर्वेटिव और लिबरल यानी अनुदार और उदार, आयर्लण्ड की तरफ जरा भी ध्यान नहीं देते, इस शख्स ने निश्चय किया कि ऐसी बात की जाय, जिससे इन दोनो दलो का यह शरीफाना पार्लमेण्टरी खेल चल ही न सके। इसलिए दूसरे आयरिश सदस्यो की मदद से इसने लम्बे-लम्बे भाषणो से और दूसरे विघ्न डालनेवाले और विलम्ब करनेवाले साधनो से पार्लमेण्ट की कार्रवाई में अड़गे लगाना शुरू किये। अग्रेज लोग इस ढग से बहुत नाराज हुए। वे कहते थे कि पारनेल का यह रवैया न तो पार्लमेण्टरी दृष्टि और न शराफत के खयाल से उचित है। लेकिन पारनेल के ऊपर इन ऐतराजो का कोई असर नहीं हुआ। वह पार्लमेण्ट में अग्रेजो के बनाये हुए कायदो के मुताबिक अग्रेजी पार्लमेण्टरी शरीफाना खेल खेलने नहीं आया था यह तो आयर्लैण्ड की सेवा करने आया था; और अगर मामूली तरीक़ो से

वह इस उद्देश में सफल नही हो सकता था, तो असाधारण साधनो का सहारा लेने में वह कोई खरावी नही देखता था। जो हो, इस बात में तो वह जरूर कामयाब रहा कि आयर्लैण्ड की तरफ उसने ध्यान आकर्षित करा दिया।

पारनेल ब्रिटिश कामन्स सभा में आयरिश होमरूल पार्टी का नेता होगया, और दोनो पुरानी ब्रिटिश पार्टियो के लिए उसकी पार्टी जान की आफत होगई। जब यह दोनो पार्टियाँ पार्लमेण्ट में करीब-करीब बरावर सख्या में होती थी, आयरिश होमरूल वालो को महत्व मिल जाता था; क्योकि वे किसी भी एक पार्टी से मिलकर उसका पलडा भारी कर सकते थे। इस तरह आयरिश सवाल हमेशा सामने रहा करता था। आखिरकार ग्लैडस्टन आयर्लैण्ड को होमरूल देने के लिए राजी होगया और उसने सन् १८८६ ई० में कामन्स सभा के सामने होमरूल बिल पेश किया। इस बिल में यद्यपि स्वराज्य की योजना वहुत मामूली थी, फिर भी इसकी वजह से तूफान मच गया। कञ्जर्वेटिव यानी अनुदार दल के लोग तो इसके विलकुल खिलाफ थे ही, ग्लैडस्टन की पार्टी यानी लिबरल या उदार लोग भी इसे पसन्द नही करते थे। लिबरल पार्टी इसी वात पर दो हिस्सो मे बँट गई। एक हिस्सा जाकर कंज़र्वेटिव लोगो से मिल गया और 'यूनियनिस्ट' के नाम से मशहूर हुआ। ये लोग यूनियनिस्ट इसलिए कहलाये कि आयर्लैण्ड और इग्लैण्ड को ये एक ही शासन में सयुक्त रखना चाहते थे। होमरूल-विल पार्लमेण्ट में गिर गया और उसीके साथ ग्लैडस्टन के शासन का भी खात्मा होगया।

इसके सात बरस वाद, १८९३ ई० में, जब ग्लैडस्टन की उम्र ८४ बरस की थी, वह फिर ब्रिटिश पार्लमेण्ट के प्रधान सचिव हुए, और फिर उन्होने दूसरी मर्तवा होम-रूल विल पेश किया। यह बिल कामन्स सभा में वहुत कम बहुमत से पास हुआ, लेकिन कानून बन सकने के लिए तमाम बिलो का हाउस आफ लार्ड्स में भी मंजूर होना जरूरी है और हाउस आफ लार्ड्स सकुचित और प्रगतिविरोधी लोगो से भरा था। इस लार्ड सभा के सदस्यो का चुनाव नहीं होता। यह वडे जमींदारो की एक पुश्तैनी सभ है, जिसमें कुछ पादरी (विशप) लोग भी शामिल होते है। इस सभा ने होमरूल विल को, जिसे कामन्स सभा ने मजूर कर लिया था, नामंजूर कर दिया।

इस तरह पार्लमेण्टरी कोशिश से आयर्लैण्ड को वह चीज न मिली, जो वह चाहता था। फिर भी आयरिश कौमी दल या 'होमरूल पार्टी' पार्लमेण्ट में इस उम्मीद से काम करती रही कि शायद आगे कामयावी हो जाय और आमतौर से यह पार्टी आयर्लैण्ड-निवासियो की विश्वासपात्र भी थी। लेकिन बहुत-से लोग ऐसे भी थे, जिनका इन तरीको से और ब्रिटिश पार्लमेण्ट मे भरोसा जाता रहा था। कितने ही

आयरिश लोग सकीर्ण अर्थ में राजनीति से ऊब गये थे और सास्कृतिक तथा आर्थिक प्रवृत्तियो में लग रहे थे। बीसवी सदी के शुरू-शुरू का जमाना आयर्लैण्ड में सास्कृतिक जागृति का युग था। खासकर देश की पुरानी भाषा गैलिक को फिर से जिन्दा करने की खूब कोशिश की जा रही थी। इस गैलिक भाषा में बडा कीमती साहित्य पाया जाता था, लेकिन सदियो की अग्रेजी हुकूमत ने इस भाषा को शहरो से निकाल दिया था और यह धीरे-धीरे गायब हो रही थी। आयरिश राष्ट्रवादियो का यह खयाल था कि उनका राष्ट्र अपनी आत्मा और अपनी सस्कृति की रक्षा अपनी ही जबान के जरिये कर सकता है। इसलिए इन लोगो ने पश्चिम के आयरिश गाँवो में से इस भाषा को खोज निकालने और इसको एक जिन्दा जबान बनाने के लिए बडी मेहनत की। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए एक गैलिक-लीग बनाई गई। सब जगहो पर, खासकर गुलाम देशो में, राष्ट्रीय आन्दोलन अपने देश की भाषा को ही अपना आधार बनाता है। जिस आन्दोलन की बुनियाद विदेशी भाषा पर होती है, वह जनता तक नही पहुँच सकता, और इसलिए जड नही पकड सकता। आयर्लैण्ड में अग्रेजी भाषा विदेशी भाषा नही रह गई थी। इस भाषा को सभी समझते थे और सभी बोलते थे। कम-से-कम गैलिक भाषा से तो इसका प्रचार हर हालत में ज्यादा था ही; इसपर भी आयरिश राष्ट्रीय दल ने आवश्यक समझा कि गैलिक भाषा फिर से जिन्दा की जाय, जिससे अपनी पुरानी सभ्यता से आयरिश लोगो का सम्बन्ध न टूटे।

उस समय आयर्लैण्ड में यह खयाल फैला हुआ था कि ताकत अन्दर से आती है, बाहर से नहीं। पार्लमेण्ट के अन्दर की कोरी राजनैतिक प्रवृत्तियो के बारे में भ्रम खत्म हो रहा था और इसलिए कोशिश यह की जा रही थी कि राष्ट्र का निर्माण अधिक मजबूत बुनियाद पर किया जाय। बीसवी सदी के शुरू का यह नया आयर्लैण्ड पुराने आयर्लैण्ड से बिलकुल जुदा था। इसकी इस नई जागृति यानी बेदारी का असर कई तरफ और अनेक क्षेत्रो में जाहिर होने लगा—साहित्यिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में, और, जैसा मैने ऊपर बताया है, आर्थिक क्षेत्र में भी, जहाँ इस बात की कामयाबी के साथ कोशिश की गई कि किसानो में सहकारिता के उसूलो पर संगठन किया जाय।

लेकिन इन सब कारगुजारियो को चलानेवाली ताकत आजादी की प्यास थी और यद्यपि ब्रिटिश पार्लमेण्ट के आयरिश राष्ट्रीय दल में आयरिश जनता का विश्वास था, लेकिन यह विश्वास डिग रहा था। पार्लमेण्ट के आयरिश मेम्बरो को आयरिश जनता समझने लग गई थी कि बस ये लोग कोरे राजनीतिज्ञ है, जिन्हें भाषण देना बहुत पसन्द है लेकिन कुछ कर-धर सकने की इनमें ताकत नहीं है। पुराने 'फेनियन'

लोगो का और दूसरो का भी, जो कौम की आजादी चाहते थे, इन पार्लमेण्टरी लोगो और इनके होमरूल में विश्वास था ही नही, अब नया और नौजवान आयर्लैण्ड भी पार्लमेण्ट से अपना मुँह मोड़ने लगा। अपनी मदद खुद कर लेने का भाव वातावरण में भर रहा था। लोग कहते थे कि इस खयाल को राजनीति में क्यो न जगह दी जाय ? सशस्त्र विद्रोह के विचार लोगो के दिलो में फिर पैदा होने लगे, लेकिन बगावत की इस इच्छा को एक नया 'टर्न' दिया गया। आर्थर ग्रिफिथ नाम के एक नौजवान आयरिश ने एक नये उसूल का प्रचार शुरू कर दिया, जिसे 'सिनफेन' कहते थे। 'सिनफेन' का अनुवाद अक्सर 'हम लोग अकेले' किया जाता है, लेकिन इसका सही तर्जुमा 'हम खुद' है।

इन शब्दो से हमें उस नीति का पता चलता है जो इस आन्दोलन के पीछे काम कर रही थी। सिनफेन वाले चाहते थे कि आयर्लैण्ड अपने ऊपर भरोसा करे और इग्लैण्ड से किसी तरह की मदद या भीख न माँगे। ये लोग अन्दर से राष्ट्र की शक्ति का विकास करना चाहते थे और गैलिक आन्दोलन और सांस्कृतिक पुनर्जागृति के पक्ष में थे। राजनैतिक क्षेत्र में ये फिजूल की पार्लमेण्टरी प्रवृत्ति को, जो उस समय चल रही थी, नापसन्द करते थे और उससे किसी तरह की उम्मीद नही रखते थे। साथ ही इनका खयाल यह भी था कि सशस्त्र बग़ावत मुमकिन नही है। ब्रिटिश सरकार से एक प्रकार के असहयोग के ज़रिये ये पार्लमेण्टरी प्रवृत्ति के बजाय सीधी लड़ाई (Direct action) के प्रचारक थे। आर्थर ग्रीफिथ ने हंगरी की मिसाल पेश की, जहाँ एक पीढ़ी पहले इसी तरह (निष्क्रिय प्रतिरोध) की नीति सफल हो चुकी थी और इसी प्रकार की नीति आयर्लैण्ड में भी चलाने की वकालत की।

पिछले १३ वर्षो में हमारे सामने, हिन्दुस्तान में, असहयोग के अनेक रूप आये है। अगर हम आयर्लैण्ड के इस असहयोग से अपने असहयोग की तुलना करे तो बडी दिलचस्प बात होगी। तमाम दुनिया जानती है कि हमारे आन्दोलन की बुनियाद अहिंसा थी, लेकिन आयर्लैण्ड के असहयोग में इस तरह की कोई बात नही पाई जाती थी। फिर भी उस असहयोग की ताकत शान्तिमय निष्क्रिय प्रतिरोध में ही थी। इस सग्राम का भी असल में शान्तिमय होना जरूरी था।

सिनफेन के ख़यालात धीरे-धीरे आयर्लैण्ड के नौजवानो में फैले। इन ख़याला-लात की वजह से आयर्लैण्ड में एकदम आग नहीं भड़की; क्योंकि अब भी बहुत-से आदमी ऐसे थे जिन्हे पार्लमेण्ट से उम्मीदें थीं, ख़ासकर इसलिए कि १९०६ ई० में ब्रिटिश पार्लमेण्ट में लिबरल पार्टी बहुत ज्यादा बहुमत से चुनकर फिर आ गई थी। कामन्स सभा में इस बहुमत के होते हुए भी लिबरल लोगों को हाउस आफ लार्ड्स

के स्थायी, सकीर्ण और यूनियनिस्ट बहुमत का मुकाबिला करना पड़ता था। इसलिए इन दोनो हाउसो या सभाओ में बहुत ही जल्द सघर्ष पैदा होगया। इस संघर्ष का नतीजा यह निकला कि लार्ड लोगो की ताकत कम करदी गई। आर्थिक माम-लात में इन लोगो की दस्तन्दाजी को कामन्स वाले इस तरह खत्म कर देते थे कि उस कानून को, जिसपर लार्ड सभा ऐतराज करती थी, अपने यहाँ मुतवातिर तीन बैठको में पास कर लिया करते थे। इस तरह १९११ के पार्लमेण्ट कानून के जरिये लिबरल लोगों ने हाउस आफ लार्ड्स के दाँत तोड दिये। फिर भी लार्ड लोगो के हाथ में बहुत काफी इख्तियारात बने रहे, जिससे वे कामन्स सभा के काम को रोक सकते और उसमें दस्तन्दाजी कर सकते थे।

लार्ड लोगो के अनिवार्य विरोध का इन्तजाम करके लिबरल लोगो ने फिर तीसरी बार होमरूल बिल पेश किया। लार्ड लोगो ने, जैसी उम्मीद थी, इसको फिर नामजूर कर दिया। फिर कामन्स सभा ने इस कानून को तीन मर्त्तबा मुतवातिर पास करने की परेशानी उठाई। इस प्रकार १९१४ ई० मे इस बिल ने कानून की शक्ल इख्तियार की और यह सारे आयर्लैण्ड पर, जिसमें अलस्टर भी शामिल था, लागू हो गया।

ऐसा जान पडता था कि आयर्लैण्ड को आखिरकार होमरूल मिल ही गया, लेकिन इसमें बहुत-से अगर-मगर थे। जब १९१२-१३ में पार्लमेण्ट होमरूल के बारे में बहस-मुबाहसा कर रही थी, उत्तरी आयर्लैण्ड में आश्चर्यजनक घटनायें हो रही थीं। अलस्टर के नेता लोग इस बात का ऐलान कर रहे थे कि वे होमरूल को स्वीकार नही करेंगे, और अगर होमरूल का कानून पास भी होगया तो वे उसे न मानेगे। ये लोग बगावत की बात करने लगे और उसकी तैयारी भी शुरू करदी। यह भी कहा गया कि इन्हे किसी विदेशी शक्ति को यानी जर्मनी को होमरूल के खिलाफ़ लडाई करने के लिए निमन्त्रित करने में सकोच न होगा। निस्सदेह यह स्पष्ट और विशुद्ध राजद्रोह था। इससे भी ज्यादा दिलचस्प बात तो यह थी कि कजर्वेटिव यानी-अनुदार दल के नेताओ ने इस बगावत के आन्दोलन को आशीर्वाद दिया और बहुतो ने इसकी मदद की। अलस्टर में खुशहाल और धनी कजर्वेटिव दल की तरफ से पैसा बरसने लगा। यह साफ जाहिर था कि वे लोग, जिन्हे ऊँचे वर्ग का कहा जाता है, तथा शासक दल के लोग और अनेक सैनिक अफ़सर भी, जो इसी वर्ग के थे, अलस्टर के साथ हैं। हथियार चोरी-चोरी आने लगे और स्वयसेवको को खुल्लमखुल्ला कवायद सिखाई जाने लगी। अलस्टर में एक कामचलाऊ सरकार भी बना दी गई, जो वक्त आने पर शासन की जिम्मेदारी भी लेले। नोट करने की दिलचस्प बात यह है कि

अलस्टर के विद्रोहियो में से एक प्रमुख विद्रोही पार्लमेण्ट के एक मशहूर कजर्वेटिव सदस्य एफ० ई० स्मिथ थे, जो बाद को लार्ड बरकेनहेड हुए और भारत-मंत्री बनाये गये और जिन्होने दूसरे ऊँचे-ऊँचे ओहदो पर भी काम किया।

इतिहास में बगावत मामूली घटना होती है और आयर्लैण्ड में तो खासतौर से इनकी तादाद काफी से ज्यादा रही है। लेकिन अलस्टर-विद्रोह की ये तैयारियाँ हम लोगो के लिए खासतौर से दिलचस्पी की चीज है, क्योंकि इन तैयारियो के लिए जो पार्टी खास तौर से जिम्मेदार थी, वह वही पार्टी थी जो इस बात पर अभिमान करती रहती थी कि हम विधान को माननेवाले है और कजर्वेटिव या अनुदार है। यही वह पार्टी थी जो हमेशा 'अमन और कानून' की बात करती रहती थी और उन लोगो को सख्त सजायें देने के पक्ष में थी जो 'अमन और कानून' के खिलाफ जायें। लेकिन इसी पार्टी के खास-खास आदमी राज-विद्रोह की बात करते थे और सशस्त्र बगावत की तैयारी करते थे और इसके साधारण सदस्य इस प्रवृत्ति की रुपये से मदद करते थे। यह भी नोट करने की दिलचस्प बात है कि विद्रोह उस पार्लमेंट के ख़िलाफ़ सगठित किया जा रहा था, जो होमरूल बिल पर विचार कर रही थी और जिसने बाद में होमरूल बिल पास किया। इस पार्टी ने इस तरह प्रजातन्त्र-सिद्धान्त की जड पर ही हमला किया था और अंग्रेज लोगो की इस पुरानी शेखी को मिट्टी में मिला दिया था कि हम वैध कार्यों और कानून के शासन को माननेवाले है।

१९१२-१४ के अलस्टर-विद्रोह ने लच्छेदार और कपटपूर्ण वाक्यो के ऊपर से परदा हटा दिया और आधुनिक प्रजातन्त्र और सरकार के असली रूप को साफ-साफ सामने रख दिया। जबतक 'अमन और कानून' का मतलब यह था कि शासक वर्ग के अधिकारो की रक्षा होती रहे तबतक 'अमन और कानून' मुनासिब चीज थी। जब-तक प्रजासत्तात्मक शासन इन रिआयतो और विशेषाधिकारो में दखल नहीं देता था, इसे स्वीकार करने में उन्हे कोई ऐतराज नहीं था; लेकिन जब इन विशेषाधिकारो पर हमला हुआ, तो यह वर्ग लडने को तैयार होगया। इस तरह 'अमन और कानून' असल में दो सुन्दर शब्द थे, जिनका अर्थ था शासक वर्ग के विशेषाधिकार यानी खास हकूक। इससे यह साफ होगया कि ब्रिटिश सरकार अमल में एक वर्ग की सरकार है, जिसे पार्लमेण्ट का बहुमत भी आसानी से अलग नहीं कर सकता। अगर बहुमत ऐसा कोई साम्यवादी कानून पास करने की कोशिश करे, जिससे इनके रिआयती हको में कमी आती हो, तो प्रजातन्त्र के नियमो के खिलाफ भी ये लोग बगावत करने को तैयार थे। इन सब बातो का खयाल रखना हमारे लिए अच्छा है। क्योंकि ये बातें सब देशो के बारे में कही जा सकती है, और इस बात का अन्देशा रहता है कि लच्छेदार बातो

सभ्य लोग रहा करते थे और उनका भी अपना पुराना सांस्कृतिक इतिहास था। ये लोग चित्रलिपि में लिखा करते थे, मिट्टी के सुन्दर बर्तन, कलश और हाथीदाँत, ताँबे सोने के नक्काशीदार बर्तन और सेलखड़ी के काम बहुत अच्छा बनाते थे।

मकदूनिया-निवासी सिकन्दर ने ईसाई सवत् के चारसौ बरस पहले जब मिस्र को जीता था तब, कहा जाता है, ३१ मिस्री राजवश इस देश पर हुकूमत कर चुके थे। उन चार या पाँच हजार वर्ष के लम्बे युग में इस देश में कितनें ही आश्चर्यजनक व्यक्ति—स्त्री और पुरुष—मशहूर हुए। ऐसा मालूम होता है मानो ये सब अभी-तक जिन्दा है। इन स्त्री-पुरुषो में अनेक कर्मवीर, विशाल मन्दिरो के निर्माणकर्त्ता, महान् स्वप्नदर्शी और विचारक, बडे-बडे सैनिक, निरकुश और अत्याचारी राजा, सुन्दर महिलायें और अभिमानी तथा उद्धत शासक गुजरे है। अनेक सहस्राब्दियाँ हमारे सामने से गुजर जाती है और हम देखते है कि इनमें फरोहा नरेशो की लम्बी सन्तति चल रही है। इस देश में स्त्रियो को पूरी आजादी थी और स्त्रियाँ राज-सिंहासन पर बैठ सकती थीं। मिस्र देश में पुरोहित समाज पर हावी थे और मिस्री लोग हमेशा भविष्य और परलोक की चिन्ता में फँसे रहते थे। मिस्र के विशाल पिरामिड, जिनकी रचना बेगार के मजदूरो ने की थी और जिनके बनाने में इन मजदूरो के साथ बडी बेरहमी दिखलाई गई थी, असल में फरोहा नरेशो के भविष्य को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से बनाये गये थे। ममी भी लाश को सुरक्षित रखने का ही एक तरीका था। यह सब अन्धकारमय, क्रूर और सुख-रहित जान पडता है। हमें उस जमाने की पुरानी चीजो में आदमियो के बनावटी बाल (विग) भी मिलते है, क्योंकि वे लोग अपना सिर मुँडाया करते थे। इसके अलावा लडको के खिलौने, गुड्डे, गेंद और हाथ-पैर हिलानेवाले छोटे जानवरो के खिलौने भी पाये जाते है। इन खिलौनो को देखकर हमे पुराने मिस्रियो की मानुषी भावनाओ की याद आजाती है, और ऐसा मालूम होता है कि यद्यपि उन लोगो को हुए अनेक युग बीत गये है फिर भी मानो वे हमारे पास ही है।

ईसवी सन् के पहले की छठी सदी में यानी बुद्ध के जमाने के करीब ईरानियो ने मिस्र को जीता और इसे अपने विशाल साम्राज्य का एक हिस्सा बना लिया, जो नील नदी के किनारे से सिन्धु नदी तक फैला हुआ था। ये लोग एकेमनीद वश के राजा थे और इनकी राजधानी पारसीपोलिस थी। इन लोगो ने यूनान को भी जीतने की कोशिश की, लेकिन असफल रहे और इन्हे अखीर में सिकन्दर ने हरा दिया। ईरानियो की सख्त हुकूमत से छुटकारा दिलानेवाला समझकर मिस्र के लोगो ने सिकन्दर का स्वागत किया। सिकन्दरिया (अलेक्जेण्ड्रिया) नगर के रूप में सिकन्दर अपनी यादगार छोड गया, और यह नगर यूनानी विद्या और सस्कृति का प्रसिद्ध केन्द्र बन गया।

अपनेको इस देश का स्वामी बना लिया और सिर्फ नाममात्र के लिए ही तुर्की सुलतान की अध्यक्षता स्वीकार करता रहा। मुहम्मदअली ने नई मिस्री फौज तैयार की, जिसमें देशी किसानो की भरती की गई, ममलूको की नही। इसने नई नहरे भी खुदवाई और रुई की खेती को प्रोत्साहन दिया, जो भविष्य में मिस्र का खास रोजगार होगया। इसने इस बात की भी धमकी दी थी कि वह कुस्तुनतुनिया के नाम मात्र के मालिक सुलतान को निकालकर कुस्तुनतुनिया को भी अपने शासन में ले लेगा। लेकिन ऐसा किया नही। हाँ, इसने सीरिया को मिस्र में मिला लिया।

मेहमतअली १८४९ ई० में ८० वर्ष की उम्र में मर गया। इसके वारिस कमजोर, फिजूलखर्च और अयोग्य आदमी थे। लेकिन अगर वे बेहतर भी होते तो भी उनके लिए अन्तर्राष्ट्रीय साहूकारो की लालच और यूरोपियन साम्राज्यवाद के लोभ का मुकाबिला कर सकना मुश्किल था। विदेशियो ने, खासकर अंग्रेज और फ्रान्सीसी साहूकारो ने, खेदीवो को उनके निजी खर्च के लिए बहुत ज्यादा सूद पर रकमें उधार दी थीं। जब वक्त पर सूद अदा न होसका, जगी जहाज उसे वसूल करने के लिए भेजे गये। अन्तर्राष्ट्रीय चालबाजी की यह असाधारण कहानी है कि साहूकार और सरकार किस प्रकार दूसरे देश को लूटने और उसपर प्रभुत्व जमाने के उद्देश्य से एक-दूसरे के साथ मिलजुलकर काम करते हैं। अनेक खेदीवो की अयोग्यता के होते हुए भी मिस्र ने काफी तरक्की करली थी, यहाँतक कि प्रमुख अंग्रेजी अखबार 'टाइम्स' ने जनवरी १८७६ में लिखा था कि "मिस्र उन्नति का आश्चर्यजनक उदाहरण है। इस देश ने ७० वर्ष में इतनी तरक्की करली है, जितनी दूसरे देशो ने ५०० वर्ष में की।" लेकिन इन तमाम बातो के होते हुए भी विदेशी साहूकार, इस बात को जाहिर करते हुए कि मिस्र देश दिवालिया हो रहा है और विदेशी दस्तदाजी की जरूरत है, चमडी निकालने पर भी तैयार होगये। विदेशी सरकारे, खासकर अंग्रेजी और फ्रान्सीसी सरकारे, तो हस्तक्षेप के लिए तुली बैठी थीं। इन्हे तो सिर्फ एक बहाना चाहिए था, क्योकि मिस्र तो एक सोने की चिड़िया थी, उसे कोई कैसे हाथ से जाने देता? और यह बात भी थी कि मिस्र हिन्दुस्तान के रास्ते में पड़ता था।

इसी दरमियान स्वेज की नहर, जो मजदूरो से बडी बेरहमी के साथ बेगार ले-लेकर बनवाई गई थी, १८६९ ई० में खुल गई। (इस बात को जानने में तुम्हे दिलचस्पी होगी कि ईसाई सन् के शुरू होने से १४०० वर्ष पहले, पुराने मिस्र राजवंशो के जमाने में, इसी तरह की नहर लाल समुद्र और भूमध्यसागर के बीच में थी।) इस नहर के खुल जाने की वजह से योरप, एशिया और आस्ट्रेलिया का सारा व्यापार स्वेज से होकर गुजरने लगा और इस वजह से मिस्र का महत्त्व और बढ़

ममलूक का अर्थ है गुलाम। ये ममलूक लोग फौज के लिए बहुत सावधानी से चुने गये थे और इन लोगो का जत्था बहुत अच्छा था। चन्द साल के अन्दर ही ममलूक बगावत कर बैठे और इन्होंने अपने जत्थे के एक आदमी को मिस्र का सुल्तान बना दिया। इस तरह मिस्र में ममलूको का राज्य शुरू हुआ, जो ढाई सदी तक रहा और अर्द्ध-स्वतन्त्र अवस्था में इसके बाद करीब तीनसौ बरस के और कायम रहा। इस तरह विदेशी गुलामो के समूह ने मिस्र पर पाँचसौ वर्ष से ज्यादा समय तक राज्य किया। इतिहास में यह एक अद्वितीय और अजीब घटना है।

इन आदि-ममलूकियो ने मिस्र में अपनी कोई पुश्तैनी जाति या वर्ग नही बनाया। काकेशस की गोरी जाति के सबसे अच्छे आज़ाद गुलामो को अपनेमें मिलाकर ये लोग अपनी तादाद बराबर बढ़ाते रहते थे। काकेशस जातियाँ आर्य है, इसलिए ममलूक भी आर्य थे। ये विदेशी लोग मिस्र की आबोहवा में नही फले-फूले और इनके वंश चन्द पुश्तो के बाद लुप्त होजाते थे। लेकिन चूंकि नये-नये ममलूक आते जाते थे, इस वर्ग की तादाद और ख़ासतौर पर इसकी ताकत और इसका जीवट कायम रहा। इस तरह गोकि इन लोगो का कोई पुश्तैनी वर्ग नही था, फिर भी इनका एक उच्च वर्ग—शासक वर्ग—ज़रूर था, जो बहुत काफी ज़माने तक कायम रहा।

सोलहवी सदी के शुरू में कुस्तुनतुनिया के तुर्की उस्मानी सुलतान ने मिस्र पर कब्ज़ा कर लिया और ममलूक सुल्तान को फाँसी पर लटका दिया। मिस्र उस्मानी साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया। लेकिन ममलूक शासक लोग रईस वर्ग मे बने ही रहे। बाद में जब योरप में तुर्क लोग कमजोर पडे, तब मिस्र कहने को तो उस्मानी साम्राज्य का हिस्सा बना रहा, लेकिन ममलूक लोग वहाँ अपनी मनमानी करते थे। अठारहवी सदी के अख़ीर में जब नेपोलियन मिस्र पहुँचा, तो उसकी इन्हीं ममलूकियो से मुठभेड हुई थी, और उसने इन्हीको शिकस्त भी दी थी। तुम्हे शायद वह किस्सा याद होगा जो मैंने तुम्हे ममलूक सरदार का सुनाया था। जब फ़्रांसीसी फौज मिस्र में पहुँची, तो मध्यकाल की रीति के अनुसार एक ममलूक सरदार फ्रांसीसी फौज के सामने घोडे पर सवार जा पहुँचा और उसने चुनौती दी कि इस सेना का नेता मुझसे अकेले आकर ज़ोर-आज़माई करले।

अब हम उन्नीसवीं सदी तक आगये। इस सदी के पहले आधे हिस्से में मिस्र पर मुहम्मदअली का प्रभुत्व रहा। यह अलबेनियन तुर्क था और मिस्र का 'खेदीव' यानी तुर्की गवर्नर था। मुहम्मदअली आधुनिक मिस्र का जन्मदाता समझा जाता है। पहली बात जो उसने की वह यह थी कि धोखे से ममलूको को तलवार के घाट उतारकर उनकी ताकत का ख़ात्मा कर दिया। इसने मिस्र में एक अँग्रेज़ी फौज को भी हराकर

है। इस नये मध्य-वर्ग में मुसलमान भी थे और काप्ट भी, और सौभाग्यवश इन दोनो में वैरभाव नही था। अंग्रेजो ने इन दोनो में फूट पैदा कराने की कोशिश की, लेकिन उन्हे बिलकुल सफलता नही हुई। अंग्रेजो ने राष्ट्रीय दल में भी फूट पैदा कराने की कोशिश की। कभी-कभी हिन्दुस्तान की तरह मिस्र में भी इन्हे कुछ नरम-दल वाले लोग लोग मिल जाते थे, जो इनके साथ सहयोग करते थे; लेकिन इसके बारे में मैं तुम्हे ज्यादा बातें बाद की चिट्ठियो में लिखूंगा।

जब अगस्त १९१४ ई० में महायुद्ध शुरू हुआ, मिस्र की यह हालत थी। तीन महीने बाद इंग्लैण्ड, फ्रास और इनके मित्रराष्ट्रो के खिलाफ तुर्की जर्मनी से मिल गया। इसपर इंग्लैण्ड ने मिस्र को ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल कर लेने का निश्चय कर लिया। लेकिन इसमें कुछ दिक्कत पैदा होगई और मिस्र को ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल करने के बजाय यह ऐलान किया गया कि वह ब्रिटिश सरक्षण में है।

इतनी बात तो मिस्र के लिए हुई। उन्नीसवी सदी के पिछले आधे हिस्से में अफरीका का बाकी हिस्सा भी यूरोपियन साम्राज्यवाद का शिकार होगया। इस मुल्क पर जोरदार दौड़ मच गई थी और इस विशाल महाद्वीप को यूरोपीय ताकतो ने आपस में बाँट लिया। ये लोग गिद्धो की तरह इस महाद्वीप पर टूट पडे और कभी-कभी इनमें आपस में दो-दो चोचें भी होजाती थी। कोई किसीकी रोक-थाम करने-वाला न था, लेकिन १८९६ ई० में इटली अबिसीनिया से हार गया। अगर तुम आज अफरीका के नकशे को देखो तो तुम्हे दिखाई देगा कि इसका ज्यादातर हिस्सा अँग्रेज और फ्रांसीसियो के कब्जे में है और कुछ हिस्सा बेलजियम, इटालियन और पुर्तगालियो के पास है। जर्मन लोगो का भी युद्ध के पहले इस महाद्वीप में हिस्सा था। अफरीका में अब तो केवल दो स्वतत्र राज्य रह गये है—पूर्व में अबिसीनिया और पश्चिमी किनारे पर लेबेरिया का छोटा-सा देश। मोरक्को पर तो फ्रास और स्पेन हावी है।

इन विशाल प्रदेशो पर किस तरह कब्जा किया गया, इसकी कहानी तो बहुत लम्बी और भीषण है और अभी वह कहानी खत्म भी नहीं हुई है। इस महाद्वीप के शोषण के लिए, खासकर रबर निकाने के लिए, जो साधन काम में लाये गये, वे बहुत भीषण थे। कई वर्ष हुए, बेलजियन कांगो में अत्याचार की दारुण कथा सुनकर सभ्य कहलानेवाला ससार कांप उठा था। निस्सदेह काले आदमी की किस्मत भयंकर रही है।

उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से तक अफरीका, जिसे 'अंधेरा महाद्वीप' कहा जाता था, करीब-करीब एक अज्ञात मुल्क था—खासकर अन्दरूनी हालत के लिए।

इस जमाने के मिस्र में एक अजीब बात यह थी कि मिस्र की अदालते विदेशियों पर मुकदमे नहीं चला सकती थीं। ये अदालते इस काम के काबिल नही समझी जाती थीं और विदेशियो को अपनी अदालतो में अपने मुकदमो का फैसला कराने का हक था। इसलिए मिस्री हुकूमत की पहुँच के बाहर कितनी ही परदेसी अदालते पैदा होगई थी, जिनमें विदेशी जज होते थे और जिनके हृदयो में विदेशी स्वार्थ भी होता था। इन जजो में से एक बहुत कट्टर विदेशी जज ने इन अदालतो के बारे में लिखा है—"इन अदालतो के इन्साफ नें विदेशी गुट्ट की, जो देश को चूस रहा था, खूब सेवा की है।" मेरा विश्वास है कि मिस्र के विदेशी बाशिन्दे ज्यादातर टैक्सो से बरी रहते थे। क्या आनन्द की स्थिति थी; टैक्स न देना पडे, जिस देश में रहे वहाँकी अदालत और वहाँके कानून की मातहती से बचे रहे, और साथ ही साथ मुल्क को दुहने की हरेक किस्म की आसानियाँ हो।

इस तरह ब्रिटेन मिस्र पर राज्य करता था और उसको चूसता था और ब्रिटेन के एजेण्ट और प्रतिनिधि अपनी रेजीडेन्सी में निरंकुश बादशाहो की तमाम शान व शौकत के साथ मजे करते थे। ऐसी हालत में लाजिमी था कि राष्ट्रीयता बढ़े और सुधार का आन्दोलन जोर पकडे। उन्नीसवीं सदी का सबसे बड़ा मिस्र का सुधारक जमालउद्दीन अफगानी था। यह धार्मिक नेता था, जो नये जमाने के साचे में ढालकर इस्लाम को आधुनिक रग देना चाहता था। यह इस बात का प्रचार करता था कि हर तरह की तरक्की इस्लाम के अनुकूल है। इस्लाम को आधुनिक रूप देने की इसकी यह कोशिश उसी प्रकार की थी, जैसी हिन्दुस्तान में हिन्दू धर्म को आधुनिक बनाने के लिए हुई है। इन प्रवृत्तियो की बुनियाद यह होती है कि सुधारक लोग पुराने जमाने के चन्द मौलिक सिद्धान्तो को पकड़ लेते हैं और पुराने रस्म-रिवाज और व्यवस्था के नये मानी लगाते हैं। इस ढग से आधुनिक ज्ञान पुराने धार्मिक ज्ञान का सहयोगी और सहायक बन जाता है। किन्तु यह ढग वैज्ञानिक ढग से बिलकुल जुदा है, क्योकि वैज्ञानिक ढंग में हम किसी पुरानी बन्दिश में न फँसकर बहादुरी के साथ आगे बढते हैं। बहरहाल जमालुद्दीन का असर सिर्फ मिस्र में ही नहीं बल्कि तमाम अरबी मुल्को में भी बहुत ज्यादा था।

विदेशी व्यापार की तरक्की के साथ मिस्र में एक नया मध्य-वर्ग पैदा होगया और इसीपर वहाँकी नवीन राष्ट्रीयता की नीव पडी। आधुनिक मिस्री नेताओ में सबसे बडे महान पुरुष सैद जगलूलपाशा इसी वर्ग में पैदा हुए थे। मिस्र में ज्यादातर मुसलमानो की आबादी है, लेकिन अब भी इस देश में काप्ट लोग, जो ईसाई है, काफी तादाद में पाये जाते हैं। ये काप्ट लोग पुराने मिस्रियो के विशुद्ध वंशज

माइनर में बहुत दिन कायम रहने के बाद सन् १३६१ ई० में इसकी बुनियाद योरप में पडी। हालाँकि कुस्तुनतुनियाँ १४५३ ई० तक तुर्कों के हाथ में नही आया, लेकिन आस-पास का सारा मुल्क इसके बहुत पहले तुर्कों की मातहती में आ चुका था। पश्चिमी एशिया में तैमूर के अचानक फट पडने से और उससे १४०२ ई० में अगोरा में तुर्की सुलतान के वुरी तरह हार जाने की वजह से कुस्तुनतुनिया कुछ दिनो के लिए तुर्कों के कब्जे में आने से बच गया। लेकिन तुर्क लोग इस हार के वुरे असर से बहुत जल्द छूट गये। १३६१ ई० से हम लोगो के जमाने तक यानी करीब साढे पाँचसौ वर्ष तक उस्मानी साम्राज्य कायम रहा है और यह काफी लम्बा जमाना होजाता है।

फिर भी मध्यकाल के खतम होने के बाद योरप में जो नई बाते और नई अवस्था पैदा हो रही थी, तुर्क उसमें फिट नही होते थे। व्यापार और व्यवसाय बढ रहा था। योरप के बडे-बडे कारखाने वाले शहरो में बडे पैमाने पर उत्पत्ति का इन्तजाम हो रहा था। तुर्क लोगो को इस किस्म के काम में कोई दिलचस्पी नही थी। ये लोग बडे अच्छे सैनिक होते थे, बडे सख्त लडनेवाले और नियत्रण के माननेवाले होते थे। लेकिन छुट्टी के वक़्त आरामतलब और गुस्सा आजाने पर बेरहम और खौफनाक होजाया करते थे। यद्यपि ये शहरो में बस गये थे और खूबसूरत इमारते बनाकर नगरो को अलकृत कर रक्खा था, फिर भी अपनी खानाबदोशी की पुरानी आदत बिलकुल नही छोडी थी और इनकी जिन्दगी पर उसका कुछ-न-कुछ असर बना ही रहता था। अगर तुर्क लोग अपने देश में इस तरह की जिन्दगी गुजारते तो शायद कोई हर्ज न था। लेकिन योरप या एशिया-माइनर के लिए जो नई परिस्थिति पैदा होरही थी उसमें इस किस्म की जिन्दगी बिलकुल उपयुक्त नही थी। तुर्क लोग नये जमाने के मुताबिक अपनेको ढालना नहीं चाहते थे, इसलिए इन दोनो भिन्न प्रणालियो में बराबर खींचतान जारी रही।

उस्मानी साम्राज्य तीन महाद्वीपो को मिलाता था— योरप, एशिया और अफरीका। पूर्व और पश्चिम के दरमियान के सारे तिजारती रास्ते इसी साम्राज्य से होकर गुजरते थे। अगर तुर्कों में व्यापारिक रुचि होती और इस काम के लिए उनमें आवश्यक क्षमता भी पाई जाती तो ये लोग अपने इस फायदेमन्द मौके और स्थिति से फायदा उठा सकते थे और इनकी एक बडी व्यापारिक कौम बन सकती थी। लेकिन इनमें इस किस्म की कोई रुचि या योग्यता नहीं थी, बल्कि ये लोग तो इस व्यापार को जानबूझकर दबाने की कोशिश करते थे—शायद इसलिए कि इन्हे यह अच्छा नहीं लगता था कि दूसरे इससे फायदा उठायें। पुराने तिजारती रास्तो के इस तरह रुक जाने से एक हद तक मजबूर होकर योरप की समुद्री और तिजारती कौमो ने पूर्वी देशो तक

इस रहस्यमय देश में अनेक दुस्साहस से भरे हुए और हृदय को थरथराने वाले सफर करने के बाद ही इसका सही नकशा बनाया जा सका है। स्काटलैण्ड का एक पादरी, डेविड लिविंगस्टोन, इस देश की खोज करनेवाला सबसे बड़ा सैयाह था। वर्षो तक वह इस मुल्क में गायब रहा और बाहर की दुनिया को उसका कुछ पता न चला। इसके साथ-साथ हेनरी स्टेनली का भी नाम मशहूर है। हेनरी स्टेनली पत्रकार और सैयाह थे। यह डेविड लिविंगस्टोन की तलाश में उनके पीछे-पीछे गये थे और अन्त में लिविंगस्टोन इन्हे इस महाद्वीप के बीचोबीच मिले।

: १४२ :

'योरप का मरीज़' टर्की

१४ मार्च, १९३३ ई०

मिस्र से भूमध्यसागर पार करके टर्की में पहुँच जाना स्वाभाविक और आसान है। उन्नीसवी सदी में उस्मानी तुर्को का यूरोपियन साम्राज्य धीरे-धीरे बिखर गया। इसके पहले की सदी में ही पतन का आरम्भ हो चुका था। शायद तुम्हे याद होगा, मैंने वियेना के तुर्की मुहासिरे यानी घेरे का जिक्र तुमसे किया था और यह बताया था कि किस तरह कुछ दिनो के लिए तुर्को की तलवार के सामने योरप कॉप उठा था। पश्चिम के धर्मपरायण ईसाई यह समझते थे कि तुर्की लोग 'खुदा का कहर'' है, जो ईसाई ससार को उसके गुनाहो की सजा देने के लिए भेजे गये है। लेकिन वियेना से तुर्को के आखिरी बार हार कर वापस आने के बाद से हवा बिलकुल बदल गई और इसके बाद से तुर्क लोग योरप में सिर्फ आत्म-रक्षा ही में लगे रहे। दक्षिण-पूर्वी योरप की अनेक कौमें, जिन्हे इन्होने जीता था, कॉटे की तरह इनको चुभ रही थी। इन कौमो को मिलाने-जुलाने की इनकी तरफ़ से कोई कोशिश नही की गई; और अगर कोशिश होती भी तो शायद कामयाबी न होती, क्योकि तुर्को की सख्त और बोझीली हुकूमत के खिलाफ राष्ट्रीयता के खयाल जोर पकड रहे थे। उत्तर-पूर्व की दिशा में जार का रूस दिन-दिन फैलता और बडा होता जाता था और तुर्की प्रदेशो को दबाता जा रहा था। वह तुर्को का पुश्तैनो और स्थायी दुश्मन होगया और करीब दोसौ वर्ष तक उनसे समय-समय पर युद्ध करता रहा, जिसके बाद जार और सुलतान दोनो करीब-करीब साथ-ही-साथ खतम होगये और अपने साथ अपना-अपना साम्राज्य भी लेते गये।

साम्राज्यो की दृष्टि से उस्मानी साम्राज्य काफ़ी दिनो तक कायम रहा। एशिया-

ओहदे तक पहुँचते थे। तुम्हे दिल्ली के गुलाम बादशाहो का तो खयाल होगा ही। मिस्र के सुलतान सलादीन भी असल में गुलाम थे। तुर्कों का ख़याल यह था कि शासक-वर्ग को ज्यादा-से-ज्यादा काबिल बनाने के लिए उनको अच्छी तरह से तालीम देनी चाहिए। तुर्क लोग यह जानते थे, जैसा कि हरेक शिक्षक जानता है, कि तालीम देने का सबसे अच्छा जमाना लड़कपन से कुछ साल बाद तक हुआ करता है। मुसलमान रिआया के बच्चो को छीन लेना, उनको अपने-अपने माता-पिता से बिलकुल अलग कर देना, और उनको गुलाम बना लेना, शायद आसान काम नही था। इसलिए ये लोग छोटे-छोटे ईसाई लडको को ले लेते थे। सुलतान के गुलामो की गृहस्थी में इनको शामिल कर लिया जाता था और इनको सख्त तालीम दी जाती थी। कहने की जरूरत नही कि ये लोग बडे होकर मुसलमान होजाते थे।

सुलतान लोग भी इसी तरीके पर पाले जाते थे। सुलतानो की शादी साधारण तरीके से नही होती थी। सावधानी से चुनी हुई गुलाम लड़कियाँ उनके महल में भेज दी जाती थी और वही इनके बच्चो की माँ होती थी। अठारहवी सदी की शुरुआत तक जितने सुलतान हुए, वे गुलाम माताओ की ही औलाद थे, और उन्हे उसी तरह की सख्त तालीम और कठोर नियत्रण से गुजरना पड़ता था जैसे घर के किसी भी दूसरे गुलाम को।

सुलतान से लेकर नीचे तक ख़ास-खास कामो को करने के लिए गुलामो के इस सावधानी से किये हुए चुनाव, नियत्रण और शिक्षा में किसी कदर वैज्ञानिकता पाई जाती थी। इस वजह से राज्य की कुछ बातो में एक हद तक कुशलता पैदा होगई थी। इस वर्ग में नये गुलामो का खून बराबर मिलता रहता था और इसलिए कोई पुश्तैनी शासक वर्ग कायम नही हुआ। शायद इस साम्राज्य की प्रारम्भिक शक्ति इसी प्रणाली पर निर्भर थी। लेकिन ये सब बातें यूरोपीय या एशियाई परिस्थति को देखते हुए बिलकुल अनुकूल नहीं थीं। टर्की की यह प्रणाली सामन्त-प्रणाली भी नहीं थी, और यह उस प्रणाली से भी बहुत भिन्न थी जो योरप में सामन्तशाही की जगह पर कायम हो रही थी। इस प्रणाली की मातहती में और व्यापार या उद्योग ज्यादा न होने की वजह से, टर्की में कोई असली मध्यम वर्ग पनप न सका। फिर यह प्रणाली भी अपनी पुरानी शुद्धता के साथ सोलहवीं सदी के पिछले आधे हिस्से के बाद नहीं चल सकी। गुलामो के इस वर्ग में पुश्तैनी बात पैदा होगई और इन गुलामो के लडके अपने कुटुम्ब में बने रहने लगे। वे अपने पिता का ही पेशा करते थे। और कई तरीको से भी यह प्रणाली धीरे-धीरे ढीली पड गई। लेकिन जड में जो बात थी, वह बनी रही और उसकी वजह से सदियो से नजदीकी ताल्लुकात रखते हुए भी टर्की

पहुँचने के लिए दूसरे रास्ते मालूम किये, और कोलम्बस ने पश्चिम और डायज और वास्कोडिगामा ने पूर्व के नये रास्ते खोज निकाले। लेकिन तुर्क लोग इन सब बातो की तरफ से बिलकुल उदासीन रहे और अपने साम्राज्य पर केवल नियंत्रण और सैनिक कुशलता से शासन जमाये रक्खा। नतीजा यह निकला कि तिजारती और धन पैदा करनेवाले कामकाज उस्मानी साम्राज्य के यूरोपियन हिस्से में खत्म होगये। किसी हद तक इसकी वजह धार्मिक और जातीय संघर्ष भी थी। तुर्क और बालकन की ईसाई कौमो में आपस का मजहबी और जातीय झगड़ा क्रूसेड के ज़माने से और उसके पहले से भी पुश्त-दर-पुश्त चला आता था। राष्ट्रीय विचारो के बढने से यह आग और भी भडक गई और आपस में बराबर झगडा होता रहा। उस्मानी साम्राज्य के यूरोपीय हिस्से किस तरह बरबाद होते जाते थे, इसकी एक मिसाल देता हूँ। जब यूनान १८२९ ई० में तुर्को से आज़ाद हुआ, एथेन्स, जो बड़ा मशहूर पुराना शहर है, सिर्फ दो हज़ार बाशिन्दो का गाँव रह गया था (आज सौ वर्ष बाद इस शहर की आबादी ५ लाख से ज्यादा है।)

इन व्यापारिक और धन पैदा करनेवाली प्रवृत्तियो को छोड़ देनें से तुर्क शासको को खुद भी अखीर में नुकसान पहुँचा। साम्राज्य के हाथ-पैर जब कमज़ोर और शिथिल होगये, तब साम्राज्य का दिल भी निर्बल और रोगी होगया। असल में ताज्जुब की बात तो यह है कि इन तमाम कशमकश और दिक्कतो के होते हुए भी यह साम्राज्य इतने दिनो तक जिन्दा रहा।

'जानिसारी' कई वर्षो तक उस्मानी सुलतानो की असली ताकत रही। 'जानिसारी' तुर्की सिपाहियो की एक फौजी टुकडी थी। इसमें गुलाम ईसाई हुआ करते थे, जिन्हे लडकपन से बहुत सावधानी के साथ तालीम दी जाती थी। इन जाँनिसारियो की बात सुनकर मिस्र के ममलूको की याद आजाती है, लेकिन इन दोनो में फर्क है। यद्यपि जाँनिसारी लोग तुर्की सेना के रत्न थे, लेकिन मिस्र के ममलूको की तरह ये कभी शासक नहीं हुए। ममलूको की तरह इनकी भी कोई पुश्तैनी जाति नही थी। ये लोग गुलाम थे, लेकिन इनको बहुत-सी रिआयते मिली हुई थीं और ऊँची-ऊँची जगहे और बडे-बडे ओहदे इनके लिए महफूज रहते थे। इनकी औलाद आज़ाद मुसलमान होगई और इस रिआयती जत्थे में नहीं शामिल की जा सकी, क्योंकि यह जत्था सिर्फ गुलामो के लिए ही था, जिसमें केवल गोरे ईसाई गुलामो की ही भरती की जाती थी। ये सब बाते अब कितनी आश्चर्यजनक मालूम होती हैं! लेकिन याद रक्खो कि उस ज़माने में मुसलमान मुल्को में गुलाम लफ्ज़ के वह मानी नहीं थे जो आजकल लिये जाते हैं। गुलाम कानून और ज़ाब्ते के ख़याल से तो गुलाम समझे जाते थे, लेकिन अक्सर वे बहुत ऊँचे

तक पहुँच गये। और इन लोगों को, इस डर से कि ज़ार का रूस हिन्दुस्तान मे न जाने क्या करेगा, बराबर खौफ़नाक सपने दिखाई दिया करते थे; इसलिए अंग्रेजों की यह नीति थी कि रूस के रास्ते में विघ्न डालते रहे और उसे अपनी ताकत न बढ़ानें दें। अगर कुस्तुनतुनिया पर रूस का कब्ज़ा होजाता तो उसे भूमध्यसागर में एक बढ़िया बन्दरगाह मिल जाता और वह हिन्दुस्तान के रास्ते के पास जंगी जहाजो का बेड़ा रख सकता था। इंग्लैण्ड इस खतरे में क्यो पडे, इसलिए उसने रूस को इस बात का कभी मौका नही दिया कि वह टर्की को कुचल दे। रूस को दूर रखनें में आस्ट्रिया का भी मतलब था। आस्ट्रिया आज नन्हा-सा देश होगया है, लेकिन कुछ साल पहले यह बालकन प्रायद्वीप से मिला हुआ एक बड़ा साम्राज्य था और चाहता था कि जब टर्की के टुकडे हो तो बालकन के प्रदेशो में से यह खुब काफी बड़ा हिस्सा दबा ले, इसलिए रूस का दूर रखना इसके लिए जरूरी था।

बेचारे टर्की की बुरी हालत थी। इसके ये ताकतवर पडौसी इसी इन्तजार में बैठे रहते थे कि टर्की को कुछ हो कि ये उसपर टूट पडे और उसके टुकडे-टुकडे कर डालें। १८५३ ई० में टर्की की तरफ इशारा करते हुए रूस के ज़ार ने ब्रिटिश राजदूत से कहा था : "हमारे पास एक बीमार है—बहुत ज्यादा बीमार है ······· यह किसी समय अचानक हमारी गोद में मर जा सकता है।" यह वाक्य उस वक्त से मशहूर होगया और टर्की इसके बाद से 'योरप का बीमार' (Sick Man of Europe) कहा जाने लगा। लेकिन इस बीमार को मरते-मरते काफी दिन लग गये।

उसी साल, १८५३ ई० में, ज़ार ने इस मरीज की जान निकाल लेने की दूसरी कोशिश की। इसकी वजह से रूस में क्रीमियन युद्ध शुरू होगया और टर्की बच गया। २१ वर्ष बाद, १८७७ ई० में, ज़ार ने फिर टर्की पर चोट की और उसे हरा दिया; लेकिन फिर विदेशी हस्तक्षेप की वजह से टर्की बच गया। कम-से-कम कुस्तुनतुनिया रूस के पंजे में न जा सका। टर्की की किस्मत का फैसला करनें के लिए १८७८ ई० में बर्लिन में एक मशहूर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसमें बिस्मार्क शामिल था और डिजरेली भी। योरप के कितने ही मशहूर राजनीतिज्ञ भी इसमें बुलाये गये थे। इस सम्मेलन में इन लोगों ने एक-दूसरे को धमकियाँ दीं और एक-दूसरे के खिलाफ साजिश की। इंग्लैण्ड तो रूस से युद्ध तक करने के लिए तैयार होगया था लेकिन अन्त में रूस ठण्डा पड़ गया। बर्लिन के इस सुलहनामे का यह नतीजा हुआ कि बलगेरिया, सर्विया, रूमानिया और माण्टेनिगरो की बालकन रियासते आजाद होगईं। आस्ट्रिया ने बोसीना और हरजीगोविना पर कब्ज़ा कर

योरप से अलग और उसके लिए परदेशी बना रहा। खुद टर्की के अन्दर की विदेशी जातियाँ अपना-अपना कानून और अपना-अपना गुट बनाये हुए एक-दूसरे से बिलकुल अलग रहीं।

इस असाधारण और पुरानी तुर्की प्रणाली के बारे में मैंने तुमको इतना ज्यादा इसलिए बताया है कि यह अपनी जगह पर एक अद्वितीय प्रणाली थी और उस्मानी साम्राज्य के निर्माण में इस प्रणाली का काफी असर पड़ा था। जाहिर है कि यह प्रणाली अब नही पाई जाती। अब तो यह इतिहास की बात है।

टर्की के पिछले दोसौ वर्षो का इतिहास उस कशमकश का इतिहास है जो उसने बराबर आगे बढनेवाले रूसियो के खिलाफ और पराजित कौमो के विद्रोह के खिलाफ जारी रक्खी। यूनान, रूमानिया, सर्विया बलगेरिया, माण्टेनिगरो, बोसनिया ये सब बालकन देश उस्मानी साम्राज्य के अंग थे। हम देख चुके है कि इंग्लैण्ड, फ्रांस और रूस की मदद से १८२९ ई० में यूनान उस्मानी साम्राज्य से अलग होगया। रूस स्लाव जाति का देश है, बालकन में बलगेरिया और सर्विया भी स्लाव जाति के है। जार के रूस नें यह दिखाना चाहा कि हम बालकन के इन स्लाव लोगो के रक्षक और हमदर्द है। लेकिन रूस का असली प्रलोभन कुस्तुनतुनिया का नगर था और उसकी कूटनीति का सारा जोर इसी बात पर था कि किसी तरह से आखिर में साम्राज्य की यह प्राचीन राजधानी हाथ आ जाय। क्योकि जार अपनेको बिजैण्टाइन सम्राटो का वारिस समझता था। १७३० ई० में रूसी-तुर्की लड़ाइयो का सिलसिला शुरू हुआ और बीच-बीच में चन्द दिनो की सुलह के साथ यह १७६८, १७९२, १८०७, १८२८, १८५३, १८७७ और अन्त में १९१४ तक जारी रहा। १७७४ ई० में रूस ने टर्की से क्रीमिया छीन लिया और काले समुद्र तक पहुँच गया। लेकिन इससे कोई खास फायदा नही हुआ, क्योकि काला समुद्र तो बोतल की तरह बन्द है, जिसके मुँह पर कुस्तुनतुनिया की डाट लगी है। १७९२ और १८०७ में रूसी सरहद कुस्तुनतुनिया की तरफ बढती गई और तुर्की सरहद पीछे हटती गई। जब यूनान की आजादी की लडाई छिडी तो जार नें तुर्को को अपनी इस परेशानी में फँसा देखकर उनपर हमला करके फायदा उठाना चाहा था। अगर इंग्लैण्ड और आस्ट्रिया बीच में न पड़ जाते, तो जार ने इस मौके पर कुस्तुनतुनिया पर कब्जा कर लिया होता।

इग्लैण्ड और आस्ट्रिया ने टर्की को रूस से क्यो बचाया ? टर्की के प्रेम से नहीं, बल्कि रूस की प्रतिद्वन्द्विता और डर की वजह से। मै तुमको इसके पहले बता चुका हूँ की इग्लैण्ड और रूस के दरमियान एशिया और दूसरी जगहो में पुश्तैनी रकाबत चलती रही। खासकर हिन्दुस्तान को कब्जे में कर लेने से अंग्रेज लोग बिलकुल रूसी सरहद

जित कौमों को भी पूरे-पूरे अधिकार दिये जानेवाले थे। बिना एक कतरा खून बहाये होनेवाली इस क्रान्ति का नायक, खूबसूरत और अभिमानी लेकिन बहादुर और साहसी, अनवरबे था। मुस्तफा कमाल भी, जो बाद को टर्की का उद्धारक हुआ, एक मशहूर नौजवान तुर्की नेता था; लेकिन अनवरबे के मुकाबिले में इसका नाम मशहूर नहीं था और ये दोनो एक-दूसरे को पसन्द भी नही करते थे।

नौजवान तुर्को की जिन्दगी कोई आराम की जिन्दगी नहीं थी। सुलतान इन लोगो को परेशान करता रहता था। अखीर में रक्तपात हुआ ही। सुलतान तख्त से उतार दिया गया और उसकी जगह दूसरा बैठाया गया। आर्थिक कठिनाइयाँ सामनें आई और विदेशी शक्तियो से भी परेशानी पैदा होने लगी। आस्ट्रिया नें टर्की की इस गड़बडी से फायदा उठाकर बोसीना और हरजीगोविना को अपने साम्राज्य में मिलाने का ऐलान कर दिया। इन प्रदेशो पर उसने बर्लिन के सुलहनामे के बाद १८७८ ई० में कब्जा किया था। इटली ने उत्तर अफरीका में ट्रिपोली पर कब्जा कर लिया और युद्ध की घोषणा करदी। तुर्क लोग कुछ कर-धर नही सकते थे, क्योंकि इनके पास जल-सेना नही थी और इसलिए इन्हे मजबूर होकर इटली की माँगो को मंजूर करना पड़ा। यह सब कार्रवाई हो ही रही थी कि घर के भीतर ही एक-दूसरा ख़तरा आ खड़ा हुआ। बलगेरिया, सर्बिया, यूनान, माण्टीनिगरो, जो तुर्को को योरप से निकालने के लिए उत्सुक थे, संगठित होगये और 'बालकन लीग' बनाकर अक्तूबर १९१२ ई० में टर्की के ऊपर हमला कर दिया। टर्की असंगठित और पस्त था ही और शासन के लिए विधान-दल और संकीर्ण दल में झगड़ा चल रहा था। 'बालकन लीग' के सामने टर्की बिलकुल चारो खाने चित होगया और इसे बहुत भारी नुकसान उठाना पड़ा। इस तरह पहला बालकन युद्ध चन्द महीनों में ख़त्म होगया और टर्की योरप से बिलकुल निकाल दिया गया। सिर्फ कुस्तुन्तुनिया उसके कब्जे में रह गया। टर्की का सबसे पुराना शहर एड्रियानोपल भी टर्की की मर्जी के बिलकुल खिलाफ उससे छीन लिया गया।

थोडे ही दिन के बाद लूट के बँटवारे पर विजयी लोग आपस में लड़ गये और बलगेरिया ने अपने पुराने मित्रों पर धोखे से हमला कर दिया। इन लोगो नें एक-दूसरे का खूब खून बहाया और गड़बडी से फ़ायदा उठाने के लिए रूमानिया, जो अभी-तक अलग था, इस झगडे में शामिल होगया। नतीजा यह हुआ कि बलगेरिया ने जो कुछ पाया था खो दिया और रूमानिया, यूनान और सर्बिया नें अपना राज खूब बढ़ा लिया। टर्की को एड्रियानोपल वापस मिल गया। बालकन के लोगो की आपसी नफरत देखकर आश्चर्य होता है। बालकन की रियासते छोटी है, लेकिन वे कितनी ही दफा योरप का तूफानी केन्द्र रह चुकी है।

लिया। ये उसूलन टर्की की मातहती में समझे जाते थे और टर्की का साथ देने के बदले में ब्रिटेन ने साइप्रस का टापू उससे कमीशन में लेलिया।

दूसरा रूसी-तुर्की युद्ध ३६ वर्ष बाद, १९१४ ई० में, महायुद्ध के सिलसिले में हुआ।

इस दरमियान टर्की में काफी तब्दीलियाँ हो चुकी थीं। १७७४ ई० में रूसियो से शिकस्त खा जाने पर तुर्कों को पहला धक्का पहुँचा था और तुर्की लोग समझने लग गये थे कि योरप के और देशो से वे पीछे होते जा रहे हैं। फौजी कौम होने के वजह से सबसे पहले इनका ध्यान फौज को आधुनिक बनाने की तरफ गया। कुछ हद तक यह काम हुआ और टर्की में नये अफसरो के जरिये से पश्चिमी ख़यालात फैले। जैसा मैंने तुमको बताया हैं, टर्की में कोई मध्य वर्ग नही था और न कोई दूसरा ही सगठित वर्ग पाया जाता था। १८५३–५६ ई० के क्रीमियन युद्ध के बाद टर्की को पश्चिमी रग में रँगने की खास तौर से कोशिश की गई। वधानिक सरकार बनाने का आन्दोलन चला, जिसका उद्देश्य यह था कि सुलतान के निरकुश शासन के बजाय प्रजासत्तात्मक धारासभा बनें। इस आन्दोलन के नेता मिदहतपाशा थे। १८७६ ई० में कुस्तुनतुनिया में विधान के लिए बलवे हुए, और सुलतान ने विधान मंजूर कर लिया। लेकिन चद दिन भी न गुजरे थे कि उसने विधान को तोड़ दिया, क्योंकि बलगेरिया में बगावत पैदा होगई और रूसियो के साथ जंग छिड़ गई। एक तो लडाई का भारी खर्चा, दूसरे सुधार के सिलसिले में धन का व्यय, फिर टर्की में कोई मौलिक आर्थिक परिवर्त्तन नही हुआ था। नतीजा यह निकला कि तुर्की सरकार दिवालिया होगई और उसे पश्चिमी साहूकारो से रुपया कर्ज लेना पड़ा और इन साहूकारो ने मालगुजारी के एक हिस्से पर अपना अधिकार जमा लिया। इसलिए टर्की को पश्चिमी रग देने और वहाँ सुधार करने की कोशिश सफल नही रही। साम्राज्य के पुराने ढाँचे में इस नई चीज का जोड़ लगाना मुश्किल था।

बीसवी सदी की शुरुआत में विधान की माँग ने फिर जोर पकडा। पहले की तरह सैनिक अफसर ही सिर्फ एक सगठित वर्ग कहे जा सकते थे और इन्हींके दरमियान 'नौजवान तुर्की दल' की नई पार्टी बनी। खुफिया तौर से 'यूनियन और प्राग्रेस की कमेटियाँ' यानी एकता और उन्नति की सभायें बनने लगीं और जब इन कमेटियो ने फौज का बहुत ज्यादा हिस्सा अपनी तरफ कर लिया तब १९०८ ई० में इन्होने सुलतान को इस बात के लिए मजबूर कर दिया कि वह १८७६ ई० का विधान फिर जारी करे। बडी खुशियाँ मनाई गई। तुर्क, आरमीनियन और दूसरे लोग जो अभी एक-दूसरे का गला काटते थ, एक-दूसरे के गले मिले और इस नये युग के उदय पर खुशी के आँसू बहाये, जिसमें सबको बराबर का हक मिलनेवाला था और परा-

जाय और उसकी आँखें खुल जायें। १९०८ ई० के उसके सारे बड़े-बड़े मनसूबे मिट्टी में मिल गये। उस समय जर्मनी इससे कुछ हमदर्दी जाहिर करता मालूम हुआ। उस वक्त जर्मनी की आँखें पूर्व की तरफ़ थीं और वह सारे मध्य-पूर्व (Middle East) पर अपना प्रभाव जमाने का बुरा सपना देख रहा था। टर्की भी जर्मनी की तरफ़ झुका और उसके ताल्लुकात बढ़ने लगे। दूसरे बालकन युद्ध के खत्म होने के सालभर के बाद, १९१४ ई० में जब महायुद्ध शुरू हुआ, स्थिति यह थी। टर्की की किस्मत में अवकाश नहीं लिखा था।

पुराने टर्की के बारे में पढ़ते हुए तुम्हें 'सब्लाइम पोर्ट' (Sublime Porte) का शब्द अकसर मिला होगा, जिसका अर्थ है तुर्की सरकार। मैं सोचा करता था कि इतना बढ़िया नाम इसका क्यों पड़ा? मालूम यह होता है कि जिस इमारत में पुरानी तुर्की सरकार का खास दफ़्तर था उसका फाटक ऊँचा था, इसलिए तुर्की सरकार को ही लोग सब्लाइम पोर्ट (Sublime Porte) कहने लगे। लोग सरकारी दफ़्तरों का नामकरण इसी प्रकार करते हैं। इसमें ज्यादा शान मालूम होती है। ब्रिटिश सरकार को 'ह्वाइट हाल' कहते हैं। इसी तरह जहाँ ब्रिटिश प्रधानसचिव रहते हैं वह डाउनिंगस्ट्रीट कहलाता है और फ़्रान्स के वैदेशिक दफ़्तर को 'क्वे द ओर्जे' कहा जाता है।

लेकिन मेरा ख़याल है कि अब 'शानदार फाटक' जैसी कोई चीज़ बाकी नहीं रही। टर्की की राजधानी अब अंगोरा में है और कुस्तुनतुनिया, जो अब इस्तम्बोल कहलाता है, एक प्रान्तीय शहर होगया है।

: १४३ :

ज़ारों का रूस

१६ मार्च, १९३३

रूस आज सोवियट देश है और किसानों और मजदूरों के प्रतिनिधि इसका राज्य चलाते हैं। बाज़ बातों में यह दुनिया का सबसे आगे बढ़ा हुआ देश है। असली हालत चाहे जो हो, यहाँके समाज और सरकार की इमारत सामाजिक समता के उसूल पर खड़ी की गई है। यह आज-कल की दशा है। लेकिन कुछ साल पहले और सारी उन्नीसवीं सदीभर रूस योरप का सबसे ज्यादा पिछड़ा हुआ और संकीर्ण देश था। यहाँपर निरंकुशता और तानाशाही अपने असली रूप में पाई जाती थी। पश्चिमी योरप में परिवर्तन और क्रान्ति के होते हुए भी ज़ार लोग बादशाहों के

नौजवान तुर्कों ने जिस सुलतान को १९०९ ई० में तख्त से उतारा था, वह बड़ा दिलचस्प व्यक्ति था। उसका नाम था अब्दुल हमीद द्वितीय, और वह १८७६ई० में तख्त पर बैठा था। उसे सुधार या नई ईजाद की कोई बात पसन्द नही थी, लेकिन वह अपने ढग का योग्य आदमी था। उसकी शोहरत इस बात की थी कि वह बड़ी-बड़ी शक्तियो को एक-दूसरे से लड़ा देने में बेमिसाल आदमी है। तुम्हे याद होगा कि तमाम उस्मानी सुलतान खलीफा यानी इस्लाम के धार्मिक प्रमुख भी होते थे। अब्दुलहमीद ने एक 'पैन इस्लामी' यानी अखिल इस्लामी आन्दोलन चलाकर अपनी इस हैसियत का फायदा उठाना चाहा। यह ऐसा आन्दोलन था जिसमें दूसरे देश के मुसलमान लोग भी शामिल हो सकते थे और इस तरह अब्दुलहमीद को इनकी मदद मिल सकती थी। योरप और एशिया में इस अखिल इस्लामवाद की काफी चर्चा रही, लेकिन इसकी बुनियाद मजबूत नहीं थी और महायुद्ध ने इस आन्दोलन का बिलकुल खातमा ही कर दिया। टर्की में राष्ट्रवाद ने 'अखिल इस्लामवाद' का विरोध किया और राष्ट्रवाद अधिक ताकतवर साबित हुआ।

सुलतान अब्दुलहमीद योरप में बहुत बदनाम होगये, क्योंकि लोग समझते थे कि बलगेरिया, अरमीनिया और दूसरी जगहो के अत्याचार और कत्लेआम के लिए यही जिम्मेदार है। ग्लैडस्टन इनको 'महान् हत्यारा' कहता था और इन अत्याचारो के बारे में उसने इंग्लैण्ड में एक बड़ा आन्दोलन चलाया था। तुर्क लोग खुद इनके राज्य-काल को अपने इतिहास का सबसे अधिक 'अंधेरा जमाना' मानते है। इनके जमाने में बालकन प्रायद्वीप में अत्याचार और कत्लेआम नियमित-सी घटनायें थीं और दोनो पार्टियाँ इसमें हिस्सा लेती थी। बालकन-निवासी और आरमीनियन तुर्कों को कत्ल करने के उतने ही दोषी थे जितने तुर्क आरमीनियन लोगो के। स्वतंत्रता के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन चलाने और राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने का यह तरीका बहुत क्रूर और कठोर था। सदियो के धार्मिक और जातीय विद्वेष ने इन लोगो की प्रकृति में घर कर लिया था और वह भयंकर रूप में प्रकट होता था। आरमीनिया सबसे ज्यादा सताया गया था। अब आरमीनिया काकेशस के पास एक सोवियट प्रजातन्त्र है।

इस तरह बालकन युद्धो के बाद टर्की बिलकुल पस्त होगया और योरप में सिर्फ एक जगह उसके कदम रखने के लिए बची। उसके साम्राज्य का बाकी हिस्सा भी बिखर रहा था। मिस्र सिर्फ नाम-मात्र के लिए उसका था। असल में उसपर कब्ज़ा ब्रिटेन का था, जो उसे चूस रहा था। लेकिन दूसरे अरब देशों में राष्ट्रीयता के चिन्ह जाहिर होरहे थे। आश्चर्य की बात नही कि ऐसी स्थिति में टर्की मायूस हो

पश्चिमी देशो में, यानी एशिया और योरप के बहुतेरे हिस्सों में, जार के रूस की राजनीति और कारगुजारियो की कुछ झलक देखी है। अब हम इन अलग-अलग कारगुजारियो को असली विषय के साथ जोडकर देखेंगे कि हमारे सामने कैसी तस्वीर आती है। रूस की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि इसके हमेशा दो मुख रहे है। एक पश्चिम की तरफ, दूसरा पूर्व की तरफ। अपनी इस स्थिति के कारण ही यह यूरेशियन शक्ति बनी है और अपने इतिहास के आखिरी हिस्से मे इसने कभी पूर्व और कभी पश्चिम में दिलचस्पी ली है। जब पश्चिम से भगाया गया तो यह पूर्व की तरफ़ चला और जब पूर्व की तरफ रोक दिया गया तो पश्चिम की तरफ पलट गया।

मैंने तुम्हे बताया है कि चंगेजखाँ का बनाया हुआ पुराना मंगोल साम्राज्य किस तरह से टूटा और किस तरह से मास्को के राजकुमार के नेतृत्व में रूसी राजवंशियों ने 'सुनहरे कबीले' के मंगोलो को अन्त मे रूस से निकाल दिया। यह घटना चौदहवीं सदी के अखीर में हुई। धीरे-धीरे मास्को के राजकुमार सारे देश के निरंकुश शासक होगये और अपनेको जार (सीजर) कहने लगे। इन लोगो के रस्म-रिवाज और खयालात ज्यादातर मंगोलियन ही बने रहे और पश्चिमी योरप और इनमें कोई बात मिलती-जुलती नहीं थी। पश्चिमी योरप रूस को जंगली समझता था। १६८९ ई० में जार पीटर, जिसको पीटर महान् कहा गया है, तख्त पर बैठा। उसने यह निश्चय किया कि रूस पश्चिम की तरफ झुके और उसने खुद यूरोपियन देशो में वहाँकी हालत समझने के लिए लम्बा दौरा किया। जो कुछ उसने देखा उसमे से ज्यादातर चीजो की उसने नक़ल की और अपने देश के जाहिल, बेदिल और झिझकते हुए अमीरो में यूरोपीय खयालात भर दिये। जनता तो बहुत ही पिछडी और दबी हुई थी। इसलिए जार के सामने इस बात का कोई सवाल ही नही था कि वे लोग सुधार के बारे में क्या राय रखते है। पीटर ने देखा कि उसके जमाने की बडी-बडी कौमें समुद्र पर बहुत ही मजबूत है। उसने समुद्री ताकत का महत्त्व समझा; लेकिन रूस के पास, जो इतना लम्बा-चौड़ा था, सिवा आर्कटिक समुद्र के, जो बिलकुल बेकार था, किसी दूसरे समुद्र में बाहर निकलने के लिए कोई रास्ता नही था। इसलिए वह उत्तर-पश्चिम मे बाल्टिक की ओर और दक्षिण में क्रीमिया की ओर बढ़ा। वह खुद क्रीमिया तक नही पहुँचा, लेकिन उसके बाद के जार वहाँतक पहुँचे। हाँ, वह स्वीडन को हराकर बाल्टिक तक जरूर पहुँच गया और सेटपीटर्सबर्ग नाम के शहर की बुनियाद डाली, जो एक नया पश्चिमी ढग का शहर था। फिनलैण्ड की खाडी से दूर, जिससे होकर बाल्टिक में पहुँच सकते थे, यह शहर नेवा नदी के तट पर बसा हुआ था। उसनें सेण्टपीटर्सबर्ग को अपनी राजधानी बनाया और इस तरह उस पुरानी परिपाटी

ईश्वरीय अधिकार के उसूल को मानते थे। यहाँका चर्च और पादरी-समुदाय, जो पुराना कट्टर यूनानी चर्च था (रोमन या प्रोटेस्टेण्ट नही), और जगहो के मुकाबिले में ज्यादा निरकुश और हुकूमतपसन्द था और जार की सरकार का खास हिमायती और उसके हाथ की कठपुतली था। इस देश को 'पवित्र रूस' कहते थे और जार हरेक का 'नन्हा गोरा पिता' (Little White Father) समझा जाता था। चर्च के आदमी और पादरी लोग इन कथाओ को आदमियो की बुद्धि को कुन्द करने के लिए और आर्थिक और राजनैतिक दशा से उनका ध्यान दूर हटाने के लिए काम में लाते थे। इतिहास में धर्म ने अजीब-अजीब साथी बनाये है।

'पवित्र रूस' का मुख्य प्रतीक 'नाउट' (Knout) यानी चाबुक था और एक विशेष पेशा 'पोग्रोम्स' (Pogroms) हुआ करता था। जार के रूस ने दुनिया के सामने ये दो शब्द पेश किये है। 'नाउट' चाबुक को कहते थे, जिससे सर्फ यानी किसानो को या किसी दूसरे को सजा दी जाती थी और 'पोग्रोम्स' का मतलब था मारकाट, बरबादी और संगठित अत्याचार। अमली तौर से इसका मतलब होता था लोगो का, खासकर यहूदियो का, कत्लेआम। जार के रूस के पास साइबेरिया का सुनसान और वीरान मैदान भी था। इस नाम के कहते ही हमें देशनिकाले, कैद और निराशा की याद आजाती है। साइबेरिया को राजनैतिक कैदी बहुत बडी तादाद में भेजे जाते थे और वहाँ देशनिर्वासित लोगो के बडे-बडे कैम्प और उपनिवेश पैदा होगये थे। इन कैम्पो और उपनिवेशो के पास आत्म-हत्या करनेवालो की कब्रें हुआ करती थीं। लम्बी तनहाई, जलावतनी और सजा मुश्किल से बर्दाश्त होती है। अनेक बहादुरो का दिमाग इनकी वजह से खराब होजाता है और इनके वोझ से शरीर टूट जाता है। दुनिया से अलग रहने के लिए और उन दोस्तो, साथियो और लोगो से जुदा रहने के लिए, जिनकी आशायें अपनी आशायें है या जो अपनी चिन्ताओ के वोझ को हलका करते है, आदमी में मानसिक शक्ति और अन्दरूनी गहराई होनी चाहिए, जो शान्त और निश्चल रक्खे और बर्दाश्त करने की हिम्मत दे। जिसने सिर उठाया, जार के रूस ने उसको प्रहार करके नीचे गिरा दिया और जब-जब आजादी की कोशिश की गई तब-तब जार के रूस ने उसे पस्त कर दिया। सफर को भी मुश्किल बना दिया गया था, जिससे स्वतंत्र विचार बाहर से आकर न फैल सके। लेकिन आजादी की ख्वाहिश को जब दबाया जाता है तो वह सूद-दर-सूद के साथ उभरती है, और ऐसी हालत में जब वह आगे बढ़ती है तो बडी तेजी के साथ कूदकर चलती है जिससे कि पुराना रंग-ढंग चौपट होजाता है।

हमने पहले की चिट्ठियो में टर्की में, ईरान में, मध्य-एशिया में दूर के

की वजह से आँख मूँदकर किये गये थे और इसीलिए फौरन ही पस्त भी कर दिये गये। चोटी के लोगों में कुछ शिक्षा थी, इसलिए पश्चिमी योरप में फैले हुए ख़यालात जनता में भी टपक-टपक कर पहुँच गये थे। यह फ्रान्सीसी क्रान्ति और बाद में नेपोलियन का ज़माना था। तुम्हे याद होगा कि नेपोलियन के पतन से सारे योरप में प्रतिक्रिया पैदा होगई थी, और ज़ार अलेग्ज़ेण्डर प्रथम अपने तमाम बादशाहो की 'पवित्र गोष्ठी' के साथ इस प्रतिक्रिया का नेता था। इसका वारिस इससे भी बदतर था। आजिज आकर नौजवान अफ़सरो और विद्वानों के एक जत्थे ने १८२५ ई० में बलवा कर दिया। ये सबके सब ज़मीदार वर्ग के थे और जनता या फौज की इनको कोई मदद न थी। ये लोग भी पीस दिये गये। इनको 'डिसम्बरिस्ट' कहते हैं, क्योकि इनका बलवा १८२५ ई० के दिसम्बर में हुआ था। यह विद्रोह रूस में राजनैतिक जागृति का पहला चिन्ह है। इसके पहले खुफिया राजनैतिक कमेटियाँ बनती थीं, क्योकि ज़ार की सरकार ने हर तरह की सार्वजनिक राजनैतिक प्रवृत्तियाँ रोक रक्खी थीं। ये खुफिया कमेटियाँ बनती गईं और क्रान्ति के खयालात फैलते गये—खासकर दिमागी आदमियों में और यूनीवर्सिटी के विद्यार्थियो मे।

क्रीमियन युद्ध में हार जाने के बाद रूस में कुछ सुधार किये गये। १८६१ ई० में सर्फडम यानी किसानो की गुलामी का अन्त हुआ। किसानो के लिए यह बहुत बडी चीज़ थी, लेकिन इससे उनकी मुसीबतों में कोई ख़ास कमी नही आई; क्योकि आज़ाद किसानों को इतनी ज़मीन नही दी गई थी कि वे अपनी गुज़र-बसर कर सकें। इसी दरमियान पढ़े-लिखों मे क्रान्ति के विचार फैल रहे थे और उसीके साथ-साथ ज़ार की सरकार का इन विचारो के खिलाफ दमन भी जारी था। इस उन्नत शिक्षित वर्ग और किसानो के दरमियान कोई रिश्ता या सम्पर्क में आने के लिए समान क्षेत्र नही पाया जाता था। इसलिए १८७० ई० के करीब समाजवादी विचार के विद्यार्थियो ने, जो बहुत आदर्शवादी और अस्पष्ट थे, यह निश्चय किया कि किसानो में अपना प्रचार शुरू किया जाय और हज़ारो विद्यार्थी गाँवो में घुस पडें। किसान लोग इन विद्यार्थियों को नही जानते थे। वे इनपर अविश्वास करते थे और सन्देह करते थे कि शायद सर्फडम यानी किसानो की गुलामी को फिर कायम करने की इन लोगो की साज़िश है। इसलिए किसान लोग इन विद्यार्थियों में से बहुतो को, जो अपनी जानपर खेलकर आये थे, गिरफ्तार करके ज़ार की पुलिस के हवाले कर देते थे। जनता से सम्पर्क में आये बिना कोरी हवा मे काम करने की यह एक अजीब मिसाल है।

किसानो के दरमियान इस पूरी असफलता से इन पढ़े-लिखे विद्यार्थियो को

को, जिसने मास्को को जकड़ रक्खा था, तोड़ने की कोशिश की। १७२५ ई० में पीटर मर गया।

इससे आधी सदी से ज्यादा समय के बाद, १७८२ ई० में, रूस के एक दूसरे शासक ने इस मुल्क को पश्चिमी बनाना चाहा। यह एक स्त्री थी। इसका नाम कैथरीन द्वितीय था और इसको भी महान् की पदवी मिली है। यह एक असाधारण स्त्री थी—सख्त, बेरहम, काबिल और अपनी खानगी जिन्दगी के बारे में बदनाम। अपने पति जार को कत्ल करके यह सारे रूस की निरंकुश शासक होगई थी और इसने चौदह वर्ष तक राज्य किया। यह अपनेआपको संस्कृति की बहुत बड़ी संरक्षक जाहिर करती थी और इसने वाल्तेयर से दोस्ती भी करनी चाही, जिसके साथ इसका पत्र-व्यवहार तो होता ही था। इसने किसी हदतक वर्साई के फ्रांसीसी दरबार की नकल की थी और कुछ शिक्षा-सम्बन्धी सुधार भी किये थे; लेकिन ये सब बातें दिखाने के लिए और चोटी पर की गई थीं। संस्कृति की नकल एकदम से नहीं की जा सकती, उसको तो बढ़ने का मौका देना चाहिए। अगर कोई पिछड़ी हुई कौम किसी तरक्की की हुई कौम की सिर्फ नकल करती है, तो वह असली सस्कृति के सोने और चाँदी को बदलकर टीन बना देती है। पश्चिमी योरप की संस्कृति चन्द सामाजिक अवस्थाओ पर निर्भर थी। पीटर और कैथरीन ने इन अवस्थाओ को पैदा करने की कोशिश नहीं की, सिर्फ बाहरी ढाँचो की नकल करनी चाही। नतीजा यह हुआ कि इन तब्दीलियो का बोझ जनता पर पड़ गया और इससे किसानो की गुलामी मजबूत होगई और जार की निरकुशता भी बढ़ गई। इसकी तुलना अंग्रेजो के हिन्दुस्तान में आने से की जा सकती है। इन लोगो ने भी खर्चीले शासन की एक मशीन को हिन्दुस्तान में चलाने और कायम रखने की कोशिश की, लेकिन सामाजिक अवस्था में कोई तब्दीली पैदा करने की कोशिश नहीं की और न करते हैं। इतना ही नहीं, ये जान-बूझकर सामाजिक सकीर्णता और कट्टरता का पक्ष लेते हैं। इसी वजह से इनके आने के कारण सामन्त प्रथा और सामाजिक संकीर्णता और मजबूत होगई है।

इसलिए जार के रूस में जब एक रत्ती तरक्की होती थी तो उसकी एक मन प्रतिक्रिया पैदा होजाती थी। रूसी किसान करीब-करीब गुलाम थे। वे अपने-अपने खेतो से बँधे हुए थे और बगैर खास हुक्म के इन खेतो को नहीं छोड़ सकते थे। शिक्षा चन्द अफसरो में और जमींदार वर्ग के कुछ दिमागी आदमियो में महदूद थी। मध्यम वर्ग करीब-करीब था ही नहीं, और जनता बिलकुल अपढ और पिछड़ी हुई थी। पिछले जमाने में अकसर किसानो ने खूनी बलवे किये थे, लेकिन वे बलवे बहुत ज्यादा जुल्म

प्रधान अफ़सर भी था। इसके अलावा भी इस किस्म की और भी प्रमाणित घटनायें हैं, जिनमें जार के खुफ़िया पुलिस के अफ़सरो ने पुलिस के एजेण्ट की हैसियत से बम फेंके है, जिससे दूसरे फँस जायँ।

आतंकवादियो और दूसरे क्रान्तिकारियो ने जबरदस्ती सरकारी खजाने पर छापा मारने का सिलसिला भी शुरू किया। ये लोग सरकारी इमारतो, रेलगाडियो, डाकखानो वगैरा पर धन के लिए छापा मारते थे। दो आदमी, जो आज दुनिया में बहुत मशहूर है, इन छापो में बहुत बड़ा हिस्सा लिया करते थे। एक स्टालिन जो आज रूस का करीब-करीब डिक्टेटर है, और दूसरा पिलसूडस्की जो पोलैण्ड का डिक्टेटर है। पिलसूडस्की आजकल तमाम साम्यवादियो, उग्रतावादियो और इसी तरह के लोगो के खिलाफ़ होरहा है। लेकिन १८८० ई० में और उसके बाद भी वह दूसरे ही ढग का था। इसको जार की जान लेने की कोशिश के जुर्म में फांसा भी गया था और यह ५ वर्ष के लिए साइबेरिया भी भेजा गया था।

जब ये सब बाते होरही थी, रूस का राज्य पूर्व की दिशा में बराबर बढ़ता जा रहा था और, जैसा मैंने तुमको बताया है, पैसफिक (प्रशात) सागर तक पहुँच गया था। मध्य-एशिया में यह अफगानिस्तान की सरहद तक पहुँच गया था और दक्षिण में तुर्की सरहद से टकराता था। १८६० ई० के बाद से दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि पश्चिमी उद्योग-धधे बढने लगे थे। यह तरक्की सिर्फ चन्द जगहो में ही हुई थी—जैसे पीटर्सबर्ग या उसके आसपास और मास्को में। लेकिन रूस का देश ज्यादातर कृषि-प्रधान ही रहा। जो कारखाने खुले थे, वे बिलकुल नये ढग के थे और अंग्रेजो की देख-रेख में चलते थे। इसके दो नतीजे हुए। इन चन्द व्यावसायिक क्षेत्रो में रूसी पूंजीवाद की खूब तरक्की हुई और मजदूरवर्ग भी इतनी ही तेजी से बढ़ गया। जैसा कि ब्रिटिश कारखानों में पुराने जमाने में होता था, रूसी मजदूरो को खूब चूसा जाता था और उनसे दिन-रात काम लिया जाता था। लेकिन इतना फर्क रूस में जरूर था कि अब समाजवाद और साम्यवाद के नये खयालात पैदा होगये थे। रूसी मजदूरो का दिमाग ताजा था और इन ख़यालात को ग्रहण करनें के लिए तैयार था। ब्रिटिश मजदूर, जिनके पीछे पुरानी परम्परायें थी, सकुचित थे और पुरानें ख़यालात में फँसे हुए थे।

ये नये ख़यालात एक शकल इख्तियार करने लगे और 'सोशल डेमाक्रेटिक लेबर पार्टी' (समाजवादी प्रजासत्तात्मक मजदूर दल) बनी। यह मार्क्स के उसूलों के अनुसार बनी थी। मार्क्स को माननेवाले ये आतंकवाद के ख़िलाफ थे। मार्क्स के उसूलों के मुताबिक इनको मजदूरवर्ग में क्रियात्मक जोश पैदा करना था, जिससे

बहुत धक्का पहुँचा। नाउम्मीदी और नफ़रत के आवेश में इन लोगो ने आतंकवाद का सहारा लिया; यानी बम फेंकने लगे और सरकारी अफसरो की हत्या करने लगे। यहीसे रूस में आतकवाद और बम की शुरुआत होती है, जिसकी वजह से क्रान्ति की प्रवृत्तियाँ एक नया रग पकड़ती है। बम फेंकनेवालो का यह दल अपनेको 'बम वाला नरम दल' कहता था और इनके आतंकवादी संगठन का नाम 'जनता का सकल्प' था। यह नाम किसी हद तक अत्युक्ति से भरा था, क्योंकि इससे जिन लोगो का ताल्लुक था वे बहुत छोटे हिस्से के प्रतिनिधि थे। इस तरह दृढ़-प्रतिज्ञ नौजवानो और युवतियो के इन गिरोहो से जार की सरकार की नई कशमकश शुरू हुई। दूसरी कम तादादवाली कौमो और पराजित जाति के लोग क्रान्तिकारी दल में आकर शामिल होने लगे और विप्लव की शक्ति बढ़ने लगी। सरकार इन जातियो और छोटी तादादवाली कौमो को बहुत सताती थी। ये लोग अपनी मातृभाषा खुल्लमखुल्ला नही बोल सकते थे। और दूसरे बहुत-से तरीको से भी इनको ज़लील और परेशान किया जाता था। पोलैण्ड, जो बडे उद्योग-धंधो में रूस से ज्यादा आगे था, रूस का सिर्फ एक प्रान्त समझा जाता था और पोलैण्ड का नाम ही बिलकुल नाबूद होगया था। पोलिश भाषा का इस्तेमाल कानूनन रोक दिया गया था। जब पोलैण्ड का यह हाल था तो दूसरी छोटी तादाद वाली जातियो और कौमो से इससे कही ज्यादा बुरा बर्ताव किया ही जाता था। १८६० ई० में पोलैण्ड में बहुत बड़ा विद्रोह उठा, जिसे बडी बेरहमी और सख्ती के साथ कुचल दिया गया। पचास हजार पोल देश-निर्वासित करके साइबेरिया भेज दिये गये। यहूदियो का बराबर 'पोग्रोम' यानी कत्लेआम हुआ करता था, जिससे उनकी बहुत बडी तादाद दूसरे देशो में जा बसी।

यह स्वाभाविक बात थी कि अपनी-अपनी जाति पर जार के इस दमन से क्रोधान्ध होकर यहूदी और दूसरी कौम के लोग रूस के आतंकवादियो में शामिल हो जायँ। यो यह आतंकवाद, जिसे निहिलिज्म कहते थे, फैलने लगा और सरकार ने खूनी दमन से इसका मुकाबिला किया। राजनैतिक कैदियो का लम्बा ताँता साइबेरिया के वीरान की तरफ रवाना होने लगा और कितने ही फांसी पर चढा दिये गये। इस खतरे से बचने के लिए जार की सरकार ने एक अजीब तरकीब निकाली, जिसे उसने ग़ैरमामूली हद तक पहुँचा दिया। उसने आतकवादियो और क्रान्तिकारियो में अपने उस्कानेवाले एजेण्ट (Agents-Provocateurs) दाखिल कर दिये। ये लोग बम फेंकने के लिए बाकायदा प्रोत्साहन देते थे और कभी-कभी खुद बम फेंकते थे, जिससे दूसरो को फाँस सके। इनमें एक बहुत मशहूर एजेण्ट अज़ेफ़ था, जो बम फेंकनेवाले क्रान्तिकारियो में भी अगुआ था और साथ ही साथ रूसी खुफ़िया पुलिस का एक

प्रश्न आगया जिसका जवाब देना उनके लिए जरूरी था। यह सवाल हरेक दल के सामने, जो कुछ निश्चित सिद्धान्तो या आदर्शो पर निर्भर होता है, किसी-न-किसी समय आता है और इसका उत्तर देना उसके लिए जरूरी होता है। सच तो यह है कि हरेक पुरुष और स्त्री को, जिनके कुछ सिद्धान्त और विश्वास होते है, ऐसे संकटों का जिन्दगी में एक दफा नहीं कई दफा मुकाबिला करना पड़ता है। सवाल यह था कि क्या हम अपने सिद्धान्तो पर बिलकुल अटल रहे और मजदूर-वर्ग की क्रान्ति करे, या मौजूदा परिस्थिति से जरा-सा समझौता करले और भावी क्रान्ति के लिए जमीन तैयार करे? यह सवाल पश्चिमी योरप के करीब-करीब सब देशो में उठा था और हरेक जगह, कम या ज्यादा, इसकी वजह से सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी या इसी किस्म की पार्टियाँ कमजोर पडी थी और उनमें अन्दरूनी झगड़ा पैदा हो गया था। जर्मनी में मार्क्स के अनुयायियो ने बहादुरी के साथ सिद्धान्त पर सोलह आने यानी पूरे तौर पर अटल रहने का ऐलान कर दिया, अर्थात् वे क्रान्ति के पक्ष में थे, लेकिन अमली सूरत में वे कुछ नीचे उत्तर आये थे और नरम हो गयेथे। फ्रांस में कितने ही मशहूर समाजवादियो ने अपनी पार्टी को छोड़ दिया और मंत्रिमण्डल में मंत्री बन गये थे। इसी तरह इटली, बेलजियम और दूसरी जगहो में भी हुआ था। ब्रिटेन में मार्क्सवाद कमजोर था और वहाँ सवाल ही नही उठा, इसपर भी मजदूर पार्टी का एक आदमी मिनिस्टर बना था।

रूस की हालत दूसरी ही थी, क्योकि वहाँ पार्लमेण्टरी यानी वैधानिक कार-गुजारियो के लिए कोई गुजाइश ही नही थी। वहाँ कोई पार्लमेण्ट न थी। इसपर भी जारशाही के खिलाफ होनेवाली लड़ाई के गैरकानूनी तरीको के तर्क करने या छोड़ दिये जाने की उम्मीद थी और कुछ दिनो तक सिर्फ सिद्धान्तो का प्रचार जारी रखने का खयाल होरहा था। लेकिन इस विषय में लेनिन के विचार स्पष्ट और निश्चित थे। वह अपनी माँग को कमजोर करने के लिए या कमजोरी के सम-झौते को तैयार नही था, क्योकि उसे डर था कि ऐसा करने से कहीं अवसर गाँठनेवाले उसकी पार्टी में न भर जायें। पश्चिमी सोशलिस्ट पार्टियो ने जो ढंग इख्तियार किया था, उन्हे लेनिन देख चुका था और उसका उसपर अच्छा असर नही पड़ा था। उसने एक दूसरे सिलसिले में बाद को लिखा था, "पार्लमेण्टरी कारगुजारियाँ या चालें, जैसी पश्चिमी सोशलिस्ट करते या चलते है, कही ज्यादा नीचे गिरानेवाली है। इससे हरेक समाजवादी दल धीरे-धीरे छोटा-मोटा "टैमनी हाल" बन जाता है, जिसमें आपको नौकरी की तलाश करनेवाले और अपने ओहदे बढ़ानेवाले मिलेंगे।" (टैमनीहाल न्यूयार्क में है और राजनीतिक पतन या भ्रष्टाचार का एक प्रतीक अथवा

वे अमल करे। इसी तरीके से अपना मकसद हासिल किया जा सकता था। आतंक से किसी व्यक्ति को मार डालने से मजदूरवर्ग में इस तरह की क्रियात्मक उत्तेजना नहीं पैदा हो सकती थी, क्योंकि उद्देश्य जारशाही का विनाश था—जार या उसके वजीर की हत्या नहीं।

१८८० ई० के करीब एक नौजवान, जो बाद को सारी दुनिया मे लेनिन के नाम से मशहूर हुआ, स्कूल में पढने के जमाने में भी क्रान्तिकारी आन्दोलन में हिस्सा लेता था। १८८७ ई० में जब उसकी उम्र १७ वर्ष की थी, उसे बड़ा सख्त धक्का लगा था। उसका बडा भाई अलेग्जेण्डर, जिससे वह बहुत प्रेम करता था, जार की हत्या करने की कोशिश के जुर्म में फासी पर लटका दिया गया। इतना बड़ा धक्का लगने पर भी लेनिन ने कहा था कि आतकवाद से स्वतंत्रता नही मिल सकती। स्वतंत्रता तो जनता की सामूहिक लडाई (Mass Action) से ही मिलेगी। दिल को मजबूत करके और कठोरता के साथ यह नौजवान अपनी पढ़ाई में लगा रहा। परीक्षा में शरीक हुआ और विशेषता के साथ पास हुआ। यह माद्दा और यह प्रकृति थी तीस वर्ष बाद आनेवाले क्रान्ति के जन्मदाता और नेता की।

मार्क्स का यह खयाल था कि मजदूरवर्ग की क्रान्ति जर्मनी-जैसे उद्योग-प्रधान देश में शुरू होगी, जहाँका मजदूरवर्ग बडा और सगठित होगा। उसका खयाल था कि रूस में तो यह होगा ही नहीं, क्योंकि यह पिछड़ा और मध्यकालीन था। लेकिन रूस में उसे नौजवान लोगो में सच्चे अनुयायी मिल गये, जिन्होंने उसकी बातो का बडे उत्साह के साथ अध्ययन किया, जिससे कि वे अपनी दुर्दशा को खतम कर सकें। चूंकि जार के रूस में खुल्लमखुल्ला किसी प्रवृत्ति के चलाने का या वैध तरीके से कुछ करने का कोई रास्ता नहीं था, इसलिए ये लोग मजबूर होकर इस तरह विचार और अध्ययन करते थे। ये लोग बहुत बडी तादाद में जेल या साइबेरिया भेज दिये जाते थे या जलावतन कर दिये जाते थे। ये जहाँ जाते, मार्क्स के उसूलो का अध्ययन जारी रखते थे और क्रान्ति के दिन के लिए तैयारी करते थे।

रूस की इस कहानी को मैं अपने दूसरे खत में भी जारी रक्खूंगा।

: १४४ :

१९०५ की असफल रूसी क्रान्ति

१७ मार्च, १९३३

मार्क्स के अनुयायी यानी मार्क्सिस्ट रूसियो को—'सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी' को—१९०३ ई० में एक मुसीबत का सामना करना पड़ा। उन लोगो के सामने एक

हड़तालो की वहाँ इसलिए कमी थी कि इनके नेता स्वार्थ के ख़ातिर कुछ नरम होगये थे। रूस में जारशाही के लगातार जुल्मो से राजनैतिक पहलू हमेशा सामने रहता था। दक्षिण रूस में १९०३ ई० में भी अनेक राजनैतिक हड़ताले आप ही आप हुई थी। यह आन्दोलन बहुत बडे पैमाने पर था; लेकिन चूंकि उसे नेता नहीं मिले, इसलिए दब गया।

अगले साल सुदूर पूर्व (Far East) में गड़बडी मची। मैंने तुम्हे दूसरे ख़त में लिखा था कि साइबेरिया में रेल की लम्बी लाइन उत्तरी एशिया के जंगलो को पार करते हुए प्रशातसागर के बिलकुल तट तक कैसे बनाई गई, १८९४ ई० के बाद से जापान के साथ किस प्रकार मुठभेड़ होती रही, और १९०४-१९०५ में रूस-जापान युद्ध कैसे हुआ। मैंने तुम्हे 'रेड सण्डे (खूनी रविवार) के बारे में भी बताया है जो २२ जनवरी सन् १९०५ ई० को हुआ था जबकि जार की फौज ने एक शान्त जलूस पर गोलियाँ चलाई थीं। यह जुलूस एक पादरी के नेतृत्व में 'लिटिल फादर' यानी जार के पास रोटी माँगने गया था। इससे सारे देश में नफ़रत की एक जोरदार लहर फैल गई और कई राजनैतिक हड़ताले हुईं। सबसे अखीर में एक आम हड़ताल सारे रूस में होगई। नये ढंग की मार्क्सवादी क्रान्ति शुरू होगई थी।

जिन श्रमिको ने हड़तालें की थीं, ख़ासकर पीटर्सबर्ग मास्को जैसे बडे केन्द्रो में, उन्होंने हरेक ऐसे केन्द्र में सोवियट नाम की एक नई संस्था बनाई। पहले-पहल सोवियट आम हड़ताल चलाने के लिए बनाई हुई कमेटी को कहते थे। ट्राटस्की पीटर्सबर्ग की सोवियट का नेता होगया। जार की सरकार पहले तो इन बातो से बिलकुल हकबका गई और किसी हद तक झुक भी गई और वैधानिक धारासभा और लोकतंत्र के अनुसार मताधिकार देने का वादा किया। ऐसा जान पड़ा मानों निरंकुशता का गढ़ टूट गया हो। किसानो की पिछली बगावतें जिस चीज को न पा सकी थीं, आतकवादी अपने बम से जिस चीज में सफल नही हुए थे, विधान के माननेवाले नरम दल के लिबरल लोग अपनी नपी-तुली दलीलो से जो नही कर सके थे, मजदूरो ने वह आम हड़ताल से करके दिखा दिया। जारशाही को अपने इतिहास में पहली मर्त्तबा जनता के सामने सिर झुकाना पड़ा। बाद को यह विजय खोखली निकली, लेकिन इसपर भी मजदूरों के लिए इसका स्मरण अँधेरे में रोशनी के समान था।

जार ने एक वैधानिक परिषद—'ड्रूमा'—देने का वादा किया था। 'ड्रूमा' का अर्थ है विचार करने की जगह; पार्लमेण्ट की तरह कोरी बातें बनाने की जगह नही (फ़्रांसीसी भाषा के पार्लर Parler से यह शब्द बना है)। इस वादे से नरम दल के लिबरल लोगों का जोश ठण्डा पड़ गया। वे लोग संतुष्ट होगये। लिबरल

नमूना बन गया है।) लेनिन ने इस बात की परवा नही की कि उसके साथ कितने आदमी है। एक दफा तो उसने यहाँतक कहा था कि अपनी पार्टी में अगर मुझे अकेले रहना पडे तो मैं अकेला रहना पसन्द करूँगा। उसका आग्रह तो इस बात पर था कि जो उसके दल में शरीक हो वे पूरी तरह साथ हो और क्रान्ति के लिए सब-कुछ न्योछावर करने को तैयार हो और जनता की तालियो की भी परवाह न करे। वह विप्लव के विशेषज्ञो का एक दल तैयार करना चाहता था, जो आन्दोलन को कुशलता से चला सके। हमदर्दी करनेवालो और अच्छे दिनो में मित्रता दिखानेवालो की उसे जरूरत नहीं थी।

यह रास्ता बडी मुसीबत का था और बहुतो का खयाल था कि इसपर चलना अक्लमन्दी नही है। जीत तो बहरहाल लेनिन की रही और सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी दो हिस्सो में बँट गई और दो नाम, जो बहुत मशहूर हो गये है, पैदा हो गये-- बोलशेविकी और मेनशेविकी। कुछ लोगो के लिए आजकल 'बोलेशेविक' शब्द बडा भयकर होगया है, लेकिन इसका अर्थ सिर्फ बहुमत है। 'मेनशेविक' का अर्थ अल्पमत है। १९०३ की फूट के बाद सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी में लेनिन का दल बहुमत में था, इसलिए बोलेशेविक कहलाता था और उसका मतलब बहुमत दल था। यह बात याद रखने की है कि उस समय ट्राटस्की, जिसकी उम्र २४ वर्ष की थी और जो १९१७ की क्रान्ति में लेनिन का दाहिना हाथ था, उस वक्त मेनशेविको की तरफ था। लेकिन उसने मेनशेविको का साथ बहुत जल्द छोड़ दिया।

ये बहस-मुबाहसे और भाषण रूस से बहुत दूर लन्दन में होते थे। रूसी पार्टी की बैठक लन्दन में इसलिए करनी पड़ती थी, क्योकि ज़ार के रूस में उसके लिए स्थान नहीं था और उसके बहुत ज्यादा सदस्य जलावतन थे या साइबेरिया से भागे हुए कैदी थे।

इसी दरमियान रूस में खुद आग सुलग रही थी। राजनैतिक हडताले इसकी निशानी थीं। मजदूरो की राजनैतिक हड़ताल का अर्थ है वह हडताल जो आर्थिक लाभ के वास्ते, जैसे मजदूरी बढाने के लिए, न की गई हो, बल्कि सरकार की किसी राजनैतिक कार्रवाई के खिलाफ की गई हो। इसका मतलब मजदूरो में राजनैतिक चेतना का होना है। जैसे अगर हिन्दुस्तानी कारखानो के मजदूर इसलिए हड़ताल करे कि बापू गिरफ्तार कर लिये गये या कोई दूसरा राजनैतिक अत्याचार किया गया है तो वह राजनैतिक हडताल कहलायगी। ताज्जुब की बात तो यह है कि पश्चिमी योरप में, जहाँ ट्रेडयूनियन और मजदूरो का सगठत बहुत शक्तिशाली था, इस किस्म की राजनैतिक हड़ताले बहुत कम होती थी। यह भी होसकता है कि ऐसी

इसलिए उसने इसे ढाई महीने के बाद बरखास्त कर दिया। विद्रोह को कुचलने के बाद ज़ार को डूमा के क्रोध की कुछ परवा नही रह गई थी। डूमा के निकाले हुए डिपुटी या सदस्य, जो मध्य-वर्ग के विधान को माननेवाले लिबरल लोग थे, फ़िनलैण्ड भाग गये। यह पीटर्सबर्ग के बहुत नजदीक था और ज़ार की अध्यक्षता में एक अर्द्धस्वतत्र देश था। इन्होने रूसियों से अपील की कि वे डूमा की बरखास्तगी के विरोध में टैक्स देने और फौज में भरती होने से इन्कार करदें। लेकिन ये डिपुटी या डूमा के सदस्य जनता के सम्पर्क में बिलकुल नही थे, इसलिए इनकी अपील का कोई असर नही हुआ।

दूसरे वर्ष, सन् १९०७ ई० में, डूमा का दूसरा चुनाव हुआ। पुलिस ने उग्र विचार के उम्मीदवारो के रास्ते में हर तरह की कठिनाइयाँ पैदा करके और बाज वक्त उनको गिरफ्तार करके इस बात की बडी कोशिश की कि वे न चुनें जायँ। इसपर भी 'डूमा' ज़ार को पसन्द नही आई और उसने इसे भी ३ महीने बाद बरखास्त कर दिया। ज़ार की सरकार नें चुनाव के कानून में परिवर्तन करके ऐसे 'अवाञ्छनीय' आदमियो के चुने जाने का रास्ता रोक दिया, जिनको वह नही चाहता था। इसमें उसे कामयाबी हुई। तीसरी डूमा बहुत ऊँचे दर्जे के दकियानूसी लोगो की सकीर्ण जमात थी और उसकी जिन्दगी बहुत लम्बी रही।

तुम्हे यह ताज्जुब हो सकता है कि ज़ार ने इस कमज़ोर डूमा को बनाने की परेशानी क्यो उठाई जब कि उसमें यह ताकत थी कि वह जैसा चाहता वैसा करके अपना काम चला सकता था और जब कि उसने १९०५ की क्रान्ति को पस्त कर दिया था। इसकी वजह एक हद तक यह थी कि वह रूस की चन्द छोटी जमातो, खासकर अमीर ज़मीदारो और व्यापारियो को, सन्तोष देना चाहता था। देश की स्थिति भी खराब थी। इसमें शक नही कि जनता पस्त करदी गई थी, लेकिन वह नाराज़ और भरी बैठी थी। इसलिए यह मुनासिब समझा गया कि चोटी के अमीर लोगो को तो कम-से-कम मुट्ठी में रक्खा जाय। लेकिन अधिक महत्वपूर्ण कारण यूरोपियन देशो पर इस बात का असर डालना था कि ज़ार एक उदार सम्राट् है। ज़ार के कुशासन और अत्याचार की कहानी पश्चिमी योरप में हरेक आदमी की जबान पर थी। जब डूमा पहली मर्त्तबा बरखास्त की गई थी, हाउस ऑफ कामंस (इग्लैण्ड की पार्लमेण्ट की सामान्य सभा) में ब्रिटिश लिबरल पार्टी के एक नेता ने कहा था—"डूमा मर गई, डूमा ज़िन्दाबाद!" इससे ज़ाहिर होता है कि डूमा के प्रति कितनी हमदर्दी थी। साथ ही उस समय ज़ार को रुपये की और बहुत काफी रुपये की ज़रूरत थी। खुशहाल फ्रांसीसी उसे रुपया उधार देते आये थे। सच तो यह है कि ज़ार ने १९०५ की क्रान्ति को फ्रांसीसी कर्ज़ की मदद ने ही कुचला था।

लोग हमेशा संतुष्ट हो जाया करते हैं। जमींदार क्रान्ति से डरकर कुछ सुधारों पर राजी होगये, जिससे खुशहाल किसानो को फायदा पहुँचा। इसके बाद जार की सरकार ने असली क्रान्तिकारियो का मुकाबिला किया और उनकी कमजोरी समझकर उससे पूरा फायदा उठाया। एक तरफ भूखे मजदूर थे, जिन्हे राजनैतिक विधान में इतनी दिलचस्पी नही थी, जितनी रोटी और ज्यादा मजदूरी के सवाल में थी, और जो अधिक गरीब किसान थे वे हमें "खेत दो" की खतरनाक आवाज उठाते थे। दूसरी तरफ क्रान्तिकारी लोग थे, जो खास तौर से राजनैतिक पहलू को देखते थे और पश्चिमी यूरोपियन ढग की पार्लमेण्ट पाने की आशा रखते थे और जनता की भावना और असली मॉग के बारे में ज्यादा विचार नहीं करते थे। बहुत-से ऊँचे दर्जे के कारीगर, जिन्होने ट्रेड यूनियन का संगठन कर रक्खा था, क्रान्ति में शामिल होगये थे, क्योकि वे राजनैतिक पहलू समझते थे। लेकिन आम तौर से शहरो और गॉवो में जनता इन बातो की तरफ से उदासीन थी। जार की सरकार नें और पुलिस ने जनता के साथ उसी पुरानें ढग से व्यवहार किया जो तमाम निरंकुश लोग काम में लाते हैं। इन्होने फूट पैदा कराई और इस भूखी जनता को कुछ क्रान्तिकारी दलों के खिलाफ भडका दिया। बदकिस्मत यहूदी लोगो का रूसियो ने कत्ल किया और आरमीनियन लोगो का तातारियो ने। क्रान्तिकारी विद्यार्थियो और अधिक गरीब मजदूरो में मुठभेडें हुईं। देश के अनेक हिस्सो में इस तरह क्रान्ति की कमर तोड़ देने के बाद सरकार ने पीटर्सबर्ग और मास्को पर, जो क्रान्ति के तूफानी केन्द्र थे, हमला किया। पीटर्सबर्ग की सोवियट आसानी से कुचल दी गई। मास्को में फौज ने क्रान्तिकारियो की मदद की, और इसलिए पॉच दिन लड़ाई लड़ने के बाद ही सोवियट पूरी तरह दबाई जा सकी। इसके बाद बदला लेना शुरू हुआ। कहा जाता है कि सरकार ने मास्को में बगैर मुकदमा चलाये एक हजार आदमियो को फॉसी देदी और सत्तर हजार को जेल भेज दिया। सारे देश में इन मुख्तलिफ बगावतो में करीब चौदह हजार आदमी मरे।

इस तरह हार और मुसीबत के साथ १९०५ ई० की रूसी क्रान्ति का खातमा हुआ। इसको १९१७ की क्रान्ति का, जो कामयाब रही, पेशखीमा कहा गया है। जनता की आन्तरिक भावना के जागृत होने और उसके किसी बडे पैमाने पर काम कर सकने से पहले उसे "बडी-बडी घटनाओ की शिक्षा मिलनी जरूरी है।" १९०५ई० की घटनाओ से बहुत बडी कीमत देकर जनता को यह अनुभव मिला।

डूमा का चुनाव हुआ और मई १९०६ में इसकी बैठक हुई। डूमा कोई क्रातिकारी जमात नही थी, लेकिन इतनी स्वतत्र जरूर थी कि जार इसे पसन्द नही करता था,

बोलशेविक कमेटी में तीन आदमी ऐसे थे जो जार के खुफिया विभाग के नौकर थे। बोलशेविको की यह छोटी जमात डूमा में भी थी और मालिनोवस्की इसका नेता था। बाद में पता चला कि यह भी पुलिस का आदमी था, और लेनिन इसका विश्वास करता था।

अगस्त १९१४ ई० में महायुद्ध शुरू हुआ और इसकी वजह से लोगो का ध्यान लड़ाई के मोरचो की तरफ खिच गया और खास-खास काम करनेवाले अनिवार्य भरती में आगये और क्रान्तिकारी आन्दोलन मर गया। बोलशेविक लोग, जिन्होने लडाई के खिलाफ अपनी आवाज उठाई, तादाद में थोडे थे और वे बहुत ज्यादा बदनाम होगये।

अब हम फिर अपने निश्चित स्थान यानी महायुद्ध पर आगये और यही हमें रुक जाना चाहिए। लेकिन इस खत को खतम करने के पहिले मैं तुम्हारा ध्यान रूस के साहित्य और कला पर लेजाना चाहता हूँ। उसमें चाहे जो दोष रहे हो, बहुतसे लोग जानते है कि जार के रूस ने अदभुत नृत्य-कला को बनाये रक्खा था। जार के रूस ने उन्नीसवी सदी में कितने ही बडे-बडे लेखक पैदा किये, जिन्होने महान् साहित्यिक परिपाटी का निर्माण किया। उपन्यासो और छोटी कहानियो में इन लोगो ने आश्चर्यजनक कुशलता दिखाई है। इस सदी की शुरुआत में बायरन, शेली और कीट्स का समकालिक पुश्किन हुआ, जो रूस के कवियो में सबसे बड़ा माना जाता है। उन्नीसवी सदी के उपन्यास-लेखको में गोगल, तुर्गनेव, दास्तोवेस्की और चोखेव मशहूर हुए है और सबसे बडा तो लियो टाल्सटाय हुआ, जिसमें सिर्फ उपन्यास लिखने की ही प्रतिभा नही थी बल्कि जो एक धार्मिक और आध्यात्मिक नेता भी हो गया। उसका प्रभाव बहुत दूर तक फैल गया था। यह प्रभाव बापू पर भी पड़ा, जो उस समय दक्षिण अफरीका में थे। ये दोनो एक-दूसरे के सिद्धान्तो को पसन्द करते थे और इनमें आपस में चिट्ठी-पत्री भी होती थी। अहिसा में दृढ़ विश्वास इन दोनो के सयोग का बन्धन था। टाल्सटाय के कथनानुसार ईसा की बुनियादी तालीम यही थी और बापू ने पुरानी हिन्दू किताबो से यही नतीजा निकाला था। टाल्सटाय पैगम्बर बने रहे और उन्होने अपने सिद्धान्तो के अनुसार अपना जीवन व्यतीत किया, लेकिन दुनिया से दूर रहे। बापू ने इस जाहिरा तौर पर निषेधात्मक-सी दीखनेवाली चीज का हिन्दुस्तान और दक्षिण अफरीका की सामूहिक समस्याओ के सम्बन्ध में अमली प्रयोग किया।

उन्नीसवीं सदी के रूसी लेखको में से एक महान् लेखक अभीतक जिन्दा है। इसका नाम मैक्सिम गोर्की है।

यह एक अजीव वात थी कि लोकतंत्रवादी फ्रास निरंकुश रूस को क्रान्तिकारियो और उग्र विचार के लोगो को पस्त करने के लिए मदद दे ! लेकिन लोकतत्रवादी फ्रांस का मतलव फ्रासीसी साहूकार थे। बहरहाल बात को जाहिरा तौर से बनाये रहना जरूरी ग और डूमा को कायम रखने से जाहिरा तौर पर बात बनी रहती थी।

इस बीच योरप की और ससार की स्थिति जोरो के साथ बदल रही थी । रूस जब जापान से हार गया तो इंग्लैण्ड के दिल से रूस का भय जाता रहा। हाँ, जर्मनी की शक्ल में इंग्लैण्ड के लिए एक नया खतरा पैदा होगया था। व्यवसाय में और समुद्र पर, जिसमें अभीतक इग्लैण्ड का ही इजारा था, जर्मनी पट्टीदार बनता जाता था। जर्मनी के डर से ही फ्रास ने रूस को इतनी उदारता से कर्ज दिया था। इस जर्मन खतरे ने दो पुराने दुश्मनो को एक-दूसरे से गले मिलने को मजबूर कर दिया। १९०७ ई० में अंग्रेजी-रूसी सुलहनामे पर दस्तखत हुए जिससे अफगानिस्तान, ईरान और दूसरी जगहो में इन दोनो के जितने झगडे थे वे तय होगये। बाद में इग्लैण्ड, फ्रान्स और रूस में समझौता (Entente) हुआ। बालकन में आस्ट्रिया रूस का प्रतिद्वन्द्वी था और आस्ट्रिया जर्मनी का दोस्त था। इसी तरह इटली कागज पर जर्मनी का दोस्त था। इस तरह से इग्लैण्ड, फ़्रान्स और रूस के त्रिविध समझौते या गुट्ट का मुकाविला जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली के त्रिगुट्ट से होगया, फौजें लड़ाई की तैयारी करने लगी और सीधे-सादे लोग सोते रहे। उन्हे यह पता नही था कि भविष्य में उनके सामने उनके लिए कितनी भयकरता आनेवाली है।

१९०५ के बाद, रूस का यह जमाना प्रतिक्रिया का जमाना था। बोलशेविज्म और दूसरे क्रान्तिकारी तत्त्वो को पूरी तौर से कुचला जा चुका था। विदेशो में लेनिन की तरह कुछ निर्वासित बोलशेविक अपना काम धीरज के साथ चला रहे थे। किताबें और पुस्तिकायें लिखते थे और मार्क्स के उसूलो को बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार साँचे में ढालने की कोशिश करते थे। मेनशेविको में अन्तर बढता ही जाता था। मेनशेविक लोग अल्पसख्यक नरमदल के मार्क्सवादी थे। मेनशेविक दल प्रतिक्रिया के जमाने में बहुत अधिक मशहूर होगया। और यद्यपि इसे अल्पसख्यक दल कहा जाता है, पर सच तो यह है कि उस समय इस दल में कहीं ज्यादा आदमी शामिल थे। १९१२ से रूसी दुनिया में फिर एक नई तब्दीली पैदा होगई और क्रान्तिकारी प्रवृत्तियाँ बढने लगीं और इसके साथ-साथ बोलशेविज्म भी बढा। १९१४ के मध्य में पेट्रोग्रेड के वातावरण में क्रान्ति की चर्चा बहुत जोरो से होरही थी और १९०५ की तरह इस साल भी बहुत-सी राजनैतिक हड़तालें हुईं। लेकिन क्रान्तियो की बनावट क्या खूब होती है ! बाद को यह पता चलता कि पीटर्सबर्ग की सात सदस्योवाली एक

उन्नीसवी सदी के बारे में लिखी हुई अपनी चिट्ठियो में मैंने आवश्यकता-वश महाद्वीपो और देशो का अलग-अलग बयान किया है। हमने मुख्तलिफ पहलुओ पर और विविध आन्दोलनो के बारे में भी अलग-अलग विचार किया है। लेकिन तुम्हे याद रखना चाहिए कि ये सब बाते कमोबेश साथ-साथ होती रही है और इतिहास ससार-भर में अपने हजारो पैरो के साथ आगे बढ़ा है। विज्ञान और उद्योग, राज-नीति और अर्थशास्त्र, अमीरी और गरीबी, पूजीवाद और साम्राज्यवाद, लोकतत्र और समाजवाद, डारविन और मार्क्स, आजादी और गुलामी, कहत और महामारी, सुलह और जंग, सभ्यता और बर्बरता—इन सब चीजो का इस अद्भुत बनावट में अपना-अपना स्थान था, और इनमें से हरेक चीज का असर एक-दूसरी पर पड़ा है। अगर हम इस जमाने या किसी दूसरे जमाने की तस्वीर अपने मन के सामने खीचे तो वह तस्वीर बडी पेचीदा और कैलिडेसकोप यानी बच्चो की उस दूरबीन की तरह जिसमें तरह-तरह के रगीन दृश्य दिखाई देते है बराबर तब्दील होनेवाली और हरकत करनेवाली होगी। लेकिन इस तस्वीर के बहुत-से हिस्से ऐसे होगे जिनपर गौर करना हमें अच्छा न लगेगा।

इस युग की सबसे बडी बात, जैसा कि हम देख चुके है, बडी मशीनो के सहारे बडे पैमाने पर पूंजीपतियो के उद्योग-धन्धो की उन्नति थी। इस युग में उत्पत्ति किसी यात्रिक शक्ति के जरिये से—जैसे पानी, भाफ या बिजली के जरिये से—की गई। इसका प्रभाव दुनिया के जुदा-जुदा हिस्सो में जुदा-जुदा हुआ है। यह प्रभाव प्रत्यक्ष भी हुआ और अप्रत्यक्ष भी। लकाशायर में मशीनी करघो (Power looms) से होने-वाली कपडे की उत्पत्ति से इतने दूर हिन्दुस्तान के गाँवो की स्थिति बिगड़ गई और बहुत-से रोजगार खतम होगये। पूंजीवादी उद्योग बहुत तेज शक्तिवाला था। अपने स्वभाव के अनुसार वह बराबर बढ़ता ही गया और उसकी भूख कभी नहीं मिटी। उसकी सबसे बडी विशेषता अधिक-से-अधिक चीज हथियाने की इच्छा थी। वह हमेशा इस बात की फिक्र में रहता था कि क्या पायें और क्या लेले, और एक चीज पर अधिकार करने के बाद फिर दूसरी चीजो पर अधिकार जमाने की कोशिश करता था। व्यक्ति और राष्ट्र दोनो यही कोशिश करते थे। इस प्रणाली के अनुसार जो समाज बना उसे परिग्रही या अधिक-से-अधिक पाने की लालसा रखनेंवाला समाज कहा जाता है। उद्देश हमेशा यही रहा कि ज्यादा-से-ज्यादा उत्पत्ति हो और मुनाफे की फालतू पूंजी नये कारखाने खोलने, रेले बनाने या दूसरी तरह के और रोजगारो में लगाई जाय, और मालिक लोग तो सम्पन्न होते ही रहे। इस उद्देश्य को प्राप्त करने में बाकी दूसरी सब चीजें कुरबान करदी गईं। मजदूर, जो इन उद्योगो से धन पैदा करता था,

: १४५ :

एक युग का अन्त

मार्च २२, १९३३

उन्नीसवीं सदी ! इन सौ वर्षों ने हमें कितने लम्बे अर्से तक रोक रक्खा। चार महीने से समय-समय पर मैं तुम्हे इस युग के बारे में लिखता आया हूँ और इससे जरा थक और ऊब गया हूँ और जब तुम इन खतो को पढ़ोगी तो शायद तुम भी ऊब जाओगी। मैंने तुमको यह बताते हुए इसका बयान शुरू किया था कि यह एक दिलचस्प और लुभावना जमाना था, लेकिन कुछ समय के बाद आकर्षण भी घट जाता है। सच तो यह है कि हम उन्नीसवी सदी से आगे बढ़ गये और बीसवीं सदी में बहुत दूर तक चले आये। १९१४ हमारी हद थी। इसी साल, जैसा कहा जाता है, युद्ध के भेडिये योरप और संसार पर टूट पडे। इतिहास इस साल से एक नया रुख पकड़ता है। इस युग का अन्त और दूसरे का आरम्भ होता है।

उन्नीससौ चौदह ! यह साल भी तुम्हारे वक्त के पहले का है और फिर भी इसे गुजरे उन्नीस वर्ष से कम ही हुए हैं। और इतने वर्ष मनुष्य के जीवन में भी कोई लम्बा जमाना नहीं कहा जा सकता, इतिहास में तो और भी कम समझा जायगा। लेकिन दुनिया इतने ही थोडे वर्षों में इतनी ज्यादा तब्दील होगई है और अब भी तब्दील होती जा रही है कि मालूम होता है तब से बहुत बड़ा जमाना गुजर गया है और १९१४ तथा उसके पहले के साल अब पुरानें इतिहास में मिल गये हैं और गुजरे हुए जमाने के हिस्से बन गये हैं, जिनके बारे में हम इतिहास की किताबों में पढते है, और हम लोगो के जमाने से बिलकुल जुदा चीज है। इन बडी-बडी तब्दीलियों के बारे में मुझे तुम्हे बाद को बताना होगा। मैं इस समय तुम्हे एक चेतावनी दूंगा। तुम स्कूल में भूगोल पढ़ रही हो और जो भूगोल तुम पढ़ रही हो वह उस भूगोल से बिल्कुल मुख्तलिफ चीज है जिसे १९१४ के पहले मैंने स्कूल में पढ़ा था। यह भी मुमकिन है कि इस भूगोल का बहुत-सा हिस्सा, जिसे आज तुम पढ़ रही हो, जल्द ही तुम्हे भूल जाना पडे, जैसा कि मुझे भूलना पडा। पुराने मुल्को के निशानात और पुराने देश युद्ध के धुएं में गायब होगये और नये-नये निशानात और देश उन जगहों पर पैदा होगये, जिनके नाम याद रखना मुश्किल है। सैंकडो शहरो के नाम रातो-रात बदल गये। सेण्टपीटर्सबर्ग पेट्रोग्राड होगया और फिर लेनिनग्राड। कुस्तुनतुनिया का नाम अब इस्तम्बोल होगया है। पेकिन अब पेपिंग कहलाता है और बोहेमिया का प्रेग अब जेकोस्लोवाकिया का प्रहा हो गया है।

हिफाजत खास तौर से की गई, लेकिन इनको मजूर कराने में बहुत मुश्किल हुई और बहुत वक्त लगा, क्योंकि कारखाने के मालिको ने इनका जोरदार विरोध किया।

पूजीवादी उद्योग ने साम्यवादी और समाजवादी विचार भी पैदा कर दिये। इन विचारो ने नये उद्योगो को स्वीकार किया, लेकिन पूजीवाद की बुनियाद को चुनौती दी। मजदूरो की संस्थायें, ट्रेडयूनियन और अन्तर्राष्ट्रीय जमाते तरक्की करने लगीं।

पूंजीवाद से साम्राज्यवाद पैदा हुआ और पश्चिमी पूंजीवादी उद्योग के धक्के से पूर्वी देशो का बहुत दिनो से चला आनेवाला आर्थिक सगठन तहस-नहस होगया। इन पूर्वी देशो में भी आहिस्ता-आहिस्ता पूजीवादी उद्योग जड पकड गया और बढने लगा। इन देशो में पश्चिम के साम्राज्यवाद को चुनौती के रूप में राष्ट्रीयता भी पैदा होगई।

इस तरह पूजीवाद ने दुनिया को हिला दिया। और हालांकि इसकी वजह से आदमियो को भयकर तकलीफें हुई, लेकिन आम तौर पर यह प्रणाली फायदेमन्द रही—कम-से-कम पश्चिम के लिए तो जरूर। इसके साथ-साथ भौतिक चीजो में बहुत तरक्की हुई और मनुष्य के कल्याण का आदर्श बहुत ऊँचा उठ गया। साधारण आदमी इतना महत्वपूर्ण होगया जितना वह पहले कभी नही समझा जाता था। अमली तौर पर तो उसे किसी चीज में भी कहने-सुनने या दखल देने का हक नही था, यद्यपि वोट देने का हक मिला था, लेकिन सिद्धान्त-रूप से राज्य में उसकी हैसियत बढ़ गई और इसके साथ-साथ उसमें आत्म-सम्मान की भावना भी बढ़ी। यह बात पश्चिमी देशो के लिए सही कही जा सकती है, जहाँ पूजीवादी उद्योग ने जड़ पकड़ ली थी। ज्ञान का बहुत बडा सग्रह होगया, और विज्ञान ने अद्भुत बाते करके दिखा दी। इसकी मदद से बनी हुई हजारो चीजो ने हरेक आदमी की जिन्दगी में बहुत-सी आसानियाँ पैदा करदी। औषधियो ने, खासकर औषधि-विज्ञान के उस हिस्से ने जिससे बीमारियो की बाढ़ रोकी जाती है, और सफाई ने बहुत-सी बीमारियों की जड़ काटना और उनका शमन करना शुरू कर दिया, जिनकी वजह से आदमी की जिन्दगी आफत में रहा करती थी—जैसे मलेरिया के पैदा होने का कारण और उसकी दवा मालूम की गई और अब इसमें जरा भी शक नही रह गया है कि अगर मुनासिब कार्रवाई की जाय तो यह रोग किसी भी क्षेत्र से मिटाया जा सकता है। मलेरिया अभीतक जारी है और हिन्दुस्तान में और दूसरी जगहो पर लाखो आदमी इसके शिकार होते है; लेकिन यह विज्ञान का दोष नहीं, दोष है लापरवाह सरकार और जाहिल जनता का।

सबसे कम फायदे में रहता था, और इन मजदूरों को, जिनमें औरतें और बच्चे शामिल थे, अपनी हालत सुधारने के लिए भयकर आफतो से गुजरना पड़ा है। और इस पूंजीवादी उद्योग के मुनाफे के लिए और उन कौमो के मुनाफ़े के लिए, जिनमें ये उद्योग पाये जाते थे, उपनिवेश और मातहत देश भी कुरबान कर दिये गये और चूस लिये गये।

इस तरह पूंजीवाद आँख बन्द करके और बेरहमी के साथ आगे बढ़ता गया और बहुत-से शिकार अपने पीछे छोड़ता गया। इसपर भी उसकी प्रगति धूमधाम से होती रही। विज्ञान की मदद से वह बहुत-सी बातो में कामयाब रहा और इस कामयाबी से दुनिया चकाचौंध होगई। ऐसा मालूम होता था, मानो यह प्रणाली उन कष्टो का शमन कर रही हो जो इसकी वजह से पैदा हुए है। इत्तफाक से, कुछ जान-बूझकर नही, इस प्रणाली नें जिन्दगी की बहुत-सी अच्छी-अच्छी चीजें भी पैदा कर दी, लेकिन इस चमकदार और खुशनुमा गिलाफ के नीचे बहुत-सी खराबियाँ छिपी थीं। सबसे ज्यादा उल्लेखनीय बात यह हुई कि विषमता पैदा होगई। यह प्रणाली जितनी तरक्की करती गई विषमता भी उतनी ही बढती गई। एक तरफ नितान्त दरिद्रता ओर दूसरी तरफ अत्यन्त सम्पन्नता, एक ओर गन्दे झोपडे और दूसरी तरफ आकाश से बाते करनेवाले महल, एक ओर साम्राज्य और दूसरी ओर शोषित और मातहत उपनिवेश। योरप हावी था; एशिया और अफ़रीका के महाद्वीप चूसे जाते थे। इस सदी के ज्यादातर हिस्से में अमेरिका दुनिया के घटना-प्रवाह से अलग रहा। लेकिन वह तेजी के साथ आगे बढ रहा था और अपनें वैभव और साधनो का निर्माण कर रहा था। योरप में इग्लैण्ड अमीर, अभिमानी और पूंजीवाद का, खासकर पूंजीवाद के साम्राज्य-सम्बन्धी पहलू का, सन्तुष्ट अगुआ था।

पूंजीवादी उद्योग की तरक़्की और उसके सब चीजो को हथियाने के स्वभाव ने बहुत जल्द मामला नाजुक कर दिया। विरोध और आन्दोलन उठ खड़ा हुआ और अख़ीर में मजदूरो की रक्षा के लिए उसपर कुछ बन्दिशें लगाई गईं। बडे-बडे कारखानो में शुरुआत में मजदूरो का, खासकर स्त्रियो और बच्चो का, भयंकर शोषण होता था। स्त्रियो और बच्चो को मर्दो से ज्यादा नौकरियाँ दी जाती थीं, क्योंकि वे सस्ते पडते थे और उनसे कभी-कभी तन्दुरुस्ती को बिगाड़नेवाली और घिनौनी जगहो में १८ घण्टे काम लिया जाता था। आखिरकार राज्य ने दखल दिया और कानून बनाये गये। इनको 'फैक्ट्री कानून' कहते है और इनमें इस बात की दफायें रक्खी गई हैं कि मजदूरी के घण्टे परिमित कर दिये जायें और कारखानो की परिस्थिति बेहतर बनाई जाय। इन कानूनो के जरिये स्त्रियो और बच्चो की

गिरानें और उससे आगे निकल जाने की कोशिश करता है। सहकारिता का ढंग आपस का सहयोग है। तुमने बहुत-से कोआपरेटिव स्टोर (सहयुक्त भण्डार) देखे होगे। कोआपरेटिव यानी सहकारिता का आन्दोलन योरप में उन्नीसवी सदी में खूब बढ़ा। शायद डेनमार्क के छोटे देश में इसकी कामयाबी सबसे ज्यादा हुई।

राजनैतिक क्षेत्र में लोकतन्त्र के विचार बढ़े और अपनी पार्लमेण्टो और असेम्बलियो के लिए सदस्यो को चुननें में वोट देने का हक ज्यादा आदमियो को मिल गया। लेकिन यह मताधिकार सिर्फ मर्दो को ही मिला। स्त्रियाँ, चाहे वे कितनी ही काबिल हो, इस अधिकार के लिए काफी बुद्धिमान और उपयुक्त नही समझी जाती थी। बहुत-सी स्त्रियों ने इसका विरोध किया और बीसवी सदी की शुरुआत में उन्होने इंग्लैण्ड में बहुत बड़ा आन्दोलन खड़ा कर दिया। इस आन्दोलन को 'सफरेज' अर्थात् स्त्रियो के मताधिकार का आन्दोलन कहते थे। और चूंकि मर्दो ने इस आन्दोलन पर कोई ध्यान नही दिया और इसे गम्भीरतापूर्वक नही लिया, इसलिए स्त्रियो नें ज़बरदस्ती और उद्दण्डता का रास्ता पकड़ा, ताकि लोगो का ध्यान इसकी तरफ खिचे। ब्रिटिश पार्लमेण्ट की कार्रवाई में झगड़ा करके ये लोग विघ्न डाल देती थीं और ब्रिटिश मंत्रि-मण्डल के मन्त्रियो पर चोट पहुँचाने के लिए हमले करती थी, जिसके कारण इन मन्त्रियों को बराबर पुलिस के संरक्षण म रहना पड़ता था। बडे पैमाने पर संगठित उद्दण्डता और हिंसा भी हुई। बहुत-सी स्त्रियाँ जेल भेज दी गई। वहाँ पहुँचकर उन्होने भूख-हड़ताल शुरू की। इसपर उन्हे छोड़ दिया गया। फिर ज्योही वे अच्छी हो जाती, उनको जेल भेज दिया जाता था। पार्लमेण्ट ने इस काम के लिए एक खास कानून बनाया था, जिसे लोग 'बिल्ली और चूहे का कानून' कहते थे। आन्दोलन करनेवालियो का यह ढंग इस बात में जरूर सफल रहा कि लोगो का ध्यान इस ओर खिच गया। इसके कुछ वर्षो बात महायुद्ध शुरू हुआ और स्त्रियो का वोट देने का हक मंजूर कर लिया गया।

स्त्रियो का यह आन्दोलन, जिसे फेमिनिस्ट आन्दोलन कहते हैं, सिर्फ वोट माँगने तक ही परिमित नहीं था। माँग यह थी कि उनको हरेक बात में पुरुषो से बराबरी का हक मिले। पश्चिम में अभी हाल तक स्त्रियों की हालत बहुत खराब थी; उनके कोई अख्तियारात नही थे। अंग्रेज स्त्रियो को क़ानून में यह हक नही मिला था कि अपने नाम से जायदाद रख सकें। सारी जायदाद, स्त्री की कमाई की भी, पति को मिल जाती थी। इस तरह कानूनी तौर से इन लोगों की आज की हिन्दू स्त्रियों से भी, जिनकी हालत काफी बुरी है, बुरी हालत थी। पश्चिम में स्त्रियो की जाति को पराधीन समझा जाता था, जैसे बहुत-सी बातों में आज हिन्दुस्तानी स्त्रियाँ समझी जाती है। वोट के लिए आन्दोलन शुरू होने के बहुत पहले स्त्रियों ने

शायद इस सदी का सबसे उल्लेखनीय पहलू यह था कि दूसरे देशो को माल भेजने और आमदरफ्त के साधनो में बहुत तरक्की हुई। रेल, भाप के जहाज, तार और मोटरगाड़ियो ने दुनिया को बिलकुल बदल दिया और दुनिया को इनसान के लिए ऐसी चीज बना दी जो वह कभी भी नहीं थी। दुनिया सिकुड़ गई और उसमें रहनेवाले एक-दूसरे के ज्यादा नजदीक आगये। वे एक-दूसरे के बारे में ज्यादा जानने लगे और अज्ञान की वजह से जो अनेक टट्टियाँ खडी थी वे टूट गईं। व्यापक विचार फैलने लगे, जिनकी वजह से सारी दुनिया में किसी क़दर समानता आगई। इस युग के अख़ीर में बेतार का तार और हवाई जहाज पैदा हुए। ये चीजें अब बहुत मामूली होगई हैं। तुम कई दफा हवाई जहाज में बैठ चुकी हो और तुमने उसके बारे में बगैर कोई ख़ास विचार किये उसपर सफर किये हैं। बेतार के तार और हवाई जहाज की तरक्की बीसवीं सदी और हमारे जमाने में हुई। लोग अकसर बैलून में बैठकर उडे थे, लेकिन अलिफलैला की उड़नेवाली परी और हिन्दुस्तानी कहानियो के उडनखटोलो के अलावा कोई भी हवा से वजनी चीज पर बैठकर नहीं उड़ा था। विलबर और ऑरविले राइट नामके दो भाई, जो अमेरिकन थे, पहले लोग थे जो हवा से वजनी मशीन पर बैठकर उड़ने में कामयाब हुए। इसी मशीन को मौजूदा हवाई जहाज की जन्मदात्री समझना चाहिए। दिसम्बर १९०३ ई० में ये ३०० गज से भी कम उडे थे। लेकिन फिर भी इन्होने ऐसी बात करली थी, जो पहले कभी नहीं हुई थी। इसके बाद उड़ने में बराबर तरक्की होती रही और मुझे याद है कि जब १९०९ ई० में फ्रान्सीसी ब्लेरियट फ़ान्स से इगलिश चैनल पार करके इग्लैण्ड तक उड़ आया था, तो बड़ा तहलका मचा था। इसके बाद ही मैंने देखा कि पेरिस में एफिल टावर पर पहला हवाई जहाज उड़ा; और उसके बहुत साल बाद मई १९२७ में हम और तुम पेरिस में मौजूद थे, जब चार्ल्स लिण्डबर्ग चांदी के तीर की तरह चमकता हुआ एटलांटिक पार करके आया और पेरिस के एयरोड्रम यानी हवाई जहाज के स्टेशन ली बूर्जे में उतरा।

ये सब बाते तो इस युग की तारीफ में हुई, जिसमें पूंजीवादी प्रयोग प्रमुख रहा है। इस सदी में मनुष्य ने निस्सन्देह अद्भुत काम किये। एक चीज और भी हुई जो तारीफ की बात समझी जा सकती है। ज्यो-ज्यो लालची और लोलुप पूंजीवाद बढ़ता गया, सहकारिता का आन्दोलन पैदा करके इसपर बन्दिश लगाई गई। सहकारिता का आन्दोलन यह था कि लोग चीजो की बिक्री और ख़रीद के लिए संगठन बना लेते हैं और जो मुनाफा होता है उसे आपस में बाँट लेते हैं। पूंजीवाद का साधारण ढग यह है कि इसमें इतनी जबरदस्त लाग-डाँट होती है कि हरेक आदमी दूसरे को

: १४९ :

महायुद्ध की शुरुआत

२३ मार्च, १९३३

मैंने अपना पिछला खत तुम्हे इस बात को बताते हुए खत्म किया था कि राष्ट्र एक-दूसरे के साथ व्यवहार करने में कितने अनैतिक और कुटिल थे। जहाँ भी मुमकिन था, वे एक-दूसरे के साथ कटु और असहिष्णुता का बर्ताव करना अपनी आजादी का चिन्ह समझते थे। कोई शक्ति ऐसी नही थी जो उनसे कहती कि तुम एक-दूसरे पर विश्वास करो, क्योंकि वे कहते थे कि हम आजाद है और हम अपने मामलों में दूसरो की दस्तन्दाजी कैसे पसन्द कर सकते है? उनकी हरकतों पर अगर कोई बन्दिश हो सकती थी तो वह नतीजे का डर था। इसलिए मजबूतो की किसी हद तक इज्जत होती थी और कमजोरों को धमकाया जाता था।

असल में यह राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता या लाग-डॉट पूँजीवादी उद्योग की तरक्की का अनिवार्य परिणाम थी। हम यह तो देख ही चुके है कि बाजार और कच्चे माल की बढ़ती हुई माँग के कारण पूंजीवादी शक्तियाँ साम्राज्य के लिए दुनिया के चारो ओर घुड़दौड़ कर रही थी। ये शक्तियाँ एशिया और अफरीका पर पिल पडी और जितनी जमीन इन्हे मिल सकी, शोषण करने के लिए, उसपर कब्जा कर लिया। जब वे पृथ्वीभर में फैल चुकी और फैलने को दूसरी जगह नहीं रह गई, तो ये साम्राज्यवादी शक्तियाँ एक-दूसरे को घूरने लगी और एक-दूसरे के मातहत देश पर लालचभरी निगाह डालने लगी। एशिया, अफरीका और योरप में इन शक्तियो के दरमियान अकसर मुठभेड़ होजाती थी, और क्रोधाग्नि भभक उठती थी। इनमें से कुछ शक्तियाँ दूसरो से बेहतर हालत में थी और इंग्लैण्ड तो, जो उद्योग में सबसे आगे था और जिसका साम्राज्य बहुत विस्तृत था, सबसे ज्यादा भाग्यवान मालूम पडता था। लेकिन इंग्लैण्ड भी सन्तुष्ट नही था, क्योंकि जितना ही ज्यादा जिसके पास होता है उतना ही ज्यादा वह और चाहता है। इंग्लैण्ड के 'साम्राज्य-निर्माताओ' के दिमाग में ब्रिटिश साम्राज्य को बढ़ाने की लम्बी-चौडी योजनायें चक्कर लगाया करती थीं। वे चाहते थे कि अफरीका में उनका अखण्ड साम्राज्य काहरा से केप तक, उत्तर से दक्षिण तक का, क़ायम होजाय। उद्योग में संयुक्तराष्ट्र और जर्मनी की लागडाँट से भी इंग्लैण्ड परेशान था। ये देश औद्योगिक माल इंग्लैण्ड से सस्ता बना रहे थे और इंग्लैण्ड के बाजारो पर कब्जा करते जाते थे।

जब भाग्यवान इंग्लैण्ड ही सतुष्ट नही था तो दूसरो का तो और भी ज्यादा

और बातो में पुरुषो के साथ बराबरी के बर्ताव के लिए माँग पेश की थी। आखिर-कार १८८० और ९० के बीच में इग्लैण्ड में जायदाद की मिलकियत का कुछ हक स्त्रियो को मिला। स्त्रियाँ इस एक बात में एक हद तक इसलिए सफल रही कि कारखाने वाले इस बात को पसन्द करते थे। उनका खयाल था कि अगर औरतो को अपनी कमाई अपने पास रखने का हक मिल जायगा तो कारखानो में काम करने के लिए उनको प्रोत्साहन मिलेगा।

हरेक तरफ हम बडी-बडी तब्दीलियाँ देखते है, लेकिन शासन-प्रणाली में कोई तब्दीली नही आई। बडी-बडी शक्तियाँ दगाबाजी और चालबाजी के ढग पर चलती रही और बहुत दिन हुए फ्लोरेंस के रहनेवाले मैक्यावेली ने जो रास्ता बताया था, या १८०० वर्ष पहले हिन्दुस्तानी मन्त्री चाणक्य ने जो मार्ग दिखाया था, उसीपर चलती रही। इनमें बराबर लाग-डॉट और प्रतिद्वन्द्विता होती रहती थी। गुप्त रूप से समझौते और सुलहनामे होते थे, और हरेक ताकत हमेशा ऐसी बात की कोशिश करती रहती थी कि दूसरे से आगे बढ जाय। योरप,जैसा हमने देखा है, जबर-दस्त और उग्र रहा और एशिया निष्क्रिय। ससार की राजनीति में औरो के मुकाबिले में अमेरिका का हिस्सा बहुत थोड़ा रहा, क्योकि वह अपनी ही झझटो में फँसा हुआ था।

राष्ट्रीयता के विकास के साथ-साथ 'हमारा देश, गलत या सही' का भाव बढा। राष्ट्रो ने ऐसी बातो पर अभिमान करना शुरू किया जो अगर कोई व्यक्ति करता तो बुरा और दुष्ट समझा जाता। इस तरह से व्यक्तियो की और राष्ट्रो की नीति में एक अजीब विषमता पैदा होगई। दोनो में बहुत बडा फ़र्क आगया और जो बाते किसी व्यक्ति के लिए खराब समझी जाती थीं वही राष्ट्रो के लिए अच्छी समझी जाने लगीं। किसी व्यक्ति, पुरुष या स्त्री के लिए स्वार्थी, लालची, अभिमानी और भोडापन बिलकुल बुरा और असह्य समझा जाता था; लेकिन बडे-बडे समूहो यानी राष्ट्रो के लिए देशभक्ति की आड़ में इन्हीं बातो की तारीफ होती थी और इन्हे प्रोत्साहन दिया जाता था, जैसे कि हम आज हिन्दुस्तान में देखते हैं कि साम्प्रदायिक मामलो में कितनी उद्दण्डता, स्वार्थ और भोडापन पाया जाता है। किसी व्यक्ति में अगर ये बाते हो, तो कोई बर्दाश्त न करेगा। लेकिन अगर बड़ा समूह या बडे राष्ट्र एक-दूसरे को कत्ल करना भी शुरू करते है तो काबिल तारीफ बात समझी जाती है। हाल के एक लेखक ने लिखा है और सही लिखा है कि "सभ्यता एक प्रकार का साधन है, जिसमें व्यक्ति अपने दोषो को अधिकाधिक बडे समूहो और वर्गो को देता जाता है।"

इस खत को यहीं खत्म कर देना चाहिए, लेकिन यह कहानी तो दूसरे खत में भी जारी रहेगी।

समुद्रों पर कब्जा था, जर्मनी का नही। इसपर भी कैसर के हेकडी से भरे भाषण अंग्रेजो को बहुत बुरे लगते थे। इस बात का खयाल तक कि कोई दूसरी कौम दुनिया की प्रमुख कौम बनने का विचार करे, अंग्रेजो को बहुत नागवार मालूम होता था। ऐसा सोचना एक किस्म का कुफ़्र था, इंग्लैण्ड पर आक्रमण था, जो अपनेको सब कौमो का अगुआ समझता था। समुद्र तो, सौ बरस पहले ट्रैफलगार में नेपोलियन की हार के बाद, इंग्लैण्ड का इजारा समझा जाता था। इसलिए अंग्रेजों को यह बात बहुत नामुनासिब मालूम होती थी कि जर्मनी या कोई दूसरी क़ौम उसको चुनौती दे। अगर ब्रिटेन समुद्र पर मजबूत न रहा, तो उसके दूर-दूर बिखरे हुए साम्राज्य की क्या दशा होगी ?

कैसर की चुनौती और धमकियाँ तो काफी बुरी थीं, लेकिन इससे बदतर बात यह थी कि उसने इन धमकियो के बाद ही अपनी जल-सेना बढ़ा दी। इस बात से अंग्रेजो का मिजाज बिगड़ गया और इन लोगो ने भी अपनी जल-सेना को बढ़ाना शुरू कर दिया। इस तरह इन दोनो में एक तरह की घुड़दौड़ शुरू होगई। दोनो देशो के अखबारो ने एक जोरदार आन्दोलन जारी कर दिया, जिसमें जंगी जहाज बढ़ाने की चीख मचाई गई और राष्ट्रीय विद्वेष की आग को बराबर भड़काया जाने लगा।

योरप में यह एक खतरे का हलका था। इसके अलावा कई और भी ख़तरे के हलके थे। फ्रांस और जर्मनी तो पुराने दुश्मन थे ही। १८७० की हार की कटु स्मृति फ्रांसीसियों के दिलो में बराबर चुभती रहती थी और वे बदला लेने का सपना देखते थे। बालकन तो हमेशा ही बारूद का एक गोला था, जहाँ अनेक स्वार्थ आकर एक-दूसरे से टकराते थे। पश्चिमी एशिया में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए जर्मनी ने भी टर्की से दोस्ती शुरू करदी। यह तजवीज की गई कि एक रेलवे बगदाद तक बनाई जाय और इस शहर को कुस्तुनतुनिया और योरप से जोड़ दिया जाय। यह तजवीज बहुत मुनासिब थी, लेकिन चूँकि जर्मनी इस बगदाद रेलवे को अपने हाथ में रखना चाहता था इसलिए राष्ट्रीय विद्वेष पैदा होगया।

धीरे-धीरे योरप में युद्ध का डर छा गया और आत्म-रक्षा के लिए शक्तियो ने अपने-अपनें गुट्ट बनाने शुरू किये। बडी-बडी ताकते दो दलों में बँट गई। जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली का त्रिगुट्ट (Triple Alliance) एक तरफ था और इंग्लैण्ड, फ़्रांस और रूस का त्रिगुट्ट (Triple Entante) दूसरी तरफ था। इटली पहले त्रिगुट्ट का एक उदासीन सदस्य था और वाकया तो यह है कि लड़ाई होने पर उसने अपने वचन को तोड़कर दूसरे पक्ष का साथ दिया। आस्ट्रिया एक जीर्ण-शीर्ण साम्राज्य था, नकशे में बड़ा दीखता था, लेकिन परस्पर-विरोधी तत्त्वों से परिपूर्ण था। सुन्दर वियेना

असन्तुष्ट होना लाज़िमी था। खासकर जर्मनी बहुत असन्तुष्ट था। इसकी गिनती बड़ी शक्तियों में कुछ देरी से हुई थी और इसने देखा कि बढ़िया-बढ़िया फल हाथ से निकल गये। विज्ञान, शिक्षा और उद्योग में इसने बहुत बड़ी तरक्की की थी और साथ ही बहुत बड़ी फ़ौज भी जमा करली थी। मजदूरों से सम्बन्ध रखनेवाले सामाजिक सुधार के कानूनों में भी यह और देशों से, जिनमें इंग्लैण्ड भी शामिल था, आगे था। जब जर्मनी सामने आया, दूसरी साम्राज्यवादी शक्तियाँ पृथ्वी पर बहुत हद तक कब्ज़ा जमा चुकी थी और शोषण की गुंजाइश परिमित थी। फिर भी सख्त मेहनत और आत्मानुशासन से जर्मनी उद्योगवाद और पूँजीवाद के युग की सबसे मजबूत और सबसे ज्यादा कुशल ताकत बन गया। इसके व्यापारी जहाज हरेक बन्दरगाह में दिखाई देते थे और इसके अपने बन्दरगाह हैम्बर्ग और ब्रीमेन दुनिया के सबसे बड़े बन्दरगाहों में समझे जाते थे। जर्मनी के व्यापारिक बेड़े सिर्फ़ जर्मनी का ही माल दूर देशों को नहीं ले जाते थे, बल्कि इन्होंने और देशों के माल ले जाने के काम पर भी कब्ज़ा कर लिया था।

कोई ताज्जुब नहीं कि यह नया साम्राज्यवादी जर्मनी इस सफलता को पालेने बाद और अपनी शक्ति को समझते हुए अपनी और ज्यादा बढ़ती के रास्ते की रुकावटों पर दाँत किटकिटाकर रह जाता था। प्रशा जर्मन साम्राज्य का अगुआ था और प्रशा के जमींदार और सैनिक वर्ग, जिनके हाथ में ताकत थी, अपनी नम्रता के लिए कभी भी मशहूर नहीं रहे। ये लोग उग्र थे और इस बात का इन्हें फ़ख्र था कि हम निर्दयता के साथ उग्र हैं। इस उद्धत अकड़ और शेखी की भावना का आदर्श नेता इन्हें हायनज़ालर्न वंश के अपने सम्राट् कैसर विल्हेल्म द्वितीय के रूप में मिल गया। कैसर इस बात की इधर-उधर घोषणा करता रहता था कि जर्मनी दुनिया का लीडर होनेवाला है, उसे पृथ्वी पर स्थान मिलना चाहिए; उसका भविष्य सामुद्रिक ताकत पर निर्भर है और उसका उद्देश्य सारी दुनिया में अपनी संस्कृति (Culture) का प्रचार करना है।

ये सब बातें इसके पहले भी और लोग और दूसरी कौमें कह चुकी थीं। इंग्लैंड का 'गोरे का कर्तव्य' (White Man's Burden) और फ्रांस का 'सभ्यता सिखाने का धर्म' (Civilising Mission) और जर्मनी की संस्कार (Kulture) को एक ही थैली के चट्टेबट्टे समझना चाहिए। इंग्लैण्ड का दावा था कि वह समुद्री ताकत में सबसे बड़ा-चढ़ा है और उसका यह दावा असल में ठीक भी था। कैसर जर्मनी के बारे में भी ये ही बातें कहता था जो अनेक अंग्रेज इंग्लैण्ड के बारे में पहले कह चुके थे। लेकिन कैसर भद्दे तरीक़े से और शेखी के साथ कहता था। फ़र्क इतना था कि इंग्लैण्ड का

रहा होगा; क्योंकि उसके लिए शान्ति का मतलब था मौजूदा स्थिति का सदा के लिए बना रहना और उसकी निरंकुशता का कायम रहना। उसके निमंत्रण पर हालैण्ड के हेग शहर में दो शान्ति-परिषदें, एक १८९९ में और दूसरी १९०७ में, हुईं। इन परिषदों में कोई भी महत्त्व की बात नही हुई। शान्ति आसमान से तो एकदम नही टपक सकती। वह तो तभी आसकती है जब झगडो की जड़ हट जाय।

मैंने तुम्हे बडी शक्तियों की आपस की लागडॉट और भय के बारे में बहुत कुछ बताया है। गरीब छोटी कौमो को कोई नही पूछता, सिवा उस समय के जबकि वे शरारत करने लगती है! योरप के उत्तर में कुछ छोटे देश ध्यान देने योग्य है, क्योंकि वे इन लालची और लोलुप बडी शक्तियो से बिलकुल मुख्तलिफ है। स्कैण्डीनेविया में नार्वे और स्वीडन है और उनके नीचे डेनमार्क है। ये देश आर्कटिक क्षेत्र से बहुत दूर नही है। ये बहुब ठंडे मुल्क है और इनमें रहना बहुत कठिन है। इनमें सिर्फ छोटी आबादी की परवरिश होसकती है। लेकिन चूंकि ये देश बडी शक्तियो के द्वेष और नफरत और लागडॉट के दायरे से बाहर है, इसलिए अपनी जिन्दगी शान्ति और सुलह के साथ विताते है और अपनी ताकत सभ्य तरीके से खर्च करते है। वहाँ विज्ञान खूब फ़लता-फलता है और बहुत अच्छा साहित्य पैदा हुआ है। १९०५ ई० तक नार्वे और स्वीडन मिले हुए थे और एक राज्य थे। इस साल नार्वे ने जुदा हो जाने का और अपना जीवन अलग बिताने का निश्चय किया। इस तरह इन दो देशो ने शान्तिपूर्वक अपना सम्बन्ध तोड़नें का निश्चय कर लिया और उस समय से ये दो अलग आजाद राज्य रहे है। कोई लड़ाई नहीं हुई और न एक मुल्क ने दूसरे को मजबूर किया। दोनो स्नेही पडोसी की तरह मित्र-भाव से रह रहे है।

नन्हे-से डेनमार्क ने बडी कौमो के सामने अपनी जल और स्थल सेना को तोड़-कर एक उदाहरण पेश कर दिया है। यह किसानो का देश है—छोटे-छोटे खेतिहरो का, जहाँ अमीर और गरीब में ज्यादा फ़र्क नही। इस समता (Equalisation) की ज्यादातर वजह यह है कि सहकारिता का आन्दोलन यहाँ खूब बढ़ा है।

लेकिन योरप के सब छोटे मुल्क डेनमार्क की तरह शराफत के पुतले नही है। हालैण्ड खुद तो छोटा है, लेकिन ईस्टइडीज में (जावा, सुमात्रा में) बहुत बडे साम्राज्य पर कब्जा रखता है। इसके बाद बेलजियम है, जो अफरीका में कांगो को चूसता रहता है। यूरोपियन राजनीति में इसका महत्व असल में इसकी स्थिति की बिना पर है। यह देश फ़्रांस और जर्मनी के रास्ते पर है और इन दोनो देशो में युद्ध छिड़ने पर इस मुल्क का घिसट आना करीब-करीब निश्चित है। तुम्हे वाटरलू की याद होगी, जो बेलजियम मे ब्रसेल्स के पास है। इसी कारण से बेलजियम योरप का

इसकी राजधानी थी। यह संगीत, कला और विज्ञान का केन्द्र भी था। इसलिए असल में पहले त्रिगुट में सिर्फ जर्मनी ही था। लेकिन यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि परीक्षा का दिन आने के पहले कौन कह सकता था कि इटली और आस्ट्रिया की क्या सूरत होगी?

इस तरह योरप में भय का राज्य होगया था और भय बहुत भयंकर चीज होती है। हरेक देश युद्ध की तैयारी करने लगा और अधिक-से-अधिक युद्ध की सामग्री इकट्ठी करने लगा। शस्त्रीकरण की दौड़ शुरू होगई। इस शस्त्रीकरण में सबसे अजीब बात यह है कि जब एक देश अपनी सेना बढ़ावे तब दूसरे देशों को भी मजबूरन बढ़ानी पड़ती है। बड़े-बड़े निजी कारखाने, जो तोप, जंगी जहाज, गोली-बारूद तथा युद्ध की और चीजें बनाते थे, मुनाफे में रहे और खूब मोटे होगये। ये लोग एक कदम और आगे बढ़ गये। इन्होंने युद्ध का भय फैलाना शुरू कर दिया, ताकि उससे प्रभावित होकर कौमें इनसे हथियार खरीदें। युद्ध-सामग्री के ये कारखाने बहुत दौलतमन्द और ताकतवर थे, और इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी और दूसरे मुल्कों के अनेक बड़े अफसर और मंत्री इनके हिस्सेदार थे। इसलिए इनकी सरसब्जी में इन लोगों का भी स्वार्थ था। युद्ध-सामग्री के कारखाने तभी सरसब्ज होते हैं जब लड़ाई का भय हो या लड़ाई छिड़ जाय। इसलिए आश्चर्यजनक स्थिति यह थी कि अनेक सरकारों के मंत्री और सरकारी अफसरों का लड़ाई करने में माली फायदा था। इन कारखानों ने अनेक देशों में युद्ध का भय बढ़ाने के लिए बहुत-सी दूसरी तरकीबें भी कीं। इन्होंने जनता के मन पर असर डालने के लिए अखबार निकाले, अकसर सरकारी अफसरों को रिश्वतें दीं और लोगों को भड़काने के लिए गलत खबरें फैलाईं। युद्ध-सामग्री का व्यवसाय भी क्या ही भयंकर चीज है! दूसरों की मौत से इसकी जिन्दगी है। युद्ध की बीभत्सता पैदा करने में इसे जरा भी संकोच नहीं होता, बल्कि उसे यह प्रोत्साहन देता है, ताकि उससे मुनाफा कमा सके। १९१४ ई० के महायुद्ध को जल्द लाने में इस व्यवसाय ने भी कुछ मदद दी। आज भी यह अपनी पुरानी चाल चल रहा है।

मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ कि इधर लड़ाई की बातचीत हो रही थी और उधर सुलह की एक अजीब कोशिश जारी थी। ताज्जुब है कि सबसे रूस के जार निकोलस द्वितीय ने आगे बढ़कर शक्तियों के सामने यह तजवीज पेश की कि सब इकट्ठा होकर सार्वभौम शान्ति का युग शुरू करें। यह वही जार था, जो अपने साम्राज्य के हरेक उदार आन्दोलन को कुचलता रहता था और अपने कैदियों से साइबेरिया को आबाद कर रहा था। यह तो मजाक-सा मालूम होता है कि वह शान्ति की बातचीत करे। लेकिन शायद यह सच्चे दिल से शान्ति की कोशिश कर

क्योंकि वह इंग्लैण्ड का दोस्त था। इस दोस्ती का खास उद्देश यह था कि पूर्व में, खासकर हिन्दुस्तान में, ब्रिटेन के स्वार्थ सुरक्षित रहे। यह दोस्ती उस जमाने में कायम हुई थी, जब अंग्रेजो और रूसियों की लाग-डॉट चल रही थी। और यद्यपि इंग्लैण्ड और रूस अब एक ही तरफ़ थे फिर भी वह दोस्ती बनी हुई थी। सिर्फ अमेरिका ही एक ऐसा मुल्क था जो योरप की इस गुट्टबन्दी और समतौल-प्रणाली से दूर रहा।

१९१४ में यह हालत थी। तुम्हे याद होगा कि इस मौके पर होमरूल बिल के बारे में इंग्लैण्ड को आयर्लैण्ड में बडी परेशानी का सामना करना पड़ रहा था। अलस्टर बगावत के लिए उतारू था; वालण्टियर लोग उत्तर और दक्षिण दोनो जगह कवायद कर रहे थे और आयर्लैण्ड में गृह-युद्ध की चर्चा हो रही थी। ऐसा हो सकता है कि जर्मन सरकार नें सोचा हो कि इंग्लैण्ड आयर्लैण्ड के झगडे में फँसा रहेगा और अगर कोई यूरोपियन युद्ध होगा तो वह दखल न देगा। लेकिन बात यह थी कि ब्रिटिश सरकार अन्दर-ही-अन्दर फ़ास से वादा कर चुकी थी कि लड़ाई छिड़ने पर वह फ्रांस का साथ देगी, हालॉकि यह बात लोगो को मालूम नही थी।

२८ जून १९१४—यह वह तारीख थी जिस दिन चिनगारी पैदा हुई और उसने आग भड़का दी। आर्च डयूक फ्रांसिस फरडीनेण्ड आस्ट्रियन गद्दी का युवराज यानी वारिस था। वह बालकन में बोसनिया की राजधानी सेरावी गया था। जैसा मैं तुम्हे बता चुका हूँ, यह बोसनिया वही देश था जिसको आस्ट्रिया ने चन्द साल पहले, जब नौजवान तुर्क अपने सुलतान से छुटकारा पानें की कोशिश कर रहे थे, अपने राज्य में शामिल कर लिया था। आर्च ड्यूक और उसकी स्त्री, जो उसके पास ही बैठी थी, खुली गाडी में सड़क पर जा रहे थे। उनपर गोली चलाई गई और वह और उसकी स्त्री दोनो मर गये। आस्ट्रिया की सरकार और जनता दोनो गुस्से से पागल होगये और सर्विया की सरकार पर यह इलजाम लगाया कि इसमें उसकी शिरकत थी (सर्विया बोसनिया का पडोसी था)। सर्विया की सरकार ने इस बात से इन्कार किया। बहुत दिन बाद इस बारे में तहकीकात करनें से पता चला है कि यद्यपि सर्विया की सरकार पर इस हत्या की जिम्मेदारी नही थी, पर यह बात भी नही है कि इसकी तैयारी का उसे पता न रहा हो। इस कत्ल की जिम्मेदारी ज्यादातर सर्विया के 'काला-हाथ' नामी हत्यारे दल पर ही डालनी चाहिए।

आस्ट्रिया की सरकार ने कुछ तो गुस्से से और कुछ नीति के कारण सर्विया के साथ बहुत ही सख्ती का तर्जेअमल इख्तियार किया। उसनें तय कर लिया था कि सर्विया को हमेशा के लिए जलील कर दिया जाय और किसी बडी लड़ाई छिड़ने की

अखाडा (cockpit) कहा गया है। खास-खास बडी शक्तियो ने यह समझौता किया था कि युद्ध छिडसे पर वे बेलजियम की तटस्थता को मानेगी। लेकिन, जैसा कि हम आगे देखेंगे, जब लडाई छिडी, तब यह समझौता और वादा टुकडे-टुकडे होगया।

लेकिन योरप में, या यो कहो कि दूसरी जगहो में, सबसे खराब और परेशानी पैदा करनेवाली कौमें बालकन की है। जातियो और राष्ट्रो का यह चोचो का मुरब्बा, जिसके पीछे पुश्तहापुश्त से द्वेष और लाग-डॉट चली आ रही है, आपसी कशमकश और नफरत से भरा हुआ है। १९१२–१३ के बालकन-युद्ध गैरमामूली तरीके पर खूनी युद्ध थे और बहुत कम समय में और बहुत कम क्षेत्र में बहुत ज्यादा आदमी हताहत हुए थे। कहा जाता है कि शरणागत और भागते हुए तुर्कों पर बलगेरियन लोगो ने खौफनाक जुल्म किये थे। तुर्कों का खुद भी पुराना इतिहास खराब है। सर्विया, जो अब यूगोस्लेविया का एक हिस्सा है, हत्या के लिए खूब बदनाम होगया था। अपनेको देशभक्त कहनेवालो के एक खुफिया हत्याकारी दल के एक गुट्ट ने, जिसे 'काला हाथ' (Black Hand) कहा जाता था और जिसमें राज्य के अनेक बडे-बडे अफसर भी शामिल थे, असाधारण रूप से खतरनाक कितने ही खून किये थे। देश के राजा और रानी, राजा अलेग्जेण्डर और महारानी ड्रेगा, महारानी के कई भाई, प्रधानमत्री और कुछ और लोग बहुत बुरे तरीके से कत्ल कर दिये गये। यह सिर्फ महल तक महदूद एक क्रान्ति (Palace Revolution) थी। राजा के मरने पर उसकी जगह दूसरा आदमी राजा बना दिया गया।

इस तरह बीसवीं सदी का जब आरम्भ हुआ, योरप की हवा में बिजली की कडक और चमक थी, और ज्यो-ज्यो दिन बीते, वातावरण अधिक तूफानी होता गया। पेचीदगियाँ और गुत्थियाँ बढने लगीं और योरप के जीवन के धागे में ज्यादा-से-ज्यादा गाँठें पडने लगीं, जो अखीर में लड़ाई के जरिये ही कटनेवाली थीं। सब शक्तियाँ यह उम्मीद करती थीं कि लड़ाई छिडेगी और उसके लिए जोरो के साथ तैयारी करती थीं, लेकिन कोई भी युद्ध छेडने के लिए उत्सुक नहीं था। सब किसी-न-किसी हदतक लडाई से डरती थीं, क्योकि कोई भी यकीनी तौर पर इस बात की पेशीनगोई नहीं कर सकता था कि लडाई का नतीजा क्या होगा। इसपर भी डर की वजह से सब राष्ट्र युद्ध की तरफ बढते गये। जैसा मैंने तुमको बताया है, योरप के दोनो गुट्ट एक-दूसरे के खिलाफ बने रहे। इसी का नाम 'शक्तियो का समतौल' था; लेकिन यह बहुत नाजुक समतौल था, जो जरा-से धक्के से बिगड़ जा सकता था। जापान का भी, गोकि वह योरप से बहुत दूर था और उसकी स्थानीय समस्याओ में उसे कोई ज्यादा दिलचस्पी नहीं थी, गुट्टबन्दी के और शक्तियो के इस समतौल के मामले में हाथ था;

बेलजियम की तटस्थता के तोड़े जाने की वजह से इंग्लैण्ड में और दूसरी जगहों पर भी बहुत शोर उठा और इग्लैण्ड ने तो इसी बात को जर्मनी के खिलाफ़ युद्ध छेड़ने की बुनियाद करार दिया। वाकया तो यह है कि इंग्लैण्ड ने इस बारे में अपना फ़ैसला बहुत पहले ही कर लिया था। बेलजियम के सवाल का तो उसे एक अनुकूल बहाना मिल गया। अब तो यह भी पता चला है कि युद्ध के पहले के वर्षों में फ्रास ने भी यह योजना तैयार की थी कि जरूरत पड़ने पर वह जर्मनी पर चढ़ाई करने के लिए बेलजियम के रास्ते अपनी सेना ले जायगा। बहरहाल, इंग्लैण्ड ने सत्य और औचित्य का बहुत बड़ा सरक्षक होने का पाखण्ड किया, और जर्मनी के मुकाबिले में अपने को छोटी-छोटी कौमो का बहुत बड़ा हिमायती बताना चाहा। जर्मनी के ऊपर यह एतराज़ किया जाता था कि उसने अपने गम्भीर वादो और अहदनामों को रद्दी कागज़ का टुकड़ा समझा। ४ अगस्त की आधी रात को इग्लैण्ड ने जर्मनी के खिलाफ लड़ाई का ऐलान कर दिया, लेकिन उसने इतनी पेशबन्दी की थी कि किसी दुर्घटना को रोकने के लिए 'ब्रिटिश एक्सपीडेश्नरी फोर्स' (अंग्रेजो की हमला करनेवाली सेना) को इंग्लिश चैनल के पार एक दिन पहले ही रवाना कर दिया था। इसलिए हालाँकि दुनिया समझती थी कि इग्लैण्ड के युद्ध में शामिल होने का सवाल अनिश्चित है, मगर ब्रिटिश फ़ौज योरप के प्रायद्वीप पर पहुँच चुकी थी।

बस अब आस्ट्रिया, रूस, जर्मनी, फ़्रांस और इंग्लैण्ड सबके सब युद्ध में फँस गये। और छोटा-सा सर्बिया तो था ही, जिसे इस लड़ाई का तात्कालिक कारण कहना चाहिए। आस्ट्रिया और जर्मनी का मददगार इटली क्या करेगा? यह सवाल था; पर इटली अलग रहा। इटली इस बात को देखने लगा कि दोनो में किसकी तरफ़ जाने से फायदा होगा। इटली ने सौदा करना शुरू किया और आखिरकार छः महीने बाद निश्चित रूप से अपने पुराने मददगारो के खिलाफ फ़्रांस–इंग्लैण्ड–रूसी पक्ष में शामिल होगया।

इस तरह १९१४ के अगस्त महीने की शुरुआत के दिनो में योरप की फ़ौजे इकट्ठी हुई और आगे बढ़ी। ये फौजें क्या थी? पुराने ज़माने में फौज में पेशे वाले सिपाही हुआ करते थे। उस वक़्त ये स्थायी फौजें हुआ करती थी। फ़्रेंच राज्यक्रांति से इस बारे में बहुत तब्दीली होगई थी। जब इस क्रान्ति को विदेशी हमले से ख़तरा हुआ तो साधारण नागरिको को भरती किया गया था और बहुत बडी तादाद में उनको कवायद सिखाई गई थी। उस ज़माने के बाद से योरप का रुख यह हो गया था कि एक तयशुदा तादाद की पेशेवाली और स्वेच्छा से भरती हुई इन दोनों सेनाओ के बजाय 'अनिवार्य सेना' की भरती की जाय। अनिवार्य सैनिक सेवा

हालत में वह जर्मनी की मदद का भरोसा करता था। इसलिए सर्विया ने जब माफी मांगी तो वह मजूर नही की गई और २३ जूलाई १९१४ को आस्ट्रिया ने सर्विया के पास अपनी अन्तिम चुनौती (Ultimatum) भेज दी। पाँच दिन के बाद यानी २८ जुलाई को आस्ट्रिया ने सर्विया के ख़िलाफ लड़ाई का ऐलान कर दिया।

आस्ट्रिया की नीति उन दिनो एक अभिमानी और बेवकूफ मन्त्री के हाथ में थी, जो लडाई पर तुला हुआ था। बूढे सम्राट् फ्रासिस जोजेफ (जो १८४८ से आस्ट्रिया के राजसिंहासन पर थे) इस नीति से सहमत कर लिये गये थे और जर्मनी की मदद की मामूली सी बातचीत के यह मानी लगाये गये कि उसने पूरे तौर से मदद करने का वादा किया है। वाकया तो यह है कि आस्ट्रिया के अलावा बडी ताकतो में कोई भी ताकत उस वक्त युद्ध के लिए उत्सुक नही थी। जर्मनी यद्यपि तैयार और झगड़ालू था, पर लडाई के लिए उत्सुक नही था। कैसर विल्हेल्म द्वितीय ने आधे मन से इस लडाई को रोकने की कोशिश भी की। इंग्लैण्ड और फ्रांस भी लड़ाई के लिए ज्यादा उत्सुक नहीं थे। रूसी सरकार का अर्थ था जार, और वह कमजोर और बेवकूफ आदमी था। उसने अपने चारो ओर अपनी तबीयत के मुआफिक बेवकूफ और बदमाश लोगो को इकट्ठा कर रक्खा था, जो उसे कभी इस तरफ और कभी उस तरफ फिराते रहते थे। फिर भी इस आदमी के हाथ में लाखो की किस्मत थी। वह खुद तो लडाई के खिलाफ था, लेकिन उसके सलाहकारो ने उसे डरवा दिया कि देरी करने का नतीजा बुरा होगा और उसे इस बात पर राजी कर लिया कि फौज को लडाई के लिए तैयार किया जाय। 'तैयारी' का मतलब था फौज को लडने के लिए बुलाना, और रूस ऐसे विस्तृत देश में इस काम में बहुत दिन लग जाते। जर्मनी के हमले के डर से रूसी सेना की लडाई की तैयारी में तेजी आगई। सेना की तैयारी की, जो ३० जुलाई से शुरू हुई, खबर ने जर्मनी को डरा दिया और उसने यह मतालबा किया कि रूस उसे रोक दे। लेकिन युद्ध की इस विशाल मशीन को अब कौन रोक सकता था? दो दिन बाद, १ अगस्त को, जर्मनी ने भी अपनी सेना तैयार करके रूस और फ्रास के खिलाफ लडाई की घोषणा करदी; और फौरन ही विशाल जर्मन सेनाओ ने फ्रास जाने के लिए बेलजियम पर धावा कर दिया, क्योकि यह रास्ता आसान था। बेचारे बेलजियम ने जर्मनी का कोई नुकसान नही किया था। लेकिन जब राष्ट्रो में मौत और जिन्दगी के लिए लड़ाई होती है तो वे इस किस्म की छोटी-छोटी बातो और किये हुए वादो का खयाल नहीं करते। जर्मन सरकार ने बेलजियम से इस बात की इजाजत मांगी थी कि वह अपने देश से उसकी फौज को जाने दे; लेकिन स्वभावत यह प्रार्थना घृणापूर्वक नामंजूर करदी गई।

इस तरह लड़ाई आरम्भ होने पर उन्नीसवीं सदी का युग ख़त्म हुआ। पश्चिमी सभ्यता के साथ और शान्ति के साथ बढ़नेवाले प्रवाह को युद्ध की भँवर ने निगल लिया। पुरानी दुनिया हमेशा के लिए ख़त्म होगई और चार वर्ष से ज्यादा समय के बाद इस भँवर से एक नई चीज़ प्रकट हुई।

: १४७ :

हिन्दुस्तान: महायुद्ध शुरू होने के वक्त

२०, मार्च, १९३३

हिन्दुस्तान के बारे में तुम्हें लिखे हुए बहुत दिन हो गये। इस विषय पर वापस आने और तुम्हें यह बताने का मुझे प्रलोभन हो रहा है कि महायुद्ध आरम्भ होने के समय हिन्दुस्तान की क्या दशा थी और मैंने इस प्रलोभन में आजाने का निश्चय भी कर लिया है।

कई पिछली चिट्ठियों में हम लोग उन्नीसवीं सदी के हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज्य और हिन्दुस्तान की जिन्दगी के कुछ पहलुओं पर अच्छी तरह विचार कर चुके हैं। इस युग का जोरदार पहलू यह था कि हिन्दुस्तान पर अंग्रेजों का अधिकार मजबूत किया गया और साथ-ही-साथ देश का शोषण हुआ। हिन्दुस्तान को तीन कब्जा करनेवाली फौजों ने दबोच रक्खा था—सशस्त्र सैनिक, व्यापारिक, और सिविल। ज़ाहिर है कि सशस्त्र सैनिकों में अंग्रेजी फौजें थीं और अंग्रेज अफ़सरों की मातहती में हिन्दुस्तानी सिपाही हैं, जो रुपये के लालच से भरती होते हैं। इसे विदेशी सेना कहना चाहिए, जो कि मुल्क के ऊपर कब्जा रखने के लिए रक्खी गई। लेकिन इससे ज्यादा जबरदस्त दबाव सिविल सर्विस का था, जिसे अत्यन्त केन्द्रित और निरंकुश नौकरशाही कहना चाहिए। तीसरी फौज व्यापारिक थी, जिसे इन दोनों से मदद मिलती थी। यह सबसे ज्यादा ख़तरनाक चीज थी, क्योंकि देश का सबसे ज्यादा शोषण यह खुद करती थी या इसकी तरफ़ से होता था और देश को चूसने का इसका ढंग भी इतना प्रत्यक्ष नहीं था जितना कि दूसरी दोनों का था। बहुत दिनों तक, और कुछ हदतक आज भी, बड़े-बड़े प्रमुख हिन्दुस्तानी दो फौजों पर ज्यादा एतराज करते रहे हैं, और तीसरी को उन्होंने इतना महत्व नहीं दिया।

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश नीति का बराबर यह ध्येय रहा है कि स्थापित स्वार्थों (Vested interests) का एक वर्ग बनाया जाय। उन्होंने ख़याल किया कि यह वर्ग उन्हींका बनाया हुआ होगा, इसलिए उन्हींके भरोसे रहेगा और हिन्दुस्तान में

(Conscription) उसे कहते हैं जिसमें देश के शारीरिक दृष्टि से भरती के काबिल सब आदमी जबरदस्ती शामिल होने के लिए मजबूर किये जाते हैं। इसलिए जिस्मानी लिहाज से काबिल आदमियों की इस व्यापक सैनिक भरती को फ्रेंच क्रान्ति की उपज समझना चाहिए। यह प्रणाली योरप में सब जगह फैल गई और हरेक नौजवान को छावनी में रहकर दो वर्ष तक या इससे ज्यादा भी सैनिक शिक्षा लेनी पड़ती थी और बाद को जब हुक्म मिले तब उसे लड़ाई पर जाने के लिए आना पड़ता था। इस तरह लड़ाई में लगी हुई सेना का असल में अर्थ होता था राष्ट्र के समस्त नवयुवक। फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस में यही दशा थी और इन देशो में सेना को तैयार करने का मतलब यह था कि दूर-दूर गांवो और कस्बो में फैले हुए नौजवानो को उनके घरो से बुलाया जाय। इंग्लैण्ड में जब लड़ाई शुरू हुई तो इस तरह की अनिवार्य प्रणाली नहीं थी। अपनी जबरदस्त जल-सेना पर भरोसा करके इंग्लैण्ड ने अपनी स्थायी और ऐसी सेना को छोटी ही रक्खा था। लेकिन युद्ध के दौरान में इंग्लैण्ड ने भी और देशो की तरह अपनी नीति करली और सैनिक भरती को अनिवार्य कर दिया।

व्यापक सैनिक सेवा का मतलब यह था कि सारी कौम सशस्त्र लड़ाई के लिए तैयार थी। तैयारी के हुक्म का असर हरेक कस्बे, गांव और कुटुम्ब पर पड़ा। योरप के ज्यादातर हिस्से पर अगस्त की शुरुआत के दिनो में जिन्दगी ठिठक कर रह गई और लाखो नौजवान अपना-अपना घर छोडकर चल दिये और फिर कभी वापस न आसके। जहां देखो फौजें मार्च करती हुई दिखाई देती थी, और सैनिको की जय बोली जाती थी। देशभक्ति की भावना का जोर था। हृदय के तारो को लोगो ने मस्त बना लिया था। लोगो में किसी कदर हलकापन भी था, क्योंकि उस वक्त लोग यह नहीं समझते थे कि आनेवाले सालो में कितनी भयकरता है।

देशभक्ति के उत्साह में सभी बह गये। साम्यवादी, जो इतने जोरो के साथ अन्तर्राष्ट्रीयता की बातें करते थे, और मार्क्सवादी भी, जो दुनियाभर के श्रमजीवियो के दुश्मन पूंजीवाद के खिलाफ एक होजाने की बात करते थे, देशभक्ति के आवेश में बह गये और पूंजीपतियो की इस लडाई में बडे उत्साह से शामिल हुए। ऐसे थोडे ही थे, जो अपनी जगह पर खडे रहे लेकिन लोग उनको नफरत की निगाह से देखते थे; उनको गालियां और अकसर सजायें भी देते थे। बहुत-से लोग तो दुश्मन की नफरत से पागल होगये थे। अंग्रेज और जर्मन मजूर एक-दूसरे को कत्ल कर रहे थे और इन दोनो देशो के और लडाई में शामिल दूसरे देशो के विद्वान लोग, वैज्ञानिक और प्रोफेसर, एक-दूसरे को गालियां देते और एक-दूसरे के खिलाफ भद्दे-से-भद्दे और बीभत्स किस्सों पर यकीन कर लेते थे।

था। ये लोग अपनी गुजर-बसर तभी कर सकते थे जबकि कर्ज लेते जायँ। ब्रिटिश सरकार की जमीन-सम्बन्धी नीति ने स्थिति को बदतर कर दिया, खासकर ताल्लुकेदारी और बडे-बडे जमींदारी हलको मे। इन हलको में, और उन हलको में भी जहाँ किसान जमीन का मालिक होता था, जमीदार का लगान न देने पर और सरकार की माल-गुजारी न अदा करने पर खेत का जोतनेवाला बेदखल कर दिया जाता था। इसकी वजह से, और इस कारण कि शहर से गये आनेवालो का जमीन पर बोझ बराबर बढता गया, गाँवो में मजदूरो का एक बडा वर्ग पैदा होगया, जिसके पास कोई जमीन नहीं थी। और, जैसा मैंने तुम्हे बताया है, अनेक भयङ्कर अकाल भी पडे।

जमीन से वंचित यह बडा वर्ग खेती के लिए जमीन का भूखा था। लेकिन इतनी काफी जमीन नही थी कि सबको मिल सके। जमीदारो ने जमीन की इस माँग से फायदा उठाकर खेतो का लगान बढा दिया। लेकिन कुछ कानून ऐसे मौजूद थे जो किसानो की रक्षा के लिए बनाये गये थे और उनकी वजह से एकदम लगान को एक खास हद से ज्यादा बढाना नामुमकिन था। लेकिन जमींदारो ने इस कठिनाई को कई तरीको से सुलझा लिया और किस्म-किस्म के गैरकानूनी मतालबे वसूल किये जाने लगे। मुझे बताया गया था कि अवध की एक ताल्लुकेदारी रियासत मे पचास किस्म के गैरकानूनी मतालबे वसूल होते थे। इनमें खास 'नजराना' था। यह वह रकम है जिसे किसान खेत लेते वक्त, शुरू में, जमीदार या ताल्लुकेदार को देता है। गरीब किसान इतनी रकमें कहाँसे अदा करता? बनिये से उधार लेकर जब कर्ज चुकाने की कोई सम्भावना या शक्ति न दिखाई देती हो, उस वक्त कर्ज लेना बेवकूफी है; लेकिन गरीब किसान करे तो क्या करे? उसे कही से भी कोई उम्मीद नही दिखाई देती और उसे जोतने के लिए जमीन चाहिए ही। इसलिए निराशा में भी आशा रखते हुए वह सोचता है कि शायद भविष्य कुछ अच्छा हो। नतीजा यह होता है कि कर्ज लेने पर भी अकसर किसान जमीदारो की माग पूरी नहीं कर सकता। वह खेत से बेदखल कर दिया जाता है और उन मजदूरो के गिरोह में शामिल होजाता है जिनके पास जमीन नही होती।

खेत के मालिक किसान, मामूली किसान, और बेजमीन के मजदूर, सभी बनिये के शिकार होते है। ये कर्ज से कभी छुटकारा पा ही नही सकते। जब कभी कुछ कमाते है, तो अदा कर देते हैं; लेकिन अदा की हुई उस रकम को सूद खा जाता है और पुराना मूलधन ज्यो-का-त्यो बना रहता है। इस बात के लिए बनियो पर बहुत कम बन्दिशें पाई जाती है कि वे किसानों को न मूंड सके। नतीजा यह होता है कि किसान लोग बनिये के गुलाम होकर रहते है। बेचारा किसान एक तरह से जमीदार और बनिया दोनो का गुलाम होता है।

उनकी मदद करता रहेगा। इसी ख्याल से सामन्त राजाओ को मजबूत किया गया। वडे जमींदारो और ताल्लुकेदारो का वर्ग बनाया गया। और यह कहकर कि सरकार मजहवी मामलो में तटस्थ है, सामाजिक कट्टरता को प्रोत्साहन दिया गया। देश के शोषण में इस वर्ग का अपना स्वार्थ था। और सच तो यह है कि यह बिना इस शोषण के जिन्दा भी नहीं रह सकता था। सबसे बड़ा वर्ग जो हिन्दुस्तान में बनाया गया वह ब्रिटिश पूंजीपतियो का था।

एक अग्रेज राजनीतिज्ञ लार्ड सैलिसबरी ने, जो हिन्दुस्तान के सेक्रेटरी आफ स्टेट (भारत-सचिव) थे, एक वक्तव्य दिया था। वह अकसर उद्धृत किया गया है और उससे स्थिति पर काफी रोशनी भी पडती है। मैं उसे यहाँ तुम्हारे सामने रखना चाहता हूँ। लार्ड सैलिसवरी ने सन् १८७५ ई० में कहा था—"चूंकि हिन्दुस्तान का खून निकालना जरूरी है, इसलिए नश्तर उस हिस्से में लगाना चाहिए जहाँ खून ज्यादा है या, कम-से-कम, काफी है। नश्तर उन हिस्सो में न लगाना चाहिए जो खून के अभाव से कमजोर होचुके है।"

हिन्दुस्तान पर अग्रेजो के कब्जे से और उस नीति के कारण जिसपर अग्रेजो ने यहां अमल किया कई नतीजे निकले। कुछ ऐसे भी नतीजे निकले जिन्हे अग्रेज पसन्द नही करते थे। लेकिन व्यक्ति अपने कामो के सारे नतीजो पर मुश्किल से अधिकार पा सकते हैं, और कौमो के लिए तो यह और भी मुश्किल होता है। अकसर यह होता है कि कुछ कारगुजारियो की वजह से नई ताकतें पैदा होती है और यही ताक़तें कारगुजारियो का विरोध करती है और उनपर विजय पा जाती है। साम्राज्यवाद से राष्ट्रीयता पैदा होती है। पूंजीवाद की वजह से कारखानो और मिलो में मजदूरो की वडी तादाद जमा हो जाती है, और मजदूरो की यह तादाद सगठित होकर पूंजीपतियो का मुकाविला करती है। सरकार का दमन, जो किसी आन्दोलन को दबाने या राष्ट्र को पस्त करने के लिए शुरू किया जाता है, अकसर उस राष्ट्र को पुष्ट कर देता है, उसे फौलाद की तरह मजबूत बनाता है और अन्तिम विजय के लिए तैयार कर देता है।

हमने देखा है कि हिन्दुस्तान में अग्रेजो की व्यावसायिक नीति के कारण गाँवो की आवादी वढ गई। रोजगार न होने की वजह से ज्यादा-से-ज्यादा लोग शहरो से गाँवो में जाने लगे, जिससे जमीन पर बोझ बढ़ा और किसानो के खेत छोटे होने लगे। खेत इस हद तक छोटे हुए कि वहुतसे "वेमुनाफा" (Uneconomic) होगये, यानी उनको जोतकर किसान अपनी जिन्दगी की मामूली जरूरियात के लिए थोडी-सी आमदनी भी नहीं कर सकता। लेकिन किसानो के पास कोई दूसरा चारा नहीं

करने का एक ढंग यह था कि हिन्दुस्तान में जो मशीनें आती थी, उनपर टैक्स लगा दिया जाता था। दूसरा ढंग यह था कि सूत के माल पर, जो हिन्दुस्तान में बनता था, चुंगी लगादी गई थी। हिन्दुस्तान की कपडे की मिले जो कुछ माल बनाती थीं, उस-पर यह टैक्स लगता था।

जमशेदजी नसरवानजी ताता हिन्दुस्तान के शुरू के औद्योगिको में सबसे बड़ा हुआ है। इसने बहुतसे उद्योग खोले, जिसमें सबसे बड़ा ताता आयरन एण्ड स्टील कम्पनी का था, जो इसने बिहार में साक्ची में खोला था। यह उद्योग १९०७ ई० से शुरू हुआ और १९१२ से चलने लगा। लोहे का उद्योग 'बुनियादी' उद्योग समझा जाता है। आजकल लोहे के ऊपर इतनी चीजें निर्भर है कि जिस देश में लोहे का उद्योग नहीं, वह ज्यादातर दूसरो के भरोसे रहता है। ताता का लोहे का कारखाना एक बहुत बड़ा कारबार है। साक्ची का गाँव अब जमशेदपुर का शहर होगया और थोडी दूर पर जो रेलवे स्टेशन है उसको तातानगर कहते है। लोहे के कारखाने लड़ाई के जमाने में बहुत कीमती होजाते है, क्योकि ये युद्ध की सामग्री बना सकते है। हिन्दुस्तान की ब्रिटिश सरकार के लिए बडी खुशकिस्मती की बात थी कि जब महायुद्ध शुरू हुआ, ताता का कारखाना चल रहा था।

हिन्दुस्तानी कारखानो में मजदूरो की दशा बहुत खराब थी। उन्नीसवीं सदी के शुरू में अंग्रेजी मिलो में मजदूरो की जो हालत थी, वह यहाँ भी थी। मजदूरी बहुत कम थी, क्योकि बहुतसे ऐसे आदमी मिलते थे जिनके पास न जमीन थी और न कोई रोजगार था और काम करने के घण्टे बहुत ज्यादा थे। १९११ ई० में पहला 'इण्डियन फैक्ट्री ऐक्ट' यानी 'भारतीय कारखानो का कानून' पास हुआ। इस कानून में भी पुरुषों के लिए बारह घण्टे और बच्चो के लिए छः घण्टे मुकर्रर हुए।

जिनके पास जमीन नही थी वे सब मजदूर इन मिलो में नहीं खप सके। इसलिए उनकी एक बहुत बडी तादाद चाय के खेतो में और दूसरे फार्मो में काम करने के लिए आसाम और हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सो में चली गई। इन खेतो और फार्मो की अवस्था ऐसी थी कि जबतक ये लोग वहाँ काम करते थे, अपने मालिक के गुलाम होकर रहते थे।

२० लाख से ज्यादा गरीब हिन्दुस्तानी मजदूर विदेश चले गये। बहुत-से सीलोन (लंका) और मलाया के खेतो में काम करने के लिए गये। बहुत-से मारीशस के टापुओ में चले गये। कुछ ट्रिनीडाड गये, जो दक्षिण अमेरिका के उत्तर में है। कुछ फिजी गये, जो आस्ट्रेलिया के पास है। कुछ दक्षिण अफरीका और पूर्वी अफरीका और ब्रिटिश गायना (जो दक्षिण अमेरिका में है) चले गये। इन देशो में बहुत-सी जगहो में ये लोग 'इनडेंचर' (शर्तबंद) होकर गये थे, जिसका मतलब था कि क़रीब-क़रीब

जाहि- है कि इस किस्म की बात बहुत दिनो तक नही चल सकती । एक वक्त ऐसा आयगा जब किसान कोई भी रकम अदा करने में बिलकुल असमर्थ हो जायँगे। तब बनिये रुपया उधार देने से इनकार करेंगे और जमींदार भी कठिनाई में फँसे होंगे। यह ऐसी प्रणाली है कि जिसमें पतन और अस्थिरता के साफ-साफ चिन्ह दिखाई देते हैं। सारे देश में किसानो के झगडे और फ़साद, जो हाल मे हो रहे है, इस बात को साबित करते हैं कि अब यह प्रणाली बिखर रही है और बहुत दिनो तक कायम न रह सकेगी। इस-उस जगह पैबन्द लगाने से यह प्रणाली बच नहीं सकती; क्योंकि अब इसका जमाना जाता रहा है। जरूरत यह है कि जमीन के बारे में बिलकुल नई प्रथा चलाई जाय। दोष प्रथा का है, बनिये या जमींदार का नही।

मुझे डर है कि मैंने इस खत में उसी बात को दोहरा दिया जिसे मैंने एक दूसरे ढग से पहले के खत में लिखा था। लेकिन मै यह चाहता हूँ कि तुम समझो कि यही लाखो-करोडो दुखिया किसान हिन्दुस्तान है; मध्यम वर्ग के मुट्ठीभर आदमी नहीं, जो कि सामने आया करते हैं। मुझे अदेशा है कि बहुत-से आदमी इसको भूल जाते हैं।

बेजमीन के बेदख़ल मजदूरो की बडी जमात की वजह से बडे-बडे कारखानो का चलना आसान होगया। क्योंकि ये कारख़ाने तभी चल सकते हैं, जब इनमें काम करने के लिए काफी आदमी मिल सके (और काफी से ज्यादा भी)। जिस आदमी के पास जमीन का एक छोटा-सा टुकड़ा भी है, वह उसे नहीं छोड़ना चाहता। इसलिए कारखाना चलाने के लिए यह जरूरी है कि बेकार और बेजमीन लोगो की काफी तादाद हो। ये लोग जितने ज्यादा होगे, मिल-मालिको के लिए इस बात में उतनी ही ज्यादा आसानी होगी कि मजदूरी घटाकर इनको अपने कब्जे में रख सके। इसीलिए मैंने ऊपर कहा है कि काफी से ज्यादा होने चाहिएँ।

मेरा ख़याल है, मैंने तुमको बताया है कि इसी जमाने में एक नया मध्यमवर्ग धीरे-धीरे हिन्दुस्तान में पैदा हुआ और कुछ पूँजी कारबार में लगाने के लिए इकट्ठी की। इस तरह चूँकि पैसा था और मजदूर थे, कारखाने पैदा होगये। लेकिन हिन्दु-स्तान में ज्यादातर पूँजी जो लगी है, विदेशी (अंग्रेजी) है। इन कारखानो को ब्रिटिश सरकार ने प्रोत्साहन नही दिया। ब्रिटिश सरकार की यह नीति थी कि हिन्दुस्तान को बिलकुल कृषक देश रक्खा जाय। वह इंग्लैण्ड को कच्चा माल दे और इग्लैण्ड की बनी हुई चीजें खरीदे। ये कारखाने ब्रिटिश सरकार की इस नीति के विरुद्ध पड़ते थे। लेकिन स्थिति ऐसी थी, जैसा मैंने तुम्हे बताया है, कि बडी मशीनो से हिन्दुस्तान में काम शुरू होनेवाला था और ब्रिटिश सरकार आसानी से उसे रोक नहीं सकती थी। इस तरह सरकार के विरोध के बावजूद कारखाने बढ़ने लगे। सरकारी विरोध जाहिर

पश्चिम के सम्पर्क में आने की वजह से राजनैतिक क्षेत्र के अलावा और क्षेत्रो पर भी कुछ असर पड़ा। जनता के विचारो पर नही, बल्कि नवीन मध्यमवर्ग के धार्मिक विचारों पर असर पड़ा और ब्राह्म-समाज और आर्यसमाज ऐसे आन्दोलन उठ खड़े हुए। जाति-पाँति प्रणाली की कट्टरता कम होने लगी। सांस्कृतिक जागृति खासकर बंगाल में हुई। बंगाली लेखकों ने बगला भाषा को हिन्दुस्तान की आजकल की भाषाओ में सबसे सम्पन्न बना दिया और बंगाल ने उसके सबसे बड़े हिन्दुस्तानी यानी रवीन्द्रनाथ ठाकुर को जन्म दिया, जो हमारी खुशकिस्मती से अभीतक हमारे बीच मौजूद है। बंगाल ने विज्ञान में बड़े-बड़े आदमी पैदा किये---जैसे सर जगदीशचन्द्र वसु और सर प्रफुल्लचन्द्र राय। मै तुम्हें एक भारतीय वैज्ञानिक का नाम और बताऊँगा, जो इन लोगो से उम्र में बहुत कम है। वह है सर चन्द्रशेखर व्यंकट रमण। सारी दुनिया इन नामो को जानती है। इस तरह हिन्दुस्तान हरेक चीज में, विज्ञान के हरेक क्षेत्र में, श्रेष्ठ बन रहा था; और यह तुम जानती ही हो कि योरप की महानता की बुनियाद विज्ञान रहा है।

मै यहाँ एक दूसरे नाम का भी जिक्र करना चाहता हूँ। यह सर मुहम्मद इक-बाल का नाम है। यह उर्दू और खासकर फारसी के बड़े प्रतिभाशाली कवि है। इन्होने राष्ट्रीयता पर कई सुन्दर कवितायें लिखी है। बदकिस्मती से इन्होने हाल में कविता लिखना छोड़ दिया और दूसरे काम में लगे हुए है।

महायुद्ध के पहले हिन्दुस्तान राजनैतिक दृष्टि से शान्त था; लेकिन एक दूर देश में हिन्दुस्तान की इज्जत के लिए एक वीरतापूर्ण और असाधारण लड़ाई हुई। दक्षिण अफ्रीका में हिन्दुस्तानी मजदूरो की काफी तादाद थी और कुछ व्यापारी भी वहाँ जाकर बस गये थे। इन लोगो के साथ सैकडों तरीको से बुरा बर्त्ताव किया जाता था और इनकी बेइज्जती की जाती थी, क्योकि उस देश में क़ौमी गुरूर बहुत बढ़ा-चढ़ा था। इत्तफाक से एक नौजवान हिन्दुस्तानी बैरिस्टर एक मुकदमे की पैरवी के लिए दक्षिण अफरीका गया। उसने अपने देशवासियो की हालत देखी तो वह बहुत अप-मानित और दुखित हुआ। उसने दृढ़ निश्चय कर लिया कि इनकी मदद के लिए जो कुछ हो सकेगा वह करूँगा। वर्षो तक वह बहुत खामोशी के साथ काम करता रहा। उसने अपनी जायदाद और कारोबार छोड़ दिया और जिस काम को उसने अपने हाथ में लिया था उसीमें अपनेको पूरे तौर से लगा दिया। यह व्यक्ति मोहनदास करमचन्द गांधी था। आज हिन्दुस्तान का बच्चा-बच्चा इसे जानता है और याद करता है; लेकिन उस वक्त दक्षिण अफरीका के बाहर इसे कोई नहीं जानता था। मगर एकदम से इसका नाम सारे हिन्दुस्तान में बिजली की तरह फैल गया। लोग इसके बारे में और

गुलाम होकर गये थे। इनडेंचर एक दस्तावेज होता था, जिसमें इन मजदूरों के साथ की हुई शर्तें लिखी रहती थीं, जिनके मुताबिक ये लोग अपने मालिकों के गुलाम हो जाते थे। इनडेंचर की इस प्रथा से पैदा होनेवाली अनेक भयकर घटनाओ का हाल हिन्दुस्तान में आने लगा, खासकर फिजी से। इसपर हिन्दुस्तान में आन्दोलन शुरू हुआ और यह प्रथा तोड दी गई।

इतनी बात तो हुई किसानों-मजदूरों की और उन लोगो की जो विदेश में मजदूरी करने के लिए जाते थे। इनके अलावा इस देश की गरीब मूक और बहुत दिनों से कष्ट सहनेवाली जनता थी। बोलने-चालनेवाला वर्ग असल में नया मध्यम वर्ग था, जो अंग्रेजों के सम्पर्क से पैदा हुआ था लेकिन जिसने उनपर आक्षेप करना शुरू कर दिया था। यह वर्ग तरक्की करने लगा और इसीके साथ-साथ राष्ट्रीय आन्दोलन भी बढा। तुम्हें याद होगा कि यह राष्ट्रीय आन्दोलन १९०७–८ में बहुत जबरदस्त हो गया था। उस वक्त एक सार्वजनिक आन्दोलन ने बगाल को हिला दिया और हमारी काग्रेस दो दलों यानी गरम दल और नरम दल में बँट गई। अग्रेजो ने अपनी वही पुरानी नीति बरती। नरम दल को छोटे-मोटे सुधार देकर अपनेमें मिलाने की कोशिश की और गरम दल को पस्त कर देना चाहा। इसी समय एक नई बात सामने आई। अल्पसंख्यक होने की हैसियत से मुसलमानो ने अलहदा और विशेष राजनैतिक अधिकारों का दावा किया। यह सभी अच्छी तरह से जानते है कि सरकार ने मुसलमानों की इस मांग को प्रोत्साहन दिया, ताकि हिन्दुस्तान में फूट होजाय और राष्ट्रीयता की बाढ रुक जाय।

उस वक्त ब्रिटिश सरकार अपनी नीति में कामयाब हुई। लोकमान्य तिलक जेल में थे और उनका दल दबाया जा चुका था। नरम दल के लोगों ने शासन में मन्द सुधारों को, जिनसे हिन्दुस्तानियो के हाथों में कुछ ताकत नहीं आती थी, मजूर करके प्रेमपूर्वक उनका स्वागत किया। इन सुधारों को उस समय के वाइसराय और सेक्रेटरी आफ स्टेट यानी भारत-सचिव के नाम पर 'मिण्टो-मार्ले सुधार' कहते हैं। थोडे दिनों के बाद बग-भग मसूख कर दिया गया। इनसे बंगालियो का गुस्सा कुछ ठण्डा पड गया। १९०७ के बाद राजनैतिक आन्दोलन बडे आदमियो के छुट्टी के वक्त का खेल था, जो अपने कमरे में कुर्सी पर बैठे-बैठे बाते बनाया करते थे। इस कारण १९१४ में, जब लडाई शुरू हुई, इस देश में कोई क्रियात्मक राजनैतिक जीवन नहीं था। काग्रेस में सिर्फ नरम दल के आदमी थे, जो साल में एक दफा इकट्ठा होकर चन्द कागजी प्रस्ताव पास कर दिया करते थे और फिर कुछ नहीं करते थे। राष्ट्रीयता का पारा बहुत नीचे आगया था।

पड़ा, क्योंकि ये लोग तुर्की के सुलतान को खलीफा यानी धर्म का प्रमुख नेता मानते थे। उस जमाने में अखिल इस्लामवाद की कुछ चर्चा चली थी। इसे तुर्की के सुलतान अब्दुल-हमीद ने शुरू किया था। १९१२-१३ के बालकन युद्ध ने हिन्दुस्तान के मुसलमानों में और भी ज्यादा हलचल पैदा करदी और अपने सद्भाव और मित्रता को जाहिर करने के लिए डाक्टरों का एक दल, जिसे 'रेड क्रिसेंट मिशन' कहा गया है, हिन्दुस्तान से तुर्की के जख्मी लोगो को मदद देने के लिए रवाना हुआ। हमारे सच्चे मित्र डाक्टर एम० ए० अन्सारी इस मिशन के नेता थे।

इसके बाद ही महायुद्ध शुरू हुआ और तुर्की उसमें फँसकर इंगलैण्ड का दुश्मन बन गया। लेकिन यह चर्चा हमें युद्ध-काल तक पहुँचा देती है, इसलिए मुझे अब यही रुक जाना चाहिए।

: १४८ :

युद्ध : १९१४-१९१८

३१ मार्च, १९३३

मै इस युद्ध के बारे में तुम्हे क्या लिखूँ, जिसे ससार-युद्ध या महायुद्ध कहा गया है और जो ४ वर्ष तक योरप, एशिया और अफरीका के कुछ हिस्सो को बरबाद करता रहा और जिसने लाखों जवानो का उठती जवानी में ही काम तमाम कर दिया। युद्ध का विषय ऐसा नही है कि उसपर खुशी के साथ विचार किया जा सके। यह बडी दुःखद चीज है। लेकिन अकसर इसकी तारीफ की जाती है और इसके गुण गाये जाते हैं। कहा जाता है कि जैसे आग सोने-चाँदी को खरा कर देती है वैसे ही युद्ध आलसी कौमो को, जो बहुत ज्यादा आराम और विलासिता की वजह से नाजुक और दूषित हो जाती है, मजबूत और खरा कर देता है। हमारे सामने बहादुरी और त्याग की बडी-बडी मिसालें पेश की जाती है, मानो युद्ध ही की वजह से ये सद्गुण पैदा होते हे !

मैंने तुम्हारे साथ इस युद्ध के कुछ कारणो पर विचार किया है और बताया है कि पूँजीवादी औद्योगिक देशो की और साम्राज्य-शक्तियो की प्रतिद्वन्द्विता किस तरह टक्कर खागई और संघर्ष किस तरह अनिवार्य होगया। इन सारे देशो के उद्योगो के प्रमुख लोग किस तरह शोषण करनें के लिए ज्यादा-से-ज्यादा क्षेत्र और मौका चाहते थे। बडे-बडे साहूकार किस तरह रुपया कमाने की फिक्र में थे और हथियारो के बनानेवाले किस प्रकार ज्यादा मुनाफा चाहते थे। इसलिए ये लोग लड़ाई के लिए कूद पडे और इनके हुक्म पर और इनके तथा प्रतिनिधि बुजुर्ग राजनीतिज्ञो के हुक्म

इसकी बहादुराना लडाई के बारे में आश्चर्य, प्रशसा और अभिमान के साथ चर्चा करने लगे। दक्षिण अफरीका की सरकार ने वहाके रहनेवाले हिन्दुस्तानियो को और भी ज्यादा अपमानित करने की कोशिश की और बापू के नेतृत्व में जो आन्दोलन चला उसके सामने सरकार ने झुकने से इनकार किया। बडे ताज्जुब की बात थी कि गरीब, पद-दलित, जाहिल मजदूरो की एक जमात और छोटे-छोटे व्यापारियो का समुदाय, जो अपनी मातृभूमि से इतनी दूर हो, इस किस्म का बहादुरी का तर्जेअमल इख्तियार करे। इसमे भी ज्यादा आश्चर्य की बात यह थी कि इस लडाई में जिस राजनैतिक शस्त्र का इन्होने इस्तेमाल शुरू किया, वह ससार के इतिहास में अनोखा था। हमने अब तो इसके बारे में बहुत काफी सुन लिया है। यह शस्त्र था बापू का सत्याग्रह। इसको अक्सर निष्क्रिय प्रतिरोध भी कहते है, लेकिन यह गलत तर्जुमा है, क्योंकि सत्याग्रह में काफी कर्मण्यता पाई जाती है। सत्याग्रह में सिर्फ अविरोध ही नहीं है। अहिंसा इसका मुख्य अग है। बापू ने इस अहिंसापूर्ण सग्राम से हिन्दुस्तान और दक्षिण अफरीका में खलबली मचा दी और जब हिन्दुस्तान के लोगो ने सुना कि उनके हजारो देशवासी, स्त्री और पुरुष, दक्षिण अफरीका में खुशी-खुशी जेल गये, तो अभिमान और आनन्द से उनका हृदय गद्गद् होगया। हम अपने देश में अपनी असहायता और दासता पर मन-ही-मन लज्जित होने लगे और अपने देशवासियो के वीरतापूर्ण सघर्ष के इस उदाहरण ने हमारे आत्माभिमान को बढा दिया। इस मसले पर हिन्दुस्तान एकदम से राजनैतिक दृष्टि से जग पडा। दक्षिण अफ़रीका को रुपया तेजी के साथ भेजा जाने लगा। जब बापू और दक्षिण अफ़रीका की सरकार का समझौता होगया, यह लडाई रुक गई। यद्यपि हिन्दुस्तानियो की उस समय यह एक असदिग्ध विजय थी, फिर भी कितनी ही बन्दिशें हिन्दुस्तानियो पर अभीतक लगी हुई है और कहते है कि दक्षिण अफ़रीका की सरकार ने समझौते की शर्तों का पूरा-पूरा पालन नहीं किया। प्रवासी भारतीयो का सवाल अभीतक हल नहीं हुआ, और जबतक हिन्दुस्तान आजाद नहीं हो जाता, तबतक हल होगा भी नहीं। भला हिन्दुस्तानियो को दूसरे देशो में इज्जत कैसे मिल सकती है, जबकि अपने ही देश में उन्हे वह हासिल नहीं है? और जबतक अपने ही देश में आजादी हासिल करने में हमें कामयाबी नहीं मिलती, हम प्रवासी भारतीयो को कैसे मदद पहुँचा सकते है?

युद्ध से पहले के वर्षों में हिन्दुस्तान की यह हालत थी। १९११ में जब इटली ने तुर्की पर हमला किया तो हिन्दुस्तान में तुर्की के लिए बहुत हमदर्दी पैदा होगई, क्योंकि तुर्की को लोग एशियाई और पूर्वी शक्ति समझते थे और इस हैसियत से सारे हिन्दुस्तानियो की उसके साथ हमदर्दी थी। हिन्दुस्तानी मुसलमानो पर इसका खास असर

आदमी, जो शान्त लोग समझे जाते हैं, औरो की तरह ही खून के प्यासे थे, बल्कि उन लोगो से भी ज्यादा। शान्तिवादी और साम्यवादी भी अपनी बुद्धि खो बैठे और अपने उसूल भूल गये। सभी भूल गये, लेकिन कुछ ऐसे भी थे जो नहीं भूले। हरेक देश में बहुत छोटी तादाद ऐसे आदमियो की भी थी जिन्होने पागल बनने से इन्कार कर दिया और युद्ध का बुखार अपने ऊपर चढ़ने नही दिया। लोग इनपर हँसते थे और इनको बुज़-दिल कहते थे; और बहुतसे तो ऐसे थे जिन्हे जेलखाने भेज दिया गया, क्योंकि उन्होने लड़ाई में काम करने से इनकार कर दिया था। इनमें से कुछ साम्यवादी थे, और कुछ मजहबी लोग थे, जैसे क्वेकर लोग जो लड़ाई को धार्मिक दृष्टि से बुरा समझते है। यह सच कहा गया है कि आजकल जब लड़ाई छिड़ती है, तो उसमें फँसे हुए आदमी पागल हो जाते है।

ज्यो ही लड़ाई शुरू हुई, अनेक देशो की सरकारो ने सचाई छिपाने के लिए और तरह-तरह की झूठी बाते फैलाने के लिए लड़ाई को बहाना बना लिया। लोगो की व्यक्तिगत आजादी भी दबा दी गई। दूसरी तरफ़ की बात तो बिलकुल ही नही बताई जाती थी, जिससे लोगो को सिर्फ किस्से का एक ही पहलू मालूम होता था और वह भी बहुत-कुछ बिगाड़कर बताया जाता था और अकसर तो बिलकुल झूठी बाते कही जाती थी। इस तरीके से लोगो को बेवकूफ बनाना मुश्किल नही था।

शान्ति के जमाने मे भी संकीर्ण राष्ट्रीय प्रचार और अखबारो की मन-गढ़न्त बाते जनता को बेवकूफ़ बनाती रही थी और उन्होने लड़ाई के लिए जमीन तैयार कर-दी थी। युद्ध को खुद ही बडी आराधना की चीज बताया गया था। जर्मनी में, या यों कहो प्रशा में, युद्ध की तारीफ करना कैसर से लेकर नीचे तक जितने शासक थे उन सभी का परम-कर्तव्य बन गया था। युद्ध को उचित साबित करने के लिए विद्वत्तापूर्ण किताबें लिखी गई थीं और इस बात को साबित किया गया था कि युद्ध इनसान की जिन्दगी और तरक्की के लिए जरूरी है। कैसर की बहुत शोहरत होगई, क्योंकि वह हमेशा भोडे तरीके से शेखी बघारा करता था। लेकिन इग्लैण्ड में और दूसरे देशो में भी सैनिक ओर ऊँचे वर्ग के लोगों मे इसी किस्म के खयाल पाये जाते थे। रस्किन इग्लैण्ड का उन्नीसवी सदी का एक मशहूर लेखक हुआ है। उसकी किताबें बापू को बहुत पसन्द है और उसकी कुछ किताबें तुमने भी पढ़ी होगी। असदिग्ध रूप से शुद्ध हृदय के इस आदमी ने अपनी एक किताब में लिखा है :—

"सक्षेप मे बात यह है कि मै देखता हूँ, सब बडी-बड़ी कौमो ने अपने शब्दो की सचाई और अपने विचारो की मजबूती युद्ध से सीखी और शान्ति मे उसे खो दिया। युद्ध ने शिक्षा दी, शान्ति ने धोखा दिया। एक शब्द मे यह कह सकते है कि बड़ी-बड़ी कौमे युद्ध से पैदा होती है और शान्ति मे मर जाती है।"

पर राष्ट्रो के नौजवान एक-दूसरे का गला काटने के लिए आगे आगये । इन नौजवानो की बहुत बडी तादाद और इन सारे देशो की साधारण जनता इस बात को बिलकुल नहीं जानती थी कि युद्ध के क्या कारण है ! असल में इस युद्ध से इनका कोई ताल्लुक़ नही था—चाहे सफलता होती या असफलता, हर हालत में इनका नुकसान ही था । यह अमीर आदमियो का जुआ था, जो उन्होने लोगो की और खासकर नौजवानो की ज़िन्दगी को दाव पर रखकर खेला था । लेकिन जबतक साधारण जनता लडने के लिए तैयार न हो, लडाई हो ही नही सकती । यूरोपिय महाद्वीप के सारे देशो में, जैसा कि मैंने तुमको बताया है, अनिवार्य सैनिक भरती की प्रणाली नहीं पाई जाती थी । इस क़िस्म की भरती तो बाद को लड़ाई के ज़माने में शुरू हुई । लेकिन ज़बरदस्ती से क्या होता है ? ऐसी हालत में अगर लोग दिल से लड़ने को तैयार न हो तो उन्हे कोई ज़बरदस्ती नही लड़वा सकता ।

इसलिए जितने राष्ट्र लडाई में शामिल हुए थे, सभी में इस बात की कोशिश की गई कि जनता के देश-प्रेम और उत्साह को भड़काया जाय । हरेक पक्ष दूसरे पक्ष को ज़ालिम कहता था और इस बात का बहाना करता था कि हम आत्म-रक्षा के लिए युद्ध कर रहे है । जर्मनी कहता था कि उसके चारो तरफ दुश्मनो की जंजीर बिछी हुई है और ये दुश्मन उसका गला घोट देना चाहते है । वह रूस और फ्रांस पर इस बात का इलज़ाम लगाता था कि इन्होने उसके ऊपर हमला करके लड़ाई की शुरुआत करदी । इंग्लैण्ड यह वजह बताता था कि नन्हे-से बेलजियम की तटस्थता को जर्मनी वालो ने अन्यायपूर्वक तोड डाला, इसलिए नीति की दृष्टि से बेलजियम की रक्षा होनी चाहिए । सारे देश, जो इस लडाई में शामिल थे, अपनेको दूध का धुला बतलाते थे और सारा दोष दुश्मन के ऊपर डालते थे । हरेक राष्ट्र के लोगो को इस बात का यकीन दिला दिया गया था कि उनकी आज़ादी खतरे में है और उसकी रक्षा के लिए उन्हे युद्ध करना ज़रूरी है । हर जगह युद्ध का वातावरण पैदा करने में अखबारो ने खासतौर से मदद दी, जिसका मतलब यह हुआ कि शत्रु देश के रहनेवालो के बारे में लोगो के दिलो में सख्त नफरत पैदा करदी ।

पागलपन की यह लहर इतनी मज़बूत थी कि जो चीज़ इसके सामने पडी वही बह गई । जनता के रोश को भीड़ के अन्दर उत्तेजित कर देना आसान काम था, लेकिन समझने-बूझनेवाले आदमी, स्त्री और पुरुष, जिनके बारे में यह कहा जा सकता है कि शान्त और गम्भीर मिज़ाज के थे, युद्ध में फँसे हुए देशो के लेखक, विचारक, प्रोफ़ेसर, वैज्ञानिक, सभी चक्कर में फँस गये और दुश्मन-देश के निवासियो से नफरत करने लगे और उनके खून के प्यासे होगये । पादरी लोग और मजहबी

जुमलों को देशभक्ति के साथ इस्तेमाल करके नौजवान आदमियों को लड़ाई की भट्टी में कूदने के लिए प्रेरित करते थे, बेहद मुनाफा कमा रहे थे और करोड़पति होते जाते थे।

ज्यों-ज्यो लड़ाई महीने-पर-महीने और साल-पर-साल बढ़ती गई, और-और देश इसके अन्दर फँसते गये। गुप्त रूप से रिश्वतें पेश करके तटस्थ देशो को अपनी तरफ मिलाने की कोशिश दोनो ही तरफ के लोग करते थे। अगर ये रिश्वतें खुल्लम-खुल्ला पेश की गई होती तो वे ऊँचे आदर्श और नफीस जुमले, जिनको मकान की छतों पर से चिल्लाया जाता था, ख़त्म होगये होते। इंग्लैण्ड और फ़्रान्स की रिश्वत देने की ताकत जर्मनी से ज्यादा थी, इसलिए तटस्थ, लोग जो लड़ाई में शामिल हुए। ज्यादातर अंग्रेज, फ़्रान्सीसी और रूसियो की तरफ आये। जर्मनी के पुराने मददगार इटली को मित्र-राष्ट्रो ने, एक गुप्त सन्धि करके और उसमें यह वादा करके कि इटली को एशियामाइनर में और दूसरी जगहो पर उपनिवेश दिये जायँगे, अपनी तरफ मिला लिया। रूस के साथ भी एक गुप्त सन्धि हुई थी, जिसमें उसे कुस्तुनतुनिया देने का वादा किया गया था। दुनिया को आपस में बाँटने का यह काम बहुत ही रोचक और दिलचस्प था। ये गुप्त समझौते मित्र-राष्ट्रो के राजनीतिज्ञो के सार्वजनिक वक्तव्यो के बिलकुल ख़िलाफ जाते थे और शायद इन समझौतों के बारे में किसीको पता भी न चलता, अगर रूसी बोलशेविको ने अधिकार पाने पर इनको प्रकाशित न कर दिया होता।

अख़ीर में मित्र-राष्ट्रों की तरफ़ एक दर्जन या इससे ज्यादा देश आगये थे। सक्षेप के लिए मै अग्रेज़-फ़्रांसीसी पक्ष को मित्र-पक्ष कहूँगा। मित्र-पक्ष में ब्रिटेन था, उसका साम्राज्य था और इसके अलावा फ़्रांस, रूस, इटली, अमेरिका, बेलजियम, सर्विया, जापान, चीन, रूमानिया, यूनान और पुर्तगाल थे। मुमकिन है कि एक या दो और रहे हो, जिनका नाम मुझे याद नहीं। जर्मन-पक्ष में जर्मनी, आस्ट्रिया, तुर्की और बलगेरिया थे। अमेरिका तीसरे वर्ष लड़ाई में शामिल हुआ। अगर हम इन बातो का ख़याल न भी करे तो भी जाहिर है कि मित्र-पक्ष के साधन जर्मन पक्ष से कहीं ज्यादा थे। इसके पास आदमी ज्यादा थे, पैसे ज्यादा थे, अस्त्र-शस्त्र और युद्ध-सामग्री बनाने के कार-खाने ज्यादा थे, और सबसे बडी बात तो यह थी कि समुद्रो के ऊपर इन लोगो का अधिकार था जिसकी वजह से तटस्थ देशो की सामग्री से ये आसानी के साथ फ़ायदा उठा सकते थे। मित्र-पक्ष अमेरिका से युद्ध-सामग्री और खाने-पीने का सामान ले सकता था और पैसा भी उधार ले सकता था, क्योंकि समुद्र की ताकत उसके हाथ में थी। जर्मनी और उसके मित्र चारो तरफ दुश्मनो से घिरे और जकडे हुए थे। जर्मनी के सहायक देश कमजोर थे और उसकी ज्यादा मदद नहीं कर

इन बात को बताने के लिए कि रस्किन कितना साफ साम्राज्यवादी था, उसकी किताब मे मैं एक दूसरा उद्धरण तुम्हारे सामने रक्खूंगा :—

"इंग्लैण्ड को यही बात करनी चाहिए, नही तो वह नष्ट होजायगा। उसे उपनिवेश बनाना चाहिए और जहाँ कहीं भी उसे जमीन का ऐसा वीरान हिस्सा मिले, जिसमे उपज हो सकती है, उसपर कब्जा कर लेना चाहिए और उसे अपने उपनिवेशियों को यह बताना चाहिए कि समुद्री या खुश्की किसी जरिये से इंग्लैण्ड की ताकत को बढाना उनका पहला उद्देश्य है"

मैं एक दूसरा उद्धरण और देता हूँ। यह एक अंग्रेज अफसर की किताब से लिया गया है, जो ब्रिटिश सेना में मेजर जनरल होगया था। वह कहता है कि युद्ध में विजय उस वक्त तक बिलकुल नामुमकिन है जबतक कि "जानबूझकर झूठ न बोला जाय, झुठाई के काम न किये जायँ और बातो को गोलमोल ढंग से और घुमा-फिराकर न बताया जाय।" उसके कथनानुसार कोई भी नागरिक, जो "इन साधनो पर अमल करने से इनकार करता है, अपने साथियो, अपने मातहतो और अपने देश के प्रति जान-बूझकर दगा करता है और इसके अलावा उसके लिए कुछ और नहीं कह सकते कि वह अत्यन्त घृणा-योग्य और बुजदिल है। बडी कौमो के सामने नीति-अनीति क्या चीज है, जबकि उनकी जिन्दगी खतरे में पडी हो? हरेक कौम को चाहिए कि जबतक दुश्मन मर न जाय।" वह आघात पर आघात करती रहे, मुझे मालूम नहीं कि इन सब बातों के बारे में रस्किन क्या कहता। लेकिन यह न समझना कि यह अंग्रेजी मन का कोई ठीक नमूना है, या यह कि कैसर की लम्बी-चौडी स्पीचें साधारण जर्मनी की मनोदशा जाहिर करती थीं। लेकिन बदकिस्मती की बात तो यह है कि जो इस किस्म का विचार रखते है, अकसर उन्हीं के हाथ में अधिकार होता है और लड़ाई के जमाने में वही आदमी सामने आजाते है।

आम तौर पर ऐसी साफ-साफ बाते जनता के सामने नहीं कही जातीं और युद्ध के ऊपर एक मजहबी गिलाफ चढ़ा दिया जाता है। इसलिए जब एक तरफ योरप में और दूसरी जगहो पर सैकडो मील तक युद्ध के मोरचे में बेतहाशा कत्ल जारी था, उस कत्ल को उचित साबित करने के लिए और लोगो को धोखे में रखने के लिए घर पर बडे सुन्दर और मधुर वाक्य बनाये जा रहे थे। कहा जाता था कि यह युद्ध आत्म-सम्मान और आजादी की रक्षा के लिए लड़ा जा रहा है; युद्ध खत्म करने के लिए यह लड़ा जा रहा है, और लोकतंत्र को सुरक्षित रखने के लिए, आत्मनिर्णय के लिए, छोटी कौमों कीआजादी के लिए यह लड़ाई लडी जा रही है। इसी दरमियान बहुत-से साहूकार और व्यवसायी और युद्ध-सामग्री बनानेवाले, जो घर पर बैठे रहते थे और इन नफ़ीस

लूवेन की यूनिवर्सिटी और पुस्तकालय की तबाही। लेकिन ज्यादातर ये किस्से बिलकुल मनगढ़न्त हुआ करते थे। एक आश्चर्यजनक किस्सा यह कहा जाता था कि जर्मन लोगो ने लाशो का एक कारखाना खोल रक्खा है। दुश्मन देशो की जनता के प्रति हरेक देश में इतनी घृणा थी कि वह सब बातो पर यकीन करने को तैयार था।

तुम्हे ब्रिटिश प्रचार के विस्तार और पैमाने का कुछ अन्दाजा इस बात से लग सकता है कि अमेरिका में ब्रिटिश वार मिशन यानी युद्ध-प्रचार-विभाग में ५०० अफसर और दस हजार आदमी काम करते थे। यह तो सरकारी इन्तजाम था। इसके अलावा गैर-सरकारी काम बेहद होता था। इस प्रचार-कार्य के लिए उचित और अनुचित सब किस्म के तरीके काम में लाये जाते थे। स्वीडन के स्टाकहाल्म में अग्रेजों ने सरकारी तौर पर एक अग्रेज सगीतालय खोल रक्खा था, जिसमें ये लोग लोगो का तरह-तरह से मनोरजन कराया करते थे, ताकि स्वीडन के बाशिन्दो की सद्भावना इनकी तरफ होजाय। इस प्रचार ने और जर्मनो की पनडुब्बी की कार्रवाइयो नें, जिसके बारे में मै बाद को कुछ बताऊँगा, अमेरिका को मित्र-दल के पक्ष मे आने में बडी मदद दी। लेकिन तसफिया करनेवाली बात तो पैसे की थी।

लड़ाई बडी खर्चीली चीज है। यह भयकर रूप से खर्चीला व्यापार है। लड़ाई में बहुमूल्य सामान की विशाल मात्रा लग जाती है और उसके बदले सिर्फ बरबादी मिलती है। दौलत पैदा करने के ज्यादातर काम इसकी वजह से रुक जाते हैं और लोगो की सारी ताकत तबाही और बरबादी के लिए जमा होजाती है। इतना सारा धन कहाँसे आता था? पहली बात तो यह है कि मित्र-पक्ष मे इग्लैण्ड और फ्रांस ही ऐसे देश थे जिनकी माली हालत अच्छी कही जा सकती थी। यही नही कि ये अपनी लड़ाई का सारा खर्चा बरदाश्त करते रहे हो बल्कि अपने मददगारो को भी धन और युद्ध-सामग्री उधार देकर उनकी मदद करते थे। कुछ दिनो के बाद पेरिस बोल गया। उसके आर्थिक साधन खत्म होगये। इसके बाद लन्दन ने अकेले सारे मित्र-पक्ष को धन से मदद देनी शुरू की। लड़ाई के दूसरे साल के खत्म होने तक लन्दन भी बोल गया। इसलिए १९१६ के अन्त में फ्रांस और इंग्लैण्ड दोनो की साख खत्म हो चुकी थी। इसपर अग्रेजो की एक मण्डली, जिसमे उनके बडे-बडे राजनीतिज्ञ शामिल थे, आर्थिक सहायता माँगने के लिए अमेरिका गई। अमेरिका उधार देने के लिए राजी होगया और उसके बाद से अमेरिका के पैसे से मित्र-पक्ष की लड़ाई जारी रही। मित्र-पक्ष के ऊपर अमेरिका का कर्जा दिन दूना और रात चौगुना होने लगा और बढ़कर विस्मय-जनक संख्या तक पहुँच गया। ज्यों-ज्यो कर्ज बढ़ा, अमेरिका के बडे-बडे बैंक और साहूकार, जिन्होंने उधार दिया था, मित्र-पक्ष की विजय के लिए अधिकाधिक उत्सुक

सकते थे। वे जर्मनी के ऊपर एक तरह का बोझ थे, जिसको खड़ा रखने के लिए उसे हमेशा टेका और सहारा लगाना पड़ता था। इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से जर्मनी दुनिया के अधिकाश हिस्से से अकेला लड रहा था। हरेक दृष्टि से यह संघर्ष बहुत ज्यादा असमान कहा जा सकता है, फिर भी जर्मनी चार वर्ष तक दुनिया के मुकाबिले में डटा रहा और विजय के नजदीक बराबर पहुँचता रहता था। हर साल विजय कभी इधर और कभी उधर आती हुई दिखाई देती थी। एक अकेले राष्ट्र की यह कोशिश आश्चर्यजनक थी, और सिर्फ इसलिए मुमकिन हो सकी कि जर्मनी ने शानदार सैनिक मशीन तैयार कर रक्खी थी। अखीर में जब जर्मनी और उसके साथी अन्तिम रूप से पराजित हो चुके थे, जर्मन सेना उस समय भी सगठित थी और उसका अधिकांश हिस्सा विदेशी जमीन पर था।

मित्र-पक्ष में लडाई का सबसे ज्यादा बोझ फ्रासीसी सेना पर पड़ा और फ्रांसीसी लोगो ने ही लाखो नौजवानो की जिन्दगी खोकर जर्मन सैनिक मशीन का मुकाबिला किया। इग्लैण्ड को बडी सहायता इस बात की थी कि उसके पास जल-सेना थी और सामुद्रिक शक्ति थी। कूटनीतिज्ञता और प्रचार में भी उसने मदद दी। जर्मनी को अपनी सेना पर अभिमान था और वह तटस्थ देशो से व्यवहार करने में और प्रचार के तरीको में बहुत ही ज्यादा अनगढ़ साबित हुआ। इसमें जरा भी शक नहीं कि लडाई के जमाने में इंग्लैंड ने गलत बातो के प्रचार की कुशलता और काबलियत तथा झुठाई में दुनिया को मात कर दिया। रूस, इटली और दूसरे सहायक देशो ने इसके मुकाबिले में बहुत मामूली हिस्सा लिया और लड़ाई के मामलात में उनके कारनामें बहुत उल्लेखनीय नही रहे। फिर भी रूस को सारे देशो से ज्यादा नुकसान हुआ। अमेरिका अन्त में लड़ाई में शामिल हुआ और उसके आने की वजह से ही जर्मन लोग अन्तिम तौर पर पस्त होगये।

लड़ाई के शुरू महीनो में अमेरिका और इंग्लैण्ड में बहुत खिचाव था, और इस बात का कभी-कभी जिक्र होजाता था कि इनमें लड़ाई होजायगी। खिचाव की वजह यह थी कि इग्लैण्ड अमेरिका के सामुद्रिक व्यापार में दस्तन्दाजी करता था, क्योंकि उसे शक था कि अमेरिका के जहाज जर्मनी को माल पहुँचाते हैं। इसपर ब्रिटिश प्रचार-विभाग ने काम करना शुरू किया और अमेरिका को अपनी तरफ़ मिला लेने की खास कोशिश की। पहली बात जो इन लोगो ने हाथ में ली, वह जर्मनो के अत्याचारो के बारे में प्रचार था। जर्मन सेना ने बेलजियम में क्या किया, इसकी भयकर कहानियाँ बना-बनाकर फैलाई गईं। इसका नाम रक्खा गया था जर्मन हूणो की भीषणता। इन किस्सो में कुछ ऐसे भी थे जो अशत. घटनाओ पर निर्भर थे, जैसे

स्टीमरोलर (भाप से चलनेवाला बडा बेलनदार इजिन) के ऊपर बहुत आशायें बाँधी गई थी। यह कहा जाता था कि यह बेलन बेलते-बेलते बर्लिन पहुँचेगा। रूसी सिपाहियो के पास काफी अस्त्रशस्त्र नही थे और उनके अफसर बिलकुल नालायक थे, और उनके पीछे जार की बेईमान सरकार थी। एकाएक जर्मन लोग रूसियो पर टूट पडे और एक बहुत बडी रूसी सेना को पूर्वी प्रशा की झीलो और दलदलो में फँसाकर बरबाद कर दिया। इस बडी जर्मन विजय को 'टैननबर्ग की लडाई' कहते है; और इस विजय के साथ जिस खास सेनापति का नाम जुड़ गया है वह वान हिण्डनबर्ग[1] था, जो आजकल जर्मन लोकतत्र का राष्ट्रपति है।

यह बडी भारी विजय जरूर थी, लेकिन एक तरह से जर्मन फौजो का इससे बड़ा नुकसान हुआ। इस विजय को प्राप्त करने के लिए और इस बात से डरकर कि रूसी लोग पूर्व में कुछ बढ रहे है, जर्मनो ने अपनी कुछ फौज फ्रास से हटाकर रूस की तरफ भेज दी। इसकी वजह से पश्चिमी मोर्चे पर उनका जोर कुछ कम होगया और फ्रांसीसी फौज ने आगे बढ़नेवाले जर्मनो को पीछे हटा देने की जबरदस्त कोशिश की। सितम्बर १९१४ के शुरू में मार्न (Marne) की लड़ाई में उन्होने जर्मनो को पचास मील पीछे हटा दिया। पेरिस बच गया और फ्रांसीसियो और अंग्रेजो को साँस लेने का मौका मिल गया।

जर्मनो ने फिर आगे बढने की कोशिश की और वे करीब-करीब कामयाब हो चुके थे, लेकिन फिर रोक लिये गये। इसके बाद दोनो फ़ौजें अपनी-अपनी जगह पर डट गई और खन्दक खोदकर नये किस्म की लडाई (Trench warfaa·) शुरू हुई। एक किस्म की खिच-सी होगई थी। यह खन्दकी लड़ाई पश्चिमी मोर्चे पर तीन वर्ष से ज्यादा तक और करीब-करीब लड़ाई के खत्म होने तक जारी रही। बडी-बडी फौजें छछूंदर की तरह जमीन में बिल बनाकर रहती थीं और एक-दूसरे को बेदम करने की कोशिश करती थी। जर्मन और फ्रांसीसी सेनायें इस मोर्चे पर शुरू से ही लाखो की तादाद में रहीं,—और अग्रेजो की भी छोटी-मोटी फौज इस मोर्चे पर तेजी से तादाद में बढ़ती गई—यहाँतक कि इसकी भी तादाद लाखो तक पहुँच गई।

पूर्व के या रूसी मोर्चे पर इससे ज्यादा हलचल रही। रूसी फ़ौजे आस्ट्रियन लोगो को बार-बार शिकस्त देती थी, लेकिन जर्मनो से हमेशा हार जाया करती थीं। इस मोर्चे पर मरने और जख्मी होनेवालो की तादाद बहुत ही ज्यादा थी। यह न समझना कि पश्चिमी मोर्चे पर इस खन्दकी लड़ाई की वजह से कम आदमी काम आये। आदमियो की जिन्दगी के साथ आश्चर्यजनक लापरवाही से खेल खेला

१. अब इनकी मृत्यु हो चुकी है।

होते गये। उन्होंने सोचा कि अगर जर्मनी ने मित्र-पक्ष को हरा दिया तो वह बेशुमार रकम कैसे मिलेगी जिसे अमेरिका ने मित्र-पक्ष को उधार दे रक्खा है ? अमेरिका के महाजनों की जेब पर आ बनी और उन्होंने ऐसी हालत में जो मुनासिब समझा किया। इस बात का खयाल अमेरिका में बढ़ने लगा कि वह लड़ाई में मित्र-पक्ष का साथ दे और अन्त में अमेरिका ने साथ दिया।

आजकल हम अमेरिकन कर्ज के बारे में बहुत-कुछ सुनते हैं और अखबारों में भी इसकी खूब चर्चा रहती है। यह कर्ज, जो इंग्लैण्ड और फ्रान्स की गर्दन में चक्की की तरह लटका हुआ है और जिसे ये अब अदा नहीं कर सकते, लड़ाई के जमाने में लिया गया था। अगर यह रुपया उस वक्त न मिला होता तो इनकी साख बिलकुल जाती रहती और शायद अमेरिका इनका साथ भी न देता।

मैं अब यहाँ ठहर जाऊँगा। अगले खत में मैं तुम्हें यह बतलाऊँगा कि लड़ाई के दौरान में क्या हुआ और लड़ाई कैसे खत्म हुई।

: १४६ :

महायुद्ध की गति

१ अप्रैल, १९३३

जब अगस्त १९१४ के शुरू में लड़ाई आरम्भ हुई, सारी दुनिया फ्रांस की उत्तरी सरहद और बेलजियम की तरफ देखने लगी। जर्मन फौजें आगे बढ़ती जाती थीं और उनके रास्ते में जितनी रुकावटें पड़तीं उन सबको कुचलती जाती थीं। थोड़ी देर के लिए नन्हे-से बेलजियम ने इन्हें रोका, इसपर नाराज होकर इन लोगों ने आतंक पैदा करनेवाली हरकतों से बेलजियन लोगों को डराना चाहा। मित्र-पक्ष ने इन्हीं बातों के आधार पर अत्याचार की कहानियाँ बनाई थीं। जर्मन फौजें पेरिस की तरफ बढ़ीं; फ्रांस की सेना इनके सामने ठहर न सकी और छोटी-सी ब्रिटिश सेना हटाकर एक तरफ करदी गई। लड़ाई शुरू होने के एक महीने के अन्दर ही ऐसा मालूम होता था कि पेरिस की किस्मत का फैसला होगया। फ्रांसीसी सरकार अपने दफ्तरों और अपनी कीमती चीजों को दक्षिण में बोर्डियो को ले जाने की तैयारी करने लगी। कुछ जर्मनों ने समझा कि हमने लड़ाई जीत ली। अगस्त के अखीर में पश्चिमी मोर्चे यानी फ्रांसीसी मोर्चे पर यह हालत थी।

इसी बीच रूसी फौजें पूर्वी प्रशा पर हमला कर रही थीं। इस बात की कोशिश की गई कि जर्मनों का ध्यान पश्चिमी मोर्चे से हट जाय। फ्रांस और इंग्लैण्ड में रूसी

लिए उसने चीन को डरा-धमका कर तरह-तरह की फायदेमन्द रिआयतो और अधि-कारों को हासिल करने में अपना वक्त लगाया।

इटली ने कई महीने तक लड़ाई की गति देखी और यह समझने की कोशिश की कि कौन पक्ष जीतेगा। अखीर में उसने यह निश्चय किया कि जीतने की ज्यादा सम्भावना मित्र पक्ष की है। इसलिए उसने मित्र पक्ष की रिश्वतो को मंजूर कर लिया और एक गुप्त समझौता होगया। मई १९१५ में इटली बाकायदा लड़ाई मे, मित्र-पक्ष में, शामिल होगया। दो वर्ष तक इटैलियन और आस्ट्रियन एक दूसरे के सामनें डँटे रहे और कोई नतीजा न निकला। इसके बाद जर्मन लोग आस्ट्रियनो की मदद के लिए आ गये और इटैलियन इनके सामने पस्त हो गये। जर्मन और आस्ट्रि-यन मिलकर करीब-करीब वेनिस तक पहुँच गये।

अक्तूबर १९१५ में बलगेरिया जर्मनी से मिल गया। इसीके बाद ही आस्ट्रिया और जर्मनी की संयुक्त सेना नें बलगेरिया की मदद से सर्बिया को बिलकुल पस्त कर दिया। सर्बिया का राजा अपनी बची-खुची फौज लेकर अपनें देश से भागकर मित्र-पक्ष के जहाजो में जा छिपा और सर्बिया जर्मनो के कब्जे मे आगया।

रूमानिया नें बालकन की लड़ाई में जो रुख इख्तियार किया था उससे उसकी यह खास शोहरत हो गई थी कि वह हमेशा मौके से फायदा उठाने के घात में रहता है। दो वर्ष तक उसने महायुद्ध की गति देखी और आखिरकार अगस्त १९१६ में, यह मित्र-दल की तरफ आ गया। इसे बहुत जल्द ही इस काम की सजा मिल गई। जर्मन फौज इसके ऊपर टूट पडी और इसको दबोच लिया। रूमानिया भी आस्ट्रिया और जर्मनी की मातहती में आ गया।

इस तरह जर्मनी और आस्ट्रिया ने, जिन्हे मध्य यूरोपियन ताकतो के नाम से पुकारा जा रहा था, बेलजियम पर, उत्तर पूर्व में फ्रांस के एक हिस्से पर, पोलैण्ड, सर्बिया और रूमानिया पर कब्जा कर लिया। युद्ध के अनेक रंगमंचो पर भी इनकी विजय हुई थी। लेकिन लड़ाई का केन्द्र पश्चिमी मोर्चे और समुद्र पर था, और इन जगहों पर इनकी स्थिति में कोई प्रगति नही हो रही थी। इस मोर्चे पर प्रतिद्वन्द्वी फौजें मृत्यु की गोद में खेल रही थी यानी मरने-मारने के लिए गुथीं पडी थीं। समुद्र पर मित्र-पक्ष हावी था। लड़ाई की शुरूआत में कुछ जर्मन क्रूजर इधर-उधर फिरे थे और इन्होने मित्र-पक्ष के जहाजो की आमद-रफ्त में दखल भी दिया था। इनमें से एक मशहूर 'एमडन' भी था जिसने मदरास पर भी गोले बरसाये थे, लेकिन यह एक छोटी-सी बात थी। मित्रपक्ष समुद्री रास्तो पर हावी था, और इस घटना की वजह से उनकी इस स्थिति में कोई फर्क नही आया। समुद्र पर कब्जा रखने की वजह से

जाता था और दुश्मन के मजबूत मोर्चे पर हमला करने के लिए लाखों आदमी मौत के मुंह में जानबूझकर ढकेल दिये जाते थे और इसका कोई नतीजा नहीं निकलता था।

युद्ध के दूसरे अनेक रंगमंच भी थे। तुर्की ने स्वेज की नहर पर हमला करना चाहा, लेकिन पीछे हटा दिये गये। मिस्र, जैसा मैंने तुम्हे पहले बताया है, १९१४ के दिसम्बर में ब्रिटिश संरक्षकता में लेलिया गया था। फौरन ही ब्रिटेन ने वहाँकी नई व्यवस्थापक सभा को स्थगित कर दिया और जिन लोगो पर शक था उन्हे जेलखाने में भर दिया। राष्ट्रीय अखबार दबा दिये गये और पाँच आदमी से ज्यादा एक जगह इकट्ठा नहीं हो सकते थे। मिस्र की 'सेंसर प्रणाली' को लन्दन के टाइम्स ने 'बर्बर कठोरता से भरी हुई' बताया था। इस देश में सारी लड़ाई भर फौजी कानून जारी रहा।

ब्रिटेन ने तुर्की के जीर्ण-शीर्ण साम्राज्य के कई कमजोर हिस्सो पर हमला किया। पहले इराक पर और फिर फिलस्तीन और सीरिया पर। अरबस्तान में अंग्रेजो ने अरबो की राष्ट्रीय भावना से फायदा उठाया और धन और सामग्री की गहरी रिश्वत की मदद से तुर्की के खिलाफ अरबो में बगावत पैदा करदी। इस बगावत की जिम्मेदारी खासतौर से अरबस्तान में अंग्रेजो के एक प्रतिनिधि कर्नल टी० ई० लारेंस की थी। उस वक्त से इसके बारे में यह मशहूर होगया है कि यह एक रहस्य-पूर्ण यानी भेदो से भरा हुआ व्यक्ति है और एशिया के कितने ही आन्दोलनो के पीछे इसकी साजिश है।

लेकिन तुर्की के मर्मस्थल पर सीधा हमला १९१५ की फरवरी में शुरू हुआ, जबकि ब्रिटिश जल-सेना ने दर्रे दानियाल में घुसकर कुस्तुनतुनिया पर कब्जा करना चाहा। अगर इस बात में ये लोग कामयाब होगये होते, तो इन्होने लड़ाई में तुर्की का खात्मा ही नही कर दिया होता बल्कि पश्चिमी एशिया से जर्मन लोगो का असर भी खत्म कर देते। लेकिन ये नाकामयाब रहे। तुर्की ने बहादुरी से लड़ाई की और एक दिलचस्पी की काबिले गौर बात यह है कि इस लड़ाई में मुस्तफा कमाल-पाशा का बहुत बड़ा हाथ रहा। करीब सालभर तक अंग्रेजो ने गैलीपोली में यह कोशिश जारी रक्खी। बाद को बहुत नुकसान उठाकर ये वहाँसे हट गये।

पश्चिमी और पूर्वी अफरीका के जर्मन-उपनिवेशो पर भी मित्र-पक्ष ने हमला किया। ये उपनिवेश जर्मनी से बिलकुल अलग थे और इनको कोई मदद नही मिल सकती थी। धीरे-धीरे ये पस्त होगये। चीन में कियाउचाव के प्रदेश पर, जिसे जर्मनी ने चीन से हड़प लिया था, जापान ने आसानी से कब्जा कर लिया। जापान के सामने कोई रुकावट नहीं थी और सुदूर-पूर्व में कुछ लड़ाई का साज-बाज भी नही था। इस-

शुरू किया। टैंक बहुत बडी भयंकर मशीन होती है जो हर एक चीज पर रेंग सकती है। मोर्चो पर लाखों आदमी काम आये, और इनके पीछे देश के अन्दर औरते और बच्चे भूख और दरिद्रता की यातना में पिस गये। जर्मनी और आस्ट्रिया में खास तौर से, नाकेबन्दी की वजह से, लोग बुरी तरह भूखो मरने लगे। सहनशीलता की परीक्षा शुरू होगई। इस मुसीबतो की परीक्षा मे कौन पक्ष ज्यादा दिन तक कायम रह सकेगा, यही सवाल सामने आ गया। कौन सेना दूसरे को पहले थका देती है, क्या मित्र-पक्ष की नाकेबन्दी की वजह से जर्मन लोगो की हिम्मत टूट जायगी, क्या जर्मन पनडुब्बियो की कारगुजारियो से इंग्लैण्ड भूखो मरने लगेगा और उसका साहस और जीवट खतम हो जायगा? हरेक देश मे मुसीबत और बलिदान के बडे-बडे उदाहरण दिखाई पडे। लोग सोचने लगे कि क्या यह सारा भयंकर त्याग और कष्ट फिजूल जायगा? क्या हम उन लोगो के बलिदान को भूल जायँ जो मर गये और दुश्मन के सामने सर झुका दें? युद्ध के पहले के दिन बहुत दूर मालूम होने लगे; लड़ाई के कारण भी लोग भूल गये, सिर्फ एक चीज पुरुषो और स्त्रियो के दिमाग में रह गई थी—विजय और बदला लेने की ख्वाहिश।

प्रसिद्ध फ़्रेंच कवि एदमाँ रोस्ताँ ने लिखा था :—

Je ne veux que voir la victoire,
Ne me demandez pas "Apres"
Apres, je veux bien la nuit noire
Et le sommeil sous les cypres

अर्थात् "मै सिर्फ विजय देखना चाहता हूँ। उसके बाद क्या होगा, यह मुझसे न पूछो। बाद मे मै अँधेरी काली राते और सरो के वृक्षो के नीचे सोना पसद करूँगा।"

इस कवि की आशा ज्यो-की-त्यो पूरी हुई। विजय के तीन हफ़्ते के अन्दर वह मर गया।

जो लोग किसी सिद्धान्त के लिए शहीद हो चुके है उनका आह्वान बड़ा भयकर होता है। जिसके दिल में जरा-सा भी जोश है इस आह्वान के सामने कैसे रुक सकता है? लड़ाई के इन आखरी सालो में हर जगह अन्धकार का राज्य था। लड़ाई में शामिल देशो मे हरेक घर रंज और अफसोस में डूबा हुआ था। लोग थके हुए थे; उनकी आँखें खुल गई थी; लेकिन वे कर क्या सकते थे, सिवाय इसके कि झंडा ऊँचा रक्खें। एक ब्रिटिश अफसर मेजर मैकी की बनाई हुई इस प्रभावशाली कविता को पढ़ो

पहियो पर मोटी साकले होती है जिसके कारण यह ऊँची नीची जगहो पर भी चल सकती है।

मित्रपक्ष ने इस बात की कोशिश की कि मध्य-यूरोपीय शक्तियो को यानी जर्मन, आस्ट्रिया वगैरा को बाहरी दुनिया से खाने-पीने की सामग्री या दूसरी चीजें बिलकुल न मिले। इस रोक-थाम की वजह से जर्मनी और आस्ट्रिया के ऊपर बडा भयकर सकट आ पडा क्योंकि भोजन के पदार्थ मुश्किल से मिलने लगे और सारी आबादी भूखो मरने लगी।

इसके जवाब में जर्मनो ने पनडुब्बियो (सबमेरीनो) के जरिये से मित्रपक्ष के जहाजो को डुबोना शुरू किया। यह पनडुब्बी की लडाई इतनी कामयाब रही कि इग्लैण्ड में भी भोजन की चीजें बहुत कम पहुँचने लगीं और अकाल पड़ने का खतरा होगया। १९१५ के मई के महीने में एक जर्मन-पनडुब्बी ने लुसीटानिया नाम के एक एटलाटिक महासागर में चलने वाले विशाल अग्रेजी जहाज को डुबा दिया। बहुत से आदमी इसीमें डूब गये। बहुत से अमेरिकन भी इसमें डूबे और इसकी वजह से अमेरिका में बहुत नाराजी और गुस्सा पैदा हो गया।

जर्मनी ने इग्लैण्ड के ऊपर हवाई जहाज से भी हमला किया। चादनी रात मे बडे-बडे जेपलिन हवाई जहाज लन्दन के ऊपर और उन जगहो पर, जहा गोले-बारूद बनते थे, बम फेंकने आते थे। इसके बाद सामान्य हवाई जहाजो ने बम फेंकना शुरू किया। हवाई जहाज की भन्नाहट का सुना जाना, हवाई जहाजो पर गोला मारने वाली तोपो का दगना और लोगो का तहखानो में अपने बचाव के लिए भागकर घुसना लन्दन के लिए मामूली बात हो गई। शहरी (Civil) जनता पर इस तरह गोला बरसाने के कारण अग्रेजो में बहुत रोष पैदा हुआ और उनका यह रोष सही था, क्योंकि इन किस्म की गोलाबारी बडी भयकर चीज होती है। लेकिन जब अंग्रेजी हवाई जहाज हिन्दुस्तान के उत्तर-पश्चिम की सरहद पर या इराक में बम फेंकते है या उन शैतानी ईजाद को, जिसे देर से फूटने वाला बम कहते है, गिराते है, तो ब्रिटेन में जरा भी रोष पैदा नहीं होता। इसे ये लोग पुलिस का काम कहते है और शान्ति के जमाने में भी अकसर इसका प्रयोग करते रहते है।

इस तरह महीने-पर-महीने बीतते गये और लडाई चलती रही, और जिस तरह से जगल की आग टिड्डियो को भस्म करती है उसी तरह यह मनुष्यो का भस्म करती रही, और ज्यो-ज्यो दिन बीतते गये यह अधिक विनाशकारी और बर्बर होती गई। जर्मन लोगो ने जहरीली गैस से लडना शुरू किया और बहुत जल्द दोनो तरफ से जहरीली गैस इस्तेमाल होने लगी। बम फेंकने के लिए हवाई जहाजो का ज्यादा-से-ज्यादा इस्तेमाल होने लगा। और इसके बाद पहले-पहल अग्रेजो ने टैक[1] का इस्तेमाल

१ टैंक—लोहे की चादरो से ढकी, नव फौजी सामान से भरी मोटरगाडी जिसमे

अमेरिका के राष्ट्रपति उडरो विल्सन ने सुलह कराने की कोशिश की थी, लेकिन वह नाकामयाब रहे।

इस पर जर्मन-नेताओ ने यह निश्चय किया कि अपनी पनडुब्बी का युद्ध तेजी से चलावें और इस तरह से इंग्लैंड को भूखो मार कर उसको नीचा दिखा दें। इस खयाल से इन लोगो ने १९१७ की जनवरी में इस बात का ऐलान किया कि चन्द समुद्रो में वे तटस्थ जहाज भी डुबा देंगे। यह इसलिए किया गया था कि तटस्थ लोग इग्लैंड में खाने-पीने का सामान न पहुँचावे। इस ऐलान से अमेरिका बहुत नाराज हुआ। वह इस बात को बरदाश्त नही कर सकता था कि उसके जहाज इस तरह डुबो दिये जायँ। इसलिए लड़ाई में शामिल हो जाना उसके लिए अनिवार्य होगया। जर्मन-सरकार ने जब हरेक जहाज को पनडुब्बी से डुबाने का अपना निश्चय किया होगा, तब यह बात उसे जरूर मालूम रही होगी। शायद उसका यह खयाल रहा हो कि अब कोई दूसरा चारा नही और इस खतरे को उठाना ही पडेगा, या उसनें यह सोचा हो कि मित्र पक्ष को अमेरिकन पूँजीपति काफी धन दे ही रहे है। बहरहाल १९१७ की अप्रैल में अमेरिका ने लड़ाई की घोषणा कर दी और इसके मैदान में आजाने से जर्मनो की हार निश्चित होगई। अमेरिका के पास विस्तृत वसीले थे और जब दूसरी कौमें थक चुकी थी इससे एक नई स्थिति पैदा होगई।

अमेरिका के युद्ध मे शामिल होने के पहले एक दूसरी महत्वपूर्ण घटना हो चुकी थी। १५ मार्च १९१७ को रूस की पहली क्रान्ति के कारण जार को अपनी गद्दी छोडनी पडी थी। मै तुम्हे इस क्रान्ति के बारे में अलग लिखूंगा। मै तुम्हे यह बताना चाहता हूँ कि इस क्राति की वजह से युद्ध में बडा फरक पड़ गया। रूस जर्मन शक्तियो के खिलाफ बिलकुल नही लड़ सकता था और इसका मतलब यह होगया कि जर्मनी में पूर्वी मोर्चे पर लड़ने की चिन्ता जाती रही। वह अपनी पूर्वी फौजो का ज्यादातर हिस्सा अब पश्चिमी मोर्चे पर भेज सकता था और उन्हे अंग्रेज और फ्रासीसियो के खिलाफ लड़ा सकता था। एक दम से स्थिति जर्मनी के लिए बहुत अनुकूल होगई। अगर उसे रूस की क्रान्ति की खबर उसके होने के छ-सात हफ्ता पहले मालूम होगई होती तो कितना फरक पड़ गया होता! शायद तब पनडुब्बियो की लड़ाइयो को वह तेज न करता और अमेरिका तटस्थ रहता। रूस के युद्ध-क्षेत्र से बाहर रहनें पर और अमेरिका के तटस्थ होते हुए यह बहुत मुमकिन था कि जर्मनी अंग्रेजी और फ्रासीसी सेनाओ को कुचल डालता। फिर भी जर्मनो की ताकत पश्चिमी मोर्चे में बढ़ गई और जर्मन पनडुब्बियो नें मित्रपक्ष और तटस्थ देश के जहाजो को ज्यादा तादाद में नष्ट कर डाला।

रूस की क्रान्ति से जर्मनी को मदद मिल रही थी, फिर भी जर्मनी में अन्दरूनी

और इसकी कल्पना करो कि लड़ाई के उस अन्धकारमय और सकटपूर्ण जमाने में उसकी कौम के पुरुष और स्त्रियो के दिल पर, जिन्होने इसे पढ़ा होगा, क्या असर पड़ा होगा। याद रक्खो कि इसी किस्म की कवितायें कई भाषाओ और अनेक मुल्को मे लिखी गई थी—

We aie Dead Shoit days ago
We lived, felt down saw sunset glow,
Loved and were loved, and now we lie
In Flanders Fields

यानी—

"(आज) हम मुर्दा है। पर चन्द दिन पहले हम जीवित थे, उषा का अनुभव करते थे और सूर्यास्त की चमक को देखते थे। प्यार करते थे और प्यार किये जाते थे। और आज हम फ्लैण्डर्स की युद्धभूमि पर पडे हुए हैं। आज हम मुर्दा है।"

Take up out quarrel with the foe .
To you from failing hands we throw
The Toich, be yours to hold it high
If you bieak faith with us who die
We shall not sleep though Poppies grow
In Flanders Fields

"दुश्मन के साथ चलनेवाले हमारे इस युद्ध को अब तुम ग्रहण करो। हम अपने इन बेकाम हाथो से यह मशाल तुम्हे सौपते हैं। अब इसे ऊँचा और प्रज्वलित रखना तुम्हारा काम है। यदि तुमने हम मरने वालो के साथ विश्वास घात किया तो हम कभी सोयेंगे नही। (हमारी आत्मा को शान्ति न मिलेगी) चाहे फ्लैण्डर्स के मैदानो मे पपी के पौधे भले ही उग आवे।"

१९१६ के अन्त में मित्र-पक्ष कुछ मजबूत होता दिखाई दिया। इनके नये टैंको ने पश्चिमी मोर्चे पर उन्हे कुछ मजबूती दी थी। जेपलिन हवाई जहाज, जो इग्लैण्ड पर हमला करते थे टूटने लगे। जर्मन-पनडुब्बियो के होते हुए भी तटस्थ देशो के जहाजो पर काफी खाने का सामान इग्लैण्ड पहुँच जाता था। सन् १९१६ की मई में उत्तरी समुद्र में एक जहाजी युद्ध हुआ था। इसे जेटलैण्ड की लडाई कहते हैं। इस लड़ाई में कुल मिलाकर अग्रेजो को कामयाबी मिली। इधर जर्मनी की नाकेबन्दी से आस्ट्रिया और जर्मनी के लोग भूखो मरने लगे थे। ऐसा जान पडता था कि समय ही मध्य यूरोपीय शक्तियो के खिलाफ हैं और फुर्ती से कुछ कर दिखाने की जरूरत मालूम हुई। जर्मनी ने समझौते के लिए भी कुछ इशारा किया था, लेकिन मित्र-पक्ष इसके लिए बिलकुल तैयार न हुआ। मित्रपक्ष की सरकारे अपनी गुप्त सधियो से अनेक देशो के बँटवारे के लिए बधी हुई थी और जब तक पूरी विजय न होजाती, संतुष्ट नहीं हो सकती थीं।

४ नवम्वर को कील में जर्मन जल-सेना मे गदर हो गया। इसके ५ दिन के वाद र्वालन में जर्मन-प्रजातन्त्र की घोषणा करदी गई। उसी दिन यानी ४ नवम्वर को कैसर विलियम द्वितीय ने वडी वेइज्जती के साथ और भोडे तरीके से जर्मनी से निकलकर हालैंड के लिए प्रस्थान किया ओर उसीके साथ होएनजोलर्न राजवश भी खतन हो गया। चीन के मचुओ के समान "ये शेर की तरह गरजते हुए दाखिल हुए थे, लेकिन साँप की पूंछ की तरह गायव होगये।"

११ नवम्वर १९१८ को लडाई वन्द हुई। जो सुलह हुई वह अमेरिका के राष्ट्र-पति विलसन की १४ शर्तो (Fourteen Points) पर निर्भर थी। ये १४ शर्ते बहुत हद तक इन सिद्धान्तो पर निर्भर थीं कि छोटे राष्ट्रो को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया जाय; नि शस्त्रीकरण हो; कोई गुप्त समझाता न किया जाय; सारी शक्तियाँ रूस को मदद दें और राष्ट्र-सघ वनाया जाय। आगे चलकर हम देखेंगे कि विजेताओ ने कितनी आसानी से इन १४ वातो को भुला दिया।

लडाई खतम होगई, लेकिन इग्लैण्ड की जल-सेना ने जर्मनी की नाकेवन्दी जारी रक्खी। भूख से तडपते हुए जर्मनी की स्त्रियो और बच्चो को खाना पहुँचाने की इजाजत नही थी। छोटे-छोटे वच्चो के प्रति भी इस आश्चर्यजनक घृणा और प्रतिहिंसा की भावना को मशहूर ब्रिटिश राजनीतिज्ञ, देश सेवक, वडे-वडे अखवार और अपने को उदार दल का समाचारपत्र कहने वाले भी प्रोत्साहन देते थे। उस समय इग्लैण्ड के प्रधान सचिव लायड जार्ज उदार दल के थे। लड़ाई का सवा चार वर्ष का इतिहास निर्दयतापूर्ण अत्या-चारो से भरा पडा है। और फिर भी सुलह के वाद जर्मनी की इस नाकेवन्दी का जारी रखना अपनी शुद्ध निर्दयता में बेमिसाल है। लडाई खतम हो चुकी थी और सारा मुल्क भूखो मर रहा था। छोटे-छोटे वच्चे भूख से तड़प रहे थे और जान-बूझकर और जवरदस्ती इनको खाने का सामान नही पहुँचने दिया जाता था। लडाई की वजह से हमारे दिमाग किस तरह खराव जाते हं और हममें पागलपन से भरी हुई घृणा किस हदतक समा जाती है ! जर्मनी के पुराने चान्सलर वेथमैन हॉलवेग ने कहा था—"हमारी सन्तान और हमारी सन्तानो की सन्तान इग्लैड की नाकेवन्दी को याद रक्खेगी, जिसे इग्लैण्ड ने जवर्दस्ती हमारे खिलाफ जारी कर रक्खा है और जो वेरहमी में पैशाचिक कही जा सकती है।"

वडे-वडे राजनीतिज्ञ और ऊँचे-ऊँचे ओहदो के आदमी इस नाकेबन्दी को पसन्द करते थे। लेकिन वेचारा अग्रेज सैनिक, जो असल में लड़ा था, इस दृश्य को नही देख सकता था। राइनलैण्ड के कोलोन में समझौते के बाद एक अग्रेजी सेना रखदी गई थी, इस सेना के सेनापति ने प्रधान सचिव लायड जार्ज के पास तार भेजा और उसमें

कमजोरी पैदा करने का यह सबसे बड़ा कारण हुआ। पहली क्रान्ति के आठ महीने भी नहीं हुए थे कि दूसरी क्रान्ति हो गई और अधिकार सोवियट और बोलशेविको के हाथ में आ गया, जिनकी पुकार सुलह की थी। इन लोगो ने सारी लडनेवाली क़ौमो के सैनिको और मजदूरो से शान्ति के लिए अपील की और यह बताया कि यह लड़ाई पूंजीपतियो की लडाई है, और मजदूरो को इस बात की इजाजत न देनी चाहिए कि वह साम्राज्यवादियो के उद्देशो की पूर्ति के लिए अपने को नष्ट करावे। यह आवाज और यह अपील मोर्चे पर दूसरी कौमो के सिपाहियो तक भी पहुची और इसका बहुत काफी असर हुआ। फ्रासीसी सेना में कई बलवे हो गये, जिन्हे अधिकारियो ने दबा दिया। जर्मन सिपाहियो पर इससे भी ज्यादा असर हुआ था क्योकि बहुत-सी जर्मन पलटनो ने क्रान्ति के बाद रूसियो से दोस्ती करली थी। जब ये पलटने पश्चिमी मोर्चे को तब्दील की गई, तब इस नये सदेश को वे अपने साथ ले गई और इसे दूसरी पलटनो में फैलाया। जर्मनी लडाई से थका हुआ था और बिल्कुल निरुत्साह हो रहा था। रूस से आये हुए ये बीज ऐसी जमीन पर गिरे जो इनको लेने के लिए तैयार थी। इस तरीके से रूसी क्रान्ति ने जर्मनी को अन्दरूनी तरीके पर कमजोर कर दिया।

लेकिन जर्मनी के फौजी अफसरो ने इन चेतावनियो की तरफ़ से अपनी आँखें बिलकुल बन्द करली थी। इन्होने सोवियट रूस से सुलह तो की लेकिन उसको दबाकर उसे जर्मनी के साथ एक अपमानजनक समझौता करने को मजबूर किया। सोवियट रूस ने इस समय यही मजूर कर लिया, क्योकि उसके पास कोई दूसरा चारा नही था और वह हर हालत में सुलह चाहता था। मार्च १९१८ में जर्मन फौज ने पश्चिमी मोर्चे पर अपना आखिरी विशाल प्रयत्न आरम्भ किया। अग्रेज और फ्रासीसियो के मोर्चो को तोड़ दिया, अनेक सेनाओ को नष्ट कर डाला और फिर मार्न (Maine) नदी तक पहुँच गई जहां से वह ३½ वरस पहले पीछे हटा दी गई थी। यह बड़ा भगीरथ प्रयत्न था लेकिन यह आखिरी प्रयत्न था। इसके बाद जर्मनी पस्त होगया। इसी दरमियान अटलाटिक पार करके अमेरिका की फौजें आ गई और अपने कटु अनुभव के आधार पर पश्चिमी मोर्चे की सारी मित्रपक्ष की सेनायें अग्रेज, फ्रासीसी और अमेरिकन एक मुख्य सेनापति की मातहती में कर दी गई ताकि पूरा-पूरा सहयोग हो सके और सगठित तौर पर प्रयत्न किये जा सकें। फ्रेंच मार्शल फोक (Foch) पश्चिम में मित्र-पक्ष की सारी सेनाओ का मुख्य सेनापति बना दिया गया। १९१८ के बीच तक हवा निश्चित तौर से बदल चुकी थी। मित्र-पक्ष के हाथ में ताकत पहुँच चुकी थी और ये लोग बढ़ते गये और जर्मनो को पीछे हटाते गये। अक्तूबर के खतम होने तक लड़ाई का खात्मा हो चुका था और युद्ध बन्द करने की बातचीत होने लगी थी।

कौमें, विजयी और पराजित दोनो बराबर ही, लड़ाई के खर्चे के बुरे असर से अभी तक परेशान हैं।

'युद्ध खत्म करने के लिए युद्ध', 'लोकतन्त्र के लिए दुनिया मे रास्ता साफ करने के लिए युद्ध', 'आत्म निर्णय का युद्ध' 'स्वतन्त्रता' और 'उच्च आदर्शो का युद्ध' खतम होगया था। इंग्लैण्ड, फ़्रास, अमेरिका, इटली और इनके छोटे-मोटे पिछलग्गु (रूस इनसे अलग था) विजयी हुए थे। इन ऊँचे और महान् आदर्शो को क्रियात्मक रूप में कैसे लाया गया, यह हम बाद को देखेंगे। फिलहाल तो हम अंग्रेज कवि साउदे की एक कविता उद्धृत करेगे जो उसने एक पुरानी और दूसरे मौके की विजय के बारे में लिखी थी—

'And everybody praised the Duke
Who this great fight did win"
"But what good came of it at last ?"
Quoth little Peterkin
"Why, that I can not tell", said he,
"But 'twas a famous victory"

यानी "हरेक ड्यूक की, जिसने इस बडी लडाई मे विजय प्राप्त की थी, तारीफ कर रहा था। पर छोटे से पेटरकिन ने पूछा कि 'आखिर इससे फायदा क्या हुआ ?' उसने कहा—'क्यो ? यह तो मै नही बता सकता पर यह एक गौरवपूर्ण विजय थी।'

: १५० :

रूस से ज़ारशाही का खात्मा

७ अप्रैल, १९३३

लड़ाई की गति का बयान करते हुए मैंने रूसी क्रान्ति और युद्ध पर उसके प्रभाव का जिक्र किया था। युद्ध पर उसने जो असर डाला वह तो पड़ा ही परंतु संसार के इतिहास में भी यह क्रान्ति अपने किस्म की एक अनोखी और विशाल घटना हुई है। यद्यपि यह अपने किस्म की पहली क्रान्ति थी, पर मुमकिन है कि बहुत दिनो तक यह अपने किस्म की अकेली क्रान्ति न बनी रहे; क्योकि यह दूसरे देशो के लिए एक किस्म का चैलेंज या चुनौती बन गई है और सारी दुनिया के बहुतेरे क्रान्तिकारियो के सामने एक नमूना पेश कर गई है। इसलिए इसकी गहरी छानबीन करनी चाहिए। निस्सन्देह महायुद्ध का यही सबसे बड़ा नतीजा था, हालाँकि जिन राजनीतिज्ञो ने और सरकारो नें दुनिया को लड़ाई में धकेला था, वे इसे जरा भी नही चाहते थे और उन्हे इसका खयाल

बताया कि "जर्मन स्त्री और बच्चो की तकलीफो को देखकर ब्रिटिश फौज पर बहुत बुरा असर पड रहा है।" लडाई बन्द होने के ७ महीने बाद तक इंग्लैण्ड ने जर्मनी की नाकेबन्दी कायम रक्खी।

कई वर्षो तक लड़ते रहने की वजह से लड़ने वाली कौमें जानवर हो गई थी। बहुत से लोगो के हृदय से सद्भावना खतम हो चुकी थी, और साधारण आदमी आधे बदमाश होगये थे। उद्दडता और घटनाओ को जानबूझ कर तोड़-मरोड़ कर बयान करना लोगो के लिए मामूली बात थी और इनका दिल प्रतिहिंसा और घृणा की भावना से भरा हुआ था।

लडाई का तलपट क्या था, कोई अभी तक इसे नही जानता। हिसाब लगाया जारहा है। मै तुम्हे कुछ आँकडे बताता हूँ जिससे तुम्हे यह मालूम होगा कि आजकल युद्ध का क्या मतलब होता है।

युद्ध में घायलो और मरे हुओ की पूरी सख्या निम्नलिखित आँकी गई है—

मृत सैनिक (जिनका पता है)	१,००,००,०००
सैनिक जिनके बारे में समझा जाता है कि मारे गये	३०,००,०००
गैर-सैनिक जो मारे गये	१,३०,००,०००
जख्मी	२,००,००,०००
कैदी	३०,००,०००
लडाई के अनाथ	९०,००,०००
लड़ाई की विधवायें	५०,००,०००
देश छोडकर भागे हुए	१,००,००,०००

इन विशाल आँकडो को देखो और इस बात की कल्पना करनें की कोशिश करो कि इनके पीछे कितनी मानुषी यातना छिपी हुई है। इनको जोड़ डालो। सिर्फ मरे हुए और जख्मियो की तादाद ४ करोड और ६० लाख होती है जो कि युक्तप्रांत की सारी आबादी के बराबर है।

और इस लडाई में नकद कितना खर्च हुआ, इसका भी हिसाब लगाया जा रहा है। अमेरिकन तखमीना यह है कि मित्र-पक्ष का ४० अरब ९९ करोड़ ९६ लाख पौंड और जर्मन-पक्ष का १५ अरब १२ करोड २३ लाख पौड खर्च हुआ। दोनो को जोड़ डालो, कुल खर्च ५६ अरब पौंड हुआ। इन आँकडो को हम अच्छी तरह से समझ नहीं सकते, क्योकि हमारी रोजाना की जिन्दगी से ये बिलकुल परे मालूम होते है। इनसे हमें ज्योतिष के आँकडे याद आ जाते है जब हम सूरज या सितारे का पृथ्वी से फासला जानने की कोशिश करते है। कोई ताज्जुब की बात नही कि लड़ाई में शामिल पुरानी

दर्जनो कारखानो के इन अज्ञात कार्यकर्ताओ ने सारे आन्दोलन को मजबूती दी और उसे निश्चित मार्ग पर चलाया।

इस जगह पर हमें औद्योगिक जनता (Industrial masses) काम करती हुई दिखाई देती है। किसी दूसरी जगह यह बात नही देखी गई थी। रूस एक बिलकुल खेतिहर मुल्क था और यहाँ कृषि भी मध्यकालीन ढंग से चलाई जाती थी। इस देश में नये जमाने के उद्योग-धंधे या कल-कारखाने बहुत कम थे और जो थे भी वे चन्द शहरो में केन्द्रित थे। पेट्रोग्रेड में बहुत-से कारखाने थे और मिल में काम करने वाले मजदूरो की काफी बडी आबादी थी। मार्च की क्रान्ति पेट्रोग्रेड के इन्ही मजदूरो और इस शहर में रक्खी हुई पलटन का ही काम था।

८ मार्च को क्रान्ति की पहली गड़गड़ाहट सुनाई दी। स्त्रियो ने सबसे पहले आगे कदम बढ़ाया। कपडे की मिलो की स्त्रियाँ, जो मजदूरी करती थी, जलूस बनाकर शहरो में फिरी। दूसरे दिन हड़ताल बढ़ी। बहुत-से मर्द मजदूरो ने काम छोड़ दिया। रोटी के लिए चीख-पुकार शुरू हुई और "निरंकुशता का नाश हो!" का नारा लगाया जाने लगा। जुलूस के इन मजदूरो को पस्त करने के लिए अफसरो ने कज्जाको की फौज भेजी। यही पुराने जमाने में जारशाही के खास मददगार रहे थे। कज्जाको ने जनता को इधर-उधर भगा दिया, लेकिन गोली नही चलाई। मजदूरो को यह देखकर बडी खुशी हुई कि कज्जाक लोग असल में सरकारी नकाब के पीछे दोस्ती दिखा रहे है। फौरन ही जनता का जोश बढ़ गया और उसने कज्जाको से दोस्ती करने की कोशिश की। लेकिन पुलिस से घृणा रही और उस पर पत्थर फेंके गये। तीसरे दिन यानी १० मार्च को कज्जाको के साथ दोस्ती की भावना और भी बढ़गई और यह अफवाह फैल गई कि कज्जाको ने पुलिस पर गोली चलाई है जोकि जनता को गोलियो से मार रही थी। इसके बाद पुलिस सड़कों पर से हट गई। स्त्री कार्यकर्त्ताओ ने सैनिको के पास जाकर उनसे जोरदार अपील की और सिपाहियो की सगीने आसमान की तरफ होगई।

दूसरे दिन यानी ११ मार्च को रविवार था। मजदूर लोग शहर के बीचो-बीच इकट्ठे हुए। पुलिस ने उनपर छिपी हुई जगहो से गोलियाँ चलाई। कुछ फौजी सिपाहियो ने भी जनता पर गोलिया चलाई। जनता उस पलटन के बैरक में गई और इस बात की सख्त शिकायत की। फौज के दिल पर असर पड़ा और वह जनता की रक्षा के लिए अपने नानकमिशण्ड अफसरो की मातहती में बाहर निकल आई। यह पलटन गिरफ्तार कर ली गई, लेकिन गिरफ्तारी बहुत देर से हुई। १२ मार्च को और पलटनो में भी गदर होगया और ये लोग अपनी मशीनगन और राइफले लेकर बाहर निकल

न-दिमी ढग ने जारीना को यह विश्वास दिला दिया कि वह लड़के को अच्छा कर देगा। उसकी क़िस्मत जग गई और वह ज़ार और ज़ारीना पर बहुत जल्द हावी होगया। इसीके इशारे पर ऊँची-से-ऊँची नियुक्तियाँ होती थी। इसका जीवन अत्यन्त पतित था और यह बडी-बडी रकमें रिश्वत में लिया करता था; फिर भी यह कई वर्षों तक हावी रहा।

हरेक आदमी रासपुटीन से बेज़ार था। नरम दल और उच्च वर्ग के लोगो ने भी शोर मचाना शुरू किया और इस बात की चर्चा होने लगी कि राजमहल के अन्दर क्रान्ति कर दी जाय, यानी दूसरा ज़ार ज़बरदस्ती गद्दी पर बिठा दिया जाय। इसी दरमियान ज़ार निकोलस ने अपनेको अपनी सेना का मुख्य सेनापति बना लिया था और हरेक चीज़ को चौपट कर रहा था। १९१६ के खत्म होने के चन्द दिन पहले ज़ार के कुटुम्ब के एक आदमी ने रासपुटीन को मार डाला। उसे खाना खाने के लिए बुलाया गया और उससे कहा गया कि तुम अपने को खुद गोली मार लो। रासपुटीन ने इन्कार किया। इसपर उसे गोली मार दी गई। रासपुटीन के कत्ल का सब लोगो ने स्वागत किया और समझ लिया कि बला टली, लेकिन ज़ार की खुफिया पुलिस ने इस घटना के आधार पर बेहद अत्याचार किये।

सकट बढने लगा। पेट्रोग्रेड में अकाल पड गया और खाने के लिए बलवे होने लगे; इसके बाद मार्च के शुरू में मजदूरो की चिर यातना के बीच से आप ही आप क्रान्ति पैदा हुई, जिसकी कोई आशा न थी। मार्च महीने के ५ दिनो में, यानी ८ से १२ मार्च के बीच में, क्रान्ति की विजय रही। यह कोई राजमहल के अन्दर की बात नही थी और न यह कोई सगठित क्रान्ति ही थी, जिसकी चोटी के नेताओ ने बाकायदा व्यवस्था की हो। यह क्रान्ति नीचे से उभरी थी, बहुत ज्यादा सताये हुए मजदूरो में से और बिना किसी जाहिरा व्यवस्था या नेतृत्व के अन्धो की तरह रास्ता टटोलते हुए आगे बढ़ी थी। अनेक क्रान्ति-कारी दल, जिनमें स्थानीय बोलशेविक भी थे, हक्का-बक्का रह गये और सोचने लगे कि क्रान्ति को किस रास्ते पर ले जायें? जनता ने खुद ही अपना रास्ता निकाल लिया, और जिस समय इन्होने पेट्रोग्रेड के सिपाहियो को अपनी तरफ कर लिया, विजय इनकी होगई। यह क्रान्तिकारी जनता असगठित भीड नही थी जो लूट-मार के लिए उतारू हो, जैसे कि पहले के किसानो के बलवे हुआ करते थे। मार्च की इस क्रान्ति के बारे में महत्वपूर्ण बात यह है कि इसका नेतृत्व कारखाने के मजदूरो ने किया जो कि इति-हास में अपने किस्म की पहली चीज है, और इन मजदूरो में यद्यपि उस समय कोई मशहूर नेता नहीं था, बहुत से ऐसे अप्रसिद्ध कार्यकर्त्ता थे, जिन्हे लेनिन के दल में ट्रेनिग यानी तालीम मिल चुकी थी। लेनिन और दूसरे लोग या तो जेल में थे या जलावतन थे।

उच्च वर्ग के रईस, जमीदार, मध्यमवर्ग के ऊपर के दर्जे के आदमियो, यहाँ तक कि सुधारक और उदार दल के आदमियों नें भी मजदूरो के इस उभार को बहुत भय से देखा। जब इन्होने यह देखा कि वह सेना, जिसके ऊपर ये भरोसा करते थे, मजदूरो से मिल गई तो ये बिलकुल असहाय हो गये। इनको यह निश्चय नही था कि विजय किस पक्ष की होगी, क्योकि यह मुमकिन था कि जार कोई फौज लेकर लड़ाई के मोर्चे पर वापस आये और विद्रोह को दबा दे। इसलिए एक तरफ मजदूरो का डर, दूसरी तरफ जार का और इसके अलावा अपनी बचत करने की फिक्र से इन लोगो की दशा बहुत दयनीय और मुसीबत की हो गई थी। डूमा यानी पार्लमेण्ट में जमीदारो और उच्च वर्ग के लोगो का बोलबाला था। मजदूर भी इससे कुछ आशा करते थे, लेकिन इस संकट के मौके पर नेतृत्व करने के बजाय या कुछ कार्रवाई करने के बजाय, इसके अध्यक्ष और सदस्य बैठे-बैठे काँपते और डरते रहे और यह निश्चय न कर सके कि क्या किया जाय।

इसी दरमियान सोवियट ने रूप धारण करना शुरू किया। मजदूरो के प्रतिनिधियो के साथ सैनिको के प्रतिनिधि भी आ गये, और नई सोवियट नें विशाल टाराइड राज-महल का एक हिस्सा अपने कब्जे मे कर लिया। इस राज महल के एक हिस्से में डूमा भी थी। मजदूरो और सैनिको को अपनी विजय पर बहुत उत्साह था। लेकिन सवाल यह उठा कि अब किया क्या जाय? इन्होने अधिकार तो हासिल कर लिया, लेकिन, इस अधिकार को चलावे कौन? यह बात इन लोगो की समझ में नहीं आई थी कि सोवियट यानी इनकी पंचायत खुद ही शासन चला सकती है। इस लोगो ने यह बात व्यर्थ ही मानली थी कि मध्यमवर्ग को ही शासन करना चाहिए। इसलिए सोवियट की तरफ से डूमा के पास एक डेपूटेशन यानी प्रतिनिधि मण्डल गया और उससे प्रार्थना की कि आप लोग शासन शुरू कीजिए। डूमा के अध्यक्ष और सदस्यो ने यह समझा कि यह डेपूटेशन उन्हें गिरफ्तार करने आया है। इनके मन में शासन का भार उठाने की कोई ख्वाहिश नही थी, और इस काम में जो खतरा था उससे ये डरते भी थे। लेकिन ये लोग करें तो क्या करें? सोवियट के डेपूटेशन ने आग्रह किया और इन लोगों को इन्कार करते हुए डर मालूम हुआ। इसलिए बहुत बे-दिली से और परिणामो से डरते हुए डूमा की एक कमिटी ने शासन की बागडोर हाथ में लेना मंजूर किया। लेकिन बाहरी दुनिया को मालूम होता था कि डूमा ही क्रान्ति का संचालन कर रही है। कैसी अजीब घोटाले की बात थी! अगर हम किसी कहानी में ऐसी बात पढ़ें तो मुश्किल से यकीन करेंगे। लेकिन घटनाये कल्पनाओं से अकसर अनोखी होती हैं।

डूमा की कमिटी ने जिस अस्थाई सरकार की रचना की थी, वह बहुत ही संकीर्ण विचार की थी और उसका प्रधान मन्त्री एक 'प्रिंस' या ऊँचे रईसी खानदान का

आये। सड़को पर खूब गोलियाँ चली। यह कहना मुश्किल था कि कौन किसको मार रहा है। इसके बाद फौजी सिपाहियो और मजदूरो ने कुछ मंत्रियों को पकड़ लिया; बाकी तो भाग गये थे। इन लोगो ने पुलिस और खुफिया पुलिस के आदमियो को गिरफ्तार कर लिया था। और जेलो से पुराने राजनैतिक कैदियो को भी छोड़ दिया था।

पेट्रोग्रेड में क्रान्ति की विजय रही। इसके बाद शीघ्र ही मास्को में क्रान्ति हुई। गाँव गौर से यह हालत और हलचल देख रहे थे। धीरे-धीरे किसानो ने भी नई व्यवस्था मजूर करली, लेकिन उत्साह के साथ नही। इनके सामने सिर्फ दो सवाल थे; एक तो इन्हे जमीन मिल जाय और दूसरे शान्ति रहे।

ज़ार का क्या हुआ? इस घटनापूर्ण जमाने में उसकी क्या हालत थी? वह पेट्रोग्रेड में नही था। वह बहुत दूर एक छोटे-से कस्बे में रह रहा था, जहाँ से मुख्य सेनापति की हैसियत से वह अपनी सेनाओ को हिदायते देता रहता था। लेकिन उसका जमाना खतम हो चुका था। पके फल की तरह यह टपक पड़ा और किसीने देखा भी नही। यह महान् शक्तिशाली ज़ार, रूस का सबसे बडा निरंकुश शासक, जिसके सामने लाखो काँपते थे, पवित्र रूस का पिता, इतिहास की रद्दी की टोकरी मे गायब हो गया। कितने ताज्जुब की बात है कि बडी-बडी प्रणालियां, जब उनका जमाना खतम हो जाता है और वह अपना काम कर चुकती है, किस तरह खतम हो जाती है! जब ज़ार ने सुना कि मजदूरो ने हड़ताल करदी है और पेट्रोग्रेड में बलवा हुआ है, तो उसने फौजी कानून की घोषणा कर दी। सेनापति ने यह घोषणा तो बाकायदा निकाल दी, लेकिन शहर में इसे फैलाने वाला या इसकी नोटिस चिपकाने वाला कोई न मिला। सरकार की मशीन यानी व्यवस्था टुकडे-टुकडे हो गई थी। ज़ार ने इन घटनाओ से आँखें बन्द करके पेट्रोग्रेड आने की कोशिश की। लेकिन रेलवे के मजदूरो ने इसकी ट्रेन रास्ते में रोक ली। ज़ारीना ने, जो उस वक्त पेट्रोग्रेड के बाहर की बस्ती में रह रही थी, ज़ार के नाम एक तार भेजा। यह तार तारघर से वापस आगया और उसके पीछे यह नोट था—"यह आदमी कहाँ है, इसका पता नहीं।"

मोर्चे पर जो सेनापति थे और पेट्रोग्रेड के नरम दल के नेताओ ने इन घटनाओ से डरकर और इस उम्मीद में कि जो कुछ बचे, बचा लेना चाहिए, ज़ार से गद्दी छोड़ने की प्रार्थना की। ज़ार ने गद्दी छोड दी और अपनी जगह के लिए अपने एक रिश्तेदार को नामजद कर दिया। लेकिन अब आगे कोई ज़ार होने वाला नहीं था, रोमनोफ का राजवश तीन सौ बरस के निरंकुश शासन के बाद रूसी रंग-मंच से हमेशा के लिए प्रस्थान कर गया।

रहा। जो क्रान्ति अभीतक बिना नेता के, बिना राह दिखानेवाले के, चल रही थी, अन्त में सनाथ हो गई। नेता मिल गया, समय ने आदमी पैदा कर दिया।

सवाल यह है कि वह कौन-सा सिद्धान्त का भेद था, जिसकी वजह से इस अवसर पर बोलशेविक लोग मेनशेविको और दूसरे क्रान्तिकारी दलो से अलग थे? लेनिन के आने के पहले स्थानीय बोलशेविक लोग किस वजह से अकर्मण्य हो रहे थे और सोवियट ने अधिकार पा जाने के बाद इसे पुरानी और संकीर्ण डूमा को सुपुर्द कर देना क्यो मुनासिब समझा? मै इन सवालो में बहुत गहरा नही जा सकता, लेकिन अगर हम १९१७ के रूस और पेट्रोग्रेड के बराबर तब्दील होनेवाले नाटक को समझना चाहते है, तो हमें इन सब बातो पर कुछ गौर जरूर करना होगा।

मनुष्य के परिवर्तन और विकास के बारे में कार्लमार्क्स का सिद्धान्त 'इतिहास की भौतिक या पदार्थवादी व्याख्या' कहलाता है। इसके मुताबिक जब पुरानी सामाजिक प्रणाली अपने समय के परे पहुँच जाती है, इसकी जगह पर नये सामाजिक रूप पैदा होते है। चीजो की उत्पत्ति के ढंग ने जैसे-जैसे उन्नति की, समाज का आर्थिक और राजनैतिक संगठन भी धीरे-धीरे उसके अनुकूल बनता गया। यह बात इस तरह से हुई कि शोषित वर्ग में और शोषक या शासक वर्ग के बीच बराबर संघर्ष जारी रहा। इससे पश्चिमी योरप में पुराना सामन्त वर्ग खत्म हो गया और उसकी जगह पर मध्यम वर्ग आ गया। यही वर्ग आज इंग्लैण्ड, फ़्रांस, जर्मनी वगैरा देशो में आर्थिक और राजनैतिक ढाँचे को चलाता है। अब इस वर्ग की जगह पर मजदूर वर्ग आयेगा। रूस में सामन्त वर्ग अभी तक हावी था और जिस परिवर्तन की वजह से पश्चिमी योरप में मध्यम वर्ग हावी हुआ था, वह परिवर्तन रूस में अभी तक नहीं हुआ था। इसलिए मार्क्स के मानने वाले कितने ही लोग यह सोचते थे कि रूस को लाजमी तौर से पहले मध्यम वर्ग के अधिकार में जाना होगा, पार्लमेण्ट की मंजिल से गुजरना होगा और फिर इसके बाद कही मजदूरो की प्रजातंत्र की आखरी मंजिल मिलेगी। इनका खयाल था कि बीच की मंजिल को कूदकर पार नहीं किया जा सकता। लेनिन खुद १९१७ के मार्च की क्रान्ति से पहले मध्यम मार्ग की नीति का मानने वाला था। उसनें यह लिखा था कि अगर जार और जमींदारों के खिलाफ मध्यम मार्ग में क्रान्ति करानी है तो किसानो से सहयोग करना चाहिए और मध्यम वर्ग का विरोध न करना चाहिए।

बोलशेविक, मेनशेविक और मार्क्स के सिद्धान्तो के सभी माननेवालो के दिल में यह खयाल जम गया था कि अंग्रेजी या फ़्रांसीसी नमूने का मध्यवर्गीय प्रजा सत्तात्मक लोकतन्त्र क़ायम किया जाय। मजदूरो के मशहूर नुमाइन्दे या प्रतिनिधि भी

व्यमिन था। इसी मकान के दूसरे हिस्से में सोवियट की सभायें होती थी और वे अस्थायी सरकार के काम में बराबर दस्तन्दाजी करती रहती थीं, लेकिन सोवियट खुद शुरू में एक नरम संस्था थी और बोलशेविक लोग इसके अन्दर मुट्ठी भर थे। इस तरह से दो सरकारें हो गई थीं, एक अस्थायी सरकार और दूसरी सोवियट। इन दोनो के पीछे क्रान्तिकारी जनता थी, जिसने क्रान्ति करके दिखा दी थी और इस क्रान्ति से बड़ी-बड़ी आशायें रखती थी। भूखी और लड़ाई से परेशान जनता को नई सरकार ने सिर्फ एक बात बताई कि उसे तब तक लड़ाई जारी रखनी चाहिए जबतक जर्मन लोग हार न जांय। लोग सोचने लगे कि क्या इसी बात के लिए हमने क्रान्ति की थी और ज़ार को निकाला था?

इसी अवसर पर, १७ अप्रैल को लेनिन रंगमंच पर आ गया। सारी लड़ाई भर यह स्वीज़रलैण्ड में था और जब उसने क्रान्ति की बात सुनी, तो रूस पहुँचने लिए बड़ा उत्सुक होगया। लेकिन पहुँचता कैसे? अँग्रेज़ और फ़्रान्सीसी अपने मुल्को से इसे गुज़रने की इजाज़त नहीं देते थे और न जर्मन और आस्ट्रियन ही। आख़िरकार अपने मतलब से जर्मन सरकार इस बात पर राज़ी हो गई कि एक बन्द रेल गाडी में उसे स्वीज़रलैण्ड से रूस तक पहुँचा दे। जर्मन लोगो को यह उम्मीद थी और उम्मीद करने की वजह भी थी कि रूस में लेनिन के पहुँच जाने से अस्थायी सरकार और युद्ध की पार्टी कमज़ोर पड़ जायगी, क्योंकि लेनिन लड़ाई के ख़िलाफ था और जर्मन लोग इस बात से फायदा उठाना चाहते थे। इनको यह कल्पना भी नही थी कि यह क्रान्तिकारी, जिसको कोई जानता भी नहीं, योरप और दुनिया को हिला देनेवाला है।

लेनिन के दिमाग में कोई शक-शुबहा नही था। इसकी आँखें जनता की मनोवृत्ति को समझने में बहुत कुशल थी। इसका दिमाग सुलझा हुआ था, और यह बदलती हुई स्थिति में अच्छी तरह से सोचे-समझे हुए सिद्धान्तो का प्रयोग कर सकता था। यह दृढ निश्चय का आदमी था, जो अपने बनाये हुए रास्ते पर डटा रहता था और तात्कालिक परिणाम की परवाह नही करता था। जिस दिन वह आया, उसी दिन उसने बोलशोविक दल को खूब फटकारा, उनकी अकर्मण्यता पर ऐतराज किया और जोरदार वाक्यों में उनका कर्तव्य बताया। इसका भाषण बिजली की तरह चुभ गया और साथ-ही-साथ इसने जान भी पैदा कर दी। इसने कहा था—"हम लोग दगाबाज़ नहीं हैं। हम अपनी बुनियाद जनता की जागृति पर ही कायम कर सकते हैं। अगर अल्प संख्या में रहना ज़रूरी होगा तो रहेगें। कुछ समय के लिए नेतृत्व छोड़ देना अच्छा है। अल्प संख्या में रहने से हमें न डरना चाहिए।" इस तरह यह अपने सिद्धान्तो पर अटल रहा और समझौता करने से इन्कार करता

लक्ष्य करने मे खोना ठीक नही है। इसे हम बहुत बडा जुर्म और क्रान्ति की ताकतो को छिन्न-भिन्न कर देना समझते है।"

इस तरह शान्तिपूर्वक लेकिन न मिटनेवाली कर्म-रेखा की तरह बर्फ का यह टुकड़ा, जिसके अन्दर धधकती हुई आग छिपी हुई थी, अपने निश्चित ध्येय की तरफ बढने लगा।

: १५१ :

बोलशेविक अधिकार छीन लेते हैं

९ अप्रैल, १९३३

क्रान्ति के जमाने में इतिहास बडे लम्बे कदम बढाकर चलता है। ऊपर-ऊपर तेजी के साथ परिवर्तन होते ही है, लेकिन इससे भी बडा परिवर्तन जनता के हृदय में पैदा हो जाता है। जनता किताबो से बहुत कम सीखती है, क्योंकि उसको किताबी शिक्षा का ज्यादा मौका नही मिलता, और किताबें अकसर छिपाती ज्यादा है और बताती कम है। जनता का स्कूल अनुभव का, ज्यादा कठोर पर ज्यादा सच्चा, स्कूल होता है। लोगो के हार्दिक अभिप्राय पर जो परदा पड़ा रहता है वह क्रान्ति के युग में, ताकत हासिल करने की जिन्दगी और मौत की लडाई के बीच हट जाता है, और तब हमें वह असलियत दिखाई दे जाती है, जिस पर समाज की बुनियाद होती है। इसलिए १९१७ के घटनापूर्ण साल में रूस में जनता ने, और खासकर शहर के कारखानो के मजदूरो ने, जो क्रान्ति के बीच में थे, घटनाओ से सबक सीखा और उनमें रोजाना तब्दीलियाँ होती रहीं।

कहीं कोई स्थिरता या समतौल नहीं था। जीवन स्फूर्ति से भरा था और बदल रहा था। जनता और वर्ग अलग-अलग रास्ते पर और जुदी-जुदी दिशाओ में बढ रहे थे और एक दूसरे को घसीट रहे थे। ऐसे भी लोग उस वक्त तक पाये जाते थे जो जार की शासन-प्रणाली को फिर से वापस लाने की उम्मीद करते थे और उसके लिए षड्यंत्र रचते थे। लेकिन इस वर्ग का कोई महत्व नही था और हम इसकी उपेक्षा कर सकते है। असली लड़ाई अस्थायी सरकार और सोवियट के बीच थी; फिर भी सोवियट में ज्यादातर लोग सरकार के साथ सहयोग और समझौता करने के पक्ष में थे। ये समझौता करनेवाले लोग राजसत्ता और शासन की बागडोर हाथ में लेने से डरते थे। सोवियट में एक शख्स ने कहा था—"सरकार की जगह कौन लेगा। हम? लेकिन हमारे हाथ तो कपते है'....।" इसी किस्म की आवाज हमें हिन्दुस्तान में भी ऐसे बहुत-से लोगो के मुँह से सुनाई पड़ती है, जिनके हाथ लूले या

इसे अनिवार्य समझते थे और इसीलिए सोवियट ने अधिकार को अपने हाथ में रखनें की बजाय डूमा के सपुर्द करना मुनासिब समझा। ये लोग जैसा, हम सब लोगो का अकसर हाल होता है, अपने ही सिद्धान्त के गुलाम होगये थे। इन्हे यह नही दिखाई पडता था कि एक नई स्थिति पैदा होगई है, जिसमें एक दूसरी नीति पर चलने की जरूरत है। कम-से-कम पुरानी नीति को नये साँचे में ढालना चाहिए। जनता नेताओ से कहीं ज्यादा क्रान्तिकारी थी। मेनशेविक लोग, जिनके हाथ में सोवियट थी, यहाँ तक कहते थे कि मजदूर वर्ग को उस समय किसी किस्म का सामाजिक सवाल उठाना ही नही चाहिए। इसका तात्कालिक कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि राजनैतिक स्वतंत्रता हासिल कर ले। बोलशेविक लोग अपनी घात में थे। सकोच और फूँक-फूँककर कदम रखने की नीति के होते हुए भी मार्च की क्रान्ति सफल रही।

लेनिन के आने पर सारी बाते बदल गई। उसनें फौरन ही स्थिति को समझ लिया। सच्चे नेता की अद्‌भुत बुद्धि उसमें थी। उसने मार्क्स के कार्यक्रम को स्थिति के अनुसार नया रूप देकर सामने रख दिया। अब यह तय हुआ कि मजदूर वर्ग गरीब किसानो के साथ मिलकर पूँजीवाद के खिलाफ लड़ाई करे। बोलशेविक लोगो ने तुरन्त तीन बातो की पुकार शुरू की :—

(१) प्रजासत्तात्मक लोकतन्त्र (२) रियासतो की जब्ती, और (३) मजदूरो के लिए ८ घण्टे का दिन। फौरन ही इन पुकारो की वजह से किसान और मजदूरो के लिए लडाई एक असली चीज बन गई। सघर्ष इनके लिए कोई अनिश्चित या खोखला आदर्श नहीं रह गया, बल्कि आशा और जीवन की एक वास्तविक चीज़ बन गया।

लेनिन ने बोलशेविक लोगो के लिए यह नीति बनाई कि वे मजदूरो के बहुमत को अपने पक्ष में करे और सोवियट पर अपना कब्जा करले। इसके बाद सोवियट अस्थायी सरकार से अधिकार छीन ले। लेनिन की यह राय नही थी कि फौरन ही दूसरी क्रान्ति शुरू की जाय। उसका आग्रह यह था कि अस्थायी सरकार को उलटनें के पहले मजदूरो के बहुमत को अपनी तरफ मिला लेना चाहिए और सोवियट पर कब्जा कर लेना चाहिए। जो लोग अस्थायी सरकार से समझौता करना चाहते थे, वह उनके बहुत सख्त खिलाफ था। उसके मतानुसार यह बात क्रान्ति के साथ दगा करने की थी। वह उन लोगो के भी सख्त खिलाफ था जो सरकार को ठीक वक्त के पहले तोडने के लिए उतावले हो रहे थे। उसका कहना था :—

"A moment of action is no time to aim 'a wee bit too far to the left' We look upon that as the greatest crime, disorgnisation"

अर्थात् "काम करने का वक्त बहुत ज्यादा आगे और दूर की गरम बातो पर

टुकड़ों में बांट दिया और दिखलाने के लिए दूसरों के नाम कर दिया, जो अपने नाम से इस जायदाद को उनके लिए बनाये रखते। इन लोगो नें अपनी जायदाद का बहुत-सा हिस्सा विदेशियों के हाथ बेच भी डाला। इस तरह उन्होंने अपनी जायदाद बचानी चाही। किसान इस बात को बिलकुल पसन्द नहीं करते थे और उन्होने सरकार के सामने यह माग पेश की कि जमीन की बिक्री क़ानून से रोक दी जाय। सरकार हिचकचाई; सोचने लगी कि क्या किया जाय ? वह किसी पार्टी को नाराज़ करना नही चाहती थी। इस पर किसानो ने खुद कार्रवाई करनी शुरू कर दी। अप्रैल के महीने में कुछ किसानों नें अपने जमींदारो को गिरफ्तार करके रियासतो पर कब्जा कर लिया और उन्हे आपस में बांट लिया। वे सैनिक, जो मोर्चे से वापस आये थे (और वे किसान ही थे), इस बात में आगे रहे। यह मामला बढ़ता गया, यहाँ तक कि सारी जमीन पर आम तौर पर जनता का क़ब्ज़ा हो गया। जून के महीने में साइबेरिया के मैदानो में कोई बडे जमीदार नही थे, इसलिए किसानो ने गिरजो और मठों से लगी हुई जमीन पर कब्जा कर लिया।

नोट करनें लायक बात यह है कि बडी-बडी रियासतो की यह जब्ती किसानों ने खुद अपने मन से की और बोलशेविक क्रान्ति के कई महीने पहले यह बात होगई थी। लेनिन की यह राय थी कि संगठित रूप से जमीन किसानो को तुरन्त दे दी जाय। वह इस बात के पक्ष में नही था कि अराजकता के ढंग से, जो किसान, जहां चाहे मनमानी जमीन ले ले। इस तरह जब कुछ दिन बाद बोलशेविक लोगों के हाथ में सरकार आई, रूस मौरूसी और दखिलकार किसानो का देश बन चुका था।

लेनिन के आने के ठीक एक महीनें बाद एक दूसरा मशहूर निर्वासित शख्स पेट्रोग्रेड आया। इसका नाम ट्राटस्की था। यह न्यूयार्क से वापस आया था और इसे रास्ते में अंग्रेजों ने रोक रक्खा था। ट्राटस्की पुराने बोलशेविको के गिरोह का नहीं था और न वह अब मेनशेविक ही था, लेकिन वह बहुत जल्द लेनिन की तरफ आ गया और पेट्रोग्रेड की सोवियट का एक जोरदार नेता बन गया। यह बडा अच्छा वक्ता था, बहुत अच्छा लेखक था और इसमें बिजली की बैटरी की तरह ताकत और स्फूर्ति भरी हुई थी। लेनिन के दल को इससे बडी मदद मिली। इसकी आत्म-कथा से, जो 'माई लाइफ़' (मेरा जीवन) नाम से अंग्रेजी छपी है, मै एक लम्बा उद्धरण इस जगह पर दूंगा। इसमें उसने 'माडर्न सर्कस' नाम के मकान में हुई उन सभाओं का जिक्र किया है जिनमें उसने भाषण दिया था। यह उद्धरण उसके सिर्फ सुन्दर लेख का नमूना ही नहीं है, बल्कि इससे हमारी आंखो के सामने पेट्रोग्रेड के १९१७ के क्रान्तिकारी दिनो की जीती जागती और स्पष्ट तस्वीर आ जाती है।

बेकाम हो गये है, और जिनके दिल थर्रा गये है। लेकिन जब वक्त आता है तब मजबूत हाथ और पक्के दिल के आदमियो की कमी नही रहती।

दोनो तरफ के समझौता चाहने वाले लोग बचाने की चाहे जितनी कोशिश क्यो न करते, पर अस्थायी सरकार और सोवियट के बीच संघर्ष का होना लाजिमी था। सरकार लड़ाई जारी रख कर मित्र राष्ट्रो को और जायदाद की हिफाजत करके रूसी उच्च या मालिक वर्ग को खुश रखना चाहती थी। सोवियट जनता के सम्पर्क में ज्यादा थी, इसलिए उसने यह देख लिया था कि जनता शान्ति चाहती है, किसान जमीन चाहते है और मजदूरो की भी बहुत-सी मागें है—जैसे दिन में काम के आठ घण्टे वगैरा। इस तरह सरकार को सोवियट ने बेकार और पस्त कर दिया था और जनता ने सोवियट को, क्योकि जनता राजनैतिक दलो और उनके नेताओ से कहीं ज्यादा क्रान्तिकारी थी।

इस बात की कोशिश हुई कि सोवियट के ज्यादा अनुकूल सरकार बनाई जाय और एक उग्र परिवर्तनवादी वकील और जबंदस्त भाषण देने वाला राजनीतिज्ञ करेंस्की सरकार का प्रधान सदस्य हो गया। उसने एक समझौते की सरकार बनाई, और इस सकार के लिए सोवियट के मेंशेविक लोगो ने, जिनका बहुमत था, प्रतिनिधि भेजे। इसने इस बात की भी सख्त कोशिश की कि जर्मनी पर हमला करके इंग्लैण्ड और फ़ास को खुश रक्खे। लेकिन इस बात में वह नाकामयाब रहा क्योकि लोग लड़ाई के लिए तैयार न थे।

इसी दरमियान अखिल रूसी सोवियट कांग्रेस के अधिवेशन पेट्रोग्रेड में हो रहे थे और बाद की हरेक कांग्रेस पहले के अधिवेशनो से ज्यादा उग्र होती जाती थी। बोलशेविक मेम्बर ज्यादा से ज्यादा तादाद में चुन कर आते थे और दो बडे दल यानी मेनशेविक और सोशल रेवोल्यूशनरी यानी सामाजिक क्रान्तिकारी (किसान पार्टी) का बहुमत अब कम हो गया था। खासतौर पर पेट्रोग्रेड के मजदूरो में बोलशेविक लोगो का असर बहुत बढ़ गया। सारे देश में सोवियट बन गये थे और वे तबतक सरकार का हुक्म मानने को तैयार नही होते थे, जबतक उसपर सोवियट की भी मजूरी न हो। अस्थायी सरकार के कमजोर होने की एक वजह यह भी थी कि रूस में कोई मजबूत मध्यमवर्ग नही था।

इधर राजधानी में अधिकार के लिए खींचतान जारी थी, उधर किसानो ने सारा कानून अपने हाथ में ले लिया। जैसा मैंने तुम्हे बताया है, ये किसान मार्च की क्रान्ति से बहुत खुश नहीं थे मगर वे इसके खिलाफ भी नही थे। वे इन्तजार कर रहे थे और स्थिति समझ रहे थे। लेकिन बडी-बडी रियासतो के जमींदारो ने, इस डर से कि उनकी जायदाद जब्त कर ली जायगी, अपनी रियासत को छोटे-छोटे

कौतूहल को कभी-कभी मै अपने होठो से अनुभव करता था। ऐसी हालत मे पहले से सोची हुई तमाम युक्तियाँ, शब्द और विचार खतम हो जाते थे और जनता की सहानुभूति के बोझ के नीचे दब जाते थे। दूसरे शब्द, दूसरी दलीले, जिन्हे बयान करने की मै ज़रा भी आशा नही रखता था, लेकिन जिन्हे जनता सुनना चाहती थी, मेरे हृदय के अन्दर से ज़ोरो के साथ उबलने लगती थी। ऐसे अवसरो पर मुझे ऐसा मालूम होता था कि मानो कोई दूसरा आदमी बाहर व्याख्यान दे रहा है और मै सुन रहा हूँ। ऐसा मालूम होता था कि मानो मै उसके विचारो के साथ-साथ चलना चाहता हूँ, लेकिन वह डरता था कि अगर कही मैने अपनी बुद्धि से सोची हुई दलीले पेश की तो यह न हो कि यह दूसरा व्याख्यान-दाता सोते मे चलने वाले आदमी की तरह छत के नीचे गिर जाय।

"माडर्न सर्कस इस तरह का था। इसकी रूप-रेखा नाजुक मगर पागलपन और उत्साह से अलकृत थी। बच्चे शान्ति के साथ स्तनो से दूध पी रहे थे जिनसे मजूरी और धमकी को जोशीली आवाज़े आ रही थी। सारी जनता दुधमुँहे बच्चे के समान क्रान्ति के स्तनो से अपने सूखे होठो से दूध पी रही थी। लेकिन यह बच्चा बहुत तेज़ी के साथ बढ गया।"

इस तरह क्रान्ति का हमेशा बदलने वाला नाटक पेट्रोग्रेड में और रूस के दूसरे शहरों और गाँवों में चलने लगा। यह दुधमुंहा बच्चा बढ़ा और बड़ा हो गया। लड़ाई की भयंकर बोझ की वजह से हर जगह आर्थिक विनाश के चिन्ह दिखाई दे रहे थे; फिर भी मुनाफा उठाने वाले लोग लड़ाई से खूब मुनाफा उठा रहे थे!

सोवियट में और कारखानो में बोलशेविक लोगों का प्रभाव और ताकत बढ़ती गई। इससे घबड़ाकर करेंस्की ने उनको दबाने की कोशिश की। लेनिन के खिलाफ पहले-पहल बहुत ज़ोरो के साथ आन्दोलन चला और यह कहा जाने लगा कि लेनिन तो जर्मन लोगों का भेजा हुआ आदमी है और वह रूस में उत्पात मचाने के लिए भेजा गया है। लोगों से कहा जाता था कि देखो स्वीज़रलैण्ड से लेनिन बिना जर्मन लोगों की मदद के ही जर्मनी से होकर रूस में कैसे आ सकता है। लेनिन मध्यवर्ग के लोगो में बहुत बदनाम हो गया और वे लोग उसे देशद्रोही समझने लगे। करेंस्की ने जर्मनी का दूत और देशद्रोही होने का जुर्म लगाकर लेनिन की गिरफ्तारी का वारण्ट निकाला। लेनिन खुद यह चाहता था कि उसपर मुकदमा चले ताकि वह इस अपराध को गलत साबित कर सके। लेकिन उसके साथी इस बात से सहमत नहीं हुए और उसे छिप जाने पर मजबूर किया। ट्राटस्की भी गिरफ़्तार कर लिया गया था, लेकिन बाद में पेट्रोग्रेड सोवियट के दबाव डालने पर छोड़ दिया गया। बहुत से दूसरे बोलशेविक भी पकडे गये; उनके अख़बार दबा दिये गये और ऐसे कार्यकर्त्ताओ के हथियार छीन लिये गये जो बोलशेविको के प्रति हमदर्दी रखने वाले समझे जाते थे।

"The air, intense with breathing and waiting, fairly exploded with shouts and with the passionate yells peculiar to the Modern Circus Above and around me was press of elbows, chests and heads I spoke from out of a warm cavern of human bodies, whenever I stretched out my hands I would touch some one, and a grateful movement in response would give me to understand that I was not to worry about it, not to break off my speach but to keep on No speaker, no matter how exhausted, could resist the electric tension of that impassioned human throng They wanted to know, to understand, to find their way At times it seemed as if I felt, with my lips, the stern inquisitiveness of this crowed that had become merged into a single whole Then all arguments and words thought out in advance would break and recede under the imperative pressure of sympathy, and other words, other arguments, utterly unexpected by the orator but needed by these people, would emerge in full array from my sub-consciousness On such occasions I felt as if I was listening to the speaker from the outside, trying to keep pace with his ideas, afraid that, like a somnambulist, he might fall off the edge of the roof at the sound of my conscious reasoning"

"Such was the Modern Circus It had its own contours, fiery, tender and frenzied The infants were peacefully sucking the breasts from which approving or threatening shouts were coming The whole crowd was like that, like infants clinging with their dry lips to the nipples of the revolution But this infant matured quickly"

यानी, "इस सभा का वातावरण लोगो के इन्तजार और साँस लेने की वजह से बहुत गरम था, लेकिन जोशीले नारो से और जयध्वनि से, जो मार्डन सर्कस की एक खासियत थी, यह वातावरण अशान्त हो जाता था। मेरे ऊपर और मेरे चारो तरफ घुटनो, सीनो और सरो का जमघट था, और मैं उनसे दबता जाता था। मैं मनुष्य-शरीरो की बनी हुई गुफा की गर्मी से बोल रहा था। जब जब मैं अपने हाथ फैलाता था, कोई-न-कोई छू जाता था। इसके जवाब में उधर से जो हरकत होती थी वह इस बात के लिए मुझे विश्वास दिलाती थी कि मुझे अपना भाषण जारी रखना चाहिए और इसके लिए व्याख्यान को रोकने की कोई जरूरत नही। कोई व्याख्यान देने वाला, चाहे वह कितना ही थक क्यो न गया हो, आदमियो की भीड की उत्साह से भरी हुई इस बिजली की धारा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। लोग समझना चाहते थे, जानना चाहते थे, और अपना रास्ता निकालना चाहते थे। सारी भीड़ एक परिपूर्ण चीज़ हो गई थी और इसके कठोर

७ नवम्बर आई और सोवियट-सिपाहियो ने जाकर सरकारी इमारतो, खासकर तार-घर, टेलीफोन, एक्सचेज और सरकारी बैंक वगैरा घात और जुगत की जगहो, पर कब्जा कर लिया। किसी ने कोई मुकाबिला नही किया। "अस्थायी सरकार हवा में गायब हो गई," इन शब्दो में एक अंग्रेज प्रतिनिधि ने इग्लैण्ड को सरकारी रिपोर्ट भेजी थी।

लेनिन नई सरकार का प्रमुख यानी प्रेसीडेण्ट हुआ और ट्राटस्की वैदेशिक सचिव। दूसरे दिन यानी ८ नवम्बर को लेनिन सोवियट काग्रेस में शामिल होने के लिए स्मानली इस्टीटयूट को गया। शाम का वक्त था। काग्रेस ने इस नेता का बहुत जोरो के साथ स्वागत किया। रीड नाम के एक अमेरिकन पत्रकार ने, जो इस मौके पर मौजूद था, इस बात का वर्णन किया है कि जब 'महान लेनिन' प्लेटफार्म पर आया, वह कैसा दीखता था—

"एक छोटे कद का गठीला व्यक्ति, जिसके कन्धो पर एक बडा सिर रक्खा हुआ था—बहादुरी और स्फूर्ति से भरा हुआ। छोटी-छोटी आखे, गुमठी-सी नाक, चौडा मुँह और बडी ठुड्डी, मूँछ-दाढी घुटी हुई, पर उसकी पुरानी और आगे मशहूर होने वाली दाढी के छोटे-छोटे बाल निकल रहे थे। फटे-पुराने कपडे और पैजामा टांगो से ज्यादा लम्बा। उसमें कोई ऐसी प्रभावशाली बात नही पाई जाती थी कि कोई भी उसे अपना आदर्श बनावे। पर यह एक आश्चर्यजनक लोकप्रिय नेता था, जो सिर्फ अपनी बुद्धि की वजह से नेता बना था—निर्लेप, गम्भीर, कट्टर और निरस। उसमें कोई दिलचस्प सनक भी नही पाई जाती थी। लेकिन इसमे बडे-बडे खयालो और गहरी बातो को सीधी-सादी जबान मे समझा सकने और किसी स्थिति का विश्लेषण करके यानी उसे टुकडे-टुकडे करके लोगो को समझाने की ताकत थी। और कुशाग्र बुद्धि के साथ-साथ उसमे महान् बौद्धिक साहस भी था।"

साल भर के अन्दर ही यह दूसरी क्राति हो गई और अभी तक शान्तिपूर्ण बनी रही। शासनाधिकार के बदलने में बहुत कम खून गिरा। मार्च की क्रान्ति में इससे ज्यादा लडाई हुई थी और आदमी मारे गये थे। मार्च की क्रान्ति आप ही आप और असगठित रूप से हुई थी। नवम्बर की क्राति को सोच-विचार कर सगठित किया गया था। इतिहास में यह पहला मौका था जबकि गरीब से गरीब वर्ग के प्रतिनिधि, खासकर मिलो के मजदूर, देश के शासन के प्रमुख बने थे। लेकिन इन लोगो को इतनी आसानी

उसको नही मानते। लेनिन छिपे हुए था और उसे डर था कि दूसरे बोलशेविक नेता कही समझौता न कर ले और मौके को हाथ से खो दे। इसलिए वह बराबर उनको आगे कदम बढाने के लिए मजबूर करता रहता था। चूँकि ७ तारीख को मामला नाजुक हो गया यह कार्रवाई उस वक्त कर ली गई।

इन कार्यकर्त्ताओं का ढग ज्यादा से ज्यादा गरम और अस्थायी सरकार के लिए खतरनाक होता जाता था और ये इस सरकार के खिलाफ बडे-बडे प्रदर्शन भी कर चुके थे।

क्राति के खिलाफ एक नया आन्दोलन शुरू हुआ यानी जब प्रतिक्रांति ने सिर उठाया तब इस नाटक में एक नया दृश्य सामने आ गया। एक बुड्ढा जनरल, जिसका नाम कार्नीलफ था, सारी क्रान्ति को और अस्थायी सरकार को कुचलनें के लिए अपनी फौज के साथ राजधानी की ओर बढा। शहर के नजदीक पहुँचते-पहुँचते उसकी सेना गायब हो गई। सिपाही लोग क्रान्तिकारियो की तरफ चले गये।

घटनायें बहुत तेजी से घट रही थीं। सोवियट साफ-साफ सरकार की प्रतिद्वन्द्वी होती जाती थी। अकसर वह सरकार की आज्ञाओ को रद्द कर देती थी या खिलाफ हुक्म निकालती थी। इस समय स्मानली इस्टिटचूट में सोवियट का दफ़्तर था और वहीं पेट्रोग्रेड की क्राति का भी केन्द्र था। इस जगह पहले रईसो की लड़कियो का एक प्राइवेट स्कूल था।

लेनिन पेट्रोग्रेड की सरहद पर आया और बोलशेविको ने निश्चय किया कि अस्थायी सरकार से सत्ता छीन लेने का वक्त आ गया है। बगावत के सारे प्रबन्ध की जिम्मेदारी ट्राटस्की को सौंपी गई। एक-एक बात सावधानी से पहले से ही निश्चय कर ली गई और यह भी तय हो गया कि किन-किन महत्व की जगहो पर और कब कब्जा किया जायगा। सातवीं नवम्बर बलवे की तारीख मुकर्रर हुई। इस दिन सोवियट्स की अखिल रूसी कांग्रेस होने वाली थी, लेनिन ने इसी तारीख को मुकर्रर किया। इसकी जो वजह बताई, वह बहुत दिलचस्प है। उसने कहा:—

"६ नवम्बर की तारीख बहुत पहले होगी। गदर के लिए अखिल रूसी आधार का होना जरूरी है। ६ तारीख को काग्रेस के सब प्रतिनिधि न आ पाये होगे। इसके विपरीत अगर तारीख मुकर्रर करे तो बहुत देर हो जायगी, क्योंकि उस तारीख तक कांग्रेस सगठित हो जायगी और जनता की किसी भी बडी जमात का फुर्ती के साथ एक निश्चित कार्रवाई कर सकना मुश्किल होता है। इसलिए हमें ७ ही तारीख को, जिस दिन काग्रेस का पहला अधिवेशन होगा, क्रान्ति करनी चाहिए, ताकि हम कांग्रेस से कह सके कि "लो, अधिकार यह है। इसका जो कुछ करना हो करो।"

इस तरह से क्रान्ति के स्पष्ट बुद्धि वाले विशेषज्ञ ने कहा था, क्योंकि वह अच्छी तरह जानता था कि क्रान्ति की कामयाबी अकसर छोटी-छोटी महत्वशून्य घटनाओ पर निर्भर होती है।[1]

[1] सात नवम्बर के बारे में यह कहानी एक अमेरिकन पत्रकार ने, जो उस समय पेट्रोग्रेड में था, लिखी है। लेकिन कुछ लोग जो उस समय वहाँ मौजूद थे

सुलहनामे को घृणा की दृष्टि से देखती थी। इस सुलहनामे के आधार पर रूस के राज्य का एक बहुत बडा हिस्सा पश्चिम में जर्मनी ने ले लिया। लेकिन सुलह तो हर हालत में करनी जरूरी थी, क्योकि जैसा लेनिन कहता था—"फौज ने अपने कदमो से सुलह के पक्ष में राय डाली है।"

सोवियट ने पहले इस बात की कोशिश की कि महायुद्ध में जितनी शक्तियाँ फँसी हुई हैं सब से सुलह हो जाय। शासन हाथ में लेने के दूसरे ही दिन उसने सारी दुनिया के साथ सुलह करने की घोषणा निकाली और इस बात को बिलकुल साफ कर दिया कि जार के खुफिया अहदनामो के अनुसार जो कुछ अधिकार रूस को मिलते, उसकी यह दावेदार नहीं है। उसने यह भी कहा कि कुस्तुनतुनिया तुर्कों के पास रहे और कोई दूसरा देश न छीना जाय। लेकिन सोवियट की तजवीज का किसी ने जवाब नही दिया क्योकि लड़ने वाले दोनो दल जीतने की आशा रखते थे और युद्ध के जीते हुए देशो से फायदा उठाना चाहते थे। इसमें शक नही की सोवियट की इस तरह तजवीज पेश करने की एक मशा यह भी थी कि उसके सिद्धान्तो का प्रचार हो। वह चाहती थी कि हरेक देश की जनता पर और युद्ध से थके हुए सिपाहियो पर असर पड़ जाय और दूसरे देशो में सामाजिक क्रान्ति पैदा हो जाय, क्योकि ये लोग संसार भर में क्रान्ति करना चाहते थे और इनका ख़याल था कि इसी तरीके से ये अपनी क्रान्ति की रक्षा कर सकेंगे। मैंने तुम्हे इसके पहले बताया है कि फ़्रान्स और जर्मनी की फौजो पर सोवियट के प्रचार का बडा असर पड़ा था।

लेनिन ब्रेस्ट लिटोस्क के सुलहनामे को एक चन्दरोजा मामला समझता था, जो बहुत दिनो तक कायम नही रह सकता था और यही हुआ भी। ९ महीने बाद ज्योही जर्मनी को मित्र-पक्ष के लोगो नें पश्चिमी मोर्चे पर हरा दिया, सोवियट ने इस सुलहनामे को मन्सूख़ कर दिया। लेनिन असल में चाहता था कि थके हुए मजदूर और किसानो को, जो फौज में थे, जरा-सा आराम और साँस लेने का मौका मिल जाय ताकि वे अपने घरो को वापस जा सकें और अपनी आँखो से देख सकें कि क्रान्ति ने उनके लिए क्या किया है। वह चाहता यह था कि किसान लोग यह समझने लगें कि जमींदार खतम हो गये और जमीन उनकी हो गई। वह चाहता था कि मिल के मजदूर भी यह समझने लगें कि उनका शोषण करनेवाले खतम हो गये। इससे वे क्रान्ति के लाभ अच्छी तरह समझने लगेंगे और उसकी रक्षा करने के लिए उत्सुक होगे, साथही वे यह भी समझ जायेंगे कि उनके असली दुश्मन कौन है। लेनिन के ऐसे ख़यालात थे, क्योकि वह अच्छी तरह जानता था कि गृह-युद्ध आनेवाला है। यह नीति बाद को बहुत सफलतापूर्वक सही साबित हुई। किसान और मजदूर लड़ाई के मैदान से अपने-अपने खेतो और

से सफलता मिलने वाली नहीं थी। तूफान इनके चारो तरफ इकट्ठा हो रहा था और भयंकर वेग के साथ इनके ऊपर फट पड़ने वाला था।

लेनिन को और उसकी नई बोलशेविक सरकार को किस स्थिति का मुकाबिला करना पड़ा ? जर्मन-युद्ध अभी तक जारी था यद्यपि रूसी सेना छिन्न-भिन्न हो चुकी थी और इस सेना के लड़ने की कोई सम्भावना बाकी नहीं रह गई थी। सारे देश में अशान्ति फैली हुई थी। सिपाहियो और लुटेरो की टोलियाँ देश भर में फिर-फिर कर मन-माना जो चाहती थीं, करती थी। आर्थिक ढाँचा टूट चुका था, खाने का सामान कम पड गया था और लोग भूखो मर रहे थे। लेनिन के चारो ओर पुरानी प्रणाली के प्रतिनिधि मौजूद थे, जो इस बात के लिए तैयार बैठे थे कि क्रान्ति को कुचल दें। राज्य का सगठन पूँजीपतियो की प्रणाली का था और पुराने सरकारी अफसर नई सरकार के साथ सहयोग करने से इनकार करते थे। बैंकर या साहूकार लोग रुपया देने को तैयार नहीं थे। यहाँ तक कि तारघर वाले तार नहीं देते थे। इतनी कठिन स्थिति थी कि बहादुर-से-बहादुर आदमी पस्त हो जाय।

लेनिन और उसके साथियो ने जोरो से काम करना शुरू किया। पहली फिक्र इस बात की थी कि जर्मनी के साथ सुलह कर ली जाय। उन्होने फौरन ही लड़ाई को वन्द कराने का इन्तजाम कर लिया। ब्रेस्ट लिटोस्क में दोनो देशो के प्रतिनिधि मिले। जर्मन लोग अच्छी तरह जानते थे कि बोलशेविक लोगो में लड़नें की ताकत नहीं रही है, इसलिए अपने अभिमान और बेवकूफी की वजह से उन्होने नें बडी अपमान-जनक और सख्त माँगें पेश कर दीं। बोलशेविक लोग हालांकि सुलह करने के लिए वहुत उत्सुक थे लेकिन इन मागो को देखकर अवाक् रह गये। बहुतो की तो यह राय हुई कि सुलह की शर्तें नामंजूर करदी जायं, लेकिन लेनिन हर हालत में सुलह करने के पक्ष में था। कहते है कि ट्राटस्की को, जो सुलह की इस कान्फ्रेंस का एक रूसी प्रतिनिधि था, जर्मन लोगो के एक उत्सव में शाम के कपडे पहन कर बुलाया गया। वह बहुत घवडाया और सोचने लगा कि मजदूरो के प्रतिनिधि के लिए यह कहाँ तक मुनासिव होगा कि वडे अमीर आदमियो की पोशाक पहन कर जाय। उसनें लेनिन को तार दिया और उससे सलाह पूछी। लेनिन ने फौरन ही जवाब दिया—"अगर सुलह के काम में सहायता मिले तो तुम लँहगा पहन कर भी जा सकते हो।"

इधर सोवियट सुलह की शर्तो के लिए बहस-मुबाहिसे कर रही थी, उधर जर्मन लोग पेट्रोग्रेड की तरफ वढ़ने लगे और उन्होने सुलह की शर्तो को पहले से ज्यादा सख्त कर दिया। आखिर लेनिन की 'सलाह को सोवियट ने मान लिया और मार्च १९१८ में ब्रेस्ट लिटोस्क के सुलहनामे पर दस्तखत हो गये, हालाँकि सोवियट इस

में, जो बाद को हुआ, अपने कारखानों की मशीनों को तोड़ने की कोशिश की। ऐसी हालत में सोवियट सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा और इन कारखानों की हिफाजत के लिए मिलो पर कब्जा करना पड़ा। इस तरीके से उत्पत्ति के साधनो को पंचायती बनाने की प्रगति में यानी मिलो को सरकारी अधिकार में लाने के काम में खास तौर से तेजी पैदा हो गई, जितनी तेजी कि शायद साधारण स्थिति में नहीं हो सकती थी।

सोवियट शासन के पहले ९ महीनो में रूसी जनता के जीवन में बहुत फरक नही आया। बोलशेविको नें आक्षेपो को भी बरदाश्त किया और गालियां भी सही। बोलशेविको के खिलाफ अखबार निकलते रहे। जनता आम तौर से भूखो मरती थी, लेकिन अमीरो के पास अब भी बहुत काफी पैसा व्यसन और शान दिखाने के लिए मौजूद था। होटलो में रात को नाच-गाने होते थे और वहाँ खूब भीड़ लगती थी। घुड़दौड़ और दूसरे खेल-कूद पहले की तरह ही जारी थे। बडे-बडे शहरो में बडे-बडे अमीर खूब दिखाई देते थे और सोवियट सरकार के पतन की आशा में खुल्लमखुल्ला खुशियाँ मनाते हुए दिखाई देते थे। ये लोग, जोकि जर्मनी के खिलाफ लड़ाई जारी रखने में इतनी ज्यादा देश-भक्ति जाहिर करते थे, अब इस बात पर उत्सव करने लगे कि जर्मन लोग पेट्रोग्रेड की तरफ बढ़ते चले आ रहे हैं। ये लोग इस आशा में कि जर्मन सेनायें इनकी राजधानी पर कब्जा कर लेगी, बहुत प्रसन्न थे। विदेशियो के राज्य का डर इनके हृदय में इतना नहीं था, जितनी सामाजिक क्रान्ति की घृणा। यह बात हमेशा होती है, खास तौर से तब, जब मामला वर्गो का होता है। हम हिन्दुस्तान में आज यही देखते हैं। यहाँ भी बहुत-से ऐसे आदमी हैं, जो विदेशी हुकूमत को बेहतर समझते हैं, इस बात के मुकाबिले में कि विशेषाधिकार और स्वत्व, जो अब इनको मिले हुए हैं, इनके हाथ से जाते रहें।

जनता का जीवन पहले ही जैसा था और इस समय बोलशेविकों का कोई आतंक भी नही था। मास्को का मशहूर नाच बराबर होता था और थियेटरों में खूब भीड़ लगती थी। जब पेट्रोग्रेड पर जर्मनो के कब्जा कर लेने का खतरा पैदा हुआ, सोवियट सरकार मास्को चली आई। उस समय से मास्को सोवियट की राजधानी रहा है। मित्र पक्ष के राजदूत अभी तक रूस में थे। जब यह अन्देशा हुआ कि पेट्रोग्रेड पर जर्मनो का कब्जा हो जायगा, वे पेट्रोग्रेड से भाग गये और जाकर 'बोलोगडा' में, जो एक छोटा सा कस्बा है, आराम के साथ मजे में बस गये। वे लोग यहाँ रहते थे और तरह-तरह की अफवाहे, जो इनके पास पहुँचती थी, सुनकर बराबर परेशान और बेचैन रहा करते थे। वे बराबर ट्राटस्की से पूछते रहते थे कि अफ़वाहें कहाँ तक सही हैं। इन पुराने राजदूतों की इस मानसिक परेशानी से ट्राटस्की बहुत परेशान हो

मिलो को वापस गये। वे लोग न बोलशेविक थे, न साम्यवादी, लेकिन वे क्रान्ति के बडे कट्टर हिमायती हो गये, क्योकि वे क्रान्ति की वजह से जो कुछ प्राप्त कर चुके थे, उसे छोड़ना नहीं चाहते थे।

इधर जर्मन लोगो से किसी-न-किसी तरह समझौता करनें की कोशिश हो रही थी, उधर बोलशेविक नेताओ नें देश की अन्दरूनी हालत पर ध्यान देना शुरू किया। फौज से निकले हुए अफसरो और साहसी ले-भग्गुओ की काफी तादाद ऐसी थी जिनके पास मशीनगनें और लड़ाई का सामान था। ये लोग लुटेरेपन का व्यवसाय चला रहे थे। बडे-बडे शहरो में दिन दहाडे गोलियाँ चलाकर लूटमार करते थे। पुराने आतंकवादी दल के कुछ लोग भी थे, जो सोवियट को पसन्द नहीं करते थे और बडी परेशानी पैदा कर रहे थे। सोवियट सरकार ने इन सब लुटेरो और दूसरो को जोरो से दबा दिया और पस्त कर दिया।

सोवियट शासन को इससे ज्यादा खतरा अनेक सिविल सर्विस के लोगो से यानी पुराने सरकारी नौकरो से हुआ। इनमें से बहुतेरे ऐसे थे, जो बोलशेविको की मातहती में या उनसे सहयोग करके किसी तरह भी काम करने को तैयार नहीं थे। लेनिन ने यह सिद्धान्त निश्चित कर दिया कि, जो काम न करे वह खाना भी न खाय, जो काम न करे उसे रोटी न मिले। तमाम सरकारी नौकर, जिहोनें सहयोग नहीं दिया, फौरन बरखास्त कर दिये गये। बैंकरो ने अपनी तिजोरियाँ खोलनें से इन्कार कर दिया। इस पर तिजोरियाँ डाइनामाइट यानी बम से खोल दी गईं। लेकिन पुरानी प्रणाली के सरकारी अफसरो के प्रति, जो सहयोग करने से इन्कार करते थे, लेनिन की घृणा का सबसे अच्छा उदाहरण यह है कि जब मुख्य सेनापति नें बोलशेविक सरकार के हुक्म को मानने से इनकार कर दिया, तो वह पाँच मिनिट में बरखास्त कर दिया गया। और पांच मिनिट के अन्दर क्राइलेन्को नाम का नौजवान बोलशेविक लेफ्टीनेण्ट प्रमुख सेनापति बना दिया गया!

इन तब्दीलियो के होते हुए भी रूस का पुराना ढांचा बहुत कुछ ज्यो-का-त्यो बना रहा, किसी विशाल देश को एक दम से समाजवादी बनाना आसान काम नहीं होता और यह सम्भव है कि रूस में परिवर्तन की प्रगति को कई साल लग गये होते अगर घटना ने मजबूरी पैदा न कर दी होती। जिस तरह किसानो ने जमींदारो को भगा दिया था, मजदूरो ने भी कई जगहो पर अपने पुराने मालिको से नाराज हो कर उनको निकाल दिया और उनके कारखानो पर कब्जा कर लिया। सोवियट इन कारखानो को पुराने पूंजीपतियो को किसी तरह वापस नहीं कर सकती थी इसलिए उसने इन पर कब्जा कर लिया। कई जगहो पर इन पूंजीपतियो ने गृह-युद्ध के जमाने

युद्ध अभी तक जारी था लेकिन सोवियट रूस में विचित्र दृश्य यह दिखाई देता था कि जर्मन शक्तियाँ और मित्र दल दोनों अलग-अलग एक ही काम में यानी बोलशेविकों को कुचलने में लगे थे। इस स्थान पर हमें फिर यह बात दीख जाती है कि श्रेणी-सम्बन्धी घृणा राष्ट्रीय घृणा से कितनी ज्यादा ताकतवर होती है और राष्ट्रीय घृणा स्वयं काफी विषैली और कटु हुआ करती है। इन शक्तियो ने रूस के ख़िलाफ़ सरकारी तौर पर युद्ध की घोषणा नही की थी, लेकिन सोवियट को परेशान करने के इन्होने बहुत से तरीके निकाल लिये थे, ख़ास कर ऐसे नेताओ को हथियारो से और पैसे से मदद देते थे और उनको प्रोत्साहन दिया करते थे जो क्रान्ति के ख़िलाफ़ थे। ज़ार से बहुत पुराने सेनापतियो ने सोवियट के ख़िलाफ़ लड़ाई शुरू कर दी।

ज़ार और उसका कुटुम्ब पूर्वी रूस में यूरल पहाडो के नज़दीक एक स्थानीय सोवियट की निगरानी में कैदी बना कर रक्खे गये थे। जेक सेनाओ के इस प्रदेश की तरफ़ बढ़ने की वजह से स्थानीय सोवियट डर गई। वह घबड़ा गई कि कही ज़ार छुड़ा न लिया जाय और क्रान्ति के खिलाफ़ एक बडी ताकत न बन जाय। इसलिए उन्होंने कानून को अपनी तबीयत के मुताबिक काम में लाकर सारे कुटुम्ब को गोली से मार दिया। इससे मालूम होता है कि सोवियट की केन्द्रीय कमेटी का ज़ार और ज़ार के कत्ल के में कोई हाथ न था। लेनिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से ज़ार के और दया की दृष्टि से उसके कुटुम्ब के कत्ल के खिलाफ़ था। चूंकि यह हरकत हो चुकी थी, केन्द्रीय सरकार नें इसका समर्थन किया। शायद मित्र-पक्ष की सरकार इस घटना से और भी बिगड़ गई और वह पहले से ज्यादा विरोध करने के लिए तैयार हो गई।

अगस्त के महीने में स्थिति बदतर हो गई और दो घटनायें ऐसी हुई जिनकी वजह से क्रोध, निराशा और आतंक पैदा हो गया। एक घटना तो यह थी कि लेनिन को मारने को कोशिश की गई और दूसरी यह कि उत्तर रूस में आर्चजिल पर मित्र पक्ष की फौजें पहुच गईं। मास्को में बडी ज़ोरदार सनसनी फैल गई। मालूम होता था कि बस सोवियट का खात्मा होने वाला है। मास्को को खुद दुश्मनो नें चारों तरफ़ से घेर लिया था। जर्मन, जेक और क्रान्तिकारियो के खिलाफ़ जो दल थे वे इसके चारों ओर पडे थे। मास्को के चारों तरफ़ सिर्फ चन्द जिलों में ही सोवियट का राज्य था और मित्र-पक्ष की सेना के उतर पड़नें से इसका भी खात्मा निश्चित हो गया। बोल-शेविको के पास कोई बडी फ़ौज नही थी। ब्रेस्ट लिटोस्क के समझौते के अभी सिर्फ़ ५ महीनें ही गुजरे थे और पुरानी फौज का ज्यादा हिस्सा खेती-किसानी में लग गया था। मास्को में खुद बहुत से षड्यन्त्र पैदा हो गये थे और बुर्जुआ यानी मध्यम वर्ग के लोग खुल्लमखुल्ला खुशियां मना रहे थे कि सोवियट का ख़ातमा होनें वाला है।

गया और इसने वोलगडा के हिज़ एक्सेलेंसियो की मानसिक बेचैनी को शान्त करने के लिए एक ब्रोमाइड का नुस्खा लिखना चाहा। डाक्टर लोग हिस्टीरिया और बेचैनी से पीडित लोगो की मानसिक परेशानी को ठंडा करने के लिए ब्रोमाइड देते हैं।

ऊपर-ऊपर ज़िन्दगी जरूर साधारण थी, लेकिन इस ज़ाहिरा शान्ति के नीचे अनेक धारायें अनुकूल और प्रतिकूल बहती थी। कोई भी इस बात की उम्मीद नही करता था और बोलशेविक लोगो को भी इसकी उम्मीद नही थी कि वे बहुत दिनो तक कायम रह सकेगे। हरेक आदमी साज़िश में लगा था। जर्मन लोगो ने दक्षिण रूस में यूक्रेन में एक रियासत कायम कर रक्खी थी जो इनके हाथ की कठपुतली थी और सुलह हो जाने पर भी ये लोग सोवियट को बराबर धमकाते रहते थे। मित्र-पक्ष जरूर जर्मनो से नफरत करता था, लेकिन वह बोलशेविको से और भी ज्यादा नफरत करता था। अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन ने सोवियट काग्रेस को १९१८ के शुरू में प्रेम-सन्देश भेजा था, लेकिन बाद को मालूम होता है कि वह इस बात पर पछताया और उसने अपने ख़याल बदल दिये। इस तरह से मित्र-पक्ष के लोगों ने निजी तौर पर, क्रान्तिकारी प्रवृत्तियो के विरोध में जो आन्दोलन था उसकी सहायता की और उसको रुपये-पैसे से मदद दी। वे छिपे-छिपे क्रान्तिकारी दल के ख़िलाफ काम भी करते थे। विदेशी जासूसो से मास्को भरा पड़ा था। अंग्रेज़ी खुफ़िया पुलिस का ख़ास आदमी, जो ब्रिटेन का सबसे बड़ा जासूस समझा जाता था, सोवियट सरकार को परेशान करने के लिए भेजा गया था। जिन बडे-बडे आदमियो को उनकी जायदाद से वचित कर दिया गया था, वे मित्र-पक्ष के रुपये से क्रान्ति के विरुद्ध बराबर आन्दोलन भड़काते रहते थे।

१९१८ के मध्य के करीब यह हालत थी। सोवियट की जान कच्चे धागे से लटक रही थी।

: १५२ :

सोवियट की विजय

११ अप्रैल, १९३३

जुलाई १९१८ के महीनें में रूस की स्थिति में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए। बोलशेविक लोगो पर जो जाल फेंका गया था वह सिकुड़ता जाता था और वे उसमें फँसते जाते थे। दक्षिण में यूक्रेन से जर्मनो की चढाई का डर था और मित्र पक्ष के लोग ज़ेकोस्लोवेकिया के लड़ाई के पुरानें कैदियो की एक वडी तादाद को इस बात का प्रोत्साहन दे रहे थे कि वह मास्को पर टूट पडे। फ़्रान्स में सारे पश्चिमी मोर्चे पर महा

पूर्वी साइबेरिया से लेकर बाल्टिक और क्रीमिया तक जारी थी। बार-बार यही मालूम होता था कि सोवियट का खात्मा हुआ। मास्को खुद खतरे में था और पेट्रोग्रेड दुश्मन के हाथ में जाने ही वाला था। लेकिन सोवियट ने हरेक नाजुक मौके पर विजय पाई और हरेक विजय के साथ उसकी ताकत और उसका आत्म-विश्वास बढ़ता गया।

क्रान्तिकारियो के खिलाफ दल का एक नेता एडमिरल कोलचक था। वह अपनें-को रूस का शासक कहता था। मित्र-दल के लोग उसको शासक मानते थे और उसकी बडी मदद करते थे। जनरल ग्रेव्ज अमेरिका की सेना के सेनापति थे और कोलचक की सेना को मदद दे रहे थे। उनके कथन से पता चलता है कि एडमिरल कोलचक साइबेरिया में कैसी-कैसी हरकते करता था। यह अमेरिकन जनरल लिखता है :—

"भयकर हत्याये की गई, लेकिन ये हत्याये, जैसा दुनिया समझती है, बोल-शेविको ने नही की। मै यह सचाई के साथ कह सकता हूँ कि पूर्वी साइबेरिया मे अगर बोलशेविको ने एक हत्या की है तो उनके खिलाफ दल ने उसके मुकाबिले मे सौ हत्याये की है।"

तुम्हे यह जानकर आश्चर्य होगा कि बडे-बडे राजनीतिज्ञ बडे-बडे राष्ट्रो के मामलात को कितने कम ज्ञान पर चलाते हैं और लड़ाई तथा सुलह करते है। लायड जार्ज उस वक्त ब्रिटेन का प्रधान सचिव था और योरप में शायद सबसे ज्यादा प्रभावशाली आदमी उस वक्त वही था। हाउस आफ कामन्स में रूस पर व्याख्यान देते हुए उसनें कोलचक और दूसरे सेनापतियो का जिक्र किया। जहाँ उसनें जनरल कोलचक का जिक्र किया वहाँ जनरल खारकफ का भी जिक्र कर दिया। पर खारकफ़ कोई जनरल नही था। खारकफ़ तो एक मशहूर शहर का नाम है, जो यूक्रेन की राजधानी है। भूगोल की प्रारंभिक बातो से इस प्रकार अपरिचित होते हुए भी इन राजनीतिज्ञो ने योरप को टुकडे-टुकडे कर दिया और एक नया नकशा तैयार कर दिया !

मित्र-दल नें भी रूस की नाकेबन्दी की और यह नाकेबन्दी इतनी कामयाब रही कि सन् १९१९ भर रूस विदेशो से न तो कुछ खरीद सका, न बेच सका।

इन तमाम बडी-बडी कठिनाइयो और अनेक शक्तिशाली दुश्मनो के होते हुए भी सोवियट रूस जिन्दा रहा और विजयी रहा। इतिहास में यह अत्यन्त आश्चर्यजनक बात हुई है। वह कैसे कामयाब हुआ ? इसमें कोई शक नही कि अगर मित्रपक्ष संयुक्त रहते और बोलशेविक लोगो को कुचलने पर तुल जाते तो शुरू के दिनो में उन्हे कुचल सकते थे। जर्मनी को हराने के बाद, उनके पास विशाल सेना खाली हो गई थी। लेकिन इन सेनाओ का किसी दूसरी जगह पर और खासकर सोवियट के ख़िलाफ़ इस्तेमाल करना आसान नही था। ये सब सेनायें लड़ाई से थक गई थीं और अगर

नौ महीने की उम्र वाले सोवियट प्रजातन्त्र की यह भयंकर दशा थी। बोल-शेविक लोग निराशा और भय में फँस गये और जब इन्होने देखा कि अब मरना ही है तो सोचा कि लड़ते हुए ही प्राण क्यो न दिये जॉय। १२५ वर्ष पहले जिस तरह नये फ़्रान्सीसी प्रजातन्त्र ने किया था वैसे ही ये चारो तरफ से घिर गये और रास्ता न पाने वाले जगली जानवर की तरह वे अपने दुश्मन पर टूट पडे। न तो क्षमा की बात रही, न दया की। सारे देश में फौजी कानून जारी कर दिया गया। और सितम्बर की शुरुआत में केन्द्रीय सोवियट कमेटी ने 'खूनी आतंक' (Red Terror) की घोषणा की। 'सारे देशद्रोहियो का कत्ल और विदेशी हमला करने वालो के खिलाफ निर्दयतापूर्ण युद्ध' यह उनकी पुकार थी। उन्होने निश्चय किया कि हम अपनें दुश्मनो के खिलाफ़ चाहे वह देश के अन्दर के हो या बाहर के, डटकर लडेंगे। अब सोवियट का मुका-बिला दुनिया से और अपने ही देश के संकीर्ण दल से पड़ गया। 'सैनिक साम्यवाद' का युग आ गया और सारा देश एक किस्म का फ़ौजी कैम्प बन गया। लाल सेना के संगठन के लिए हरेक किस्म की कोशिश की गई और यह काम ट्राटस्की को सौंपा गया।

यह सितम्बर-अक्तूबर १९१८ की बात है, जबकि पश्चिम में जर्मनो की युद्ध की मशीन टूट रही थी और लड़ाई बन्द करने की चर्चा चल रही थी। प्रेसीडेण्ट विल-सन ने अपनी १४ शर्तें पेश कर दी थीं, जिनके बारे में कहा जाता था कि उनमें मित्र-पक्ष का सब मतलब आ गया था। इनमें से एक बात यह थी कि रूस की सारी जमीन पर से मित्र-पक्ष की फौजें हटा ली जायें और मित्र-पक्ष की मदद से रूस को अपनी उन्नति का पूरा-पूरा मौका दिया जाय। मित्रपक्ष के लोगो का रूस में हस्तक्षेप करना और वहाँ अपनी फौजो को उतार देना, इस सिद्धान्त पर एक अनुपम टीका कही जा सकती है। बोलशेविक सरकार ने प्रेसीडेण्ट विलसन के पास एक नोट भेजा और जोरो के साथ उनकी १४ शर्तो पर ऐतराज किया। उसने लिखा:—

"आप पोलैण्ड, सर्विया, बेलजियम और आस्ट्रिया-हंगरी के लोगो की आजादी की मांग पेश करते है, लेकिन ताज्जुब यह है कि आपकी मांगों में आयर्लैण्ड, मिस्र, हिन्दुस्तान और फिलीपाइन द्वीपो की आजादी का कोई जिक्र नही है।"

११ नवम्बर १९१८ को मित्रपक्ष और जर्मनपक्ष में सुलह हो गई और सुलहनामे पर दस्तखत भी हो गये, लेकिन रूस में १९१९ और १९२० भर गृह-युद्ध चलता रहा। अकेले दम सोवियट नें बहुत से दुश्मनो का मुकाबिला किया। एक वक्त ऐसा था जब सोवियट के ऊपर सत्रह मुख्तलिफ मोर्चो से हमले हुए थे। इंग्लैण्ड, अमेरिका, फ्रास, जापान, इटली, सर्विया, जेकोस्लोवेकिया, रूमानिया, बालकन स्टेट्स, पोलैण्ड और सैकडो रूसी सेनापति, जो क्रान्ति के खिलाफ थे, सोवियट पर हमला कर रहे थे और लड़ाई

चीज परेशान नही कर सकती थी और न डिगा सकती थी। इसके बाद इस जमाने में ट्राटस्की समझा जाता था (जो आजकल रूस में बदनाम होगया है)। ट्राटस्की लेखक और वक्ता था। उसे सेना के सगठन का पहले से कोई अनुभव नही था। पर उसने गृहयुद्ध और नाकेबन्दी के होते हुए भी एक बडी सेना के सगठन का काम शुरू किया। ट्राटस्की खतरे की परवा न करनेवाला बडा बहादुर आदमी था और लड़ाई में वह अकसर अपनी जान खतरे में डाल देता था। बुजदिलो और अनुशासन के खिलाफ काम करनेवालो के लिए उसके पास जरा भी दया नही थी। गृहयुद्ध के एक नाजुक मौके पर उसने यह आज्ञा निकाली थी :—

"मैं चेतावनी देता हूँ कि अगर फौज का कोई टुकडा बगैर हुक्म के पीछे हटेगा तो पहले कमीसरी मार दिया जायगा और उसके बाद कमाण्डर। इनकी जगहो पर बहादुर और निर्भीक सिपाही मुकर्रर किये जायंगे। बुजदिल, डरपोक और देशद्रोही गोली से न बच सकेगे। सारी लाल सेना के सामने मै इस बात का गम्भीरतापूर्वक वादा करता हूँ।"

और उसने अपने वादे को पूरा किया।

ट्राटस्की ने अक्तूबर १९१९ में एक फौजी हुक्म निकाला था। वह भी बड़ा दिलचस्प है, क्योकि उससे जाहिर होता है कि बोलशेविक लोग हमेशा जनता को और पूंजीपति सरकारो को दो चीज मानते रहे और कभी उन्होने राष्ट्रीय दृष्टिकोण नहीं रक्खा। हुक्म यह है :—

" But, even to day, when we are engaged in a bitter fight with Yudenich, the hireling of England, I demand that you never forget that there are two Englands Besides the England of profits, of violence, bribery and blood-thirstiness, there is the England of labour, of spiritual power, of high ideals of international solidarity It is the base and dishonest England of the Stock Exchange manipulators that is fighting us The England of labour and the people is with us "

अर्थात् "आज भी, जब कि हम इग्लैण्ड के पिट्ठू यूडनिच से कठोर लडाई लड रहे है, मै तुमसे कहता हूँ कि तुम कभी इस बात को न भूलो कि इग्लैण्ड दो है। एक इग्लैण्ड है मुनाफाखोरो का, जालिमो का, रिश्वत लेनेवालो का, और खून के प्यासो का। दूसरी तरफ एक दूसरा इग्लैण्ड है मजदूरो का, आध्यात्मिक शक्ति का और अन्तर्राष्ट्रीय दृढता के लिए ऊँचे आदर्शो का। जो इग्लैण्ड हमसे लडाई कर रहा है वह शेयर बाजार का कमीना, बेईमान इग्लैण्ड है। जनता का, मजदूरो का इग्लैण्ड हमारे साथ है।"

जिस दृढ़ता के साथ लाल सेना लड़ाई गई, उसका अन्दाजा नीचे लिखी हुई

विदेशो में जाकर फिर लडने को कहा जाता तो शायद इन्कार कर देती। मजदूरो में इस नवीन रूस के लिए वडी हमदर्दी थी और मित्र-दल की सरकारे इस बात से डरती थी कि अगर सोवियट के खिलाफ खुल्लमखुल्ला लडाई छेड़ दी गई तो मुमकिन है देश के अन्दर ही गडवड मच जाय। योरप क्रान्ति के किनारे पहुँच चुका था। तीसरी बात यह थी कि मित्रदल के लोगो में आपस में भी प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी। जब सुलह हुई, इनमें आपस में लडाई-झगड़ा शुरू होगया। इन सब बातो, की वजह से मित्र-दल वोलशेविको को खत्म करने के लिए कोई दृढ प्रयत्न नही कर सका। ये लोग अप्रत्यक्ष रूप से वोलशेविको का खात्मा करना चाहते थे। कोशिश इनकी यह थी कि कोई दूसरा लडाई लडे जिसे ये रुपये-पैसे से, अस्त्र-शस्त्र से और सलाह-मशविरे से मदद दें। इनको पूरा यकीन था कि सोवियट चल न सकेगी।

इन सब बातो की वजह से सोवियट को निस्सन्देह बहुत मदद मिल गई और उसको अपनेको मजबूत बनाने के लिए वक्त मिल गया। लेकिन यह खयाल करना कि वोलशेविको की विजय बाहर की परिस्थिति की वजह से हुई, बोलशेविको के साथ अन्याय करना है। विजय की असली वजह तो यह थी कि रूस की जनता में आत्म-विश्वास था, श्रद्धा थी, आत्म-त्याग था और दृढ संकल्प था। आश्चर्य की बात तो यह है कि यही रूसी लोग हर जगह पर आलसी, जाहिल, सिद्धान्त-भ्रष्ट और किसी महान् प्रयत्न के लिए अयोग्य समझे जाते थे। आजादी एक किस्म की आदत है और अगर हम बहुत दिनो तक इस आदत से वचित रहे तो हम इसे भूल जाते हैं। इन जाहिल रूसी किसानो और मजदूरो को बिलकुल मौका नहीं मिलता था कि इस आदत पर अमल कर सके। लेकिन रूस में उस समय ऐसे काबिल नेता पाये जाते थे कि उन्होने इन असहाय लोगो को एक मजबूत और सगठित कौम बना दिया जिसे अपने सिद्धान्तो में पूरा विश्वास और अपने ऊपर पूरा भरोसा था। कोलचक और उसके सगी-साथी हार गये, सिर्फ इसलिए नही कि बोलशेविक नेताओ में दृढ़ता और योग्यता पाई जाती थी, बल्कि इसलिए कि रूसी कोलचक और उसके साथियो की बात सुनने के लिए तैयार नही थे। ये उन्हे पुरानी प्रणाली का प्रतिनिधि समझते थे जो कि इनके नये पाये हुए अधिकार और हाल में मिली हुई जमीन को छीनने के लिए आये थे। इसलिए किसानो ने यह निश्चय किया कि मरते दम तक इन अधिकारो की रक्षा करेगे।

सबसे ऊपर और ज्यादा अख्तियार रखनेवाला आदमी लेनिन था। रूसियो के लिए यह शख्श देवता होगया। उनकी आशाओ और उमगो का नुमाइन्दा; ऐसा बुद्धिमान जो हरेक परेशानी से निकलने का ढग जानता था और इसे कोई भी

वजह से मुल्क किसी-न-किसी तरह खतरे से बचा था, लेकिन हरेक को अपनी पेटी कसनी पडी थी और यह काम आगे चलकर बहुत कठिन होगया। किसानो को खेतो से ज्यादा उपज पैदा करने की कोई उत्सुकता नही थी, क्योकि वे कहते थे कि जब राज्य ज्यादा पैदा हुआ अन्न खुद ही लेलेगा तो ज्यादा पैदा करने की परेशानी हम क्यो उठायें? स्थिति बडी कठिन और भयानक होती जाती थी। जहाज के सिपाहियो ने पीटर्सवर्ग के करीब क्रांसटाट में बलवा कर दिया था। पीटर्सवर्ग में भी हड़तालें हुई थीं।

लेनिन ने, जिसमें यह अद्भुत गुण था कि वह सिद्धान्तो को मौजूदा स्थिति के अनुसार ढाल सकता था, फौरन कदम आगे बढाया। उसने सैनिक साम्यवाद का खात्मा किया और एक नई नीति चलाई, जिसका नाम था 'नई आर्थिक नीति'। इसकी वजह से किसान को पैदा करने और अपने माल को बेचने की ज्यादा आजादी मिल गई। इस नीति का अर्थ यह था कि किसी हद तक साम्यवादी सिद्धान्तो के अनुसार ये लोग पीछे हट रहे थे; लेकिन लेनिन नें, यह कहकर कि यह कार्रवाई अस्थायी रूप से की जा रही है, उसे उचित बताया। निस्सन्देह जनता को इसकी वजह से कुछ मदद मिली; लेकिन जल्द ही रूस को एक दूसरी भयकर आपत्ति का सामना करना पड़ गया। रूस में दुष्काल पड़ा; दक्षिण-पूर्व रूस के बहुत बडे क्षेत्र में पानी न वरसने की वजह से फसल नष्ट होगई। यह बड़ा भयंकर दुष्काल था और वडे-से-वडे दुष्कालो में से एक दुष्काल कहा जा सकता है। लाखो आदमी भूखो मर गये। चूंकि कई सालो की मुतवातिर लड़ाई, गृह-युद्ध, नाकाबन्दी और आर्थिक पतन के बाद यह दुष्काल पड़ा था और सोवियट सरकार को इतना समय नही मिला था कि वह शान्ति-पूर्वक अपना कार्यक्रम चला सके, इसलिए मुमकिन था कि इस दुष्काल की वजह से सरकार का ढांचा बैठ जाता। लेकिन सोवियट जिस प्रकार इसके पहले की आफतो को पार कर गई थी, इस आफत से भी जिन्दा निकल आई। यूरोपियन सरकारो के प्रतिनिधियो की एक कान्फ्रेंस हुई, जिसमें इस बात पर विचार करना था कि दुष्काल पीड़ितो को क्या मदद दी जाय। इस कान्फ्रेंस ने यह निश्चय किया कि जबतक सोवियट सरकार इस बात का वादा नहीं करती कि जार के लिये हुए कर्ज को अदा करेगी, उस समय तक कोई मदद नहीं दी जा सकती। दया की प्रवृत्ति से महाजनी की प्रवृत्ति ज्यादा मजबूत निकली और रूसी माताओ की ओर से अपने मरते हुए बच्चो की रक्षा के लिए की हुई अपील को भी किसीने नही सुना। लेकिन अमेरिका नें कोई शर्त नहीं की और बडी मदद की।

इंगलैण्ड और दूसरे यूरोपियन देशो नें रूस के दुष्काल में मदद देने से इन्कार कर दिया। लेकिन इसका मतलब यह नहीं था कि वे सोवियट का और तरह से

घटना से हो सकता है। जिस वक्त यूडनिच ने पेट्रोग्रेड को घेर लिया और यह शहर उसके हाथ में जाने ही वाला था, उस वक्त रक्षा-समिति ने एक आज्ञा निकाली—"पेट्रोग्रेड की रक्षा खून का आखिरी कतरा बहाकर भी करनी चाहिए। गजभर भी पीछे न हटना चाहिए और शहर के अन्दर दुश्मन आजाय तो शहर की गलियो में भी लडाई जारी रखनी चाहिए।"

रूस के मशहूर लेखक मैक्सिम गोर्की ने लिखा है कि लेनिन ने ट्राटस्की के बारे में एक दफा यह कहा था—"मुझे तुम कोई दूसरा आदमी ऐसा दिखा दो जो साल-भर के अन्दर एक नमूने की सेना सगठित करके दिखा दे और सेना के विशेषज्ञो का सम्मानपात्र भी होजाय। हमें ऐसा आदमी मिला हुआ है; हमारे पास सब कुछ है और चमत्कार अब भी घटित होनेवाले हैं।"

यह लाल सेना दिन-दूनी और रात-चौगुनी तरक्की करती गई। बोलशेविको के अख्तियार पाने के थोडे ही दिन बाद, दिसम्बर १९१७ में, ४ लाख ३५ हजार आदमी इस सेना में शामिल हो चुके थे। ब्रेस्ट लिटोस्क के बाद इस सेना का बहुत कुछ हिस्सा जरूर गायब होगया और उसको नये सिरे से बनाना पड़ा। सन् १९१९ के मध्य में इस सेना में १५ लाख आदमी पहुँच गये थे और सालभर बाद यही सेना ५३ लाख आदमियो की होगई।

ट्राटस्की रूस का बहुत बडा नायक होगया। लेकिन वह इतना सहृदय नहीं था जितना लेनिन था और इसीलिए लोग इसे उतना प्यार नहीं करते थे जितना लेनिन को। लेनिन को छोडकर उसकी किसी दूसरे पुराने बोलशेविक से नहीं पटती थी। लेनिन के मरने के बाद ही इन लोगो में आपस में झगड़ा होगया और ट्राटस्की, जो क्रान्ति का वीर पुरुष था और जिसने लाल सेना का निर्माण किया था, रूस से निर्वासित कर दिया गया।

१९१९ के खत्म होते-होते सोवियट ने निश्चित रूप से गृह-युद्ध में अपने दुश्मनो को नीचा दिखा दिया था, लेकिन लडाई एक साल तक और कायम रही और नाजुक मौके आते रहे। १९२० में पोलैण्ड के नये राज्य से रूस की लड़ाई छिड़ गई। जर्मनो की पराजय के बाद पोलैण्ड का नया राज्य बन गया था। लेकिन ये सब लड़ाइयाँ १९२० के खत्म होते-होते समाप्त होगई और रूस को कुछ शान्ति मिल गई।

इसी दरमियान अन्दरूनी कठिनाइयाँ बढ चुकी थी। युद्ध, नाकेबन्दी, महामारी और दुष्काल ने देश की बहुत बुरी हालत कर डाली थी। उपज बहुत ज्यादा घट गई थी, क्योंकि जब प्रतिद्वन्द्वी सेनायें देश को रौंद रही हो, तब न तो किसान खेत जोत सकता है और न मजदूर मिलो में चीजो को बना सकता है। सैनिक साम्यवाद की

सेकण्ड इटरनेशनल ('मजदूरो और समाजवादियो की इण्टरनेशनल') को लड़ाई के बाद योरप में फिर से जिन्दा किया गया। बहुत हद तक, कम-से-कम सिद्धान्त-रूप में, सेकण्ड और थर्ड इण्टरनेशनल का उद्देश्य एक ही है। लेकिन इनके विचार और इनके काम करने के तरीको में बहुत भेद है और इनमें आपस में बहुत लडाई है। ये अपने दुश्मन पूंजीवाद पर इतना आक्रमण नहीं करते और उससे इतनी लड़ाई-झगड़ा नही करते जितना आपस में लडते है और एक-दूसरे से लडाई-झगडा करते है। 'सेकण्ड इण्टरनेशनल' अब एक शरीफ और भले मानुषो की सस्था बन गई है और योरप की सरकारो के मन्त्रिमण्डल के अनेक सदस्य इसके सदस्य है। तीसरा इण्टर-नेशनल अभीतक क्रान्तिकारी है और इसलिए अभीतक भले मानुषो की सस्था नही बन सका है।

रूस में गृह-युद्ध के जमाने में लाल आतक (Red Terror) और श्वेत आतंक (White Terior) अपनी कठोर निर्दयता के लिए बराबर एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी रहे और गालिबन श्वेत आतंक ने इस मामले में लाल आतक को मात कर दिया। साइबेरिया में कोलचक के अत्याचारो के बारे में अमेरिकन सेनापति के वर्णन से, जिसे मैं पहले दे चुका हूँ, और दूसरे वर्णनो से भी यही नतीजा निकलता है। लेकिन इसमें भी शक नही कि लाल आतक भी बहुत कठोर था और बहुतसे निर्दोष आदमी इसके शिकार हुए। बोलशेविक लोग, जिनपर चारों तरफ से हमला हो रहा था और जो चारो तरफ़ जासूसो और षड्यन्त्रो से घिरे हुए थे, जरासे शुबहे के ऊपर घबरा जाते थे और बडी सख्ती से सजा देते थे। बोलशेविको की राजनैतिक पुलिस, जिसको चेका कहते थे, इस अत्याचार के लिए बदनाम होगई। यह चेका हिन्दुस्तान की खुफ़िया पुलिस की तरह की चीज थी, लेकिन इसके अख्तियारात ज्यादा थे।

यह ख़त लम्बा होता जाता है और इसे खत्म करने के पहले मैं तुम्हे लेनिन के बारे में कुछ बता देना चाहता हूँ। अगस्त १९१८ में, जब उसकी जान लेने की कोशिश की गई थी, उसे गहरी चोट लगी थी। इसपर भी लेनिन ने ज्यादा विश्राम नही लिया। वह बहुत जोरो के साथ काम कर रहा था और १९२२ की मई में उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया, जो अनिवार्य था। कुछ दिन आराम करनें के बाद उसने फिर काम शुरू कर दिया, लेकिन ज्यादा दिनों तक काम नही कर सका। १९२३ में उसका स्वास्थ्य पहले से भी ज्यादा ख़राब होगया और इस बीमारी से वह नही बच सका। २१ जनवरी १९२४ को मास्को के नजदीक उसका प्राणान्त होगया।

बहुत दिनो तक उसका शरीर मास्को में रक्खा रहा। जाडे का मौसम था और रासायनिक पदार्थो से शरीर को सुरक्षित रक्खा गया था। सारे रूस-भर से और

बहिष्कार कर रहे थे। १९२१ की शुरुआत में एक अग्रेज-रूसी व्यापारिक सधि हुई थी और बहुतसे देशो ने इस उदाहरण का अनुकरण भी किया था और सोवियट के साथ व्यापारिक सधियां भी की थीं।

पूर्वी देशो—जैसे चीन, तुर्की, फारस और अफगानिस्तान—के साथ सोवियट की नीति बहुत उदार रही। ज़ार के प्राप्त किये हुए पुराने अधिकारो को उसने छोड़ दिया और बहुत दोस्ताना बर्ताव करने की कोशिश की। यह बात इसलिए की गई थी, क्योकि उसका सिद्धान्त था कि शोषित और पराधीन जातियो को स्वतंत्रता दी जाय। लेकिन इससे अधिक महत्वपूर्ण अभिप्राय उसका यह था कि सोवियट की अपनी स्थिति मजबूत होजाय। साम्राज्यवादी राष्ट्र, मसलन इग्लैण्ड, सोवियट रूस की उदारता की वजह से अकसर परेशानी में पड़ जाते थे। पूर्वी देश तुलना करने लगते थे, जिसमें इग्लैंड की और दूसरी कौमो की बदनामी होती थी।

१९१९ में एक दूसरी महत्वपूर्ण घटना हुई, जिसके बारे में मुझे जरूर बताना चाहिए। कम्यूनिस्ट पार्टी यानी साम्यवादी दल ने मास्को में 'थर्ड इण्टरनेशनल' (तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ) कायम किया। मैंने तुम्हे पहले के खतो में बताया है कि कार्ल मार्क्स ने 'फर्स्ट इण्टरनेशनल' बनाया था और सेकण्ड इण्टरनेशनल १९१४ में लड़ाई शुरू होने के मौके पर अनेक वीरतापूर्ण शब्दो के बाद खत्म होगया। बोलशेविको का कहना था कि पुराने साम्यवादियो और मजदूरो की पार्टियो ने, जिनसे मिलकर यह 'सेकण्ड इण्टरनेशनल' बना था, मजदूरो को धोखा दिया, इसलिए इन लोगो ने 'थर्ड इण्टरनेशनल' बनाया, जिसका आदर्श निश्चित रूप से क्रान्तिकारी था। यह इसलिए बनाया गया कि बोलशेविक साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के खिलाफ और उन मौके से फायदा उठानेवाले साम्यवादियो के खिलाफ युद्ध कर सके जो सड़क के बीच से चलने की नीति को मानते है। इस इण्टरनेशनल को 'कामिण्टर्न' कहते है, जो कम्यूनिस्ट इण्टरनेशनल का संक्षिप्त है। इसने बहुत देशो में खूब प्रचार किया है। जैसा इसके नाम से जाहिर होता है, यह एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है, जिसमें अनेक देशो के साम्यवादी दलो के प्रतिनिधि शामिल है। लेकिन चूंकि रूस ही एक ऐसा देश है जिसमें कम्यूनिज्म यानी साम्यवाद को विजय मिली है, इस सस्था में यानी कामिटर्न में रूसी ज्यादा है। 'कामिण्टर्न' दूसरी चीज है और सोवियट दूसरी चीज है। हालाकि बहुतसे आदमी ऐसे है जो दोनो सस्थाओ के प्रमुख समझे जाते है। चूंकि 'कामिण्टर्न' एक ऐसी सस्था है जो खुल्लमखुल्ला क्रान्तिकारी साम्यवाद फैलाने के लिए कायम है, साम्राज्यवादी कौमें इसके सख्त खिलाफ है और अपने देशो में इसके काम को दबाने के लिए हमेशा कोशिश करती है।

में एक दफा एक अजीब बात कही थी। वह कहता था कि पूँजीपतियो के प्रति लेनिन का व्यवहार बिलकुल वैसा ही है जैसा हजरत ईसा का रुपया उधार देनेवालों के प्रति था, जिन्हे उसने मन्दिर से निकाल दिया था। वह कहता था कि अगर हजरत ईसा आज जिन्दा होते तो बोलशेविक होते। गैर-मजहबी आदमियो के लिए यह उपमा बडी आश्चर्यजनक है।

लेनिन ने एक दफा स्त्रियो के बारे में कहा था—"कोई मुल्क आजाद नही हो सकता, जबकि आधी आबादी रसोईघर में कैद रहे"। एक दफा वह कुछ बच्चो को खिला रहा था, तब उसने एक बहुत अच्छी बात कही। उसके पुराने दोस्त मैक्सिम गोर्की ने लिखा है कि उसने कहा—"इन लोगो की जिन्दगियाँ हम लोगो से ज्यादा आनन्दमय होगी। इन्हे उन सब बातो का अनुभव नहीं करना पडेगा, जिसको हम सह चुके है। इनकी जिन्दगी में इतनी निर्दयता नही पाई जायगी।" निस्सन्देह हम सबको ऐसी ही आशा करनी चाहिए।

मै इस खत को हाल के एक रूसी छन्द को देकर खत्म करूँगा। यह कोरस में गाने के लिए है। जिन लोगो ने इस सगीत को सुना है, वे कहते है कि इसमें जीवन और शक्ति भरी हुई है और यह गाना क्रान्तिकारी जनता की भावना का प्रतिरूप है। इसके अग्रेजी अनुवाद में भी इस भावना की कुछ पुट आजाती है। इस गाने का नाम 'अक्तूबर' है, जिसका मतलब है नवम्बर सन् १७ की बोलशेविक क्रान्ति। उस जमाने में रूस का पंचांग असंशोधित था और पश्चिमी पंचांग से १३ दिन पीछे था। इस पंचांग के अनुसार मार्च सन् १७ की क्रान्ति फरवरी में हुई थी। इसलिए इसे फरवरी की क्रान्ति कहते हैं और इसी तरह बोलशेविक क्रान्ति, जो नवम्बर सन् १७ की शुरुआत में हुई, अक्तूबर की क्रान्ति कहलाती है। रूस ने अपना पचांग अब बदल दिया है और सशोधित पंचांग चलाया है; लेकिन ये पुराने नाम अभीतक जारी है।

'अक्तूबर' गीत का अंग्रेजी अनुवाद यह है :

We went, asking for work and for bread,
Our hearts were oppressed with anguish,
The chimneys of the factories pointed toward the sky,
like tired hands without strength to make a fist
Louder than the common, the silence was broken by the words
of our grief and our pain.
O Lenin! the desire of calloused hands
We have understood, Lenin, we have understood that our lot is
a struggle! Struggle! Struggle!
You led us to the last fight. Struggle!

साइबेरिया के दूर-दराज मैदानो से जन-साधारण के प्रतिनिधि आते थे—किसान और मजदूर मर्द, औरत और बच्चे—और अपने प्यारे कामरेड यानी साथी को, जिसने उन्हे गहरे गड्ढे से वाहर निकाला था और अधिक खुशहाल जिन्दगी की तरफ जाने का रास्ता दिखाया था, अन्तिम सम्मान और आदर देकर चले जाते थे। इन लोगो नें मास्को के सुन्दर रेड स्क्वायर में एक सीधा-सादा और श्रृंगार-शून्य मक़बरा उसके लिए बना दिया है और एक शीशे के बक्स में उसका शरीर अभीतक रक्खा हुआ है। हर शाम को वहाँपर लोगो का ताँता लगा रहता है और लोग चुपचाप उसका दर्शन करके चले जाते है। लेनिन को मरे हुए अभी दस वर्ष भी नहीं हुए, फिर भी वह अपनी मातृभूमि रूस में ही नही बल्कि सारी दुनिया में एक प्रबल सिद्धान्त बन गया है। ज्यो-ज्यो जमाना गुजरता है, लेनिन महत्तर बनता जाता है। वह संसार के अमर लोगो की टोली का एक सदस्य होगया है। पेट्रोग्रेड का नाम लेनिनग्रेड होगया और रूस में करीब-करीब हर घर में लेनिन के लिए एक कोना मुकर्रर है या लेनिन की तस्वीर है। लेकिन लेनिन जिन्दा है—तस्वीरो और यादगारो के रूप में नही, बल्कि उस विशाल कार्य के रूप में, जो उसने करके दिखा दिया। लेनिन जिन्दा है करोडों मजदूरो के हृदय में, और उसका उदाहरण उनकी जिन्दगी में नई जान फूँकता है, जिसकी वजह से उन्हे बेहतर दिन देखनें की आशा है।

यह न समझ लेना कि लेनिन कोई अमानुषी मशीन था जो अपनें काम में लगा रहता था और किसी दूसरी बात का ख़याल नही करता था। निस्सन्देह वह अपने काम में और अपने जीवन के उद्देश्य में बिलकुल तल्लीन था, फिर भी उसे अहकार नही था। वह एक सिद्धान्त की मूर्त्ति था, फिर भी वह मनुष्य-जैसा था, और सबसे बड़ा मानुषी गुण उसमें यह था कि वह दिल खोलकर हँस सकता था। लॉक हार्ट मास्को में अंग्रेजो का एजेण्ट था और उस जमाने में, जबकि सोवियट खतरे में थी, वह वहीं रहता था। उसने लिखा है कि, चाहे जो हो लेनिन हमेशा हँसमुख दिखाई देता था। "मुझे जितनें सार्वजनिक नेताओं से कभी भी मिलनें का मौका मिला है उन सबमें लेनिन का स्वभाव मुझे सबसे ज्यादा निर्लेप मालूम हुआ। वह अपनी बातचीत और अपने काम में सरल और स्पष्ट, लम्बी-चौडी बातो और दिखावे से नफरत करनेवाला था। वह सगीत का प्रेमी था—इतना प्रेमी कि अक्सर वह डरा करता था कि सगीत-प्रेम की वजह से कही उसके ऊपर बुरा असर न पड़ जाय और वह अपने काम-काज में मुलायम न हो जाय।"

लेनिन के एक साथी ने, जिसका नाम लूना चार्स्की था और जो कई वर्षो तक बोलशेविको के शिक्षा-विभाग का कमीसार यानी मन्त्री रह चुका था, लेनिन के बारे

या यों कहो कि कोई एक सरकार सारे देश में हुकूमत कायम नहीं कर सकी। उस वक्त से अभीतक कोई एक शासन ऐसा नहीं बन सका जिसने सारे चीन पर बेखटके शासन किया हो। कुछ सालो मे इस देश में दो मुख्य सरकारें कायम रही है—दक्षिण में डाक्टर सनयात सेन और उनका राष्ट्रीय दल काउ-मिन-तांग हावी था। उत्तर में युआन-शी-काई सेनापति था और इसके बाद सेनापतियो और सैनिको का एक ताँता था। इन सैनिक दुस्साहसियो को तूशन कहते थे और हाल के सालो में ये लोग चीन की जान पर आफत रहे है।

चीन इस तरह लगातार अशान्ति और अव्यवस्था की दु:खद अवस्था में रहा और अक्सर उत्तर और दक्षिण में या तूशनों में गृह-युद्ध होते रहे। साम्राज्यवादी शक्तियों के लिए बहुत बढ़िया अवसर था। इन्होने साजिशें शुरू कीं और कभी एक पार्टी या एक तूशन की सहायता करके और कभी दूसरे तूशन को मदद करके आपस की फूट से ये शक्तियाँ फायदा उठाने की कोशिश करने लगीं। तुम्हें याद होगा कि अंग्रेजो ने हिन्दुस्तान में भी इसी तरह अपना राज्य कायम किया था। यूरोपियन शक्तियों ने इस अवसर से फायदा उठाया और एक तूशन को दूसरे तूशन से लड़ाने लगीं। लेकिन सुदूर पूर्व में इनकी ये हरकतें इनकी अपनी खुद की मुसीबतों और महायुद्ध के कारण बहुत जल्द रुक गईं।

लेकिन जापान का यह हाल नहीं हुआ। युद्ध की खास लड़ाई बहुत दूर हो रही थी और जापान ने यह देखा कि चीन में वह अपनी पुरानी कारगुजारियाँ बिलकुल निर्विघ्न जारी रख सकता है। सच तो यह है कि उस हालत में उसे बहुत अच्छा मौका मिल गया, क्योंकि दूसरी शक्तियाँ और कामो में लगी हुई थीं और हस्तक्षेप नहीं कर सकती थीं। उसने जर्मनी के खिलाफ़ युद्ध की घोषणा सिर्फ इस-लिए करदी कि चीन में क्यानचांग में जर्मनो को जो अधिकार मिले हुए थे, वह छीन ले और चीन के अन्दर और आगे बढ़ सके।

चीन के बारे में जापान की नीति पिछले ४० वर्षों से एकसमान रही है। ज्योंही उसकी सेना नये ढंग से संगठित होगई और उसने अपने देश के व्यवसायों की उन्नति करली, उसने यह निश्चय कर लिया कि अब जापान को चीन पर प्रभुत्व जमा लेना चाहिए। उसको फैलने के लिए और अपने व्यवसायों को बढ़ाने के लिए विस्तार की जरूरत थी। कोरिया और चीन दोनों ही नजदीक थे और कमजोर थे, मानों अपने शोषण और गुलामी के लिए दुनिया को निमंत्रित कर रहे हों। जापान की पहली कोशिश १८९४-९५ में हुई, जबकि उसने चीन से लड़ाई शुरू की। वह कामयाब हुआ; लेकिन इतना नहीं, जितना चाहता था; क्योंकि यूरोपियन शक्तियों

You gave us the victory of labour
And no one shall take away from us this victory over ignorance and oppression
No one ! No one ! Never ! Never !
Let everyone be young and brave in the struggle, because the name of our victory is October !
October ! October !
October is a messenger from the sun
October is the will of the revolting centuries !
October ! It is a labour, it is a joy and a song.
October ! It is good fortune for the fields and machines !
Here is the banner name of the young generation and Lenin !

अर्थात्, "हम रोटी और काम की भीख माँगते ही जाते थे। हमारे हृदय दु ख से पीडित और शिथिल थे। अँगूठा दिखाने की ताकत से हीन हाथो की तरह कारखानो की चिमनियाँ आकाश की तरफ इशारा कर रही थी। हमारे दु ख और दर्द के शब्दो से शान्ति, मामूली तरीके की बनिस्बत कही ज्यादा, भग हो रही थी। टूटे हुए हाथो की आकाक्षा-सा ओ लेनिन ! हमने समझ लिया है, लेनिन, हमने समझ लिया है कि हमे लडना, लडना और लडना है। तुमने अतिम लडाई तक हमे पहुँचाया। तुमने हमे श्रमिको की विजय दी और कोई अज्ञान और अत्याचार पर उस विजय को हमसे छीन नही सकता। कोई नही ! कोई नही ! कभी नही ! कभी नही ! लडाई मे, सघर्ष मे हरेक को युवा और बहादुर होने दो, क्योकि हमारी विजय का नाम 'अक्तूबर' है। अक्तूबर ! अक्तूबर ! अक्तूबर सूर्य का सदेश-वाहक है। अक्तूबर विद्रोही शताब्दियो का सकल्प है। अक्तूबर ! यह श्रम है, आनन्द है, गान है। अक्तूबर ! यह खेतो और मशीनो का सौभाग्य है। यह युवा पीढी और लेनिन के नाम का झण्डा है।"

: १५३ :

जापान चीन को दबाता है

१४ अप्रैल, १९३३

जिस समय महायुद्ध चल रहा था, सुदूर पूर्व के देशो में कुछ घटनायें ऐसी हुई जिनपर ध्यान देना हमारे लिए जरूरी है। इसलिए अब मै तुम्हे चीन की बात बताऊँगा। चीन के बारे में अपने पिछले खत में मैने तुम्हे चीन में प्रजातत्र के स्थापित होने की बात बताई थी और उन झगडो का भी जिक्र किया था जो इसके बाद हुए। फिर से साम्राज्य कायम करने की कोशिशें की गईं। लेकिन वे नाकामयाब रहीं। प्रजातत्र भी सारे देश पर अपनी हुकूमत क़ायम करने में नाकामयाब रहा,

सिर्फ इतना ही नहीं था कि मृतप्राय शाही सरकार से राजनैतिक सत्ता छीन ली जाय, क्योंकि कोई राजनैतिक सत्ता छीनने को बाकी ही नहीं थी। कोई केन्द्रीय शक्ति थी ही नहीं। उसे तो पैदा करना था। पुराना चीन नाम मात्र के लिए साम्राज्य था, वास्तव में वह अनेक स्वशासित क्षेत्रो का समूह था, जो बहुत कमजोरी के साथ आपस में बँधे हुए थे। प्रान्त कोई कम कोई ज्यादा स्वतत्र थे, और इसी प्रकार कस्बे और शहर। केन्द्रीय सरकार या सम्राट की हुकूमत लोग मानते थे, लेकिन यह सरकार स्थानीय मामलो में दखल नही देती थी। कोई यूनिटरी स्टेट यानी ऐसी सरकार नही थी जिसके हाथ में सब प्रान्तो को एक शासन में जोड़ने की शक्ति होती और जो सारे देश में एक नीति से हुकूमत चला सकती। राजनैतिक दृष्टिकोण से असल में यह राज्य बडी कमजोरी से बँधे हुए प्रदेशो का समूह था, जो पश्चिमी उद्योगो और साम्राज्यवादियो की लालच के सम्पर्क से बिखर रहा था। लोग महसूस करते थे कि अगर चीन को जिन्दा रहना है तो उसे एक मज़बूत केन्द्रीय राज्य होना चाहिए, जिससे शासन की प्रणाली सब जगह एक-सी हो। नया प्रजातंत्र इसी किस्म का राज्य कायम करना चाहता था। यह एक नई चीज थी और इसलिए प्रजातत्र के सामने यह एक बहुत बडी समस्या बन गई। चीन में सड़क, रेलवे और आमदरफ़्त के उपयुक्त साधन नहीं थे। इसकी वजह से उसकी राजनैतिक एकता में बडी भारी अड़चन पड़ती थी।

पुराने ज़माने में चीन के लोग राजनैतिक शक्ति को ज्यादा महत्व नहीं देते थे। उनकी सारी विशाल सभ्यता संस्कृति पर निर्भर थी और वह जीवन-यात्रा की कला ऐसे ढंग से सिखाती थी जिस ढग से पहले कभी नही सिखाई गई। चीनी लोग अपनी इस पुरानी संस्कृति में इतने डूबे हुए थे कि जब इनका राजनैतिक और आर्थिक ढाचा बिखरा तब भी ये अपनी पुरानी संस्कृति के रस्म-रिवाजो से चिपटे रहे। जापान ने जान-बूझकर पश्चिमी सभ्यता और पश्चिमी रंग-ढंग अख्तियार किया था और फिर भी वह दिल में सामन्तवादी था। चीन सामन्तवादी नहीं था; वह बुद्धिवाद और वैज्ञानिक भावना से परिपूर्ण था। विज्ञान और व्यवसाय में पश्चिम की उन्नति की तरफ वह बडे कौतूहल से देखता था, फिर भी वह उधर नहीं झुका जिधर जापान झुका। इसमें शक नहीं कि चीन के रास्ते में बहुत-सी ऐसी कठिनाइयाँ थीं जो जापान के रास्ते में नही थीं। लेकिन चीन के दिल में एक सकोच भी था और वह यह कि कोई बात ऐसी न करो जिससे पुरानी संस्कृति से बिलकुल नाता टूट जाय। चीन का मिज़ाज फ़िलासफ़रो यानी दार्शनिको का मिज़ाज था और फ़िलासफ़र लोग तेज़ी से काम नही करते। उसके मन में बहुत ज़ोरदार उबाल पैदा होगया था और

ने मुखालफत की। फिर १९०४ में रूस के साथ सघर्ष हुआ, जो ज्यादा कठोर था। इसमें भी वह कामयाब रहा और कोरिया और मचूरिया में मजबूती से जम गया। उसके थोडे दिन बाद ही कोरिया पर कब्जा कर लिया गया और कोरिया जापानी साम्राज्य का एक अग बन गया।

मचूरिया फिर भी चीन का हिस्सा बना रहा। यह देश चीन के तीन पूर्वीय प्रातो में से है। जापानियो ने इस देश में सिर्फ उन सब रिआयतो को अपने हाथ में लेलिया जो रूसियो को मिली हुई थी; उस रेलवे पर भी कब्जा कर लिया, जो रूसियो ने बनाई थी और जिसे उस वक्त 'चीनी ईस्टर्न रेलवे' कहते थे। इस रेलवे का नाम बदलकर 'दक्षिणी मचूरियन रेलवे' कर दिया गया। अब जापान ने मचूरिया को मजबूती से दबोचना शुरू किया। इसी दरमियान चीन के बाकी घने बसे हुए हिस्से के लोग इस रेलवे की वजह से इधर झुके और चीनी किसान इस प्रदेश में टूट पडे। सोयाबीन नाम की चीज मचूरिया में खूब पैदा होती है और इस चीज के गुणो की वजह से सारे ससार में इसकी माँग बढ़ी। इससे एक किस्म का तेल भी पैदा होता है। इस सोयाबीन की खेती के लिए बहुत से लोग आकर बसने लगे। इस तरह इधर जापानी लोग ऊपर से मचूरिया की आर्थिक मशीन पर पूरा-पूरा अधिकार पाने की कोशिश कर रहे थे, उधर चीनी लोग दक्षिण से फटे पड़ते थे और देश में बसते जा रहे थे। पुराने मचू लोग चीनी किसानो की इस बाढ़ में बिलकुल डूब गये और अपनी सस्कृति में और दृष्टिकोण में पूरे-पूरे चीनी होगये।

जापान को चीन में प्रजातत्र का आगमन पसन्द नहीं आया। उसे हरेक चीज, जिससे चीन को मजबूती मिल सकती थी, नापसन्द थी, और उसकी कूटनीतिज्ञता का सारा उद्देश्य यही था कि कही चीन सुसगठित होकर एक मजबूत राज्य न बन जाय। इसलिए वह एक तूशन की मदद करके दूसरे तूशन के खिलाफ़ उसे लड़ाने में बहुत दिलचस्पी लेता रहा, जिससे देश के अन्दर बदअमनी कायम रहे।

जापान पर या पश्चिमी शक्तियो पर इस बात के लिए दोषारोपण करना सरल है कि उन्होने इस बात की जान-बूझकर कोशिश की कि चीन में शान्ति न हो सके। दोष उनका जरूर है, फिर भी असल वजह चीन की खुद अपनी कमजोरी थी, जैसे हिन्दुस्तान में जब-जब अग्रेजी सरकार राष्ट्रीय दल के अन्दर फूट पैदा करने में सफल रही है तब-तब असली कारण राष्ट्रवादियो की कमजोरी ही रहा है। सिर्फ यह बात कि अग्रेज फूट कराने की इस नीति में सफल हुए, इस बात की परिचायक है कि कम-से-कम इस विषय में ये लोग सबसे आगे बढे हुए है।

चीन के नवजात प्रजातत्र के सामने बडी-बडी भीषण समस्यायें थीं। सवाल

दिया। यह एक हास्यास्पद बात थी, क्योंकि चीन जर्मनी का कुछ बिगाड़ नहीं सकता था। उसका मतलब असल में मित्र-राष्ट्रों की सद्भावना प्राप्त करना और यों जापान के भावी खतरों से अपनी रक्षा करना था।

इसके थोडे ही दिन बाद, नवम्बर १९१७ में, बोलशेविक क्रान्ति आगई और इसके पश्चात् सारे उत्तरी एशिया में बडी अव्यवस्था फैल गई। साइबेरिया सोवियट और सोवियट-विरोधी शक्तियों के बीच एक युद्धभूमि यानी मैदानेजंग बन गया। 'सफेद' रूसी जनरल कोलचक सोवियट के खिलाफ साइबेरिया से ही लड़ता था। सोवियट-विजय से घबराकर जापानियों ने साइबेरिया में एक बडी फ़ौज भेजी। ब्रिटिश और अमेरिकन फौजें भी वहाँ भेजी गईं। कुछ वक्त के लिए साइबेरिया और मध्य-एशिया से रूस का प्रभाव नष्ट होगया। ब्रिटिश सरकार ने तो इन इलाकों से रूस की मर्यादा को एकदम नष्ट कर देने की दिलोजान से कोशिश की। मध्य-एशिया के हृदय काशगर में अंग्रेजों ने बोलशेविकों के खिलाफ प्रचार करने के लिए एक बेतार के तार का स्टेशन भी खोल दिया।

मंगोलिया में भी सोवियट और सोवियट-विरोधी लोगों में एक खूंखार लड़ाई हुई। १९१५ में, जब महायुद्ध जारी था, जारशाही रूस की मदद से मंगोलिया ने चीन-सरकार से आन्तरिक मामलों में काफी आज़ादी हासिल करली थी। फिर भी चीन का उसपर प्रभुत्व तो था ही और मंगोलिया के वैदेशिक सम्बन्धों की दृष्टि से रूस को भी वहाँ पैर जमाने का मौका मिल गया था। यह एक अजीब व्यवस्था थी। सोवियट राजक्रांति के बाद मंगोलिया में गृह-युद्ध शुरू होगया और तीन वर्ष या उससे भी ज्यादा वक्त तक लड़ने के बाद वहाँ की सोवियट जीत गई। मंगोलिया की वर्तमान स्थिति तो और भी अजीब है। यह सोवियट यूनियन से सम्बद्ध एक स्वतंत्र प्रजातंत्र है, फिर भी, मेरा खयाल है कि, यह चीन की छत्रछाया को मानता है।

मैंने महायुद्ध के बाद होनेवाले शान्ति-सम्मेलन के बारे में अभीतक नहीं बताया है। उसका ज़िक्र फिर एक दूसरे ही खत में करना पडेगा। फिर भी यहाँ मैं इतना कहदूँ कि इस कान्फ्रेंस या सम्मेलन में बडी ताकतों ने, जिनसे ख़ासतौर पर इंग्लैण्ड, फ़्रांस और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का मतलब होता है, तय किया कि चीन का शाटुंग प्रान्त जापान को दे दिया जाय। यों महायुद्ध के फल-स्वरूप उन्हींके मित्र चीन को अपने देश का एक हिस्सा जापान को दे देने को मजबूर किया गया। इसकी वजह युद्ध के ज़माने में इंग्लैण्ड, फ्रांस और जापान के बीच हुई एक गुप्त संधि थी। कारण कुछ भी रहा हो, चीन के साथ इस तरह की धोखेबाजी को चीनी राष्ट्र ने बहुत नापसन्द किया और चीन के लोगों ने पेकिंग की सरकार से साफ-साफ कह दिया कि

है, क्योंकि जिन समस्याओ का उसे मुकाविला करना था वे केवल राजनैतिक समस्यायें ही नहीं थीं वल्कि आर्थिक, सामाजिक, मानसिक, शिक्षा-सम्वन्धी और दूसरे प्रकार की भी थीं।

और फिर दूसरी वात यह भी है कि चीन और हिन्दुस्तान ऐसे विशाल देशो के विस्तार की वजह से ही कठिनाइयाँ पैदा होजाती है। ये देश महाद्वीप के समान हैं और महाद्वीपो में जो वोझ होता है वह इन देशो में भी पाया जाता है। जब कोई हाथी गिर पडता है तो उसको उठने में देर लगती है। विल्ली या कुत्ते की तरह वह कूदकर नहीं वैठ जाता।

जव महायुद्ध शुरू हुआ, जापान तुरन्त मित्र-राष्ट्रो के साथ शामिल होगया और जर्मनी से लडाई का ऐलान कर दिया। उसने कियानचान पर कब्ज़ा कर लिया और शाटुंग प्रान्त पर, जिसमें कियानचान स्थित है, अन्दर की तरफ फैलने लगा। इसका मतलव यह था कि जापानी खास चीन पर हमला कर रहे है। इसमें जर्मनी के खिलाफ लडने का कोई सवाल नहीं था, क्योंकि जर्मनी का इस इलाके से कोई ताल्लुक नहीं था। चीनी सरकार ने नम्रतापूर्वक उनसे चले जाने को कहा। जापानियो ने कहा--'यह उद्दण्डता है, और झट २१ माँगो का एक सरकारी खरीता पेश कर दिया।

ये '२१ मागें' मशहूर होगईं। मै यहाँ उन्हे नहीं लिखूँगा। उनका तात्पर्य यह था कि चीन में—खास तौर पर मचूरिया, मगोलिया और शाटुंग प्रान्तो में—सब तरह के अधिकार और सुविधायें जापान के सुपुर्द कर दी जायें। इन माँगो को मंजूर कर लेने से चीन अमली तौर पर जापान की एक वस्ती या उपनिवेश होजाता। कमज़ोर उत्तरी चीनी सरकार ने इन माँगो पर एतराज़ किया, पर वह ताकतवर जापानी फौज के खिलाफ क्या कर सकती थी? और फिर उत्तर की यह चीनी सरकार खुद भी जनता में लोकप्रिय नहीं थी। फिर भी उसने एक काम किया, जिससे मदद मिली। उसने जापनी माँगो को प्रकाशित कर दिया। इससे तुरन्त ही चीन में जवरदस्त विरोध खडा हो गया, और दूसरी शक्तियाँ भी, यद्यपि वे लड़ाई में मशगूल थी, घवरा गईं। अमेरिका ने खास तौर पर विरोध किया। इसका नतीजा यह निकला कि जापान ने कुछ माँगें हटालीं और कुछ में तरमीम करके उन्हे हलका वना दिया और चीनी सरकार को उन्हे मई १९१५ में मजूर कर लेनें पर मजवूर किया। इससे चीन में जापान के खिलाफ ज़वरदस्त भावना पैदा होगई।

अगस्त १९१७ में, यानी महायुद्ध शुरू होने के तीन वर्ष वाद, चीन मित्र-राष्ट्रो में शामिल होगया और उसने भी जर्मनी के ख़िलाफ लड़ाई का ऐलान कर

यह आर्डिनेंस पैदा हुआ जिसको लेकर उन्होंने पवित्र शपथ ग्रहण की। जापान भी इस प्रतिज्ञा में शामिल हुआ, यद्यपि यह बात उसकी उस नीति के खिलाफ़ पड़ती थी जो वह कई वर्षों से चला रहा था। पर बहुत साल नही बीते थे कि यह बात स्पष्ट होगई कि सारे राज़ीनामो और वादो के बावजूद जापान की पुरानी नीति जारी है। अन्तर्राष्ट्रीय पाखण्ड और झूठ का यह एक असाधारण उदाहरण रहा है। जब मैं यह ख़त लिख रहा हूँ, चीन पर जापान का हमला जारी है। जो कुछ हो रहा है, उसके पार्श्वचित्र को समझाने के लिए ही मैं तुम्हे वाशिंगटन कान्फ्रेंस तक ले गया था।

वाशिंगटन कान्फ्रेंस के वक्त के करीब ही साइबेरिया से विदेशी फ़ौजें अन्तिम रूप में हटाई गई। जापानी सबसे अखीर में गये। तुरंत ही वहाँ सोवियट बन गई और रूस के सोवियट प्रजातंत्र संघ में शामिल होगई।

रूसी सोवियट ने जन्म के कुछ ही दिनो बाद चीनी सरकार को सूचित कर दिया था कि दूसरी साम्राज्यवादी ताकतो के साथ जारशाही रूस को चीन से जो ख़ास सहूलियते मिली थीं उन सबको वह छोड़ देने को तैयार है। साम्राज्यवाद और साम्यवाद साथ-साथ नही चल सकते और इसके अलावा भी सोवियट ने पूर्वी देशो के प्रति, जो पश्चिमी शक्तियो द्वारा बहुत दिनो से शोषित हो रहे थे, जानबूझकर उदारता-पूर्ण नीति इख़्तियार की थी। यह सिर्फ़ सदाचरण ही नहीं था बल्कि सोवियट रूस के लिए अच्छी और मुनासिब नीति भी थी, क्योंकि इस नीति ने पूर्व में उसके कई मित्र पैदा कर दिये। सहूलियते छोड़ देने का सोवियट रूस का प्रस्ताव बिना किसी शर्त के था; उसने उसके बदले कोई माँग नही की। इतने पर भी चीनी सरकार सोवियट से व्यवहार करने में डरती थी कि कहीं पश्चिमी योरप की शक्तियाँ नाराज न हो जायें। पर आख़िरकार रूसी और चीनी प्रतिनिधि मिले और १९२४ में उनके बीच एक राज़ीनामा हुआ। जब इस राज़ीनामे का पता चला तो फ़ासीसी, अमेरिकन और जापानी सरकारो ने पेकिंग की सरकार के पास अपना विरोध ज़ाहिर किया और पेकिंग सरकार इतनी डर गई कि उसने राज़ीनामे पर किये हुए अपने प्रतिनिधियो के दस्तख़त से इनकार कर दिया। ऐसी बुरी खाई में पेकिंग सरकार पड़ गई थी। इसपर रूसी प्रतिनिधि ने राज़ीनामे का सारा मस्विदा छाप दिया। इससे बडी सनसनी फैली। शक्तियो के सम्पर्क में पहली बार चीन के साथ आदर और सम्मान का व्यवहार किया गया था और उसके अधिकार स्वीकार किये गये थे। यह एक बडी शक्ति से उसकी पहली बराबरी की संधि थी। चीनी जनता इससे खुश हुई और सरकार को इसपर दस्तख़त करने पडे। साम्राज्यवादी ताकतो का इसे नापसद करना लाज़िमी था, क्योंकि इसने उन्हे बडे बुरे रूप में दुनिया के सामने पेश किया। जब

अगर वह इस मामले में समझौता करेगी तो क्रान्ति हो जायगी। जापानी चीजो के सख्त बहिष्कार की घोषणा कर दी गई और जगह-जगह जापान के खिलाफ दंगे हुए। चीनी सरकार (जिससे मेरा मतलब पेकिंग की उत्तरी सरकार से है, क्योकि वही प्रधान सरकार थी) ने शाति के सधिपत्र (Peace Treaty) पर दस्तखत करने से इन्कार कर दिया।

दो वर्ष बाद सयुक्तराष्ट्र के वाशिगटन नगर में एक कान्फ्रेंस हुई, जिसमें शाटुंग का सवाल भी उठा। इस कान्फ्रेंस में वे सब शक्तियाँ शरीक थी जिनकी सुदूरपूर्व के सवालो में दिलचस्पी थी या स्वार्थ थे और वे अपनी जल-सेनाओ की ताकत पर बहस करने को शामिल हुई थीं। जहाँतक चीन और जापान का ताल्लुक था, १९२२ की इस वाशिगटन कान्फ्रेंस से कई महत्वपूर्ण परिणाम निकले। जापान चीन को शांटुग लौटा देने पर राजी होगया। इस तरह एक सवाल, जो चीनी जनता को हिला रहा था, हल होगया। शक्तियो में दो और महत्वपूर्ण राजीनामे भी हुए।

इनमें से एक अमेरिका, ग्रेटब्रिटेन, जापान और फ्रास के बीच था और 'फोर-पावर पैक्ट' (चार ताकतो का राजीनामा) के नाम से पुकारा जाता था। इन चारो ताकतो ने प्रशातमहासागर के अपने अधिकृत स्थानो की सम्मिलित रक्षा का वादा किया, यानी इस बात का वादा किया कि वे एक-दूसरे के इलाको पर हाथ न डालेंगे। दूसरा राजीनामा 'नाइन पावर ट्रीटी' यानी 'नौ राष्ट्रो की सधि' के नाम से मशहूर हुआ। यह कान्फ्रेंस में शामिल हुए सब राष्ट्रो के बीच था। इसमें ये नौ राष्ट्र थे—सयुक्त राष्ट्र अमेरिका, बेलजियम, ब्रिटेन, फ्रास, इटली, जापान, हालैण्ड, पोर्चुगाल और चीन। इस सधि की पहली धारा इन शब्दो के साथ शुरू हुई थी.—

"To respect the sovereignty, the independence and the territorial and administrative integrity of China . . "

अर्थात् "चीन के प्रभुत्व, स्वतत्रता और प्रादेशिक एव शासन सबन्धी अखडता या एकता के सम्मान के लिए · · · ·"

मैं तुम्हे 'फोर पावर पैक्ट' और 'नाइन पावर ट्रीटी' के बारे में इसलिए बता रहा हूँ कि ये दोनो बाते इस वक्त बार-बार हमारे सामने आ रही है और अखबारो में अकसर उनका जिक्र किया जाता है। ये दोनो राजीनामे चीन को भावी आक्रमणो से बचाने के लिए थे। वे सहूलियते हासिल करने और इलाको को हड़प लेने के पुराने खेल को, जो अबतक शक्तियां खेलती रही थीं, बन्द करने की गरज से किये गये थे। पश्चिमी ताकतें महायुद्ध के बाद के अपने ही सवालो को हल करने में मशगूल थीं और उस वक्त चीन में उनकी कोई दिलचस्पी न थी। इसीलिए आत्म-नियत्रण का

: १५४ :

युद्ध-काल में भारत

१६ अप्रैल, १९३३

ब्रिटिश साम्राज्य का एक हिस्सा होने के नाते हिन्दुस्तान का महायुद्ध से सीधा ताल्लुक था। पर हिन्दुस्तान के अन्दर या उसके आस-पास कही वास्तविक युद्ध नही लड़ा जा रहा था। फिर भी महायुद्ध ने हिन्दुस्तान के मामलो पर कई तरह से असर डाला। यह असर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनो तरह का था। इसकी वजह से यहाँ बहुतेरी तब्दीलियाँ हुईं। मित्र-राष्ट्रो की मदद करने में उसके साधनो का पूरी तरह इस्तेमाल किया गया।

यह हिन्दुस्तान की लड़ाई न थी। हिन्दुस्तान की जर्मन शक्तियों से कोई दुश्मनी न थी, बल्कि तुर्की के साथ तो काफी हमदर्दी भी थी। पर इस मामले में हिन्दुस्तान के लिए कोई चारा न था। वह सिर्फ ब्रिटेन का एक मातहत देश था, इसलिए उसे भी अपने साम्राज्यवादी मालिक के साथ कतार में खड़ा होने को मजबूर होना पड़ा। इस तरह, देश में काफ़ी विरोध होने के बावजूद, हिन्दुस्तानी सिपाहियो को तुर्कों, मिस्रियो और दूसरो के खिलाफ़ लड़ना पड़ा, जिससे पश्चिमी एशिया में हिन्दुस्तान का नाम बहुत ही नापसन्द किया जाने लगा और उसकी बड़ी बदनामी हुई।

जैसा मैंने तुम्हे किसी पहले के खत में बताया है, महायुद्ध के शुरू में हिन्दुस्तान में राजनीति शिथिल-सी थी। लड़ाई शुरू हो जाने से लोगो का ध्यान राजनीति की तरफ से और ज्यादा हट गया और फिर युद्ध के जमाने में जारी किये हुए नियमों, प्रतिबन्धो और दूसरे बन्धनो के कारण वास्तविक राजनैतिक काम बहुत मुश्किल हो गया। युद्ध का जमाना सरकारो के लिए हरेक को दबाने और अपनी मनमानी करने का अक्सर काफी बड़ा बहाना बन जाता है। अगर कोई छूट होती है तो सिर्फ़ खुद उनके लिए होती है; वे जो चाहें कर सकती है। सेसर बैठ जाता है, जो सत्य का गला घोट देता है; अक्सर झूठी बातो का प्रचार करता है और लोगो को अपनी राय जाहिर करने या टीका-टिप्पणी करने से रोकता है। करीब-करीब हर तरह की कौमी कार्रवाई पर नियत्रण रखने के लिए खास तरह के कानून और क़ायदे (रेगुलेशन) बनाये जाते है। लड़ाई में शामिल होनें या लड़ने वाले सब देशो में ऐसा किया गया और लाजिमी तौर पर हिन्दुस्तान में भी ऐसा ही हुआ। यहां 'डिफेंस ऑफ इण्डिया ऐक्ट' यानी 'भारत-रक्षा क़ानून' नाम का एक कानून पास किया गया। इस तरह युद्ध या उससे सम्बन्ध रखनेंवाली दूसरी बातो की सार्वजनिक आलोचना का दरवाजा

सोवियट रूस नें उदारता के साथ सब सहूलियतें छोड़ दी, तब वे अपनी सब विशेष सुविधाओ से चिपटी रहीं।

सोवियट सरकार ने डॉ० सनयातसेन की दक्षिणी चीन की सरकार से भी, जिस-की राजधानी कैण्टन थी, बातचीत शुरू की और दोनो में एक समझौता हुआ। इस दरमियान एक तरह का हलका गृह-युद्ध उत्तर और दक्षिण के बीच, और उत्तर के मुख्तलिफ सिपहसालारो में, जारी था। ये उत्तरी तूशन, या महातूशन जैसा कि कुछ कहे जाते थे, किसी कार्यक्रम या सिद्धान्त के लिए नही लड़ते थे; वे अपनी निजी सत्ता के लिए लडते थे। कभी-कभी कई मिलकर एक सगठन बना लेते और दूसरे पक्ष से लडते थे। पर इनका पक्ष बदलता रहता था और बाहर के लोगो को इन सदा बदलते रहनेवाले सगठनो से बडी हैरत होती थी। ये तूशन, या फौजी जाँबाज, अपनी निजी फौजें खडी करते थे, प्राइवेट टैक्स लगाते थे और अपनी निजी लड़ाइयाँ जारी रखते थे; और इन सबका बोझ बहुत दिनो से दु:ख पानेवाली बेचारी चीनी जनता पर पडता था। यह कहा जाता था कि इन बडे तूशनो में से कुछ के पीछे विदेशी ताकते थीं। ख़ास तौर पर जापान का नाम लिया जाता था। शघाई की बडी-बडी व्यापारिक पेढियो से भी उनके पास दौलत और मदद आती थी।

बस एक प्रकाश का स्थान दक्षिण था, जहाँ सनयातसेन की सरकार क़ायम थी। उसके अपने आदर्श थे, अपनी एक नीति थी, और यह लुटेरो का मामला नही था जैसाकि उत्तरी तूशनो की कई सरकारे थीं। १९२४ में काउ-मिन-तॉग यानी जनता के दल का प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ और डॉ० सन ने उसके सामने एक मैनीफेस्टो यानी घोषणापत्र पेश किया। इस मैनीफेस्टो में उन्होने उन सिद्धान्तो को लिखा था, जिनके अनुसार वह राष्ट्र को चलाना चाहते थे। यह मैनीफेस्टो और ये सिद्धान्त तबसे काउ-मिन-तॉग का आधार रहे है और यह समझा जाता है कि अब भी राष्ट्रीय सरकार की आम नीति उसीके मुताबिक चलाई जाती है।

मार्च १९२५ ई० में, चीन की सेवा में अपनी ज़िन्दगी गुजारने और चीनी जनता का प्रेमपात्र होने के बाद, डॉ० सनायतसेन की मृत्यु हुई।

बाहर लड़ने के लिए भेजी गई हिन्दुस्तानी फौजो में प्रचार किया और इसके काम का क्षेत्र अफगानिस्तान और सीमाप्रान्त तक फैल गया था। पर इसके सिवा कि उन्होने अंग्रेजो की परेशानी को बहुत ज्यादा बढा दिया हो, और कुछ ज्यादा ये हिन्दुस्तानी क्रान्तिकारी न कर सके। समुद्र के रास्ते, हिन्दुस्तान में अस्त्र-शस्त्र भेजनें की कोशिश की गई, पर उसे भी अग्रेजो ने नाकामयाब कर दिया। लड़ाई में जर्मनी के हार जाने से इस कमेटी और उसकी उम्मीदो का अपने-आप खात्मा होगया।

हिन्दुस्तान के अन्दर भी क्रान्तिकारियो की थोडी-बहुत कार्रवाई जारी रही और षड्यत्र के मुकदमो के लिए खास अदालते—स्पेशल ट्रिब्यूनल्स—बनाई गईं। बहुत-से आदमियो को फाँसी दी गई, और बहुतो को लम्बी सजायें हुईं। उस वक्त के सजा पाये हुए कुछ आदमी आज १७ वर्ष बाद भी जेलो में पडे हुए है!

ज्यो-ज्यो युद्ध आगे बढ़ा, और जगहो की तरह, यहाँ भी कुछ लोगो ने गहरा मुनाफा उठाया। पर ज्यादातर आदमियो का बोझ बढता गया और लोगो में असंतोष भी बढ़ने लगा। लड़ाई के लिए ज्यादा-से-ज्यादा आदमियो की माँग बढ़ती ही जा रही थी और फौज में भरती का काम बडे जोर से होने लगा। रंगरूट लानेवालो को हर तरह के इनाम और प्रलोभन दिये गये और जमींदारो को अपनें काश्तकारों में से तयशुदा तादाद में आदमी देने को मजबूर किया गया। पंजाब में खास तौर पर भरती के मामले में जबरदस्ती का यह तरीका इख्तियार किया गया। हिन्दुस्तान से जितने आदमी फौज में भरती करके लड़ाई के जुदा-जुदा मोर्चों पर लड़नें और दूसरे फौजी मेहनत-मजूरी के कामो पर भेजे गये, उनकी तादाद दस लाख से ज्यादा थी। जिन आदमियो का इन भरतियो से ताल्लुक था, उन्होने इन जबरदस्ती के तरीको पर बड़ा ऐतराज किया, और ऐसा खयाल किया जाता है कि पजाब में महायुद्ध के बाद जो दुर्घटनायें हुईं उनमें एक वजह यह भी थी।

पंजाब पर एक दूसरे तरीके से भी असर पड़ा। बहुतेरे पजाबी और खासकर सिख संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के केलीफोर्निया प्रान्त और पश्चिमी कनाडा के ब्रिटिश कोलम्बिया में जाकर बस गये थे। प्रवासियो का तांता तबतक लगा रहा, जबतक अमेरिकन और कनैडियन अधिकारियों ने उसे रोक नहीं दिया। ऐसे प्रवासियो की राह में दिक्कते पेश करने के खयाल से कनाडा की सरकार ने यह नियम बना दिया कि सिर्फ वे ही प्रवासी कनाडा में आ सकेगे जो एक बन्दरगाह से यहाँके किसी बन्दरगाह तक सीधे आवे और रास्ते में कोई जहाज न बदले। यह नियम हिन्दुस्तानी प्रवासियो को रोकनें की गरज से ही बनाया गया था, क्योंकि उनको चीन या जापान में लाजिमी तौर पर जहाज बदलने पड़ते थे। इसपर एक सिख, बाबा गुरुदत्तसिंह,

अच्छी तरह बन्द कर दिया गया। फिर भी इनके पीछे, पार्श्वभूमि में, जर्मन ताकतों और खासकर तुर्की के साथ लोगो की आम हमदर्दी थी। यह कहना शायद ज्यादा सही होगा कि लोग चाहते थे कि ब्रिटेन को मुँह की खानी पड़े। इस तरह की नपुंसक इच्छा उन लोगो के लिए स्वाभाविक थी जो खुद बुरी तरह पस्त कर दिये गये थे। पर इस इच्छा को सार्वजनिक रूप से प्रकट नही किया गया।

ऊपर तो हवा में चारो तरफ ब्रिटेन के प्रति वफादारी की आवाज थी। ज्यादा-तर वफादारी का यह शोर-गुल हिन्दुस्तानी राजाओ और उन मध्यम श्रेणी के कुछ लोगो के द्वारा उठता था जो सरकार के सम्पर्क में थे। कुछ हद तक बोर्जुआ यानी मध्यम वर्ग भी प्रजातन्त्र और राष्ट्रो की स्वतंत्रता और आजादी के उन ऐलानो में, जो मित्र-राष्ट्र कर रहे थे, फँस गया था। शायद यह सोचा गया कि ये ऐलान हिन्दुस्तान पर भी लागू होगे और उम्मीद की जाती थी कि इस वक्त मुसीबत की घड़ियो में ब्रिटेन को जो मदद दी जायगी उसका बाद में मुनासिब इनाम मिलेगा। कुछ भी हो, हिन्दुस्तान का इस मामले में कोई बस न था और कोई दूसरा आसान रास्ता भी न था, इसलिए उसने भी बुरी चीज का अच्छे-से-अच्छा इस्तेमाल करना ही ठीक समझा।

हिन्दुस्तान में ऊपर-ऊपर दिखाई पड़नेवाली इस वफादारी की उन दिनो इग्लैण्ड में बडी तारीफ हुई और बार-बार कृतज्ञता भी प्रकट की गई। जिन लोगो के हाथ में सत्ता थी उन्होने कहा कि इसके बाद इग्लैण्ड हिन्दुस्तान को 'नये दृष्टिकोण' से देखेगा।

पर हिन्दुस्तान में भी और विदेशो में भी कुछ हिन्दुस्तानी ऐसे थे जिन्होने 'वफादारी' का यह रुख इख्तियार नहीं किया। वे, बहुमत की तरह, चुपचाप बैठे भी नहीं रहे। पुरानी आयरिश कहावत के मुताबिक उनका विश्वास था कि इग्लैण्ड की मुसीबत ही उनके देश के लिए सुअवसर है। खास तौर पर जर्मनी और योरप के दूसरे मुल्को में रहनेवाले कुछ हिन्दुस्तानी बर्लिन में इसलिए इकट्ठे हुए कि इग्लैण्ड के दुश्मनो को मदद देने के उपाय किये जायें और इसके लिए एक कमेटी भी बनाई। जर्मन सरकार, स्वाभाविक रूप से, हर तरह की मदद हासिल करने को उत्सुक थी। इसलिए उसने इन हिन्दुस्तानी क्रान्तिकारियो का स्वागत किया। बाकायदा एक राजीनामा लिखा गया और उसपर दोनो पक्षो—जर्मन सरकार और हिन्दुस्तानी कमेटी—की तरफ से दस्तखत हुए। इस राजीनामे में और बातो के साथ एक बात यह थी कि हिन्दुस्तानियो ने युद्ध में इस शर्त पर जर्मन सरकार की मदद करने का वादा किया कि फतह हासिल होने पर जर्मनी हिन्दुस्तान की आजादी पर जोर देगा। इस हिन्दुस्तानी कमेटी ने सारे युद्ध-काल में जर्मनी की तरफ से काम किया। इसने

पुराने थे और कुछ नये थे । ताता के लोहे और फौलाद के कारखाने का, जिसके प्रति अभीतक सरकार ने बडी उपेक्षा का बर्ताव किया था, महत्व बहुत बढ गया, क्योकि उसमें युद्ध की सामग्री तैयार की जा सकती थी । उसका सचालन कमोवेश सरकारी नियत्रण में होता था ।

इसलिए युद्ध के वर्षो में हिन्दुस्तान के पूजीपतियो को, जिनमें अग्रेज और हिन्दुस्तानी दोनो थे, खुला क्षेत्र मिल गया । बाहरी प्रतिद्वद्विता या लाग-डाँट बहुत कम थी । उन्होने इस मौके का खूब उपयोग किया और गरीब हिन्दुस्तानी जनता का पेट काटकर खूब फायदा उठाया । चीजो का दाम चढा दिया गया और कल्पना में न आ सकने वाला मुनाफा (डिविडेण्ड) बाँटा गया । लेकिन जिन मजदूरो की मेहनत से यह मुनाफा हुआ, उनकी दु खजनक स्थिति में बहुत ही थोडी तब्दीली हुई । उनकी मजदूरी थोडी बढी, पर इस बढती के मुकाबिले जिन्दगी की जरूरी चीजो का दाम कहीं ज्यादा बढ गया, इसलिए उनकी हालत पहले से भी ज्यादा खराव होगई ।

लेकिन पूंजीपति खूब मालदार होते गये और उन्होने मुनाफे से खूब धन जमा किया, जिसे वे फिर उद्योगों में लगाना चाहते थे । पहली वार हिन्दुस्तानी पूंजीपति इतने ताकतवर हुए कि सरकार पर दवाव डाल सके । इस दवाव के अलावा घटनाओ के जोर ने भी युद्ध-काल में ब्रिटिश सरकार को हिन्दुस्तानी उद्योगो को मदद देने पर मजबूर किया । देश के बढते हुए उद्योगीकरण यानी कल-कारखानो की स्थापना के लिए विदेश से ज्यादा मशीनरी मँगाने की जरूरत हुई, क्योकि ऐसी मशीनरी उस वक्त हिन्दुस्तान में नही बन सकती थी । इस तरह बने हुए माल की जगह इंग्लैण्ड से मशीनरी आने लगी ।

इन सब बातो के कारण हिन्दुस्तान में ब्रिटिश नीति में बडा परिवर्तन होगया; सौ वर्ष से चली आती हुई पुरानी नीति छोडनी पडी और उसकी जगह नई नीति इख्तियार करनी पडी । ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपनेको नई और बदली हुई स्थिति के मुताबिक बनाने के लिए अपना चेहरा पूरी तरह तब्दील कर लिया । तुमको मेरी वे बाते याद होगी जो मैंने हिन्दुस्तान में ब्रिटिश हुकूमत के शुरू के दिनो के बारे में तुम्हे लिखी थी । पहली अवस्था अठारहवी सदी की अवस्था थी, जो लूट और यहाँ से नकद माल उठा लेजाने की अवस्था थी । उसके बाद दूसरी अवस्था आई जब ब्रिटिश हुकूमत खूब मजबूती के साथ कायम होगई । यह अवस्था सौ वर्षों से ज्यादा वक्त यानी युद्ध तक बनी रही । यह हिन्दुस्तान को कच्चे माल का एक क्षेत्र और ब्रिटेन के बने माल का एक बाजार बना रखनें के लिए थी । हर तरह से इस देश में बड-बडे उद्योगो की स्थापना को अनुत्साहित किया गया और हिन्दुस्तान के आर्थिक

ने एक पूरा जहाज, जिसका नाम 'कोमागाता मारू' था, सीधे कनाडा भेजने का इन्तजाम किया। वह अपने साथ बहुत बडी तादाद में प्रवासियो को कनाडा के 'वेंकुवेर' तक ले गये। इस तरह से उन्होने कनैडियन कानून की शर्त पूरी कर दी थी, फिर भी कनाडा उन्हे वहाँ आने देना नहीं चाहता था। किसी प्रवासी को वहाँ उतरने नहीं दिया गया। वे लोग उसी जहाज में लौटा दिये गये और वे बडी मुसीबत में और गुस्से से भरे हुए हिन्दुस्तान लौटे। कलकत्ता के पास बजबज में पुलिस से एक लडाई ही होगई और कई आदमी, खासकर सिख, मारे गये। बाद में इनमें से कई सिखो के पीछे खुफिया पुलिस छाया की तरह लगी और सारे पंजाब में उन्हे दौड़ाती रही। इन लोगो ने भी पजाब में गुस्सा और असंतोष पैदा किया। 'कोमागाता मारू' की घटना पर सारे हिन्दुस्तान में नाराजी जाहिर की गई।

युद्ध के उन दिनो में होनेवाली सब बातो की जानकारी मुश्किल है, क्योकि उस जमाने में 'सेसर' के कारण बहुतसे समाचार छपने नहीं पाते थे, इसलिए तरह-तरह की बेसिर-पैर की अफवाहे फैला करती थी। फिर भी यह मालूम है कि सिंगापुर में एक हिन्दुस्तानी रेजीमेण्ट में बगावत होगई थी। इसके अलावा और भी बहुत-सी जगहो में छोटे-मोटे काण्ड हुए।

लडाई के लिए आदमी देने और दूसरी तरह की मदद के अलावा हिन्दुस्तान को नकद धन भी बहुत देना पडा। इसे हिन्दुस्तान की तरफ से दी जानेवाली 'भेंट' के नाम से पुकारा गया। एक मौके पर करीब डेढ़ अरब रुपये इस तरह दिये गये और दूसरे मौके पर भी एक बहुत बडी रकम दी गई। एक गरीब देश से इस तरह जबरदस्ती वसूल किये गये धन को 'भेंट' कहना ब्रिटिश सरकार की मजाकपसन्द तबीयत का एक नमूना है!

अभीतक मैंने तुमसे जो कुछ कहा है वह, जहाँतक हिन्दुस्तान का ताल्लुक़ है, युद्ध के मामूली नतीजो तक ही महदूद रहा है। पर युद्ध-काल की स्थितियो के कारण इनसे कहीं ज्यादा मौलिक एक परिवर्तन होगया। युद्ध के जमाने में, और देशो की तरह ही, हिन्दुस्तान का वैदेशिक व्यापार भी अव्यवस्थित होगया। बहुत बडी तादाद में जो ब्रिटिश माल हिन्दुस्तान में आता था वह युद्ध के कारण बहुत कम होगया। जर्मन पनडुब्बियाँ भूमध्य महासागर और अटलांटिक महासागर में जहाजो को डुबा रही थी और इस स्थिति में व्यापार जारी रखना मुमकिन न था। इस तरह हिन्दुस्तान को अपना इतजाम करना पडा और अपनी जरूरते पूरी करनी पडीं। उसे युद्ध के लिए जरूरी बहुत-सी चीजें भी सरकार के लिए तैयार करनी पडीं। इस तरह हिन्दुस्तानी उद्योग तेजी से बढ़ने लगे। इसमें कुछ, कपडे और जूट की तरह,

उसे दूसरे मुल्को पर निर्भर रहना पड़ा। इंग्लैण्ड को भय है कि आगामी युद्ध सोवियट रूस के साथ होगा और हिन्दुस्तान की सरहद पर लड़ा जायगा। अगर हिन्दुस्तान के पास अपने बडे-बडे उद्योग न होगे तो ब्रिटिश सरकार सरहद पर भलीभाँति लड़ाई न लड़ सकेगी। यह एक बहुत बड़ा ख़तरा लेना होगा। इसलिए भी हिन्दुस्तान का औद्योगीकरण जरूरी है।

इन कारणो से मजबूर होकर ब्रिटिश नीति में तब्दीली का निश्चय किया गया। ब्रिटेन की बृहत्तर साम्राज्य सम्बन्धी नीति (Larger Imperial Policy) के लिए यह जरूरी था, फिर लकाशायर और कुछ दूसरे ब्रिटिश उद्योगो को भले ही नुकसान पहुँचे। ब्रिटेन ने तो यह जाहिर किया कि यह परिवर्तन हिन्दुस्तान के प्रति ब्रिटिश सरकार के अत्यधिक प्रेम और उसकी भलाई की इच्छा का परिणाम है। इस नीति का निश्चय कर लेने के बाद ब्रिटेन ने ऐसा उपाय किया कि हिन्दुस्तान के नये उद्योगो का नियंत्रण ब्रिटिश पूँजीपतियो के हाथ में रहे। महरबानी दिखाते हुए हिन्दुस्तानी पूँजीपतियो को छोटा हिस्सेदार बनाया गया।

१९१६ ई० में, जब महायुद्ध चल रहा था, एक 'इंडियन इडस्ट्रियल कमीशन' नियुक्त किया गया। दो वर्ष बाद इसने रिपोर्ट पेश की जिसमें सिफारिश की गई कि सरकार को उद्योगो को उत्तेजन देना चाहिए और कृषि में नये औद्योगिक तरीको को चलाना चाहिए। इसनें इस बात की भी सिफारिश की कि सारे देश को प्रारम्भिक शिक्षा देने की कोशिश की जानी चाहिए। जैसा कि इग्लैंड में कारखानो की बढती के शुरू के दिनों में हुआ था, होशियार और कारीगर मजदूर पैदा करने के लिए आम जनता को प्रारम्भिक शिक्षा देना उचित समझा गया।

युद्ध खत्म होने पर इस कमीशन के बाद और भी बहुत-से कमीशन और कमेटियाँ आईं। यह भी सुझाया गया कि बाहरी माल पर कर लगाकर भी हिन्दुस्तानी उद्योगो की रक्षा की जानी चाहिए। इन करो को टैरिफ कहा जाता है। इन सब बातो को हिन्दुस्तानी उद्योगो के पक्ष में एक बडी विजय समझा गया। पर जरा ध्यान से परीक्षा करने पर कई मजेदार बातें मालूम हुईं। विदेशी पूजी को उत्तेजन देने का प्रस्ताव पास किया गया था और विदेशी पूँजी का मतलब असल में ब्रिटिश पूंजी था। बस, इस देश में ब्रिटिश पूंजी का प्रवाह बहने लगा; वह न सिर्फ उसका प्रधान हिस्सा हो गई, बल्कि सब जगह छा गई। बडे-बडे उद्योगो में अधिकाश ब्रिटिश पूजी लगाई गई। इसलिए संरक्षण कर (टैरिफ) और संरक्षण (प्रोटेक्शन) का असल मतलब हिन्दुस्तान में ब्रिटिश पूंजी का सरक्षण होगया। इस तरह हिन्दुस्तान में ब्रिटिश नीति का महान् परिवर्तन ब्रिटिश पूंजीपति के लिए कुछ वैसा बुरा साबित नहीं हुआ।

विकास को रोका गया। युद्ध-काल में तीसरी अवस्था आई, जब ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान में बडे उद्योग-धधो को प्रोत्साहन दिया; और यह प्रोत्साहन इस बात को जानते हुए दिया गया कि यह कुछ हद तक ब्रिटिश उद्योगो के खिलाफ पडेगा। यह साफ है कि अगर हिन्दुस्तान के वस्त्र-व्यवसाय को प्रोत्साहन दिया जाय तो लकाशायर के वस्त्र-व्यवसाय को उसी अश में धक्का पहुँचेगा, क्योकि हिन्दुस्तान लंकाशायर का सबसे अच्छा ग्राहक रहा है। तब ब्रिटिश सरकार ने अपनी नीति में ऐसा परिवर्तन क्यो किया, जिससे लकाशायर और दूसरे ब्रिटिश उद्योग को नुकसान पहुँचे ? मै तुम्हे दिखा ही चुका हूँ कि लडाई के कारण किस प्रकार उसके हाथ बँध गये थे। हमें परिवर्तन के इन कारणो पर विस्तार के साथ विचार करना चाहिए :

१ युद्ध-काल की माँगो ने ऐसा करने को मजबूर किया और हिन्दुस्तान में औद्योगीकरण यानी बडे-बडे कल-कारखानो को प्रगति दी।

२. इसने हिन्दुस्तानी पूंजीपति वर्ग को बढ़ाया और मजबूत किया। उन्होने उद्योगो की बाढ के लिए ज्यादा-से-ज्यादा सहूलियतो की माँग शुरू की। इसने उनकी फालतू दौलत को नये धन्धो में लगाने का मौका दिया। अब ब्रिटेन उनकी बिलकुल उपेक्षा करने की स्थिति में नहीं था, क्योकि ऐसा करने से उनके विरोधी हो जाने और बढते हुए उग्र ओर क्रान्तिकारी विचार के लोगो के मददगार बन जाने की संभावना थी। इसलिए अगर मुमकिन हो तो बढने को कुछ सहूलियते देकर उनको ब्रिटिश पक्ष में बनाये रखना वाञ्छनीय था।

३. इग्लैण्ड का पूंजीवादी वर्ग भी अपनी फालतू दौलत को अविकसित देशो में लगाना चाहता था, क्योकि वहाँ ज्यादा मुनाफा होता था। इग्लैण्ड में तो कल-कारखानो और उद्योग-धधो की ऐसी भरमार होगई थी कि वहाँ पूंजी लगाने की सहूलियते बहुत कम थीं। वहाँ मुनाफा अब उतना ज्यादा नही मिलता था और फिर मजदूरो का आन्दोलन वहाँ खूब अच्छी तरह संगठित था, जिससे अकसर मजूरो के साथ झगडे खडे होजाया करते थे। अविकसित देशो में मजूर कमजोर होता है, इसलिए मजदूरी कम देनी पडती है और मुनाफा ज्यादा होता है। लाजिमी तौर पर ब्रिटिश पूजीपतियो को ब्रिटेन के मातहत अविकसित देशो--जैसे हिन्दुस्तान--में पूंजी लगाना ज्यादा पसंद था। इस तरह ब्रिटिश पूंजी हिन्दुस्तान में आई और इससे और भी औद्योगीकरण हुआ, यानी और भी कल-कारखाने खुले।

४ महायुद्ध के अनुभवो से यह मालूम होगया कि सिर्फ बहुत ऊँचे औद्योगिक देश ही प्रभावशाली ढग से लडाई लड सकते है। जारशाही रूस आखिरकार युद्ध में इसलिए पस्त होगया कि उसका काफी तौर पर औद्योगीकरण नहीं हुआ था और

युद्ध-काल में हिन्दुस्तानी पूंजीपति वर्ग और ऊंचे मध्यमवर्ग की बढ़ती हुई ताकत का असर राजनैतिक आन्दोलन पर भी पड़ा। राजनीति युद्ध के पहले या युद्ध के जमाने की शुरुआत की खुमारी से बाहर निकल पड़ी और स्वशासन की मांग की जाने लगी। अपनी लम्बी सजा काटने के बाद लोकमान्य तिलक जेल से बाहर आये। मैं तुम्हें बता चुका हूं कि उस वक्त राष्ट्रीय महासभा या नेशनल कांग्रेस माडरेट यानी उदार दल के हाथ में थी। उस वक्त वह एक छोटी-सी संस्था थी, जिसका जनता से बहुत कम सम्पर्क था और जिसका बिलकुल प्रभाव नहीं था। चूंकि अधिक प्रगतिशील राजनीतिज्ञ कांग्रेस में नहीं थे, इसलिए उन्होंने होमरूल लीगों का संगठन किया। ऐसी दो लीगें बनाई गईं—एक लोकमान्य तिलक द्वारा, दूसरी श्रीमती एनी बेसेण्ट द्वारा। कुछ वर्षों तक श्रीमती बेसेण्ट ने हिन्दुस्तान की राजनीति में महत्वपूर्ण भाग लिया और उनकी बोलने और किसी बात की वकालत करने की महान् शक्ति ने राजनीति में लोगों की दिलचस्पी बढ़ा दी। सरकार ने उनके प्रचार को इतना खतरनाक समझा कि उन्हें, और उनके दो साथियों को, कुछ महीनों तक नजरबन्द रक्खा। वह कलकत्ता में कांग्रेस के अधिवेशन की अध्यक्ष हुईं। वह कांग्रेस की अध्यक्ष बननेवाली पहली स्त्री थीं। कुछ वर्षों बाद श्रीमती सरोजनी नायडू कांग्रेस की दूसरी महिला-अध्यक्ष हुई थीं।

१९१६ में कांग्रेस के दोनों दलों, माडरेटों और उग्रतावादियों, में समझौता हो-गया और १९१६ में लखनऊ में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ उसमें दोनों शरीक हुए। यह समझौता थोड़े ही समय तक क़ायम रहा। दो वर्षों के अन्दर ही फिर झगड़ा होगया और माडरेट, जो अब अपनेको लिबरल यानी उदार-मतवादी कहते हैं, कांग्रेस से अलग होगये और अभीतक अलग ही हैं।

१९१६ की लखनऊ-कांग्रेस से राष्ट्रीय महासभा का पुनरुत्थान शुरू होता है। तबसे आगे बराबर उसका महत्व और उसकी ताकत बढ़ती गई, और अपने इतिहास में पहली बार वह मध्यमवर्ग एक राष्ट्रीय संगठन बन सका। तब भी इसका आम जनता से कोई ताल्लुक़ न था और आम लोगों ने तबतक इसमें कोई दिलचस्पी नहीं ली जबतक कि उसमें बापू का आगमन नहीं हुआ। इस तरह माडरेट या उग्रतावादी दोनों, कमोबेश, एक ही यानी मध्यम वर्ग के प्रतिनिधि थे। माडरेट लोग थोड़े-से खुशहाल लोगों और सरकारी नौकरियों के नजदीक रहनेवालों के प्रतिनिधि थे। वे खुद भी ज्यादातर खुशहाल थे और सरकारी नौकरियों में थे या उनके साथ उनके ताल्लुक़ात थे। उग्रतावादियों के साथ मध्यमवर्ग के ज्यादातर लोगों की हमदर्दी थी और उसमें कितने ही बेकार प्रतिभावान या बुद्धिजीवी लोग थे। ये बुद्धिजीवी (जिन-

उसको एक अच्छा सरक्षित बाजार मिल गया था, जिसमें वह अपना व्यापार फैला सकता था और मजदूरो को कम मजदूरी देकर खूब मुनाफ़ा उठा सकता था। एक दूसरे तरीक़े पर भी यह उसके लिए मुफीद साबित हुआ। हिन्दुस्तान, चीन, मिस्र और दूसरे ऐसे देशो में जहाँ मजदूरी की दर बहुत नीची थी, अपनी पूंजी लगाने के बाद उसने इग्लैण्ड के मजदूरो को भी मजदूरी कम करने की धमकी दी। और अगर अग्रेज मजदूर ने मजदूरी में कमी करने की बात का विरोध किया तो पूंजीपति ने कहा कि उसे मजबूर होकर बडे दु ख के साथ इग्लैण्ड में अपना कारखाना बन्द कर देना पडेगा और वह और कही दूसरी जगह अपनी पूंजी लगायेगा।

हिन्दुस्तान के उद्योगो पर नियन्त्रण रखने के लिए हिन्दुस्तान की ब्रिटिश सरकार ने और भी कई उपाय किये। यह एक जटिल विषय है और जब मैं इसके बारे में लिखता हूँ तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं फिसलती जमीन पर हूँ। इसलिए हमें इन बातो पर परेशान होने की जरूरत नहीं। पर एक बात का जिक्र मैं कर देना चाहता हूँ। आधुनिक उद्योग में बैंक बड़ा ज़बरदस्त हिस्सा लेते है, क्योकि बडे-बडे व्यापारियो को अक्सर रुपये-सम्बन्धी साख की ज़रूरत पडती है। बडे-से-बड़ा व्यापार भी फेल किया जा सकता है, अगर उसे रुपये उधार मिलने या उसकी साख कायम रखने की सहूलियतें न दी जायें। चूंकि बैंक ही यह 'क्रेडिट' (उधार या साख) दे सकते है, इसलिए तुम कल्पना कर सकती हो कि उनके हाथ में कितनी ज़बरदस्त ताकत होती है। वे किसी व्यवसाय को बना और बिगाड़ सकते है। महायुद्ध के बाद ही ब्रिटिश सरकार ने कई बैंको को मिलाकर इम्पीरियल बैंक ऑफ़ इडिया के नाम से एक बडा बैंक बनाया। यह बैंक पूरे तौर पर सरकार के नियन्त्रण में है और देश के दूसरे छोटे बैंको पर इसका बहुत काफी नियत्रण है। इस तरह सरकार हिन्दुस्तानी उद्योगो और व्यापारी पेढियो पर अपना काफी कब्जा रख सकती है।

हिन्दुस्तानी उद्योगो के लिए अग्रेज लोग जो महान् कार्य कर रहे थे (और हम देख ही चुके है कि यह महान् कार्य कैसा था) उसके लिए बतौर इनाम या पुरस्कार उन्होने अपने माल को तरजीह दिये जाने की माँगें कीं। इसे कभी-कभी 'इम्पीरियल प्रेफरेंस' (साम्राज्य के माल को तरजीह देने की नीति) कहा जाता है। इसका मतलब यह था कि अगर हिन्दुस्तानी उद्योगो को संरक्षण देने के लिए विदेशी माल पर कर या टैरिफ लगाना हो तो ब्रिटिश माल पर अपेक्षाकृत कम टैक्स लगाया जाय, या बिलकुल ही टैक्स न लगाया जाय, जिससे यहाँ के बाजार में ब्रिटिश माल को दूसरे विदेशी माल से ज्यादा सुविधायें मिले। अभी हाल में तरजीह दिये जानें की इस नीति को चलानें में वे कामयाब हुए है।

मुसलमान जो राजनीति में इतनी दिलचस्पी लेने लगे थे और कांग्रेस के साथ मिलकर काम कर रहे थे, उसकी वजह यह थी कि ब्रिटेन के तुर्की के साथ लड़ने से वे खीझ उठे थे। तुर्की के साथ हमदर्दी रखने और जोरो से उसका इजहार करने के कारण दो मुसलमान नेता, मौलाना शौकतअली और मुहम्मदअली, युद्ध के शुरू में ही नजरबन्द कर दिये गये थे। मौलाना अबुलकलाम आजाद भी नजरबन्द कर दिये गये थे। उनकी नजरबन्दी की वजह यह थी कि अरब देशो से उनके गहरे ताल्लुक़ात थे, जहाँ वह अपनी किताबो और लेखो के कारण बडे लोकप्रिय थे। इन सब बातो से मुसलमानो का खीझना और गुस्सा होना लाजिमी था और वे सरकार से अधिकाधिक दूर हटते गये।

चूँकि हिन्दुस्तान में स्वशासन की माँग बढती गई, ब्रिटिश सरकार ने कई वादे किये और हिन्दुस्तान में जाँच शुरू करदी, जिससे जनता का ध्यान उधर खिच गया। १९१८ की गरमी के दिनो में उस वक्त के भारत-सचिव और वाइसराय ने एक संयुक्त रिपोर्ट पेश की—जो उनके नामो से 'माटेगू-चेम्सफर्ड रिपोर्ट' करके मशहूर हुई—जिसमें हिन्दुस्तान में कुछ सुधारो और परिवर्तनो के प्रस्ताव किये गये थे। तुरन्त ही इन प्रस्तावो पर देश में बडी बहस छिड़ गई। कॉग्रेस ने जोरो के साथ उनका विरोध किया और उन्हे अपर्याप्त यानी नाकाफी बताया। लिबरलो ने उनका स्वागत किया और उन्हीकी वजह से वे कॉग्रेस से अलग होगये। कुछ समय पहले से ही वे नये तौर-तरीके के कॉग्रेसमैनो के साथ तकलीफ महसूस कर रहे थे।

जब युद्ध खत्म हुआ तब हिन्दुस्तान की यह हालत थी। हर जगह तब्दीलियो का जबरदस्त इन्तजार था। राजनैतिक 'बैरोमीटर'[1] ऊँचा उठ रहा था और मुलायम, विश्रामदायक, अप्रभावशाली और हिचकिचाहट से भरी हुई कानाफूसियो की जगह उग्रपथियों की ज्यादा विश्वास से भरी हुई, उग्र, सीधी और स्पष्ट चिल्लाहट ले रही थी। पर माडरेट और उग्रपंथी दोनो राजनीति और शासन के बाहरी ढाँचे के बारे में ही बोलते थे; उनकी पीठ पीछे ब्रिटिश साम्राज्यवाद देश के आर्थिक जीवन पर चुपचाप अपना कब्जा कायम करता जा रहा था।

१ बैरोमीटर—वायु का भार बतानेवाला यत्र

मे मेरा मतलब बहुत कुछ पढे-लिखे लोगो से है) सगठित हुए और इन्हीमें से क्रान्तिकारियों को भी रगरूट मिले। माडरेटो और उग्रपथियो के आदर्श या लक्ष्य में कोई ज्यादा फर्क नही था। दोनो ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर स्वशासन की बात करते थे और दोनों उस वक्त इसका एक हिस्सा भी लेनें को तैयार थे। यह जरूर था कि उग्रपथी माडरेटो की वनिस्वत जरा वडा हिस्सा माँगते थे और अपनी माँग को जोरदार भाषा में प्रकट करते थे। मुट्ठीभर क्रान्तिकारी जरूर पूरी आजादी चाहते थे, पर उनका कांग्रेस के नेताओ पर वहुत कम प्रभाव था। माडेरेटो और उग्रपथियो में असली फर्क यह था कि पहला अधिपतियो यानी मालदारो (Haves) और उनके सहारे रहनेवाले लोगो का दल था और उग्रपथियो में ऐसे लोग भी बहुत काफी तादाद में थे जो अपहृत थे और जिनके पास खुशहाल जिन्दगी के जरिये न थे। लाजिमी तौर पर दूसरे दल ने देश के नौजवानो को ज्यादा आकर्षित किया। इन नौजवानो में से ज्यादातर काम की जगह कडी भाषा के प्रयोग को ही काफ़ी समझते थे। पर मैं यहाँ यह कह दूँ कि यह जो मैंने एक आम बात बताई है वह दोनो तरफ के कई व्यक्तियो पर लागू नही होती। उदाहरण के तौर पर गोपालकृष्ण गोखले का नाम लिया जा सकता है, जो माडरेटो के एक वडे ही योग्य और आत्मत्यागी नेता थे और वह मालदार नही थे। उन्होने लोक-सेवक-समिति (सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी) कायम की। पर न तो माडरेटो का, न उग्रपथियो का, असली शोषित और अपहृत लोगो (Have-nots) यानी मजदूरो और किसानो से कोई ताल्लुक था। हाँ, तिलक आम जनता में जरूर लोकप्रिय थे।

१९१६ की लखनऊ-कांग्रेस हिन्दू-मुस्लिम एकता के कारण भी महत्वपूर्ण थी। कांग्रेस सदा से राष्ट्रीय आधार पर खडी थी, पर अमल में वह एक हिन्दू सस्था थी, क्योंकि इसमें ज्यादातर हिन्दू ही थे। युद्ध के कुछ साल पहले, सरकार के बढ़ावा देने पर, शिक्षित मुसलमानो ने आलइडिया मुस्लिम लीग कायम की थी। यह सस्था मुसलमानो को कांग्रेस से अलग रखने के लिए खोली गई थी, पर यह धीरे-धीरे कॉग्रेस की तरफ वढती गई और लखनऊ में दोनो के बीच, हिन्दुस्तान के भावी विधान के बारे में, एक समझौता होगया। इसे कांग्रेस-लीग योजना कहा जाता था और दूसरी बातों के साथ इसमें मुसलमानो के अल्पमत के लिए स्थान (सीट) सुरक्षित रखने की भी तजवीज थी। यह कांग्रेस-लीग योजना दोनो का सयुक्त कार्यक्रम बन गई और देश की मांग के रूप में स्वीकार की गई। इसके ख़यालात मध्यमवर्ग के ख़यालात थे, क्योंकि उस वक्त मध्यमवर्ग ही राजनैतिक मामलो में दिलचस्पी लेता था। इस योजना के आधार पर आन्दोलन वढ़ता गया।

महायुद्ध से एक तीसरे साम्राज्य और पुराने राजघराने, यानी हैप्सबर्ग खानदान के आस्ट्रिया-हँगरी के साम्राज्य, का भी खात्मा हो गया। लेकिन इसके बाद भी दूसरे कई साम्राज्य बच रहे, क्योंकि वे विजेताओ में से थे और विजय ने उनके गुरूर में कोई कमी नही की, न उन लोगो के प्रति, जिन्हे उन्होने गुलाम बना रक्खा था, उनमें कुछ ज्यादा उदारता या इंसाफ़ का खयाल ही पैदा किया।

विजयी मित्र-राष्ट्रो ने सन् १९१९ ई० में पेरिस में अपना 'शान्ति-सम्मेलन' (Peace Conference) किया। उनके हाथो पेरिस में दुनिया का भविष्य गढ़ा जानेवाला था और कई महीनो तक इस मशहूर शहर पर दुनिया की आँखें लगी रही। दूर और नजदीक से सभी तरह के आदमी वहाँ सफ़र करके पहुँचे। अपनेको बहुत महत्वपूर्ण समझनेवाले राजनीतिज्ञ और राजनैतिक आदमी वहाँ जमा हुए; कितने ही कूटनीतिज्ञ, विशेषज्ञ, बडे-बडे फ़ौजी आदमी, रुपया लगानेवाले साहूकार, और मुनाफा उठानेवाले लोग वहाँ पहुँच गये। और इन सबके साथ सहायको, टाइपिस्टो और क्लर्कों की भीड़-की-भीड़ थी। पत्रकारो की जमात तो थी ही। अपनी आजादी के लिए लड़नेवाले राष्ट्रों के जैसे आयलैंण्ड, मिस्र, अरब और दूसरे कितने ही जिनका नाम भी पहले नही सुनाई पड़ा था---प्रतिनिधि भी वहाँ पहुँचे थे। पूर्वी योरप के कई राष्ट्रो के प्रतिनिधि भी वहाँ आये थे, जो चाहते थे कि आस्ट्रियन और तुर्की साम्राज्यो के भग्नावशेष यानी खण्डहरो से अपने लिए अलग राष्ट्रो का निर्माण करे। इनके अलावा बहुत-से लेभग्गू भी जमा हुए थे। दुनिया का नये ढंग पर बँटवारा होने जा रहा था और गिद्ध इस मौके पर चूकना नहीं चाहते थे।

'शान्ति-सम्मेलन' से बडी उम्मीदें थीं। लोगो का खयाल था कि महायुद्ध के भयंकर अनुभव के बाद न्यायपूर्ण और स्थायी शान्ति का कोई उपाय किया जायगा। आम जनता अब भी युद्ध के जबरदस्त बोझ को महसूस कर रही थी और मजदूरो में बहुत ज्यादा असंतोष था। जिन्दगी की जरूरी चीजो के दाम बहुत चढ़ गये थ और इसकी वजह से आम लोगो की मुसीबतब हुत बढ़ गई थी। सन् १९१९ ई० में योरप में आनेवाली सामाजिक क्रान्ति के कितने ही चिन्ह साफ दिखाई दे रहे थे। रूस का उदाहरण लोगों को ख़ास तौर पर अपनी तरफ खीच रहा था।

वर्साई के उस हाल में, जहाँ ठीक अड़तालीस वर्ष पहले जर्मन साम्राज्य का ऐलान किया गया था, होनेवाले शान्ति-सम्मेलन का यह पार्श्वचित्र था। इतने बडे सम्मेलन का रोज-बरोज मिलना मुश्किल था, इसलिए वह कई कमेटियो में बाँट दिया गया। ये कमेटियाँ अपनी प्राइवेट या गुप्त बैठके करती थी और इस चालाकी के परदे के पीछे उनके झगडे और षड्यन्त्र चलते रहते थे। सम्मेलन

यों ये तीनों एक-दूसरे से लड़ते और एक-दूसरे को अपनी-अपनी तरफ खींचते रहे। इनमें से हरेक पर सम्मेलन में और बाहर से भी न जाने कितने आदमियों का दबाव और जोर पड़ रहा था। फिर इन सबके पीछे सोवियट रूस की छाया फैल रही थी। सम्मेलन में न रूस और न जर्मनी का कोई प्रतिनिधि था, पर सोवियट रूस की हस्ती ही पेरिस में इकट्ठा हुई पूंजीवादी ताकतों के लिए बराबर एक चुनौती-सी थी।

आखिरकार लायड जार्ज की मदद से क्लेमेंशो की जीत हुई। विल्सन जो चीज सबसे ज्यादा चाहता था, वह—एक राष्ट्र-संघ—उसे मिल गई और इस बारे में सबकी मजूरी मिल जानें पर वह और सब बातों में झुक गया। कई महीनों के तर्क और बहस-मुबाहसे के बाद शान्ति-सम्मेलन में मित्र-राष्ट्र सुलहनामे के एक मस्विदे पर सहमत हुए और आपस में एकमत हो जाने के बाद उन्होंने जर्मन प्रतिनिधियों को अपना हुक्म या फैसला सुनाने के लिए बुलाया। ४४० धाराओं का यह लम्बा-चौड़ा सुलह का मस्विदा जर्मनों के गले ठूंस दिया गया और उनसे उसपर दस्तख़त करने को कहा गया। उनके साथ कोई तर्क-वितर्क या बहस-मुबाहसा नहीं हुआ और न उन्हें उस मस्विदे में किसी तरह का संशोधन या रद्दोबदल करने का ही मौका दिया गया। यह तो एक जबरदस्ती और जोर के बल पर की गई सुलह थी; या तो जर्मनों को ज्यों-का-त्यों इसे कबूल कर लेना था या नामंजूरी का परिणाम भुगतने के लिए तैयार होना था। नये जर्मन प्रजातंत्र के प्रतिनिधियों ने इसका विरोध किया और दी गई अवधि के आखिरी दिन वर्साई की सधि पर दस्तखत किये।

आस्ट्रिया, हंगरी, बलगेरिया और तुर्की के साथ मित्र-राष्ट्रों ने अलग-अलग संधियाँ कीं। तुर्की के साथ होनेवाले सुलहनामे को उस वक़्त के सुलतान ने तो मान लिया था, पर कमालपाशा और उसके बहादुर साथियों की ज़बरदस्त मुख़ालफ़त की वजह से वह बाद में नाकामयाब होगया। पर उसकी एक अलग कहानी है, जो मैं किसी दूसरे पत्र में तुम्हें सुनाऊँगा।

इन सुलहनामों से क्या तब्दीलियाँ हुईं? ज्यादातर प्रादेशिक परिवर्तन पूर्वी योरप, पश्चिमी एशिया और अफरीका में हुए। अफरीका के जर्मन उपनिवेशों को मित्र-राष्ट्रों नें लड़ाई के इनाम के तौर पर हथिया लिया। इसमें इंग्लैण्ड के हाथ में सबसे अच्छे हिस्से आये। ब्रिटेन बहुत दिनों से अफरीका के एक सिरे से दूसरे सिरे तक अपनें साम्राज्य का जो सपना देख रहा था वह पूर्वी अफरीका में टंगानिका के हाथ आजाने से पूरा होगया, क्योंकि अब उत्तर में मिस्र से लेकर दक्षिण में केप तक ब्रिटेन का ही कब्जा था।

योरप में बहुतेरी तब्दीलियाँ होगईं और बहुत-से नये राज्य या राष्ट्र नक़्शे पर आगये। किसी पुराने नक़्शे का नये से मुकाबिला करो तो तुम्हें देखते ही इन

का नियत्रण मित्र-राष्ट्रो की 'कौंसिल ऑफ टेन' (Council of Ten) यानी 'दस की समिति' करती थी, जिसमें दस राष्ट्रो के प्रतिनिधि थे। बाद में वह घटाकर पाँच की करदी गई, जिसमें सयुक्तराष्ट्र (अमेरिका), ब्रिटेन, फ्रास, इटली और जापान दुनिया के पच महाराष्ट्र (Big Five) थे। कुछ दिनो बाद जापान भी इसमें से निकल गया और सिर्फ 'कौंसिल ऑफ फोर' यानी चार राष्ट्रो की कौंसिल रह गई। अखीर में इटली भी इससे हट गया और सिर्फ तीन महाराष्ट्र (Big Three) रह गये—अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रास। राष्ट्रपति विल्सन, लायड जार्ज और क्लेमेंशो क्रमश इन तीनो देशो के प्रतितिधि थे और इन तीन आदमियो के कन्धो पर दुनिया को नये साँचे में ढालने और उसके भयावने ज़ख्मो को अच्छा करने का महान् कार्य आपडा। यह कार्य महापुरुषो और देवताओ के लायक़ था और ये तीनो इनसे कहीं भिन्न या दूसरे ढग के थे। जिन लोगो के हाथो में ताकत होती है—जैसे बादशाह, राजनीतिज्ञ, सिपहसालार और इसी तरह के दूसरे लोग—उनका अखबारवाले इतना ज्यादा विज्ञापन करते और उनकी तारीफ का कुछ ऐसा पुल बाँध देते है कि आम लोगो को वे विचार और कार्य में असाधारण और देव सरीखे जान पड़ते है। उनके चारो ओर एक तरह का प्रकाश का घेरा लोगो को दिखाई पड़ने लगता है और अपनें अज्ञान या नावाकफियत के कारण हम उनमें बहुत-से ऐसे गुणो की कल्पना कर लेते है जिनका उनमें नाम-निशान भी नहीं होता। घनिष्ट परिचय में आने या नजदीक से देखने के बाद वे बहुत मामूली आदमी निकलते है। एक मशहूर आस्ट्रियन राजनीतिज्ञ ने एक बार कहा था कि अगर दुनिया को मालूम होजाय कि कितनी कम बुद्धि से उसपर हुकूमत की जाती है तो वह स्तब्ध या हैरतज़दा रह जायगी। इस तरह ये तीन महान् लोग (The Big Three) हालाकि बडे दीखते थे, पर उनका दृष्टिकोण बहुत सकुचित था और वे अन्तर्राष्ट्रीय मामलो से बेख़बर थे—यहाँतक कि उन्हे भूगोल का भी ज्ञान न था।

राष्ट्रपति उडरो विल्सन बडे लोकप्रिय थे और उनकी चारो तरफ बडी प्रशसा हो रही थी। उन्होने अपने व्याख्यानो और नोटो में इतने खूबसूरत और आदर्श से भरे हुए वाक्यो का प्रयोग किया था कि लोग उन्हे आनेवाली नई आजादी का पैगम्बर समझने लगे। ग्रेटब्रिटेन के प्रधान मत्री लायड जार्ज ने भी बहुतेरे सुन्दर वाक्यो का इस्तेमाल किया, पर उनको लोग अवसरवादी या मौके से अपना मतलब गाँठनेवाला समझते थे। 'शेर' (Tiger) नाम से पुकारे जानेवाले क्लेमेंशो को आदर्शो और लम्बे-चौडे वाक्यो से कोई मतलब न था। वह तो फ्रास के पुराने दुश्मन जर्मनी को हर तरह से कुचलना और अपमानित करना चाहता था, ताकि फिर वह सिर न उठा सके।

योरप में सिर्फ एक तब्दीली और हुई; अलसेस-लॉरेन का प्रान्त फ़्रान्स को दे दिया गया। कुछ और तब्दीलियाँ भी हुई, पर मैं उनका जिक्र कर तुम्हे तंग न करूँगा। अब तुमने देख लिया है कि इन तब्दीलियो के कारण बहुत-से नये राज्य पैदा होगये, जिनमें से ज्यादातर बिलकुल छोटे है। अब पूर्वी योरप बाल्कन-सा होगया है, इसीलिए अक्सर यह कहा जाता है कि शांति की संधियो ने योरप को 'बाल्कनाइज्ड' (Balkanised) कर दिया या बाल्कन-की-सी शक्ल में बदल दिया। अब बहुत-सी नई सीमायें या सरहदें पैदा होगई है और इन छोटे राज्यों में अक्सर झगडे चलते रहते है। यह देखकर हैरत होती है कि वे किस तरह एक-दूसरे से नफ़रत करते है। डैन्यूब नदी की घाटी वाले देशो में खास तौर से यह हालत है। इसकी ज्यादातर जिम्मेदारी मित्र-राष्ट्रो पर है, जिन्होने योरप का बिलकुल गलत तरीके पर बँटवारा किया और बहुत-सी नई समस्यायें पैदा करदी। बहुतेरी छोटी और कम तादाद वाली कौमो पर विदेशी सरकारो का कब्जा है जो उन्हे दबाती और उनपर अत्याचार करती रहती है। पोलैण्ड का काफी बड़ा हिस्सा असल में उक्रैन का है और इस हिस्से के गरीब उक्रैनियनो को जबरदस्ती पोलिश बनाने के लिए उनपर तरह-तरह के अत्याचार किये गये है। इसी तरह जुगोस्लेविया, रूमानिया और इटली में भी छोटी तादाद वाली विदेशी कौमें है और उनके साथ बराबर बुरा और भद्दा बर्ताव किया जाता है। दूसरी तरफ आस्ट्रिया और हंगरी की हड्डी-हड्डी जुदा करदी गई और उनके अपने लोग उनसे छीन लिये गये है। विदेशी हुकूमत में रहनेवाले इन प्रदेशो में राष्ट्रीय आन्दोलनो और झगडो का बराबर खडे होते रहना स्वाभाविक है।

फिर इस नक्शे पर निगाह डालो। तुम देखोगी कि फिनलैंड, इस्टोनिया, लटविया, लिथुएनिया, पोलैण्ड और रूमानिया के राज्यो के सिलसिले के कारण रूस पश्चिमी योरप से एकदम अलहदा होगया है। जैसा कि मैंने तुम्हें बताया है, इन राज्यो में ज्यादातर वर्साई की सुलह से नही बनाये गये, बल्कि वे रूसी क्रान्ति के परिणाम थे। जो हो, मित्र-राष्ट्रो ने इनका स्वागत किया और खुशी जाहिर की। इसकी वजह यह थी कि वे रूस को गैरबोलशेवी योरप से अलग करते थे। वे 'स्वच्छता का घेरा' (Cordon Sanitaire जिससे छूत के रोगो को एक जगह से दूसरी जगह फैलने से रोका जाता है) थे, जो बोलशेविज्म के छूत के रोग को रोकने में मददगार हो सकते थे। ये सब बाल्टिक राज्य यानी बाल्टिक समुद्र के आस-पास के राज्य गैरबोलशेवी है, वरना वे सोवियट फेडरेशन में शामिल होजाते।

पश्चिमी एशिया में पुराने तुर्की साम्राज्य के कुछ हिस्सो पर यूरोपीय शक्तियो की ललचाई हुई आँखें पडीं। महायुद्ध के जमाने में अंग्रेजो ने यह वादा करके तुर्की

तब्दीलियों का पता लग जायगा। कई तब्दीलियाँ तो रूसी क्रान्ति का परिणाम थीं, क्योंकि बहुत-सी कौमें, जो रूस की सरहदों पर बसी हुई थीं, सोवियट से अलहदा होगई और उन्होंने अपनी आजादी का ऐलान कर दिया। सोवियट सरकार ने उनके आत्म-निर्णय के अधिकार को मजूर कर लिया और उनकी स्वतत्रता में दखल नहीं दिया। योरप के नये नक्शे को देखो। आस्ट्रिया-हगरी का बड़ा राज्य एकदम गायब होगया है और उसकी जगह पर कई छोटे देश और राज्य पैदा होगये हैं, जिन्हे 'आस्ट्रियन विरासत वाले राज्य' (Austrian Succession States) कहते हैं। इनमें आस्ट्रिया भी एक है, जो अपने पहले विस्तार का एक छोटा टुकडा-सा रह गया है और जिसकी राजधानी वियेना का बडा शहर है। इनमें दूसरा देश हंगरी है। यह भी पहले से बहुत छोटा होगया है। तीसरा जेकोस्लोवेकिया है, जिसमें पहले का बोहेमिया शामिल कर दिया गया है। इसके अलावा युगोस्लेविया का, जो हमारा पुराना पर दु:खदाई दोस्त है, एक हिस्सा रह गया है; सर्विया इस तरह मिट गया है कि पहचाना नहीं जाता। कुछ हिस्से रुमानिया, पोलैण्ड और इटली को मिल गये हैं। मतलब यह कि अच्छी तरह चीर-फाड और बाट-बखरा किया गया।

और आगे, उत्तर की तरफ एक और नया राज्य पैदा होगया है। या यों कहना ज्यादा सही होगा कि एक पुराना राज्य फिर से आ गया है। यह पोलैण्ड है। यह प्रशा, रूस और आस्ट्रिया से कई प्रदेश लेकर और उन्हे जोड़कर बनाया गया है। पोलैण्ड को समुद्र तक पहुँचने का रास्ता देने के लिए एक गैरमामूली बात की गई। जर्मनी या प्रशा के दो टुकडे कर दिये गये और इन दोनो के बीच पोलैण्ड को जमीन का एक टुकड़ा, जिससे होकर वह समुद्र तक जा सकता था, दिया गया। पश्चिमी रूस से पूर्वी प्रशा को जाने में इस टुकडे को पार करना पडता है। इसी टुकडे के नजदीक डैनजिग का मशहूर शहर है। इसे एक स्वतत्र नगर बना दिया गया है। यानी इसपर न जर्मनी का कब्ज़ा है, न पोलैण्ड का; वह खुद ही एक राज्य है और उसपर सीधे राष्ट्र-सघ का नियत्रण है।

पोलैण्ड के उत्तर में लियुएनिया, लटविया, इस्टोनिया और फिनलैण्ड के बाल्टिक राज्य हैं। ये सब पुराने जार के साम्राज्य के वारिसो में से हैं। ये छोटे-छोटे राज्य हैं, पर हरेक की सस्कृति और भाषा अलग है। शायद तुमको यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि लियुएनियन लोग आर्य हैं (जैसी कि योरप में और भी कई कौमें हैं) और उनकी भाषा सस्कृत से बहुत मिलती-जुलती है। यह बडी महत्वपूर्ण बात है जिसे हिन्दुस्तान में बहुत-से लोग नहीं महसूस करते, और जिससे हमें उन बधनो की याद आती है जो दूर-दूर की कौमो को एक सूत्र में बांधते हैं।

जर्मनी को निःशस्त्र होने का भी हुक्म दिया गया। उसे सिर्फ छोटी सेना, ज्यादातर पुलिस के काम के लिए, रखने की अनुमति दी गई। उसे अपना सारा समुद्री बेड़ा मित्र-राष्ट्रो के सुपुर्द कर देना पड़ा। जब जर्मन बेडा सौंपने के लिए लेजाया जा रहा था, तब बेडे के जर्मन अफ़सरो और आदमियो ने यह तय किया कि अंग्रेजो को सौंपने से अच्छा यही है कि उसे डुबो दिया जाय। यह फैसला उन्होने अपनी जिम्मेदारी पर किया; यानी इस फैसले से जर्मन-सरकार का कोई सरोकार न था। इस फैसले के मुताबिक जून १९१९ में 'स्केपाल्फो' पर, जब ब्रिटिश लोग थोडी ही दूर रह गये थे और बेडे पर कब्जा करने की तैयारी कर रहे थे, सारा जर्मन बेड़ा अपने ही नाविको द्वारा डुबा दिया गया।

इसके अलावा युद्ध में मित्र-राष्ट्रो को जो नुकसान उठाना पड़ा था उसका हरजाना भी जर्मनी को देना था। इसे रिपेयरेशन या क्षति-पूर्ति कहा जाता था और तबसे यह शब्द योरप के ऊपर छाया-सा लटक रहा है। सुलहनामे में कोई निश्चित रकम तय नही की गई थी, लेकिन उसमें उसका निश्चय करने की तजवीज रक्खी गई थी। इस तरह से मित्र-राष्ट्रो को युद्ध का हरजाना देने की जिम्मेदारी लेना एक बड़ा जबरदस्त मामला था। उस वक्त जर्मनी एक पराजित और उजड़ा हुआ देश था और अपनी घरेलू जिन्दगी को सम्हालने की बडी-बडी समस्यायें उसके सामने थी। उनके अलावा मित्र-राष्ट्रो की क्षति का बोझ उठा लेना एक असम्भव काम था, जिसके पूरा होने की उम्मीद नही की जा सकती थी। पर मित्र-राष्ट्र घृणा और बदले की भावना से भर रहे थे और न सिर्फ मास नोचना चाहते थे बल्कि जमीन पर लोटते हुए जर्मनी के खून की आखरी बूंद तक पी जाना चाहते थे। इग्लैंड में लायड जार्ज ने 'कैसर को फॉसी दे दो' का नारा उठाकर ही पार्लमेण्ट के चुनाव में फतह हासिल की थी और फ़ास में तो इससे भी ज्यादा बदले की कटु भावनायें थी।

सुलह की इन धाराओ का सारा मतलब बस यह था कि हर संभव उपाय से जर्मनी को बॉध दिया जाय, उसे निकम्मा कर दिया जाय और ऐसा कर दिया जाय कि फिर वह सिर न उठा सके या मजबूत न हो सके। उसे पीढ़ियो तक मित्र-राष्ट्रो का आर्थिक गुलाम रखने और उससे हर साल खिराज की शक्ल में बडी-बडी रक़में ऐंठते रहने की तजवीज की गई थी। इतिहास का यह बिलकुल साफ़ सबक कि किसी बडी कौम को लम्बे अर्से तक यो बॉध रखना मुमकिन नही है, इन बडे-बडे राजनीतिज्ञो के, जिन्होने प्रतिहिंसा या बदले की इस शान्ति की नीव रक्खी थी, ध्यान में नही आया। आज वे इसके लिए पछता रहे हैं।

अन्त में तुमको मुझे राष्ट्रपति विल्सन की सन्तान उस राष्ट्रसंघ के बारे में

के खिलाफ अरबो में बगावत करा दी थी कि वे अरबस्तान, फिलस्तीन और सीरिया को मिलाकर एक सयुक्त अरब राष्ट्र का निर्माण करेगे। जब अरबो से यह वादा किया जा रहा था, तभी इन प्रदेशो को आपस में बॉट लेने की एक गुप्त सधि भी अग्रेज फ्रासीसियो से कर रहे थे। यह कोई यश की बात न थी और वर्तमान ब्रिटिश प्रधान मन्त्री रैम्से मैकडानल्ड[१] ने इसे 'भद्दे दोरगीपन' की एक कहानी कहकर पुकारा था। पर यह दस वर्ष पहले की बात है, जब वह मंत्री नहीं थे और कभी-कभी सच बोलने की जुर्रत कर सकते थे।

जब ब्रिटिश सरकार ने न सिर्फ अरबो के साथ किया हुआ वादा तोड़ने की कोशिश की बल्कि फ्रास से की हुई गुप्त सधि से भी ऑखें फेरनी चाहीं, तब इसका एक अजीब कारण था। उनके दिमाग में एक महान् मध्यपूर्वी साम्राज्य का स्वप्न पैदा हुआ—ऐसे साम्राज्य का जो हिन्दुस्तान से मिस्र तक फैला हुआ हो। यानी वह बीच के बहुत बडे हिस्से को हथिया कर हिन्दुस्तान के साम्राज्य को अपने अफरीका के राज्य से मिला देना चाहते थे। यह एक बडा ही ललचाने वाला और जबरदस्त सपना था। फिर भी उसके पूरा होने में उस वक्त कोई ज्यादा दिक्कत मालूम नहीं होती थी। १९१९ के उस जमाने में ब्रिटिश फौजो ने इन सब प्रदेशो—फारस, इराक, फिलस्तीन, अरबस्तान के कुछ हिस्सो और मिस्र पर कब्जा कर रक्खा था। वे सीरिया से फ्रास को बाहर रखने की कोशिश कर रही थीं। कुस्तुनतुनिया शहर भी अग्रेजो के कब्जे में था। पर १९२०, १९२१ और १९२२ में जो घटनायें हुई उनसे यह सपना टूट गया। ब्रिटिश मन्त्रियो की इस महत्वाकांक्षा से भरी योजना को पीछे से सोवियट और आगे से कमालपाशा ने खत्म कर दिया।

किन्तु इतने पर भी ब्रिटेन ने पश्चिमी एशिया के कई प्रदेशो—इराक और फिलस्तीन—में अपना अधिकार कायम रक्खा और रिश्वत और दूसरे तरीको का इस्तेमाल करके अरबस्तान में होनेवाली घटनाओ पर भी असर डालने की कोशिश की। सीरिया फ्रासीसियो के कब्जे में आगया। अरब देशो की नई राष्ट्रीयता और आजादी के लिए उनकी लडाई के बारे में मैं फिर कभी तुम्हें बताऊंगा।

अब हमें फिर वर्साई की सधि की तरफ लौट चलना चाहिए। इस सधि या सुलह ने यह फैसला किया कि जर्मनी युद्ध छेडने के लिए कसूरवार है। इस तरह इस सुलहनामे पर दस्तखत कराके जर्मनो से उनके अपने कसूर को जबरदस्ती मनवा लिया गया। ऐसी जोर-जबरदस्ती की मजूरी की कोई ज्यादा कीमत नही, इससे कटुता पैदा होती है, जैसी कि इस मामले में हुई भी।

राज्य के हमला करने पर उसके खिलाफ कार्रवाई की जायगी। पर यह स्पष्ट नहीं किया गया कि 'हमला' (Aggression) किसे कहा जायगा। जब दो कौमें या राष्ट्र लड़ते है तो उनमें से हरेक दूसरे को कसूरवार बताता और उसे आक्रामक या हमलावर (Aggressor) कहता है।

महत्वपूर्ण मामलो का फैसला राष्ट्रसंघ सर्वसम्मति से ही कर सकता था। इसलिए अगर एक भी सदस्य-राष्ट्र किसी प्रस्ताव के खिलाफ राय दे तो वह गिर जाता था। इसका मतलब यह था कि बहुमत का कोई दबाव नही था। इसका यह भी मतलब था कि राष्ट्रीय सरकारे आजाद है और करीब-करीब उतनी ही ग़ैर-जिम्मेदार है जितनी पहले थी। राष्ट्रसंघ उनपर किसी महाराष्ट्र की तरह हावी नही था। इस तजवीज ने राष्ट्रसघ को बहुत कमजोर बना दिया और व्यवहार में उसे सिर्फ एक सलाह देनेवाली संस्था का रूप दे दिया।

कोई भी स्वतन्त्र राष्ट्र संघ में शामिल हो सकता था, लेकिन चार देश साफ तौर पर अलग कर दिये गये थे: जर्मनी, अस्ट्रिया, तुर्की यानी पराजित देश, और बोलशेवी रूस। पर यह तजवीज की गई थी कि बाद में, कुछ शर्तों पर, वे शामिल किये जा सकते है। ताज्जुब तो यह है कि हिन्दुस्तान राष्ट्रसघ के मूल सदस्यो में से एक हुआ। यह संघ के नियम के बिलकुल ख़िलाफ था, क्योकि उसके मुताबिक सिर्फ आजाद और खुदमुख्तार मुल्क ही सदस्य हो सकते थे। पर 'हिन्दुस्तान' का मतलब हिन्दुस्तान की ब्रिटिश सरकार से था और इस चालाकी से ब्रिटिश सरकार को एक और प्रतिनिधि मिल गया। दूसरी तरफ अमेरिका ने, जो एक तरह से राष्ट्रसंघ को जन्म देनेवाला था, इसमें शामिल होने से साफ तौर पर इनकार कर दिया। अमेरिकन लोग राष्ट्रपति विल्सन के कामो और यूरोपियन साजिशो व झगडो से ऊब गये और उन्होने इससे अलग ही रहने का फैसला किया।

बहुत-से लोग राष्ट्रसंघ की तरफ उत्साह और इस उम्मीद से देख रहे थे कि वह हमारी आजकल की दुनिया के झगडो का खात्मा कर देगा, या कम-से-कम उसमें बहुत ज्यादा कमी कर देगा और शान्ति और बहुतायत का युग ले आयगा। संघ को लोकप्रिय बनाने और सवालो पर अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से गौर करने की आदत डालने के लिए बहुत-से देशो में राष्ट्रसघ सम्बन्धी संस्थायें बनाई गई। दूसरी तरफ बहुत-से लोगो ने संघ को एक बडी धोखे और साजिश की ऐसी चीज बताया जो बडी शक्तियो की स्वार्थ से भरी हुई योजनाओ को पूरा करने के लिए बनाई गई थी। अब हमने इसका कुछ व्यावहारिक अनुभव भी प्राप्त कर लिया है और शायद इसकी उपयोगिता की जॉच करना अब कही आसान है। संघ की हस्ती १९२० के नये दिन

भी कुछ बताना चाहिए जिसे वर्साई की सन्धि ने दुनिया के सामने पेश किया। खयाल था कि यह स्वतन्त्र और स्वशासित यानी आजाद और खुदमुख्तार राज्यो का सघ होगा। इसका उद्देश्य न्याय और प्रतिष्ठा के आधार पर परस्पर सम्बन्ध क़ायम करके भविष्य में युद्धो का प्रतीकार करना और दुनिया की कौमो में बौद्धिक और भौतिक सहयोग को बढाना था। उद्देश्य तो बिला किसी शुबहे के तारीफ़ के काबिल था। सघ के हरेक सदस्य-राष्ट्र ने यह मजूर किया कि वह एक सहयोगी राष्ट्र से तबतक युद्ध न छेडेगा जबतक कि शान्तिपूर्ण समझौते की सारी कोशिशें और सम्भावनायें नाकाम साबित न हो जायें और इसके बाद भी नौ महीने बीत जाने के बाद ही युद्ध का सहारा लेगा। यह तजवीज की गई कि अगर कोई सदस्य-राष्ट्र इस प्रतिज्ञा को तोडेगा तो और राष्ट्र उससे किसी तरह का आर्थिक सम्बन्ध न रक्खेंगे। कागज पर लिखा हुआ यह सब बहुत अच्छा लगता है; पर व्यवहार में बात इसके बिलकुल खिलाफ हुई। यह याद रखने की बात है कि सिद्धान्त या उसूल में भी संघ ने युद्ध का अन्त करने की कोशिश नही की। हॉ, उसने लडाई के रास्तो में दिक्कतें पैदा करने की कोशिश जरूर की, ताकि वक्त गुजर जाने और समझौते के प्रयत्नो से युद्ध का जोश-खरोश कम हो जाय। युद्ध के कारणो को दूर करने की उसने कोशिश नहीं की।

राष्ट्र-संघ में एक तो असेम्बली थी, जिसमें सब सदस्य-राष्ट्रो को प्रतिनिधित्व मिला था, दूसरी कौंसिल थी, जिसमें महाशक्तियो के स्थायी प्रतिनिधि होते थे और कुछ प्रतिनिधि असेम्बली द्वारा भी चुने जाते थे। इसका एक सेक्रेटरियट (मंत्रि-कार्यालय) रक्खा गया, जिसका सदर मुकाम, जैसा तुम जानती हो, जेनेवा में है। कामो के दूसरे भी कई विभाग थे। एक अन्तर्राष्ट्रीय मजूर कार्यालय, जो मजूरो के सवालो पर ग़ौर करता था, दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय न्याय की स्थायी अदालत (Permanent Court of International Justice), जिसका स्थान हेग में रक्खा गया; तीसरी बौद्धिक सहयोग के लिए एक कमेटी। राष्ट्रसघ के साथ ही सब काम शुरू नहीं हुआ; कई काम बाद में बढाये गये।

राष्ट्रसघ का मूल विधान वर्साई-सधि में शामिल था। इसे ही 'राष्ट्रसघ का शर्तनामा' (Covenant of the League of Nations) कहते है। इस शर्तनामे में यह तजवीज भी थी कि राष्ट्र की रक्षा के लिए जितनी सेना की जरूरत हो उतनी ही रक्खी जाय और सब राष्ट्र अपनी सेना को घटाकर कम-से-कम करदें। जर्मनी का नि शस्त्रीकरण (जो जबरदस्ती किया गया) इस दिशा में पहला कदम समझा गया और यह तय हुआ कि दूसरे देश उसका अनुकरण करेंगे। यह भी कहा गया कि किसी

का काम यह देखना रहा है कि ट्रस्ट या थाती की शर्त्तें पूरी की जा रही हैं या नहीं। सच पूछो तो इनसे मामला और बिगड़ गया है। ये शक्तियाँ जो चाहती करती रही हैं, पर ऊपर से उन्होंने पाखंड से भरा हुआ चोगा पहन रक्खा है और असावधान लोगों के अन्त.करण को शिथिल और अचेत कर दिया है। जब किसी छोटे राष्ट्र ने संघ का किसी तरह अपमान किया, तब संघ ने कड़ाई से काम लिया और अपनी बेरुखी से उसे सजा देने की कोशिश की है; पर जब किसी बडी ताकत ने उसका अपमान किया, तब संघ वहाँसे नज़र हटाकर दूसरी तरफ देखने लगा है, या कम-से-कम उसने अपराध की गुरुता घटाने की कोशिश की है।

इस तरह महाशक्तियो ने संघ पर अपना नियंत्रण रक्खा है, जब स्वार्थ साधने की जरूरत हुई तब उसका इस्तेमाल किया है और जब उपेक्षा करने में ही ज्यादा सहूलियत या फ़ायदा मालूम पडा तब उसकी उपेक्षा की है। शायद दोष संघ का नहीं था, दोष उस प्रणाली का था जो अपनी प्रकृति के कारण संघ को बरदाश्त करनी पडी। साम्राज्यवाद का तत्त्व ही मुख्तलिफ ताकतो के बीच की जबरदस्त प्रतिद्वंद्विता और प्रतियोगिता यानी लाग-डाट है, क्योंकि इनमें से हरेक जहाँतक मुमकिन हो वहाँतक ज्यादा-से-ज्यादा दुनिया का शोषण करना चाहती है। अगर किसी समाज के सदस्य बराबर एक-दूसरे की जेब से धन लूटने की कोशिश करते रहें, या एक-दूसरे का गला काटने के लिए अपने चाकू तेज करते रहे, तो उनके बीच कुछ ज्यादा सहयोग की उम्मीद नहीं की जा सकती और न समाज की ज्यादा तेज तरक्की की ही आशा की जा सकती है। इसलिए यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि जन्मदाताओ और अभिभावको के जबरदस्त गिरोह के होते हुए भी संघ कमजोर और निर्जीव होगया।

वर्साई में सुलह की बहसो के सिलसिले में जापानी सरकार की तरफ़ से यह प्रस्ताव रक्खा गया था कि सुलहनामे में जातीय समानता (Racial Equality) को स्वीकार करने की एक धारा रक्खी जाय पर वह मंजूर नहीं किया गया। मगर किसी तरह चीन में कियानचान देकर जापान के आँसू पोछ दिये गये। बृहत्त्रय (The 'Big Three') ने चीन जैसे कमजोर दोस्त के खर्च पर उदारता दिखाई। इसलिए चीन ने सुलहनामे पर दस्तखत नहीं किये।

ऐसी वह 'वर्साई की संधि' थी, जिसने 'युद्ध को खत्म करने के लिए लडे गये युद्ध' का खात्मा कर दिया। पिछले चौदह वर्षों का इतिहास इस सन्धि पर एक काली टीका है। प्रसिद्ध अंग्रेज राजनीतिज्ञ श्री फिलिप स्नाउडन (अब वाइकौंण्ट स्नाउडन) ने, जो कुछ ही दिन पहले तक इग्लैण्ड के अर्थसचिव थे, इस सन्धि पर निम्नलिखित टीका की थी :—

(१ जनवरी) मे शुरू हुई थी और अवतक इसे सवातेरह वर्ष वीत चुके है (मै यह अप्रैल १९३३ में लिख रहा हूं) । इसमें शक नही कि एक अन्तर्राष्ट्रीय सस्था के इतिहास में यह कोई लम्बी अवधि नही है, फिर भी सघ को कई तरह से अविश्वसनीय सावित करने के लिए इतना वक्त काफी है । यह ठीक है कि इसने आजकल की जिन्दगी की मुख्तलिफ गलियो में अच्छा काम किया है और यही वात कि अन्तर्राष्ट्रीय मसालो पर विचार करने के लिए इसने राष्ट्रो—या यह कहना ज्यादा सही होगा कि उनकी सरकारो—को एक जगह जमा किया है, पुराने तरीको पर एक तरक्की ही है; पर शान्ति रखने या युद्ध की सभावना को कम करने के अपने असल उद्देश्य को पूरा करने में यह बिलकुल नाकामयाव हुआ है ।

राष्ट्रसघ के वारे में राष्ट्रपति विल्सन का असल मतलव चाहे जो रहा हो, पर इसमें शक नहीं कि महाशक्तियो के, ख़ासकर इग्लैण्ड और फ़ास के, हाथ में सघ एक अस्त्र या हथियार रहा है । इसका असल काम वर्तमान व्यवस्था को कायम रखना है । यह राष्ट्रो के वीच न्याय और प्रतिष्ठा यानी इन्साफ और ईमान की वात करता है, पर यह जांच नही कर करता कि क्या वर्तमान सम्वन्ध इन्साफ और ईमानदारी पर कायम है ? यह राष्ट्रो के 'घर या अन्दरूनी मामलो' (Domestic Affairs) में दस्तन्दाजी न करने का ऐलान करता है । किसी साम्राज्यवादी ताकत के मातहत देश इसके लिए 'अन्दरूनी या घरेलू मामले' हैं । इसलिए जहांतक सघ का ताल्लुक है तहांतक यह कहा जा सकता है कि वह इन ताकतो द्वारा इनके साम्राज्यो को सदा मातहत या गुलाम वनाये रखने का समर्थन करता है । इसके सिवा जर्मनी और तुर्की से लिये हुए नये प्रदेश भी मित्र-राष्ट्रो को इसने 'मैण्डेट' यानी 'शासनादेश' के नाम पर सौप दिये हैं । यह 'मैण्डेट' या 'शासनादेश' शब्द राष्ट्रसघ की मनोवृत्ति को ठीक-ठीक जाहिर करता है, क्योंकि यह एक नये और खुशनुमा नाम के नीचे पुराने साम्राज्यवादी शोषण के ही सिलसिले को सूचित करता है । मजा तो यह है कि ऐसा समझ लिया गया है कि ये 'मैण्डेट' या 'शासनादेश' इन प्रदेशो की जनता की इच्छा के अनुसार ही दिये गये हैं । इन दुखिया कौमो में से कई ने तो इन शासनादेशो के खिलाफ वगावत भी की है और काफी अर्से तक खूनी लडाइयां भी लडी है । उन्होंने तवतक इनके खिलाफ आवाज वुलन्द की है जवतक कि वे वम-वर्षा और तोपो की मार से झुकने को मजबूर नही कर दी गई है । सम्वन्धित जनता की राय जानने का यह तरीका रहा है ।

खूबसूरत लफ्ज और जुमले इस्तेमाल किये गये हैं । साम्राज्यवादी ताकते 'मैण्डेटेड' या 'शासनादेशप्राप्त' इन प्रदेशो के वाशिन्दो की 'ट्रस्टी' रही है और सघ

तायत में अपनेको खो दे सकते है और जंगलो को ठीक तौर पर देखने से वंचित हो सकते है ।

फिर यह जानने की मुश्किल भी आती है कि हमें घटनाओ के महत्त्व को कैसे नापना चाहिए। हमें इसके लिए किस गज का इस्तेमाल करना चाहिए ? यह जाहिर है कि वह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करेगा कि हम चीजो और घटनाओ पर किस तरह निगाह डालते है। एक दृष्टिकोण से कोई घटना हमें महत्त्वपूर्ण मालूम पड़ सकती है और दूसरी दृष्टि से वही घटना बिलकुल महत्वशून्य और नाचीज मालूम होगी। मुझे भय है कि कुछ सीमा तक मैने तुमको लिखे हुए अपने खतो में इस सवाल को दरगुजर किया है; मैने इसका स्पष्ट और उचित जवाब नही दिया है। मेरे सामान्य दृष्टिकोण ने उन सब बातो को रंगीन बना दिया है जिनकी बाबत मैंने लिखा है। इन्ही युगो और घटनाओ के बारे में दूसरा आदमी शायद बिलकुल जुदी बाते लिखता।

इस वक्त मै इस सवाल की गहराई में नही जाना चाहता कि इतिहास के बारे में हमारा दृष्टिकोण क्या होना चाहिए। खुद मेरा दृष्टिकोण हाल के इन वर्षो में बहुत ज्यादा बदल गया है। और जैसे इस और दूसरी चीजो के बारे मैने अपने ख़यालात बदले है वैसे ही दूसरे बहुत-से लोगो ने बदले है। क्योकि महायुद्ध नें हर चीज और हर आदमी को बुरी तरह झकझोर दिया है। इसने पुरानी दुनिया को पूरी तरह से उलट दिया और तबसे हमारी यह गरीब पुरानी दुनिया, बग़ैर कुछ ज्यादा कामयाबी के, फिर से उठने की कोशिश कर रही है। इसने विचारो की सारी प्रणाली को, जिसपर हम बढ़े थे, हिला दिया है और आधुनिक समाज और सभ्यता के आधार के बारे में ही हममें शकायें पैदा करदी है। हमने नौजवानो का भयंकर सहार देखा; हमनें झूठ, हिसा, पशुता या हैवानियत और विनाश देखा और हैरत में आगये कि यह सभ्यता का ख़ात्मा तो नही है। रूस में सोवियट उठ खड़ा हुआ; यह एक नई चीज, एक नई समाज-व्यवस्था और प्राचीन के प्रति एक चुनौती थी। दूसरे भी बहुत-से ख़यालात हवा में फैल रहे थे। यह विशृंखल होने या बिखरने का जमाना था; यह शका और प्रश्नो यानी शुबहे और सवालो का जमाना था, जो तेज तब्दीलियो के युग में सदा आता है।

महायुद्ध के बाद के दिनों पर इतिहास की तरह गौर करने में ये सब बाते दिक्कत पेश करती है। लेकिन जहाँ हम मुख्तलिफ तरह के विश्वासो और विचारों पर बहस कर सकते, उनकी सचाई पर सवाल उठा सकते और उनमें से किसीको महज इसलिए मानने से इनकार कर सकते है कि वे पुराने है, वहाँ हम विचारो से खिलवाड़ करने और हमें क्या करना चाहिए, इसके बारे में खूब अच्छी तरह सोचने से छुटकारा पाने

"The Treaty should satisfy brigands, imperialists and militarists. It is the death blow to the hopes of those who expected the end of the war to bring peace It is not a peace treaty, but a declaration of another war It is the betrayal of democracy and the fallen in the war The treaty exposes the true aims of the Allies"

अर्थात्, "यह सुलहनामा लुटेरो, साम्राज्यवादियो और सैन्यवादियो को सतुष्ट कर सकता है। यह उन लोगो की उम्मीदो पर बिजली का गिरना है जो शान्ति के लिए युद्ध का अन्त करने की आशा करते थे। यह शान्ति की सधि नही है बल्कि दूसरे युद्ध की घोषणा है। यह प्रजातत्रवाद और युद्ध मे शहीद हुए लोगो के प्रति विश्वासघात है। सन्धि ने मित्र-राष्ट्रो के असली मतलब को साफ-साफ जाहिर कर दिया है।"

प्रकट है कि अपनी घृणा और अभिमान यानी नफरत और गुरूर में मित्र-राष्ट्र अपनी सीमा से कही आगे बढ़ गये थे। अभीसे वे इसके लिए काफी पछता रहे हैं और सन्धि पर फिर से गौर करने और उसे बदलने की बातचीत भी होने लगी है। पर, शायद, अब बहुत देर हो गई है।

यह खत कितना लम्बा होगया !

: १५६ :

महायुद्ध के बाद की दुनिया

२६ अप्रैल, १९३३

अब हम अपने सफर की आखिरी मजिल में है; हम आज यानी वर्तमान की दहलीज पर है। हमें महायुद्ध के बाद की दुनिया पर गौर करना है। अब हम अपने ही जमाने में है—या निश्चय ही तुम्हारे जमाना में ! यह आखिरी मजिल है और, जहांतक वक्त का सवाल है, बहुत छोटी मजिल है, पर यह एक मुश्किल सफर है। महायुद्ध खत्म होने के बाद से इसे सिर्फ साढे चौदह साल हुए है; और हम इतिहास के जिन लम्बे युगो पर विचार कर चुके है उनके मुकाबिले में यह समय का कितना छोटा टुकडा है ? लेकिन हम बिलकुल इसके साथ गुंथे हुए है और इतने नजदीक से इसके बारे में ठीक राय कायम करना बहुत मुश्किल है। हम इसे ठीक तौरपर देखने और अकित करने की प्रवृत्ति नहीं पैदा कर सकते और न वह स्थिर निष्पक्षता या निस्सगता ही प्राप्त कर सकते है जो इतिहास चाहता है। बहुतेरी घटनाओ के बारे में हम बहुत ज्यादा उत्तेजित है, इसलिए छोटी बाते हमें बडी मालूम पड सकती है और बडी बातो में से कई का हम पूरा महत्त्व समझने से वचित रह जा सकते है। हम वृक्षो की बहु-

है। क्षेत्रफल तो बहुत बड़ा है, पर सिर्फ क्षेत्रफल के बडे होने का कोई ख़ास मतलब नहीं होता और फिर रूस और उससे भी कही ज्यादा मध्यएशिया और साइबेरिया बहुत पिछडे हुए देश थे। सोवियट ने दूसरा चमत्कार जो किया वह यह था कि उसने इन प्रदेशो के बडे-बडे हिस्सो को अपनी नई योजनाओ से कुछ-का-कुछ बना दिया। लिखित इतिहास में किसी जाति की इतनी तेज तरक्की का दूसरा कोई उदाहरण नही मिलता। मध्य-एशिया के सबसे ज्यादा पिछडे हुए देश भी इतनी तेजी से आगे बढे है कि हम हिन्दुस्तान के बाशिन्दो को ईर्ष्या हो सकती है। सबसे ज्यादा उल्लेखनीय तरक्की शिक्षा और उद्योग-धंधो में हुई है। पॉच वर्ष वाली योजना के जरिये, जिसकी अवधि हाल ही में पूरी हुई है, रूस का बडी तेजी से उद्योगी-करण हुआ है और बेशुमार कारख़ाने खडे होगये है। इन सब बातो का जनता पर बड़ा जबरदस्त बोझ पडा है और लोगो को अपने आराम की चीजो—यहातक कि जिन्दगी की जरूरियात का भी त्याग करना पड़ा है, ताकि उनकी आमदनी का ज्यादा हिस्सा प्रथम समाजवादी देश के निर्माण में लगाया जा सके। ज्यादातर बोझ किसानो पर पड़ा है और जब मै यह ख़त लिख रहा हूँ तब एक मुसीबत का साल उनके सिर पर दौड़ा आ रहा है।

इस आगे बढ़ते हुए सोवियट प्रदेश और अपनी बराबर बढ़ती हुई मुसीबतो वाले पश्चिमी योरप के बीच का अन्तर बहुत साफ़ और उल्लेखनीय है। अपनी सारी दिक्कतो के साथ अब भी, पश्चिमी योरप रूस से ज्यादा मालदार है। अपने वैभव के लम्बे जमाने में इसने अपने अन्दर बहुत ज्यादा चर्बी बढ़ा ली थी, जिसपर यह कुछ वक्त तक गुजर कर सकता है। लेकिन हर मुल्क पर कर्जे का जो बोझ है, वर्साई संधि के मुताबिक जर्मनी से ली जाने वाली हरजाने की रकम, और छोटी-बडी ताकतो में सदा चलने वाले झगडे और लाग-डांट नें ग़रीब योरप की बडी बुरी हालत कर दी है। इन कठिनाइयों और मुसीबतो से निकलने का रास्त ढूंढने के लिए एक के बाद एक कान्फ्रेंस होती रही है पर कोई रास्ता नहीं निकला है और स्थिति दिन-दिन ख़राब होती जाती है। आज सोवियट रूस की पश्चिमी योरप से तुलना या मुकाबिला करना बहुत बड़ा बोझ सिर पर रक्खे पर जिन्दगी और स्फुर्ति से भरे हुये एक नौजवान का उस बूढे आदमी से मुकाबला करना है जो उम्र रहते लाजिमी तौर पर ग़रूर के साथ आगे तो चल रहा है पर जिसमें कोई आशा या स्फूर्ति बाकी नही रही है।

ऐसा मालूम पड़ता था कि महायुद्ध के बाद सयुक्तराष्ट्र अमेरिका इस छूत से बच गया है। दस वर्ष तक वह बडे जोरो से वैभव में बढ़ता और तरक्की करता गया। साहूकारी के धन्धे में इंगलैण्ड के दबदबे को उसने युद्ध के जमाने में ख़त्म कर दिया था। अब अमेरिका दुनिया का ऋणदाता या साहूकार था और सारी दुनिया उसकी ऋणी

का इसे कोई बहाना नहीं बना सकते। दुनिया के इतिहास में परिवर्तन के ऐसे युग ग्रामतौर पर शरीर और मन से काम लेने का आवाहन करते है। ये ऐसे जमाने होते है जब जीवन के शुष्क कार्यक्रम में ताजगी आजाती है और साहसिकता हमें पुकारती है और हम सब नई व्यवस्था के निर्माण में अपना हिस्सा ले सकते है। ऐसे वक्तो में नौजवानो ने हमेशा प्रधान अभिनय किया है, क्योकि वे बदलते हुए खयालात और हालात के मुताबिक अपनेको उन लोगो की बनिस्बत कहीं ज्यादा आसानी से मोड सकते है जो बूढ़े या पुराने है और अपने प्राचीन विश्वासो में जम गये और कठोर होगये है।

शायद यह ज्यादा अच्छा होगा कि हम महायुद्ध के बाद के इस जमाने की जरा विस्तार से परीक्षा करे। लेकिन मैं चाहता हूँ कि इस खत में इस जमाने का सरसरी तौर पर सिंहावलोकन करूं। नेपोलियन के पतन के बाद के उन्नीसवीं सदी के हमारे सिंहावलोकन की तुम्हे याद होगी। लाज़िमी तौर पर १८१५ ई० की 'वियेना की शान्ति' (The Peace of Vienna) और उसके परिणामो पर ध्यान जाता है और १९१९ ई० की वर्साई की शान्ति और उसके परिणामो के साथ उसकी तुलना करने का मन होता है। वियेना की शान्ति सुखदाई न थी; उसने योरप में आगे होनेवाली लड़ाइयो का बीज बोया। अनुभव से कुछ न सीखने के कारण हमारे राजनीतिज्ञो ने वर्साई की शान्ति को उससे भी बुरा बना दिया, जैसा कि हम पिछले खत में देख चुके है। महायुद्ध के बाद के वर्षो पर इस कही जाने वाली शान्ति की काली छाया बडे घने रूप में पड़ती रही है।

तब इन पिछले चौदह वर्षो की बडी-बडी घटनायें कौन-सी है ? मेरी समझ से अपने महत्व में सबसे पहली और ध्यान खींचनेवाली घटना सोवियट यूनियन या यू० एस० एस० आर० यानी 'यूनियन आफ़ सोशलिस्ट एण्ड सोवियट रिपब्लिक्स' (समाजवादी एव सोवियट प्रजातत्र-सघ) का उदय और सगठन है। मैं उन दिक्कतो में से कुछ का जिक्र तुमसे कर चुका हूँ जो सोवियट रूस को दुनिया में अपनी हस्ती कायम रखने की लड़ाई में बर्दाश्त करनी पडी है। इन दिक्कतो के बीच भी उसकी विजय इस सदी का एक आश्चर्य है। एशिया में जहाँ-जहाँ पहले का जारशाही साम्राज्य फैला हुआ था वहाँ-वहाँ यानी प्रशान्त महासागर तक फैले हुए साइबेरिया और भारतीय सीमा को छूनेवाले मध्यएशिया में सोवियट शासन-प्रणाली कायम होगई। अलग-अलग सोवियट प्रजातत्र कायम हुए, पर सब मिलकर एक सघ में शामिल होगये और यही अब यू० एस० एस० आर० है। यह यूनियन या सघ योरप और एशिया के लम्बे-चौडे हिस्सो में फैला हुआ है, जो अपने क्षेत्रफल में सारी दुनिया के क्षेत्रफल का छठा हिस्सा

की बातें करता और उसके लिए अमली तौर पर कुछ करता-धरता न था, इधर युद्ध का भूत दिन-दिन नज़दीक आता हुआ दिखाई देता था। बस, फिर अनिवार्य दीख पड़नेवाले युद्ध के लिए शक्तियो में गुटबन्दी शुरू होगई।

आज भी, जब मै यह ख़त लिख रहा हूँ, हम उस महान् मन्दी के बीच में है जिसने विश्व के पूंजीवाद को गिरा दिया है। मामूली हालत में लौटने के लिए ज़ोरो के साथ उपाय ढूंढे जा रहे हैं। मै नहीं जानता कि कोई उपाय निकलेगा। हो सकता है कि पूंजीवाद अपनी इस आकस्मिक बीमारी से उबरने की कोई दवा ढूंढले, पर इसमें बड़ा शुबहा है कि वह फिर पूरी तरह स्वस्थ या तन्दुरुस्त हो सकेगा। साम्यवादी विश्लेषण अपनेको ठीक साबित करता मालूम पड़ रहा है और पूंजीवाद अपने ही अन्दरूनी विरोधो से खत्म हो रहा है और अगर इस बार की मुसीबत उसे न मार सकी तो बाद की दूसरी मुसीबत मार देगी। ताज्जुब तो यह है कि यद्यपि सब पूंजीवादी देश सोवियट यूनियन से नफरत करते हैं, पर उसे गिरा या दबा देने के लिए आपस में एका तक नही कर सकते।

इस तरह हम उस महान् युग के ख़ात्मे के नज़दीक पहुँच गये जिसमें पूंजीवादी सभ्यता का पश्चिमी योरप और अमेरिका पर बोलबाला रहा और उसने बाकी दुनिया पर भी अपना दबदबा कायम रक्खा। महायुद्ध के बाद के पहले दस वर्ष तक यह मालूम पड़ता था कि शायद पूंजीवाद फिर उठ खड़ा हो और एक दूसरे लम्बे युग के लिए ताकतवर होजाय। पर पिछले तीन वर्षों ने इसे बहुत सन्देहजनक बना दिया है। न सिर्फ पूंजीवादी राष्ट्रो की आपसी प्रतिद्वंद्विता या लाग-डॉट ख़तरे की सीमा तक बढ़ गई है बल्कि हर राज्य में श्रेणी-संघर्ष यानी मज़दूरो और पूंजीपति स्वामी-वर्ग के, जिसका सरकारो पर नियंत्रण है, बीच कशमकश गहरी होती जाती है। इसलिए बडी ताकतों के बीच राष्ट्रीय युद्ध और हर देश में गृह-युद्ध होने के खतरे बढ़ते जाते है। ज्यो-ज्यो हालत बुरी होती जाती है, स्वामी-वर्ग उठते हुए मजूरो को कुचलने का आख़िरी प्रयत्न कर रहा है। इसने फैसिज्म की शक्ल इख्तियार करली है। जहाँ श्रेणी-संघर्ष बहुत ज़ोरदार और खतरनाक होगया है और पूंजीपति या स्वामी-वर्ग अपनी विशेष सुविधा की स्थिति से अलग कर दिये जाने के खतरे में है वहाँ फैसिज्म पैदा होगया है।

महायुद्ध के बाद शीघ्र ही इटली में फैसिज्म शुरू होगया। जब मुसोलिनी के नेतृत्व में फैसिस्टो ने कब्ज़ा हासिल किया, तब मज़दूर अशान्त और उग्र हो रहे थे। तबसे इटली पर बराबर फैसिस्टो का कब्ज़ा है। फैसिज्म का मतलब नंगी स्वेच्छा-चारिता है। यह प्रजातंत्र-प्रणाली की खुलेआम निन्दा करता है। थोड़ा-बहुत फैसिस्ट

थी। आर्थिक दृष्टि से देखें तो एक तरह से वह सारी दुनिया पर हावी था और वह दुनिया से मिलनेवाले खिराज पर आराम के साथ जिन्दगी बसर कर सकता था, जैसे कुछ हद तक पहले इंग्लैण्ड कर चुका था। पर इसमें दो दिक्कतें आगईं। कर्जदार देश बड़ी बुरी हालत में थे और अपना कर्ज नकद अदा नहीं कर सकते थे। सिर्फ एक ही ढंग से वे कर्ज अदा कर सकते थे कि कारखानों में चीजें बनायें और उन्हें अमेरिका भेजें। लेकिन अमेरिका इस खयाल को पसन्द नहीं करता था कि उसके यहाँ विदेशी माल आवे और इसी खयाल से उसने विदेशी माल को देश के अन्दर आने से रोकने के लिए गहरी चुंगी लगा दी। तब बेचारे कर्जदार देश कर्ज कैसे अदा करते ? एक शानदार रास्ता निकाला गया। अमेरिका का जो कर्ज है उसका सूद उसे मिलता रहे इसके लिए (वह कर्जदार देशों को) और कर्ज देगा। यह कर्ज वसूल करने का एक गैर-मामूली तरीका था क्योंकि इसका मतलब तो ऋणदाता या साहूकार का और कर्ज देते जाना और यों कर्ज को बढ़ाना था। यह काफी तौर पर जाहिर होगया कि ज्यादातर कर्जदार देश अपना कर्ज कभी चुका न सकेंगे, तब एकाएक अमेरिका ने कर्ज देना बन्द कर दिया और सारी प्रणाली भरभराकर एकदम से बैठ गई। और एक अजीब बात हुई। अमेरिका, लबालब सोने से भरा हुआ मालदार अमेरिका बेशुमार बेकार श्रमिकों या मजूरों का देश होगया, उद्योग-धंधों के पहिये एकाएक चलने बंद होगये और चारों तरफ तबाही फैल गई।

जब मालदार अमेरिका की इतनी बुरी हालत थी तो योरप की हालत का अन्दाज आसानी से किया जा सकता है। हरेक देश नें चुंगी की दीवारें या रोक खड़ी करके विदेशी माल को देश के अन्दर आने से रोकने की कोशिश की और 'सिर्फ देशी माल खरीदो' इसका प्रचार किया। हर देश दूसरे मुल्कों को अपना माल तो बेचना चाहता था पर उनसे खरीदना न चाहता था, या कम-से-कम जितना मुमकिन हो उतना ही खरीदना चाहता था। ऐसी बातें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का खात्मा किये बिना ज्यादा दिन तक नहीं चल सकतीं, क्योंकि व्यापार-व्यवसाय तो विनिमय या बदले पर ही चलते हैं। इस नीति को आर्थिक राष्ट्रवाद कहते हैं। यह और उग्र राष्ट्रीयता की दूसरी कितनी ही बातें सभी देशों में फैल गईं। ज्यों-ज्यों व्यापार-धन्धे कमजोर पड़ते गये, हर देश की दिक्कतें बढ़ती गईं और बड़ी साम्राज्यवादी ताक़तों नें बाहर के अपने साम्राज्यों का ज्यादा-से-ज्यादा शोषण करके और अपने देश में मजूरों की मजूरी में कमी करके किसी तरह काम बनानें की कोशिश की। दुनिया के मुख्तलिफ हिस्सों का शोषण करने की इच्छा और प्रयत्न में प्रतिद्वंद्वी साम्राज्यवादों की एक-दूसरे से ज्यादा टक्कर होने लगी। उधर राष्ट्रसंघ बगुलाभगत की तरह शान्ति

खिलाफ थीं। उसने अपने देश की न सिर्फ आजादी हासिल की, बल्कि उसे पूरे तौर पर आधुनिक यानी नये ढंग का बना दिया--यहाँतक कि कोई पहचान नही सकता कि यह वही पुराना तुर्की है। उसने सुलतानियत, खिलाफत, स्त्रियो के परदे और बहुतेरे पुराने रिवाजो का खात्मा कर दिया है। सोवियट का नैतिक और व्यावहारिक समर्थन यानी अमली ताईद उसके लिए बडी मददगार साबित हुई। ब्रिटिश प्रभाव से छुटकारा पाने की अपनी कोशिशो में फारस को भी सोवियट से मदद मिली। वहाँ भी रिजाखाँ नामक एक मजबूत और ताकतवर आदमी उठ खड़ा हुआ, और वही अब बादशाह है। इसी अवधि या जमाने में अफगानिस्तान भी पूर्ण स्वतन्त्रता या मुकम्मल आजादी हासिल करने में कामयाब हुआ।

अरबस्तान को छोड़कर और सब अरब देश अब भी विदेशी हुकूमत के नीचे है। अरबो की एक कर दिये जाने की माँग अभीतक पूरी नही की गई है। अरबस्तान का ज्यादातर हिस्सा सुलतान इब्नसऊद के शासन-तले स्वतन्त्र होगया है। कागज पर तो इराक भी स्वतन्त्र है, पर असल में वह ब्रिटेन के प्रभाव और नियंत्रण में है। फिलस्तीन और ट्रांसजोर्डन के छोटे राज्य ब्रिटिश शासनादेश में और सीरिया फ़्रांसीसी शासनादेश में है, यानी इन देशो में राष्ट्रसंघ के आदेश से ब्रिटेन और फ़्रांस का शासन है। सीरिया में फ़्रांसीसियो के खिलाफ़ एक जबरदस्त और बहादुराना बगावत हुई, और वह कुछ हदतक कामयाब भी हुई। मिस्र में भी ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ बलवे हुए और लम्बे अर्से तक आजादी की लड़ाई चलती रही। यह लड़ाई आज भी चल रही है, गोकि मिस्र स्वतन्त्र कहलाता है और ब्रिटेन के हाथ की कठपुतली एक सुलतान वहाँ बादशाहत करता है। उत्तर-अफरीका के सुदूर पश्चिम मोरक्को में भी अब्दुलकरीम के नेतृत्व में आजादी के लिए बडी बहादुराना लड़ाई हुई। उसने स्पेनवालो को निकाल बाहर करने में कामयाबी हासिल की, पर बाद में फ़्रांसीसियो की पूरी ताकत ने उसे कुचल दिया।

एशिया और अफरीका में होनेवाली आजादी की ये लड़ाइयाँ यह बताती है कि पूर्व के सुदूर देशो में कैसे एक ही वक़्त में नई भावना लोगो--स्त्री-पुरुषों--के मन पर असर डाल रही थी। इनके बीच दो देश ऊँचे खडे है, क्योंकि उनका सारी दुनिया के लिए महत्त्व है। ये चीन और हिन्दुस्तान है। इन दोनो में से किसी एक में भी एकाएक कोई गहरा परिवर्तन होने से वह दुनिया की सारी बडी ताकतो की प्रणाली पर असर डालता है; दुनिया की राजनीति में उसका जबरदस्त नतीजा हुए बिना नही रह सकता। इस तरह हम देख सकते है कि चीन और हिदुस्तान की आजादी की लड़ाई सिर्फ इन्ही देशो के बाशिन्दो की राष्ट्रीय या घरू लड़ाई नही है। चीन की

तरीका योरप के बहुत-से देशो में फैल गया है और वहाँ डिक्टेटरशिप (किसी एक आदमी या वर्ग का सर्वेसर्वा हो जाना) आम बात हो गई है। सबसे बाद में फैसिस्ट बननेवाला देश जर्मनी है, जहाँ १९१८ में घोषित कम-उम्र प्रजातंत्र का खात्मा कर दिया गया है और मजदूरो के आन्दोलन को नष्ट कर देने के लिए बिलकुल जगली तरीको का इस्तेमाल किया गया है।

इस तरह योरप में फैसिज्म और साम्यवाद का सामना है और इसके साथ ही पूंजीवादी ताकते एक-दूसरे को घूरती है और एक-दूसरे से लडाई की तैयारी कर रही है। फिर पूंजीवाद ऐश्वर्य या बहुतायत और गरीबी का दृश्य साथ-साथ दिखाता है। एक तरफ खाना सड़ रहा है, यहाँतक कि फेंका और नष्ट किया जा रहा है, और दूसरी तरफ लोग भूखो मर रहे है।

योरप में एक पुराना देश--स्पेन--पिछले कुछ वर्षो के अन्दर प्रजातन्त्र की शक्ल में बदल गया है और उसने अपने हैप्सबर्ग-बोर्बन खानदान के बादशाह को निकाल बाहर किया है। इस तरह इस वक्त योरप और दुनिया में एक बादशाह कम होगया है।

मैंने पिछले चौदह वर्षो की तीन प्रधान घटनाओ का बयान तुमसे किया है:-- १ सोवियट यूनियन, २. अमेरिका का दुनिया पर आर्थिक नियत्रण और उसकी वर्तमान विपत्ति, ओर ३. यूरोपियन उलझन। इस जमाने की चौथी मुख्य घटना पूर्वी देशो की पूर्ण जागृति और अपनी आजादी हासिल करने की उनकी जबरदस्त कोशिश है। इस युग में दुनिया की राजनीति में पूर्व ने निश्चित रूप से प्रवेश किया है। इन पूर्वी राष्ट्रो या कौमो पर दो हिस्सो में गौर किया जा सकता है। एक हिस्से में वे देश है जो स्वतन्त्र समझे जाते है, और दूसरे में किसी साम्राज्यवादी शक्ति के मातहत औपनिवेशिक या दूसरी तरह के देश शामिल है। एशिया और उत्तरी अफरीका के इन सब देशो में राष्ट्रीयता ने बडा जोर पकड़ा है और बडी ताकतवर होगई है और आजादी के खयालात उग्र यानी जबरदस्त होगये है। इन सबमें जबरदस्त आन्दोलन हुए है और कई देशो में तो पश्चिमी साम्राज्यवाद के खिलाफ बगावते भी हुई है। इन देशो में से बहुतो को सोवियट यूनियन से सीधी मदद मिली है और इससे भी ज्यादा महत्व की बात यह है कि उनको अपनी लड़ाई के बडे खतरनाक मौको पर सोवियट यूनियन से नैतिक समर्थन और सहायता 'मिली है।

एक गिरे हुए और कमजोर राष्ट्र का बड़ा ही उल्लेखनीय पुनर्जन्म हुआ। यह राष्ट्र तुर्की था और इसका ज्यादातर श्रेय मुस्तफा कमालपाशा को है। यह वह बहादुर नेता था जिसने उस वक्त भी झुकने से इनकार किया, जब सब बाते उसके

बेरहमी के साथ कुचल दी गई। जावा और डचइंडीज में भी बलवा हुआ। अख़बारो से मालूम होता है कि स्याम में भी कुछ उथल-पुथल और तब्दीली हुई है और राजा के अधिकार सीमित कर दिये गये है। फ्रासीसी इण्डोचीन में भी राष्ट्रीयता जग रही है।

इस तरह हम देखते है कि सारे पूर्व में राष्ट्रीयता अपनी अभिव्यक्ति के लिए लड़ रही है और कई देशो में इसके साथ साम्यवाद का भी कुछ रग मिल गया है। इन दोनो यानी राष्ट्रीयता और साम्यवाद के बीच सिवा इसके कोई सामान्य या यकसाँ बात नही है कि दोनो साम्राज्यवाद से नफरत करते है। यूनियन के बाहर और भीतर के सब पूर्वी देशो के प्रति सोवियट रूस की बुद्धिमत्तापूर्ण और उदार नीति के कारण अ-साम्यवादी देशो में से भी कई उसके दोस्त बन गये है ।

जैसा कि हम देख चुके है, आज़ादी और स्वतन्त्रता की तरफ हिन्दुस्तान के बढ़ने का मतलब ही ब्रिटिश साम्राज्य का ख़त्म होजाना है। इसमें शक नही कि अगर हिन्दुस्तान की इस आज़ादी की लड़ाई को छोड़ दें तो भी निश्चितरूप से ब्रिटिश साम्राज्य नष्ट होता चला जा रहा है। 'एलिस इन वण्डरलैण्ड' नाम की किताब की चेशायर बिल्ली की तरह यह मिटता जा रहा है; पर मुस्कराहट बची हुई है और यह बहादुराना मुस्कराहट है। एक बडे राष्ट्र को गिरते हुए देखना बडा दुख·दायी या करुणापूर्ण होता है। अपने ज़माने में इग्लैण्ड महान् रहा है और उसकी पुरानी ताकत के सब ज़रिये एक-एक करके उससे कटते जा रहे है। इस वक्त वह अपनी जमा की हुई दौलत पर जी रहा है और यह दौलत इतनी काफी है कि कुछ दिनो तक यह खेल चल सकता है। अग्रेज़ो के सामने जो बहुतेरी दिक्कते है उनका सामना करने की हिम्मत का उनमें अभाव नही है। साम्राज्यवादी इग्लैण्ड ऊपर से अपनी वही पुरानी टीम-टाम बनाये रखने को ज़बरदस्त कोशिश कर रहा है—उस बूढ़ी औरत की तरह जो कभी खूबसूरत थी पर अब उसे जवानी को पार किये बहुत दिन हो चुके है फिर भी वह पेण्ट और पाउडर की मदद से अपनेको खूबसूरत और नौजवान दिखाने की कोशिश करती है। पर इस शाही औरत के पतन के पीछे मजदूरो और उनका साथ देनेवाले बहुतेरे विद्वानों का एक दूसरा इंग्लैण्ड भी है और भविष्य इन्ही लोगों का है।

हाल के इन वर्षो की एक मुख्य विशेषता स्त्रियो का बहुतेरे कानूनी, सामाजिक और परम्परागत बन्धनो से, जिनमें कि वे जकडी हुई थीं, छुटकारा है। पश्चिम में महायुद्ध ने इस बात में बडी मदद की। पूर्व में भी तुर्की से हिन्दुस्तान और चीन तक स्त्रियाँ जाग उठी है और राष्ट्रीय और सामाजिक कामो में बहादुरी के साथ हिस्सा ले रही है।

सफलता का मतलब एक ताकतवर राष्ट्र का निकलकर मैदान में आना है, जो ताकतों के वर्तमान समतौल में बडा फर्क पैदा कर देगा और जिससे साम्राज्यवादी ताकतो के चीन के शोषण का अपनेआप खात्मा हो जायगा। इसी तरह हिन्दुस्तान की कामयाबी का मतलब एक जबरदस्त और महान् राष्ट्र का रगमच पर आना है और इससे तुरन्त ब्रिटिश साम्राज्य का खात्मा होजायगा।

पिछले दस वर्षों में चीन में बहुत-से उतार-चढ़ाव हुए है। काउ-मिन-तांग और चीनी साम्यवादियो में जो एका हुआ था वह टूट गया और तबसे चीन 'तूशन' और दूसरी तरह के लुटेरे सरदारो या सिपहसालारो का शिकार रहा है। विदेशी स्वार्थों और हितो ने बराबर उनकी मदद की है, क्योंकि वे चीन में गड़बडी कायम रखना चाहते है और इसीमें उनका फायदा है। पिछले दो वर्षों से तो जापान ने सचमुच चीन पर चढाई ही करदी और उसके कई सूबो पर कब्जा कर लिया है। यह अनियमित लड़ाई अभीतक चल रही है। इस बीच चीन के भीतर के कई प्रदेश साम्यवादी होगये है और उनमें एक तरह की सोवियट सरकार कायम हो गई है।

हिन्दुस्तान में पिछले चौदह वर्ष घटनाओ से भरे रहे हैं। इस जमाने में एक उग्र पर शान्तिपूर्ण राष्ट्रीयता उठी है। महायुद्ध के बाद जब बडे-बडे सुधारो की उम्मीदें लोगो के दिलो में उठ रही थी, तब हमने पजाब में फौजी कानून (मार्शललॉ) और जलियांवाला बाग का वह भयानक कत्लेआम देखा। इसकी खीझ और तुर्की और खिलाफत के बारे में मुसलमानो के विरोध से बापू (गाधीजी) के नेतृत्व में १९२० से १९२२ तक का असहयोग-आन्दोलन पैदा हुआ। १९२० के बाद से बापू भारतीय राष्ट्रीयता के एकमात्र असन्दिग्ध नेता रहे है, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। यह हिन्दुस्तान में गाधी-युग रहा है और उनके शान्तिपूर्ण विद्रोह के उपायो ने अपने नयेपन और सामर्थ्य (efficacy) से दुनिया का ध्यान आकर्षित किया है। बीच के विधायक कामो और तैयारी के कुछ वर्षों के बाद १९३० में फिर आजादी की लडाई शुरू हुई, जब काग्रेस ने साफ-साफ पूर्ण स्वतत्रता या मुकम्मल आजादी का ध्येय अपनाया। तबसे हम लोग, बीच की चन्दरोजा सुलह के अलावा, सत्याग्रह की लडाई, जेलो का भरना और बहुत-सी दूसरी चीजें, जिन्हे तुम जानती हो, देखते रहे हैं। इस बीच ब्रिटिश नीति यह रही है कि छोटे-छोटे सुधार देकर अगर मुमकिन हो तो कुछ लोगो को अपनी तरफ मिला लिया जाय और राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचल दिया जाय। वह नीति अब भी चल रही है, लेकिन फिर भी हमारी लड़ाई असन्दिग्ध रूप से जारी है।

दो वर्ष पहले बरमा में भूखे किसानो की एक बडी बग़ावत हुई और बडी

आयर्लैण्ड में असन्तोष बढ़ता गया और इसके साथ यह अनुभूति या एहसास भी पैदा हुआ कि इंग्लैण्ड की लड़ाई में आयर्लैण्ड वालो की कुरबानी न की जाय। जब इंग्लैण्ड की तरह आयर्लैण्ड में भी अनिवार्यरूप से फौज में शामिल होने का कानून (Conscription) बनाने का प्रस्ताव सामने आया (जिसके अनुसार सब स्वस्थ नौजवानो को फ़ौज में शामिल होना पड़ता) तो सारा देश आग-बबूला होगया और जबरदस्त विरोध किया गया। यहाँ-तक कि जरूरत पड़ने पर आयर्लैण्ड ने जोर-जबरदस्ती से भी उसे रोकने की तैयारी की।

१९१६ के ईस्टर-सप्ताह में डबलिन में एक बगावत होगई और आयरिश प्रजातंत्र का ऐलान कर दिया गया। चन्द दिनो की लड़ाई के बाद अंग्रेजो ने इसे कुचल दिया और इस चन्दरोजा बगावत में हिस्सा लेने के जुर्म में फौजी कानून के मुताबिक, बाद में, आयर्लैण्ड के कुछ सबसे बहादुर और अच्छे नौजवानो को गोली मार दी गई। यह बगावत, जो 'ईस्टर-विद्रोह' के नाम से मशहूर है, अंग्रेजो को चुनौती देने का कोई गभीर प्रयत्न कही कहा जा सकता। असल में यह दुनिया के सामने यह दिखा देने की एक बहादुराना कोशिश थी कि अब भी आयर्लैण्ड प्रजातन्त्र का सपना देखता है और अपनी इच्छा से ब्रिटेन की मातहती कबूल करने से इन्कार करता है। इस बगावत के पीछे जो बहादुर नौजवान थे उन्होने दुनिया के सामने यह बात जाहिर करने के लिए जान-बूझकर अपनेको कुरबान कर दिया। वे अच्छी तरह जानते थे कि इस बार की कोशिश में कामयाबी न होगी, पर उम्मीद करते थे कि उनकी कुरबानी बाद में रंग लायगी और आजादी को नजदीक लायगी।

इस बगावत के समय एक आयरिश जर्मनी से आयर्लैण्ड मे अस्त्रशस्त्र लाने की कोशिश करता हुआ पकड़ा गया। यह आदमी सर रोजर केसमेण्ट था, जो बहुत दिनो से ब्रिटेन के राजदूत-विभाग में था। लन्दन में केसमेण्ट पर मुकदमा चला और उसे फाँसी की सजा दी गई। अदालत में मुजरिम के कठघरे में खडे हुए उसने अपना जो बयान पढ़ा, वह बड़ा ही जोशीला और हृदय-स्पर्शी था और उसमें आयरिश आत्मा की उग्र देशभक्ति तड़प रही थी।

बगावत तो असफल हुई, पर उसकी नाकामयाबी में ही उसकी विजय थी। इसके बाद ब्रिटिश सरकार की तरफ़ से जो दमन शुरू हुआ उसने और खासकर नौजवान नेताओं के गिरोह को गोली मार दिये जाने के काम ने आयरिश लोगो पर बड़ा गहरा असर डाला। ऊपर से आयर्लैण्ड शान्त दीखता था; पर अन्दर-ही-अन्दर क्रोध की आग भड़क रही थी और बहुत जल्द वह 'सिनफीन' की शक्ल में सामने आई। सिनफीन-भावना बडी तेजी से फैली। शुरू में इसे बहुत कम कामयाबी हुई थी, पर अब यह जंगल की आग की तरह फैल गई।

ऐसा यह युग है जिसमें हम रह रहे है। हर रोज परिवर्तन, महत्वपूर्ण घटना, राष्ट्रो के झगडे, पौण्ड और डालर के द्वंद्वयुद्ध, सोवियट पर पूंजीपतियो का क्रोध और सोवियट का उनसे बदला, बढती हुई गरीबी और लाचारी और श्रेणी-सघर्ष यानी मालदारो और गरीब श्रमिको की कशमकश की खबर आती ही रहती है; और इन सबके ऊपर युद्ध की लगातार बढती हुई काली छाया है।

यह इतिहास का एक उथल-पुथल का जमाना है और ऐसे वक्त में जिन्दा होना और अपना हिस्सा अदा करना—फिर चाहे वह हिस्सा देहरादून-जेल का एकान्त ही क्यो न हो—बडी अच्छी और खुशकिस्मती की बात है।

: १५७ :

प्रजातंत्र के लिए आयर्लैण्ड की लड़ाई

२८ अप्रैल, १९३३

अब हम हाल के वर्षो की महत्त्वपूर्ण घटनाओ पर जरा तफसील के साथ गौर करेगें। मै आयर्लैण्ड से शुरू करता हूं। विश्व-इतिहास और विश्व-शक्तियो की दृष्टि से योरप के सबसे पश्चिम के इस छोटे-से देश का इस समय कोई ज्यादा महत्व नहीं है। पर यह बहादुर और दुर्दमनीय यानी किसी तरह न दबनेवाला देश है और ब्रिटिश साम्राज्य की सारी ताकत इसकी आत्मा को कुचलने या इसे झुकाकर मातहती कबूल कराने में कामयाब नही हुई है। इस वक्त यह भी ब्रिटिश साम्राज्य के विनाश में मदद देनेवाली एक चीज है।

आयर्लैण्ड के बारे में जो पिछला खत मैने तुम्हे लिखा था उसमें मैने होमरूल-बिल का जिक्र किया था। यह बिल ब्रिटिश पार्लमेण्ट से ठीक महायुद्ध शुरू होने के पहले पास हुआ था। अल्सटर के प्रोटेस्टेण्ट नेताओं और इग्लैण्ड के अनुदार दल ने इसका विरोध किया और इसके खिलाफ बाकायदा एक बगावत का सगठन किया गया। इसपर दक्षिणी आयर्लैण्ड के बाशिन्दो ने भी जरूरत आ पडने पर अल्सटर से लडने के लिए अपने 'राष्ट्रीय स्वयसेवक' दल बनाये। मालूम पडता था कि आयर्लैण्ड में गृह-युद्ध होने ही वाला है। इसी मौक़े पर महायुद्ध आगया और सबका ध्यान बेलजियम और उत्तर-फ्रास की युद्ध भूमि की तरफ खिंच गया। पार्लमेण्ट के आयरिश नेता युद्ध में अपनी तरफ से मदद देने को तैयार होगये, पर उनका देश इस तरफ से उदासीन था और उसे युद्ध में मदद देने की कोई उत्सुकता न थी। इस बीच अल्सटर के 'बागियो' को ब्रिटिश सरकार में ऊंचे-ऊंचे ओहदे दिये गये और इससे आयर्लैण्ड वालो का असन्तोष और ज्यादा बढ़ गया।

लिया गया। आयर्लैण्ड में भेजने के लिए एक खास ब्रिटिश फौजी दल भरती किया गया। इन लोगो को ऊँची तनख्वाह दी जाती थी और इनमें महायुद्ध की फौजो से बर्खास्त किये हुए खूँखार लोग ही ज्यादा थे। यह फौज अपनी वर्दी के रग के कारण 'ब्लैक एण्ड टैन' (काली और पीली-भूरी) के नाम से मशहूर हुई। इस फौज नें लोगो को बुरी तरह कत्ल करना शुरू किया। ये सिपाही अकसर लोगो को सोते हुए ही गोली से मार देते थे। इस तरह का दमन इसलिए किया जाता था कि सिन-फीन झुककर मातहती कबूल कर लेगें। पर उन्होने मातहती कबूल करने से इन्कार किया और छापे की लडाई जारी रक्खी। इसपर 'ब्लैक और टैन' फौज ने भयकर बदला लेना शुरू किया। उसके सैनिक गॉव-के-गॉव और शहरो के बडे-बडे हिस्से जलाकर खाक कर देते। आयर्लैण्ड एक ऐसा मैदान बन गया जिसमें दोनो दल हिंसा और बरबादी में एक-दूसरे को मात देने की कोशिश करने लगे। एक दल के पीछे एक साम्राज्य की सगठित शक्ति थी और दूसरे के पीछे मुट्ठीभर आदमियो का फौलादी निश्चय था। १९१९ से अक्तूबर १९२१ तक, दो वर्षो तक, इग्लैण्ड-आयर्लैण्ड के बीच यह लडाई चलती रही।

इस बीच, १९२० ई० में, ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने जल्दी-जल्दी एक नया होमरूल-बिल पास किया। पुराना विधान, जो महायुद्ध शुरू होने के कुछ ही दिन पहले पास हुआ था और जिसने अल्सटर में करीब-करीब बगावत खडी करदी थी, छोड़ दिया गया। नये बिल ने आयर्लैण्ड को दो हिस्सो में बॉट दिया: अल्सटर या उत्तरी आयर्लैण्ड और बाकी देश। इनके लिए अलग-अलग पार्लमेण्टो की व्यवस्था हुई। आयर्लैण्ड एक छोटा देश है और उसे दो हिस्सो में बॉट देने से वे हिस्से बहुत छोटे होगये। उत्तर में अल्सटर में नई पार्लमेण्ट बन गई, पर दक्षिण या बाकी आयर्लैण्ड में किसीने होमरूल-कानून की तरफ ध्यान न दिया। वहॉके लोग तो सिनफीन बगावत में ही फॅसे हुए थे।

अक्तूबर १९२१ ई० में ब्रिटिश मिनिस्टर लायड जार्ज ने सिनफीन नेताओ से थोडे दिनो के लिए लडाई बन्द करने की अपील की, ताकि समझौते की संभावना के बारे में बातचीत की जा सके। यह बात मान ली गई। इसमें कोई शुबहा नहीं कि अगर ब्रिटेन चाहता तो अपने महान् साधनो से सारे देश को वीरान कर देता और अन्त में सिनफीन-आन्दोलन को कुचल देता; पर अपनी इस दमन-नीति के कारण वह अमेरिका और दूसरे मुल्को में बहुत बदनाम होता जा रहा था। अमेरिका में रहने-वाले आयरिश लोगो और ब्रिटिश उपनिवेशो से आयर्लैण्ड में आन्दोलन और लड़ाई जारी रखने के लिए खूब धन आ रहा था। पर इसके साथ ही सिनफ़ीनर भी थक गये थे; उनपर बड़ा जबरदस्त बोझ पड़ रहा था।

महायुद्ध खत्म होने के बाद सारे ब्रिटिश टापू में लदन की पार्लमेण्ट के लिए चुनाव हुए। आयर्लैण्ड में सिनफीन-दलवालो ने ज्यादातर स्थानो (सीटो) पर कब्जा कर लिया और पुराने नेशनलिस्टो को, जो अग्रेजो से कुछ सहयोग के तरफदार थे, निकाल बाहर किया। पर सिनफीनो ने ब्रिटिश पार्लमेण्ट की बैठको में शामिल होने के लिए अपनेको नहीं चुनवाया था। उनकी नीति बिलकुल जुदा थी; वे असहयोग और बायकाट यानी बहिष्कार में विश्वास रखते थे। इसलिए ये चुने हुए सिनफीनर लदन की पार्लमेण्ट से दूर ही रहे और उसकी जगह १९१९ में डबलिन में उन्होने अपनी प्रजातत्र की असेम्बली बनाली। उन्होने आयरिश प्रजातत्र का ऐलान कर दिया और अपनी असेम्बली या धारा-सभा का नाम 'डेल आयरीन' रक्खा। समझा जाता था कि यह सारे आयर्लैण्ड के लिए है, जिसमें अल्सटर भी शामिल था, पर स्वभावतः अल्सटरवाले इससे अलग रहे। उनका कैथलिक आयर्लैण्ड से कोई प्रेम न था। 'डेल आयरीन' ने डि वेलरा को अध्यक्ष या राष्ट्रपति और ग्रिफिथ्स को उपाध्यक्ष चुना। उस वक्त नये प्रजातत्र के ये दोनो अध्यक्ष ब्रिटिश जेलो में थे।

इसके बाद एक असाधारण लडाई शुरू हुई। यह लडाई आयर्लैण्ड और इग्लैण्ड के बीच होनेवाली पिछली सब लड़ाइयो से बिलकुल नये और जुदा तरीके की थी। थोडे-से स्त्री-पुरुषो ने, जिनके साथ उनके देशवालो की हमदर्दी थी, जबरदस्त दिक्कतो के बीच यह लडाई लडी। एक बहुत बडा और सगठित साम्राज्य उनके खिलाफ था। सिनफीन आन्दोलन ऐसा असहयोग था जिसमें हिंसा की पुट थी। इन लोगो ने अग्रेजी सस्थाओ के बायकाट का प्रचार किया और जहाँ मुमकिन था अपनी सस्थायें खोलीं। मामूली कानूनी अदालतो की जगह इन्होने पचायती अदालते (Arbitration Courts) कायम की। गाँवो में पुलिस चौकियो के खिलाफ छापा मारने की लड़ाई (Guerilla Warfare) होती रही। सिनफीन कैदियो ने जेलो में भूख-हड़ताल करके ब्रिटिश सरकार को बहुत तग किया। सबसे मशहूर भूख-हडताल, जिसने आयर्लैण्ड को हिला दिया, कार्क के लार्डमेयर टेरेन्स मैक्स्विनी की थी। जब वह जेल में रक्खा गया तो उसने ऐलान किया कि वह जिन्दा या मुरदा होकर जेल से बाहर निकलेगा और खाना छोड दिया। ७५ दि। के अनशन के बाद उसकी मृत्यु हुई और उसका मुरदा शरीर जेल से बाहर लाया गया।

माइकेल कालिन्स सिनफीन बगावत का संगठन करनेवालो में एक मशहूर नेता था। सिनफीन चालो से आयर्लैण्ड में ब्रिटिश सरकार काफी हदतक अव्यवस्थित और लगडी होगई और गाँववाले ज़िलो में तो उसकी हस्ती भी नाम को ही थी। धीरे-धीरे दोनो तरफ से हिंसा का सहारा लिया जाने लगा और कई बार बदला

politics) में बहुत बड़े-बड़े परिणाम निकले। आयरिश सन्धि ने आयर्लैण्ड को कानूनन उससे कहीं ज्यादा स्वतन्त्रता दे दी थी जितनी कि उस वक्त और ब्रिटिश उपनिवेशों को हासिल थी। ज्योंही आयर्लैण्ड को यह स्वतंत्रता मिली, दूसरे उपनिवेशों को भी अपनेआप वह स्वतन्त्रता मिल गई और औपनिवेशिक मर्यादा के खयाल में तब्दीली हुई। इंग्लैण्ड और उपनिवेशों के बीच कई इम्पीरियल कान्फ्रेंसें या साम्राज्य-परिषदें हुईं और उपनिवेशों में ज्यादा स्वतन्त्रता की दिशा में बढ़ने की कितनी ही तब्दीलियाँ हुईं। आयर्लैण्ड अपने दृढ़ प्रजातन्त्रवादी आन्दोलन के साथ पूर्ण स्वतंत्रता की दिशा में जा रहा था। यही हालत दक्षिण अफरीका की थी जहाँ कि बोअर लोगों का बहुमत था। इस तरह उपनिवेशों की स्थिति बदलती और सुधरती जा रही थी—यहाँतक कि उनको ब्रिटिश कामनवेल्थ ऑफ नेशन्स (ब्रिटिश राष्ट्रसंघ) में इंग्लैण्ड के साथ भाईचारे या एक तरह की बराबरी का दर्जा मिल गया। सुनने में यह अच्छा लगता है और इसमें शुबहा नहीं कि इंग्लैण्ड की बराबरी के राजनैतिक दर्जे की तरफ़ यह प्रगति है, पर यह बराबरी व्यावहारिक या अमली की बनिस्बत सैद्धान्तिक ही ज्यादा है। आर्थिक दृष्टि से उपनिवेश ब्रिटेन और ब्रिटिश पूंजी के साथ बँधे हुए हैं और उनपर आर्थिक दबाव डालने के कई तरीके हैं। इसके साथ ज्यों-ज्यों उपनिवेशों का विकास होता जाता है त्यों-त्यों उनके आर्थिक हित इंग्लैण्ड के आर्थिक हितों से टकराते जाते हैं। इस तरह साम्राज्य धीरे-धीरे कमजोर होता जाता है। साम्राज्य के फट और टूट जाने के खौफ से ही इंग्लैण्ड ने बन्धनों को ढीला करना और उपनिवेशों की राजनैतिक बराबरी का उसूल मंजूर किया। मौके पर इतना आगे बढ़ जाने से उसने बहुत कुछ बचा लिया। पर यह ज्यादा दिन तक काम नहीं दे सकता। उपनिवेशों को इंग्लैण्ड से अलग रखनेवाली शक्तियाँ अपना काम कर रही हैं; मुख्यतः ये आर्थिक शक्तियाँ हैं और ये शक्तियाँ बराबर साम्राज्य को कमजोर कर रही हैं। इसी कारण और इंग्लैण्ड के निश्चित पतन के कारण ही मैंने तुमको ब्रिटिश साम्राज्य के नष्ट हो जाने की बात लिखी थी। मगर उपनिवेशों के लिए इंग्लैण्ड के साथ ज्यादा दिन तक बँधे रहना मुश्किल है—हालांकि उनकी परम्परायें और संस्कृति एक है और जाति (Race) भी एक है; तब फिर हिन्दुस्तान के लिए उसके साथ बँधे रहना कितना मुश्किल होगा? क्योंकि हिन्दुस्तान के आर्थिक हितों का तो इंग्लैण्ड के आर्थिक हितों से सीधा संघर्ष है और इनमें से एक को दूसरे के सामने झुकना ही पड़ेगा। इस तरह स्वतंत्र हिन्दुस्तान के लिए इस बात की संभावना नहीं की जा सकती कि वह इस सम्बन्ध को मंजूर करेगा; क्योंकि इसका लाजिमी नतीजा अपनी आर्थिक नीति को ब्रिटेन के क़ब्जे में कर देना होगा।

इंग्लैण्ड और आयर्लैण्ड के प्रतिनिधि लन्दन में मिले और दो महीने के बहस-मुबाहसे के बाद दिसम्बर १९२१ ई० में एक अस्थायी या काम-चलाऊ समझौते पर दस्तख़त हुए। इसने आयरिश प्रजातन्त्र को तो मजूर नही किया, पर आयर्लैण्ड को एक-दो बातो के अलावा इतनी आज़ादी दी जितनी उस समय तक किसी भी उपनिवेश को हासिल नहीं थी। इतने पर भी आयरिश प्रतिनिधि इसे मजूर करने को तैयार न थे और उन्होने इसे तब मजूर किया जब इंग्लैण्ड ने साफ-साफ़ धमकी दी कि यदि इसे मजूर न किया जायगा तो खौफनाक लड़ाई छिड़ जायगी।

आयर्लैण्ड में इस सुलह को लेकर बडी चख-चख़ मची। कुछ इसके पक्ष में थे, दूसरे इसके सख्त खिलाफ थे। इस सवाल पर सिनफीन दल के दो टुकडे होगये। आखिरकार डेल आयरीन (आयर्लैण्ड की पार्लमेण्ट) ने इस सन्धि को मजूर किया और आयरिश फ्री स्टेट का, जिसे आयर्लैण्ड में सरकारी तौर पर सावर स्टेट आयरीन (Saorstat Eireann) कहा जाता था, आविर्भाव हुआ। पर इससे सिनफीन-दल के पुराने कार्यकर्ताओ में गृह-युद्ध छिड़ गया। 'डेल आयरीन' के प्रेसीडेंट डि वेलरा इंग्लैण्ड के साथ सधि करने के खिलाफ थे। और भी बहुत-से लोग उनके साथ थे। ग्रिफिथ्स, माइकेल कालिन्स और दूसरे लोग उनके पक्ष में थे। कितने ही दिनो तक देश में गृह-युद्ध मचा रहा। जो लोग सन्धि और फ़्रीस्टेट के पक्ष में थे उनको विरोधियो को दबाने में ब्रिटिश सरकार ने भी मदद दी। प्रजातन्त्रवादियो ने माइकेल कालिन्स को गोली मार दी, इसी तरह बहुतेरे प्रजातन्त्रवादी नेताओ को फ़्रीस्टेटवालो ने भी गोली से मार दिया। जेल प्रजातन्त्रवादियो से भरे हुए थे। यह सब गृह-युद्ध और आपसी नफरत आयर्लैण्ड की आजादी की बहादुराना लड़ाई में एक दुःखपूर्ण वृद्धि थी। अंग्रेजी नीति की विजय हुई। जहाँ उसकी फौजी ताकत बेकाम साबित हुई थी वहाँ अब एक आयरिश अपने ही भाई दूसरे आयरिश से लड रहा था और कुछ हद तक इंग्लैंड चुपचाप एक दल की मदद कर रहा था और इस नये झगडे की तरफ सन्तोप के साथ देख रहा था।

धीरे-धीरे गृह-युद्ध खत्म होगया, पर प्रजातन्त्रवादी फ्रीस्टेट को मजूर करने को तैयार न हुए। वे प्रजातन्त्रवादी भी जो डेल यानी फ्रीस्टेट की पार्लमेण्ट में चुन लिये गये थे वहाँ जाने को तैयार न थे, क्योकि वे वफादारी की शपथ, जिसमें बादशाह का जिक्र आता था, लेने से इन्कार करते थे। इसलिए डि वेलरा और उनका दल 'डेल' से अलग रहा और फ्रीस्टेट दल ने फ्रीस्टेट के प्रेसीडेंट कासग्रेव के नेतृत्व में प्रजातन्त्रवादियो को कई तरफ से कुचलने की कोशिश की।

आयरिश फ्रीस्टेट के निर्माण से ब्रिटेन की साम्राज्य-राजनीति (Imperial

दूसरी बात यह हुई कि ब्रिटिश सरकार नें सालाना भत्ता बन्द कर देने पर और भी जोरदार विरोध किया और कहा कि यह समझौते और जिम्मेदारी को तोड़ना और जबरदस्त वादाखिलाफी है। डि वेलरा ने इससे इन्कार कर दिया और इसपर क़ानूनी बहस-मुबाहसा हुआ, जिससे हमें कोई सरोकार नही है। जब इस तरह का क़ानूनी झगड़ा खड़ा हो तो साफ तरीक़ा यह है कि निष्पक्ष पंचायत से मामला तय कर लिया जाय। दोनो दलो ने पचायती फैसले के लिए रजामन्दी जाहिर की; पर एक अजीब दिक्कत पैदा हुई। ब्रिटिश सरकार ने कहा कि पंचायती बोर्ड (Arbitration Tribuual) में साम्राज्य के अन्दर के ही आदमी होने चाहिएँ। डि वेलरा ने ऐसे किसी बन्धन को मानने से इन्कार कर दिया; उसने हेग की अन्तर्राष्ट्रीय अदालत (Permanent Court of Justic) या किसी दूसरी पंचायत का, जिसमें विदेशी रक्खे जा सके, प्रस्ताव किया। उसने साफ कह दिया कि साम्राज्य वालो पर हमारा विश्वास नही है। इस प्रस्ताव को ब्रिटिश सरकार ने नामंजूर कर दिया। यह एक वाहियात-सी बात मालूम होती है कि दो सरकारे पचायत के आदमियो के चुनाव के छोटे-से मसले पर झगड़ बैठें। पर इसके पीछे और भी बहुत-कुछ था जो आँखो से नही दिखाई देता। एक तरफ प्रजातंत्र की मंजिल तक पहुँचने का आयरिश लोगो का दृढ़ निश्चय था और दूसरी तरफ उसे रोकने का ब्रिटेन का पक्का इरादा था।

जब सालाना किस्त देने का वक्त आया और वह नही दी गई तो इंग्लैण्ड नें आयर्लैण्ड के खिलाफ़ एक नई लड़ाई छेड़ दी। यह आर्थिक युद्ध था। इंग्लैण्ड में आनेवाले आयरिश माल पर इस खयाल से गहरी चुंगी लगा दी गई कि वह आयरिश किसान, जिसका माल इंग्लैण्ड आता है, बरबाद होजाय और आयरिश सरकार को समझौता करने के लिए मजबूर करे। जैसी कि इंग्लैण्ड की आदत है, उसने दूसरे पक्ष को मजबूर करने के लिए अपना सोटा चलाया, पर ऐसे तरीके अब उतने फायदेमन्द नही रहे जितने कि पहले थे। आयरिश सरकार ने ब्रिटेन से आयर्लैण्ड में आनेवाले माल पर भारी चुंगी लगाकर इसका बदला लिया। पिछले साल से यह आर्थिक युद्ध जारी है और किसानो और दोनो तरफ के उद्योग-धन्धो को इससे बड़ा नुक़सान पहुँचा है। लेकिन अपमानित राष्ट्रीयता और शान दोनो पार्टियों में से किसीके भी झुकने में बाधक है।

कुछ महीने हुए, १९३३ के शुरू में, आयर्लैण्ड में नये चुनाव हुए थे जिससे ब्रिटिश सरकार को और झेंपना पड़ा। डि वेलरा इस बार पहले से भी ज्यादा कामयाब हुआ और उसके पक्ष में पहले से कहीं ज्यादा बहुमत था। इससे यह जाहिर होगया कि दबाव डालने की ब्रिटिश नीति कामयाब नही हुई। मजेदार बात तो यह है कि एक तरफ तो ब्रिटिश सरकार क़र्ज न चुकाने की वजह से आयरिश लोगो को बुरा-

इस तरह ब्रिटिश कामनवेल्थ या आज़ाद उपनिवेशो का, गरीब और गुलाम हिन्दुस्तान का नहीं, मतलव राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्र इकाइयाँ है। पर ये इकाइयाँ भी अभीतक ब्रिटेन के आर्थिक साम्राज्य के मातहत है। आयरिश सधि का मतलब ब्रिटिश पूजी द्वारा, कुछ हद तक, आयर्लैण्ड के शोषण का जारी रहना था और यही असल में प्रजातत्र के लिए आन्दोलन करने की वजह थी। डि वेलरा और प्रजातत्रवादी गरीब किसानो, नीचे के मध्यमवर्ग और गरीव बुद्धिशालियो के प्रतिनिधि थे; कासग्रेव और फ्रीस्टेट दलवाले मालदार मध्यमवर्ग और मालदार किसानो के प्रतिनिधि थे और इन दोनो पिछले वर्गो की ब्रिटिश व्यापार में दिलचस्पी थी और ब्रिटिश पूँजी की उनमें दिलचस्पी थी।

कुछ वक्त के वाद डि वेलरा ने अपनी लड़ाई का पैंतरा बदल दिया। वह और उनका दल 'डेल आयरिन' में चुनकर गये और वफादारी की शपथ भी ली। शपथ लेने के साथ उन्होने इसका भी ऐलान कर दिया कि ऐसा हम महज़ ज़ाब्ते की ख़ातिर कर रहे है और ज्योही हमारा बहुमत होजायगा, हम इस शपथ को निकाल बाहर करेगे। दूसरे चुनाव में, १९३२ के शुरू में, डि वेलरा का फ्रीस्टेट पार्लमेण्ट में बहुमत होगया और तुरन्त उसने अपने कार्यक्रम के मुताविक काम शुरू कर दिया। प्रजातत्र क़ायम करने के लिए लडाई तो जारी रहनी ही थी, पर अब लड़ाई का तरीका बदल गया था। डि वेलरा ने वफादारी की शपथ को तोड देने का प्रस्ताव किया और ब्रिटिश सरकार को यह भी सूचित कर दिया कि अब हम ज़मीन का कोई सालाना भत्ता (Land annuity) नहीं देंगे। मै समझता हूँ कि मै तुमको इस भत्ते के बारे में बता चुका हूँ। जब आयर्लैण्ड में वडे-वडे ज़मींदारो से ज़मीन ली गई तो उनको अच्छा-ख़ासा मुआवज़ा दिया गया और वाद में थोडा-थोडा करके यह रकम उन किसानो से ली जाती थी जिन्होने कि ज़मीन ली थी। एक पीढी से यह सिलसिला चल रहा था और फिर भी जारी था। डि वेलरा ने कहा कि अव हम कोई रकम न देंगे।

तुरन्त इसपर इग्लैण्ड में एक वावेला मच गया और ब्रिटिश सरकार से संघर्ष हुआ। पहले उसने यह कहकर विरोध किया कि डि वेलरा का वफादारी की शपथ को ख़त्म कर देना १९२१ की आयरिश सन्धि के ख़िलाफ है। डि वेलरा ने कहा कि अगर आयर्लैण्ड और इग्लैण्ड वरावर के देश (Sister Nations) है, जैसा कि उपनिवेशो के बारे में कहा जाता है, और अगर हरेक को अपना विधान वदलने की आज़ादी है, तव ज़ाहिर है कि आयर्लैण्ड अपने विधान में वफादारी की शपथ रख सकता या उसे निकाल दे सकता है और इस तरह इसमें १९२१ की सन्धि का अव कोई सवाल नही उठता। अगर आयर्लैण्ड को यह अधिकार नही है तो वह उस हद तक इग्लैण्ड के अधीन है।

अपने काम पर वापस आजाना चाहिए और बीती घटनाओ के दीख पड़नेवाले खाके को तुम्हारे सामने पढ़ने के लिए रखना चाहिए।

पिछले खत में मैंने प्रजातंत्र के लिए आयर्लैण्ड की बहादुराना लड़ाई की चर्चा की थी। आयर्लैण्ड और तुर्की में कोई खास ताल्लुक तो नही है, पर आज मेरे दिमाग में नये तुर्की का खयाल आगया है, इसलिए मै उसीके बारे में तुम्हे लिखने जा रहा हूँ। आयर्लैण्ड की तरह इसने भी जबरदस्त दिक्कतो के बीच अपनी आज़ादी की लड़ाई लडी है। हम देख ही चुके है कि महायुद्ध के फल-स्वरूप तीन साम्राज्य—रूस, आस्ट्रिया और जर्मनी—खत्म होगये। तुर्की में हम चौथे बडे साम्राज्य—उस्मानी साम्राज्य का विनाश देखते है। उस्मान और उसके वारिसो ने ६०० वर्ष पहले इस साम्राज्य की नींव डाली और इसे बनाया था। इस तरह उसका खानदान रूस के रोमनोफो या प्रशा और जर्मनी के हायनज़ालर्नों से कहीं पुराना था। वह तेरहवी सदी के शुरू-शुरू के हैप्सबर्गो का समकालिक था और ये दोनो प्राचीन राजवश एकसाथ मिट गये।

महायुद्ध में जर्मनी के घुटना टेकने के कुछ दिनो पहले ही तुर्की पस्त होगया था और उसने मित्र-राष्ट्रो के साथ एक अलग आर्मिस्टीज (युद्ध बन्द करने की सुलह) की थी। देश करीब-करीब तहस-नहस हो चुका था, साम्राज्य खत्म होगया था और सरकार की मशीनरी या व्यवस्था टूट चुकी थी। इराक और अरब देश अलग हो चुके थे और ज्यादातर मित्र-राष्ट्रो के मातहत थे। खुद कुस्तुनतुनिया पर मित्र-राष्ट्रो का नियत्रण था और इस बडे शहर के सामने ही बास्फोरस में, विजयी शक्ति के अभिमान से भरे हुए निशान की तरह ब्रिटिश लड़ाकू जहाज लंगर डाले हुए खडे थे। हर जगह अँग्रेजी, फ़ांसीसी और इटालियन फौजें भरी थीं और चारो तरफ ब्रिटिश खुफिया विभाग का जाल बिछा हुआ था। तुर्की किले तोड़कर जमीन पर गिराये जा रहे थे और जो तुर्की फौज बची थी उससे हथियार रखवा लिये जा रहे थे। अनवरपाशा, तलाअतबेग और दूसरे नौजवान तुर्की नेता दूसरे मुल्को को भाग गये थे। सुलतान की गद्दी पर कठपुतली-सा खलीफा वहीदउद्दीन बैठा हुआ था, जो इस वीरानी में अपनेको बचाना चाहता था, फिर चाहे उसके देश का कुछ भी हो। कठपुतली-सा दूसरा आदमी, जिसे ब्रिटिश सरकार चाहती थी, वज़ीरआजम या प्रधान मत्री बनाया गया और तुर्की पार्लमेण्ट तोड़ दी गई।

१९१८ के अखीर और १९१९ के शुरू में तुर्की की यह हालत थी। तुर्क थक-कर बिलकुल बेदम हो रहे थे और उनकी 'स्पिरिट' कुचल दी गई थी। याद रक्खो कि उनको कैसी भयंकर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। महायुद्ध के इन चार

भला कहती थी, पर दूसरी तरफ खुद अमेरिका को कर्ज चुकाना नही चाहती थी।

इस वक्त डि वेलरा आयरिश सरकार का प्रधान है और वह अपने देश को कदम-कदम प्रजातत्र की तरफ लेजा रहा है। वफादारी की शपथ खतम हो चुकी है; सालाना किस्ते बिलकुल बन्द करदी गई है; पुराना गवर्नर-जनरल भी चला गया और डि वेलरा ने अपने दल के एक सदस्य को इस ओहदे पर, जिसका अब कोई महत्व नहीं है, नियुक्त किया है। प्रजातत्र कायम करने की लडाई चल ही रही है, पर अब तरीके बदल गये है और सदियो पुराना इग्लैण्ड-आयर्लैण्ड का झगड़ा जारी है और आज यह एक आर्थिक युद्ध की शक्ल में बदल गया है।

आयर्लैण्ड जल्द ही प्रजातत्र हो सकता है। पर रास्ते में एक बडी दिक्कत है। डि वेलरा और उसका दल चाहता है कि सारा आयर्लैण्ड एक संयुक्त आयर्लैण्ड हो और सारे देश का एक प्रजातत्र, एक केन्द्रीय सरकार हो। इसमें वह अल्सटर को भी शामिल करना चाहता है। आयर्लैण्ड इतना छोटा है कि उसका दो हिस्सो में बँट जाना अच्छा नही। डि वेलरा के सामने यह बडा जबरदस्त सवाल है कि अल्सटर को बाकी आयर्लैण्ड में मिलजाने को कैसे राजी किया जाय। जोर-जबरदस्ती से यह हो नहीं सकता। १९१४ ई० में जब ब्रिटिश सरकार ने जबरदस्ती दोनो को मिलाना चाहा था तो वह कोशिश बगावत में जाकर खत्म हुई और फ्रीस्टेट अल्सटर पर जबदरस्ती नही कर सकता, न ऐसा करने का उसका खयाल ही है। डि वेलरा की उम्मीद है कि वह अल्सटर की सदिच्छायें यानी दोस्ती हासिल कर सकेगा और यो दोनो में एका हो जायगा। इसमें आशावाद ही ज्यादा है और असलियत कम है, क्योकि प्रोटेस्टेण्ट अल्सटर का अब भी कैथलिक आयर्लैण्ड के प्रति जबरदस्त अविश्वास है। हाँ, दोनो का एका तब हो सकता है जब देश के दोनो हिस्सो की सरकारो में मजदूर वर्ग की प्रधानता होजाय, क्योकि उनमें कोई धार्मिक झगड़ा नही होगा।

: १५८ :

नवीन तुर्की का उत्थान

७ मई, १९३३

मैंने कई दिनो से तुम्हे कोई खत नहीं लिखा है। और बातो ने मेरा ध्यान खीच लिया था और मेरी जिन्दगी के सीधे सिलसिले में खलल पड़ गया था। बापू फिर अनशन करने जा रहे है—एक लम्बा और भयकर अनशन, और मेरा मन उड़-उड़कर यरवडा-जेल को जाता है और मैं भविष्य के अन्धकार को भेदकर देखने की कोशिश करता हूँ। पर उससे मुझे यहाँ देहरादून-जेल में कोई मदद नही मिलती, इसलिए मुझे

वह इस नियुक्ति पर उछल पड़ा और तुरन्त अनातोलिया के लिए रवाना होगया। यह अच्छा ही हुआ कि वह तुरन्त चला गया; क्योंकि उसके जाने के चन्द ही घण्टे बाद सुलतान ने अपना विचार बदल दिया था। एकाएक कमाल का ख़ौफ़ उसपर सवार होगया और उसने आधी रात के वक़्त कमाल को रोकने के लिए अंग्रेज़ो के पास सन्देश भेजा। पर तबतक चिड़िया उड़ गई थी।

कमालपाशा और मुट्ठीभर दूसरे तुर्को ने अनातोलिया में राष्ट्रीय प्रतिरोध यानी कौमी मुख़ालफ़त का सगठन करना शुरू किया। शुरू में उन्होने बहुत धीरे-धीरे और सावधानी से काम किया और वहाँ ठहरी हुई फौज के अफ़सरो को मिलाने की कोशिश की। ऊपर से वे सुलतान के एजेण्ट की तरह काम करते थे, पर कुस्तुन-तुनिया से आये हुए हुक्मो की कोई परवा न करते थे। घटनायें जिस तरीके पर घट रही थीं उससे उन्हे मदद मिल रही थी। काकेशश में अंग्रेजो ने एक आर्मीनियन प्रजातंत्र कायम किया था और उसमें तुर्की के पूर्वी सूबो को मिला देने का वादा किया था। अब आर्मीनियन प्रजातत्र सोवियट यूनियन का एक हिस्सा है। आर्मीनियनो और तुर्को में बड़ी दुश्मनी थी और पहले कितनी ही बार वे एक-दूसरे को क़त्ल कर चुके थे। जब-तक तुर्को के हाथ में ताकत थी तबतक, और खास तौर से अब्दुलहमीद के वक़्त में, उन्होने आर्मीनियनो को इस ख़ूँख़ार खेल में खूब सताया था। इसलिए अब तुर्को के आर्मीनियनो के मातहत होने का मतलब उनका पूरा विनाश था। इससे उन्होने लड़ना ही अच्छा समझा। इसलिए अनातोलिया के पूर्वी सूबो के तुर्क कमालपाशा की अपीलो को सुनने के लिए अच्छी तरह तैयार थे।

इस बीच, एक दूसरी और ज्यादा महत्वपूर्ण घटना ने तुर्को को जगा दिया। १९१९ के शुरू में इटली ने फ्रांस और इग्लैण्ड के साथ किये हुए अपने गुप्त समझौते को पूरा करना चाहा, जो अभीतक पूरा नहीं हो सका था। उसने एशियामाइनर में फ़ौजें भेजनी शुरू कीं। इंग्लैण्ड और फ़्रास को यह बिलकुल अच्छा न लगा। वे इस वक़्त इटालियनो को बढ़ाना नहीं चाहते थे। क्या करना चाहिए, इसका फ़ैसला न कर सकने की वजह से उन्होने यूनानी फौजो को स्मर्ना पर कब्ज़ा कर लेने की इजाज़त दे-दी, जिससे इटालियनो के रास्ते में दिक्कत पेश की जा सके।

यूनानियो को इसके लिए क्यो चुना गया? फ्रासीसी और अंग्रेजी फौजें लड़ते-लड़ते थक चुकी थीं और उनमें बग़ावत के ख्यालात फैल रहे थे। वे चाहती थीं कि जल्द-से-जल्द उन्हे फ़ौजी काम से छुट्टी दे दी जाय ताकि वे घर जा सके। यूनानी लोग नज़दीक ही थे और यूनान सरकार एशियामाइनर और कुस्तुनतुनिया को अपने राज्य में मिला लेने और पुराने बिज़ैण्टियन साम्राज्य को फिर से खड़ा करने का सपना

वर्षो के पहले वालकन युद्ध हो चुका था और उसके भी पहले इटली से लड़ाई हो चुकी थी, और यह सव उस नौजवान तुर्क आन्दोलन के बाद ही हुआ, जिसने सुलतान अब्दुलमजीद को निकाल दिया था और एक पार्लमेण्ट कायम कर दी थी। तुर्को ने सदा गजब की सहन-शक्ति का परिचय दिया है, पर यह लगातार आठ वर्षो की लड़ाई उनके लिए भी वहुत ज्यादा थी—किसी भी कौम के लिए ज्यादा होती। इसलिए उन्होने सारी उम्मीदें छोड दीं और अपनेको किस्मत के भरोसे छोड़कर मित्र-राष्ट्रो के फैसले का इन्तजार करने लगे।

इससे दो साल पहले, युद्ध के दरमियान, मित्र-राष्ट्रो ने इटली से एक गुप्त समझौता कर लिया था, जिसमें एशियामाइनर का पश्चिमी हिस्सा और स्मर्ना इटली को देने का वादा किया गया था। इसके पहले, कागज पर, कुस्तुनतुनिया रूस की नजर किया जा चुका था और अरब देशो को आपस में बॉट लेने की बात तय हो चुकी थी। एशियामाइनर इटली को देने के आखिरी गुप्त समझौते पर रूस की रजामन्दी भी जरूरी थी, पर इटली की बदकिस्मती से ऐसा होने के पहले ही रूस में बोलशेविको ने अपनी ताकत जमाली और इसका नतीजा यह हुआ कि वह समझौता मजूर न हो सका और इटली मित्र-राष्ट्रो पर कुढकर रह गया।

ऐसी हालत थी। सुलतान से लेकर नीचे तक सब तुर्क पस्तहिम्मत दिखाई देते थे। आखिरकार 'योरप का रोगी' मर चुका था—कम-से-कम ऐसा मालूम पड़ता था। पर मुट्ठीभर तुर्क ऐसे थे जिन्होने किस्मत या परिस्थितियो के आगे झुकने से इन्कार किया, फिर चाहे उनका विरोध कितना ही मामूली मालूम हो। कुछ दिनो तक वे चुपचाप काम करते रहे; मित्र-राष्ट्रो के नियत्रण में जो शस्त्रागार थे उन्हींसे वे अस्त्र-शस्त्र और युद्ध-सामग्री लेते और कालासागर के रास्ते जहाजो से उसे अनातोलिया (एशियामाइनर) के अन्दरूनी हिस्से में भेजते रहे। इन गुप्त कार्यकर्ताओ में प्रधान मुस्तफा कमालपाशा था, जिसका नाम मेरे कई खतो में पहले ही आ चुका है।

अग्रेज मुस्तफा कमाल को जरा भी नहीं चाहते थे। उनका उसपर सन्देह था और वे उसे गिरफ्तार करना चाहते थे। सुलतान भी, जो असल में अग्रेजो के हाथ की कठपुतली था, उसे नही चाहता था। पर उसने (सुलतान नें) यह ज्यादा अच्छी बात समझी कि उसे (मुस्तफ़ा कमाल को) देश के अन्दर कहीं दूर भेज दिया जाय। इसलिए कमालपाशा पूर्वी अनातोलिया में फौजो का इन्सपेक्टर जनरल बना दिया गया। सच पूछो तो वहॉं कोई खास फौज निरीक्षण या देखभाल के लिए नही थी। और उसके ओहदे का असली मतलब यह था कि वह मित्र-राष्ट्रो की मदद करे और तुर्की सिपाहियो से हथियार ले ले। यह कमाल के लिए बड़ा ही अच्छा मौका था।

यूनानी फौजें ब्रिटिश जहाजो में भरकर एशिया-माइनर के पार भेजी गई और मई १९१९ में स्मर्ना में उतरी। वे ब्रिटिश, फ्रासीसी और अमेरिकन लडाकू जहाजो के परदे या हिफाजत में भेजी गई थी। तुर्की का मित्र-राष्ट्रो की इस भेंट, इस यूनानी फौज ने जोर-शोर से कत्लेआम शुरू कर दिया। चारो तरफ हाहाकार मच गया और आतक का ऐसा राज्य फैल गया कि जिससे लड़ाई में थकी हुई दुनिया का सड़ियल अन्तः-करण भी कॉप गया। खुद तुर्की में इसका बडा जबरदस्त असर पडा, क्योकि तुर्को ने देख लिया कि मित्र-राष्ट्र उनके लिए कैसी बदकिस्मती लाये है। और फिर अपने पुराने दुश्मन और प्रजा यूनानियो द्वारा ऐसा बुरा बर्ताव और कत्ल किया जाना! तुर्को का हृदय क्रोध से जल उठा और राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकडने लगा। यह ठीक ही कहा गया है कि यद्यपि कमालपाशा इस आन्दोलन का नेता था, पर स्मर्ना में यूनानियो का कब्जा इसका जन्मदाता था। बहुत-से तुर्की अफसर, जो उस वक्त तक हिचकिचाहट में पडे हुए थे, आन्दोलन में शामिल होगये, यद्यपि इसका मतलब सुलतान की हुक्म-अदूली या अवज्ञा थी। क्योकि सुलतान ने अब मुस्तफा कमाल की गिरफ्तारी का हुक्म निकाल दिया था।

सितम्बर १९१९ ई० में अनातोलिया के सिवास मुकाम पर चुने हुए प्रतिनिधियो की एक कांग्रेस हुई। इसने नये आन्दोलन का समर्थन किया और कमाल की अध्यक्षता में एक कार्यसमिति—एग्जिक्यूटिव कमेटी—बनाई गई। एक 'राष्ट्रीय पैक्ट' भी पास हुआ, जिसमें मित्र-राष्ट्रो के साथ सुलह करने के लिए जरूरी कम-से-कम शर्तें थीं। इन शर्तो में पूर्ण स्वतत्रता या मुकम्मल आजादी की शर्त भी थी। कुस्तुनतुनिया में सुलतान पर इनका असर पडा और वह कुछ डर भी गया। उसने पार्लमेण्ट का नया अधिवेशन करने का वादा किया और चुनाव का हुक्म दिया। इन चुनावो में सिवास-कांग्रेस वाले लोग बहुमत से चुने गये। कमालपाशा ने कुस्तुनतुनिया के आदमियो का विश्वास न किया और उसने नये चुने हुए पार्लमेण्ट के सदस्यो को वहाँ जाने से मना कर दिया। किन्तु उन्होने उसकी सलाह न मानी और रऊफ़बेग के नेतृत्व में इस्तम्बोल (अब मैं भविष्य में इसी नाम से कुस्तुनतुनिया को पुकारूँगा) गये। उनके ऐसा करने की एक वजह यह थी कि मित्र-राष्ट्रो ने यह ऐलान कर दिया था कि अगर नई पार्लमेण्ट इस्तम्बोल में सुलतान की अध्यक्षता में होगी तो हम उसे मंजूर कर लेगे। खुद कमाल नही गया, हालाकि वह भी पार्लमेण्ट का सदस्य (डेपुटी) था।

नई पार्लमेण्ट की बैठक जनवरी १९२०ई० में इस्तम्बोल में हुई और उसने तुरन्त सिवास-कांग्रेस में बनाये गये 'नेशनल पैक्ट' को मंजूर कर लिया। इस्तम्बोल में मित्र-राष्ट्रो के जो प्रतिनिधि थे उन्होने यह बात बिलकुल पसन्द न की, और पार्लमेण्ट द्वारा

देख रही थी। दो बडे योग्य यूनानी उस समय के इंग्लैण्ड के प्रधान मंत्री और मित्र-राष्ट्रो की समिति में बडे शक्तिमान लायड जार्ज के दोस्तो में से थे। इनमें से एक वेनेज़िलो था जो बीच-बीच में कई बार यूनान का प्रधान मत्री रह चुका था। दूसरा बडा रहस्यमय या भेदिया आदमी है। इस वक्त वह सर बेसिल जहरोफ के नाम से मशहूर है, गोकि उसका असली नाम बेसिलोस जकरिया था। १८७७ में, जब वह बहुत कम उम्र का था, वह बालकन में अस्त्र-शस्त्र बनानेवाली एक ब्रिटिश कम्पनी का एजेण्ट बन गया। जब महायुद्ध खत्म हुआ तो वह योरप में और शायद दुनियाभर में सबसे मालदार आदमी था और बडे-बडे राजनीतिज्ञ और सरकारे उसका आदर करने में गौरव का अनुभव करते थे। उसे बडी-बडी अंग्रेजी और फ्रांसीसी उपाधियाँ दी गई थी, उसके पास बहुत-से अखबार थे और वह पीछे रहकर सरकारो की नीतियो पर बहुत ज्यादा असर डाला करता था। जनता को उसके बारे में कोई इल्म न था और वह अपनेको शोहरत और प्रचार से दूर रखता था। वह आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय साहूकार या पूंजी लगानेवाले का नमूना था, जो बहुतेरे देशो और प्रभावो के बीच अपनेको बेफिक्र और घर-जैसा महसूस करता है और कुछ हद तक विविध प्रजासत्तात्मक देशो की सरकारो पर नियत्रण या कब्जा भी रखता है। ऐसे देशो की जनता अपना शासन आप करने की भावना पर फूलती है, पर उनके पीछे असली ताकत उस अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी की होती है जो जाहिरा तौर पर दिखाई नही देती।

जहरोफ इतना मालदार और ताकतवर कैसे होगया? उसका काम सब तरह के अस्त्र-शस्त्र यानी लडाई का माल बेचना था और यह खास तौरपर बालकन में एक मुनाफे का काम था। पर बहुत-से लोगो का विश्वास है कि शुरू से ही वह ब्रिटिश खुफिया विभाग का आदमी था। इससे उसे व्यापार और राजनीति में बडी मदद मिली और बार-बार होनेवाली लडाइयो से उसे करोडो का फायदा हुआ और यो वह आजकल का एक महान् रहस्यमय 'देव' (Giant) होगया। वह अभीतक जिन्दा है, हालांकि इस वक्त (१९३३ में) उसकी उम्र ८४ वर्ष की होगी। वह माण्टकार्लो में रहता है।

इस बेहद मालदार भेदिया आदमी और वेनेज़िलो नें लायड जार्ज को इस बात पर रजामन्द कर लिया कि एशियामाइनर में यूनानी फौजें भेजी जायें। जहरोफ ने इसपर पूंजी लगाने का वादा किया। यह उसका ऐसा व्यापार था जिसमें उसे फायदा नहीं हुआ, क्योंकि कहा जाता है कि इसमें उसने दस करोड़ डालर खो दिया। यह रकम उसने तुर्की युद्ध में यूनानियो को दी थी। यह रकम ४० करोड़ रुपये के बराबर थी, पर इसे देने पर भी जहरोफ़ का काम मज़े से चलता रहा।

वहाँ से खदेड दिया। तुर्कों ने उनका कोई ज़ोरदार मुकाबिला नही किया, इसलिए वे बढ़ते गये।

राष्ट्रवादियो (नेशनलिस्टो) के लिए ऐसी स्थिति का सामना करना कुछ सुखदायी नही था—घर में उनके ख़िलाफ़ मज़हब की ताकत लिये हुए लड़ा जाने-वाला गृह-युद्ध और उधर उनसे लड़ने के लिए आगे बढते हुए विदेशी आक्रमणकारी। फिर सुलतान और यूनानी दोनो के पीछे मित्र-राष्ट्र थे, जो जर्मनी के ऊपर फतह पाकर सारी दुनिया पर हावी होगये थे। लेकिन कमालपाशा का अपने देशवासियो के प्रति यह नारा था—'जीतो या नष्ट हो जाओ।' जब एक अमेरिकन ने उससे पूछा कि राष्ट्रवादी अगर नाकामयाब हुए तो तुम क्या करोगे, तब उसने जवाब दिया—"जो कौम जिन्दगी और आज़ादी के लिए बडी-से-बडी और आखरी क़ुर्बानियाँ करती है वह नाकामयाब नही होती। नाकामयाबी का मतलब तो यह है कि कौम मर चुकी है।"

अगस्त १९२० में वह सुलहनामा प्रकाशित हुआ जिसे मित्र-राष्ट्रो ने गरीब तुर्की के लिए बनाया था। इसे 'सेवरे की सन्धि' कहा गया। यह तुर्की स्वतन्त्रता का ख़ात्मा था, आज़ाद राष्ट्र के रूप में तुर्की को मौत की सज़ा दी गई। सिर्फ देश के टुकडे-टुकडे ही नही कर दिये गये बल्कि ख़ुद इस्तम्बोल में रहकर नियत्रण रखने के लिए मित्र-राष्ट्रो की तरफ से एक कमीशन नियुक्त किया गया। सारे देश में शोक छागया और हड़ताल और प्रार्थना के साथ राष्ट्रीय शोक का दिन मनाया गया। उस दिन सारे क़ाम बन्द रहे। काले बार्डरो के साथ अख़बार निकले। पर सुलतान के प्रतिनिधियो ने तो सुलहनामे पर दस्तख़त कर ही दिये थे। हाँ, राष्ट्रवादियो ने उसे हिकारत के साथ ठुकरा दिया था और सुलहनामे के प्रकाशित होने का यह नतीजा हुआ कि उनकी ताकत बढ़ गई और इस गहरी बेइज्ज़ती से अपने देश को बचाने के लिए ज्यादा-से ज्यादा तुर्क तैयार होने लगे।

पर इस सुलहनामे को बागी तुर्की पर लागू कौन करता ? मित्र-राष्ट्र ख़ुद ऐसा करने को तैयार न थे। उन्होने अपनी फौजो को असघटित कर दिया था और ये सिपाही बडी खीझ में थे। फिर पश्चिमी योरप के देशो में वातावरण में अब भी क्रान्ति और विद्रोह के ख़यालात थे। इसके अलावा युद्ध की लूट के बँटवारे के बारे में ख़ुद मित्र-राष्ट्रो में कलह और झगडे पैदा होगये थे। पूर्व में इग्लैण्ड और कुछ हदतक फ़्रांस को एक ख़तरनाक स्थिति का सामना करना था। फ़्रेंच मैण्डेट या शासनादेश के नीचे सीरिया में ज़बरदस्त असंतोष पैदा होगया था और आगे वहाँ आफ़त खडी होने की सभावना थी। मिस्र में एक ख़ूनी बगावत हो चुकी थी, जिसे अंग्रेजो ने दबा दिया था। हिन्दुस्तान में १८५७ के गदर के बाद पहली महान् बगावत, यद्यपि वह

की हुई और भी वहुत-सी वाते उन्हे पसद न आई। इसलिए छ. हफ़्ते के बाद उन्होने अपनी उन्ही मामूली और भद्दी चालो से काम लेना शुरू किया जो उन्होने मिस्र और दूसरी जगहो में चली थीं। अंग्रेज सेनापति इस्तम्बोल में घुस गया, शहर पर कब्जा कर लिया, फौजी कानून जारी कर दिया, रऊफ़वेग सहित ४० राष्ट्रीय डेपुटियो को गिरफ्तार कर लिया और उन्हे माल्टा को निर्वासित यानी जलावतन कर दिया। अंग्रेजो की ये शरीफाना कारगुजारियाँ यह दिखाने के लिए थी कि 'नेशनल पैक्ट' को मित्र-राष्ट्रो ने मजूर नहीं किया है।

फिर तुर्की में खूब उत्तेजना फैली। अब यह काफी तौरपर साफ़ होगया था कि सुलतान अंग्रेजो के हाथ में एक कठपुतली है। बहुत-से तुर्की डेपुटी निकल भागे और अगोरा पहुँच गये। वहाँ पार्लमेण्ट की बैठक हुई और उसने अपना नाम 'तुर्की की महान् राष्ट्रीय सभा' (Grand National Assembly of Turkey) रक्खा। उसने अपनेको देश की सरकार की शक्ल में घोषित किया और ऐलान कर दिया कि सुलतान और इस्तम्बोल की उसकी सरकार उसी दिन से खत्म होगई जिस दिन अंग्रेजो ने शहरपर कब्जा कर लिया।

सुलतान ने कमालपाशा और दूसरे लोगो को बागी ऐलान किया और उनको फाँसी की सजा का हुक्म देकर इसका बदला लिया। सुलतान ने यह भी सूचित किया कि जो आदमी कमाल और उसके दूसरे साथियो को मार डालेगा, वह एक पवित्र कर्त्तव्य पूरा करेगा और उसे इस दुनिया और दूसरी दुनिया में भी इनाम मिलेगा। याद रक्खो कि सुलतान खलीफा यानी मुसलमानो का धार्मिक नेता भी था और उसके जरिये निकाला हुआ यह मौत का खुला निमत्रणपत्र बड़ा खौफनाक था। कमालपाशा सिर्फ एक बागी ही न, था, जिसकी तलाश में सरकारी आदमी पडे हुए हो, बल्कि दीन को छोड़ देनेवाला आदमी भी था जिसे कोई धर्मान्ध आदमी कत्ल कर सकता था। सुलतान ने अपनी ताकत-भर राष्ट्रवादियो को कुचलने के सारे उपाय किये। उसने उनके खिलाफ 'जिहाद' या धर्म-युद्ध का ऐलान कर दिया और उनसे लडने के लिए एक 'खलीफा का फौजी दस्ता' बनाया गया। मजहबी आदमी बगावत पैदा कर देने के लिए भेजे गये। जगह-जगह बलवे हुए और कुछ वक़्त तक सारे तुर्की में गृह-युद्ध छिड़ गया। यह शहर-शहर और भाई-भाई के बीच बडी बुरी लड़ाई थी और दोनो तरफ बडी बेरहमी से काम लिया गया।

इस बीच स्मर्ना में यूनानी लोग इस तरह का बर्ताव कर रहे थे मानो वे स्थायी रूप से देश के मालिक है और मालिक भी बडे जगली है। उन्होने उपजाऊ और हरी-भरी घाटियो और मैदानो को उजाड़ दिया और हजारो गृहहीन तुर्को को

सहन-शक्ति की भयंकर कसौटी बन गई। तुर्क किसी तरह डटे रहे और अन्त में यूनानी पीछे हट गये। जैसा उनका कायदा था, यूनानी फौज पीछे लौटते वक्त हर चीज को, जो उसके रास्ते में पडी, आग लगाती और बरबाद करती गई और उसने दो सौ मील तक के उपजाऊ देश को वीरान कर दिया।

सकरिया नदी की लड़ाई में तुर्क जीत तो गये, पर यह हलकी जीत थी। यह कोई अन्तिम विजय न थी, फिर भी इसे आधुनिक इतिहास की महत्वपूर्ण और निर्णायक लड़ाइयो में गिना जाता है। इसका मतलब बहाव का उलट जाना था। फिर यह पूर्व और पश्चिम के बीच होनेवाली उन बडी लड़ाइयो में से एक थी जिन्होने पिछले दो हजार वर्षो या ज्यादा समय से एशिया-माइनर की एक-एक इच मिट्टी को इंसान के खून से सीचा है।

दोनो फौजें बेदम हो रही थी, इसलिए दोनो सुस्ताने और फिर से अपना संगठन करने के लिए बैठ गईं। पर कमालपाशा की किस्मत का सितारा बुलन्द हो रहा था। फ्रासीसी सरकार ने अंगोरा के साथ सुलह करली। अंगोरा और सोवियट के साथ भी एक सुलह हो गई थी। फ्रास की मंजूरी मुस्तफा कमाल के लिए एक बडी नैतिक और भौतिक सहायता थी। इससे सीरिया की सरहदो पर की तुर्की फौजो को यूनान के खिलाफ़ लड़ने की छुट्टी मिल गई। ब्रिटिश सरकार अबतक उस कठपुतली सुलतान और खत्म हो रही इस्तम्बोल-सरकार का समर्थन कर रही थी और फ़्रांसीसी सुलह से उसे धक्का लगा।

अगस्त १९२२ ई० में, एकाएक पर बडी होशयारी से तैयारी करने के बाद, तुर्की फौज ने यूनानियो पर हमला कर दिया और उनको समुद्र में खदेड़ दिया। आठ दिनो के अन्दर यूनानियो को १६० मील पीछे हटना पड़ा; पर पीछे हटते वक्त भी रास्ते में मिलनेवाले हर तुर्की मर्द, औरत और बच्चे को मारकर उन्होने अपना बदला लिया। तुर्क भी वैसे ही बेरहम थे और बहुत कम यूनानियो को कैदी रखते थे। इन यूनानी कैदियो में यूनानी प्रधान सेनापति और उसके स्टाफ़ के लोग थे। यूनानी फौज का ज्यादातर हिस्सा स्मर्ना से समुद्र के रास्ते भाग गया, पर स्मर्ना शहर जला दिया गया।

कमालपाशा ने अपनी फौजों के साथ इस्तम्बोल की तरफ बढ़ते हुए अपनी फतह जारी रक्खी। शहर से थोडी ही दूर पर, चनक मुकाम पर, ब्रिटिश फौजो ने उसे रोक दिया और सितम्बर १९२२ में कुछ दिनो तक तुर्कों और ब्रिटेन के बीच लड़ाई छिड़ने की बात होती रही, पर अंग्रेजो ने करीब-करीब तुर्की की सारी शर्तें मानली और युद्ध बन्द करने की तजवीज या सुलहनामे (Armistice) पर दस्तखत होगये। इस सुलह-

शांतिपूर्ण थी, बढ़ रही थी। यह बापू के नेतृत्व में होनेवाला असहयोग-आन्दोलन था, और इसका एक मुख्य आधार खिलाफत का सवाल और तुर्की के साथ किया गया बुरा वर्ताव था।

इस तरह हम देखते हैं मित्र-राष्ट्र खुद तुर्की पर इस सुलह को जबरदस्ती लागू करने की स्थिति में न थे और न वे इसीके लिए तैयार थे कि तुर्की राष्ट्रवादियों द्वारा उसको खुलेआम कुचल दिया जाय। ऐसी हालत में उन्होने अपने मित्र वेनीजेलो और जहरोफ की तरफ देखा और ये दोनो यूनान की तरफ से इस काम की जिम्मेदारी उठाने के लिए पूरी तरह तैयार थे। किसीको यह उम्मीद नही था कि ये शिथिल और गिरे हुए तुर्क ज्यादा तग करेगे और एशिया माइनर का इनाम कुछ कम ललचानेवाला न था। और ज्यादा यूनानी फौजें वहाँ भेजी गई और बडे पैमाने पर यूनानी-तुर्की युद्ध शुरू हुआ। १९२० के गरमी और पतझड़ तक तो यूनानियो की जीत होती रही और उन्होने अपने सामने से तुर्कों को खदेड़ दिया। अपने टूटे-फूटे साधनो से एक जबरदस्त और बहादुर फौज तैयार करने की कमालपाशा और उसके साथियो ने रात-दिन कोशिश की। उनको मदद मिली, और वह भी ऐसे मौकेपर जबकि उनको उसकी बडी जरूरत थी। सोवियट रूस ने उनकी अस्त्र-शस्त्र यानी लड़ाई के सामान और धन से मदद की। इंग्लैण्ड इन दोनो का दुश्मन था।

ज्यो-ज्यो कमाल की ताकत बढ़ती गई, मित्र-राष्ट्रो को लड़ाई के फैसले या नतीजे के बारे में शुबहा होने लगा और उन्होने सुलह की अच्छी शर्तें पेश कीं। पर ये शर्तें भी इतनी अच्छी न थी कि कमाल के दल के लोग उन्हे मंजूर करते, इसलिए उन्होने उन्हे ठुकरा दिया। इसपर मित्र-राष्ट्रो ने यूनानी-तुर्की युद्ध से हाथ खींच लिया और अपनी उदासीनता यानी तटस्थता का ऐलान कर दिया। पहले तो उन्होने यूनानियो को इसमें फँसाया और बाद में उन्हे खन्दक में छोड़कर अलग हो रहे। यहाँतक कि फ्रास और कुछ हद तक इटली ने खुफिया तौर पर तुर्कों से दोस्ती गाँठने की कोशिश की। अग्रेज अब भी थोडे-बहुत, पर गैर-सरकारी तौर पर, यूनानियो के साथ रहे।

१९२१ की गरमी के दिनो में यूनानियो ने तुर्कों की राजधानी अंगोरा पर कब्जा करने की जबरदस्त कोशिश की। वे कस्बे पर कस्बे फतह करते और उनपर कब्जा जमाते हुए अगोरा के नजदीक तक आ पहुँचे, पर आखिर सकरिया नदी पर रोक दिये गये। इस नदी के पास, तीन हफ्ते तक, दोनो फौजो ने एक-दूसरे का जबरदस्त मुकाबिला किया; किसीको किसी तरह की छूट या मुगालता नही दिया गया और दोनो सदियो की चली आती हुई जातीय कटुता के साथ एक-दूसरे से लडीं। यह लड़ाई

यूनानियों के प्रस्ताव पर आबादियों का एक ग़ैर-मामूली अदला-बदला हुआ। अनातोलिया में जो यूनानी बच रहे थे वे यूनान भेज दिये गये और बदले में यूनान के तुर्क तुर्की में लाये गये। इस तरह करीब पंद्रह लाख यूनानियो का बदला हुआ। इन यूनानियो और तुर्कों के ज्यादातर कुटुम्ब क्रमशः अनातोलिया और यूनान में पीढियो से रहते आये थे। यह कौमो का अजीब विच्छेद था और इससे तुर्की का आर्थिक जीवन बिलकुल तितर-बितर होगया, क्योकि यूनानियो का व्यापार में बहुत ज्यादा हिस्सा था। पर इससे तुर्की और ज्यादा एक-जातीय (Homogenous) होगया। और शायद इस वक़्त यह एशिया या योरप के देशो में सबसे ज्यादा एक-जातीय है।

मैंने ऊपर कहा है कि लुसान-सन्धि से तुर्कों की एक के सिवा सब माँगें पूरी हो गईं। यह अपवाद 'विलायत' या इराक की सीमा के नजदीक का मोसल प्रदेश था। चूँकि दोनो दल इस सवाल पर एकमत नही हो सके, इसलिए यह मामला राष्ट्र-संघ के पास भेज दिया गया। मोसल अपने तेल और खासकर अपनी सैनिक स्थिति के कारण बड़ा महत्वपूर्ण था। मोसल के पहाडो पर कब्जा होने का मतलब कुछ हद तक तुर्की, इराक, फारस, यहाँतक कि रूस के काकेशश पर भी हावी होना था। साफ तौर पर तुर्की के लिए यह महत्वपूर्ण था। ब्रिटेन के लिए भी यह उतना ही महत्वपूर्ण था, क्योकि हिन्दुस्तान को जानेवाले खुश्की और हवाई रास्तो की रक्षा और सोवियट रूस के ख़िलाफ हमला या बचाव करने के लिए यह बहुत जरूरी था। अगर तुम नक़्शे में देखो तो तुम्हे मालूम होगा कि मोसल कैसी महत्वपूर्ण स्थिति में है। इस सवाल पर राष्ट्र-सघ नें ब्रिटेन के पक्ष में फैसला किया। तुर्कों नें उस फैसले को मानने से इनकार कर दिया और फिर लड़ाई की बातचीत होने लगी। उसी वक़्त, दिसम्बर १९२५ ई० में, एक नई रूसी-तुर्की सन्धि हुई थी। पर अंगोरा की सरकार ने अख़ीर में राष्ट्र-संघ का फैसला मान लिया और मोसल इराक के नये राज्य में शामिल कर लिया गया। इराक वैसे तो स्वतंत्र समझा जाता है, पर असल में यह ब्रिटेन का एक रक्षित या मातहत राज्य है और इसमें ब्रिटिश अधिकारी और सलाहकार भरे हुए हैं।

मुझे अच्छी तरह याद है कि जब ग्यारह साल पहले हम लोगो ने यूनानियो पर मुस्तफा कमाल की महान् विजय की ख़बर सुनी थी तो हम कितने खुश हुए थे। यह अगस्त १९२२ में हुआ अफियम कुराहिसार का युद्ध था, जब कमाल ने यूनानी मोर्चे को तोड़कर यूनानी फ़ौज को स्मर्ना और समुद्र में खदेड़ दिया। हममें से बहुत-से लोग उस वक़्त लखनऊ ज़िला जेल में थे और हम लोगो नें जो कुछ मिला उसीसे अपनी जेल की बैरको को सजाकर तुर्की की विजय का जलसा मनाया था और शाम को रोशनी करने की भी हल्की-सी कोशिश की थी।

नामे में मित्र-राष्ट्रो ने वादा किया कि थ्रेस में जितनी भी यूनानी फौज है वह सब देश से हटवा दी जायगी। नये तुर्की के पीछे सदा सोवियट रूस का भूत रहा और मित्र-राष्ट्र ऐसी लडाई छेडना नही चाहते थे जिसमें रूस तुर्की की मदद करे।

मुस्तफा कमाल की विजय हुई और १९१९ के मुट्ठीभर बागी महाशक्तियो के प्रतिनिधियो से बराबरी की हैसियत से मिले। इस बहादुर टुकडी को बहुतेरी परिस्थितियो से मदद मिली थी, जिनमें युद्ध के बाद की प्रतिक्रिया, मित्र-राष्ट्रो की आपसी फूट या झगडे, हिन्दुस्तान और मिस्र की बिगड़ती हुई हालत में अग्रेजो का फँस जाना, सोवियट रूस की मदद और अग्रेजो द्वारा की हुई बेइज्जती ये बाते मुख्य थी। पर इन सबके ऊपर उनकी विजय का श्रेय उनके फौलादी इरादे, आजाद होने के उनके निश्चय और तुर्की किसानो और सिपाहियो की सैनिक यानी लड़ाकू विशेषताओ को ही है।

लुसान में एक शान्ति-सम्मेलन हुआ और कई महीनों तक चलता रहा। इंग्लैण्ड के घमण्डी और शासनप्रिय प्रतिनिधि लार्ड कर्जन और बहरे एवं फूले हुए इस्मतपाशा के बीच अच्छी-खासी पैतरेबाजी हुई। इस्मातपाशा मुस्कराता रहता था और जो कुछ सुनना नही चाहता था उसे सुनने से इनकार कर देता था, जिससे कर्जन बड़ा चिढ़ता था। कर्जन को हिन्दुस्तान के वाइसराय वाले तरीको से काम लेने की आदत पड़ गई थी, वह यो भी शान-शौकत का आदमी था; इसलिए उसने उन्हीं हाकिमाना तरीको से काम लिया जिनका बहरे और मुस्कराते हुए इस्मत पर कोई असर नही पड़ा। चिढ़कर और झुझलाकर कर्जन लौट आया और सम्मेलन टूट गया। बाद में फिर सम्मेलन हुआ, पर इस बार कर्जन की जगह दूसरा ब्रिटिश प्रतिनिधि आया। सिर्फ एक को छोडकर 'नेशनल पैक्ट' में बताई हुई तुर्की की सारी शर्तें मान ली गईं और जुलाई १९२३ में लुसान की सन्धि पर दस्तखत होगये। इस बार फिर सोवियट रूस के समर्थन और मित्र-राष्ट्रो की आपसी ईर्ष्या से तुर्की को मदद मिली।

कमालपाशा, गाजी यानी विजयी, को उन सब बातो में कामयाबी हुई जिनके लिए उसने लड़ाई शुरू की थी। शुरू से ही उसने अपनी कम-से-कम माँगो का ऐलान कर दिया था और विजय की घडी में भी उनपर टिका रहा। उसने अरबस्तान, इराक, फिलस्तीन और सीरिया वगैरा गैरतुर्की मुल्को पर तुर्की साम्राज्य का खयाल बिलकुल छोड दिया था। वह सिर्फ तुर्कों के देश यानी खास तुर्की को आजाद करना चाहता था। वह नहीं चाहता था कि तुर्क दूसरी कौमो के बारे में दस्तन्दाजी करे; पर वह यह भी नही चाहता था कि तुर्की में किसी तरह का विदेशी दखल हो। इस तरह तुर्की एक सयुक्त और एक ही जाति यानी तुर्को का देश बन गया। कुछ वर्षों के बाद,

भद्दे बर्ताव और जान-बूझकर कठपुतली सुलतान को आगे बढ़ाने की इस कोशिश ने तुर्की में एक सनसनी पैदा करदी और तुर्कों को क्रुद्ध कर दिया। उन लोगो को यह शुबहा हो गया कि कहीं देशद्रोही सुलतान और अंग्रेजो के बीच फिर कुछ साजिश तो नही हो रही है। मुस्तफा कमाल ने मौका देखकर इस ख़याल का फ़ायदा उठा लिया और नवम्बर १९२२ ई० में नेशनल असेम्बली से सुलतानियत को तोड़ देने का फैसला करा लिया। लेकिन खुद खिलाफ़त जिन्दा रही और यह ऐलान किया गया कि वह उथमान (उस्मान) घराने के हाथ में रहेगी। इसके बाद ही भूतपूर्व सुलतान वहीदउद्दीन के खिलाफ भारी देश-द्रोह के जुर्म में मुकदमा चलाया गया। उसने सार्व-जनिक मुकदमे का सामना करने की बनिस्बत देश से भाग जाना ही अच्छा समझा। वह एक अंग्रेजी एम्बुलेसकार (मरीजो या घायलो को ढोने वाली मोटर गाडी) में छिपकर भाग गया। यह कार उसे एक ब्रिटिश लड़ाकू जहाज तक पहुँचा आई। नेशनल असेम्बली ने उसके चचेरे भाई अब्दुलमजीद को नया खलीफ़ा चुना, जो बिना किसी राजनैतिक शक्ति के एक दिखाऊ धर्माध्यक्ष था।

दूसरे साल, १९२३ में, बाकायदा तुर्की प्रजातंत्र का ऐलान हुआ और अंगोरा राजधानी बनाई गई। मुस्तफ़ा कमाल राष्ट्रपति चुना गया और उसने सारी ताकत अपनेमें केन्द्रित करली, यानी डिक्टेटर (सर्वेसर्वा) बन गया। असेम्बली उसके आदेशों या हुक्मो का पालन करती थी। अब उसने बहुतेरे पुराने रिवाजो पर हमला करना शुरू किया। वह मजहब के बारे में कुछ ज्यादा शरीफाना सलूक नही करता था। बहुत-से लोग, खास तौरपर मजहबी लोग, उसके तरीकों और उसकी डिक्टेटरशिप से असंतुष्ट होगये। ये लोग नये खलीफा के, जो खुद एक शान्त और सीधा आदमी था, इर्द-गिर्द जमा होगये। कमालपाशा को यह सब पसन्द न आया। उसने खलीफ़ा के साथ बहुत हलका बर्ताव किया और अगला बड़ा कदम बढ़ाने के लिए उचित अवसर का इन्तजार करने लगा।

फिर उसे जल्द ही यह मौका मिल गया, और वह कुछ अजीब ढंग से आया। लन्दन से आगाखाँ और एक भूतपूर्व हिन्दुस्तानी जज अमीरअली दोनों का सयुक्त पत्र उसे मिला। इन लोगो ने लाखो-करोडो हिन्दुस्तानी मुसलमानो के नाम पर बोलने का दावा करते हुए खलीफा के साथ किये हुए बर्ताव का विरोध किया और अनुरोध किया कि उसकी मर्यादा की इज्जत की जानी चाहिए और उसके साथ ज्यादा अच्छा बर्ताव किया जाना चाहिए। इन दोनो ने इस खत की नकल इस्तम्बोल के कई अखबारो को भी भेज दी और असली पत्र के अंगोरा पहुँचने के पहले ही नक़ल इन अखबारो में छप गई। इस खत में कोई अनुचित बात न थी; पर कमालपाशा ने इस

: १५६ :

मुस्तफ़ा कमाल का अतीत से विच्छेद

८ मई, १९३३

हमने हार के अँधेरे जमाने से लेकर विजय के दिनतक तुर्की की किस्मत का मुलाहज़ा किया है और बडे ताज्जुब के साथ देखा है कि मित्र-राष्ट्रो, ख़ासकर अग्रेजो, नें उनको कुचलने और कमज़ोर कर देने के लिए जिन उपायो का सहारा लिया उनसे तुर्कों पर बिलकुल उलटा असर पड़ा और उन उपायो ने राष्ट्रवादियो को मजबूत कर दिया और आगे के प्रतिरोध लिए उन्हे फौलादी बना दिया। मित्र-राष्ट्रो की तुर्की के टुकडे करने की कोशिश, स्मर्ना में यूनानी फौजो का भेजा जाना, मार्च १९२० का ब्रिटेन का वह आकस्मिक पैतरा, जब राष्ट्रवादी नेता गिरफ़्तार करके जलावतन कर दिये गये, राष्ट्रवादियो के ख़िलाफ़ अग्रेजो का कठपुतली सुलतान का समर्थन—इन सब बातो ने तुर्कों का गुस्सा और जोश बढ़ाने में मदद की। किसी बहादुर कौम को कुचलने और अपमानित करने का लाजमी तौर पर यही नतीजा या असर होता है।

मुस्तफा कमाल और उसके साथियो ने जो फतह हासिल की थी, उसका क्या किया? कमालपाशा पुराने रिवाजो से चिपके रहने में विश्वास नही रखता था; वह तुर्की को पूरे तौरपर बदल डालना चाहता था। पर अपनी फतह के बाद यद्यपि वह ख़ूब लोकप्रिय था फिर भी उसे बहुत सावधानी से धीरे-धीरे आगे बढ़ना पड़ा, क्योकि लम्बे जमानें से चली आ रही परम्परा और धर्म पर खडे हुए पुराने तरीको को ख़त्म कर देना आसान काम नहीं है। वह सुलतानियत और ख़िलाफ़त दोनो को ख़त्म कर देना चाहता था, पर उसके बहुत-से साथी उससे सहमत न थे और सामान्य तुर्की जनता के खयालात भी शायद ऐसी तब्दीली के ख़िलाफ़ थे। हाँ, कठपुतली सुलतान वहीदउद्दीन को कोई नही चाहता था। उसे लोग ऐसा देशद्रोही समझते थे जिसने अपनें देश को विदेशियो के हाथ बेच देने की कोशिश की थी और उससे नफरत करते थे। बहुत-से लोग एक तरह की वैधानिक सुलतानियत और ख़िलाफ़त चाहते थे और असली सत्ता या ताकत नेशनल असेम्बली के हाथ में रखने का समर्थन करते थे। कमालपाशा को ऐसा कोई समझौता पसन्द न था, इसलिए वह मौके का इन्तजार करने लगा।

सदा की तरह अग्रेजो की वजह से वह मौका जल्द आगया। जब लुसान के शान्ति-सम्मेलन की तैयारी हो रही थी तब ब्रिटिश सरकार ने इस्तम्बोल में सुलतान के पास न्यौता भेजा और शान्ति की शर्तें तय करने के लिए अपने प्रतिनिधि भेजने को लिखा और सुलतान से यह अनुरोध भी किया कि यह न्यौता अगोरा को भी दोहरा दिया जाय। अगोरा की राष्ट्रीय सरकार के साथ (जिसने लड़ाई जीती थी) इस तरह के

है। वह अपने देश के लिए या खुद अपने लिए इस्लाम का नेतृत्व नही चाहता था। मिस्र और हिन्दुस्तान के लोगो के अनुरोध पर भी उसने खलीफा बनने से इनकार कर दिया था। उसकी नज़र पश्चिम में योरप की तरफ थी और वह चाहता था कि जितनी जल्द मुमकिन हो तुर्की पश्चिमी रंग में रग जाय। वह पैन-इस्लामी यानी सब मुसलमान देशो का एक संगठन बनाने के ख़याल के बिलकुल विरुद्ध था। उसके सामने पैन-टयूरेनियनिज्म यानी टयूरन या तुर्क जाति की तरक्की का नया आदर्श था। मतलब यह कि इस्लाम के लम्बे-चौडे पर शिथिल अन्तर्राष्टीय आदर्श पर उसने शुद्ध राष्ट्रीयता के ज्यादा मजबूत और ठोस बन्धनो को तरजीह दी।

मै तुम्हे बता चुका हूँ कि अब तुर्की एक-जातीय देश होगया था, और उसमें विदेशी तत्त्व बहुत कम रह गये थे। पर पूर्वी तुर्की में इराक और फारस की सरहद पर अब भी एक गैर-तुर्की जाति थी। यह एक तरह की ईरानी जबान बोलनेवाली बहुत पुरानी जाति थी जिसे कुर्द कहते थे। कुर्दिस्तान, जिसमें ये लोग रहते थे, कई टुकडों में बँटकर तुर्की, फारस, इराक और मोसल प्रदेश में मिल गया था। तीस लाख कुर्दों में से करीब आधे अब भी खास तुर्की में थे। १९०८ की नौजवान तुर्क क्रान्ति के बाद ही उनमें नये ढंग का राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था। वर्साई के शान्ति-सम्मेलन में भी कुर्द प्रतिनिधियो ने राष्ट्रीय स्वतत्रता यानी कौमी आजादी की माँग की थी।

१९२५ ई० में तुर्की के कुर्द प्रदेश में एक बड़ा बलवा होगया। यह वही वक्त था जब मोसल के मामले को लेकर इंग्लैण्ड और तुर्की में तनातनी बढ़ रही थी। मोसल खुद ही कुर्द का एक प्रदेश था और उस हिस्से से लगा हुआ था जिसमें बलवा खड़ा हुआ था। तुर्को ने स्वभावत. यह अन्दाज लगाया कि इस बलवे के पीछे इंग्लैण्ड का हाथ है और ब्रिटिश एजेण्टो ने कमालपाशा के सुधारो के ख़िलाफ़ कट्टर मजहबी कुर्दो को भड़काया है। यह कहना मुमकिन नहीं है कि ब्रिटिश एजेण्टो का इस बलवे से कोई ताल्लुक था या नहीं, गोकि यह बात स्पष्ट थी कि उस मौके पर तुर्की में कुर्द बलवे का ब्रिटिश सरकार ने स्वागत किया। जो हो, इतना तो साफ था कि इस बलवे का ज्यादातर ताल्लुक मजहबी कट्टरता से था और यह भी साफ है कि इसमें कुर्द राष्ट्रीयता का भी बड़ा हिस्सा था। संभवतः राष्ट्रीय भाव ही सबसे जोर पर था।

कमालपाशा ने तुरन्त ही आवाज बुलन्द की कि तुर्की कौम खतरे में है, क्योंकि कुर्दों के पीछे इंग्लैण्ड का हाथ है। उसने नेशनल असेम्बली से एक कानून पास कराया। इस कानून में कहा गया था कि बोलकर या लिखकर लोगो को भड़काने के लिए मज़हब का इस्तेमाल करना ज़बरदस्त देश-द्रोह का जुर्म समझा जायगा और उसके लिए

मौक़े को हाथ से जाने देना अच्छा न समझा और इस ख़त को लेकर एक आन्दोलन खड़ा कर दिया। उसने ऐलान किया कि यह तुर्कों में भेद यानी तफरका पैदा करने की दूसरी अंग्रेज़ी साज़िश है। कहा गया कि आगाख़ाँ अंग्रेज़ो का ख़ास एजेण्ट है; वह इंग्लैण्ड में रहता है, उसकी ख़ास दिलचस्पी अंग्रेज़ी घुड़दौड़ में है और अंग्रेज़ राजनीतिज्ञो से उसका ख़ूब हेलमेल है। वह कट्टर मुसलमान भी नही है और मुसलमानो के एक फ़िरके का प्रधान है। यह भी कहा गया कि महायुद्ध के ज़माने में अंग्रेज़ो ने पूर्व में पासग बराबर रखने के लिए एक दूसरे सुलतान—ख़लीफ़ा का रूप देकर उसका उपयोग किया और प्रचार करके उसकी शान और इज्ज़त बढ़ाई तथा उसे हिन्दुस्तानी मुसलमानो का नेता बनाने की कोशिश इसलिए की कि उन्हे क़ब्ज़े में रक्खा जा सके। अगर आगाख़ाँ को ख़लीफ़ा से इतनी हमदर्दी थी तो उसने युद्ध के ज़माने में, जब अंग्रेज़ो के ख़िलाफ़ 'जिहाद' या पवित्र ऐलान किया गया था, ख़लीफ़ा का समर्थन क्यो नहीं किया? उस वक्त उसने ख़लीफ़ा के विरुद्ध अंग्रेज़ो का साथ दिया था।

इस तरह कमालपाशा ने इस सयुक्त पत्र के ऊपर एक तूफ़ान खड़ा कर दिया। लन्दन से यह ख़त भेजते वक्त इसके लेखको ने इन नतीजो का ख़याल भी न किया होगा। कमालपाशा ने आगाख़ाँ के बारे में जो बाते कही उनसे लोग आगाख़ाँ को अच्छा नहीं समझ सकते थे। जिन गरीब इस्तम्बोली सम्पादको ने इस ख़त को छपा दिया था वे देशद्रोही और इंग्लैण्ड के एजेण्ट बताये गये और उन्हे सख्त सज़ायें दी गईं। इस तरह लोगो में गहरा जोश और दूसरी साज़िश का ख़ौफ़ पैदा करके कमालपाशा ने नेशनल असेम्बली में ख़िलाफ़त को तोड देने का एक बिल पेश कराया जो उसी रोज़, मार्च १९२४ ई० में, पास होगया। यो आधुनिक रगमच से एक पुरानी संस्था या परम्परा, जिसने इतिहास में बहुत बड़ा पार्ट खेला था, ख़त्म होगई। अब कोई 'ईमानदारो का सरदार', कम-से-कम जहाँतक तुर्की का ताल्लुक था, नही रह गया, क्योकि तुर्की एक दुनियावी राज्य बन गया; यानी राज्य का किसी मज़हब के प्रति कोई आग्रह नहीं रह गया।

कुछ ही वक़्त पहले, जब महायुद्ध के बाद ख़िलाफ़त के प्रति अंग्रेज़ो ने धमकी से भरा रुख़ इख़्तियार किया था, हिन्दुस्तान में ज़बरदस्त तहरीक हुई थी। सारे देश में ख़िलाफ़त कमेटियाँ बन गई थीं और मुसलमानो के इस आन्दोलन में हिन्दुओ की बडी तादाद इस ख़याल से शामिल होगई थी कि ब्रिटिश सरकार इस्लाम के प्रति अन्याय कर रही है। अब तुर्को ने ख़ुद जान-बूझकर ख़िलाफ़त का ख़ात्मा कर दिया था, इस्लाम बिना ख़लीफ़ा के होगया था। कमालपाशा की यह निश्चित राय थी कि तुर्की को मज़हब की बिना पर अरब देशो या हिन्दुस्तान से कोई रिश्ता नहीं रखना

सब विरोध को ख़त्म कर देने के बाद मुस्तफा कमाल अब एकमात्र डिक्टेटर था और इस्मतपाशा उसका दाहिना हाथ था। अब उसने अपने कई विचारो को, जो अभीतक उसके दिमाग़ में भरे हुए थे, अमली शक्ल देना शुरू किया। उसने बहुत छोटी बात से सुधार शुरू किया पर वह एक नमूने की बात थी। उसने 'फेज़' यानी तुर्की टोपी पर हमला किया, जो तुर्कों और कुछ हद तक मुसलमानो का प्रतीक या निशान हो गई थी। उसने फौज के साथ बहुत सम्हलते हुए शुरुआत की। फिर भी वह ख़ुद हैट लगाकर जनता के सामने उपस्थित हुआ, जिससे भीड़ को बड़ी हैरत हुई और उसने 'फेज़' पहनने को अपराध करार देकर उसका ख़ात्मा किया। टोपी को इतना ज्यादा महत्व देना महज एक पागलपन मालूम होता है। ज्यादा महत्व की बात यह है कि सिर के अन्दर क्या है, न कि वह जो सिर के ऊपर है। पर कभी-कभी छोटी-छोटी बातें बडी बातो का प्रतीक या निशान बन जाती है और कमालपाशा ने गरीब 'फेज़' के रूप में पुराने रिवाज और कट्टरता पर हमला किया। इस सवाल पर दंगे हुए। उन्हें दबा दिया गया और विरोधियों और दंगाइयो को सख्त सजायें दी गईं।

पहले पैंतरे में फतह पाने के बाद मुस्तफा कमाल ने आगे एक कदम और रक्खा। उसनें सब मठ और धर्मस्थान बन्द कर दिये या तोड़ दिये और उनका सारा धन राज्य के लिए ज़ब्त कर लिया। जो दरवेश इन स्थानों या मठों में रहते थे उन्हे अपनी रोज़ी के लिए काम और मेहनत करने को कहा गया। यहाँतक कि उनका ख़ास तरह की पोशाक पहनना भी बन्द कर दिया गया।

इसके भी पहले मुसलमानी मज़हबी स्कूल तोड़ दिये गये और उनकी जगह राज्य के ग़ैरमजहबी स्कूल क़ायम कर दिये गये थे। तुर्की में बहुत-से विदेशी स्कूल-कालेज थे। उनको भी अपनी मज़हबी तालीम बन्द करने को मजबूर होना पड़ा। अगर वे इनकार करते तो उन्हें एकदम से बन्द कर दिया जाता। इन विदेशी स्कूलो में तुर्की विषय अनिवार्य कर दिये गये।

कानून में भी ऊपर से नीचे तक तब्दीली हुई। अभीतक बहुतेरी बातो में कानून कुरान की शिक्षाओं पर, जिसे 'शरियत' कहते है, आश्रित था। अब स्विस सिविल कोड (स्वीजरलैंड का दीवानी कानून), इटालियन पेनल कोड (इटली का दण्ड-विधान) और जर्मन कमर्शल कोड (जर्मनी का व्यापारिक विधान) का ज्यादातर हिस्सा लेकर कानून बनाया गया। इसका मतलब व्यक्तिगत क़ानून (Personal law), जिसके मुताबिक शादी, विरासत वगैरा का काम चलता था, में पूरी तब्दीली हो जाना था। इन बातों के बारे में पुराना इस्लामी क़ानून बदल दिया गया। एकसाथ कई औरतो से शादी करने का रिवाज उठा दिया गया।

सबसे कडी सजा दी जायगी। मस्जिदो में उन मजहबी बातो का पढाना भी बन्द कर दिया गया जिनसे प्रजातत्र के प्रति लोगो की भक्ति या वफादारी में कुछ फर्क आने की सभावना थी। इसके बाद उसने बडी बेरहमी से कुर्दों को कुचल दिया और हजारो की तादाद में उनका फैसला करने के लिए स्वतत्रता की खास अदालते (Special Tribunals of Independence) कायम की। शेख सईद, डाक्टर फुआद और दूसरे बहुत-से कुर्द नेता फाँसी पर चढ़ा दिये गये। वे ओठो पर कुर्दिस्तान की आजादी का नाम लेते-लेते मरे।

इस तरह तुर्कों ने, जो कुछ ही दिन पहले अपनी आजादी के लिये लड़ रहे थे, अपनी आजादी की माँग करनेवाले कुर्दों को कुचल दिया। यह अजीब बात है कि कैसे रक्षणात्मक राष्ट्रीयता उग्र और आक्रामक राष्ट्रीयता (Aggressive Nationalism) में तब्दील हो जाती है और किस तरह आजादी की लड़ाई दूसरो को गुलाम बनाने और दूसरो पर प्रभुता कायम करनें की शक्ल में बदल जाती है। १९२९ ई० में फिर कुर्दों का एक बलवा हुआ और फिर वह, कम-से-कम उस वक्त, कुचल दिया गया। हमेशा के लिए तो भला कोई उस कौम को कैसे कुचल सकता है, जो आजादी की माँग पर डटी हुई है और उसकी कीमत चुकाने को तैयार है ?

इसके बाद कमालपाशा ने उन सब लोगो की तरफ नजर डाली जिन्होनें नेशनल असेम्बली में या उसके बाहर उसकी नीति का विरोध किया था। एक डिक्टेटर की ताकत या सत्ता की भूख सदा उसके इस्तेमाल के साथ बढ़ती जाती है; वह कभी सन्तुष्ट या तृप्त नहीं होती, न वह किसी क़िस्म की मुख़ालफत बरदाश्त कर सकती है। मुस्तफा कमाल ने भी सब तरह के विरोध पर नाराजगी जाहिर की और इसी वक़्त किसी धर्मान्ध द्वारा उसका ख़ून करनें की कोशिश से मामला बिलकुल खराब होगया। स्वतत्रता की अदालते सारे तुर्की में घूम-घूमकर उन सब लोगो को सख़्त सजा देने लगीं जो गाजी पाशा की मुख़ालफत करते थे। यहाँतक कि असेम्बली के बडे-से-बडे लोग और कमाल के पुरानें नेशनलिस्ट साथी भी, विरोध में होनें पर, नहीं बख़्शे गये। रऊफ बेग, जिसे अग्रेजो ने माल्टा को निर्वासित या जलावतन कर दिया था, और जो बाद में तुर्की का प्रधान मत्री हुआ, अपनी गैरहाजिरी में ही दण्डित हुआ। बहुत-से दूसरे महत्वपूर्ण नेता और सिपहसालार, जो आजादी की लड़ाई में बहादुरी के साथ लडे थे, बेइज्जत किये गये और उनको सजा दी गई और कुछ फांसी पर चढा दिये गये। उनके खिलाफ इलजाम यह लगाया गया कि उन्होनें राज्य की रक्षा के विरुद्ध कुर्दों के साथ और शायद पुराने दुश्मन इगलैण्ड के साथ भी षड्यत्र किया था।

और बड़े गंभीर तथा पवित्र दिखाई देनेवाले शासक और अधिकारी करते हैं।

एक छोटी-सी, पर तुर्की के शासकों के नये दृष्टिकोण को जाहिर करनेवाली, तब्दीली यह हुई कि सलाम करने के रिवाज को धीरे-धीरे हटा दिया गया। यह कहा गया कि 'हैण्ड शेकिंग' (हाथ मिलाना) स्वागत का ज्यादा सभ्य तरीका है और आगे से उसीको अपनाना चाहिए।

इसके बाद कमालपाशा ने तुर्की भाषा, या जैसा कि वह कहता था उसमें आये हुए विदेशी तत्वों पर एक जबरदस्त हमला किया। तुर्की जबान अरबी लिपि में लिखी जाती थी, जो ऊर्दू या फारसी लिपि से मिलती-जुलती थी। कमालपाशा ने इन दोनों को विदेशी और मुश्किल बताया। ऐसे ही सवाल मध्यएशिया में सोवियट यूनियन के सामने भी पेश हुए थे, क्योंकि कई तातारी कौमों की लिपि अरबी या फ़ारसी से ली हुई लिपि थी। १९२४ में सोवियट ने इस सवाल पर विचार करने के लिए बाकू में एक कान्फ्रेंस की और यह तय हुआ कि मध्यएशिया की मुख्तलिफ तातारी जबानों के लिए लैटिन लिपि ग्रहण की जाय। इसका मतलब यह कि जबानें तो वही रहीं पर वे लैटिन या रोमन लिपि में लिखी जाने लगीं। चिन्हों की एक खास प्रणाली निकाली गई, जिससे इन जबानों के खास स्वरों या शब्दों को ठीक तौर से जाहिर किया जा सके। मुस्तफा कमाल का भी ध्यान इस तरीके की तरफ गया और उसने इसे सीखा। उसने इसका प्रयोग तुर्की जबान पर किया और इसके पक्ष में व्यक्तिगत रूप से एक जबरदस्त आन्दोलन शुरू कर दिया। कई वर्षों के प्रचार और तालीम के बाद क़ानून के जरिये एक तारीख़ मुकर्रर करदी गई जिसके बाद अरबी लिपि का इस्तेमाल क़ानूनन बन्द कर दिया गया और उसकी जगह लैटिन लिपि लाज़िमी या अनिवार्य कर दी गई। अखबार, किताबों और दूसरी सब चीजों का लैटिन लिपि में छपना जरूरी होगया। १६ से ४० वर्ष की उम्र के हर व्यक्ति को स्कूल में जाकर लैटिन लिपि सीखनी पड़ी। जो अधिकारी इसे नहीं जानते थे उन्हें बर्खास्त किया जा सकता था। अपनी सजा पूरी करनें के बाद भी कैदी तब तक न छोड़े जाते जबतक वह नई लिपि सीख न लेते। एक डिक्टेटर, फिर अगर लोकप्रिय हुआ तो, कहीं निकलने का रास्ता नहीं देता। शायद थोड़ी ही सरकारें यों जनता की जिन्दगी में इतना ज्यादा दखल देने की हिम्मत करेंगी।

इस तरह तुर्की में लैटिन लिपि कायम होगई, पर जल्दी ही दूसरी तब्दीली आई। पता चला कि अरबी और फारसी शब्द इस लिपि में आसानी से नहीं लिखे जा सकते। उनके खास स्वर या 'नुआंन्स' (nuances) यानी भावों के सूक्ष्म अन्तर इसमें जाहिर नहीं किये जा सकते। शुद्ध तुर्की शब्द इतने अच्छे या संस्कृत

दूसरा परिवर्तन, जो पुराने मजहबी रिवाजो के खिलाफ गया, इनसान की शक्ल-सूरत को लेकर ड्राइग, चित्रकला और मूर्तिकला को बढाना या उत्साहित करना था। इस्लाम इस चीज को नही मानता। मुस्तफा कमाल ने इस काम के लिए, लडके-लडकियो को कला सिखानेवाले स्कूल खोले।

'नौजवान तुर्क' आन्दोलन के जमाने से ही तुर्की स्त्रियो ने आजादी की लडाई में बडा महत्वपूर्ण हिस्सा लिया था। कमालपाशा उनको हर तरह के बन्धनो से छुडाकर आजाद करने के लिए बडे उत्सुक थे। एक 'नारी-अधिकार रक्षण सभा' यानी स्त्रियो के हकूक को महफूज रखनेवाली सभा खोली गई और उनके लिए कई कामो या पेशो के दरवाजे खोल दिये गये। पहले परदा और घूंघट पर जोरदार हमला किया गया और दोनो बडी तेजी के साथ गायब होगये। स्त्रियो को घूंघट फाड फेंकने के लिए सिर्फ मौका और सहूलियत देने की जरूरत है। कमालपाशा ने उनको यह मौका दिया और वे बाहर निकल आई। उसने यूरोपियन नाच को बडा उत्तेजन दिया। वह न सिर्फ खुद इसका शौकीन था बल्कि उसकी समझ से यह औरतो की आजादी और पाश्चात्य सभ्यता का प्रतिनिधित्व था। हैट और नृत्य प्रगति और सभ्यता के नारे बन गये। ये पश्चिम के मामूली प्रतीक थे, पर कम से कम उन्होने, सतहपर तो खूब काम किया और तुर्की ने अपनी टोपी, अपनी पोशाक और अपनी जिन्दगी का तरीका बदल दिया। परदानशीन औरतो की पीढी-की-पीढ़ी चन्द सालो के बीच वकीलो, मास्टरो, डाक्टरो और जजो में तब्दील होगई। यहाँतक कि इस्तम्बोल की सडको पर पुलिस औरतें भी है। यह देखने में बडा मजा आता है कि एक चीज दूसरे पर कैसे असर डालती है। लैटिन वर्णमाला को मजूर कर लेने से तुर्की में टाइपराइटरो का इस्तेमाल बहुत ज्यादा बढ गया और इसका मतलब यह हुआ कि ज्यादा शार्टहैड टाइपिस्टो की जरूरत हुई, जिससे स्त्रियो को भी ज्यादा नौकरियाँ मिलने लगी।

जहा लडको को मजहबी मदरसो में रटकर सब कुछ याद कर लेने का पुराना तरीका सिखाया जाता था वहाँ उनको मुख्तलिफ तरीको पर अपना विकास करके आत्मविश्वासी और योग्य नागरिक बनाने पर जोर दिया जाने लगा। एक उल्लेखनीय सस्था 'शिशु-सप्ताह' थी। कहा जाता है कि हर साल, एक हफ्ते तक, हरेक सरकारी अधिकारी हटा दिये जाते और उनकी जगह लडके काम करते और सारे राज्य का इन्तजाम लडको के जरिये चलाया जाता। मै नही जानता कि वह व्यवस्था किस तरीके पर की जाती है, पर यह आकर्षक धारणा यानी अपनी तरफ खींचनेवाला खयाल है और मुझे विश्वास है कि कुछ लडके चाहे कितने ही बेवकूफ और अनुभवहीन हो, वे उससे ज्यादा बेवकूफी नही कर सकते जितनी हमारे बडी उम्र के मनहूस

नहीं है और न वह उन बडी तब्दीलियो के पक्ष में है जो सोवियट रूस में हुई है। इसलिए यद्यपि उसकी सोवियट रूस से राजनैतिक दोस्ती है, पर आर्थिक दृष्टि से वह साम्यवाद से दूर रहता है। ऐसा जान पड़ता है कि उसके राजनैतिक और सामाजिक विचार महान् फ्रेंच राज्यक्रान्ति के अध्ययन से बनें है।

पेशेवर वर्ग को छोडकर अभीतक तुर्की में कोई जोरदार मध्यमवर्ग नही है। यूनानियो ओर दूसरे विदेशी वर्गो के देश के बाहर भेज दिये जाने से व्यापारिक जीवन कमजोर पड़ गया है। पर तुर्की सरकार अपनी आर्थिक आजादी को कुरबान करने की जगह राष्ट्रीय गरीबी और धीरे-धीरे होनेवाले औद्योगिक विकास को कहीं ज्यादा पसद करती है। चूंकि उसे डर है कि ज्यादा तादाद में विदेशी पूंजी देश में आने से, आर्थिक आजादी को कुरबान करना पडेगा और बाद में उसकी वजह से विदेशो की लूट जारी हो जायगी, इसलिए उसने विदेशियो को उद्योग-व्यवसाय खोलने के मामले में अनुत्साहित किया है। विदेशी माल पर भारी चंगी लगाई गई है। कई उद्योगो का राष्ट्रीयकरण होगया है, यानी जनता की तरफ से सरकार उनपर कब्जा रखती और उन्हे चलाती है। रेलवे तेजी से बन रही है।

खेती में कमालपाशा की खासतौर पर दिलचस्पी है, क्योकि तुर्की किसान तुर्की राष्ट्र और फौज की रीढ-सा रहा है। नमूने के खेत (माडल फार्म) बनाये गये है; ट्रैक्टरो (इजिन से चलनेवाले बडे हलो) का प्रचार किया गया है और किसानो की सहयोग-समितियो को उत्तेजन दिया गया है।

आज, बाकी दुनिया की तरह, तुर्की भी महान् मंदी के चक्कर में फँसा हुआ है और अपनी गुजर करना उसके लिए मुश्किल होरहा है। गाजीमुस्तफ़ा कमाल पाशा देश का सर्वेसर्वा बना हुआ है, और यद्यपि कभी-कभी जहाँ-तहाँ बलवे और दगे हो जाते है पर कोई ज्यादा जोरदार विरोध नहीं दिखाई देता है। कमाल १८८० में पैदा हुआ था और इस वक्त भी जीवन के मध्यान्ह में है और उसके सामने कई वर्षो का काम फैला हुआ है।

: १६० :

हिन्दुस्तान गाँधीजी का अनुसरण करता है

११ मई, १९३३

अब मैं तुम्हे हिन्दुस्तान की हाल की घटनाओ के बारे में कुछ बताऊँगा। स्वभावतः दूसरे मुल्को में होनेवाली घटनाओ की बनिस्बत इनमें हमारी ज्यादा दिल-चस्पी है, और इसलिए मुझे अपने ऊपर नियंत्रण रखना पडेगा कि कहीं मै बहुत ज्यादा

नही थे, वे ज्यादा रूखे, कर्णकटु, सीधे और जोरदार थे और नई लिपि में आसानी से लिखे जा सकते थे। इसलिए यह तय हुआ कि तुर्की जबान से अरबी फारसी के शब्द निकाल दिये जायँ और उनकी जगह पर शुद्ध तुर्की शब्द रक्खे जायँ। इस फैसले के पीछे एक राष्ट्रीय कारण भी था। जैसा मै तुम्हे बता चुका हूँ, कमालपाशा जहाँ तक मुमकिन हो, तुर्की को अरबी और पूर्वी प्रभावो से अलग रखना चाहता था। अरबी और फारसी शब्दो और जुमलो और मुहावरो से भरी हुई पुरानी तुर्की जबान शाही उस्मानी दरबार की शानशौकत से भरी जिन्दगी के लिए ठीक हो सकती थी, पर नये जोरदार तुर्की प्रजातन्त्र के लिए वह ठीक नहीं समझी गई। इस तरह अच्छे और मँजे हुए शब्द छोड दिये गये और विद्वान प्रोफेसर और दूसरे लोग किसानो की जबान सीखने और पुरानी तुर्की जबान से शब्दो की तलाश करने के लिए गाँवो में गये। अभीतक तब्दीली हो रही है। उत्तरी हिन्दुस्तान में हमारे लिए ऐसी तब्दीली का मतलब पुराने दरबारी जीवन की एक यादगार-सी लखनऊ और दिल्ली की अलकृत पर बनावटी हिन्दुस्तानी को छोड़कर बहुतेरे ग्रामीण या 'गँवारू' शब्दों को ग्रहण, करना होगा।

भाषा की इन तब्दीलियो की वजह से शहरो और आदमियो के नामो में भी तब्दीली हुई। जैसा तुम जानती हो, अब कुस्तुनतुनिया इस्तम्बोल हो गया है, अंगोरा अकारा बन गया है और स्मर्ना अब इस्मीर है। तुर्की में आदमियो के नाम ज्यादातर अरबी से लिये होते हैं। मुस्तफा कमाल खुद एक अरबी नाम है। नई प्रवृत्ति शुद्ध तुर्की नाम रखने की चल पडी है।

एक और तब्दीली, जिससे आफत और मुसीबत आई, यह थी कि नमाज और अर्जा भी तुर्की जबान में होने का कानून बना दिया गया। मुसलमान सदा से नमाज मूल अरबी में ही पढते रहे हैं; आज भी हिन्दुस्तान में उसकी यही सूरत है। इसलिए कितने ही मौलवियो और मस्जिदो के मुहाफिजो ने कहा कि यह अनुचित है और उन्होंने अरबी में ही नमाज पढना जारी रक्खा। इस सवाल पर कई दंगे हुए और अब भी होते रहते हैं, पर कमालपाशा की मातहती में तुर्की सरकार ने दूसरे विरोधो की तरह इसे भी कुचल दिया है।

पिछले दस वर्षो की इन महान् सामाजिक उथल-पुथल ने जनता की जिन्दगी को बिलकुल बदल दिया है और पुराने रिवाजो और मजहबी बातो से अलग, एक नई पीढी का विकास हो रहा है। गोकि ये तब्दीलियाँ काफी बडी और महत्वपूर्ण हैं, पर उनसे देश के आर्थिक जीवन में कुछ ज्यादा फर्क नही पड़ा है। सिरे पर की चंद तब्दीलियो के अलावा उसका आधार वही है जो पहले था। कमालपाशा अर्थशास्त्री

अगर तुम इसका खयाल रक्खो तो बाद की राजनैतिक घटनाओ के समझने में तुम्हे मदद देगी। देश में एक उग्र या सैनिक 'स्पिरिट' थी जो मुख्तलिफ सूरतों में अपनेको जाहिर कर रही थी। उद्योग-धंधों में लगे हुए मजूर अपने मजदूर-संघ बना रहे थे और बाद में उन्होने अखिल-भारतीय मजूर संघ कॉंग्रेस (All India Trade Union Congress) का सगठन किया। छोटे-छोटे जमींदार और अपनी जमीन पर मिल्कियत रखनेवाले किसान सरकार से असन्तुष्ट थे और राजनैतिक कार्रवाई की तरफ झुक रहे थे। काश्तकार भी, चोट खाये हुए कीडे की तरह, उलटने की कोशिश कर रहे थे और मध्यमवर्ग, खासतौर से उनमें वे लोग जो बेकार थे, निश्चित रूप में राजनीति की तरफ और उनमें से मुट्ठीभर क्रान्तिकारी कार्यो की तरफ़ झुक रहे थे। इन हालतो से हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख और दूसरे सब एकसमान प्रभावित हुए थे, क्योंकि आर्थिक स्थितियाँ मजहबी तफावत की तरफ बहुत कम ध्यान देती हैं। पर इन बातो के अलावा मुसलमान तुर्की के खिलाफ़ होनेवाली लड़ाई और इस शंका से ज्यादा उत्तेजित हो रहे थे कि कही ब्रिटिश सरकार 'जजीरत–उल–अरब' और उसके मक्का, मदीना और जरूसलम वगैरा पवित्र शहरों पर कब्जा न करले। याद रक्खो कि जरूसलम यहूदियो, ईसाइयो और मुसलमानो—तीनो का तीर्थस्थान है।

हिन्दुस्तान युद्ध के बाद इन्तजार कर रहा था। वह खीझ से भराहुआ बल्कि उग्र था। उसे ज्यादा उम्मीद तो न थी, फिर भी कुछ आस लगी थी। कुछ ही महीनो के अन्दर नई ब्रिटिश नीति के पहले फल, जिनकी तरफ लोग बडी आस लगाय हुए थे, क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबाने के लिए खास कानून बनाने की तजवीज की सूरत में सामने आगये। ज्यादा आजादी की जगह ज्यादा दमन आया। ये बिल एक कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर बनाये गये थे और रालट बिल के नाम से मशहूर हैं। पर बहुत जल्द वे सारे देश में 'काले बिल' (Black Bills) के नाम से पुकारे गये; हर जगह हर हिन्दुस्तानी, यहाँतक कि बहुत ज्यादा माडरेट लोगो द्वारा भी उनकी निन्दा की गई। उनमें सरकार और पुलिस को बहुत ज्यादा अख्तियारात दे दिये गये थे। उनके मुताबिक पुलिस को अख्तियार था कि जिससे वह नाराज हो या जिसपर उसका शुबहा हो उसे गिरफ्तार कर सकती, बिना मुकदमा चलाये जेल में रख सकती और खुफिया मुकदमा चला सकती थी। उस वक्त इन बिलों के बारे में एक मशहूर बयान यह था— "न वकील, न अपील, न दलील।" उधर बिलों की मुखालफत बढ़ती और जोरदार होती गई, इधर राजनैतिक क्षितिज पर एक नई चीज, एक छोटा-सा बादल प्रकट हुआ और तेजी से बढ़ने और फैलनें लगा—यहाँतक कि उसनें सारे भारतीय आकाश को ढक लिया।

ब्यौरे की बातो में न चला जाऊँ। हमारी निजी दिलचस्पी के अलावा, जैसा मैं तुम्हे बता चुका हूँ, आज हिन्दुस्तान दुनिया की बडी समस्याओ या सवालों में से एक है। यह साम्राज्यवादी हुकूमत का एक नमूनेदार (Typical) और ऊँचे दर्जे का पुराना देश है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सारा ढाँचा इसपर खड़ा रहा है और इस सफल ब्रिटिश उदाहरण से दूसरे देश भी साम्राज्यवादी दुस्साहसिकता यानी कमजोर देशो को गुलाम बनाने और उनका शोषण करने के रास्ते पर चलने को ललचे है।

मैंने हिन्दुस्तान पर लिखे अपने पिछले ख़त में तुमसे उन तब्दीलियो का जिक्र किया है जो युद्ध के जमाने में यहाँ हुई। उसमें मैंने हिन्दुस्तानी उद्योगो और हिन्दुस्तानी पूंजीपति-वर्ग की बढ़ती और हिन्दुस्तानी उद्योगो के प्रति ब्रिटिशनीति के परिवर्तन की बात भी लिखी थी। हिन्दुस्तान से इंग्लैण्ड पर पड़नेवाला औद्योगिक और व्यापारिक दबाव बढ रहा था और राजनैतिक दबाव में भी बढ़ती हो रही थी। सारे पूर्व में एक राजनैतिक जागरण हो रहा था और युद्ध के बाद सारी दुनिया में क्षोभ और बेचैनी फैली हुई थी। हिन्दुस्तान में कभी-कभी हिंसात्मक क्रान्तिकारी घटनायें हो जाती थीं। जनता को बडी-बडी उम्मीदें थी। ब्रिटिश सरकार खुद समझ रही थी कि कुछ-न-कुछ करना चाहिए। उसने जाँच के बाद राजनैतिक क्षेत्र में कुछ तब्दीली करने की तजवीजें की थी, जो माण्टेगू-चेल्म्सफोर्ड रिपोर्ट में बताई गई थी। आर्थिक क्षेत्र में उसने बढ़ते हुए मध्यमवर्ग के सामने कुछ टुकडे फेंक दिये थे, पर इस बात की होशियारी रक्खी थी कि सत्ता और शोषण के किले उसीके हाथ में रहे।

युद्ध के बाद कुछ दिनो तक व्यापार फूलता-फलता रहा और बडी भारी समृद्धि का जमाना आया जिसमें लोगो ने, ख़ासकर बंगाल के जूटवालो ने, ख़ूब मुनाफ़ा उठाया। इसमें तो सालाना मुनाफे की दर (Dividend) अक्सर सौ फी सदी से भी ऊँची हो जाती थी। चीजो के दाम चढ़ गये और कुछ सीमा तक, पर चीजो के दाम की बढ़ती के मुकाबिले कम, मजदूरी की दर भी बढ़ गई। दाम चढ़ जाने से वह मालगुजारी भी बढ गई जो काश्तकार जमींदार को देता था। इसके बाद मन्दी आई और व्यापार बिगड़ने लगा। उद्योगो में लगे मजदूरो और काश्तकारो की हालत बहुत खराब होगई और असन्तोष जोरो से बढ़ने लगा। इस दिन-दिन बिगड़ती हुई हालत की वजह से कारखानो में बहुतेरी हड़ताले हुई। अवध में, जहाँ ताल्लुकेदारी प्रणाली में ख़ासतौर से काश्तकारो की हालत बहुत ख़राब थी, करीब-करीब अपने-आप एक जोरदार किसान-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। पढ़े-लिखे छोटे मध्यमवर्गों में बेकारी बढ गई और उनको बडी मुसीबत का सामना करना पड़ा।

युद्ध के बाद के जमाने के शुरू दिनो की यह आर्थिक पार्श्वभूमि थी, और

जैसा उनका कायदा है, बापू ने वाइसराय को एक नम्रतापूर्ण अपील और चेतावनी भेजी। जब उहोने देखा कि सारे हिन्दुस्तान के विरोध के बावजूद ब्रिटिश सरकार क़ानून पास करने पर तुली हुई है, तो उन्होने सारे हिन्दुस्तान में एक शोक-दिवस या मातम का दिन मनाने को कहा। तय हुआ कि उस दिन हड़ताल की जाय; सारे कारबार बद रहे और सभायें की जायें। बिलो के कानून बन जाने के बाद का पहला रविवार इसके लिए चुना गया। इस दिन सत्याग्रह आन्दोलन की शुरुआत होने वाली थी और यो ६ अप्रैल १९१९ का रविवार सारे देश, शहरो और गाँवो में सत्याग्रह-दिवस के रूप में मनाया गया। यह अपने ढंग का पहला अखिल-भारतीय यानी सारे हिन्दुस्तान में होनेवाला प्रदर्शन था और यह बडा शानदार और प्रभावशाली रहा, जिसमें सब तरह के लोगो और जातियो ने हिस्सा लिया। हममें से जिन लोगो ने इस हड़ताल के लिए काम किया था वे इसकी कामयाबी पर हैरत में आ गये। हम लोग सिर्फ शहर के थोडे लोगो तक पहुँच सके थे. पर हवा में एक नई 'स्पिरिट' आ गई थी और किसी तरह से वह सदेश हमारे विशाल देश के दूर-दूर के गाँवों तक पहुँच गया। पहली मर्तबा गाँववालो और शहरातियो ने बहुत बडे पैमाने पर एक राजनैतिक प्रदर्शन में हिस्सा लिया।

६ अप्रैल के एक हफ्ते पहले, तारीख़ के बारे में गलतफ़हमी होजानें से, दिल्ली नें ३१ मार्च को पड़नेवाले रविवार के दिन ही हड़ताल मनाई थी। वे दिन दिल्ली के हिन्दुओ और मुसलमानो में भाईचारे की मुहब्बत के दिन थे और आर्यसमाज के मशहूर नेता स्वामी श्रद्धानन्द के जामा मस्जिद में बडी-बडी सभाओ के सामने भाषण देने का पवित्र दृश्य दिखाई पड़ा। ३१ मार्च को पुलिस और फौज ने सड़को पर जमा ज़बरदस्त भीड़ को तितर-बितर करने की कोशिश की और उसपर गोलियाँ भी चलादी, जिससे कई आदमी मारे गये। अपने संन्यासी के वेश में लम्बे और महान् स्वामी श्रद्धानन्द ने, चाँदनी चौक में, खुले हुए सीने और न झपकनेवाली आँखो से गुरखो की किरचो का सामना किया। उन्होनें उन गुरखो की किरचो पर फतह हासिल की और इस घटना से सारा हिन्दुस्तान पुलकित हो उठा। पर इसकी 'ट्रेजेडी'—दुःख से भरी बात—यह है कि आठ से कम ही वर्षों बाद अपनी बीमारी में चारपाई पर पडे-पडे वह एक धर्मान्ध मुसलमान के हाथो, छुरा भोंककर, मार डाले गये!

६ अप्रैल के उस सत्याग्रह-दिवस के बाद घटनायें तेज़ी से घटीं। जब अमृतसर में १० तारीख को निरस्त्र और नगे सिर भीड़ पर, जो अपनें नेताओ डॉ० किचलू और डॉ० सत्यपाल की गिरफ़्तारी पर दुःख प्रकट करने के लिए इकट्ठी हुई थी, फौज नें गोली चलादी और कई आदमी मारे गये, तो एक दंगा होगया। भीड़ ने पाँच

यह नया तत्त्व—यह बावल मोहनदास करमचन्द गांधी था। वह युद्ध-काल में दक्षिण अफरीका से हिन्दुस्तान लौटा था और अपने साथियो के साथ साबरमती में एक आश्रम बनाकर रहता था। वह राजनीति से दूर रहता था। यहांतक कि उसने युद्ध के लिए सिपाहियों की भरती करने में सरकार की मदद की थी। दक्षिण अफरीका के अपने सत्याग्रह-युद्ध के कारण वह हिन्दुस्तान में अच्छी तरह मशहूर हो चुका था। १९१७ में (मैं यह सब याददाश्त के सहारे लिख रहा हूँ और मुमकिन है कि तारीखें गलत भी हो जायें) उसने विहार के चम्पारन ज़िले के निलहे गोरो के ज़ुल्म के ख़िलाफ बड़ी कामयाबी के साथ दुखिया और पीडित काश्तकारो का नेतृत्व किया था। बाद में उसने गुजरात के खेडा ज़िले के किसानो का साथ दिया था। १९१९ ई० के शुरू में वह बड़े ज़ोर से बीमार पडा। वह इस बीमारी से उठा ही था कि देश में राउलट बिल से कोहराम मच गया। उसने भी इस आम मुख़ालफत में अपनी आवाज़ मिलादी।

लेकिन उसकी आवाज़ दूसरो से कुछ जुदा थी। यह शान्त और धीमी थी, फिर भी सर्वसाधारण के शोर के ऊपर सुनाई देती थी। यह मुलायम और नम्र थी, फिर भी इसमें कहीं फौलाद (यानी फौलाद जैसा कडापन) छिपा हुआ था। यह मीठी और अपील से भरी हुई थी, फिर भी इसमें कोई दृढ और डरावनी चीज़ थी। उसमें इस्तेमाल किया हुआ हरेक लफ्ज़ अर्थ से भरा हुआ था और उसके पीछे एक ज़बरदस्त सचाई मालूम पडती थी। शान्ति और मित्रता यानी सुलह और दोस्ती की ज़बान के पीछे शक्ति और क्रिया की कांपती हुई छाया थी और गलती के आगे न झुकने का निश्चय था। अब तो हम इस आवाज़ से परिचित होगये हैं; हमनें पिछले चौदह वर्षों में कितनी ही बार इसे सुना। पर फरवरी और मार्च १९१९ में यह आवाज़ हमारे लिए नई थी। हम ठीक तरह नही जानते थे कि इसका क्या करना चाहिए, पर हम पुलकित हो उठे। निन्दा की हमारी शोरगुल-भरी राजनीति से यह कुछ एक बिलकुल जुदी चीज़ थी—उस राजनीति से जो सदा विरोध के फिज़ूल और बेअसर प्रस्तावों में, जिनपर कोई ज्यादा ध्यान न देता था, खत्म होती थी। पर यह उससे जुदा चीज़ थी। यह क्रिया की लडाई की राजनीति थी, बातचीत और बहस-मुबाहसे की राजनीति नहीं।

बापू ने उन लोगों की एक सत्याग्रह-सभा बनाई जो चुने हुए कानून को तोडने और उसके लिए जेल जाने को तैयार थे। उस वक्त यह बिलकुल नया ख़याल था और हममें से बहुत-से इससे जोश में भर उठे और कितने ही सहमकर पीछे हट गये। आज तो यह (जेल) घटनाओं के लिए मामूली और सामान्य स्थान बन गया है और हममें से बहुतों के लिए हमारी ज़िन्दगी का एक निश्चित और नियमित हिस्सा बन गया है।

बाग का हत्याकाण्ड, फौजी कानून और बाद की घटनायें उनकी इसी मानसिक स्थिति रुख का परिणाम थी।

कोई एक डरे हुए आदमी के बुरे बर्ताव को, फिर चाहे उसके डर का कोई वास्तविक कारण न भी हो, समझ सकता है, यद्यपि उसे माफ नहीं कर सकता। पर इससे भी ज्यादा हैरत और गुस्सा हिन्दुस्तान को इस बात पर हुआ कि जनरल डायर ने, जो अमृतसर में हुई गोलीबारी और हजारो जख्मी आदमियो के प्रति जंगली उपेक्षा या लापरवाही के लिए जिम्मेदार था, कई महीने बाद भी बडे अपमानजनक ढग से अपने किये हुए कामो को ठीक बताया। जख्मी आदमियो के प्रति उसने अपनी उपेक्षा के बारे में कहा—"यह मेरा काम नहीं था।" इग्लैण्ड में कुछ आदमियो और सरकार ने डायर की बडी हलकी आलोचना की थी। पर ब्रिटिश शासक-वर्ग का सामान्य रुख हाउस ऑफ लार्ड्स (पार्लमेण्ट की सरदार सभा) की बहस में दिखाई पड़ा, जिसमें जनरल डायर की प्रशंसा की झडी लगा दी गई। इन सब बातो ने हिन्दुस्तान में गुस्से की आग को तेज रक्खा और पंजाब के जुल्मो को लेकर सारे देश में कटुता छा गई। सरकार और कांग्रेस दोनो ने जॉच-कमेटियाँ बैठाईं कि वे पता लगावे कि पंजाब में असल में क्या घटनायें हुईं। देश ने उनकी रिपोर्ट का इन्तजार किया।

उस साल से १३ अप्रैल हिन्दुस्तान के लिए राष्ट्रीय दिवस रहा है और ६ अप्रैल से १३ अप्रैल, यानी आठ दिन तक, राष्ट्रीय सप्ताह मनाया जाता है। अब जालियाँ-वाला बाग एक राजनैतिक तीर्थ बन गया है। इस वक्त यह बडी खबसूरती के साथ बनाया गया बाग है और इसकी ज्यादातर पुरानी भयंकरता दूर हो गई है, पर स्मृतियाँ वहाँकी हवा में अब भी छा रही हैं।

विचित्र सयोग से उस साल, दिसम्बर १९१९ में, कांग्रेस अमृतसर में हुई। दादू इसके सभापति थे और इसके सबसे नन्हे दर्शको में से एक इन्दिरा प्रियदर्शिनी भी थी! इस काग्रेस में कोई महत्वपूर्ण निश्चय नही हुआ, क्योकि जॉच-कमेटियो की रिपोर्ट और नतीजे का इन्तजार था। पर यह साफ जाहिर था कि काग्रेस बदल गई है। अब उसका एक सार्वजनिक रूप होगया था और इसमें एक नई और कुछ पुराने कांग्रेसमैनो के लिए खतरनाक या चिन्ता-जनक ताकत आगई थी। उसमें लोकमान्य तिलक भी आये थे, जो सदा की तरह किसी तरह का समझौता करने या झुकने के खिलाफ थे। यह कांग्रेस में उनका आखिरी आना था, क्योकि दूसरी कांग्रेस के पहले ही उनकी मृत्यु होनेवाली थी। उसमें बापू थे, जो सर्वसाधारण में लोकप्रिय थे और कांग्रेस और भारतीय राजनीति पर अपने प्रभुत्व के लम्बे युग की शुरुआत कर रहे थे। इस कांग्रेस में जेलो से छूटे हुए वे बहुतेरे नेता आये थे, जिन्हे

या छ निर्दोष अंग्रेज़ो को, जो अपने दफ्तरो में बैठे हुए थे, मारकर और उनके बैंको के मकानो को जलाकर इसका पागलपन से भरा हुआ बदला लिया। उसके बाद तो जैसे पजाब पर एक परदा छा गया। वह बाकी हिन्दुस्तान से ज़बरदस्त सेसर के ज़रिये अलग कर दिया गया, मुश्किल से वहांकी कोई ख़बर आती थी और लोगो का इस सूबे में जाना या वहाँ से बाहर आना बडा मुश्किल था। वहाँ मार्शललला यानी फौजी कानून जारी कर दिया गया था और उसका हाहाकार कई महीनो तक जारी रहा। हफ्तो और महीनो की हाहाकार-भरी चुप्पी के बाद धीरे-धीरे परदा उठा और उन ख़ौफनाक घटनाओ की सच्ची बाते लोगो को मालूम पडी।

मै यहाँ तुमसे पजाब के फौजी कानून की भयंकरताओ का ज़िक्र न करूँगा। अमृतसर के जलियाँवाला बाग में १३ अप्रैल को जो कत्लेआम हुआ उसे सारी दुनिया जानती है। वहाँ उस मौत के पिंजडे में, जिससे भागने या बचने का कोई रास्ता न था, हज़ारो आदमी मारे गये और ज़ख्मी हुए। अमृतसर लफ्ज़ ही 'कत्लेआम' का समानार्थवाची होगया है। यह हत्याकाण्ड तो बुरा था ही, पर सारे पंजाब में ऐसी और भी, और इससे भी अधिक लज्जाजनक, बाते हुईं।

इतने वर्षो के बाद भी इस सब बर्बरता और भयंकरता को क्षमा कर देना मुश्किल है, फिर भी इसे समझने में कोई मुश्किल नहीं है। अपनी हुकूमत के तरीके या स्वभाव के कारण हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ सदा यह महसूस करते है कि वे किसी ज्वालामुखी के किनारे पर बैठे हुए है। उन्होने हिन्दुस्तान के दिल व दिमाग को बहुत कम समझा है और समझने की कोशिश भी शायद ही कभी की है। वे अपने लम्बे-चौडे और जटिल सगठन और उसके पीछे की फौजी ताकत पर विश्वास रखकर अपनी ज़िन्दगी अलग बसर करते रहे है। पर उनके सारे विश्वास के पीछे सदा किसी अज्ञात चीज़ का भय है और डेढ सौ वर्षों की हुकूमत के बाद भी हिन्दुस्तान उनके लिए एक अज्ञात प्रदेश है। उनके मन में १८५७ के ग़दर की स्मृतियाँ ताज़ा है और वे महसूस करते है कि जैसे वे एक अजीब, अपरिचित और विरोधी देश में रहते है जो किसी भी वक्त उनपर टूट सकता और उनके टुकडे-टुकडे कर दे सकता है। उनके खयालात की यह आम बुनियाद है। जब उन्होने एक ऐसा बड़ा आन्दोलन देश में उठते हुए देखा जो उनके खिलाफ था, तो उनकी शका बढ गई। जब १० अप्रैल को अमृतसर में हुए खूनी कारनामों की खबर पजाब के बडे-बडे अधिकारियो के पास लाहौर पहुँची तो वे स्थिर न रह सके। उन्होने समझा कि १८५७ के ग़दर की तरह यह भी बडे पैमाने पर होनेवाली खूनी बग़ावत है और सब अंग्रेज़ो की जान खतरे में है। उन्हे खून दिखाई दिया और इसलिए उन्होने जनता पर आतक पैदा करना चाहा। जालियाँवाला-

कॉंग्रेस-नेताओं में से सिर्फ़ दादू नें आन्दोलन की शुरुआत में गाँधीजी का समर्थन किया। पर औसत कॉंग्रेसमैन, मामूली आदमी या सर्वसाधारण जनता के उत्साह के बारे में कोई सन्देह न था। बापू जैसे उन्हे बहा या उड़ा ले गये या उनपर कोई जादू कर दिया। सर्वसाधारण ने 'गांधीजी की जय' के नारे से आसमान गुंजाकर अहिंसात्मक असहयोग के नये सिद्धान्त के प्रति अपनी मजूरी जाहिर की। मुसलमान भी औरो की तरह उत्साह से भर रहे थे। अलीबन्धुओ के नेतृत्व में ख़िलाफत कमेटी ने इस प्रोग्राम को कॉंग्रेस के भी पहले मान लिया था। जल्द ही सर्वसाधारण के उत्साह और आन्दोलन की शुरु की कामयाबियो को देखकर ज्यादातर पुराने कॉंग्रेस-नेता इसमें आ गये।

मैं इन ख़तो में, इस आन्दोलन के गुण-दोष अर्थात् अच्छाइयो और ख़राबियो, या इसके पीछे के तत्त्वज्ञान की जॉच नहीं कर सकता। यह एक बड़ा पेचीदा सवाल होगा। और शायद इसके जन्मदाता गाँधीजी के सिवा दूसरा कोई अच्छी तरह या संतोष-जनक रीति से इसे नहीं कर सकता। फिर भी हमें बाहरी आदमी की निगाह से इसे देखना चाहिए और यह समझने की कोशिश करनी चाहिए कि यह इतनी तेजी और कामयाबी के साथ क्यो फैल गया।

विदेशी शोषण में सर्वसाधारण जनता पर पड़नेवाले आर्थिक बोझ या दबाव और दिन-पर-दिन उनकी बिगड़ती हुई हालत और मध्यम वर्गों में बढ़ती हुई बेकारी की चर्चा मैं तुमसे कर चुका हूँ। इसके लिए उपाय क्या था? राष्ट्रीयता के बढ़ने से लोगो का ध्यान राजनैतिक स्वतन्त्रता की तरफ गया। लोगो ने समझा कि आजादी की सिर्फ़ इसीलिए जरूरत नहीं है कि आश्रित और गुलाम होना बेइज्जती और शर्म की बात है; वह सिर्फ इसीलिए जरूरी नहीं है कि तिलक के लफ्जो में 'वह हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है और हमें उसे हासिल करना चाहिए', बल्कि अपनी कौम या राष्ट्र पर ग़रीबी का जो बोझ है उसको कम करने के लिए भी उसकी जरूरत है। जाहिर था कि चुपचाप बैठकर इस उम्मीद के साथ उसका इन्तजार करने से कि वह अपने-आप आ जायगी, वह नहीं मिल सकती। इसके साथ यह बात भी साफ़ जाहिर थी कि सिर्फ विरोध और प्रार्थना करनें के तरीक़े, जिसपर कभी कम कभी जरा ज्यादा जोश से कॉंग्रेस अभीतक चल रही थी, एक कौम के लिए न सिर्फ उसकी मर्यादा या इज्जत के प्रतिकूल थे बल्कि फिजूल और बेअसर भी थे। इतिहास में ऐसे तरीको से काम-याबी हासिल करने या शासन और सुविधा-प्राप्त वर्ग को अपनी सत्ता छोड़नें पर मजबूर करने की कोई मिसाल न थी। इतिहास ने तो हमें बताया कि गुलाम क़ौमो या वर्गों को उनकी आजादी हिंसात्मक विद्रोह यानी ख़ूनी बलवो और बग़ावत से ही हासिल हुई है।

फ़ौजी कानून के दिनो में षड्यंत्र के भयंकर मुकदमो में फँसाकर लम्बी सजायें दी गई थीं पर क्षमादान मिलने से छोड़ दिये गये थे। इनमें मशहूर अलीबन्धु (स्व० मौलाना मुहम्मदअली और शौकतअली) भी थे जो कई वर्षो की नजरबन्दी के बाद हाल में ही छोडे गये थे।

दूसरे साल काग्रेस ने ग़ोता मारा और बापू का असहयोग का कार्यक्रम मंजूर किया। कलकत्ता में काग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ, जिसमें यह पास हुआ और बाद में नागपुर के सालाना जलसे में पक्के तौर पर स्वीकार किया गया। यह कार्यक्रम पजाब और ख़िलाफत के जुल्मो को दूर करने के आधार पर बनाया गया था और बाद में उनके साथ स्वराज्य का प्रश्न भी जोड़ दिया गया। पंजाब के जुल्मो को दूर करने का मतलब वहांके कसूरवार अफसरो को सजा देना था। लड़ाई का तरीका बिलकुल शान्तिपूर्ण—या जैसाकि उसे कहते थे अहिंसात्मक—था और सरकार को उसके शासन और हिन्दुस्तान के शोषण में मदद देने से इनकार करना इसका आधार था। विदेशी सरकार से मिले हुए ख़िताबो, सरकारी उत्सवो, अदालतो, सरकारी स्कूलों और कालेजो और माण्टेगू-चेम्सफोर्ड सुधारो के मुताबिक बनी नई कौंसिलों का बायकाट इसमें शामिल था। वकीलो को भी अदालतो का बायकाट करना था। यह तजवीज़ की गई थी कि बाद में दीवानी और फौजी नौकरियो का भी बायकाट किया जायगा और टैक्स देने से इनकार कर दिया जायगा। रचनात्मक काम की दिशा में चर्खा और खादी का प्रचार और सरकारी अदालतो की जगह पंचायतें कायम करना रक्खा गया। और बडी महत्वपूर्ण बातें, जिनपर जोर दिया गया, हिन्दू-मुस्लिम एकता और हिन्दुओ के बीच से छुआछूत को दूर करना था।

काग्रेस ने अपना विधान भी बदल दिया और कुछ काम करनेलायक संस्था बन गई। उसने सर्वसाधारण के लिए अपनी सदस्यता का दरवाजा भी खोल दिया।

अभीतक काग्रेस जो कुछ करती रही थी उससे यह कार्यक्रम बिलकुल ही जुदा था। बल्कि सारी दुनिया के लिए यह एक नई बात थी, क्योकि दक्षिण अफरीका में जो सत्याग्रह हुआ था उसका दृष्टिकोण और क्षेत्र बहुत छोटा था। अब इस कार्यक्रम का मतलब कुछ लोगो के लिए—जैसे वकीलो, जिन्हे वकालत छोड़नें को कहा गया था, और विद्यार्थियो, जिन्हे अपनें कालेजो का बायकाट करना था, के लिए—तुरन्त बहुत बडी कुरबानी करना था। इसकी जाँच करना भी मुश्किल था, क्योकि तुलना के लिए कोई पैमाना न था। इसमें ताज्जुब की बात नहीं कि पुराने और अनुभवी कांग्रेस-नेता इसमें शामिल होने से हिचकिचाये और शंकित होउठे। उनमें सबसे बडे नेता लोकमान्य तिलक थे, जिनकी मृत्यु कुछ ही पहले हो चुकी थी। दूसरे बडे

नहीं था। सत्याग्रह अन्याय या जुल्म के प्रतिरोध का एक निश्चित, यद्यपि अहिंसात्मक, तरीका था। असल में यह एक शान्तिपूर्ण बगावत थी, युद्ध-कला का एक सबसे सभ्य तरीका था, और फिर भी राज्य के लिए खतरनाक था। यह सर्व-साधारण के लिए अपनी ताकत पहचानने और अपने अस्तित्व की रक्षा करने का एक प्रभावशाली रास्ता था और हिन्दुस्तानी जनता या कौम की विशेष प्रतिभा के अनुकूल था। यह हमारी स्थिति या बर्ताव को बहुत अच्छा रखता था और विरोधी या दुश्मन को गलती में डाल देता था। इसने हमारा वह भय दूर कर दिया था जो हमें कुचल रहा था और हम शासको से इतनी निडरता से आँखें मिलाकर देखने लगे जैसा हमने कभी न देखा था और उनसे अपने दिल की बाते पूरे तौर पर और साफ-साफ करने लगे। हमारे मन से एक बडा बोझ उठ गया और बोलने और काम करने की आज़ादी ने हमें आत्मविश्वास और शक्ति से भर दिया। फिर शान्तिपूर्ण तरीके के कारण वह भयकर रूप से कटु जातीय और राष्ट्रीय घृणा काफी हद तक रुक गई जो ऐसी लड़ाइयो के साथ हमेशा पैदा होती और बढती है, और इससे आखिरी निबटारा आसान होगया।

इसलिए इसनें ताज्जुब की कोई बात नही कि असहयोग के इस कार्यक्रम ने, जिसके साथ गाँधीजी का महान् व्यक्तित्व था, देश की कल्पना को ही जगा दिया और उसे आशा से भर दिया। यह फैलता गया और इसके स्पर्श से पुरानी कमजोरियाँ दूर होगई। नई कॉंग्रेस ने देश के ज्यादातर शक्तिमान तत्त्वो को अपनी तरफ खींच लिया और उसकी ताकत और मर्यादा बढ़ गई।

इस दरमियान नये माण्टेगू-चेम्सफोर्ड सुधारो के मुताबिक नई कौंसिलें और असेम्बलियाँ बन चुकी थी। माडरेटो ने, जो अब लिबरल नाम से पुकारे जाते है, उनका स्वागत किया था और उनमें मिनिस्टरी और दूसरे अधिकार के ओहदो को मंजूर कर लिया था। वे अमली तौर पर करीब-करीब सरकार में ही घुल-मिल गये थे और उनके पीछे जनता का बल न था। कॉंग्रेस नें इन कौंसिलो का बायकाट किया था, इसलिए देश में उनकी तरफ बहुत कम ध्यान दिया गया। सबकी ऑंखें बाहर गाँवो और शहरों में होनेवाली लड़ाई की तरफ लगी हुई थीं। पहलीबार बहुत बडी तादाद में कांग्रेस-कार्यकर्ता गाँवो में पहुँचे थे। वहाँ कांग्रेस कमेटियाँ कायम की थी, और गाँव वालों की राजनैतिक जागृति में मदद कर रहे थे।

मामला तूल पकड़ गया था और लाज़िमी तौर पर दिसम्बर १९२१ में भिड़न्त होगई। यह मौका प्रिंस ऑफ वेल्स के हिन्दुस्तान आने का था। इस आगमन का कॉंग्रेस ने बायकाट किया था। सारे हिन्दुस्तान में बहुत बडी तादाद में गिरफ्तारियाँ हुई और

पर सशस्त्र विद्रोह का हिन्दुस्तानी कौम के लिए कोई सवाल ही न था। हम निरस्त्र थे और हममें से ज्यादातर लोग हथियारो का इस्तेमाल करना भी नहीं जानते थे। इसके अलावा, हिंसात्मक सघर्ष या लड़ाई में ब्रिटिश सरकार या किसी भी राज्य की सगठित शक्ति उससे कहीं ज्यादा थी जितनी उसके खिलाफ खडी की गई कोई ताकत होती। फौजो में बलवा हो सकता था। पर निरस्त्र कौम बगावत नहीं कर सकती थी और न हथियारबन्द दलो और ताकतो का सामना कर सकती थी। दूसरी तरफ व्यक्तिगत आतकवाद यानी कुछ अफसरो को बम या पिस्तौल से मार डालना एक दिवालिये का कार्यक्रम था। यह जनता को नैतिक दृष्टि से गिरानेवाला था और यह सोचना महज खामखयाली था कि यह एक जबरदस्त संगठित सरकार को हिला सकता है---फिर व्यक्तियो को वह चाहे कितना ही भयभीत क्यो न कर दे। जैसा कि मैंने तुम्हे बताया है, इस तरह व्यक्तिगत हिंसा रूसी क्रान्तिकारियो को भी छोड देनी पडी थी।

तब क्या बचता था ? रूस अपनी क्रान्ति में कामयाब हो चुका था और उसने मजदूरो का एक प्रजातत्र कायम कर लिया था। उसका तरीका फौज की मदद से सर्वसाधारण की लड़ाई का तरीका था। पर रूस में भी सोवियटो को कामयाबी उस वक्त हासिल हुई थी जब महायुद्ध के कारण देश और पुरानी सरकार तहस-नहस हो रही थी और मुखालफत के लिए कुछ बचा न था। इसके अलावा उस जमाने में हिन्दुस्तान में बहुत थोडे लोग रूस या मार्क्सवाद के बारे में कुछ जानते या मजदूरो और किसानो के दृष्टिकोण से कुछ सोचते थे।

इसलिए इन सब तरीको से हम कहीं न पहुँचते थे और इस बेइज्जती की गुलामी की असह्य हालत से निकलने का कोई रास्ता नजर नहीं आता था। जो लोग भावुक थ वे बडी जबरदस्त बेचारगी और मायूसी महसूस करते थे। यह वक़्त था जब गांधीजी ने अपना असहयोग का कार्यक्रम पेश किया ! आयर्लैण्ड के सिनफीन की तरह इसने हमें अपने पैरो खडा होना और अपनी ताकत का निर्माण करना सिखाया और जाहिर था कि सरकार पर दबाव डालने का यह एक बड़ा प्रभावशाली तरीका है। सरकार हिन्दुस्तानियो के सहयोग, फिर चाहे वह सहयोग अपनी इच्छा से हो या अनिच्छा से हो, पर ही ज्यादातर खडी थी और अगर वह सहयोग हटा लिया जाय और बायकाट पर अमल किया जाय तो सैद्धान्तिक दृष्टि से यह बिलकुल मुमकिन था कि सरकार का सारा ढाँचा बैठ जाय। मगर असहयोग वहाँतक न पहुँचे तो भी इसमें कोई शुबहा न था कि वह सरकार पर जबरदस्त दबाव डाल सकता और साथ-साथ जनता की ताक़त बढा सकता है। यह पूरे तौर पर शान्तिपूर्ण था। फिर भी यह सिर्फ एक अप्रतिरोध (Non-Resistance)

होगया था। पंजाब का सवाल स्वराज्य के बडे सवाल में मिल गया था; पर स्वराज्य अब भी बहुत दूर था। दिल्ली और मुख्तलिफ सूबो में खिलौने-सी कौंसिलें थी, जिनका कॉंग्रेस ने बायकाट किया था। इन कौंसिलो के पास बहुत कम असली ताकत थी; उनके कुछ सदस्य सरकारी अधिकारी थे, कुछ सरकार के नामजद किये हुए थे, और चुने हुए सदस्य भी सीमित मताधिकार यानी थोडे वोटरो की राय से चुने गये थे। तब क्या किया जाता? उस वक्त गांधीजी भी जेल में थे।

कॉंग्रेस ने इस सवाल पर गौर करने के लिए 'सिविल डिसओबिडियंस इनक्वायरी कमेटी' यानी 'सविनय अवज्ञा जाँच समिति' नाम की एक कमेटी नियुक्त की। सारे हिन्दुस्तान का दौरा करने और लम्बे बहस-मुबाहसे के बाद कमेटी नें जो रिपोर्ट पेश की उसकी वजह से कॉंग्रेस एक-दूसरे का विरोध करनेवाले दो दलो में बँट गई। एक दल जिसे परिवर्तनवादी दल कहा जाता था, असहयोग के बायकाट वाले कार्यक्रम में तब्दीली करने का तरफदार था और चाहता था कि कौंसिलो का बायकाट उठा लिया जाय; यानी वे काग्रेसवालो के नई असेम्बलियो और कौंसिलो में जानें के तरफदार थे। उनका कहना था कि कॉंग्रेसवालो को वहाँ सरकार से सहयोग करने के लिए नही बल्कि कौंसिलो के अन्दर से सरकार के काम में अडगा डालने के लिए जाना चाहिए। दूसरा यानी अपरिवर्तनवादी दल इस तब्दीली के खिलाफ था। चूंकि शुरू में कॉंग्रेस में अपरिवर्तनवादियो का बहुमत था, इसलिए कौंसिलो पर कब्जा करने के तरफदार दूसरे दल नें कॉंग्रेस के अन्दर दूसरी एक पार्टी कायम की। इसका नाम 'स्वराज्य दल' रक्खा गया और इसके मुख्य जन्म दाता देशबन्धु चित्तरंजन दास और दादू थे। समय पाकर इस दल का प्रभाव बढ़ गया और उसे काग्रेस ने स्वीकार कर लिया।

इस स्वराज्य दल को १९२३ के चुनाव में काफी कामयाबी हासिल हुई और सभी कौंसिलो में स्वराजी बडी तादाद में चुने गये। पर सरकारी और नामजद सदस्यो की भारी तादाद के कारण बहुत ही कम कौंसिलो में उनका स्पष्ट बहुमत हो सका। इसलिए उन्होने कौंसिल के अन्दर अपने काम के लिए और दलो से दोस्ती करनी शुरू की। इसका मतलब उन दलो के साथ समझौता और राजनैतिक सौदा हुआ जो ज्यादा नरम थे और उतनी दूर तक जाने को तैयार न थे। इसका मतलब अरुचिकर समझौता और आदर्शो का झुकाना था। इसका मतलब उन स्वराजी सदस्यो का, जो कौंसिलो में गये थे, सर्वसाधारण जनता की आवाज से बिछुड़ना भी था, क्योकि वे अपनी नकली पार्लमेंण्टो के तौर-तरीको और छोटी-मोटी चालो में ज्यादा फँसते गये। उन्होनें कुछ जोरदार प्रस्ताव पास किये और साल का बजट पास करने से इन्कार कर दिया। सरकार ने उनके प्रस्तावो की उपेक्षा की और वाइसराय ने

हजारो राजनैतिक कैदियो से जेलें भर गईं। हममें से ज्यादातर लोगो को जेल के अन्दर का पहला अनुभव उसी वक्त हुआ। यहाँतक कि कांग्रेस के निर्वाचित अध्यक्ष देशबन्धु चित्तरंजन दास भी गिरफ्तार कर लिये गये और अहमदाबाद का कांग्रेस-अधिवेशन उनकी जगह हकीम अजमलखाँ की सदारत में हुआ। पर गाँधीजी उस वक्त गिरफ्तार नहीं किये गये और आन्दोलन बढ़ता गया। उन लोगों की तादाद जो अपनेको गिरफ्तारी और जेल के लिए पेश कर रहे थे, उससे हमेशा ज्यादा रही जितने कि गिरफ्तार किये जाते थे। चूंकि मशहूर नेता और कार्यकर्ता जेल भेज दिये गये, इसलिए नये, अनुभव-हीन और कभी-कभी अवाछनीय आदमियो ने (यहाँतक कि खुफिया पुलिस के आदमियो ने भी!) उनका स्थान ग्रहण किया; इससे कुछ अव्यवस्था और हिंसा भी हुई। १९२२ के शुरू में, युक्तप्रान्त में गोरखपुर के नजदीक चौरी-चौरा में किसानो की एक भीड़ और पुलिस के बीच भिड़न्त होगई। किसानो ने पुलिस चौकी को, जिसके भीतर कुछ पुलिस सिपाही भी थे, जला दिया। बापू को इस और दूसरी चन्द घटनाओं मे बहुत दु ख हुआ, क्योंकि इनमे मालूम होता था कि आन्दोलन हिंसात्मक होता जा रहा है। इसलिए, उनकी राय मानकर, काँग्रेस-कार्यसमिति ने असहयोग का कानून तोड़नेवाला कार्यक्रम स्थगित कर दिया। इसके थोड़े ही दिनो बाद खुद बापू भी गिरफ्तार कर लिये गये, उनपर मुकदमा चला और उन्हे ६ वर्ष की सजा दी गई। यो असहयोग-आन्दोलन की पहली अवस्था खत्म हुई।

: १६१ :

उन्नीस सौ बीस के बाद का भारत

१४ मई, १९३३

जब १९२२ ई० में सविनय अवज्ञा स्थगित कर दी गई तब असहयोग-आन्दोलन की पहली अवस्था खत्म हुई, पर, उसके स्थगित कर दिए जाने से, बहुत-से काँग्रेसमैनो को बड़ा असन्तोष हुआ। बहुत बड़ी जागृति होगई थी और करीब-क़रीब तीस-हजार आदमी कानून तोड़ कर जेल गये थे। क्या इन सब बातों का कुछ विचार नहीं करना था और क्या आन्दोलन को एकाएक, बिलकुल बीच में, उद्देश्य पूरा होने के पहले, सिर्फ इसलिए स्थगित कर देना था कि कुछ जोशीले किसानो ने चौरीचौरा में बुरा बर्ताव किया था? आन्दोलन का उद्देश्य खिलाफत और पंजाब के जुल्मो और अन्यायो को ठीक करवाना और स्वराज्य हासिल करना था। खिलाफत का सवाल तुर्की में होनेवाली घटनाओ और कमालपाशा की कारगुजारियो से अपने आप खत्म

के लिए मुसलमानो की बनिस्बत पूर्ण राष्ट्रवादी की शक्ल में जाहिर होना ज्यादा मुमकिन था, हालाकि हरेक अपनी खास तरह की राष्ट्रीयता का हामी था।

तीसरे वह चीज थी जिसे सच्ची या भारतीय राष्ट्रीयता कहा जा सकता है और जो ऊपर बताई हुई दोनो मजहबी और साम्प्रदायिक राष्ट्रीयताओ से बिलकुल एक जुदा चीज थी। यह उस तरह की राष्ट्रीयता थी जो पश्चिमी देशो में दिखाई पड़ती है और ठीक-ठीक कहे तो यही एक रूप है जिसे आजकल के अर्थ में राष्ट्रीयता कहा जा सकता है। इस तीसरी जमात में हिन्दू, मुसलमान और दूसरे लोग भी थे। १९२० से १९२२ तक, असहयोग आन्दोलन के जमाने में ये तीनो जमाते या तीनो तरह की राष्ट्रीयतायें एकसाथ मिल गई थी। तीनो रास्ते अलग-अलग थे, पर थोडी देर के लिए समानान्तर दौड़ रहे थे।

१९२१ के सामूहिक आन्दोलन से ब्रिटिश सरकार हैरत में आगई। उसे इसका नोटिस काफी पहले मिल चुका था, पर वह यह नहीं सोच सकी कि इसके साथ क्या सलूक करना चाहिए या इसे कैसे सम्हालना चाहिए। उसने देखा कि वह अपनी गिरफ्तारी और सजा के पुराने सीधे तरीके से इसे दबा नही सकती, क्योकि कांग्रेस खुद यही बात (गिरफ्तारी या सजा) चाहती थी। इसलिए उसके खुफिया विभाग ने अन्दर से कांग्रेस को कमजोर करने का तरीका निकाला। पुलिस एजेण्ट और खुफिया विभाग के आदमी कॉंग्रेस कमेटियो में पहुँचे और झगड़ा पैदा कर दिया। उन्होने हिंसा को उत्तेजना दी, जिससे असहयोग के शान्तिपूर्ण उपायो में बाधा पडी और अव्यवस्था पैदा होगई। इस विचित्र तरह की शान्तिपूर्ण लड़ाई और हिंसा को साथ-साथ चलाना साफ़-साफ नामुमकिन था। हरेक दूसरे में दखल डालती थी या दूसरे के काम में दिक्कत पेश करती थी। सरकारी अधिकारियों और खुफिया विभाग का दूसरा तरीका यह था कि वे साधुओ और फ़कीरो के वेश में अपने खुफिया एजेण्टो को साम्प्रदायिक झगडे और दगे खडे करने को भेजते थे।

ऐसे उपाय सदा ही उन सरकारो द्वारा किये जाते है जो जनता की स्वीकृति के बगैर जबरदस्ती उसपर हुकूमत करती है। साम्राज्यवादी सरकारो का कार-बार उन्हीके भरोसे चलता है। ऐसे उपायों को कामयाबी हासिल होती है, इससे जनता की कमजोरी और पिछडे होने का ही ज्यादा सबूत मिलता है, सरकार की गुनहगारी का उतना नही। दूसरे देश की जनता में भेद पैदा कर देना और उन्हे एक-दूसरे से लड़ाकर और यों कमजोर करके उनका शोषण करना खुद ही बड़प्पन और श्रेष्ठतर या बेहतर सगठन की निशानी है। यह नीति तभी कामयाब हो सकती है जब दूसरे पक्ष में फूट और झगडे हो। यह कहना कि ब्रिटिश सरकार ने

बजट को सर्टीफाई यानी मंजूर कर लिया। ताकत प्रस्तावो और वोटों का विषय नही थी, वह दूसरी बातो पर आश्रित थी। स्वराजी प्रस्तावो ने बडी हलचल पैदा की; पर यह जाहिर होगया कि उन पर जोर डालने या उन्हें पास कराने के लिए कुछ और भी करना पडेगा।

१९२० के बाद के जमाने में हिन्दुस्तान को जो मुख्तलिफ ताकतें और आन्दोलन हिला रहे थे, उन्हें समझने की हमें कोशिश करनी चाहिए। सबसे बड़ा सवाल हिन्दू-मुस्लिम सवाल था। तनातनी बढ रही थी और उत्तरी हिन्दुस्तान में मस्जिदो के आगे बाजा बजाने के हक जैसे छोटे सवालो पर कई जगह दगे हो चुके थे। असहयोग के जमाने की उस दर्शनीय एकता के बाद यह एक अजीब और आकस्मिक परिवर्तन था। यह कैसे होगया और उस एकता का आधार क्या था ?

राष्ट्रीय आन्दोलन का आधार मुख्यत आर्थिक मुसीबत और बेकारी था। इसकी वजह से सभी वर्गों में ब्रिटिश सरकार के खिलाफ एक सामान्य भावना और स्वराज्य की स्पष्ट इच्छा पैदा होगई थी। यह विरोधी भाव ही जुदा-जुदा वर्गों के बीच एक मिलानेवाली कडी था। इसलिए सबने मिलकर आन्दोलन किया। पर इन विविध वर्गों का उद्देश्य अलग-अलग था। हर जमात के लिए स्वराज्य का एक जुदा अर्थ था—बेकार मध्यम वर्ग नौकरी या धन्धा चाहता था, किसान जमींदार द्वारा थोपे हुए अपने अनेक बोझो से राहत चाहता था, इसी तरह अलग-अलग जमातें अलग-अलग बातें चाहती थी। मुसलमान इन सवालो पर एक मजहबी जमात की नजर से देखते हुए शामिल हुए थे। खास तौर पर खिलाफत के लिए उनकी जमात-की-जमात आन्दोलन में आ गई थी। यह एक शुद्ध मजहबी सवाल था, जिससे सिर्फ मुसलमानो पर असर पड़ता था। जो मुसलमान नही थे उनका इससे कुछ मतलब न था। पर बापू ने इसको ग्रहण किया और दूसरो को भी इसके ग्रहण करने को उत्साहित किया, क्योंकि वह मुसीबत में पडे भाई की मदद करना अपना फर्ज समझते थे। इससे उन्होने हिन्दू-मुसलमानो को नजदीक लाने की भी उम्मीद की थी। इस तरह आम तौर पर मुसलमानो का दृष्टिकोण मुस्लिम राष्ट्रीयता या मुस्लिम अन्तर्राष्ट्रीयता का दृष्टिकोण था, सच्ची राष्ट्रीयता का नहीं। हाँ, उस वक्त इन दोनो तरह की राष्ट्रीयताओ के बीच की कशमकश जाहिर नही थी।

दूसरी तरफ राष्ट्रीयता की हिन्दू धारणा निश्चितरूप से हिन्दू राष्ट्रीयता की भावना थी। इस मामले में हिन्दू राष्ट्रीयता और सच्ची राष्ट्रीयता के बीच ठीक-ठीक रेखा खींचना आसान नही था। दोनो एक-दूसरे से घुल-मिल गई थीं, क्योंकि सिर्फ हिन्दुस्तान ही हिन्दुओ का एक देश है और यहाँ उनका बहुमत है। इसलिए हिन्दुओ

थे जितने कि दूसरे। उनकी राष्ट्रीयता हिन्दू छाप की थी। कुछ हद तक मालिक या खुशहाल (Haves) होने के कारण उन्होंने 'सर्वहारा' या साधनहीन (Have-nots) लोगो के साथ अपनी चीजो की शिरकत यानी बँटवारा करना नापसन्द किया। इसमें शक नही कि असल में मालदारो (Haves) की तो एक तीसरी ही पार्टी थी और वह शासक शक्ति यानी हुकूमत करनेवाली ताकत थी। वह टुकडो पर की इस लड़ाई का मजा लेती और फायदा उठाती थी और असली खाना उसीके हाथ रहता था।

संस्था की हैसियत से और सामूहिकरूप में काग्रेस साम्प्रदायिक सस्थाओ से अलग रही, पर काग्रेसमैनो में से बहुतो को उनकी छूत लग गई। असली राष्ट्रवादियो—नेशन-लिस्टो—ने इस साम्प्रदायिक पागलपन को रोकनें की कोशिश की, पर उनको बहुत कम कामयाबी हुई और बडे-बडे दगे हुए।

इस अधाधुधी को बढाने के लिए एक तीसरी तरह की वर्गीय राष्ट्रीयता या फिरकेवाराना कौमियत उठ खडी हुई। यह सिक्ख राष्ट्रीयता थी। गुजरे हुए जमाने में सिक्खो और हिन्दुओ के बीच का फर्क बहुत धुँधला था। राष्ट्रीय जागृति ने जानदार सिक्खो को हिला दिया और वे अपनी एक खास और जुदा हस्तीके लिए कोशिश करनें लगे। उनमें एक बहुत बडी तादाद भूतपूर्व सिपाहियो की थी और इन लोगो ने एक छोटी पर बहुत अच्छी तरह सगठित जाति को, जो हिन्दुस्तान की ज्यादातर जमातो की तरह बातूनी न थी बल्कि क्रियाशील थी, कठोर बना दिया। उनमें से ज्यादातर पंजाब में अपनी जमीन के मालिक किसान (जमीदार) थे और कस्बो के बैंकरो और शहरी स्वार्थों की वजह से उनपर मुसीबत आती थी। अलग वर्ग की सूरत में स्वीकार किये जाने की उनकी माँग के पीछे असली उद्देश्य यह था। शुरू में 'अकाली' आन्दोलन ने मजहबी सवालो या गुरुद्वारो की जायदाद पर कब्जा करनें में दिलचस्पी लेनी शुरू की। अकाली-आन्दोलन नाम इसलिए पड़ा कि सिखो में अकाली सबसे क्रियाशील और जोरदार थे। इस सवाल पर सरकार से उनकी भिड़न्त होगई और अमृतसर के नजदीक 'गुरु-का-बाग' में उन्होनें साहस और सहनशीलता का अद्भुत दृश्य उपस्थित किया। पुलिस ने अकाली जत्थो को बडी बुरी तरह मारा, पर उन्होनें एक कदम पीछे न हटाया और न पुलिस पर हाथ चलाया। आखिरकार अकालियो की विजय हुई और गुरुद्वारों और मठो पर उनका कब्जा होगया। तब वे राजनैतिक क्षेत्र में आये और अपने लिए बडी-बडी माँगें करने में दूसरे साम्प्रदायिक वर्गों से होड़ करने लगे।

मुख्तलिफ़ जातियो या, जैसा मैंने कहा है, जातीय या वर्गीय राष्ट्रीयताओ की ये संकुचित साम्प्रदायिक भावनाएँ बडी दुःखद मालूम पड़ती थीं और सचमुच ही वैसी

हिन्दुस्तान में हिन्दू-मुस्लिम सवाल पैदा किया, साफतौर पर झूठ होगा; पर उसने इसे कायम रखने या दोनो जातियो के मेल को अनुत्साहित करनें की जो लगातार कोशिश की है, उसकी उपेक्षा करना भी ग़लत होगा।

असहयोग-आन्दोलन के स्थगित कर दिये जाने के बाद, १९२२ ई० में, ऐसी साजिशो के लिए ज़मीन अनुकूल थी। एक सख्त लड़ाई के बाद, जो बिना किसी नतीजे के एकाएक ख़त्म होगई, उसकी प्रतिक्रिया हो रही थी। तब वे मुख़्तलिफ सड़के, जो एक-दूसरे के समानान्तर चल रही थीं, एक-दूसरे से दूर होने और भिन्न दिशाओ में जाने लगी। ख़िलाफत का सवाल अब था ही नही। हिन्दू और मुसलमान साम्प्रदायिक नेता, जो असहयोग के ज़माने में जनता के सामूहिक उत्साह से दब गये थे, अब मौका देखकर फिर उठ खडे हुए और सार्वजनिक जीवन में हिस्सा लेने लगे। मध्यमवर्ग के बेकार मुसलमानो नें महसूस किया कि हिन्दुओ ने सब नौकरियो पर क़ब्ज़ा जमा रक्खा है और हमारे रास्ते में कॉटें है। इसलिए उन्होने अपने बारे में जुदा वर्ताव करने और हर चीज में अलग हिस्सा दिये जाने की माँग की। राजनैतिक दृष्टि से हिन्दू-मुस्लिम सवाल में नौकरियो का झगड़ा और मध्यम श्रेणी का सवाल था। पर इसका असर सर्वसाधारण पर पड़ा।

सब मिलाकर हिन्दू कुछ अच्छी हालत में थे। अंग्रेजी तालीम को जल्दी इख़्तियार करने की वजह से ज्यादातर सरकारी ओहदो और कामों पर वही नियुक्त हुए। वे मुसलमानो की बनिस्बत मालदार भी थे। गॉव का बेंकर या साहूकार बनिया था जो छोटे जमीदारो और काश्तकारो का शोषण करता था और धीरे-धीरे उन्हे बिलकुल बेहाल या भिखमगा कर देता था और तब ख़ुद उनकी जमीन पर कब्ज़ा कर लेता था। बनिया हिन्दू और मुसलमान काश्तकारो और ज़मीन वालो में कोई भेद नही करता और उनका एक-सा ही शोषण करता है, पर उसके मुसलमानो के शोषण ने, ख़ासकर उन सूबो में जिनमें किसान ज्यादातर मुसलमान थे, साम्प्रदायिक रुख इख़्तियार किया। मशीन की बनी चीज़ो ने संभवतः हिन्दुओ की बनिस्बत मुसलमानो पर ज्यादा चोट की, क्योकि मुसलमानो में कारीगर ज्यादा थे। इन सब बातो ने हिन्दुस्तान की दोनो बडी जातियो में कटुता बढ़ाने और उस मुस्लिम राष्ट्रीयता को मज़बूत बनाने में मदद की जो देश की बनिस्बत जाति की तरफ देखती थी।

साम्प्रदायिक नेताओ की माँगें ऐसी थी कि सच्ची राष्ट्रीय एकता की सारी उम्मीदो की जड़ पर चोट करती थी। उन्हीके साम्प्रदायिक तरीके पर उनका मुकाबिला करने के लिए हिन्दू साम्प्रदायिक संस्था सामने आई। यद्यपि वे अपनेको सच्चे राष्ट्रवादी—नेशनलिस्ट—कहते थे, पर दरअसल वे उतने ही संकीर्ण और साम्प्रदायिक

आदर्श अँधेरे में पड़ गया, क्योंकि ज्यादातर लोग अपने-अपने वर्ग की भाषा में सोचते और बोलते थे। चूँकि कॉंग्रेस किसी भी वर्ग की तरफदारी करने से अपनेको बचा रही थी, इसलिए उसपर सम्प्रदायवादियो द्वारा हर तरफ से हमला हो रहा था। यहाँ-तक कि अख़ीर में कांग्रेस के कितने ही मशहूर कार्यकर्ता भी साम्प्रदायिक राजनीति में फँस गये। इन दिनो काग्रेस का ख़ास कार्यक्रम शान्ति के साथ संगठन करना और खादी का था और इसने उसे किसान जनता के सम्पर्क में रक्खा।

असेम्बली और कौंसिलो के स्वराजी या कॉंग्रेस दल और भी ज्यादा गिर गये। क्योकि आम जनता का जीवनदायी स्पर्श उनसे छूट गया था। साम्प्रदायिक झगडे ने उन्हे कमजोर कर दिया, पर कौंसिलों के सदस्यो के सामने सरकार जो बहुत तरह के प्रलोभन बराबर रख रही थी वे उनके लिए इससे भी ज्यादा ख़तरनाक साबित हुए। उनके सामने न सिर्फ मिनिस्टरी और ओहदे थे, बल्कि बेशुमार कमेटियो और कमीशनो की मेम्बरी और सरकारी ख़र्चे से कभी-कभी योरप की सैर कर आने का प्रलोभन भी था। कॉंग्रेस ने मिनिस्टरी और दूसरे पदो का बायकाट किया था और वह आखीर तक इस नीति पर डटी रही। पर दूसरे मामलो में इसमें भी कमजोरी आगई और एक कदम के बाद दूसरा कदम बढ़ता गया। कौंसिलो के बहुत-से कॉंग्रेसी सदस्यो ने अपनी स्थिति का, जिसे उन्होने कॉंग्रेस की मदद के ज़रिये हासिल किया था, अपने निजी फ़ायदे के लिए नाजायज़ इस्तेमाल किया। कुछ ने, योरप के मजदूर नेताओ की तरह, उन ऊँचे सरकारी ओहदो तक पहुँचने के लिए इससे सीढी का काम लिया जहाँ से वे कॉंग्रेस-आन्दोलन को कुचलने में सरकार की मदद करते!

राबर्ट ब्राउनिंग की 'खोया हुआ नेता' (The Lost Leader) नाम की एक छोटी-सी भावपूर्ण कविता है, उसमें से चन्द लाइने मैं यहाँ दूंगा :—

Just for a handful of silver he left us,
Just for a riband to stick in his coat—
Found the one gift of which fortune bereft us,
Lost all the others she lets us devote,
They, with the gold to give, doled him out silver,
So much was theirs who so little allowed
How all our copper had gone for his service!

अर्थात् —"सिर्फ' चाँदी के चन्द टुकडो के लिए उसने हमे छोड़ दिया— बस अपने कोट पर (उपाधि या तमगे का) एक फीता लगाने के लिए। उसने सिर्फ एक चीज पाई, जिससे किस्मत ने हमे महरूम रक्खा था, और उन सबको खो दिया जो उसने (किस्मत ने) हमे उसे अर्पित करने को दी थी। जिनके पास देने के लिए सोना था उन्होने उसे चाँदी के टुकड़े दिये, उनके पास बहुत था, पर इतना थोड़ा

थीं। फिर भी वे काफी स्वाभाविक थी। असहयोग नें हिन्दुस्तान को पूरी तरह से हिला दिया था और इन जातियो या वर्गो की जागृति और हिन्दू, मुसलमान और सिख राष्ट्रीयतायें उसका पहला नतीजा थी। और भी बहुत-सी छोटी जमाते थी जिनमें चेतना पैदा हुई। इनमें 'दलितवर्ग' नाम से पुकारे जानेवाले लोग भी थे। ये लोग एक जमाने से ऊँचे दर्जे के हिन्दुओ के जरिये दबा दिये गये थे और ज्यादातर खेतो में काम करनेवाले बेजमीन मजदूर थे। यह स्वाभाविक था कि जब उनमें चेतना आई तब अपनी बहुतेरी बाधाओ या असमर्थताओ से छुटकारा पाने की जबरदस्त इच्छा भी उनमें पैदा हुई और उन हिन्दुओ के प्रति कटुतापूर्ण क्रोध उनमें भर गया जिन्होने सदियो से उनको दबा रक्खा था।

हरेक जागृतवर्ग राष्ट्रीयता और देश-भक्ति की तरफ़ अपने ही स्वार्थो की रोशनी में देखता था। एक वर्ग या जाति हमेशा खुदगर्ज होती है, जैसे एक राष्ट्र भी स्वार्थी होता है, यद्यपि जाति या कौम में व्यक्ति निःस्वार्थ दृष्टिकोण रख सकते है। इस तरह हर वर्ग अपने हिस्से से बहुत ज्यादा चाहता था और सघर्ष का होना लाजिमी था। एक रुपये को पच्चीस या तीस आनो में तकसीम करना मुमकिन नहीं है। ज्यो-ज्यो अन्तर्साम्प्रदायिक कटुता बढी, हर वर्ग के ज्यादा जोशीले साम्प्रदायिक नेता आगे आते गये, क्योकि गुस्से के वक्त हरेक वर्ग अपना प्रतिनिधि उसी आदमी को चुनता है जो अपने वर्ग की माँगो को सबसे आगे और ऊँची रखता है और दूसरे वर्गो को सबसे ज्यादा गाली दे सकता है। इससे मामला और ख़राब होजाता है। सरकार ने इस कशमकश को बहुत-से तरीको से, खास तौरपर उग्र साम्प्रदायिक नेताओ को उत्साहित करके, बढ़ाया। इस तरह ज़हर फैलता गया और हम ऐसे शैतानी घेरे में फँस गये जिससे निकलने का कोई रास्ता दिखाई न देता था। इसे हिन्दुस्तान में अल्पमत का सवाल कहा जाता था और यह स्वराज्य के लिए एक जबरदस्त बाड़ होगया था।

जब ये शक्तियाँ और विनाशक प्रवृत्तियाँ हिन्दुस्तान में बढ़ रही थी, गाँधीजी यरवडा-जेल में वडे जोर से बीमार पड़ गये और अपेंडिसाइटीज के लिए उनका आपरेशन हुआ। १९२४ के शुरू में वह जेल से छोड़ दिये गये। साम्प्रदायिक झगडो से वह वडे दुखी थे और कई महीनो बाद होनेवाले एक दंगे से उनको इतना धक्का लगा कि उन्होने इक्कीस दिन का अनशन किया। तुम उनके इस अनशन के वक्त दिल्ली में मौजूद थी और शायद तुम्हे उसकी याद होगी। शान्ति कायम करने के लिए कई एकता-सम्मेलन हुए, पर उनका कोई ख़ास नतीजा न निकला।

इन साम्प्रदायिक झगडो और वर्गीय या जातीय राष्ट्रीयताओ का असर यह हुआ कि काग्रेस और कौसिलो की स्वराजपार्टी दोनो कमजोर होगई। स्वराज्य का

बढ़ गया। बड़े-बड़े शहर गाँवों के बल पर नहीं, छोटे शहरो के बल पर, यानी उनकी हानि करके, खड़े होगये। कपड़े का उद्योग ख़ास तौर पर बढ़ गया और इसी तरह खाने-पीने की चीज़ो के दामो में भी बढ़ती हुई।

बढ़ते हुए औद्योगीकरण यानी बड़े-बड़े कल-कारख़ाने की बढ़ती के नये सवालो पर गौर करने के लिए सरकार ने बहुतेरी कमेटियाँ और कमीशन बैठाये। इन कमेटियों और कमीशनो ने सिफारिश की कि विदेशी पूंजी को उत्साहित करना चाहिए। इन्होने आम तौर पर हिन्दुस्तान में ब्रिटिश औद्योगिक स्वार्थो के प्रति पक्षपात किया। हिन्दुस्तानी उद्योगो की रक्षा के लिए एक टैरिफ बोर्ड बनाया गया। पर, जैसा कि मैंने कहा है, इस संरक्षण का मतलब बहुत-से मामलों में हिन्दुस्तान में लगी हुई ब्रिटिश पूंजी का संरक्षण है। इन संरक्षित चीज़ो का दाम स्वभावतः बाज़ार में बढ़ गया, क्योंकि उनको चुंगी (Duty) देनी पड़ती थी और इससे उस हद तक गुज़र-बसर का ख़र्च बढ़ गया। इस तरह संरक्षण का बोझ असल में सर्वसाधारण जनता या इन चीज़ो के खरीदारो पर पड़ा और कारखानेदारो को एक सरक्षित बाज़ार मिल गया जिससे प्रतिद्वन्द्विता हटाली गई थी या कम हो गई थी।

कारख़ानो के बढ़ने से, कुदरती तौर पर, उद्योग-धंधो से मज़दूरी कमानेवाले लोगो की तादाद भी बढी। बहुत पहले, १९२२ में, सरकार के अन्दाज से हिन्दुस्तान में इस वर्ग म दो करोड़ आदमी थे। गाँवो के आदमी, जिनके पास ज़मीन नहीं थी और जो बेकार थे, इस वर्ग में शामिल होने के लिए खिचते गये और उनको शोषण की शर्मनाक हालत को बरदाश्त करना पड़ा। सौ वर्ष पहले, बड़े कारखानो की प्रणाली की शुरुआत के ज़माने में, इंग्लैण्ड में जो हालत थी, वही अब हिन्दुस्तान में थी---रोज़ाना काम का भयंकर लम्बा वक्त, दुःखदाई मजदूरी की दर, नीचे गिराने और तन्दुरुस्ती को नुकसान पहुँचानेवाली जीवन-प्रणाली। कारखानेदारो के वर्ग की निगाह सिर्फ एक ही बात पर थी और वह यह कि इस खुशहाली के ज़मानें में ज्यादा-से-ज्यादा मुनाफा उठाकर दौलत जमा करली जाय। कुछ साल तक उन्हें इस काम में खूब कामयाबी भी हुई। वे बड़ा ऊँचा मुनाफा उठाते रहे; उधर मज़दूरो की हालत वैसी ही ख़राब बनी रही। मज़दूरो को इन ऊँचे मुनाफो में, जिन्हे उन्होने पैदा किया था, कोई हिस्सा न मिलता था; पर बाद में जब खुशहाली और चढ़ती के ज़मानें के बाद मन्दी आई और व्यापार ढीला पड़ गया, तब मज़दूरो से मज़दूरी कम करके इस बदकिस्मती और घाटे में हिस्सा लेने को कहा गया, क्योंकि मज़दूरी में कटौती हुए बिना धंधे और उद्योग को मुनाफे पर नहीं चलाया जा सकता था और मालिकों के मुनाफ़ा उठाये बिना कोई उद्योग कैसे चल सकता था?

दिया। उसकी सेवा के लिए किस तरह सारा ताँबा—सारे पैसे—हमने दे दिया था।"

ऊपर मैंने अपनी साम्प्रदायिक मुसीबतो के बारे में तुमको जरा विस्तार से लिखा है, क्योंकि १९२० के बाद की हमारी राजनैतिक जिन्दगी में उनका महत्वपूर्ण भाग रहा है। फिर भी हमें उनके बारे में अतिशयोक्ति या ज्यादा बढ़ाकर बात नही करनी चाहिए। आजकल उनको उससे ज्यादा महत्व देने की प्रवृत्ति दिखाई देती है जितना कि देना चाहिए और एक मुसलमान लडके और हिन्दू लड़के में होनेवाला हरेक झगडा साम्प्रदायिक समझ लिया जाता है और हरेक छोटे दगे का बड़ा प्रचार किया जाता है। हमें याद रखना चाहिए कि हिन्दुस्तान एक बहुत बड़ा देश है और हजारो कस्बो और गाँवो में हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे के साथ बडी शान्तिपूर्वक रहते है और उनके बीच कोई साम्प्रदायिक झगड़ा नही है। आमतौर पर इस तरह के झगडे थोडे-से शहरो में ही होते है, यद्यपि कभी-कभी वे गाँवो में भी फैल जाते है। यह भी याद रखना चाहिए कि हिन्दुस्तान में साम्प्रदायिक सवाल असल में मध्यम श्रेणी का सवाल है, और चूंकि हमारी राजनीति पर मध्यम वर्ग—कॉंग्रेस में, कौंसिलो में, अखबारो में, और दूसरे सब तरह के कामो में—हावी है, इसलिए इसको ज्यादा और अनुचित महत्व मिल जाता है। किसान बोलना—अपने को व्यक्त या जाहिर करना—नहीं जानते, अभी हाल के चन्द सालो से ही वे गाँवो की कॉंग्रेस कमेटियो और किसान-सभाओ और इस तरह की दूसरी सस्थाओ में हिस्सा लेने लगे है और यो उनकी राजनैतिक हस्ती शुरु ही हुई है। शहरो के, खास तौर पर बडे-बडे कारखानो के, मजदूर ज्यादा जागृत है और उन्होने मजदूर-संघ की शक्ल में अपना संगठन भी कर लिया है। पर कारखानो के ये मजदूर, और उनसे भी ज्यादा किसान, मध्यम श्रेणी से आये हुए व्यक्तियो की तरफ ही अपने नेतृत्व और पथ-प्रदर्शन के लिए देखते है। अब हमें यह देखना है कि उस जमाने में सर्वसाधारण जनता, किसानो और कारखानो के मजदूरो की क्या हालत थी।

महायुद्ध के कारण भारतीय उद्योगो में जो तेजी की तरक्की हुई थी वह शान्ति के बाद भी कुछ वर्षो तक जारी रही। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश पूंजी भरने लगी और नये कारखानो और उद्योगो को चलाने के लिए बहुत-सी नई कम्पनियो की रजिस्ट्री हुई। खास तौर पर बडी औद्योगिक पेढ़ियो और कारखानो में विदेशी पूँजी लगी थी। इस तरह बडे उद्योगो पर अमली तौर पर ब्रिटिश पूँजीवादियो का नियत्रण कायम हो गया था। कुछ साल हुए तब अन्दाज लगाया गया था कि हिन्दुस्तान में व्यवसाय करने-वाली कम्पनियो की ८७ प्रतिशत पूंजी ब्रिटिश थी, और सभवतः यह अन्दाज भी कम ही है। इस तरह हिन्दुस्तान पर ब्रिटेन का वास्तविक आर्थिक प्रभुत्व या नियंत्रण

वर्कमेन्स कम्पेनसेशन ऐक्ट (मजदूरों के मुआवजे का कानून) पास हुआ, जिसमें दुर्घटनाओं के कारण मज़दूर को कुछ मुआवज़ा देने की तजवीज़ की गई। १९२६ में एक 'ट्रेड यूनियन ऐक्ट' भी पास हुआ जिसमें मजदूर-संघ बनाने और उसकी स्वीकृति के नियम थे। इन दिनों हिन्दुस्तान, और खासकर बम्बई में मज़दूर-संघ (ट्रेड यूनियन) आन्दोलन तेज़ी से बढ़ा। एक 'आल इंडिया ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस' बनाई गई, पर चन्द सालों के बाद वह दो टुकड़ों में बँट गई। महायुद्ध और रूसी क्रान्ति के ज़माने से, सारी दुनिया के मज़दूर दो दलों में बँट रहे थे और दो मुख्तलिफ दिशाओं में जा रहे थे। पुराने कट्टर और माडरेट मजदूर संघ द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ (सेकेण्ड इंटरनेशनल, जिसके बारे में मैं पहले तुम्हें बता चुका हूँ) में शामिल थे। दूसरी तरफ नया और ज़ोरदार आकर्षण सोवियट रूस और तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ यानी 'थर्ड इंटरनेशनल' का है। इससे हर जगह माडरेट और कारखानों के ज़रा अच्छी हालत वाले मज़दूर सुरक्षिततता और 'सेकण्ड इंटरनेशनल' की तरफ़ देखते हैं और जो ज्यादा क्रान्तिकारी हैं वे 'थर्ड इंटरनेशनल' की तरफ देखते हैं। यह खिंचावट या रस्साकशी हिन्दुस्तान में भी हुई और १९२९ ई० के अखीर में अलगाव होगया। तबसे हिन्दुस्तान में मज़दूर-आन्दोलन कमज़ोर पड़ गया। इन दोनों दलों को एक में मिलाने की कई बार कोशिशें हुईं, पर अभीतक उनमें कोई कामयाबी हासिल नहीं हुई है।

किसानों के बारे में मैं उससे कुछ बहुत ज्यादा यहाँ नहीं बता सकता, जितना पिछले खतों में लिख चुका हूँ। उनकी हालत खराब होती जाती है और वे साहूकार (ऋणदाता) के क़र्ज़ से दिन-दिन ज्यादा दबते जाते हैं। छोटे ज़मींदार, वे किसान जो अपनी ज़मीन के खुद मालिक हैं, और काश्तकार सब रुपया क़र्ज़ देनेवाले बनिये और साहूकार के जाल में फँसते जाते हैं। चूँकि क़र्ज़ अदा करना नामुमकिन है, इसलिए धीरे-धीरे ज़मीन इस ऋण देनेवाले यानी बनिये या साहूकार के हाथ में चली जाती है और काश्तकार उसका दोहरा गुलाम होजाता है, क्योंकि वही (बनिया) अब उसका ज़मींदार और साहूकार दोनों होजाता है। आम तौर पर यह बनिया ज़मींदार शहर में रहता है और उसके और उसके काश्तकारों के बीच कोई सीधे या गहरे ताल्लुकात नहीं होते। उसकी तो सदा यह कोशिश होती है कि भूखों मरते हुए किसानों से ज्यादा-से-ज्यादा जितना रुपया मिल सके वसूल किया जाय। पुराना ज़मींदार खुद किसानों के बीच रहता था, इसलिए कभी-कभी उनपर दया भी कर देता था। साहूकार ज़मींदार, जो उनसे दूर शहर में रहता है और अपने गुमाश्तों या कारिन्दों को रुपया उगाहने के लिए भेजता है, ऐसी कमजोरी शायद ही कभी दिखाता हो।

ज्यो-ज्यो मजदूरो के संगठन यानी मजदूर-संघ बढे, मजूरी को अच्छी हालतो, काम के कम घण्टो और ज्यादा मजदूरी की माँगे भी उनके साथ बढी। कुछ इससे और कुछ सारी दुनिया की इस माँग के कारण कि मजदूरो के साथ अच्छा सलूक किया जाना चाहिए, सरकार ने कारखाने के मज़दूरो की हालत सुधारने के लिए बहुत-से कानून पास किये। मै किसी पिछले ख़त मे तुमको फैक्टरी कानून के पास होने की बात बता चुका हूँ। इस कानून में यह तजवीज़ रक्खी गई कि १२ से १५ वर्ष तक के लड़के एक दिन में ६ घण्टे से ज्यादा काम न करे। इसी तरह से स्त्रियो और लड़को के लिए रात को काम करने की भी मनाई थी। बालिग मर्दों और स्त्रियों के लिए ज्यादा-से-ज्यादा ग्यारह घण्टे का दिन या ६० घण्टे का सप्ताह (एक काम का हफ़्ता जो ६ दिनो का होता है) की तजवीज़ थी। बाद की थोडी-बहुत तब्दीलियों के साथ यह फैक्टरी कानून अभीतक जारी है।

उन दुखिया मज़दूरो के संरक्षण के लिए जो खानो में, खास तौर पर कोयले की खानो में, जमीन के नीचे काम करते है, १९२३ में एक इंडियन माइस ऐक्ट या 'हिन्दुस्तानी खान कानून' पास हुआ। १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चो को ज़मीन के नीचे काम करने की मनाई करदी गई, पर स्त्रियाँ काम करती रही—यहाँतक कि कुल मजूरो में आधी स्त्रियाँ ही थी। बालिग लोगो के लिए ६ दिन के हफ़्ते का ज्यादा-से-ज्यादा काम यो निश्चित किया गया था—ज़मीन के ऊपर ६० घण्टे और जमीन के नीचे काम करने के लिए ५४ घण्टे। मैं समझता हूँ कि एक दिन काम लेने का ज्यादा-से-ज्यादा समय १२ घण्टे है। मै काम के इन घण्टो की चर्चा इसलिए कर रहा हू कि तुमको मजदूरो की हालत का कुछ इल्म होजाय। इसकी मदद से भी तुम्हें उन की हालत का बहुत थोडा ही इल्म हो सकता है, क्योकि उनके बारे में ठीक और पूरे तौर पर विचार बनाने के पहले तुम्हें इसके अलावा मजदूरी की दर, रहन-सहन की हालत वगैरा की जानकारी भी होनी चाहिए। यहाँ हम इन बातो में नहीं जा सकते, पर यह महसूस करने की बात है कि किस तरह लड़को और लड़कियो, स्त्री और पुरुषो को महज थोडी मजदूरी के लिए, जो किसी तरह सिर्फ उनको जिन्दा रखती है, इन कारखानो में ग्यारह-ग्यारह घण्टे रोज़ काम करना पड़ता है। कारखानो में जिस तरह का मनहूस और उबा देनेवाला काम वे करते है वह भयंकर रूप से थका देनेवाला या दिल को गिरा देने वाला होता है। उसमें कोई आनन्द नही और जब वे बिलकुल थके हुए चूर-चूर होकर घर जाते है तो सारे कुटुम्ब को छोटी कोठरी, बल्कि माँद में, सफाई और टट्टी-पेशाब की सहूलियतो बग़ैर रहना पड़ता है।

कुछ और भी कानून पास हुए, जिनसे मज़दूरो को कुछ मदद मिली। १९२३ में

: १६२ :

भारत में शान्तिपूर्ण विद्रोह

१७ मई, १९३३

हिन्दुस्तान और उसके भूतकाल के बारे में मैंने तुमको बहुतेरे दूसरे मुल्को की बनिस्बत कही ज्यादा ख़त लिखे है; पर भूतकाल अब वर्तमान में मिलता जा रहा है और यह ख़त, जिसे मै शुरू कर रहा हूँ, कहानी को आज के हिन्दुस्तान तक पहुँचा देगा। मै हाल की चन्द घटनाओ का जिक्र करूँगा, जो हमारे मन में ताजा है। उनके बारे में लिखने का वक्त तो अभी नहीं आया है, क्योकि अभी कहानी अधूरी ही है। पर सब इतिहास वर्तमान में पहुँचकर एकाएक ही खत्म होजाते है और कहानी के बाकी अध्याय भविष्य के गर्भ में छिपे रह जाते है। और सच पूछें तो कहानी कभी ख़त्म नही होती; वह आगे चलती ही जाती है।

१९२७ के अख़ीर में ब्रिटिश सरकार ने ऐलान किया कि वह भावी सुधारों और सरकार के ढाँचे में तब्दीलियो के बारे में जाँच करने के लिए एक कमीशन भेजेगी। सारे राजनैतिक भारत ने इस ऐलान पर गुस्सा और विरोध ज़ाहिर किया। कॉग्रेस ने इसका विरोध इसलिए किया कि वह यो समय-समय पर हिन्दुस्तान की स्वतंत्रता की योग्यता की जाँच किये जाने के विचार के ही सख्त खिलाफ़ थी। हिन्दुस्तान पर जबतक हो सके अपना कब्ज़ा कायम रखने की अंग्रेजो की जो हार्दिक इच्छा है उसपर परदा डालने के ख़याल से वे इस वाक्य का प्रयोग करते थे। कॉग्रेस ने बहुत पहले से देश के लिए आत्म-निर्णय के अधिकार का दावा किया था—राष्ट्रो के उसी अधिकार का जिसको लेकर मित्र-राष्ट्रों ने महायुद्ध के जमाने में इतना शोर मचाया था। उसने ब्रिटिश पार्लमेण्ट के हिन्दुस्तान के साथ मनमाना बर्ताव करने या उसके भावी भाग्य का अन्तिम निर्णायक होने के अधिकार को मानने से इनकार कर दिया। इस आधार पर काग्रेस ने नये पार्लमेण्टरी कमीशन का विरोध किया। हिन्दुस्तान के माडरेट वर्गो ने दूसरे कारणो से कमीशन का विरोध किया, जिसमें खास वजह यह थी कि उसमें कोई हिन्दुस्तानी सदस्य नहीं था। यह एक शुद्ध ब्रिटिश कमीशन था। यद्यपि विरोध के कारण अलग-अलग थे, पर यह बात सच थी कि हिन्दुस्तान के सब वर्गो ने, सबसे अधिक नरम माडरेटो ने भी, मिलकर इसकी निन्दा की और इसके बायकाट का समर्थन किया।

इसी वक्त के करीब, दिसम्बर १९२७ में, मद्रास में कॉग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ और उसने निश्चय किया कि हिन्दुस्तान का उद्देश्य राष्ट्रीय स्वतंत्रता है। यह

खेतिहरो पर कितना कर्ज है, इसके मुख्तलिफ सरकारी तखमीने सरकारी कमेटियो ने लगाये हैं। १९३० में यह तखमीना लगाया गया था कि बरमा को छोड़कर सारे हिन्दुस्तान के कृषिजीवी वर्गों पर कुल कर्ज ८०३ करोड यानी ८ अरब३ करोड़ रुपयो का है। इसमें जमींदारो और किसानो दोनो के कर्ज शामिल हैं। पिछले तीन वर्षो की आर्थिक मन्दी में यह कर्ज वहुत वढ गया होगा।

इस तरह कृषिजीवी (खेती पर गुजर करनेवाले) वर्ग, छोटे जमीदार और काश्तकार, एकसमान दलदल में दिन-दिन ज्यादा नीचे डूबते जा रहे है और सिवा इस क्रान्तिकारी तरीके के कि आजकल की भूमि-प्रणाली की जड को काट दिया जाय, उनके वाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं है। इग्लैण्ड से खर्चीले कमीशन हिन्दुस्तान आते है और स्पेशल ट्रेनो में सारे देश का चक्कर काटते है और ऊँची आवाज में, ऊपरी और दिखाऊ सुधार के उपाय बताते है। हाल के सालो में इस तरह के दो 'रायल कमीशन'—कृषि-कमीशन और मजदूर-कमीशन—आ चुके है। टैक्सो का तरीका कुछ ऐसा है कि सबसे गरीब वर्ग पर सबसे ज्यादा बोझ पड़ता है, जिसे वह बर्दाश्त करने में समर्थ नहीं है। फौज, सिविल सर्विस और दूसरे ब्रिटिश जिम्मेदारीवाले महकमो के, जिनसे सर्वसाधारण का कोई फायदा नहीं, खर्च बढते जाते है। शिक्षा पर प्रति व्यक्ति करीब ९ पेंस (आठ आना) खर्च है, जबकि ब्रिटेन में २ पौण्ड १५ शिलिंग (करीब ३६ रुपया १०½ आना) प्रति व्यक्ति है। इस तरह ब्रिटेन शिक्षा पर प्रति व्यक्ति हमसे ७३⅓ गुना खर्च करता है।

आवादी पर प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय क्या है, इसका अन्दाज लगाने की अकसर कोशिश की गई है। यह एक मुश्किल मामला है और अन्दाज में फर्क होना स्वाभाविक है। दादाभाई नौरोजी ने १८७० ई० में २० रुपया सालाना प्रति व्यक्ति का अन्दाज किया था। हाल के तख्मीने ६७ रुपया प्रति व्यक्ति तक पहुँचे है—यहाँतक कि कुछ अंग्रेजो द्वारा सबसे वढाकर वनाये गये तखमीने भी ११६ रुपये से ज्यादा नही जाते। दूसरे देशो से इसका मुकाविला करना बड़ा दिलचस्प होगा। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में प्रति व्यक्ति औसत १,९२५ रुपये का है और तबसे यह और बढ़ गया है; ब्रिटेन में यह १,००० रुपये प्रति व्यक्ति है। कैसा जबरदस्त अन्तर है!

मजूर किया, जो कि स्वतंत्रता से बहुत कम था । अस्पष्ट रूप से यह ब्रिटिश उपनिवेशो के विधानो से मिलता-जुलता था । पर इसे भी काग्रेस नें कुछ ही वक़्त के लिए मजूर किया था और सिर्फ़ एक साल का वक़्त रक्खा था । इसके आधार पर एक साल के अन्दर ब्रिटिश सरकार से राज़ीनामा न होने पर कॉंग्रेस फिर स्वतत्रता के ध्येय पर लौट जायगी, यह तय हुआ । इस तरह काग्रेस और देश दोनो एक संकट की तरफ़ बढते जा रहे थे ।

मजदूर भी बडे उत्तेजित हो रहे थे, और कई बडे औद्योगिक केन्द्रो में मजदूरी घटाने की कोशिश पर बहुत उग्र बनते जा रहे थे । बम्बई में मजदूर वर्ग ख़ास तौर पर अच्छी तरह संगठित था और वहॉं बडी-बडी हड़ताले हुई, जिनमें एक लाख या इससे भी ज्यादा मजदूरो नें हिस्सा लिया । समाजवादी, और कुछ हद तक साम्यवादी, ख़याल मजदूरो में फैलने लगे और सरकार ने इन क्रान्तिकारी बातो और मजदूरो की बढ़ती हुई ताकत से घबराकर १९२९ के शुरू में एकाएक ३२ मजदूर नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया और उनके ख़िलाफ़ एक बड़ा षड्यंत्र केस चलाया । यह मुकदमा 'मेरठ केस' के नाम से सारी दुनिया में मशहूर होगया है । पौने चार वर्ष के लम्बे मुकदमे के बाद इसी साल सब अभियुक्तो को लम्बी-लम्बी सजायें हुई है । और इसकी आश्चर्यजनक बात तो यह है कि इनमें से किसीपर विद्रोह के अमली काम, यहॉं-तक कि शान्ति-भंग करने के लिए भी, मामला नही चलाया गया । उनका जुर्म यह दिखाई देता है कि वे साम्यवादी ख़यालात रखते और उनके प्रचार की कोशिश करते थे ।

आन्दोलन का एक दूसरा रूप और था, जो अन्दर-ही-अन्दर धधक रहा था और कभी-कभी ऊपर भी जाहिर होजाता था । यह उन लोगो की कार्रवाइयॉं थीं जो क्रान्ति को लाने के लिए हिंसा के तरीको में विश्वास रखते थे । हिंसात्मक उपायो से क्रान्ति लाने के मार्ग में विश्वास करनेंवालो का एक तरह का आन्दोलन और था, जो अन्दर-ही-अन्दर सुलग रहा था और कभी-कभी ऊपर भी दिखाई दे जाता था । यह आन्दोलन ख़ास तौर पर बंगाल, कुछ हदतक पंजाब और थोड़ा-बहुत संयुक्तप्रान्त में दिखाई देता था । ब्रिटिश सरकार ने इसे कई तरीको से दबाने की कोशिश की और बहुत-से षड्यंत्र केस चलाये गये । 'बंगाल आर्डिनेंस' नाम का एक ख़ास कानून जारी किया गया । इसके जरिये सरकार को अधिकार दिया गया कि वह जिस किसीको चाहे, सन्देह होने पर, गिरफ्तार कर सके और बिना कोई मुकदमा चलाये जेल में रख सके । इस आर्डिनेंस के जरिये कई सौ बंगाली युवक गिरफ़्तार किये और जेल भेजे गये; वे नजरबन्द कहलाते थे और उनके जेल की कोई अवधि निश्चित नही की गई थी । यह ग़ौर

पहला मौका था कि कांग्रेस ने स्वतत्रता के अपने उद्देश्य का ऐलान किया। उसने साफ तौर पर और दृढता के साथ ऐलान किया, फिर भी शायद उस वक्त इस बात पर उसकी पूरे तौर पर दिलजमई नही हुई थी। दो वर्ष बाद, लाहौर में, निश्चित रूप से स्वतत्रता काग्रेस का ध्येय हुई। यह बात कि मद्रास काग्रेस स्वतंत्रता के बारे में साफ-साफ कोई निश्चय न कर सकी थी, उसके पास किये हुए एक दूसरे प्रस्ताव से भी जाहिर थी, जिसमें उसने हिन्दुस्तान के दूसरे वर्गो और सस्थाओ को मिल-जुलकर देश के लिए एक विधान बनाने को निमत्रित किया था। यह जाहिर था कि माडरेट वर्ग या नरम विचारवाले लोग स्वतत्रता तक जाने को तैयार न थे। इस तरह मद्रास-काग्रेस ने सर्वदल सम्मेलन (All Parties Confeience) को जन्म दिया। यह थोडे दिनो तक जिन्दा रहा, पर इसकी जिन्दगी क्रियाशील थी।

दूसरे साल, १९२८ में, हिन्दुस्तान में ब्रिटिश कमीशन आया। जैसा कि मैंने बताया है, आमतौर पर इसका बायकाट हुआ और जहाँ-जहाँ यह गया इसके खिलाफ जबरदस्त प्रदर्शन हुए। इसके अध्यक्ष के नाम से यह 'साइमन कमीशन' कहलाया और सारे हिन्दुस्तान में 'साइमन लौट जाओ' की ध्वनि गूंज उठी। कई जगह प्रदर्शन करनेवालो पर पुलिस ने लाठियाँ भी चलाई। लाहौर में लाला लाजपतराय तक को पुलिस ने मारा। चद महीनो बाद लालाजी की मृत्यु हो गई और डाक्टरो ने संभावना बताई कि पुलिस की मार ने उनकी मृत्यु को नजदीक लाने में मदद की। इन सब बातो से कुदरती तौर पर देश में बडी उत्तेजना और क्रोध छा गया।

इस दरमियान सर्वदल सम्मेलन एक विधान बनानें और साम्प्रदायिक गुत्थी को सुलझाने की कोशिश कर रहा था। उस वक्त हमारे राजनीतिज्ञो को विधान बनाने का काम बड़ा पसन्द था, मानो ताकत हासिल करने के लिए सिर्फ एक कागजी विधान की ही जरूरत हो! सर्वदल सम्मेलन ने विधान और साम्प्रदायिक सवाल पर अपने प्रस्ताव एक रिपोर्ट की शक्ल में पेश किये। यह रिपोर्ट नेहरू-रिपोर्ट के नाम से मशहूर है, क्योंकि जिस कमेटी ने रिपोर्ट का मस्विदा तैयार किया उसके चेयरमैन दादू थे।

इस साल की दूसरी उल्लेखनीय घटना गुजरात के बारडोली में सरकार द्वारा मालगुजारी बढा दिये जाने के खिलाफ किसानो की एक बडी लड़ाई थी। गुजरात में युक्तप्रान्त की तरह बडी जमींदारियो की प्रणाली नही है; वहाँ जमीन पर मिल्कियत रखनेवाले किसान (Peasant proprietors) है। सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में इन किसानो ने एक बडी जबरदस्त लड़ाई लडी और भारी फतह हासिल की।

दिसम्बर १९२८ की कलकत्ता-काग्रेस एक तरह से मद्रास की स्वतंत्रता के निश्चयवाली काग्रेस से नीचे उतर आई। इसने नेहरू-रिपोर्ट में बताये हुए विधान को

वर्ष का जो समय दिया था, वह ख़त्म हो रहा था। १९२९ के अखीर में ब्रिटिश सरकार ने उन घटनाओ को बढ़ने से रोकने की कोशिश की जिनकी कि चर्चा थी। उसने भावी उन्नति के बारे में एक अस्पष्ट ऐलान किया। उस वक़्त भी कॉंग्रेस ने सहयोग के लिए हाथ बढ़ाया, अलबत्ता उसमें कुछ शर्तें जरूर थीं। चूँकि ये शर्तें पूरी नही की गई इसलिए दिसम्बर १९२९ की लाहौर कॉंग्रेस नें लाज़िमी तौर पर पूर्ण स्वतंत्रता के ध्येय और उसके हासिल करनें के लिए लड़ाई लड़ने का फैसला किया। यह निश्चय ३१ दिसम्बर की आधीरात को किया गया, जब पुराना साल और एक साल का दिया हुआ वक़्त ख़त्म होता था।

इस तरह १९३० का साल आगे आनेवाली घटनाओ की छाया के साथ शुरू हुआ। सत्याग्रह के लिए तैयारियॉं हो रही थीं। फिर असेम्बली और कौसिलो का बायकाट किया गया और काग्रेसी सदस्यो ने उनसे इस्तीफा देदिया। २६ जनवरी को स्वाधीनता की एक खास प्रतिज्ञा सारे देश में, गांवो और शहरो में होनेवाली अगणित सभाओ में ली गई और हर साल उसकी वार्षिक-तिथि 'स्वाधीनता दिवस' के नाम से मनाई जाती है। मार्च में बापू की मशहूर दॉडी-यात्रा शुरू हुई। दॉडी समुद्र के किनारे पर है और वहॉं पहुंचकर उन्होने नमक-कानून तोड़ने का ऐलान किया था। उन्होने अपनी लड़ाई का आरंभ करने के लिए नमक-कानून को इसलिए चुना था कि यह टैक्स गरीबो पर बहुत भारी पड़ता था और इस लिए एक ख़ासतौर पर बुरा टैक्स था।

अप्रैल १९३० के मध्य तक सत्याग्रह-आन्दोलन पूरे जोर पर आ गया था और न सिर्फ हर जगह नमक-कानून तोड़ा गया, बल्कि और कानून भी तोडे गये। सारे देश में शान्तिपूर्ण बगावत हो गई थी और उसे कुचलनें के लिए नये-नये क़ानून और आर्डिनेस तेजी के साथ बनते जा रहे थे। लेकिन इन आर्डिनेसो पर भी सत्याग्रह होने लगा, यानी लोग उन्हे ही तोड़ने लगे। सामूहिक रूप से यानी झुण्ड-के-झुण्ड आदमियो की गिरफ़्तारियॉं हो रही थीं और पशुतापूर्ण लाठियो की वर्षा एक आम बात होगई थी। इनके अलावा शन्ति भीड़ पर गोलियो का चलना, कांग्रेस कमेटियो का गैरकानूनी ऐलान किया जाना, सेसरशिप, अखबारो का गला दबाना, मारना और जेलो में सख्ती करना जारी था। पर मै यहॉं उस जमाने के बारे में ज्यादा कहना नही चाहता। एक तरफ आर्डिनेसों का राज्य था, दूसरी तरफ़ उन आर्डिनेसो को तोड़ने का एक व्यवस्थित और निश्चित प्रयत्न था। इसके साथ विदेशी कपडे और ब्रिटिश माल का बायकाट भी चल रहा था। करीब एक लाख आदमी जेल गये और कुछ समय तक इस शान्तिपूर्ण पर दृढ़ता के साथ लडी जानेंवाली लड़ाई नें दुनिया का ध्यान अपनी तरफ़ खींच लिया।

करने के काबिल मनोरञ्जक बात है कि जब यह असाधारण आर्डिनेस जारी किया गया तब इंग्लैण्ड में शासन एक मजदूर सरकार के हाथ में था, जो इस आर्डिनेस के लिए जिम्मेदार थी।

इन क्रान्तिकारियो द्वारा आतंक के बहुत-से काम, ज्यादातर बंगाल में, हुए। इनमें से तीन घटनाओ ने खास तौर पर लोगो का ध्यान अपनी तरफ खीचा। एक लाहौर में ब्रिटिश पुलिस अफसर को गोली मारने की थी। लोगो का ख़याल था कि इसी अफसर ने साइमन कमीशन के खिलाफ हुए प्रदर्शन के वक्त लाला लाजपतराय को पीटा था। दूसरी घटना भगतसिह और बटुकेश्वरदत्त द्वारा दिल्ली के असेम्बली-भवन में बम फेंकने की थी। इस बम ने बहुत कम नुकसान किया और जान पड़ता है कि शोर मचाने और देश का ध्यान अपनी तरफ खींचने के लिए ही यह बम फेंका गया था। तीसरी घटना १९३० में चटगॉव में ठीक उस वक़्त हुई जब सत्याग्रह-आन्दोलन शुरू हुआ था। यह शस्त्रागार पर बडे पैमाने पर और साहस से भरा हुआ धावा था और इसमें कुछ कामयाबी भी हुई। सरकार ने इस आन्दोलन को दबाने के लिए जितने भी उपायो की कल्पना की जा सकती थी, उन सबका प्रयोग किया। खुफ़िया पुलिस और 'मुखबिर' रक्खे गये; बडी तादाद में लोगो को गिरफ़्तार किया गया और उनपर षड्यत्र के मुकदमे चलाये गये, लोगो को नजरबन्द किया गया (कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जो लोग अदालत में छूट जाते है वे तुरन्त फिर से गिरफ़्तार कर लिये जाते और आर्डिनेस के मुताबिक नजरबन्द बनाकर रक्खे जाते है); पूर्वी बगाल के बहुत-से हिस्सो पर अभीतक फौज का कब्जा है और लोग बिना 'आज्ञापत्र' या परवाने के घूम-फिर नहीं सकते, न बाइसकिलो पर चढ़ सकते है, न अपने मन की पोशाक ही पहन सकते है। पुलिस को खबर न देने के जुर्म में सारे-के-सारे कस्बो और गाँवो पर भारी जुर्माने किये गये है, और जिनपर आतकवादी होने का शक होता है उनका कुत्तो की तरह पीछा किया जाता है। बहुत समय से यह सब चलता रहा है और अबभी चल रहा है।

१९२९ ई० में लाहौर में जो षड्यंत्र केस चलाया गया था उसमें एक क़ैदी यतीन्द्रनाथ दास ने जेल के वर्ताव के खिलाफ विरोध-स्वरूप भूख-हड़ताल करदी। यह लड़का अख़ीर तक अपनी बात पर डटा रहा और इकसठवे दिन मर गया। यतीन्द्रनाथदास के आत्म-बलिदान का हिन्दुस्तान पर गहरा असर हुआ। दूसरी घटना, जिसने देश के दिल पर चोट की और उसे व्यथित किया, १९३१ के शुरू में भगतसिंह को दी जाने वाली फासी थी।

अब मुझे कॉग्रेस-राजनीति की तरफ़ लौटना चाहिए। कलकत्ता-कॉग्रेस ने एक

हिन्दुस्तानी इसमें गये, सबके सब सरकार के नामजद किये हुए थे। कठपुतलियो या बेजान छायामूर्तियो (परछाई की शक्लो) की तरह वे लदन के रंगमच पर कूदते-फाँदते थे और अच्छी तरह महसूस करते थे कि असली लड़ाई हिन्दुस्तान में चल रही है। सरकार ने हिन्दुस्तानियो की कमजोरी दिखाने के लिए बहस में साम्प्रदायिक मसले को सबसे आगे रख दिया; उसने कट्टर साम्प्रदायिक और पश्चाद्गामी लोगो को इस कान्फ्रेन्स के लिए नामजद करने की होशियारी पहले ही करली थी, जिससे समझौते की कोई सभावना ही न थी।

मार्च १९३१ ई० में काग्रेस और सरकार के बीच एक 'ट्रूस' या चदरोजा सुलह इसलिए हुई कि आगे बात-चीत हो सके। सत्याग्रह-आन्दोलन स्थगित कर दिया गया, सत्याग्रह के हजारो कैदी छूटे और आर्डिनेस उठा लिये गये। फिर भी राजनैतिक कैदियो की एक बडी तादाद जेलो में ही रह गई और अब भी है। इनमें १९१४ के षडयन्त्र, पजाब के फौजी कानून, मेरठ के और दूसरे बहुतेरे षडयत्र के मामलो के कैदी थे और बगाल के नजरबन्द लोग थे। हिन्दुस्तानी जेलो में इनकी एक स्थायी राजनैतिक आबादी या बस्ती ही बस गई है। जबकि सत्याग्रही कैदी बहुत बडी तादाद मे एकसाथ आते और जाते है, तहाँ दूसरे कैदी बिना किसी विश्राम या भग के जेल की जिन्दगी बिता रहे है।

यह देखकर बडा मजा आता था कि देहली की सुलह के बाद किस तरह आदमी काग्रेस की दोस्ती का दम भरता था, यहाँतक कि इनमें वे लोग भी थे जो सदा उसपर हमला किया करते और उसे गाली दिया करते थे। सत्याग्रह-आन्दोलन ने उनपर असर डाला था और काग्रेस को ताकत देखकर वे सोचने लगे कि भविष्य में काग्रेस के हाथ में ज्यादातर सत्ता होगी। इसलिए वे, जो सदा से ही अवसरवादी थे, काग्रेस की तरफ दौडे और उसकी खुशामद करने और उसकी तारीफ के पुल बाँधने लगे। यह एक दु खदायी पर सच्ची बात है कि राजनैतिक लड़ाइयो में अकसर यह होता है कि जो वर्ग सबसे ज्यादा कुर्बानी करता है उसे सबसे कम मिलता है और जो लोग चुपचाप आराम से अपने घर बैठे हुए होते है वे लड़ाई से मिले हुए माल का बँटवारा करने में सबसे आगे आजाते है।

सन् १९३१ ई० में बापू काग्रेस की तरफ से दूसरी गोलमेज कान्फ्रेंस में शरीक होने के लिए लन्दन गये। खुद हिन्दुस्तान में तीन महत्वपूर्ण सवाल उठ खडे हुए, जिनकी तरफ सरकार और कांग्रेस दोनो का ध्यान गया। पहला सवाल बगाल का था, जहाँ सरकार ने आतकवाद को मिटाने की आड़ मे राजनैतिक कार्यकर्ताओ के खिलाफ बड़ा ही सख्त दमन जारी कर रक्खा था। एक नया और पहले से बहुत ज्यादा सख्त

मैं तुम्हारे ध्यान में तीन बाते लाना चाहता हूँ। इनमें पहली पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त की जबरदस्त राजनैतिक जागृति थी। लड़ाई के बिलकुल शुरू में ही, ४ अप्रैल १९३० ई० को पेशावर में शान्त भीड़ पर ज़ोरो के साथ गोली चलाई गई और सारे सालभर हमारे सीमाप्रान्त के भाइयो ने बडी बहादुरी और धीरज के साथ सरकार के पशुतापूर्ण व्यवहारो को बर्दाश्त किया। यह दुगुनी महत्त्वपूर्ण बात थी, क्योंकि सीमाप्रान्त के लोग शान्त स्वभाव के नही हुआ करते, जरा-सी उत्तेजना की बात पर आग-बबूला हो जाते है। इतने पर भी वे शान्त रहे। बंगाल या बंबई के लिए, जिनके पीछे राजनैतिक कार्य का रेकर्ड है, लड़ाई में सबसे ज्यादा हिस्सा लेना आश्चर्य-जनक नही था, पर पठानो जैसे राजनैतिक मैदान में नये आनेवालो के लिए तुरन्त ही सामने आ जाना और ऐसा बहादुराना पार्ट अदा करना एक ताज्जुब की और साथ ही बडी ही तारीफ की बात थी।

दूसरी उल्लेखनीय बात, जो निश्चय ही इस महान् वर्ष की सबसे प्रधान घटना थी, भारतीय स्त्रियो की अभूतपूर्व जागृति थी। जिस तरह से उनमें से हज़ारो और लाखो नें अपना घूँघट हटा दिया और अपने सुरक्षित मकानो को छोड़कर अपनें भाइयो के साथ-साथ लडने के लिए मैदान में आ गईं और अक्सर अपने देश-प्रेम और बहादुरी से अपने आदमियो को शर्मिन्दा कर दिया, वह कुछ ऐसी चीज थी कि जिन लोगो ने उसे नहीं देखा वे मुश्किल से ही उसका विश्वास कर सकते हैं।

तीसरी नोट करनें लायक बात यह थी कि ज्यो-ज्यों आन्दोलन बढ़ा, किसानो के सवाल का आर्थिक पहलू स्पष्ट रूप से सामनें आता गया। १९३० सारी दुनिया में फैली हुई एक बडी मन्दी का पहला साल था। यह मन्दी अभीतक जारी है। १९३० में खेती से पैदा होनेवाली चीजो का दाम बहुत गिर गया। किसानो पर गाज गिर गया, क्योंकि उनकी आमदनी इन चीज़ो की बिक्री और उससे मिलनेवाले दाम पर ही निर्भर हैं। इसलिए उनकी इस मुसीबत के साथ करबन्दी का मेल बैठ गया और उनके लिए स्वराज्य कोई दूर का राजनैतिक ध्येय नहीं बल्कि तुरन्त का एक आर्थिक सवाल बन गया। इस तरह उनके लिए आन्दोलन एक नया और ज्यादा परिचित अर्थ लेकर सामनें आया और, उसमें जमींदार और-काश्तकार के बीच, वर्ग-संघर्ष का एक तत्त्व पैदा हो गया। यह बात खास तौर पर युक्तप्रान्त और पश्चिमी हिन्दुस्तान में थी।

जब हिन्दुस्तान में सत्याग्रह-आन्दोलन फूल-फल रहा था, तब समुद्र के उसपार लन्दन में, ब्रिटिश सरकार बडी शान-शौकत के साथ एक 'राउण्ड टेबुल कान्फ्रेंस (गोल मेज परिषद) कर रही थी। कांग्रेस को इससे कोई सरोकार न था। जितनें

णाम है। यह लड़ाई १९३० की लड़ाई से कही ज्यादा सख्त रही है। इसके लिए सरकार ने, पहले के अनुभवो से फायदा उठाकर, अपनेको बडी सावधानी से तैयार कर लिया था। कानूनी नकाब और कानूनी ढाचा खत्म कर दिया गया और सर्वव्यापी एव सर्वभक्षी आर्डिनेसो के जरिये, मुल्की अफसरो के सहारे, देश में ऐसा दमन किया गया जिसे एक तरह का 'मार्शल ला' (फौजी कानून) कह सकते है। राज्य की असली पाशविक सत्ता खूब साफ तौर पर दिखाई पडी है। यह बात लाजिमी थी, क्योकि ज्यो-ज्यो राष्ट्रीय आन्दोलन जोरदार और ताकतवर बनता जायगा और विदेशी सरकार के आधार के लिए ज्यो-ज्यो खतरनाक बनता जायगा त्यो-त्यो सरकारी प्रतिरोध और दमन जबरदस्त और भयकर होता जायगा। ऐसी हालत में धरोहर (Trusteeship) और सद्भावना के पवित्र और नरम वाक्य अलग रख दिये गये और उनकी जगह विदेशी शासन के सच्चे स्तम्भ या रक्षक के रूप में लाठियाँ और किरचे सामने आई। कानून न सिर्फ सिर पर बैठे हुए वाइसराय की इच्छा बन गया बल्कि हर छोटा अफसर मनमानी करने लगा; क्योकि वह अच्छी तरह जानता था कि वह जो कुछ करेगा उसका उसके ऊपर के अफसर समर्थन करेगे। खासकर जार के जमाने के रूस की तरह खुफिया विभाग और सी० आई० डी० के आदमी सब जगह फैल गये और उनकी ताकत बढ गई। कोई बंधन या रोक नहीं थी और अनियन्त्रित सत्ता की भूख सदा उसके इस्तेमाल से बढ़ती जाती है—यहाँ भी बढ़ती गई। एक सरकार जो मुख्यत. अपने खुफिया विभाग के सहारे हुकूमत करती है और एक देश जो ऐसी हुकूमत में होता है, दोनो बहुत जल्द भ्रष्ट या पतित होजाते है; क्योकि हरेक खुफिया विभाग साजिश, भेदियो, झूठ, आतंकवाद, उत्तेजक बनावटी बातो, धोखेबाजी और दूसरी ऐसी ही बातो पर फूलता-फलता है। पिछले तीन वर्षो में हिन्दुस्तान में छोटे अफसरो, पुलिस और सी० आई० डी० को जो बहुत ज्यादा अख्तियारात दे दिये गये थे और उन्होने उनका जैसा इस्तेमाल किया था उससे धीरे-धीरे इन महक्मो के आदमियो में पशुता आती गई और उनका पतन होता गया। लोगो को जेल जाने से रोकने के लिए तरह-तरह की कोशिशें की गई और जेल भेजने की जगह उनपर बेरहमी के साथ गहरी मार मारी गई। कोशिश यह थी कि लोग भयभीत होजायं।

मुझे ब्योरे की बातो में नहीं जाना चाहिए। इस मौके पर सरकार की नीति का एक मनोरंजक पहलू यह रहा है कि संस्थाओ और व्यक्तियों की जायदाद, मकान, मोटरे और बैंक में जमा रुपये जब्त कर लिये जायें। यह कॉंग्रेस के मध्यमवर्ग के समर्थको पर चोट करने और उन्हे डरा देने के लिए किया गया। अब व्यक्तिगत धन

आर्डिनेंस जारी कर दिया गया और देहली की सुलह के होते हुए भी बंगाल ने नहीं जाना कि शान्ति कैसी होती है।

दूसरा सवाल सीमाप्रान्त में था, जहाँ राजनैतिक जागृति के कारण लोग अब भी कुछ कार्यक्रम चला रहे थे। खान अब्दुलगफ़्फ़ारखां के नेतृत्व में एक बड़ा, अनुशासन से भरा हुआ पर शान्तिपूर्ण संगठन बनता और फैलता जा रहा था। इनको 'ख़ुदाई ख़िदमतगार' और कभी-कभी 'रेडशर्ट' या लाल कुर्ती दल कहा जाता था। 'रेडशर्ट' इसलिए कि ये एक लाल 'यूनिफ़ार्म' (वर्दी) पहनते थे। किसी समाजवादी या साम्य-वादी संस्था से उनका ताल्लुक न था। सरकार इस आन्दोलन को बिलकुल पसंद न करती थी। वह इससे भयभीत थी, क्योंकि वह एक अच्छे पठान सिपाही या योद्धा की कीमत जानती थी।

तीसरा सवाल संयुक्तप्रान्त में पैदा हुआ। विश्वव्यापी मंदी और चीजों के दाम गिर जाने से गरीब काश्तकार पर बड़ी मुसीबत आपड़ी। वह अपना लगान नहीं अदा कर सकता था। उसे कुछ छूट दी गई, पर वह काफी न थी। कांग्रेस ने उसकी तरफ से मध्यस्थता की कोशिश की पर उसका कुछ ज्यादा नतीजा न निकला। जब नवम्बर १९३१ ई० में लगान-वसूली का वक़्त आया तो झगड़ा पैदा होगया। कांग्रेस ने काश्तकारों और जमींदारों को राय दी कि जबतक छूट का सवाल तय न होजाय, तब तक लगान और मालगुजारी मत दो। यह सत्याग्रह पहले इलाहाबाद से शुरू हुआ। बस, सरकार नें संयुक्तप्रान्त के लिए एक आर्डिनेंस निकाल दिया। यह एक बड़ा ही सख़्त और व्यापक आर्डिनेंस था। इसमें जिले के अधिकारियों को हर तरह के काम को कुचल देने, यहाँ तक कि व्यक्तियों की आमदरफ़्त को भी बंद करनें का पूरा अख़्तियार दिया गया था।

इस आर्डिनेंस के बाद ही तुरंत सीमाप्रान्त में दो नये विचित्र आर्डिनेंस जारी किये गये और सीमाप्रान्त एवं संयुक्तप्रान्त में प्रमुख कांग्रेसमैनों को गिरफ़्तार कर लिया गया।

जब बापू साल के आख़िरी हफ़्ते में, लंदन से बिना किसी कामयाबी के, लौटे तो उनके सामने यह स्थिति थी। तीन प्रान्तों में आर्डिनेंस राज्य था और उनके कई साथी जेलों में पहुँच चुके थे। एक हफ़्ते के अन्दर फिर कांग्रेस ने सत्याग्रह का ऐलान कर दिया। सरकार ने कांग्रेस कमेटियों और कांग्रेस से हमदर्दी रखनेवाली संस्थाओं को गैरकानूनी करार दे दिया।

यह लड़ाई डेढ़ वर्ष तक चलती रही है और अब भी चल रही है। और इस वक़्त में मैंने जो ये ख़त तुम्हें लिखे हैं, इसी लड़ाई का एक छोटा और अप्रत्यक्ष परि-

क्योंकि आम जनता को 'बडी घटनाओं' के लिए तालीम देकर तैयार करना पड़ता है। शान्ति के समय की मामूली राजनैतिक कार्रवाइयाँ--जैसे प्रजासत्तात्मक देशो में होने-वाले चुनाव वग़ैरा--अक्सर औसत आदमी को भ्रम में डाल देती है। उसके सामने भाषणों की धार बहती होती है और हरेक उम्मीदवार हर तरह की अच्छी बातो के करने का वादा करता है जिससे गरीब वोटर या खेत, कारखाने या दुकान में काम करनेवाला आदमी घबरा जाता और भ्रम में पड़ जाता है। उसे एक दल से दूसरे में कोई बहुत ज्यादा और साफ फर्क दिखाई नहीं देता। पर जब एक सामूहिक लड़ाई आती है, या जब क्रान्ति होती है, तब असली स्थिति यो साफ दीखती है जैसे बिजली से रोशनी हो उठी हो। ऐसी मुसीबत की घड़ियो में समुदाय, वर्ग या व्यक्ति अपनी वास्तविक अनुभूति या प्रकृति को छिपा नहीं सकते। सत्य बाहर आ जाता है। क्रान्ति का समय न सिर्फ चरित्र (Character), साहस, सहनशक्ति, आत्मत्याग और वर्ग-अनुभूति की कसौटी होना है बल्कि वह मुख्तलिफ वर्गों और समुदायो के बीच के उस असली संघर्ष को जाहिर कर देता है जो सुन्दर और अस्पष्ट जुमलो के नीचे ढका हुआ होता है।

हिन्दुस्तान में सत्याग्रह की लडाई एक राष्ट्रीय या कौमी लड़ाई रही है, वर्ग-सघर्ष नहीं। यह निश्चित रूप से मध्यम वर्ग का एक आन्दोलन रहा है जिसके पीछे किसानो का बल है। इसलिए यह वर्गों को उस तरह अलग और स्पष्ट नहीं कर सका जिस तरह कोई वर्गीय आन्दोलन करता। फिर भी, इस राष्ट्रीय आन्दोलन में भी, कुछ हद तक वर्गों की मोर्चाबन्दी हुई है। इनमें से कुछ--जैसे सामन्तशाही खयाल के राजा लोग, ताल्लुकेदार और बडे जमींदार--पूरे तौर पर सरकार के साथ बँधे हुए हैं। वे साफ-साफ और जोर से पुकारकर कहते हैं कि वे कौमी आजादी पर अपने वर्ग के हितो को तरजीह देते हैं, या कौमी आजादी तभी चाहिए जब उनके खास अख्तियारात को महफूज रखनेवाले सब तरह के सरक्षणो का बंदोबस्त कर दिया जाय। इससे यह साफ हो जाता है कि किसी राष्ट्रीय या कौमी लड़ाई में इनसे किसी तरह मदद की उम्मीद नहीं की जा सकती, हाँ राष्ट्रीय आन्दोलन की मुखालफत की उम्मीद जरूर की जा सकती है। इन्होंने निश्चित रूप से अपनेको विदेशी सरकार के साथ मिला दिया है।

कुछ हद तक सभी मालिक वर्ग (Possessing Classes), यानी वे सभी वर्ग जिनके स्थापित स्वार्थ (Vested Interest) होते हैं, किसी भी बडी तब्दीली से डरते हैं कि कहीं वह उनके खास अख्तियारात या सुविधाओं में दस्तदाजी न करे। बडे-बडे बोर्जुआ लोग यानी ऊँचे दर्जे का मध्यमवर्ग विदेशी सरकार को नापसंद

या जायदाद की पवित्रता की बात खत्म होगई है। सरकार एक-न-एक बहाने से इसे ज़ब्त कर रही है। इसी तरह हिंसा उसी वक्त बुरी और अनैतिक बताई जाती है जब कोई वर्तमान स्थिति को बदलने के लिए उसका इस्तेमाल करता है; पर खुद सरकार वर्तमान व्यवस्था की हिफाजत के लिए सब तरह की बेरहमी से भरी हुई और व्यापक हिंसा से काम लेने में अपनेको बिलकुल उचित और न्यायपूर्ण समझती है!

इन आर्डिनेंसो में से एक का एक मामूली पर ध्यान देने लायक पहलू यह रहा है कि अपने या अपने साये में पलनेवाले बच्चो के जुर्मों के लिए माँ-बाप और अभिभावक ज़िम्मेदार है।

जब हिन्दुस्तान में ये सब बाते हो रही है, तब ब्रिटिश प्रचार की मशीनरी, जो बहुत दिनो से अपनी काबलियत के लिए मशहूर है, हिन्दुस्तान की खुशहाली और शान्ति की एक सुन्दर तस्वीर दुनिया के सामने खींचने में मशगूल है। खुद हिन्दुस्तान में कोई अखबार परिणाम के डर से सच्ची बातो को छापने की हिम्मत नहीं करता—यहाँतक कि गिरफ्तार हुए लोगो के नाम तक छापना एक जुर्म है!

पर हिन्दुस्तान में ब्रिटिश नीति का परदा फाश करनेवाली सबसे खास बात यह रही है कि ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान के सब कट्टर पश्चाद्‌गामी या प्रतिक्रिया-वादी वर्गों से मेल करने की कोशिश की। आज ब्रिटिश साम्राज्य उन्नतिशील शक्तियो से लडने के लिए सामन्तशाही और प्रतिक्रिया की दूसरी ताकतो पर निर्भर करता है। उसने स्थापित स्वार्थों (Vested Interests) को अपनी मदद के लिए खडा करने की कोशिश की है। इस मदद को पाने के लिए उसने इनको (स्थापित स्वार्थ-वालो को) यह बताकर डराया कि अगर हिन्दुस्तान से ब्रिटिश सत्ता हटाली जायगी तो सामाजिक क्रान्ति होजायगी और तुम्हारा खात्मा हो जायगा। सामन्तशाही तौर-तरीके वाले राजा लोग हिन्दुस्तान में ब्रिटिश हुकूमत की पहली रक्षणात्मक मोर्चाबन्दी (First line of defence) है; उसके बाद बडे-बडे ज़मींदारो का वर्ग आता है। चतुराई-भरी चालबाजियो से और कट्टर सम्प्रदायवादियो को धकेलकर आगे खड़ा करके अल्पमत के मसले को हिन्दुस्तान की आज़ादी के रास्ते में एक बडा रोडा बना दिया गया है। अभी हाल में वह गौर करने के काबिल दृश्य दिखाई पड़ा जब मन्दिर-प्रवेश के सवाल पर ब्रिटिश सरकार ने कट्टर मज़हबी प्रतिक्रियावादियो के प्रति हर तरह की हमदर्दी और दोस्ती ज़ाहिर की। हर जगह ब्रिटिश सरकार प्रतिक्रिया, संकुचित धर्मोन्माद और भ्रमपूर्ण खुदगर्ज़ी में अपनी मदद ढूंढती है।

सामूहिक आन्दोलन या लडाई में एक बडी सुविधा होती है। आम जनता को सियासी तालीम देने का यह सबसे अच्छा और तेजी का, गो दुखदाई, तरीका है;

कॉग्रेस ने पास किया था। ज्यो-ज्यो कॉग्रेस सामूहिक या आम जनता की तरफ़ झुकती जाती है त्यो-त्यो बडे मालिक वर्गों की शंका बढ़ती जाती है और वे इससे दूर हटते जाते है, यद्यपि इसका आधार अब भी राष्ट्रीय है।

हिन्दुस्तान में बहुत-से लोगो ने बार-बार जेल जाने की आदत डाल ली है, और कुछ तो जेलों में लगातार कई वर्षो तक बने रहते है। दूसरे लोगो के एक समुदाय ने दूसरी आदत पैदा करली है—मेरा मतलब जनता के यानी सरकारी खर्च से गोलमेज कान्फ्रेंस की बैठको में शामिल होने के लिए हर साल लन्दन जाने की आदत से है। साल-दर-साल वे जाते है और बाते ही बाते करते है तथा ब्रिटिश सरकार को एक ऐसा विधान बनाने में मदद देते है जिसका खास मतलब पीढ़ियों तक हिन्दुस्तान में ब्रिटिश हकूमत को कायम रखना और हरेक स्थापित स्वार्थ की रक्षा करना है। संघ-राज्य का खयाल ही इसलिए आया कि ब्रिटिश भारत को कब्जे में रखने के लिए सामन्त-प्रथा वाले राजाओ की मदद की जरूरत थी। आर० एच० टाने नाम के एक जहीन अंग्रेज लेखक ने ब्रिटिश मजदूर दल के लिए कार्यक्रम सुझाते हुए लिखा है कि 'गधो की सबसे ज्यादा मुमकिन तादाद को सबसे ज्यादा संभव सख्या में गाजर देना' ("to offer the largest possible number of carrots to the largest possible number of donkeys") दल (मजदूर दल) का काम नहीं है। कोई कल्पना कर सकता है कि लन्दन के विधान-निर्माताओ ने इसे ही अपना खास काम खयाल किया होगा ?

हाल में ही ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान के विधान के लिए अपने प्रस्तावो को एक छोटी किताब की शक्ल में प्रकाशित किया है, जिसका नाम 'व्हाइटपेपर' है। उसने अपना काम पूरी तरह किया है और उसमें हरेक कल्पना किये जा सकने लायक संरक्षण को शामिल कर लिया गया है जिसे कि आदमी की सूझ सोच और बना सकती है। ये संरक्षण न सिर्फ उसके स्वार्थो की रक्षा के लिए है बल्कि हिन्दुस्तान पर उसके सैनिक शासन सम्बन्धी और व्यापारिक (Military, Civil and Commercial) यानी त्रिविध नियंत्रण को और मजबूत करने के लिए है। हरेक स्थापित स्वार्थ को महफूज रक्खा गया है और इंग्लैण्ड का स्थापित स्वार्थ सबसे बड़ा होने की वजह से उसको सुरक्षित रखने की सबसे जोरदार तजवीज की गई है। यही बात राजाओं, जायदाद पर मालिकी रखनेवाले वर्गों, नौकरियो और ब्रिटिश सरकार के पिछलग्गुओ के बारे में भी है। हरेक स्थापित स्वार्थ के लिए बडी दरियादिली से इन्तजाम किया गया है। बदकिस्मती इतनी ही है कि दूसरे के माल पर दिखाई जानेवाली इस उदारता नें हिन्दुस्तान के कमोबेश तैतीस करोड़ बाशिन्दो के लिए बहुत कम छोड़ा है। पर उन बेचारो के कोई स्थापित स्वार्थ न थे—सिवाय उनकी जिन्दगी के, जिसकी कोई कीमत नहीं।

करता है और खुद उसकी जगह लेना चाहता है। कुछ हद तक वह सरकार के प्रति कांग्रेस की चुनौती के साथ हमदर्दी रखता है, क्योंकि इससे उसके फायदे के अनुकूल राजनैतिक परिवर्तन होने की सम्भावना उसे मालूम पडती है। पर इसके साथ ही वह सामूहिक जनता और मध्यम वर्ग के छोटे लोगो से भी भय करता है। इसके अलावा उसको यह डर भी है कि कही कांग्रेस की विजय से ऐसा सामाजिक परिवर्तन न हो-जाय जो उसको पसन्द न हो। इसलिए ये लोग आम तौर पर मेंड़ या हद पर रहते है, साफ-साफ किसी तरफ शरीक नही होते, सरकार और कांग्रेस दोनो की हलकी आलोचना करते है और धीरज के साथ उस वक्त का इन्तजार करते है जब ये सत्ता के बँटवारे में बडा हिस्सा ले सकेंगे। लेकिन सामाजिक क्रान्ति का कोई इशारा किया जाता है, या उनके स्थापित स्वार्थों पर कोई हमला होता है, तब वे गुस्से से लाल होजाते है। यह एक गैरमामूली बात है कि लोग अपने ख़ास अख्तियारात और सहूलियतो के बचाव के लिए कितने आग-बबूला हो उठते है। इन अख्तियारात पर उनका नैतिक दावा या हक जितना ही कमजोर होता है, उतना ही वे उनमें दखल दिये जाने पर गुस्सा होते है।

अल्पमतो का मसला भी ज्यादातर विशेष समुदायो के स्थापित स्वार्थों का ही सवाल है। बहुतसे लोग हमेशा हिन्दू-मुस्लिम एकता के बारे में राग अलापा करते है। यह बात काफी तौर पर साफ है कि ऐसा मेल वाञ्छनीय है। पर यह बात भी उतनी ही जाहिर है कि सिर्फ इस जुमले को जादू के मन्त्र की तरह दोहराने से कोई फायदा नही हो सकता; न किसी तरह जोड-तोड़ के जरिये किये जानें वाले पैक्टो और समझौते से ही कोई मदद मिल सकती है। बदकिस्मती से सामने के असली सवालो पर 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' जैसे जुमलो से परदा पड़ जाता है। कुछ समुदायो के स्थापित स्वार्थों को अलग छोड दें तो गहराई में सवाल असल में आर्थिक है। स्वार्थों के संघर्ष, फिर चाहे वे मुख्तलिफ जातियो के बीच हो या प्रजासत्तावाद और सामन्तशाही के बीच हो, मुस्कराहटो, आलिगनो और एक-दूसरे की सचाई के वादो या ऐलानो से दूर नहीं किये जा सकते। अकगणित या अलजबरा का कोई मसला उसपर मुस्कराने से हल नहीं होता, न एक-दूसरे के ख़िलाफ दो चीजो को उनकी परिक्रमा करने से ही एक में मिलाया जा सकता है।

हाल में कांग्रेस-आन्दोलन नीचे के दर्जे के मध्यम वर्ग के ऐसे आन्दोलन में तबदील होगया है जिसके पीछे छोटे जमीदारो और किसानो की जोरदार मदद है। अब इसमें आम जनता के स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करने की प्रवृत्ति पहले से ज्यादा बढ़ गई है और मौलिक और आर्थिक अधिकारो पर एक दिलचस्प प्रस्ताव १९३१ में करांची-

की प्रेरणा एक ही है और उद्देश्य भी एक ही है। और इन राष्ट्रीय आन्दोलनों को दबाने में साम्राज्यवाद जो ढंग इख्तियार करता है वह भी दोनों देशों में बहुत-कुछ एक है। इसलिए हम दोनों एक-दूसरे के अनुभवों से बहुत-कुछ सीख सकते हैं। हम हिन्दुस्तान वालों के लिए तो एक खास नसीहत है, क्योंकि हम मिस्र के उदाहरण में देख सकते हैं कि 'स्वतंत्रता' की ब्रिटिश देनों का क्या मतलब होता है और वे कहाँ-तक लेजाती हैं।

सब अरब देशों (अरबस्तान, इराक, सीरिया, फिलस्तीन) में मिस्र सबसे आगे बढ़ा हुआ है। यह पूर्व और पश्चिम के बीच का राजमार्ग—स्वेज नहर बनने के बाद से जहाजों के लिए तिजारत का महान् समुद्री रास्ता—रहा है। पश्चिमी एशिया के किसी देश की बनिस्बत इसका उन्नीसवीं सदी के नये योरप के साथ सबसे ज्यादा सम्पर्क रहा है। दूसरे अरब देशों से बिलकुल जुदा इसकी एक अलग राष्ट्रीय इकाई है, पर उनके साथ इसका घनिष्ट सांस्कृतिक सम्बन्ध भी है, क्योंकि इन सबकी जबान, परम्परा और मजहब एक ही है। काहरा (कैरो) के रोजाना अखबार सब अरब देशों को जाते हैं और वहाँ उनका बड़ा प्रभाव है। इन सब देशों में से सबसे पहले राष्ट्रीय आन्दोलन मिस्र में ही शुरू हुआ, इसलिए दूसरे अरब देशों के लिए मिस्री राष्ट्रीयता का एक नमूना बन जाना लाजिमी था।

मिस्र की बाबत लिखे हुए अपने पिछले खत में मैंने अरबीपाशा के नेतृत्व में होनेवाले १८८१-८२ के राष्ट्रीय आन्दोलन का जिक्र किया था और यह भी बताया था कि वह ब्रिटेन के जरिये किस तरह कुचल दिया गया। मैंने तुमको शुरू के सुधारकों, जमालउद्दीन अफगानी और कट्टर इस्लाम पर पश्चिम के नये खयालात के असर की बाबत भी बताया है। इन सुधारकों ने पुराने उसूलों की तरफ लौटकर और धर्म की फिजूलियात यानी सदियों के बीच उसमें मिल गई बहुतेरी बातों को अलग हटाकर जमाना हाल की तरक्की से इस्लाम का मेल बैठाने की कोशिश की। उन्नतिशील विचार के लोगों ने दूसरा कदम यह रक्खा कि धर्म को सामाजिक संस्थाओं से अलग कर दिया। पुराने धर्मों का कायदा यह है कि वे हमारी रोजमर्रा की जिन्दगी के हर पहलू को घेर लेते और उसे चलाते हैं। इस तरह हिन्दूधर्म और इस्लाम, अपनी शुद्ध धार्मिक शिक्षाओं से बिलकुल अलग भी, समाज का विधान बनाते और शादी, विरासत, दीवानी और फौजदारी कानून, राजनैतिक संगठन, और दूसरी सब चीजों के नियम निर्धारित करते हैं। दूसरे लफ्जों में वे समाज का एक पूरा ढाँचा निर्धारित करते और उसे धार्मिक स्वीकृति और सत्ता देकर स्थायी बनाने की कोशिश करते हैं। अपनी कठोर वर्ण-व्यवस्था से हिन्दूधर्म इस बारे में सबसे आगे निकल जाता

ब्रिटिश प्रस्तावो को देखकर इलाहाबाद के एक शायर अकबर का, जो कई साल हुए मर गये, एक उर्दू शेर याद आता है। यह शेर उन्होने १९०३ में लार्ड कर्जन के दिल्ली दरबार के वक्त लिखा था :

महफिल उनकी, साकी उनका,
आँखे अपनी, बाकी उनका।

असली सवाल जन-समूह का शोषण बन्द करने का है और जबतक यह नहीं किया जाता तबतक हिन्दुस्तान में शान्ति कैसे हो सकती है, या हमारी आजादी की लड़ाई कैसे खत्म हो सकती है ?

इस तरह कहानी चली जारही है। आज (१७ मई) बापू के अनशन का दसवॉ दिन है। अभीतक वह निबाह लेगये हैं और जान पडता है आगे भी बर्दाश्त करलेगे। यह जेल से छोड दिये गये है और अनशन के कारण उन्होने छः हफ्तो के लिए सत्याग्रह-आन्दोलन को स्थगित कर दिया है। उसके बाद ? कौन जानता है ?

मैंने बरमा की उपेक्षा की है और मुझे उसके बारे में तुम्हे कुछ जरूर बताना चाहिए। उसने १९३० या १९३२ के सत्याग्रह-आन्दोलन में हिस्सा नही लिया। पर महान् आर्थिक सकट के कारण १९३० और १९३१ में उत्तरी बरमा में किसानो की एक बडी बगावत होगई। यह बगावत अंग्रेजो ने बडी बर्बरता के साथ दबा दी। इस वक्त ब्रिटिश सरकार बरमा को हिन्दुस्तान से अलग करने की बडी जोरो से कोशिश कर रही है और बरमा में इससे बडा तहलका मच गया है। ऐसा जान पड़ता है कि वहांके ज्यादातर लोग हिन्दुस्तान से अलग होना नही चाहते।

और खैरबाद हिन्दुस्तान !—फिर मिलेगे।

: १६३ :

मिस्र की आज़ादी के लिए लड़ाई

२० मई, १९३३

आओ, अब हम मिस्र चले और बढती हुई राष्ट्रीयता और एक साम्राज्यवादी ताकत के बीच होनेवाली दूसरी लड़ाई का मुलाहिज़ा करे। हिन्दुस्तान की तरह वहाँ भी यह साम्राज्यवादी शक्ति ब्रिटेन है। मिस्र कई बातो में हिन्दुस्तान से बिलकुल मुख्तलिफ है और वहां ब्रिटेन हिन्दुस्तान की बनिस्बत बहुत थोडे वक़्त से रहा है, फिर भी दोनो देशो में बहुत-सी बाते एक-सी है। हिन्दुस्तान और मिस्र के राष्ट्रीय आन्दोलनो ने अलग-अलग तरीके इख्तियार किये, पर मूल में क़ौमी आज़ादी

सैद जगलूल थे जो 'फेल्लाह' या किसान कुटुम्ब से इस दर्जे तक बढ़े थे। जब अरबी-पाशा ने १८८१–८२ में अंग्रेजों को चुनौती दी, तब वह एक युवक थे और उन्होंने अरबीपाशा के नेतृत्व में काम किया। तबसे आगे १९२७ में अपनी मौत के वक़्त तक, यानी पैंतालीस वर्षों तक, उन्होंने मिस्र की आजादी के लिए काम किया और मिस्री स्वतन्त्रता-आन्दोलन के नेता होगये। वह मिस्र के सर्वमान्य नेता थे; किसान, जिनमें से वह उठे थे, उनसे मुहब्बत करते थे और मध्यम श्रेणी, जिसमें वह खुद थे, उन्हें पूजती थी। लेकिन रईस लोगों यानी पुरानी सामन्ती जमींदार श्रेणी ने उनके साथ अच्छा सलूक नहीं किया। वे उस बढ़ते हुए मध्यम वर्ग को पसन्द नहीं करते थे जो उनको धीरे-धीरे देश में उनके ऊँचे स्थान से दूर धकेल रहा था। उनकी निगाह में जगलूल एक मामूली खानदान का था, और जगलूल को अपने वर्ग के नेता और प्रति-निधि की हैसियत से उनके खिलाफ लड़ना पड़ा। हिन्दुस्तान की तरह वहाँ भी अंग्रेजों ने सामन्ती जमींदार वर्ग से अपने लिए मदद लेने की कोशिश की। वहाँ यह वर्ग मिस्री की बनिस्बत तुर्की ही ज्यादा था और पुराने शासक सरदारों का नुमाइन्दा था।

इस तरह ब्रिटिश सरकार नें, साम्राज्यवाद के अच्छी तरह परखे हुए और मंजूर-शुदा फैशन के ढंग पर, अपने साथ किसी सामाजिक समुदाय या राजनैतिक दल को मिला रखने की कोशिश की और एक वर्ग या दल को दूसरे वर्ग या दल के खिलाफ़ खड़ा करके एक राष्ट्रीयता की वृद्धि को रोक दिया। हिन्दुस्तान की तरह वहाँ भी उन्होंने अल्पमत का मसला उठाने की कोशिश की। ईसाई काप्ट लोग मिस्र में थोड़ी तादाद में हैं। पर इस कोशिश में वे नाकामयाब रहे। और यह सब भी उन्होंने अपने उसी प्रचलित फैशन में अपने ओठों से पवित्र वाक्यों का उच्चारण करते हुए किया। वे कहते रहे कि जो कुछ हम करते हैं सब तुम्हारे ही फायदे के लिए है; हम तो 'गूँगी जनता' के 'ट्रस्टी' हैं और अगर 'झगड़ा पैदा करनेवाले' और दूसरे लोग, जिनका देश में कुछ भी जोखिम उठाने लायक नहीं है, शान्त रहे तो सब कुछ ठीक होजायगा। मजा तो यह है कि जनता का उपकार करने के इस सिलसिले में अकसर उन्हीं फायदा उठानेवाले लोगों को बड़ी तादाद में गोलियों से भून दिया गया। शायद ऐसा उन्हें दुनिया के दुखों से छुटकारा दिलाने और स्वर्ग की तरफ़ उनके सफ़र को नजदीक लाने के लिए किया गया होगा!

सारे युद्ध के जमाने में और उसके बाद भी बहुत दिनों तक मिस्र में फौजी शासन था। युद्ध के जमाने में वहाँ 'डिसार्मामेण्ट ऐक्ट' और 'कासक्रिप्शन ऐक्ट' नामी दो कानून पास हुए थे। देश ब्रिटिश फौजों से भरा हुआ था। महायुद्ध के शुरू में ही उसपर ब्रिटिश संरक्षण का ऐलान कर दिया गया था।

हैं। एक सामाजिक ढाँचे को यो धर्म के जरिये स्थायी बना देने से किसी तब्दीली का होना मुश्किल होजाता है। इसलिए दूसरे देशो की तरह मिस्र में भी उन्नतिशील आदमियो ने धर्म को सामाजिक ढाँचे और सामाजिक सस्थाओ से अलग करने की कोशिश की। उन्होंनें वजह यह बताई कि पुरानी सस्थायें, जिन्हे धर्म या रिवाज ने पुराने जमाने में लोगो पर लाद दिया था, उस जमाने की हालत में मुनासिब थी। पर अव हालत वहुत वदल गई है और पुरानी सस्थायें या प्रथाये अब उनके साथ ठीक नहीं वंठती। मामूली विवेक से हम समझ सकते है कि बैलगाडी के लिए बनाया गया एक नियम मोटरकार या रेलगाडी के लिए मुनासिब नही होसकता।

इन उन्नतिशील आदमियो और सुधारको ने इस तरह की दलीले पेश की। इस वजह से राज्य और बहुतेरे रिवाजो ने ज्यादा लौकिक या दुनियावी शक्ल इख्तियार की, यानी वे धर्म से अलग कर लिये गये। जैसा हम देख चुके है, यह सिलसिला तुर्की में सबसे ज्यादा दूर तक गया। तुर्की प्रजातन्त्र का अध्यक्ष या राष्ट्रपति खुदा के नाम पर ग्रहण की जानेवाली शपथ भी नही लेता; वह इसे अपनी इज्जत के नाम पर लेता है। मिस्र में मामला इस हद तक नही पहुँचा है, पर दूसरे इस्लामी देशो में यही प्रवृत्ति काम कर रही है। तुर्क, मिस्री, सीरियन, फारसी वग़ैरा आज धर्म की पुरानी जबान की बनिस्बत राष्ट्रीयता की भाषा में कही ज्यादा बोलते है। सम्भवत हिन्दुस्तान के मुसलमानो ने दुनिया के मुसलमानो के किसी बडे समुदाय की वनिस्वत राष्ट्रीयकरण के इस सिलसिले का सबसे ज्यादा प्रतिरोध किया है और यो वे इस्लामी देशो के अपने धर्मबन्धुओ की बनिस्बत कही ज्यादा अनुदार, कट्टर और मजहवी रग के है। यह एक अजीब पर ग़ौर-तलब बात है। नई राष्ट्रीयता और पूंजी-वादी आर्थिक प्रणाली के नीचे पैदा हुए मध्यम वर्गो का विकास अक्सर साथ-साथ हुआ है। हिन्दुस्तान के मुसलमान इस बोर्जुआ या मध्यम वर्ग का विकास करने में वहुत सुस्त रहे हैं और इस कमी ने राष्ट्रीयता की तरक्की में बाधा डाली है। यह भी मुमकिन है कि हिन्दुस्तान में उनके अल्पमत में होने के खयाल ने उनको इतना भयभीत कर दिया कि वे ज्यादा अनुदार और कट्टर होगये और अपनी पुरानी परम्परा से जकडकर रह गये और नये खयालात की तरफ से शकित होगये। इसी तरह की किसी मानसिक अवस्था में वे हिन्दू भी रहे होगे जो करीब हजार वर्ष पहले, शुरू के इस्लामी हमलो के वक्त अपने खोलो में घुस गये और एक बडी सख्त, जातियो में बँटी हुई कौम वन गये।

उन्नीसवीं सदी के आखरी चौथाई हिस्से में और उसके बाद, विदेशी व्यापार बढ़ने के साथ, मिस्र में नई मध्यम श्रेणी पैदा हुई और बढ़ी। इस वर्ग के एक आदमी

हाथो उसकी एकाएक मौत होती रही है और यह बादशाह विधान को मुल्तवी करके निरंकुश राजा की तरह हुकूमत करता रहा है।

नई पार्लमेण्ट का पहला चुनाव १९२३ में हुआ और जगलूलपाशा और उनके दल ने, जो अब वफ़्द दल के नाम से मशहूर है, सारे देश में हलचल पैदा करदी। उनको ९० प्रतिशत वोट मिले और २१४ स्थानो में से १७७ पर उन्होने कब्जा कर लिया। इंग्लैण्ड के साथ समझौता करने की एकबार फिर कोशिश की गई और इसके लिए जगलूल लंदन गये। पर दोनो दृष्टिकोणो में मेल नहीं हो सका और कुछ सवालो पर समझौते की बातचीत टूट गई। इन सवालो में से एक सवाल सूडान का था। सूडान मिस्र के दक्षिण में एक देश है। यह मिस्र से बिलकुल जुदा ढंग का है; यहाँ के बाशिन्दे जुदा है और जबान भी जुदी है। इसके ऊँचे क्षेत्रो से नील नदी बहती है। यह नील नदी मिस्र के लिखित इतिहास के शुरू से यानी सात-आठ हजार वर्षो से मिस्र का जीवन-रक्त या सहारा रही है। मिस्र की सारी कृषि और जिन्दगी नील नदी में आनेवाले सालाना सैलाबो—बाढ़ो—के इर्द-गिर्द पनपी है, क्योकि ये सैलाब अबिसीनिया के ऊँचे प्रदेश से कीमती मिट्टी लाते है और मिस्र की ऊजड़ जमीन को उपजाऊ बनाते है। लार्ड मिलनर (मिलनर कमीशन के—जिसका बायकाट हुआ था—अध्यक्ष) ने नील नदी के बारे में लिखा था :—

> "यह खयाल दु खदाई है कि इस महानद से पानी की नियमित आमदनी, जो मिस्र के लिए सुविधा और खुशहाली का नही बल्कि जिन्दगी का सवाल है, सदा खतरे मे रहे, और यह तबतक सदा खतरे मे रहेगी जबतक कि नदी की उँचाई के स्थान मिस्र के कब्जे मे नही रहेगे।"

नदी की धारा के ये ऊँचे स्थान सूडान में है, इसलिए सूडान मिस्र के लिए बडे महत्व का है।

पिछले जमाने में सूडान इग्लैण्ड और मिस्र के संयुक्त नियंत्रण में समझा जाता था। इसे 'एंग्लो-इजीप्शियन सूडान' (अंग्रेजी-मिस्री सूडान) के नाम से पुकारा जाता था और अब भी बहुत-से नकशो और एटलसो में यही नाम है। चूंकि मिस्र पर अमली तौर पर ब्रिटेन की हुकूमत थी, इसलिए स्वार्थो का कोई संघर्ष नहीं था और मिस्र का बहुत-सा रुपया सूडान में खर्च किया गया। यहाँतक कि १९२४ में लार्ड कर्जन ने ब्रिटिश पार्लमेण्ट में कहा था कि अगर मिस्र खर्च के लिए धन न दे तो सूडान का दिवाला निकल जाय। लेकिन जब मिस्र छोड़ने के सवाल पर गौर करने के लिए ब्रिटेन को मजबूर होना पड़ा तब उसनें सूडान को पकड़ रखना चाहा; दूसरी तरफ मिस्रियो ने महसूस किया कि उनकी सारी हस्ती सूडान से बहने वाली नील नदी की धारा की रक्षा पर निर्भर है; इसलिए स्वार्थो में संघर्ष हुआ।

का मिस्र की स्वतन्त्रता का ऐलान ब्रिटिश सरकार का एकागी काम था, जिसे मिस्र ने कभी मजूर नहीं किया। पिछले ग्यारह वर्षो में मिस्र में यह बात अच्छी तरह जाहिर होगई है कि सरक्षणो के साथ स्वतन्त्रता का भी क्या मतलब हो सकता है।

इस 'स्वतन्त्रता' के बावजूद ब्रिटिश अफसरो की देखरेख में और भी डेढ़ साल तक 'मार्शल ला'—फौजी कानून—जारी रहा। यह तब खत्म हुआ जब मिस्र की सरकार ने 'ऐक्ट ऑफ इनडेमनिटी' यानी ऐसा कानून पास किया जिसके जरिये फौजी शासन के जमाने में अफसरो द्वारा किये गये गैरकानूनी कामो की जिम्मेदारी से उन्हे मुक्त कर दिया गया, यानी उन्हे पनाह दीगई।

नये 'स्वतत्र' मिस्र को एक बहुत ही प्रतिक्रियात्मक विधान दिया गया, जिसमें बादशाह के हाथ में बडे अख्तियारात थे। यह बादशाह—किंग फुआद—भी बेचारे मिस्रियो पर जबरदस्ती लाद दिया गया। बादशाह फुआद और ब्रिटिश अधिकारियो में खूब मेलजोल था, दोनो राष्ट्रवादियो को नापसन्द करते थे और दोनो जनता की आजादी के खयाल, यहाँतक कि असली पार्लमेण्टरी हुकूमत का भी विरोध करते थे। फुआद खुद अपनेको सरकार समझता था और जो उसके मन में आता वह करता था। उसने पार्लमेण्ट को बर्खास्त कर दिया और अपनी हिफाजत करने के लिए सदा तैयार ब्रिटिश सगीनो पर विश्वास करके डिक्टेटर की तरह हुकूमत करने लगा।

मिस्र की स्वतन्त्रता के अपने ऐलान के बाद पहला परोपकार का काम जो ब्रिटिश सरकार ने किया वह यह था कि उसने उन अधिकारियो के लिए मुआवजे की बडी-बडी रकमें माँगी जो नई हुकूमत के कारण 'रिटायर' (अलग) हो रहे थे! इस वक्त बादशाह फुआद ही मिस्र की सरकार था और उसने फौरन माँग स्वीकार कर ली और यो पैंसठ लाख पौंड की बडी रकम चुकाई गई—एक बडे अधिकारी को तो आठ हजार पाँच सौ पौण्ड मिले! फिर मजेदार बात तो यह हुई कि इन अधिकारियो में से कई, जो अलग होने के लिए गहरा मुआवजा ले चुके थे, खास कण्ट्राक्ट पर फिर रख लिये गये। याद रक्खो कि मिस्र बड़ा देश नही है और उसकी आबादी सयुक्तप्रान्त की आबादी की तिहाई से भी कम है।

मिस्री विधान बडी बहादुरी से कहता है कि "सारी सत्ता राष्ट्र से उद्‌भूत (Emanate) होती है," पर व्यवहार में बात यह है कि जबसे नया विधान जारी किया गया तबसे मिस्री पार्लमेण्ट के लिए बड़ा बुरा जमाना आगया है। जहाँतक मैं जानता हूँ (हाल की घटनाओ के बारे में मुझे बिलकुल ठीक इल्म नहीं है), एक भी पार्लमेण्ट अपनी सामान्य अवधि तक जिन्दा नहीं रही। बार-बार बादशाह फुआद के

घटनायें इस ढंग पर हुईं कि तुर्की, जो 'कैपिचुलेशन' का असली कारण था, कमालपाशा की फतह के बाद उनसे छूट गया, पर मिस्र ब्रिटिश संरक्षण में अभीतक उनसे लदा हुआ है। यहाँ मैं यह भी कहदूं कि चीन भी अभीतक इसी तरह के 'कैपिचुलेशनों' के खिलाफ़ लड़ रहा है। उन्नीसवीं सदी में, कुछ वक्त तक, जापान भी इनका मज़ा चख चुका था, पर ज्योंही वह ताकतवर होगया, उसने उन्हे ख़त्म कर दिया।

इस तरह विदेशी स्थापित स्वार्थों का सवाल ब्रिटेन और मिस्र के तस्फिये के बीच दूसरा रोड़ा था। स्थापित स्वार्थ सदा ही आज़ादी के रास्ते में रोड़ा अटकाते है।

अपनी सदा की उदारता के साथ ब्रिटिश सरकार ने अल्पमत वाली जातियो की रक्षा करने का भी निश्चय किया था और यह भी फरवरी १९२२ के स्वाधीनता वाले ऐलान में एक संरक्षण था। अल्पमत वाली मुख्य जाति काप्टो की थी। ऐसा ख़याल किया जाता है कि ये लोग पुराने मिस्रियो के वंशज है और इस तरह सब तरह के मिस्रियो में से मिस्र के ज्यादा असली बाशिन्दे है। वे ईसाई है और ईसाई धर्म के शुरू के दिनो से, योरप के ईसाई होने के भी पहले से, ईसाई ही चले आ रहे हैं। अल्पमत वाली जातियो के प्रति ब्रिटेन की इस कृपालुता पर उसका अहसान मानने की जगह काप्टो ने यह अहसानफरामोशी दिखाई कि ब्रिटिश सरकार से साफ कह दिया कि हमारे लिए आप तकलीफ़ न करे। फरवरी १९२२ के ब्रिटिश ऐलान के बाद एक बडी मीटिंग में काप्ट लोग इकट्ठे हुए और प्रस्ताव किया कि "राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति और कौमी एकता के लिए हम सब तरह के अल्पमत के प्रतिनिधित्व और सरक्षणों का त्याग करते है।" काप्टो के इस निर्णय की अंग्रेज़ो ने 'मूर्खतापूर्ण' कहकर आलोचना की। पर बुद्धिमानी या मूर्खता कुछ भी कहो, इसने उनकी रक्षा करने के ब्रिटिश दावे का ख़ात्मा कर दिया और अल्पमत वाली जातियो का सवाल बहस-मुबाहिसे की चीज़ नहीं रह गया। बल्कि सच पूछें तो काप्टों ने आज़ादी की लड़ाई में ज़बरदस्त हिस्सा लिया और वफ्द दल में ज़गलूलपाशा के कुछ बहुत ही विश्वासपात्र साथी काप्ट थे।

इन विरोधी दृष्टिकोणो और स्वार्थो के असली संघर्ष के कारण मिस्र, जिसके प्रनिनिधि ज़गलूलपाशा और उनके साथी थे, और ब्रिटिश सरकार के बीच हो रही १९२४ की समझौते की बातचीत टूट गई थी। इसपर ब्रिटिश सरकार बडी नाराज हुई। अभीतक वह मिस्र में मनमानी करते रहनें की अभ्यस्त होगई थी, इसलिए उसे कैरो की नई पार्लमेण्ट और ख़ासकर वफ़्द नेताओ के अडंगे और मुख़ालफ़त पर बडी खीझ हुई। बस उन्होने वफ़्द लोगो और मिस्री पार्लमेण्ट को अपने साम्राज्यवादी ढंग पर सबक सिखाने का इरादा कर लिया। बहुत जल्द उन्हे मौका भी मिल गया

१९२४ ई० में जब ब्रिटिश सरकार और सैद जगलूलपाशा के बीच सूडान के मसले पर बातचीत हो रही थी, तब कई तरह से सूडान के लोगो ने मिस्र के साथ अपनी मुहब्बत जाहिर की। इसके लिए ब्रिटिश सरकार उनकी छाती पर चढ़ बैठी और मिस्र की सरकार से सलाह-मशविरा किये बिना जो मन में आया किया। मजा यह कि सूडान पर इंग्लैण्ड और मिस्र दोनो का सयुक्त नियन्त्रण था और इसके लिए मिस्र को काफी खर्च करना पडता था।

अपनी मिस्री स्वाधीनता की कथित घोषणा में ब्रिटेन ने दूसरी छूट विदेशी स्वार्थों के सरक्षण की रक्खी थी। ये विदेशी स्वार्थ क्या थे? मै उनके बारे में किसी पिछले खत में तुम्हें बता चुका हूँ। जब तुर्की साम्राज्य कमजोर पड रहा था, तब महाशक्तियो ने उसपर कई नियम जबरदस्ती लाद दिये थे, जिनके मुताबिक तुर्की में उनके नागरिको के साथ विशेष व्यवहार किये जाने की तजवीज की गई थी। ये यूरोपियन विदेशी चाहे जो जुर्म करें पर तुर्की अदालतो में उनपर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता था। उनका मुकदमा उनके अपने देशो के राजदूतो या राष्ट्रीय प्रतिनिधियो यानी विदेशियो से बनी हुई खास अदालत में होता था। उनको कितने ही टैक्सो से छूट वगैरा की और भी बहुतेरी सहूलियतें दी गई थीं। विदेशियो की ये खास और क़ीमती सहूलियतें कैपिचुलेशस कहलाती थीं। कैपिचुलेशन का मतलब शत्रु के प्रति आत्म-समर्पण होता है और यह भी मिस्र राष्ट्र का, कुछ हद तक, अपनी स्वाधीनता से झुकना या आत्म-समर्पण करना ही था। चूँकि तुर्की को उन्हे मानना पडा, इसलिए तुर्की साम्राज्य के उपनिवेश भी उन्हे मानने को मजबूर हुए। मिस्र तो पूरी तरह ब्रिटेन के क़ब्जे में था और वहाँ तुर्की की सत्ता नाम मात्र को भी नहीं रह गई थी; पर इस मामले में उसे तुर्की साम्राज्य का हिस्सा समझा गया और उसपर भी 'कैपिचुलेशंस' लादे गये। ऐसी अनुकूल स्थिति में शहरो में विदेशी व्यापारियो और पूँजीपतियो की बस्तियाँ बस गईं। यह लाजिमी था कि वे एक ऐसी प्रथा के तोड़ने का विरोध करते जो हर तरह से उनकी हिफाजत करती और बिना टैक्स दिये उनके मोटे और मालदार होने में मदद देती थी। मिस्र में विदेशी स्थापित स्वार्थ भी थे जिनकी रक्षा की जिम्मेदारी ब्रिटिश सरकार ने ली थी। मिस्र के लिए ऐसी प्रणाली को मानना मुमकिन न था जो न सिर्फ स्वाधीनता की विरोधी थी बल्कि जिससे उसकी एक बहुत बडी आमदनी मारी जाती थी। अगर सबसे मालदार आदमी टैक्स से बरी होजायँ तो फिर सामाजिक अवस्था में किसी तरह के सुधार का कोई काम बडे पैमाने पर नहीं किया जा सकता। सीधी ब्रिटिश हुकूमत के लम्बे जमाने में अंग्रेजो ने प्रारम्भिक शिक्षा या गाँवो के सुधार और सफाई के लिए कुछ नहीं किया था।

४. ५ लाख पौण्ड हर्जाना दिया जाय,

५. सूडान से २४ घटे मे तमाम मिस्री फौजे हटा ली जायें,

६ मिस्र के हित की दृष्टि से सूडान मे आवपाशी के रकबे पर जो प्रतिबन्ध लगाया गया था वह हटा दिया जाय,

७ मिस्र मे सब विदेशियो की रक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार ने जो अधिकार हासिल कर लिया है, उसका आगे कोई विरोध न किया जाय। (इसमे इस बात का खास तौर से इशारा था कि अर्थ, न्याय और आन्तरिक महकमो में ब्रिटिश सत्ता कायम रक्खी जाय।)

इन सात माँगो पर कुछ गौर किया जाना चाहिए। चूंकि कुछ लोगो नें सर ली स्टाक को कत्ल कर दिया था, ब्रिटिश सरकार फौरन, जॉच की सम्भावना के बिना ही, कुल मिस्री सरकार यानी कुल मिस्री कौम के साथ मुजरिम का-सा बर्ताव करने लगी। इसके अलावा इस सारे मामले से उसने खासा आर्थिक लाभ भी उठाया, और सबसे ज्यादा गौर करने की बात यह है कि उसने इस मौके का फायदा उठाकर उन सब बातो का जबरन तसफिया करना चाहा जिनकी बाबत उसमें और मिस्री सरकार में मतभेद था और जिनके बारे में कुछ ही महीने पहले लन्दन में सुलह की बातचीत शुरू होकर टूट चुकी थी। फिर उसनें इतना ही काफी न समझकर यह भी कहा कि सब राजनैतिक प्रदर्शन निषिद्ध कर दिये जायें ताकि मुल्क के सामान्य सार्वजनिक जीवन का प्रवाह ही बन्द होजाय।

उस कत्ल के कारण इतनी मांगो का पेश किया जाना तो एक बडी असाधारण बात थी और एक कत्ल से ब्रिटिश लोगो के लिए इतना फायदा उठाना तो एक बडे तेज और उपजाऊ दिमाग का ही काम था। और इसमें ज्यादा ताज्जुब की बात एक यह भी थी कि अपराध और कत्ल को रोकनें के लिए खास तौर पर जिम्मेदार समझे जाने लायक दो बडे अफसर (जो नाममात्र को मिस्री सरकार के मातहत थे), यानी काहिरा की पुलिस का अध्यक्ष और सार्वजनिक रक्षा के यूरोपीय विभाग (European Department of Public Safety) का डायरेक्टरजेनरल, अंग्रेज ही थे। कत्ल के लिए उनको किसी ने जिम्मेदार नहीं समझा। लेकिन बेचारे मिस्री शासक-मण्डल पर, जिसने कि कत्ल के बाद फौरन सख्त रंज और अफसोस जाहिर कर दिया था, ब्रिटिश सरकार का भारी लेकिन बेरहमी से सोचा हुआ और फायदेमन्द गुस्सा दिखाया गया।

मिस्री सरकार ने हद दर्जे की नम्रता प्रकट की। जगलूलपाशा ने चुनौती की करीब-करीब सभी शर्तें मानलीं, और २४ घण्टे में ५ लाख पौण्ड का हर्जाना भी अदा कर दिया। सिर्फ सूडान के बारे में मिस्री सरकार नें कहा कि वह अपना हक नहीं छोड़ सकती। लेकिन इतनी नम्रता और मुआफी भी लार्ड एलेनबी के लिए काफी न

और जिस गैरमामूली तरीके पर उन्होने इसका इस्तेमाल किया और इससे फायदा उठाया, उसकी बावत मै अगले खत में लिखूंगा। वह महत्वपूर्ण घटना आजकल के साम्राज्यवाद की कारगुजारियो के लिए आईने की तरह है, इसलिए उसपर अलग खत लिखने की जरूरत है।

: १६४ :

अंग्रेजों की छत्रछाया में आज़ादी का तात्पर्य

२२ मई, १९३३

अपने पिछले खत में मैंने तुम्हे बताया था कि १९२४ में मिस्री सरकार, जिसके प्रतिनिधि राष्ट्रवादी थे, और अंग्रेजो के बीच सुलह की बातचीत शुरू होकर टूट गई थी और इससे ब्रिटिश सरकार बडी नाराज होगई थी। इसके बाद जो उल्लेखनीय घटनायें हुई उनका बयान करने से पहले मै तुम्हे यह बता देना चाहता हूँ कि कहने के लिए आजाद होते हुए भी मिस्र पर अंग्रेजो का फौजी कब्जा कायम रहा। वहाँ सिर्फ अंग्रेजी फौज रक्खी ही नहीं गई थी, बल्कि मिस्र की फौज भी अंग्रेजो के ही नियंत्रण में थी। उसका अध्यक्ष 'फौज के सरदार' के खिताबवाला एक अंग्रेज था। पुलिस के बडे-बडे अफसर भी अंग्रेज ही थे, और मिस्र में विदेशियो की रक्षा करने का बहाना बताकर ब्रिटिश सरकार अर्थ, न्याय और आन्तरिक महकमो पर भी नियंत्रण रखती थी। गरज यह कि, मिस्री शासन के हरेक महत्वपूर्ण काम पर अंग्रेजो का ही नियंत्रण था। स्वभावतः ही, मिस्रवासी इस बात पर जोर देते थे कि अंग्रेजो को यह नियंत्रण हटा लेना चाहिए।

१९ नवम्बर १९२४ ई० को एक अंग्रेज सर ली स्टाक, जो 'मिस्री फौज के सरदार' के पद पर था और जो सूडान का भी गवर्नर-जनरल था, कुछ मिस्रियो द्वारा कत्ल कर दिया गया। कुदरती तौर पर इससे मिस्र के और इग्लैण्ड के अंग्रेजो को बडा रंज पहुँचा। इससे मिस्र के राष्ट्रवादी दल वफ्द के नेताओ को तो और भी ज्यादा रंज हुआ, क्योंकि वे जानते थे कि इसके फलस्वरूप उनपर हमला किया जायगा। और यह हमला काफी जल्दी सामने आगया। तीन ही दिन के अन्दर, २२ नवम्बर को, मिस्र के ब्रिटिश हाई कमिश्नर लार्ड एलेनबी ने मिस्री सरकार को एक चुनौती दी, जिसमें नीचे लिखी मांगें फौरन पूरी करने को कहा गया :—

१. माफी माँगी जाय,
२. मुजरिमो को सजा दी जाय,
३ सब राजनैतिक प्रदर्शन बन्द कर दिये जायँ,

को और न शाह फुआद को अच्छी लगी, और इसलिए उसी दिन इस एक दिन की बिलकुल नई पार्लमेण्ट को तोड़ दिया गया। इसके पूरे एक साल बाद तक, विधान के ख़िलाफ भी, पार्लमेण्ट नही बनाई गई और फुआद डिक्टेटर की तरह हुकूमत करता रहा। हाँ, उसके पीछे असली ताकत थी ब्रिटिश कमिश्नर। सारे देश नें इसपर नाराजगी जाहिर की, और शाह फुआद और अंग्रेज़ो के इस गुट्ट का विरोध करनें के लिए सैद जगलूल सब दलो को एक करलेने में कामयाब हुए। नवम्बर १९२५ में सरकारी निषेधाज्ञा की परवा न करते हुए पार्लमेण्ट के मेम्बरो की एक बैठक भी हुई। पार्लमेण्ट-भवन पर तो सैनिको का क़ब्ज़ा था, इसलिए मेम्बरो को अपनी मीटिंग दूसरी जगह करनी पडी।

इस पर फ़ुआद ने अपनें महल से एक हुक्मनामा जारी करके सारे विधान को ही बदल डालनें की कोशिश की। उसकी मशा यह थी कि विधान को अधिक अनुदार बना दिया जाय, ताकि पार्लमेण्टो पर ज्यादा आसानी से नियन्त्रण रक्खा जा सके और अधिकांश जगलूली लोगो का आना बन्द हो जाय। लेकिन इसके ख़िलाफ़ जबरदस्त पुकार उठी, और यह जाहिर होगया कि नये तरीकें के चुनावो का पूरा बहिष्कार किया जायगा। इसपर शाह फ़ुआद को झुकना पड़ा, और पुरानें तरीकें के मुताबिक ही चुनाव हुए। नतीजा था जगलूल के दल का भारी बहुमत, १४ के विरुद्ध २००। इससे ज्यादा इस बात का क्या सबूत हो सकता था कि राष्ट्र पर ज़ग़लूल का कितना असर है और मिस्र क्या चाहता है ? इतना होनें पर भी ब्रिटिश कमिश्नर ने (जो कि हिन्दुस्तान के एक भूतपूर्व गवर्नर लार्ड लायड थे) कहा कि उसे ज़ग़लूल के प्रधान मत्री बननें पर ऐतराज़ है; और इसलिए दूसरा व्यक्ति मुकर्रर किया गया। यह समझना ज़रा मुश्किल है कि अंग्रेजो को इस मामले में दख़ल देनें से क्या सरोकार था। फिर भी नई सरकार पर ज्यादातर ज़गलूल के दल का ही नियन्त्रण था और बहुत नरम होने की कोशिश करने पर भी वे लोग अक्सर लार्ड लायड के संघर्ष में आजाते थे, जो कि बड़ा सख़्त और ज़ालिम आदमी था और अक्सर उन्हे अंग्रेज़ी जंगी जहाज़ों की धमकी दिया करता था।

ब्रिटेन से समझौता करने की दूसरी कोशिश १९२७ ई० में की गई, लेकिन शाह फ़ुआद का नरम-से-नरम प्रधान मन्त्री भी ब्रिटेन की शर्तों को देखकर ताज्जुब में पड़ गया। सिर्फ कागज़ी आजादी के दिखावे के अन्दर उनका असली मकसद था मिस्र को अंग्रेज़ी संरक्षण में रखना। इसलिए सुलह की बातचीत फिर नाकामयाब रही।

जब ये समझौते की बातें चल रही थीं, तब, २३ अगस्त १९२७ को, सत्तर वर्ष की उम्र में, मिस्र के महान नेता सैद जगलूलपाशा की मृत्यु होगई। वह तो मर

थी, और चूंकि सूडान-सबधी शर्तें मानी नहीं गई थीं, इसलिए अग्रेजो की तरफ से उसने सिकन्दरिया (एलेग्जेण्ड्रिया) के कस्टम्स हाउस यानी चुगीघर पर जबरन कब्जा कर लिया, और इस तरह चुगी की आमदनी पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया। फिर, मिस्रवासियो के विरोध करने पर भी, उसने सूडान में इन शर्तो को लागू कर दिया और सूडान को ब्रिटिश बस्ती बना डाला। सूडान में फौज की बगावतें भी हुईं, लेकिन उन्हें बेहद सख्ती के साथ दबा दिया गया।

अग्रेजो की इस कार्रवाई के खिलाफ जगलूलपाशा और उनकी सरकार ने फौरन इस्तीफा देदिया, और नवम्बर १९२४ के उसी महीने में शाह फुआद ने पार्लमेण्ट तोड़ दी। इस तरह अग्रेज लोग जगलूल और उसके दल 'वफ्द' को उसके पद से निकाल बाहर करने और, कम-से-कम उस वक्त के लिए ही सही, पार्लमेण्ट को खत्म कर देनें में कामयाब होगये। उन्होने सूडान को अपने राज्य में मिला लिया, और इस तरह सूडान में नील नदी के पानी के नियन्त्रण द्वारा मिस्र का सरलता से गला घोटने की ताकत हासिल करली।

मिस्र की दुखिया पार्लमेण्ट नें एक खेदजनक घटना का साम्राज्यवादी लाभ के लिए दुरुपयोग करने के खिलाफ राष्ट्र-सघ में अपील की। लेकिन बडी शक्तियो के खिलाफ शिकायतो के बारे में तो राष्ट्रसघ न कुछ सुन सकता है, न देख सकता है।

उस वक्त से आजतक मिस्र में एक तरफ वफ्ददल, जो कि लगभग सारे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, और दूसरी तरफ़ शाह फुआद और ब्रिटिश हाई कमिश्नर के गुट्ट के बीच, जिनका समर्थन अन्य विदेशी स्वार्थो और राज-दरबार के पिछलग्गू करते हैं, लगातार एक कशमकश चली आ रही है। ज्यादातर देश का शासन, राज्य-विधान के विरुद्ध भी डिक्टेटरशाहियो द्वारा चलता रहा है, जिसमें शाह फुआद स्वेच्छाचारी बादशाह की तरह काम करता रहा है। जब कभी पार्लमेण्ट की बैठक होजाने दी गई, तभी फौरन उससे यह जाहिर होगया कि वफ्ददल के साथ करीब-करीब सारा राष्ट्र है, और इसीलिए वह तोड़ दीगई। फ़ुआद की मदद पर अगर अग्रेज और उनके नियन्त्रण में फौज और पुलिस न होती, तो शायद वह इस तरह का अमल न कर सकता। 'आजाद' मिस्र के साथ लगभग वैसा ही बर्ताव किया जाता है जैसा कि हिन्दुस्तान में किसी देशी रियासत के साथ, जहाँकि असली सत्ता यानी अंग्रेज रेजीडेन्ट के इशारो के मुताबिक कार्य चलता है।

नवम्बर १९२४ ई० में पार्लमेण्ट तोड़ दी गई। मार्च १९२५ में नई पार्लमेण्ट की बैठक हुई। इसमें वफ्ददल का भारी बहुमत था, और उसने फौरन जगलूलपाशा को चैम्बर आफ डेप्युटीज के प्रधान-पद के लिए चुन लिया। यह बात न तो अंग्रेजो

में थी, उन्हे हटा दिया गया और डिक्टेटरशाही घोषित करदी गई। अंग्रेजी अखबारो और मिस्र के यूरोपियनो ने बडी खुशियाँ मनाई।

डिक्टेटरशाही के होते हुए भी पार्लमेण्ट के मेम्बरों ने अपनी बैठक की और नई सरकार को गैरकानूनी ऐलान कर दिया। लेकिन लायड और फुआद ने इन मामलो की कोई चिन्ता न की। 'इन्साफ और अमन' का काम इतना ही होता है कि वह प्रतिक्रिया और साम्राज्यवाद का समर्थन करे, यह नही कि उनके विरुद्ध हथियार बन सके।

सरकारी दबाव के बावजूद, नहसपाशा के खिलाफ सरकार का मुकदमा बुरी तरह गिर गया। उसपर लगाये हुए इलजाम झूठे साबित हुए और सरकार ने (उसकी ईमानदारी और उदारता कितनी आश्चर्यजनक थी!) हुक्म जारी कर दिया कि इस मुकदमे का फैसला कोई अखबार न छापे! लेकिन खबर तो फौरन फैल ही गई, और हर जगह लोगो को बडी खुशी हुई।

इस डिक्टेटरशाही ने, जिसकी पीठ पर लायड और ब्रिटिश फौज थी, 'वफ्द' दल यानी मिस्री राष्ट्रीयता को कुचल देनें और तबाह कर देने की सख्त कोशिश की। एक नियमित आतंकवाद और समाचारो पर पूरा सेंसर कायम होगया। इसके बावजूद राष्ट्रीयता के बडे-बडे प्रदर्शन हुए, जिनमें स्त्रियो ने खास हिस्सा लिया। एक हफ्ते तक हड़ताल हुई, जिसमें वकीलो वगैरा नें भी हिस्सा लिया, लेकिन सेंसर के कारण अखबार उसकी खबर भी न छाप सके।

इस तरह १९२८ का वर्ष तूफान और मुसीबत में ही गुजरा। वर्ष के अखीर हिस्से में इंग्लैण्ड में राजनैतिक परिवर्तन हुआ और उसका असर फौरन मिस्र पर भी पड़ा। वहाँ मजदूर-दल की सरकार कायम होगई थी, और उसने शुरू में ही एक काम यह भी किया कि लायड को वापस बुला लिया, जो कि ब्रिटिश सरकार के लिए भी असह्य बन गया था। लायड के हटजाने से कुछ वक्त के लिए फुआद-अंग्रेज गुट्ट टूट गया। अंग्रेजो की मदद के बगैर फुआद कुछ नहीं कर सकता था, इसलिए उसने दिसम्बर १९२८ में पार्लमेण्ट के नये चुनाव होनें दिये। फिर भी 'वफ्द' दल का करीब-करीब सब जगहो पर कब्जा होगया।

अंग्रेजो की मजदूर-सरकार ने मिस्र से सुलह की बातचीत फिर शुरू की, और इस काम के लिए १९२९ में नहसपाशा लन्दन गया। इस बार मजदूर-सरकार अपनी पहले की सरकारो से कुछ कदम आगे बढ़ी और तीनो प्रतिबन्धो पर नहसपाशा का दृष्टिकोण मंजूर कर लिया गया। लेकिन चौथी बात—सूडान—की बाबत एकमत न हो सका। सुलह की बातचीत टूट गई। मगर इस बार पहले की बनिस्बत ज्यादा एकमत हो सका, और दोनो पक्ष एक-दूसरे के प्रति अधिक मित्रतापूर्ण रहे, और दोनो

गये; परन्तु उनकी स्मृति मिस्र में एक शानदार और कीमती विरासत की तरह अब भी ज़िन्दा है और जनता को स्फूर्ति प्रदान करती रहती है। उनकी पत्नी श्रीमती सफ़िया ज़ग़लूल अब भी जीवित हैं। राष्ट्र उनसे प्रेम और उनका आदर करता है। उसने उन्हे 'राष्ट्र की माता' की पदवी देदी है और उनका मकान, जो 'पीपल्स हाउस' (जनता का मकान) कहलाता है, एक अर्से से मिस्र के राष्ट्रवादियो का प्रधान केन्द्र है।

ज़गलूल के बाद मुस्तफा नहसपाशा 'वफ़्द' का नेता बना। बाद में मार्च १९२८ में वह प्रधान मन्त्री बना। उसने नागरिक स्वतन्त्रता और जनता के शस्त्र रखने के अधिकार के बारे में कुछ सीधे-सादे आन्तरिक सुधार करने की कोशिश की। मार्शल-ला के ज़माने में इन अधिकारो को अंग्रेज़ो ने कम कर दिया था। ज्योंही मिस्र की पार्लमेण्ट ने इस सवाल पर गौर करना शुरू किया त्योंही इंग्लैण्ड से धमकियाँ आईं कि ऐसा न किया जाय। यह अजीब बात है कि एक बिलकुल घरेलू मामले में इंग्लैण्ड इस तरह दख़ल दे। लेकिन अपने पुराने तरीके के अनुसार लार्ड लायड ने एक चुनौती पेश कर दी, और माल्टा से ब्रिटिश जंगी जहाज सनसनाते हुए एलेग्ज़ेण्ड्रिया (सिकन्दरिया) के बन्दरगाह में चले आये। नहसपाशा कुछ झुक गया, और उसने इन कानूनों पर विचार कुछ महीने बाद अगले अधिवेशन के लिए स्थगित करना मंजूर कर लिया।

लेकिन अगला अधिवेशन तो होना ही न था। प्रतिक्रिया और साम्राज्यवाद के प्रतिनिधि ने, शाह फ़ुआद और ब्रिटिश कमिश्नर ने, ऐसी योजना की कि आगे पार्लमेण्ट को शरारत करने का मौका ही न मिले। एक अजीब ढंग की साजिश की गई। नहस-पाशा अपने उच्च चरित्र और रिश्वत न लेने के लिए ख़ास तौर पर मशहूर था। अचानक एक पत्र के आधार पर, जो बाद में जाली साबित हुआ, नहसपाशा और वफ़्द के एक काप्टिक[1] नेता पर रिश्वतखोरी का इलज़ाम लगाया गया। अदालती क्षेत्रो और अंग्रेजो द्वारा ज़बरदस्त प्रचार किया गया। मिस्र में ही नहीं बल्कि विदेशो में और ब्रिटिश एजेंसियो और अखबारो के संवाददाताओ ने इस झूठे इलज़ाम को फैलाया। इस इलज़ाम की आड़ लेकर शाह फ़ुआद ने नहसपाशा से प्रधानमन्त्रित्व से इस्तीफा दे देने को कहा। लेकिन उसने ऐसा करने से इन्कार कर दिया, और इसपर उसे फ़ुआद ने बरख़ास्त कर दिया। लायड-फ़ुआद साजिश की अगली योजना अब अमल में लाई गई। 'सहसा राजनैतिक परिवर्तन' किया गया, और एक ख़ास हुक्मनामा निकालकर शाह ने पार्लमेन्ट को मौकूफ़ कर दिया और विधान को बदल दिया। विधान में जो धारायें अख़बारो की आज़ादी और दूसरी नागरिक स्वतन्त्रताओ के बारे

१. प्राचीन मिस्रियो के ईसाई वंशजो को 'काप्ट' कहते हैं।

इसलिए इन सब विदेशी स्थापित स्वार्थों ने हर तरह से, जोर और जबरदस्ती से, जालसाजी और षड्यन्त्र से, उनका विरोध किया, और अपने हुक्मो को पूरा करने के लिए अपना एक आज्ञाकारी शाह खड़ा कर दिया।

वफ़्द-आन्दोलन एक विशुद्ध राष्ट्रवादी मध्यमवर्गीय आन्दोलन रहा है। वह क़ौमी आज़ादी के लिए लड़ा, लेकिन उसने सामाजिक समस्याओ में दखल नहीं दिया। जब कभी पार्लमेण्ट ने कुछ भी कार्य किया, तब-तब उसने तालीम व दूसरे महकमो में कुछ अच्छा ही काम कर दिखाया। दरहकीकत, राष्ट्रीय लड़ाई चलते हुए भी, इस थोड़े-से अर्से में पार्लमेण्ट ने इतना काम किया जितना कि पिछले चालीस सालो में ब्रिटिश हुकूमत ने नहीं किया था। वफ़्द-दल किसानो में भी लोकप्रिय है, जैसा कि चुनावो और बड़े-बड़े प्रदर्शनो से जाहिर होजाता है। लेकिन फिर भी, चूंकि यह आन्दोलन खास तौर पर मध्यम-वर्गीय आन्दोलन है, उसनें आम जनता को इतना नहीं उठाया है जितना कि सामाजिक परिवर्त्तन का उद्देश्य रखनेवाला कोई आन्दोलन उठा सकता था।

मैंने यह कहानी १९३० के अखीर तक पहुँचा दी है। बाद में भी राष्ट्रवादियों और शाह में कशमकश चलती रही, लेकिन ठीक तौर पर मुझे मालूम नहीं है कि पिछले वर्षों में क्या-क्या हुआ। जबसे मैं जेल में हूँ तबसे अखबारो में तो मिस्र का शायद ही कहीं जिक्र आता हो। शायद इसका मतलब यही है कि डिक्टेटरशाही चल रही है, और उसके साथ उसका लँगोटिया यार सेन्सर भी। इस बात का कि इंग्लैण्ड में अनुदार-दल की हुकूमत है, जो कि अपनें साम्राज्यवाद पर अभिमान करता है, अर्थ यही है कि मिस्र में अंग्रेज़ो की दमन करने की सख्त नीति होनी चाहिए। इस हालत में शाह फ़ुआद दु.खी मिस्री लोगो की परवा न करते हुए फिलहाल तो काम जारी रख सकता है।

इस प्रकार खत को खत्म करने से पहले मैं स्त्रियो के आन्दोलन के बारे में भी कुछ कहना जरूरी समझता हूँ। सारे अरब देशो में, शायद खुद अरब को छोड़कर, स्त्रियों में बडी भारी जागृति होगई है। दूसरे कई मामलो की तरह इस मामले में भी मिस्र इराक या सीरिया या फिलस्तीन से आगे बढ़ा हुआ है। लेकिन इन सब देशों में स्त्रियों का एक संगठित आन्दोलन है, और जुलाई १९३० में अरब स्त्रियों की पहली कॉंग्रेस दमिश्क में हुई। उन्होने राजनैतिक मामलो की बनिस्बत संस्कृतिक और सामाजिक प्रगति पर ज्यादा जोर दिया। उन्होंने अरबी स्वदेशीवाद की घोषणा की है। मिस्र में स्त्रियाँ राजनीति की तरफ ज्यादा झुकी है। वे राजनैतिक प्रदर्शनों में हिस्सा लेती है और उनका एक मजबूत स्त्री-मताधिकार-संघ भी है। वे विवाह-

ने आगे फिर बहस करने का वादा किया। नहसपाशा और 'वफ़्द' के लिए तो कुल मिलाकर यह एक कामयाबी ही थी, लेकिन मिस्र के ब्रिटिश और दूसरे विदेशी व्यापारियों और पूंजी लगानेवालो ने इस बात को बिलकुल पसन्द नही किया। शाह फुआद को भी यह बात अच्छी न लगी। कुछ महीने बाद, जून १९३० में, शाह और पार्लमेण्ट में झगड़ा होगया, और नहसपाशा नें प्रधानमन्त्रित्व से इस्तीफा दे दिया।

इस झगडे के अर्से में फुआद ने फिर अपने शासन-काल में तीसरी बार डिक्टेटरशाही चलाई। पार्लमेण्ट तोड़ दी गई, 'वफ़्द'दल के अखबार बन्द कर दिये गये, और आमतौर पर बडी सख्ती शुरू होगई। पार्लमेण्ट की दोनो उप-सभाओ, चैम्बर और सिनेट, के सभी सदस्यो ने सरकार की परवा न की, और पार्लमेण्ट-भवन में जबरदस्ती घुसकर वहाँ एक अधिवेशन कर डाला। वहाँ, २३ जून १९३० को, उन्होने विधान के प्रति वफ़ादार रहनें की शपथ गंभीरतापूर्वक ली, और कसम खाई कि हम अपनी सारी ताकत लगाकर भी उसकी रक्षा करेगे। देशभर में बडे-बडे प्रदर्शन किये गये। इन प्रदर्शनो को फौजो द्वारा भंग किया गया, और बहुत-सा खून बहाया गया। खुद नहसपाशा के भी चोटें आईं। इस तरह कुछ मुट्ठीभर बडे और मालदार लोगो को छोड़कर, जो शाह के पिछलग्गू थे, सारा राष्ट्र जिस डिक्टेटरशाही के ख़िलाफ था, उसकी हिफाजत फौज और पुलिस और उसके अंग्रेज अफसरो ने की। वफ़्दियो के अलावा दूसरे नरम और लिबरल लोगो नें भी, जोकि हिन्दुस्तान की तरह जनता की तरफ से होनेवाले हर तेज काम से अपना विरोध जाहिर करते रहते थे, इस डिक्टेटरशाही के ख़िलाफ अपनी आवाज बुलंद की।

बाद में, उसी साल, सन् १९३० में, शाह ने एक हुक्मनामा निकाला जिसके जरिये एक नये विधान का ऐलान किया गया, जिसमें उसने पार्लमेण्ट के अधिकार कम कर दिये और अपने बढ़ा लिये। ऐसा काम कर लेना कितना आसान था! सिर्फ एक ऐलान कर दिया गया और काम होगया, क्योकि शाह के पीछे एक साम्राज्यवादी ताकत की कठोर मूर्ति छिपी हुई थी।

मैंने मिस्र के १९२२ से १९३० तक के इन नौ वर्षों की कहानी तुमसे कुछ विस्तार में कही है, क्योकि मुझे यह एक बडी ग़ैर-मामूली कहानी मालूम हुई है। अग्रेजो के फरवरी १९२२ के ऐलान के मुताबिक, ये वर्ष मिस्र की 'आजादी' के वर्ष थे। मिस्री लोग क्या चाहते थे इसमें भी कोई शका नही हो सकती थी। जब कभी उन्हे अवसर दिया गया तभी उन्होने मुस्लिम और काप्ट, इन दोनो धर्म के लोगो ने, भारी बहुमत से वफ़्दियो को ही चुना। लेकिन चूकि वे यही चाहते थे कि राष्ट्र का अर्थ-शोषण करने की विदेशियो की, ख़ासकर ब्रिटिश लोगो की, ताक़त कम करदी जाय,

नचाती है। ये लोग ईरान के अकेमेनीद थे, जिनकी राजधानी परसीपोलिस थी। इन्हींमें से 'महान्‌नरेश' साइरस, डेरियस (दारा) और जरक्सीज़ पैदा हुए, जिन्होंने छोटे यूनान पर हावी होने की कोशिश की, लेकिन उसे जीत न सके। बाद में इन्हे यूनान बल्कि मेसीडोनिया के एक लाल सिकन्दर के हाथो शिकस्त खानी पडी। सिकन्दर की जिन्दगी में एक अजीब घटना यह हुई कि इस एशिया और योरप की सन्धि-भूमि में उसने वह योजना की, जिसे इन दोनो महाद्वीपो का 'विवाह' कहा जाता है। उसने खुद ईरानी बादशाह की लड़की से विवाह किया (हालाकि उसकी कुछ पत्नियाँ पहले से मौजूद थी) और उसके हज़ारो अफसरो और सिपाहियो ने भी ईरानी कन्याओ से विवाह किये।

सिकन्दर के बाद मध्य-पूर्व में, हिन्दुस्तानी सरहद से लेकर मिस्र तक, कई सदियो तक यूनानी सस्कृति प्रधान रही। इसी जमाने में रोम की शक्ति का उदय हुआ और वह एशिया की तरफ फैलने लगी। सासानियो के नये ईरानी साम्राज्य नें उसकी बढ़ती को रोक दिया। पूर्वी साम्रज्य के भी दो टुकडे होगये, पश्चिमी साम्राज्य और पूर्वीय साम्राज्य, और पूर्वी साम्राज्य की राजधानी कुस्तुन्तुनिया होगई। पश्चिमी एशिया के इन मैदानो पर पूर्व और पश्चिम की पुरानी कशमकश चलती रही, और इसमें खास हिस्सा लेनेवाले थे एक तो कुस्तुनतुनिया का बिज़ेण्टाइन साम्राज्य और दूसरा ईरानी सासानी साम्राज्य। और इसी सारे जमाने में जनता के बडे-बडे कारवान ऊँटो पर व्यापारिक चीज़ें लाद कर इन मैदानो में पूर्व से पश्चिम को और पश्चिम से पूर्व को आया-जाया करते थे, क्योंकि 'मध्य-पूर्व' उस युग में संसार का एक बड़ा भारी राजमार्ग था।

पश्चिमी एशिया के इन प्रदेशो में तीन महान् धर्मो का जन्म हुआ था—यहूदी-धर्म, जरथुस्त्रधर्म (जो मौजूदा पारसियो का धर्म है), और ईसाई-धर्म। अब अरब के रेगिस्तान में एक चौथा धर्म और पैदा हुआ, जो जल्दी ही दुनिया के इस हिस्से में इन सब धर्मो पर हावी होगया। इसके बाद हमें बागदाद का अरब साम्राज्य और पुराने सघर्ष का एक नया रूप, बिज़ेण्टाइन के विरुद्ध अरब लोगो का युद्ध, नज़र आता है। फिर लम्बे और शानदार कारनामो के बाद अरब-संस्कृति भी मन्द पड़ जाती है। और सेलजूक तुर्क आगे आजाते है, और अन्त में मंगोल चंगेज़खाँ के वारिसो द्वारा वह बिलकुल दबा दी जाती है।

लेकिन मंगोलो के पश्चिम में आने से पहले ही, एशिया के पश्चिमी किनारो पर ईसाई पश्चिम और मुस्लिम पूर्व के दरमियान खौफनाक लड़ाइयाँ शुरू हो चुकी थीं। ये क्रूसेड के युद्धो के नाम से मशहूर है, जो बीच-बीच में बन्द होकर ढाई

क़ानून का अपने हक में सुधार और व्यवसाय आदि में समान अवसर चाहती हैं। मुस्लिम और ईसाई स्त्रियाँ एक-दूसरे से पूरी तरह सहयोग करती हैं। बुरके की आदत सब जगह, खासकर मिस्र में, घट रही है। तुर्की की तरह बुर्का बिलकुल ग़ायब तो नहीं होगया है, लेकिन टूटता जा रहा है।

: १६५ :

पश्चिमी एशिया का विश्व-राजनीति में पुनः प्रवेश

२५ मई, १९३३

एक छोटी-सी जलधारा ही मिस्र और अफरीका को पश्चिमी एशिया से अलग करती है। अब इस स्वेज नहर को हम पार करे और अरब, फिलस्तीन, सीरिया और इराक—जो कि सभी अरब-देश है—और उनसे जरा आगे ईरान पर एक नजर डाले। जैसा कि हम पहले देख चुके है, इतिहास में पश्चिमी एशिया का एक जबरदस्त हिस्सा रहा है और अकसर यह दुनिया की घटनाओ की धुरी रहा है। इसके बाद कई सौ वर्षो का एक ऐसा जमाना आया, जब यह प्रदेश महत्वपूर्ण नहीं रहा। यह एक खाई या गडहिया-सा बन गया; जीवन की धारा इसके पास से हरहराती हुई निकल गई, लेकिन इसकी शान्त सतह पर उससे कोई हलकी-सी लहर तक पैदा न हुई। और अब हम एक दूसरी तब्दीली देख रहे है जो 'मध्य-पूर्व' के देशो को फिर संसार की रगभूमि पर लाती है। पूर्व और पश्चिम को जोड़नेवाला राजमार्ग अब फिर इन्ही देशो में से होकर गुजरने लगा है। इस बात की तरफ हमारा ध्यान जाना चाहिए।

जब कभी मै पश्चिमी एशिया का विचार करने लगता हूँ तो मुझे भूतकाल में डूब जाने का अंदेशा रहता है। मेरे दिमाग़ में प्राचीन काल के इतने चित्र भर जाते है कि मै उनके आकर्षण को रोक नही सकता। लेकिन अब मै अपने आप को इन आकर्षणो में न फॅसने दूंगा। फिर भी मै तुम्हे यह याद दिलाना जरूरी समझता हूँ, ताकि तुम भूल न जाओ कि इतिहास के बिलकुल प्रारम्भ से ही कई हजार वर्षो तक दुनिया के इस हिस्से का बडा भारी महत्व रहा है। इतिहास में सात हजार वर्ष पहले प्राचीन चैल्डिया का धुंधला चित्र दिखाई देता है। यहाँ आजकल का इराक़ है। इसके बाद बेबीलोन का चित्र आता है और बेबीलोन वालो के बाद क्रूर असीरियन नजर आते है जिनकी महान् राजधानी निनेवा में थी। फिर असीरियन लोगो की भी हटने की बारी आजाती है, और ईरान से एक नया राजवंश और नई जाति आजाती है, जो हिन्दुस्तान की सरहद से मिस्र तक सारे 'मध्य-पूर्व' को अपनी मर्जी के मुताबिक़

एक ही पीढ़ी बाद हुआ। मेरा ख़याल है कि मैंने इसका जिक्र अपने पिछले ख़तो में कहीं किया है। उस वक्त मैंने उसकी यात्राओ की पुस्तक नहीं पढ़ी थीं। हाल में ही मैंने यह किताब पढ़ली है, और पढ़ते वक्त मैं उसके भ्रमण-प्रेम को, जिसे जर्मन लोग भ्रमण-पिपासा यानी सैलानीपन कहते है, देखकर दंग रह गया। इक्कीस वर्ष की छोटी-सी उम्र में वह इस विस्तृत दुनिया के लम्बे सफर के लिए निकल पड़ा, और उसके पास सिवा अपनी बुद्धिमत्ता और एक मुसलमान काज़ी से पाई हुई तालीम के और कुछ न था। मोरक्को से सारा उत्तरी अफ़रीका पार करके वह मिस्र पहुँचा, और फिर अरब, सीरिया और ईरान को गया। फिर उसने अनातोलिया (तुर्की), दक्षिणी रूस (जो 'सुनहरे कबीलों' के मंगोल खानो के अधीन था), और कुस्तुन्तुनिया (जो उस समय भी बिजेण्टियम की राजधानी थी) और एशिया और हिन्दुस्तान के सफर किये। उसने हिन्दुस्तान को उत्तर से दक्षिण तक पार किया, मलाबार और लंका गया, और वहाँ से चीन पहुंचा। लौटने पर वह अफ़रीका के आसपास सफर करता रहा, और सहारा का रेगिस्तान भी पार किया! यह भ्रमण का इतना बड़ा रिकार्ड है कि आजकल की हमारी तमाम सहूलियते होते हुए भी इस जमाने में काफी दुर्लभ है। चौदहवीं सदी के पहले आधे हिस्से के बारे में तो यह आश्चर्यजनक रूप से हमारी आँखें खोल देता है। इससे पता लगता है कि उस जमाने में सफर करने का कैसा आम रिवाज था। कुछ भी हो, इब्न-बतूता सभी युगो के महान् यात्रियों में गिना जाना चाहिए।

इब्न-बतूता की किताब में जहाँ-जहाँ वह गया वहाँ-वहाँके लोगो और देशो के बारे में बड़े दिलचस्प बयान है। उस जमाने में मिस्र दौलतमन्द था, क्योंकि पश्चिम के साथ होनेवाली सारी हिन्दुस्तानी तिजारत उसके अन्दर से गुजरती थी, और यह बड़े मुनाफे का व्यापार था। इन्हीं मुनाफो से काहिरा एक बड़ा शहर बना हुआ था, जिसमें सुन्दर-सुन्दर स्मारक थे। इब्न-बतूता कहता है कि हिन्दुस्तान में जातियाँ थीं, 'सती-प्रथा' थी, और 'पान-सुपारी' देने का रिवाज था। वह बताता है कि हिन्दुस्तानी व्यापारी विदेशी बन्दरगाहो में जाकर भारी व्यापार करते थे, और समुद्रो पर हिन्दुस्तानी जहाज आया-जाया करते थे। वह खास तौर पर देखता है और बयान करता है कि सुन्दर स्त्रियाँ कहाँ-कहाँ है, और उनकी वेश-भूषा, उनके गंध और उनके आभूषण कैसे है। वह दिल्ली के बारे में लिखता है कि यह "हिन्दुस्तान की राजधानी है; बड़ा भारी और शानदार शहर है, जहाँ सुन्दरता और शक्ति आकर इकट्ठी होगई है।" यह पागल सुलतान मुहम्मद तुग़लक का जमाना था, जिसने कि गुस्से में आकर अपनी राजधानी दिल्ली से दक्षिण के दौलताबाद को तब्दील कर दी थी, और इस

सौ वर्ष तक, यानी करीब तेरहवीं सदी के मध्य तक, जारी रहे। ये युद्ध धर्म-युद्ध समझे जाते हैं, और असल में थे भी। लेकिन इन युद्धो के लिए धर्म कारण की बनिस्बत बहाना ही ज्यादा था। उस जमाने में योरप के लोग पूर्व की बनिस्बत पिछडे हुए थे। वह योरप का अन्धकारयुग था। लेकिन योरप जागता जा रहा था, और आगे बढा हुआ और सभ्य पूर्व उसे चुम्बक की तरह खींचता जा रहा था। पूर्व की तरफ की इस खिचावट ने कई शक्लें इख्तियार कीं, और इसमें क्रूसेड की लड़ाई सबसे महत्वपूर्ण थी। इन युद्धो के फलस्वरूप योरप ने पश्चिमी एशियाई देशो से बहुत बाते सीखीं। उसने बहुत-सी ललित कलायें, कारीगरियाँ और विलास की आदते सीखीं, और अधिक महत्वपूर्ण बात जो सीखीं वे थीं कार्य और विचार की वैज्ञानिक पद्धतियाँ।

क्रूसेड की लडाइयाँ अभी खत्म भी न होने पाई थीं कि पश्चिमी एशिया पर मगोल लोग आ टूटे, जो अपने साथ विनाश और बरबादी लेकर आये। लेकिन हमें मंगोलो को बिलकुल विनाशक ही नहीं समझना चाहिए। चीन से रूस तक भारी तादाद में जाने की उनकी हलचल ने दूर-दूर की जातियो में आपसी ताल्लुकात कायम कर दिये और व्यापार और समागम को प्रोत्साहित किया। उनके महान् साम्राज्य में कारवानो के पुराने रास्ते मुसाफिरी के लिए महफूज़ होगये, और सिर्फ व्यापारी ही नहीं बल्कि राजनीतिज्ञ, धर्म-प्रचारक और दूसरे लोग भी बडी लम्बी यात्राओ पर आने-जाने लगे। 'मध्य-पूर्व' संसार के इन प्राचीन राजमार्गों की सीध में पड़ता था। यही एशिया और योरप को जोडनेवाली कडी थी।

तुम्हे शायद याद होगा कि मंगोलो के जमाने में ही मार्कोपोलो अपने निवास-स्थान वेनिस से बडी लम्बी यात्रा करके एशिया में से गुजरता हुआ चीन पहुँचा था। हमें उसकी लिखी हुई, या यो कहो कि लिखाई हुई, एक किताब मिलती है, जिसमें उसने अपनी यात्रा का हाल बताया है और इसीलिए हम उसका नाम जानते है। और भी कई लोगो ने ऐसी ही लम्बी यात्रायें की होगी, लेकिन उन्होने उनके बारे में कुछ लिखा नहीं, और अगर लिखा भी होगा तो उनकी किताबें नष्ट होगई होगी, क्योंकि उस जमाने में किताबें हाथ से लिखी जाती थीं। उस युग में एक देश से दूसरे देश में कारवान हमेशा आते-जाते रहते थे, और हालाँकि उनका खास काम व्यापार था, लेकिन उनके साथ कई लोग दौलत पैदा करने या साहसी काम करने के लिए भी चले जाते थे। पुराने जमाने का एक और यात्री है जो मार्कोपोलो जैसा ही है। इसका नाम था इब्न-बतूता। यह एक अरब था, जिसका जन्म चौदहवीं सदी के शुरू में मोरक्को के टैन्जियर नामक स्थान पर हुआ था। इस तरह वह मार्कोपोलो से

और अरब बहुत कुछ आज़ाद देश है। इस तरह हालाँकि ब्रिटिश लोग अपनी बडी महत्वाकांक्षा को पूरा न कर सके, फिर भी वे हिन्दुस्तान को जानेवाले रास्तो पर कब्ज़ा रखने की अपनी पुरानी नीति पर जमे रहने मे कामयाब रहे। इसी उद्देश्य से ब्रिटिश फौजो ने महायुद्ध के ज़माने में मेसोपोटामिया और फ़िलस्तीन में लड़ाइयाँ लडी थी और तुर्की के खिलाफ अरबी बगावत को प्रोत्साहन और मदद दी थी। इसी कारण इंग्लैण्ड और तुर्की में युद्ध के बाद मोसल की बाबत बड़ा झगड़ा खड़ा हो गया था। और इंग्लैण्ड और सोवियट रूस के मन-मुटाव का भी यही खास कारण है, क्योंकि इंग्लैण्ड इस खयाल से नफरत करता है कि रूस जैसी बडी ताकत हिन्दुस्तान के रास्ते के पडौस में ही रहे।

महायुद्ध से पहले जिन दो रेलवे लाइनो बगदाद-रेलवे और हेजाज़-रेलवे—की बाबत इतना झगड़ा था, वे अब बन चुकी हैं—बगदाद-रेलवे भूमध्यसागर और योरप को बगदाद से जोड़ती है। हेजाज़-रेलवे अरब के मदीना शहर को बगदाद-रेलवे से अलप्पो पर मिलाती है। (हेजाज, जिसमें इस्लाम के पवित्र नगर मक्का और मदीना है, अरबस्तान का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है।) इस तरह पश्चिमी एशिया के कई महत्वपूर्ण शहर रेल के ज़रिये योरप और मिस्र से जुड़ गये हैं और उन तक पहुँचना आसान होगया है। अलप्पो का शहर एक महत्वपूर्ण रेलवे-जंकशन बनता जा रहा है, क्योंकि तीन महाद्वीपो की रेलें—योरप से आनें वाली लाइन, एशिया से बग़दाद होकर आनेवाली लाइन और अफरीका से काहिरा होकर आनेवाली लाइन—वहीं आकर इकट्ठी होनेवाली है। ब्रिटिश नीति का उद्देश्य बडे अरसे से एशिया और अफरीका के इन रास्तो पर नियन्त्रण करना रहा है। एशियाई मार्ग अगर बगदाद से आगे बढ़ा दिया जाय तो हिन्दुस्तान तक पहुँच सकता है। अफ़रीकन मार्ग अफ़रीका महाद्वीप के आर-पार कैरो से दक्षिण में केपटाउन तक जायगा ही। केपटाउन से काहिरा तक खिची हुई रेलवे की पूर्ण लाल रेखा का स्वप्न ब्रिटिश साम्राज्यवादी बहुत समय से देख रहे है, और अब वह पूर्ण होने के करीब आ पहुँचा है—'पूर्णलाल' का अर्थ यह है कि वह सारे रास्ते भर अंग्रेजी इलाके में से गुजरती हुई जाय, क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्य ने नकशे में लाल रंग पर अपना एकाधिकार कर लिया है।

लेकिन, पता नहीं भविष्य में ये बाते पूरी हो या न हो, क्योंकि अब मोटर-कारो और हवाईजहाजों के रूप में रेलवे के जबरदस्त दुश्मन खडे होगये है। यह भी मुमकिन है कि इन स्वप्नो के पूरे होने से पहले ही खुद ब्रिटिश साम्राज्य ही खतम होजाय। इस बीच, यह याद रखने लायक है कि पश्चिमी एशिया में बग़दाद और हेजाज़ की इन दोनों, नई रेलो पर ज्यादातर अंग्रेजो का ही नियन्त्रण है, और

तरह इस 'बड़े भारी और शानदार शहर" को एक रेगिस्तान—"थोड़ेसे निवासियों के सिवा, सारा खाली और वीरान'—बना दिया था, और ये थोड़े-से निवासी भी बहुत बाद में चुपचाप आकर रहने लगे थे।

मैंने इब्न-बतूता का सरसरी तौर पर ही बयान करने की कोशिश की है। पुराने जमाने की ये भ्रमण-कहानियाँ मुझे बहुत अच्छी लगती हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि चौदहवीं सदी तक 'मध्य-पूर्वी' या पश्चिमी एशिया का दुनिया के मामलों में बड़ा हिस्सा था, और वह पूर्व और पश्चिम को जोड़नेवाली शान कड़ी थी। लेकिन इसके अगले सौ वर्षों में हालत बदल गई। उस्मानी तुर्कों ने कुस्तुनतुनिया पर कब्ज़ा कर लिया और वे मध्य-पूर्व के इन सारे देशों में, और मिस्र में भी, फैल गये। उन्होंने योरप के साथ होनेवाले व्यापार की तरक्की नहीं की। शायद इसका एक सबब यह भी था कि यह व्यापार उनके भूमध्यसागर के प्रतिस्पर्धी वेनिस और जिनोवा-वासियों के हाथ में था। व्यापार का रास्ता भी बदल गया, क्योंकि अब नये समुद्री रास्ते खोज निकाले गये थे और उन्होंने कारवान के पुराने खुश्की रास्तों की जगह लेली थी। इस तरह पश्चिमी एशिया में से गुजरनेवाले इन रास्तों का, जिन्होंने कई हजार वर्षों तक बड़ा काम दिया था, इस्तेमाल बन्द होगया, और जिन देशों में से वे गुजरते थे वे भी रंग-भूमि के केन्द्र से दूर जा पड़े।

सोलहवीं सदी के शुरू से उन्नीसवीं सदी के अख़ीर यानी क़रीब चार सौ वर्ष तक, समुद्री रास्ते बहुत ज्यादा महत्वपूर्ण रहे और वे खुश्की के रास्तों पर हावी होगये—ख़ासकर वहाँ जहाँ रेलें नहीं थीं। और पश्चिमी एशिया में तो रेलें थीं ही कहाँ ? महायुद्ध से कुछ पहले कुस्तुन्तुनिया से बग़दाद तक रेल बनाने की एक योजना बनाई गई थी, जिसका समर्थन जर्मन सरकार करती थी। दूसरी ताक़तें जर्मनी की इस योजना से बहुत जलती थीं, क्योंकि इससे मध्य-पूर्व में जर्मन प्रभाव बढ़ने की संभावना थी। लेकिन इसी बीच युद्ध आ गया।

१९१८ में जब महायुद्ध ख़त्म हुआ, तो पश्चिमी एशिया में ब्रिटेन ही सबसे जबरदस्त ताकत थी और, जैसा कि मैं बता चुका हूँ, थोड़े समय तक तो ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की चकित आँखों के आगे हिन्दुस्तान से लेकर तुर्की तक एक बड़े मध्य-पूर्वीय साम्राज्य का सुन्दर सपना दिखाई देता रहा। लेकिन वह पूरा न हो सका। बोल्शेविक रूस और कमालपाशा और दूसरे कारणों ने उस सपने के पूरा होने में बाधा डालदी। फिर भी इंगलैण्ड एक काफी बड़े टुकड़े पर तो कब्ज़ा जमाये ही रहा। इराक और फ़िलस्तीन ब्रिटिश नियन्त्रण में हैं (हालांकि मिस्र की तरह इराक भी आज़ाद समझा जाता है); सीरिया फ़्रांसीसियों के मातहत है; ईरान

से आगे पूर्वी अफरीका होते हुए केपटाउन तक (मुझे मालूम नही कि आजकल यह मार्ग जारी होगया है या नहीं) । यह सारा रास्ता भी करीब-करीब ब्रिटिश इलाके में से होकर ही जायगा । इस तरह तुम्हे मालूम होगा कि अग्रेजो की हवाई योजनाएँ कल्पना में वहुत वडी-वडी है । उनका फैलाव योरप, एशिया और अफरीका तीनो महाद्वीपो में और आस्ट्रेलिया तक है । यह सब उनके साम्राज्य के कारण जरूरी होगया है । पहले जमाने में उनके लिए समुद्री ताकत जरूरी थी, और उन्होने समुद्रो पर बहुत अर्से तक कब्जा रक्खा । लेकिन अव तो समुद्री ताकत का महत्व वहुत कम होगया है । आजकल इग्लैण्ड के टापू की रक्षा समुद्री ताक्त से भी निश्चित नहीं रही । क्योकि हवाई जहाजो के लिए तो समुद्रो को पार करना और बमो से शहरो और कारखानो को बरवाद कर देना बड़ा ही आसान है । अगर खुद इग्लैंड पर हवाई हमले का खतरा रहता है, तो वडे भारी फैले हुए साम्राज्य पर तो और भी खतरा होना चाहिए । इसीलिए हवाई ताकत का महत्व होगया है । हर वडी ताकत अब हवा में प्रवल वनने की इच्छा कर रही है, और पुरानी समुद्री प्रतिस्पर्धा के स्थान पर अब हवाई प्रतिस्पर्धा होने लगी है । हर देश शान्ति-कालीन हवाई सफर को प्रोत्साहन और सहायता दे रहा है, क्योकि इससे सुशिक्षित हवाई जहाज-चालको का एक दल तैयार हो-जाता है, जो युद्ध के वक्त में भी काम दे सकेगा । इसे फौजी वायु-यात्रा, जिसका ताल्लुक़ सिर्फ लडाई करने और वम फेंकने से ही होता है, न कहकर मुल्की या 'सिविल' वायु-यात्रा कहते है । सच तो यह है कि जब भी सकट आये, शान्तिकालीन सफरी हवाई जहाजो में युद्ध-सम्वन्धी चीजें जोड़कर उन्हे वडी आसानी से लड़ाई के लायक़ वनाया जा सकता है ।

'सिविल' या मुल्की वायु-यात्रा की तरक्की के लिए जिस तरह ब्रिटेन की बडी-वडी योजनायें है, उसी तरह दूसरी साम्राज्यवादी शक्तियो की भी है । फ्रासीसी हवाई जहाज पेरिस-मार्सलीज या मर्साई-बेरूत से जाते है, बग़दाद पहुँचते है, और वहाँसे हिन्दुस्तान और इडो-चाइना के सैगोन नगर को जाते है । फ्रास की दूसरी हवाई सरविसे भूमध्यसागर और सहारा रेगिस्तान के उसपार भी जाती है । हालैण्ड की भी एक नियमित सरविस एम्सटर्डम से जावा के बटेविया शहर जाती है, जो वग़दाद और हिन्दुस्तान में से गुजरती है । मेरा खयाल है कि शायद तुमने इलाहाबाद के पास बमरौली में उनके वडे-वडे हवाई जहाज देखे होगे, क्योकि हिन्दुस्तान में से गुजरनेवाली ये वडी-वडी सरविसे ज्यादातर सभी इलाहाबाद होकर जाती है ।

मुझे इस खत में इस वक़्त दुनिया में चलनेवाली तमाम हवाई सरविसो की फेहरिस्त नहीं देना है । आजकल तो ऐसी सैकडो सरविसे चल रही है, और योरप

वे अपने नियन्त्रण के अधीन, हिन्दुस्तान के लिए नया और छोटा रास्ता खोलने की ब्रिटिश नीति का उद्देश्य पूरा करती है। बगदाद-रेलवे का एक हिस्सा सीरिया में से गुजरता है, जो फ्रासीसियो के नियत्रण में है। फ्रास की इस अधीनता को बुरा समझकर, ब्रिटिश अब उसकी जगह एक नई लाइन फिलस्तीन में से बनाना चाहते है। एक और छोटी-सी रेलवे अरबिस्तान में लालसागर के बन्दरगाह, जद्दाह और मक्का के बीच बन रही है। इससे हर साल लाखो की तादाद में मक्का जानेवाले यात्रियो को बडा आराम होजायगा।

इन रेलो के बारे में, जोकि पश्चिमी एशिया को ससार के लिए खोल रही है, इतना बयान किया गया। लेकिन अपने उद्देश्य को पूरा करने से पहले ही इन रेलो का महत्व कुछ कम हो रहा है, क्योकि उनकी जगह मोटरकारे और हवाईजहाज आ रहे है। मोटरकार बहुत जल्दी रेगिस्तान के अनुकूल बन गई है, और जिन कारवानी रास्तो से पहले हजारो वर्ष तक धैर्यशाली ऊँट धीरे-धीरे चलते रहे है उन्हीपर वह अब सरपट दौडी जाती है। रेल बडी खर्चीली चीज है और उसके बनाने में वक्त लगता है। लेकिन मोटर में खर्च कम लगता है, और जब जरूरत हो तभी वह चलाई जा सकती है। लेकिन मोटर-कारे और लारियाँ आम तौर पर ज्यादा दूरी तक काम नहीं देती। वे अपेक्षाकृत छोटे रकबो में, ज्यादा-से-ज्यादा एक सौ मील तक, आती-जाती है।

ज्यादा दूरी के लिए तो हवाई जहाज है ही। इसमें भी रेल से कम खर्च पड़ता है और उससे कही ज्यादा तेज चलता है। इसके लिए सड़क या रास्ता बनाना नहीं पडता। इसमें सदेह नहीं हो सकता कि सवारियाँ या माल लाने-लेजाने के लिए अब वायुयानो का उपयोग तेजी से बढता जायगा। अबतक भी बहुत भारी तरक्की होचुकी है, और एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक बडे-बडे जहाज नियमित रूप से जाते रहते है। पश्चिमी एशिया फिर इन महान् वायु-मार्गों का सम्मेलन-स्थान बन रहा है, और बगदाद खासतौर पर इन सब का केन्द्र है। अब तो ब्रिटिश इम्पीरियल एयरवेज नामक कम्पनी के नियमित साप्ताहिक हवाई जहाज योरप को पार करते हुए बगदाद आया करते है और वहाँसे हिन्दुस्तान आते है। आजकल वे कराची पर रुक जाते है, लेकिन उनका सम्बन्ध दिल्ली और बम्बई और मद्रास को जानेवाली हवाई सरविसो से है। यह तजवीज भी की जारही है कि इन हवाई जहाजो के सिलसिले को कलकत्ता, रगून और सिगापुर तक बढाया जाय, और वहाँसे एक शाखा हागकाग जाय और दूसरी फूटकर आस्ट्रेलिया चली जाय।

ब्रिटिश हवाई मार्ग की एक दूसरी योजना है लंदन से काहिरा तक, और वहाँ

लिए तेल की प्रचुर मात्रा। अगर हम इस बात को याद रक्खेंगे तो मध्य-पूर्व आदि में अंग्रेजो और दूसरी शक्तियो की कार्रवाइयो की आधारभूत नीति को भी बहुत कुछ समझ सकेंगे।

मोसल में, हिन्दुस्तान को जानेवाले इस नये राज-मार्ग पर उसके स्थित होने के अलावा, तेल भी है। इराक में भी तेल है और, जैसा कि हम देख चुके है, वह हवाई लाइनो का मानो हृदय-स्थान है। इस तरह यह आसानी से समझा जा सकता है कि अंग्रेजो के लिए इराक पर नियन्त्रण रखना कितना जरूरी है। ईरान में भी तेल के कई क्षेत्र है, और इनमें 'एग्लो-पर्शियन ऑयल कम्पनी' नाम की एक अंग्रेजी कम्पनी बहुत अर्से से काम करती रही है, जिसमें ब्रिटिश सरकार के भी कई हिस्से है। ईरान में इस कम्पनी का कारोबार ही सबसे बड़ा कारोबार है, और उसी का देश पर प्रभुत्व है। मेरा खयाल है कि एक पिछले खत में मैंने तुम्हे ईरान की नई तथा उग्र राष्ट्रीयता और इस ऑयल-कम्पनी, जिसका अर्थ है ब्रिटिश-सरकार, के बीच होनेवाले सघर्ष का हाल लिखा था। ईरानी सरकार ने पुराने इजाजतनामे को, इस आधार पर कि वह उसके हक में न्यायोचित नही है, रद कर दिया। यह मामला राष्ट्रसघ के सामने लाया गया, और हाल में ही एक समझौता होगया है, जिसके अनुसार कम्पनी को ईरान एक नया ठेका दे रहा है। इस ठेके के मुताबिक ईरान को मुनाफे में से ज्यादा बड़ा और निश्चित हिस्सा मिलेगा।

तेल या पेट्रोल का महत्व बढ रहा है, क्योकि वह सिर्फ हवाई जहाजो और मोटर-गाड़ियो में ही काम नही आता बल्कि उसे कई समुद्री-जहाज भी इस्तेमाल करते है। इसलिए साम्राज्यवादी नीतियो के निर्माण में उसका बड़ा हिस्सा रहता है, जो बड़ा चिपकनेवाला, फिसलनेवाला और मलिनतापूर्ण होता है। वास्तव में आजकल के साम्राज्वाद को कभी-कभी 'तेल साम्राज्यवाद' भी कहते है।

इस खत में हमने कुछ ऐसे कारणो पर गौर किया है जिन्होने 'मध्य-पूर्व' को एक नया महत्व दे दिया है, और उसे संसार की राजनीति के भँवर में लाकर डाल दिया है। लेकिन इन सब बातो की तह में है सारे एशिया की राष्ट्रीय जागृति, और इसका जहाँतक पश्चिमी एशिया से सम्बन्ध है वहाँतक इसपर हम अगले पत्र में विचार करेगे। हमने तुर्की का भी अध्ययन कर लिया और मिस्र का भी। पश्चिमी एशिया में इन दो देशो ने अपने पडोसियो के लिए मिसाल कायम करदी है।

मै उम्मीद करता हूँ कि इस खत को पढ़ते वक्त तुम एक नक्शा या एटलस अपने पास रख लोगी, जिससे तुम्हे नई रेलवे-लाइन और हवाई मार्ग मालूम हो सकेगे। हमारे लिए इनमें एक खास दिलचस्पी भी है, क्योकि ये हमारे हिन्दुस्तान

और उत्तरी अमेरिका में तो कोई भी करीब-करीब सभी जगह हवाई जहाज से जा सकता है। मैं यहाँ तुम्हारा ध्यान इस बात की तरफ खीच रहा हूँ कि पश्चिमी एशिया, जहाँ कि कई लम्बी-लम्बी हवाई लाइने आकर मिलती है, अचानक हवाई यात्रा के क्षेत्र के रूप में कितना महत्वपूर्ण बन गया है। तुम देखोगी कि कितने हवाई मार्ग आकर बगदाद में मिलते है। और भी कई लाइने है जिनका मैंने जिक्र नही किया है, मसलन, मास्को से एक लाइन बाकू जाती है, वहासे बगदाद जाती है, और फिर ईरान के तेहरान नगर को जाती है। इन सब बातो के सबब से, पश्चिमी एशिया फिर संसार की राजनीति में निश्चित रूप से दाखिल होजाता है, और अन्तर्महाद्वीपीय मामलो की एक धुरी बन जाता है। इसका यह भी अर्थ है कि वह बडी-बडी शक्तियो के झगडे और सघर्ष का स्थान बन गया है, क्योकि उनके स्वार्थ एक-दूसरे से टकराते है और हरेक दूसरे मे आगे बढने की कोशिश करता है। हवा में भी वे 'न अपने काम में ले, न पराये काम आने दें' वाली नीति पर चलते हैं, और अपने प्रदेशो पर से अपने प्रतिस्पर्धियो को उडने से रोकते है। राष्ट्रीयता का यह रूप कभी-कभी हवाई राष्ट्रीयता कहलाता है। इस तरह ईराक सरकार, जिसका अर्थ है ईराक का नियन्त्रण करनेवाले अग्रेज, मशहूर जर्मन हवाई कम्पनी, जंकर्स को अपने हवाई जहाज इराक पर से नही लेजाने देती। और, इस कारण ईरानी सरकार, जो जंकर्स के प्रति अधिक मित्रता रखती है, ब्रिटिश इम्पीरियल एयरवेज को अपने प्रदेश पर से उड़ने की इजाजत नही देती। कही-कही ये दिक्कते आपस में समझौते करके हल होजाती है, लेकिन इनकी तह में जो प्रतियोगिता है वह चलती रहती है।

हवाई ताकत और आमदरफ्त के बढ़ते हुए महत्व और साथ ही समुद्री ताकत के घटते हुए महत्व के कारण देश-रक्षा के पुराने तरीको में बड़ा भारी फ़र्क पड़ गया है। जैसा कि मै पहले कह चुका हूँ, जिस बात की इंग्लैण्ड को हमेशा चिन्ता रही है और जिसको लक्ष्य में रखकर उसकी सारी नीति बनती बिगड़ती रही है, वह है अपने हिन्दुस्तानी साम्राज्य की रक्षा की समस्या। इसके लिए उसने समुद्री ताकत का सहारा लिया, और इसीलिए ठीक-ठीक जगहो पर स्थित बन्दरगाह और कोयला लेने के स्थान उसके लिए महत्वपूर्ण रहे, ताकि उसका समुद्री बेड़ा आसानी से सब जगह आ-जा सके। लेकिन अगर अब हवाई मार्गो पर ज्यादा दारोमदार रखना है तो इन कोयला लेने के स्थानो का अब ज्यादा उपयोग नही है। इस तरह अदन जैसे बन्दरगाह का, जो समुद्री महत्व के जमाने में हिन्दुस्तान की रक्षा की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण था, हवाई जहाज के आजाने के सबब से अब वह महत्व नही रहा। अब जिस बात की जरूरत है, वह है हवाई बन्दरगाह, अर्थात् बडे-बडे हवाईस्टेशन और हवाईजहाजो के

ओं का एक मजमा था। बालकन जातियो के अलावा उसमें अरब और आरमीनियन वगैरा जातियाँ भी शामिल थीं। इसलिए इस साम्राज्य में भी राष्ट्रीयता एक विश्रृंखल-कारी शक्ति यानी टुकडे करनेवाली ताकत साबित हुई। सबसे पहले उसका बालकन जातियों पर असर पड़ा, और उन्नीसवीं सदी में लगातार, पहले ग्रीस से और फिर एक के बाद एक दूसरी जातियो से तुर्की को हमेशा लड़ाई करनी पडी। 'बडी शक्तियों' और खासकर जारशाही रूस ने इस उठती हुई राष्ट्रीयता से फ़ायदा उठाने की कोशिश की और उसके साथ साजिश की। उन्होने उस्मानी साम्राज्य पर चोट पहुंचाने और उसे कमजोर करने के लिए आरमीनियन कौम को अपना हथियार भी बनाया, और इसीसे तुर्की हुकूमत और आरमीनियनो में बार-बार संघर्ष हुआ, जिसमें कई बार कत्ले-आम भी हुए। 'बडी शक्तियों' ने इन आरमीनियनो का दुरुपयोग किया और प्रचार-कार्य में उनका इस्तेमाल किया, लेकिन महायुद्ध के बाद जब उनका और कोई उपयोग न रहा तो उन्हे उनकी किस्मत पर छोड़ दिया गया। बाद में आरमीनिया, जो तुर्की के पूर्व में है और काले सागर से लगा हुआ है, सोवियट-प्रजातन्त्र बन गया और रूसी सोवियट यूनियन में शामिल होगया।

तुर्की साम्राज्य के अरबी हिस्सो को जागृत होने में ज्यादा समय लगा, हालांकि अरबो और तुर्को में कभी कोई मुहब्बत नहीं रही थी। पहले तो उनमें सस्कृति-सम्बन्धी जागृति हुई और अरबी भाषा और साहित्य का पुनरुद्धार हुआ। इस जागृति की शुरुआत सीरिया में उन्नीसवी सदी के मध्य के लगभग हुई, और फिर यह मिस्र और अरबी बोलनेवाले दूसरी देशो में फैल गई। तुर्की की १९०८ की 'युवक तुर्क' क्रान्ति, और सुलतान अब्दुलहमीद के पतन के बाद राजनैतिक आन्दोलन उठ खडे हुए। मुस्लिम और ईसाई दोनो धर्म के अरबो में कौमी खयालात फैल गये, और अरब देशो को तुर्की हुकूमत से आजाद करने और उन्हे एक नये राज्य के रूप में बनाने का विचार पैदा हो गया। मिस्र हालाकि अरबी-भाषी देश था, लेकिन वह राजनैतिक रूप से बहुत-कुछ अलग था, और इस नये अरब-राज्य में, जिसमें अरबिस्तान, सीरिया, फिलस्तीन और इराक को शामिल करने का विचार था, उसके शामिल होने की उम्मीद नही थी। अरब यह भी चाहते थे कि खिलाफत को उस्मानी सुलतान के पास से हटाकर किसी अरब वंश में ले आया जाय, ताकि वे इस्लाम का धार्मिक नेतृत्व भी फिर प्राप्त कर सके। यह काम भी धार्मिक दृष्टि की बनिस्बत कौमी दृष्टिकोण से अधिक देखा जाता था, क्योकि इससे आखीर में अरबो का महत्व और गौरव ही बढ़ता और सीरिया के ईसाई अरब भी इसके पक्ष में थे।

ब्रिटेन ने इस अरब राष्ट्रवादी आन्दोलन के साथ महायुद्ध से भी पहले साजिश

से योरप जानेवाले रास्ते पर पडते है, और बहुत मुमकिन है कि किसी दिन हमें भी उनपर से गुजरना पडे। पुरानी समुद्री यात्रा तो बहुत ही धीमी और गुजरे जमाने की मालूम होती है, अब तो हवाई यात्रायें ही दिल को लुभा रही है।

: १६६ :

अरब देश—सीरिया

२८ मई, १९३३

हम देख चुके है कि जिन देशो मे प्राय एक ही सामान्य भाषा और परम्परा होती है, वहाँके लोगो के समूहो को आपस में मिलाने और मजबूत बनाने की राष्ट्रीयता में बडी ताकत होती है। यह राष्ट्रीयता जहाँ किसी एक वर्ग को मिलाकर एक करती है, वहाँ उसे दूसरे समूहो से अलग करके और दूर भी कर देती है। राष्ट्रीयता ने फ़ान्स को एक मजबूत ठोस अलग राष्ट्र बना दिया है, जो खुद तो बहुत अच्छी तरह सगठित है लेकिन बाकी दुनिया को अपनेसे बिलकुल अलहदा समझता है। इसी तरह राष्ट्रीयता के कारण भिन्न-भिन्न जर्मन देश मिलकर एक जबरदस्त जर्मन-राष्ट्र बन गये है। लेकिन फ्रान्स और जर्मनी के इसी तरह अलग-अलग संगठित होने के कारण ही वे एक-दूसरे से और भी ज्यादा दूर होगये है।

किसी ऐसे देश में तो जहाँ कई जुदा-जुदा जातीय दल रहते है, राष्ट्रीयता देश को मजबूत और सुसगठित करने के बजाय प्रायः असंगठित कर देती है, उसे दरअसल कमजोर और उसके टुकडे-टुकडे कर देती है। महायुद्ध से पहले आस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य कई जातीयताओ का एक ऐसा ही देश था, जहाँ जर्मन-आस्ट्रियन और हंगेरियन ये दो जातियाँ तो प्रधान थी और बाकी सब इनके अधीन थी। इसलिए जब राष्ट्रीयता ने इन सब कौमो में अलग-अलग नया जीवन डाला और इसके साथ उनमें आजाद होने की इच्छा पैदा हुई तो उससे आस्ट्रिया-हंगरी कमजोर होगया। महायुद्ध से मामला और भी खराब होगया, और जब महायुद्ध के बाद हार होगई तो सारा देश छोटे-छोटे टुकडो में बॅट गया और हर कौमो गिरोह ने अपना छोटा-सा अलग राष्ट्र बना लिया। (यह बॅटवारा कोई भला या युक्तिसंगत नही था, लेकिन इस विषय में अभी यहाँ हमें विचार नही करना है।) परन्तु करारी हार होनें पर भी, जर्मनी के टुकडे नही हुए। वह राष्ट्रीयता की जबरदस्त प्रेरणा के कारण, मुसीबत में भी एक और सगठित बना रहा।

आस्ट्रिया-हगरी की तरह ही, महायुद्ध के पहले तुर्की साम्राज्य भी कई जातीयता-

को अन्तिम मानने से इनकार कर दिया। लेकिन उनकी किस्मत में तो अभी और भी आश्चर्य और निराशा की बातें आनेवाली थी, क्योकि उनपर ज्यादा आसानी से हुकूमत कर सकने के लिए साम्राज्यवाद की पुरानी भेद-नीति हरेक मेण्डेट के अन्दर भी बरती जाने लगी। अब इनमें से हरेक देश पर अलग-अलग विचार करना आसान होगा। इसलिए मै पहले फ्रेंच मैण्डेट वाले सीरिया को लेता हूँ।

१९२० के शुरू में अंग्रेजो की मदद से सीरिया में हेजाज के शाह हुसैन के पुत्र अमीर फैसल के अधीन एक अरब सरकार खडी की गई। एक सीरियन राष्ट्रीय कॉग्रेस का अधिवेशन हुआ और उसनें सयुक्त सीरिया के लिए एक प्रजातत्रीय विधान पास किया। लेकिन यह तो चन्द दिनो का दिखावा ही था। १९२० की गरमी के दिनो में फ़ासीसी लोग अपनी जेब में राष्ट्र-संघ की तरफ से सीरिया का मैण्डेट लेकर आगये, और उन्होने फैसल को निकाल बाहर किया और देश पर जबरदस्ती कब्जा कर लिया। कुल मिलाकर भी सीरिया एक छोटा-सा देश है, जिसकी आबादी ३० लाख से भी कम है। लेकिन वह फ़ासीसियो के लिए बर्रो का छत्ता बन गया। मुसलमान और ईसाई दोनो तरह के सीरियन अरबो ने आजाद होने का पक्का इरादा कर लिया, और दूसरी ताकत के आगे आसानी से सिर झुकाने से इन्कार कर दिया। वहाँ हमेशा झगड़ा और मुकामी बगावतें होती ही रही, और फ़ांसीसी हुकूमत चलाने के लिए बडी भारी फ़ासीसी फौज की जरूरत पडी। इसके बाद फ्रेंच सरकार ने साम्राज्यवाद की वही फूट डालने की चाल चलने की कोशिश की, और देश को और भी छोटी-छोटी रियासतो में बॉटकर और धार्मिक अल्पसख्यक भेद-भावो को महत्त्व देकर सीरियन राष्ट्रीयता को कमजोर करना चाहा। "शासन करने के लिए अलग-अलग बॉटना" यह नीति जान-बूझकर इख्तियार की गई, और करीब-करीब सरकारी तौर पर जाहिर करदी गई।

हालॉकि सीरिया छोटा-सा देश था, लेकिन उसे पॉच अलग-अलग राज्यो में बाँटा गया। पश्चिम के समुद्री किनारे पर और लेबेनन पहाड़ के पास लेबेनन राज्य बनाया गया। यहा के ज्यादातर बाशिन्दे मैरोनाइट नामक ईसाई सम्प्रदाय के थे, और सीरियन अरबो के खिलाफ़ उन्हे अपनी तरफ़ मिला लेने के लिए फ़ान्सीसियो ने उन्हे एक खास दर्जा दे दिया।

लेबेनन के उत्तर में समुद्र के ही किनारे पहाडो के दरमियान एक और छोटा-सा राज्य बनाया गया, जहॉ कि अलावी नाम के मुसलमान रहते थे। इससे भी उत्तर में एलेक्जेण्ड्रेटा नामक एक तीसरा राज्य बनाया गया। यह राज्य तुर्की से लगा हुआ था और इसमें तुर्की भाषा बोलनेवाले लोग ज्यादा थे।

करनी शुरू कर दी। महायुद्ध के जमाने में एक महान् अरब राज्य बनवा देने के बड़े-बड़े वादे किये गये और मक्का का शरीफ हुसैन, इस उम्मीद से कि वह एक बड़ा बादशाह बन जायगा और फिर खलीफा भी उसकी खुशामद करता फिरेगा, अंग्रेजो के साथ हो गया और उसने तुर्को के खिलाफ अरब-विद्रोह खड़ा कर दिया। सीरिया के मुसलमान और ईसाई दोनो तरह के अरबो ने हुसैन की इस बगावत का समर्थन किया और उनके कई नेताओ को इसके लिए अपनी जाने देनी पडी, क्योंकि तुर्को ने उनको फाँसी पर चढा दिया। दमिश्क और बेरूत में ६ मई को उन्हे फॉसियाँ हुई, और यह दिवस सीरिया में राष्ट्रीय शहीदो की यादगार में अब भी मनाया जाता है।

अंग्रेजो की माली इमदाद से, और खासकर अंग्रेजो के खुफिया महकमे के एक प्रतिभाशाली व्यक्ति के सहयोग से, जिसका नाम कर्नल लॉरेन्स था, अरब विद्रोह कामयाब होगया। महायुद्ध के खत्म होने के वक्त तक तुर्को के करीब-करीब सभी अरब-प्रदेश अंग्रेजी नियन्त्रण में आगये। तुर्की साम्राज्य टुकडे-टुकडे होगया। मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि तुर्की की आजादी की लड़ाई में मुस्तफा कमालपाशा ने कुर्दिस्तान के एक छोटे-से हिस्से के सिवा गैर-तुर्क प्रदेशो पर कब्जा जमाने का उद्देश्य कभी नहीं रक्खा। बडी अक्लमन्दी से उसने सिर्फ तुर्को की ही रक्षा की।

महायुद्ध के बाद इन अरब देशो के भविष्य का फैसला होना था। विजयी मित्र-राष्ट्रो यानी अंग्रेज और फ़ासीसियो ने ईमानदारी के साथ ऐलान किया कि इन देशो के बारे में उनका उद्देश्य यह है कि इन "जातियो को, जो अभीतक तुर्को द्वारा पीडित थी, पूर्ण और निश्चित रूप से मुक्त किया जाय, और यहाँके बाशिन्दे खुद अपनी स्वतत्र इच्छा से जैसे राष्ट्रीय शासन और शासक-मण्डल चाहें वैसे कायम कर दिये जायें।" इन दोनो राष्ट्रो ने इस ऊँचे उद्देश्य की पूर्ति इस तरह शुरू की कि इन अरब देशो के ज्यादातर हिस्से को खुद ही आपस में बाँट लिया। फ़ास और इंग्लैण्ड को मैण्डेट (शासनादेश) दिये गये। मैण्डेटो का हासिल करना राष्ट्र-संघ के आशीर्वाद के साथ साम्राज्यवादी ताकतो के द्वारा नया इलाका हासिल करने का ही एक नया तरीका था। फ़ास को सीरिया और इग्लैण्ड को फिलस्तीन और इराक मिला; और हेजाज, जो अरबस्तान का सबसे महत्त्वपूर्ण हिस्सा था, अंग्रेजो के आश्रित मक्का के शरीफ हुसैन के अधीन रक्खा गया। इस तरह, एक ही बड़ा अरब-राज्य बनाने के वादो के खिलाफ, इन अरब प्रदेशो को अलग-अलग हिस्सो में बाँटकर अलग-अलग मैण्डेटो की शक्ल में बना दिया गया और सिर्फ हेजाज ही एक अलग राज्य बनाया गया जो जाहिरा आजाद रहा लेकिन दरअसल अंग्रेजो के अधीन था। अरबो को अपने सारे प्रदेश के इस तरह टुकडे किये जाने से बडी निराशा हुई, और उन्होने इन हिस्सो

पर भी अक्सर सीरियन लोग हमला कर देते थे। फ़्रांसीसियो ने बहुत लोगो को गोलियो से उड़ाकर और कितने ही गॉवो को जलाकर आम लोगो को भयभीत करने की पूरी कोशिश की। अक्तूबर १९२५ में प्रसिद्ध पुराने शहर दमिश्क पर भी बम-वर्षा की गई और उसे बहुत-कुछ बरबाद कर दिया गया। सारा सीरिया फौजी छावनी बन गया था। इतने पर भी दो साल तक विद्रोह दब न सका। आखिर वह फ़्रांस की महान् सैनिक मशीन से कुचल दिया गया। लेकिन सीरियनो के महान् बलिदान बेकार नही गये। उन्होंनें आज़ाद होने के अपने हक को कायम किया और दुनिया को मालूम होगया कि उनमें भी कितनी दृढता मौजूद है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि फ़्रांसीसियो नें इस विद्रोह को मजहबी रंग देना और द्रूज़ो से ईसाइयो को लड़ाना चाहा, मगर सीरियनों ने यह बिलकुल साफ जाहिर कर दिया कि वे कौमी आजादी के लिए लड़ रहे है, न कि किसी मजहबी उद्देश्य के लिए। विद्रोह के बिलकुल शुरू में द्रुज प्रदेश में एक अस्थायी सरकार कायम करली गई, और इस सरकार ने लोगो से आजादी की लड़ाई में शामिल होने और "एक और अखण्ड सीरिया की मुकम्मल आजादी हासिल करनें का विधान बनाने के वास्ते कान्स्टीटचूएण्ट एसेम्बली का स्वतन्त्र चुनाव करने, देश पर कब्जा जमानेवाली विदेशी फौजो के हटाये जाने, स्वरक्षा के लिए राष्ट्रीय फौज बनानें, और फ़ान्स की क्रान्ति तथा 'मनुष्यो के अधिकार' के सिद्धान्तो को प्रयोग में लाने के लिए" अपील निकाली। इस तरह, फ्रास की सरकार और फौज ने एक ऐसी जाति को दबा देने की कोशिश की जो फ्रेंच-क्रान्ति के उसूलो और उसके ऐलान किये हुए हको के लिए ही खडी हुई थी!

१९२८ के शुरू मे सीरिया में मार्शल-ला यानी फौजी कानून खत्म होगया, और प्रेस पर से सेन्सरशिप भी हट गई। कई राजनैतिक कैदी छोड़ दिये गये। राष्ट्रवादियो की मॉग के मुताबिक विधान तैयार करने के लिए एक 'कान्स्टीटचूएण्ट एसेम्बली' बुलाई गई। लेकिन फ्रान्सीसियो ने (आजकल जैसा कि हिन्दुस्तान में किया गया है) अलग-अलग धार्मिक निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था करके झगडे की जड़ डाल दी। मुसलमानो, ग्रीक कैथलिको, ग्रीक ऑर्थोडाक्स मतवालो और यहूदियों के लिए बिलकुल अलग-अलग क्षेत्र बना दिये गये, और हर वोटर को अपने धर्मवालो को ही वोट देने के लिए मजबूर किया गया। दमिश्क में एक अजीब और ऑखें खोल देने-वाली परिस्थिति पैदा होगई। वहॉ राष्ट्रवादियो का नेता एक प्रोटेस्टेण्ट ईसाई था। प्रोटेस्टेण्ट होने के करण वह किसी भी विशेष निर्वाचन-क्षेत्र में नहीं आता था, और हालाकि वह दमिश्क का एक सबसे ज्यादा लोकप्रिय व्यक्ति था, लेकिन फिर भी चुना

इस तरह देश के बाकी हिस्से, खास सीरिया प्रदेश के कुछ उपजाऊ जिले, चले गये और इससे भी बुरी बात यह हुई कि उसका समुद्र से ताल्लुक बिलकुल टूट गया। हजारो वर्षो से सीरिया की गिनती भूमध्य-सागर के महान् देशो में थी, लेकिन अब वह पुराना सम्बन्ध तोड दिया गया और उसे कठोर मरुभूमि से अपना नाता जोड़ना पड़ा। इस खास सीरिया प्रदेश में से भी एक और पहाडी टुकड़ा काटकर जबल-अद-द्रुज नामक एक अलग राज्य बना दिया गया, जहाँ कि द्रुज फिरके के लोग रहते थे।

शुरू से ही सीरियन लोग फ्रेंच "मैण्डेट" के खिलाफ थे। पहले ही सघर्ष और बडे-बडे प्रदर्शन हुए थे, जिनमें अरब स्त्रियो ने भी हिस्सा लिया था और जिन्हे फ्रासीसियो ने बडी सख्ती से कुचला था। देश के छोटे-छोटे टुकडे करने और जान-बूझकर धार्मिक और अल्पसंख्यक समस्यायें खडी करने की कोशिश से तो मामला और बिगड़ गया और असन्तोष बढ गया। इसे दबाने के लिए जिस तरह हिन्दुस्तान में अग्रेजो ने किया है उसी तरह फ्रान्सीसियो ने भी व्यक्तिगत और राजनैतिक आजादी छीन ली और सारे देश में खुफिया महकमे के लोग फैला दिये गये। उन्होंने ऐसे 'राजभक्त' सीरियनो को अफसर मुकर्रर किया, जिनका लोगो पर कुछ भी असर नहीं था और जिन्हे उनके देशवासी आमतौर पर देशद्रोही समझते थे। ये बातें अधिक-से-अधिक ईमानदारी की नीयत से की गई, और फ्रासीसियो ने ऐलान किया कि वे 'सीरियनो को राजनैतिक अनुभव और आजादी की तालीम देना अपना फर्ज समझते हैं'—हिन्दुस्तान में भी तो इस तरह के वाक्यो से लोग परिचित हैं।

मामला खासकर जबल-अद-द्रुज के लड़ाकू और जगली लोगो में (जो कि हमारे उत्तर-पश्चिमी सरहदी जातियो जैसे ही हैं) बढ़ता गया। इन द्रुज लोगो के नेताओ के साथ फ्रासीसी गवर्नर ने एक भद्दी चालाकी की। उसने उन्हे बुलाया और फिर उन्हे वहीं कैद कर लिया और जामिनो की तरह पकड़ रक्खा। यह वाकया १९२५ के गरमी के दिनो में हुआ और फौरन ही जबल-अद-द्रुज में एक बगावत खडी होगई। यह मुकामी बगावत जल्द ही सारे देश में फैल गई और सीरियन आजादी और एकता के लिए एक व्यापक विद्रोह बन गई।

सीरियन आजादी की यह लड़ाई एक उल्लेखनीय बात थी। एक छोटा-सा देश, जो हिन्दुस्तान के दो या तीन जिलो के बराबर था, फ्रांस के खिलाफ, जो कि उस वक्त ससार की सबसे बडी सैनिक शक्ति थी, लड़ने को तैयार होगया। सीरियन लोग फ्रास की बडी-बडी और सुसज्जित फौजो के आगे बाकायदा मुकाबिले की लड़ाई तो लड़ ही नहीं सकते थे, लेकिन उन्होंने उनका देहाती इलाको पर कब्जा बनाये रखना मुश्किल कर दिया। सिर्फ बडे-बडे कस्बे ही फ्रांसीसियों के अधिकार में थे और उन-

फ्रान्सीसी मैण्डेट के खत्म होने और इन तीनो हिस्से के एकीकरण के आधार पर यह समझौता होनेवाला है। इस तरह अब तीनो हिस्सो को मिलाकर एक ही राज्य बन जायगा, लेकिन अलावियो और द्रुजो को भी बहुत ज्यादा आजादी रहेगी। इस राज्य में अभी लेबेनन शामिल न होगा। वह बीस वर्ष के लिए और भी फ्रान्स के संरक्षण में रहेगा। उसके बाद लेबेनीज प्रजातन्त्र के लोग वोटो द्वारा सीरिया के साथ मिल जाने के सवाल का फैसला करेगे।

: १६७ :

फ़िलस्तीन और ट्रान्स-जोर्डन

२९ मई, १९३३

सीरिया से लगा हुआ ही फिलस्तीन है, जिसकी बाबत ब्रिटिश सरकार के पास राष्ट्र-सघ का मैण्डेट (शासनादेश) है। यह और भी छोटा देश है। इसकी आबादी दस लाख से भी कम है, लेकिन इसके पुराने इतिहास और ताल्लुकात की वजह से इसकी तरफ लोगो का ध्यान बहुत जाता है; क्योकि यह यहूदियो के लिए, ईसाइयो के लिए, और किसी हद तक मुसलमानो तक के लिए भी एक पवित्र भूमि है। यहाँके बाशिन्दे ज्यादातर मुसलमान अरब है, और वे आजादी की और सीरिया के अपने अरब-बन्धुओ के साथ मिल जाने की माँग करते है। लेकिन ब्रिटिश नीति ने यहाँ एक खास—यहूदियो की—अल्पसख्यक समस्या पैदा करदी है। यहूदी लोग अंग्रेजो का साथ देते है और फिलस्तीन की आजादी का विरोध करते है, क्योकि उन्हे अदेशा है कि इसका अर्थ होगा अरबो का शासन। ये दोनो एक-दूसरे के खिलाफ जाने-वाले रास्ते है और, जैसा होना लाजिमी है, सघर्ष होते ही रहते है। अरबो की तादाद ज्यादा है; यही उनकी ताकत है। दूसरी तरफ यहूदी बहुत मालदार है और सारी दुनिया में उनका अच्छा सगठन है। इसलिए इंग्लैण्ड अरब राष्ट्रीयता के मुकाबिले में यहूदी धार्मिक राष्ट्रीयता को बढ़ावा देता है और दिखाता है कि दोनो का बीच-बचाव करने और शान्ति कायम रखने के लिए उसका वहाँ बना रहना जरूरी है। यह वही पुराना तमाशा है जो साम्राज्यवाद के अधीन दूसरे देशो में हम देख चुके है। कितना आश्चर्य है कि बार-बार वही दोहराया जाता है!

यहूदी बडे गजब के लोग है। मूलत फिलस्तीन में वे एक छोटी-सी जाति अथवा कई छोटी-छोटी जातियो के रूप में रहते थे, और उनकी शुरू की कहानी बाइ-बिल के ओल्ड टेस्टामेण्ट यानी प्राचीन धर्मपुस्तक में लिखी हुई है। वे बडे मगरूर थे,

न था गया। मुसलमानों ने, जिनकी दस सीटें थीं, एक सीट छोड देनी चाही, ताकि यह प्रोटेस्टेंटों को दी जा सके, परन्तु फ्रांसीसी सरकार ने इसे नहीं माना।

फ्रांसीसियों की इन तमाम कोशिशों के बावजूद, कान्स्टीटयूएण्ट एसेम्बली पर राष्ट्रवादियों का ही नियन्त्रण रहा, और उन्होंने एक आजाद और सर्वोपरि राज्य का विधान तैयार कर डाला। विधान में सीरिया को एक प्रजातन्त्र बनाया गया, जिसमें सारी सत्ता का उद्गम जनता से रक्खा गया। इस प्रस्तावित विधान में फ्रांसीसियों या उनके मैण्डेट का कहीं जिक्र तक नहीं था। इसपर फ्रान्सीसियों ने एतराज किया, लेकिन एसेम्बली भी बिलकुल न झुकी, और कई महीनों तक खींचा-तानी चलती रही। आखिरकार फ्रेन्च हाई कमिश्नर ने यह तजवीज की कि विधान का सारा मसविदा मंजूर कर लिया जाय, सिर्फ उसमें एक ऐसी धारा रख दी जाय कि जबतक मैण्डेट-शासन चलेगा तबतक विधान की किसी भी धारा का ऐसा प्रयोग न किया जायगा जो मैण्डेट के अनुसार फ्रान्स की जिम्मेदारियों के खिलाफ पडे। यह बडी गोलमोल बात थी, फिर भी इसमें फ्रांस को बहुत झुकना पडा। लेकिन कान्स्टीटयूएण्ट एसेम्बली ने इसको भी मंजूर नहीं किया। इसपर मई १९३० में फ्रेन्च सरकार ने इस एसेम्बली को ही बरखास्त कर दिया, और साथ ही संक्रमण-काल (बीच का समय) सम्बन्धी अपनी प्रस्तावित धारा जोडकर उसके बनाये हुए विधान का ऐलान कर दिया।

इस तरह सीरिया प्रदेश जो कुछ चाहता था वह अधिकांश उसे मिल गया, फिर भी उसने अपनी किसी भी मांग को न तो कम किया, न उसपर समझौता किया। दो बातें बाकी रहीं एक तो मैण्डेट-शासन का अन्त होना, जिसके साथ संक्रमण-कालीन धारा भी चली जायगी, और दूसरे सारे सीरिया के एकीकरण का बडा सवाल। इसके सिवा, आजकल जो विधान चल रहा है, वह बडा प्रगतिशील है और पूरी तौर पर आजाद देश के लायक बनाया गया है। महान् विद्रोह के समय में सीरियनों ने अपने को बहादुर और मजबूत लडाका साबित कर दिया। उसके बाद सन्धि-चर्चा में भी उन्होंने अपनेको दृढ और निश्चित मांगें रखनेवाला साबित किया, और उन्होंने पूर्ण आजादी की मांग को जरा भी संशोधित या कम करने से इन्कार कर दिया। अखबारों की खबरों से मालूम होता है कि सीरियन राष्ट्रवादियों और फ्रांसीसी सरकार के बीच जल्द ही कोई समझौता होनेवाला है। अखबारों की बयान की हुई बातों पर यकीन तो नहीं करना चाहिए, लेकिन मैं तुम पर ही छोडता हूँ कि तुम इस समझौते का जितना मुनासिब हो उतना ही महत्व समझना। यह उचित भी मालूम होता है। १९३८ के आखीर में सीरिया प्रदेश तथा अलावियों और द्रूजों पर से

कहे जाते थे, यातनायें दी जाती थी, और सरे-आम कत्ल कर दिया जाता था। 'यहूदी' शब्द ही एक गाली बन गई थी, जिसका अर्थ था कंजूस और मक्खी-चूस साहूकार। इतना होने पर भी यह अद्भुत जाति न सिर्फ जिन्दा रही, बल्कि अपनी जातीय और सास्कृतिक विशेषताओ की भी रक्षा की, खूब फूली-फली और अपने अन्दर से अनेक महान् पुरुषो को पैदा किया। आज वैज्ञानिको, राजनीतिज्ञो, साहित्य-कारो, धनपतियो और व्यापारियो में वे सबसे आगे बढ़े हुए मानें जाते है। और सब-से बडे साम्यवादी और कम्यूनिस्ट तक यहूदी हुए है। लेकिन ज्यादातर यहूदी तो मालदार नही है। पूर्वी योरप के शहरो में उनकी तादाद ज्यादा है, और समय-समय पर उनको 'पोग्रो' यानी कत्लेआम भी बर्दाश्त करने पड़ते है। वतन या राष्ट्र से मह-रूम इस जाति ने, खासकर गरीब यहूदियो ने, पुरानें जेरूसलेम के, जो उन्हे किसी समय की वास्तविकता से महान् और वैभव-पूर्ण दिखाई देता है, स्वप्न देखना कभी न छोडा। जेरूसलेम को वे 'जियोन' कहते है, जो एक प्रकार का स्वर्ग है, और 'जियोनिज्म' वह भूतकाल की प्रेरणा है जो उन्हे जेरूसलम और फिलस्तीन की तरफ आर्कांषित करती रहती है।

उन्नीसवीं सदी के अन्त के लगभग इस 'जियोनिस्ट' आन्दोलन ने धीरे-धीरे उपनिवेश बनने की शकल इख्तियार की और कई यहूदी फिलस्तीन में बसनें पहुँच गये। हिब्रू भाषा का पुनरुद्धार भी शुरू हुआ। महायुद्ध के जमाने में अंग्रेजी फौजो ने फिलस्तीन पर हमला किया, और जब वे जेरूसलम की तरफ बढ़ रही थीं तब ब्रिटिश सरकार नें नवम्बर १९१७ में बालफोर-घोषणा नाम की एक घोषणा प्रकाशित की। उन्होने जाहिर किया कि उनका इरादा है कि फ़िलस्तीन में एक 'यहूदी वतन' (ज्यूइश नेशनल होम) कायम किया जाय। शायद यह ऐलान अन्तर्राष्ट्रीय यहूदी समाज की सद्भावना हासिल करनें के लिए निकाला गया, और आर्थिक दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण था। यहूदियो नें इसका स्वागत किया। लेकिन इसमें एक छोटी-सी बाधा थी। एक बात की तरफ़, जो गैर-जरूरी न थी, किसी ने ध्यान ही नही दिया। फिल-स्तीन कोई वीरान या गैरआबाद प्रदेश न था। यह तो पहले ही किसी-न-किसी का वतन था। इसलिए ब्रिटिश सरकार का यह उदारतापूर्ण प्रयत्न फ़िलस्तीन में पहले से बसे हुए लोगो को नुकसान पहुँचानेंवाला था और इन लोगो ने, जिनमें अरब, गैर-अरब, मुसलमान, ईसाई, असल में हर तरह के गैर-यहूदी शामिल थे, इस ऐलान का जोरदार विरोध किया। इन लोगो ने महसूस किया कि हर काम में यहूदी उनका मुकाबिला करेगे और अपनी बेशुमार दौलत के बल से देश के आर्थिक स्वामी बन जायँगे। उन्हे अन्देशा था कि यहूदी उनके मुँह की रोटी और किसानो की जमीन छीन लेगे।

अपने आपको परमात्मा के खास पसन्द किये हुए लोग मानते थे। लेकिन ऐसी झूठी भावनायें दुनिया की करीब-करीब सभी जातियो में रही हैं। वे बार-बार हराये गये, दबाये गये, और गुलाम बनाये गये। अंग्रेजी की कुछ सबसे सुन्दर और दिल हिला देनेवाली कवितायें तो यहूदियो के गाने और रोने की हैं। ये कवितायें बाइबिल के प्रमाणित अनुवाद में दी हुई हैं। मेरा खयाल है कि मूल हिब्रू भाषा में तो वे इतनी ही या उससे भी सुन्दर होगी। मैं ओल्ड टेस्टामेन्ट के एक भजन की कुछ पंक्तियो का अनुवाद यहां देता हूँ —

By the waters of Babylon we sat down and wept
when we remembered thee, O Sion!
As for our harps we hanged them up
upon the trees that are therein
For they that led us away captive required of us then
a song, and melody, in our heaviness
Sing us one of the songs of Sion
How shall we sing the Lord's song. in a strange land?
If I forget thee, O Jerusalem
let my right hand forget her cunning
If I do not remember thee, let my tongue cleave to
the roof of my mouth yea, if I prefer
not Jerusalem in my mirth.

अर्थात्, "ए जियोन! जब हमें तेरा स्मरण आया, तो हम बेबीलोन नदी के तट पर बैठ गये और खूब रोये।

अपनी वीणाओ को तो हम वहीं के वृक्षो पर लटका आये।

क्योंकि, जो हमें बन्दी बनाकर ले गये वे हमारे शोक में हमसे कहते थे कि हमें कोई गीत, कोई राग, सुनाओ। हमें जियोन का गाना सुनाओ।

हम प्रभु का गीत, एक बिराने देश में, कैसे गावे?

ए जेरूसलम! यदि मैं तुझे भुलाऊँ तो अपने दाहिने हाथ की सारी कुशलता ही भूल जाऊँ।

यदि मैं तेरा नाम लेना भुलाऊँ तो मेरी जिह्वा तालु से चिपकी रह जाय, यदि मैं अपने आनन्द में सबसे अधिक जेरूसलम को न चाहूँ।"

ये यहूदी अन्त में सारी दुनिया में जहाँ-तहाँ बिखर गये। उनका कोई देश या राष्ट्र न था, और जहां कहीं वे जाते वहीं उनके साथ परदेशियो का-सा बुरा वर्ताव किया जाता था। उन्हे सबसे अलग शहर के खास हिस्सो में, जो 'घेटो' कहलाते थे, बसाया जाता था, ताकि वे दूसरे लोगो को अपवित्र न करदें। कहीं-कही उनके लिए खास पोशाक मुकर्रर करदी जाती थी। उनका अपमान किया जाता था, उन्हे अपशब्द

तात्कालिक कारण था एक दीवार की, जिसे 'वेलिंग वाल' (रोने की दीवार) कहते हैं, बाबत झगडा। यह उस दीवार का हिस्सा है जो पुरानें जमाने में हेरोड के मन्दिर के चारो ओर बनी हुई थी और इसलिए इसे यहूदी पवित्र मानते हैं, क्योकि यह उस समय की यादगार है जब उनकी जाति महान् थी। बाद में यही एक मस्जिद बना ली गई और यह दीवार उसका एक हिस्सा बन गई। यहूदी इस दीवार के पास अपनी प्रार्थना करते हैं, खासकर अपने रोदनो को ऊँची आवाज से पढते हैं, इसलिए इसका नाम 'रोने की दीवार' पड़ गया। मुसलमान अपनी एक सबसे प्रसिद्ध मस्जिद के हिस्से पर इस प्रकार रोने पर एतराज करते हैं।

दगे के दबा दिये जाने के बाद झगड़ा दूसरी शक्लो में चलता रहा, और अजीब बात यह थी कि अरबो को फिलस्तीन के सब ईसाई सम्प्रदायो का पूरा समर्थन प्राप्त था। हडतालो और बडे-बडे प्रदर्शनो में मुसलमान और ईसाई दोनो शामिल हुए। स्त्रियो तक ने इसमें बड़ा हिस्सा लिया। इससे जाहिर होता है कि असली झगड़ा धार्मिक नही था, बल्कि नये आनेवालो और पुराने रहनेवालो के बीच एक आर्थिक संघर्ष था। अपने मैण्डेट-सम्बन्धी कर्त्तव्यो को पूरा न कर सकने और खासकर १९२९ के दंगो को न रोक सकने के कारण राष्ट्र-संघ ने ब्रिटिश हुकूमत की बडी आलोचना की।

इस तरह फिलस्तीन अब भी करीब-करीब एक अंग्रेज कालोनी यानी बस्ती है, और कई बातो में तो कालोनी से भी खराब है, और अंग्रेज लोग अरबो से यहूदियों को लड़ाकर इस हालत को जारी रख रहे हैं। उसमें ब्रिटिश अफसर ही भरे हुए हैं, सारे ऊँचे ओहदो पर वही है। अंग्रेजो के मातहत मुल्को की आम हालत के मुआफिक वहाँ भी तालीम की बहुत कम कोशिश की गई है, हालाँकि अरबो को तालीम की जबरदस्त ख्वाहिश है। यहूदियो के बडे-बडे आर्थिक साधन होने के कारण, उनके पास अच्छे-अच्छे स्कूल और कालेज है। यहूदी आबादी मुसलिम आबादी के चौथाई हिस्से के करीब तो होचुकी है, और उनकी माली ताकत तो इससे भी कही ज्यादा है। वे उस दिन के इन्तजार में है जब फ़िलस्तीन में उनकी ही तूती बोलेगी। क़ौमी आजादी और प्रजातान्त्रिक शासन की लड़ाई में अरबो ने उनका सहयोग पानें की कोशिश की, लेकिन इन बातो से उन्होने इन्कार कर दिया। उन्होने हुकूमत करनेंवाली विदेशी ताकत का साथ देना पसन्द किया है, और उसे अधिकांश जनता को आजादी न देने में मदद पहुँचाई है। फिर आश्चर्य नही कि यह अधिकाश जनता, जिसमें खासकर अरब है और ईसाई भी शामिल है, यहूदियो के इस रुख पर बुरी तरह नाराज है।

फिलस्तीन से लगा हुआ, ट्रान्स-जोर्डन नदी के उसपार एक और छोटा-सा राज्य है जिसको अंग्रेजो ने महायुद्ध के बाद पैदा किया है। इसे ट्रान्स-जोर्डन कहते

पिछले बारह वर्ष की फिलस्तीन की कहानी अरबो और यहूदियो के कशमकश की कहानी है, जिसमें ब्रिटिश सरकार ने मौके के मुताबिक कभी इधर और कभी उधर हिस्सा लिया, लेकिन वह आम तौर पर यहूदियो का ही साथ देती रही। इस देश के साथ ऐसा बर्त्ताव किया मानो यह स्वशासन-हीन अंग्रेजी बस्ती हो। अरब, जिनके साथ ईसाई और दूसरे गैर-यहूदी लोग भी है, आत्म-निर्णय और पूर्ण स्वाधीनता की माँग हमेशा करते रहे। उन्होने बडे जोर से मैण्डेट का और नये प्रकार से बसनेवालो का इस सबब से विरोध किया है कि वहाँ अब और लोगो की गुंजाइश नही है। ज्यो-ज्यो बाहर से यहूदी आते गये, त्यो-त्यो उनका अन्देशा और गुस्सा बढ़ता गया। उन्होने (अरबो ने) बताया कि "जियोनिज्म में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का स्वार्थ भी मिला हुआ है। जियोनिस्ट आन्दोलन के जिम्मेदार नेतओ नें हमेशा कहा है कि एक मजबूत 'यहूदी वतन' बन जानें पर वह हिन्दुस्तान के मार्ग की हिफाजत करने के लिए अंग्रेजो के वास्ते बडा लाभप्रद होगा, क्योकि वह अरब राष्ट्रीय आकांक्षाओ का विरोध करने-वाली एक ताकत होगी।" कैसी अजीब-अजीब जगहो में भी हिन्दुस्तान आ खडा होता है!

अरब काग्रेस ने ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग करने और एक लेजिस्लेटिव कौंसिल का, जिसे अंग्रेज खडी कर रहे थे, बहिष्कार करनें का फैसला किया। यह बहिष्कार बहुत कामयाब हुआ और कौंसिल न बन सकी। एक खास तरह के असहयोग की नीति कई साल तक चलती रही। फिर वह किसी हद तक कमजोर पड़ गई और कुछ दल अंग्रेजो को आँशिक सहयोग देने लगे। फिर भी अंग्रेज चुनी हुई कौंसिल न बना सके, और हाईकमिश्नर ही सर्वशक्तिमान सुलतान की तरह हुकूमत करता रहा।

१९२८ में अरब काग्रेस में भिन्न-भिन्न दल फिर मिलकर एक होगये और उन्होने 'अधिकार के रूप में' प्रजातंत्रीय तरीके की हुकूमत की माँग की। उन्होनें बडी बहादुरी से यह भी कह दिया कि "फ़िलस्तीन के लोग मौजूदा एकतन्त्री कालोनियल शासन-प्रणाली को न तो मान सकते है और न मानेगे।" अरबी राष्ट्रीयता की इस नई लहर में एक मजेदार बात यह भी थी कि आर्थिक सवालो पर जोर दिया गया। स्थिति की असलियत के ज्यादा-से-ज्यादा ठीक तौर पर समझे जाने का यह हमेशा एक चिन्ह होता है।

अगस्त १९२९ में अरबो और यहूदियो के कई बडे-बडे दंगे हुए। असली सबब तो था यहूदियो की बढती हुई दौलत और तादाद के कारण अरबो की कटुता और भय तथा अरबो की आजादी की माँग का यहूदियो द्वारा विरोध किया जाना। लेकिन

१९२९ के फिलस्तीन के झगडो के दिनो में अग्रेजो और बालफोर-घोषणा के खिलाफ ट्रान्स-जोर्डन में भी बडे-बडे प्रदर्शन हुए।

मैं तुम्हे मुख्तलिफ देशो की घटनाओ की महत्वपूर्ण बातो को विस्तार से लिखता जाता हूँ, और ऐसा मालूम होता है कि एक ही कहानी बार-बार दोहराई जारही है। मैं यह इसलिए लिखता हूँ कि तुम अनुभव करलो कि यह बात नहीं है कि हम सब लोगो को अपने-अपने देश में अपनी अलग-अलग समस्याओ को निपटाना है, जैसा कि हम कभी-कभी सोचने लगते हैं। बल्कि हम सबको दुनिया के बडे सवालो को हल करना है और शक्तियो का सामना करना है। हमें उस संघर्ष में से गुजरना है, जिसमें एक तरफ़ तो पूर्व के सभी देशो की उठती हुई राष्ट्रीयता है और दूसरी ओर उसे दबानेवाले साम्राज्यवाद की वही बार-बार दुहराई जानेवाली चालें हैं। जैसे-जैसे राष्ट्रीयता पैदा होती और बढ़ती जाती है वैसे-ही-वैसे साम्राज्यवाद की चालो में हलकी-सी तब्दीलियाँ होती जाती हैं; लोगो को संतुष्ट करने और बाहरी ढाँचे के मामलो में झुक जाने की थोडी-सी दिखावटी कोशिशें की जाती हैं। इस बीच भिन्न-भिन्न देशो में जैसे-जैसे यह राष्ट्रीय लड़ाई आगे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे हर देश में सामाजिक लड़ाई यानी भिन्न-भिन्न वर्गों की आपसी कशमकश भी साफ जाहिर होती जाती है, और सामन्त और किसी हद तक सम्पत्तिशाली वर्ग भी साम्राज्यवादी शक्ति की तरफ ज्यादा-ज्यादा मिलते जाते हैं।

: १६८ :

अरब—मध्य-युग से सहसा प्रगति

३ जून, १९३३

मैं तुम्हे अरब देशो का हाल लिखता रहा हूँ, लेकिन अभीतक मैंने तुम्हे खास अरब यानी अरबिस्तान के बारे में कुछ नही लिखा, जोकि अरबी भाषा और संस्कृति का उद्गम है और इस्लाम की जन्मभूमि है। हालाँकि वह अरब सभ्यता का उद्गम-स्थान था, लेकिन वह पिछड़ा हुआ और मध्ययुगीन ही बना रहा, और हमारी आधुनिक सभ्यता की कसौटियों के मुताबिक नजदीक के अरब देश—मिस्र, सीरिया फ़िलस्तीन और इराक—इससे बहुत ज्यादा आगे बढ़ गये। अरब एक बड़ा भारी देश है। फैलाव और रकबे में वह हिन्दुस्तान के दो-तिहाई के करीब है। लेकिन उसकी आबादी सिर्फ़ ४० या ५० लाख ही है जो हिन्दुस्तान की आबादी का ७०वां या ८०वां हिस्सा है। इससे जाहिर होता है कि वहाँ आबादी घनी नही है। दरअसल

है। यह एक छोटा-सा रकबा है, जो रेगिस्तान की हद से मिला हुआ और सीरिया और अरब के बीच में स्थित है। इस राज्य की पूरी आबादी करीब तीन लाख है, जो कि आजकल के किसी शहर के भी मुश्किल से बराबर है। ब्रिटिश सरकार इसको आसानी से फिलस्तीन के साथ मिला सकती थी, लेकिन साम्राज्यवादी नीति मिलाने के बजाय जुदा करना ज्यादा पसन्द करती है। यह राज्य हिन्दुस्तान को जानेवाले जमीन के और हवाई मार्ग के लिए महत्वपूर्ण है। यह रेगिस्तान और उपजाऊ प्रदेशो के बीच में एक लाभदायक सरहदी राज्य है, जो पश्चिम में समुद्र तक पहुँचने का रास्ता है।

हालाँकि यह राज्य छोटा ही है, लेकिन यहाँ भी वही घटनायें हुईं जो पास के बडे देशो में हुई थीं। यहाँ भी जनता की तरफ से प्रजातंत्री पार्लमेण्ट की मांग हुई, जो मजूर नही की गई। प्रदर्शन दबा दिये गये। सेन्सरशिप, नेताओ की जलावतनी, सरकारी कार्यों का बहिष्कार वगैरा सब बाते हुईं। अग्रेजो ने अमीर अब्दुल्ला को (जो हेजाज के शाह हुसैन का एक पुत्र और फैसल का भाई है) बडी चतुराई से ट्रान्स-जोर्डन का शाह बना दिया है। वह बिलकुल अंग्रेजो के हाथ की कठपुतली है। लेकिन वह जनता की आँखो से अंग्रेजो को छिपाने के लिए परदे का काम देता है। जो कुछ होता है, अधिकाश बुराई उसीके सिर पर पड़ती है, और वह बहुत ही अप्रिय है। अब्दुल्ला के हाथ में ट्रान्स-जोर्डन का राज्य असल में ऐसा ही है जैसा हमारे हिन्दुस्तान में कई छोटे-छोटे देशी राज्य है।

उसूलन तो यह राज्य आजाद है, लेकिन १९२८ के एक सुलहनामे के जरिये फौजी और दूसरी सब तरह की सहूलियते ब्रिटेन को देदी गई है। ट्रान्स-जोर्डन दर-असल ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा बन गया है। यह एक नई किस्म की आजादी का छोटे पैमाने पर नमूना है, जो अग्रेजो की छत्रछाया में रहती है। इस सुलहनामे और आमतौर पर इस सारी स्थिति को मुसलिम और ईसाई जनता बिलकुल नापसन्द करती है। सुलहनामे के खिलाफ होनेवाले आन्दोलन को दबा दिया गया, जिन अख़-बारो ने उसका समर्थन किया उनतक का निषेध कर दिया गया, और, जैसा कि मै ऊपर कह चुका हूँ, नेताओ को जलावतन कर दिया गया। इसपर विरोध और भी बढा, और एक राष्ट्रीय काग्रेस का अधिवेशन हुआ और उसने एक राष्ट्रीय इक़रार-नामा मजूर किया और सुलहनामे की निन्दा की। जब नये चुनाव के लिए वोटरो यानी मतदाताओ की फेहरिस्त तैयार की जा रही थी तो जनता के भारी बहुमत ने उसका बहिष्कार किया। लेकिन अब्दुल्ला और अग्रेजो ने फिर भी सुलहनामे की दिखावटी ताईद के लिए कुछ समर्थक इकट्ठे कर ही लिये।

के और पीर-पूजा के खिलाफ थे, जो मुसलमानो में मकबरो और धार्मिक लोगो के स्मारको की पूजा के रूप में बहुत फैल गई थी। वहाबी लोग इसे बुतपरस्ती कहा करते थे, जैसे कि योरप के प्यूरिटन लोग रोमन कैथलिको को, जो सन्तो की मूर्तियो और स्मारको को पूजते थे, मूर्तिपूजक कहा करते थे। इस तरह राजनैतिक विरोध के अलावा, वहाबियो और अरब के दूसरे मुस्लिम फिरको मे मजहबी झगड़ा भी था।

महायुद्ध के जमाने में अरब में ब्रिटिश साजिशो ने जोर पकड़ा, और मुख्तलिफ अरब सरदारो को मदद और रिश्वत देने के लिए ब्रिटेन और हिन्दुस्तान का रुपया पानी की तरह बहाया गया। उनसे जितने किस्म के भी वादे हो सकते हैं सभी किये गये, और उन्हे तुर्की के खिलाफ बगावत करने के लिए भड़काया गया। कभी-कभी सरदार एक-दूसरे से लड़ते थे और दोनो को अंग्रेजो से मदद मिलती थी! अंग्रेज लोग मक्का के शरीफ हुसैन के जरिये अरब-विद्रोह का झंडा उठवाने में कामयाब होगये। हुसैन का महत्व इस बात से था कि वह पैगम्बर मुहम्मद साहब के खानदान में था, और इसलिए उसकी बडी इज्जत थी। अंग्रेजो ने हुसैन से वादा किया कि वे उसे सारे अरब के सयुक्त राज्य का बादशाह बना देंगे।

लेकिन इब्नसऊद ज्यादा होशियार था। उसने अंग्रेजो से अपने-आपको खुदमुख्तार बादशाह तसलीम करवा लिया। उसने ५,००० पौण्ड या ७०,००० रुपया माहवार की रकम लेना मंजूर कर लिया और तटस्थ रहने का वादा कर दिया। इस तरह जबकि दूसरे लोग लड़ते रहे, वह अपनी स्थिति को मजबूत और संगठित बनाता रहा, और उसमें किसी हद तक अंग्रेजो के रुपये की भी मदद रही। इस्लामी मुल्को में, हिन्दुस्तान में भी, शरीफ हुसैन अप्रिय होता जा रहा था, क्योकि उसने तुर्की के सुलतान के खिलाफ, जो कि उस वक़्त खलीफा भी था, बगावत की थी। इब्नसऊद ने तटस्थ रहकर बदलती हुई परिस्थितियो का पूरा फ़ायदा उठाया, और धीरे-धीरे इस्लाम का एक ताकतवर आदमी होने का नाम पा लिया।

दक्षिण में यमन था। यमन का इमाम या शासक युद्ध के जमाने में हमेशा तुर्को का वफादार रहा। लेकिन वह लड़ाई की जगह से अलग जा पड़ा था और कोई ज्यादा मदद न पहुँचा सकता था। तुर्की की हार के बाद वह खुदमुख्तार होगया। यमन भी एक स्वतन्त्र राज्य है।

महायुद्ध के अखीर में अरब इंग्लैण्ड के ही हाथो में था, और इंग्लैण्ड हुसैन और इब्नसऊद दोनो को अपने हथियार की तरह से इस्तेमाल करने की कोशिश कर रहा था। लेकिन इब्नसऊद में इतनी होशियारी थी कि वह उनकी कठपुतली न बना। परन्तु शरीफ़ हुसैन के खानदान की शान अचानक ही बहुत बढ़ गई, क्योकि

उनके ज्यादातर हिस्से में तो रेगिस्तान है, और इसी सबब से पुराने जमाने के लालची बहादुरों की निगाह उसपर नहीं पड़ी और वह तब्दील होते हुए जमाने में बग़ैर रेल, तार और टेलीफोन के मध्ययुग के निशान-सा बना रहा। उसमें ज्यादातर घूमने-फिरने वाले खानाबदोश फिरके, जिन्हें बदाऊन कहते हैं, बसते थे। ये लोग रेगिस्तान में एक सिरे से दूसरे सिरे तक 'रेगिस्तान के जहाजों' यानी अपने तेज ऊँटों और अपने खूबसूरत अरबी घोड़ों पर, जो दुनियाभर में मशहूर हैं, सफर किया करते थे। उनकी ज़िन्दगी का वही पुराना ढंग था जिसमें कुटुम्ब का बड़ा-बूढ़ा अगुआ होता था और सब उसका कहना मानकर चलते थे। हजार वर्ष में भी उनकी हालत में कोई खास तब्दीली नहीं हुई थी। लेकिन महायुद्ध ने जिस तरह और भी कई चीजों को तब्दील कर दिया इसी तरह इस सबको भी बदल दिया।

अगर तुम नक़्शे को देखोगी तो तुम्हें मालूम होगा कि अरब यानी अरबिस्तान का महान् प्रायद्वीप लाल समुद्र और ईरान की खाड़ी के बीच में है। उसके दक्षिण में अरब सागर है, और उत्तर में फ़िलस्तीन और ट्रान्स-जोर्डन और सीरिया का रेगिस्तान है, और उत्तर-पूर्व की तरफ इराक़ की हरी और उपजाऊ तराई है। पश्चिमी किनारे पर लाल समुद्र से लगा हुआ हेजाज का प्रदेश है, जो इस्लाम का जन्म-स्थान है और जिसमें मक्का और मदीना के पवित्र नगर हैं और जद्दाह का बन्दरगाह है, जहाँ हर साल मक्का को जानेवाले हजारों यात्री उतरा करते हैं। अरब के बीच में और पूर्व में ईरान की खाड़ी तक फैला हुआ नज्द प्रदेश है। हेजाज और नज्द यही दोनों अरबिस्तान के खास हिस्से हैं। दक्षिण-पश्चिम में यमन है, जिसे पुराने रोमन जमाने से अरेबिया फ़ेलिक्स यानी खुशकिस्मत अरबिस्तान कहा जाता है, क्योंकि दूसरे रेगिस्तान और बंजर हिस्से के मुक़ाबिले में यह उपजाऊ रहा है। कुदरती तौर पर इस हिस्से में आबादी घनी होनी चाहिए। अरब के दक्षिण-पश्चिमी सिरे के ऊपर अदन है, जो अंग्रेजों के क़ब्जे में है और जहाँ पूर्व और पश्चिम के बीच आने-जाने वाले जहाज ठहरा करते हैं।

महायुद्ध से पहले करीब-करीब सारा ही देश तुर्की शासन में था या तुर्की हुकूमत को तस्लीम करता था। लेकिन नज्द में अमीर इब्नसऊद धीरे-धीरे आज़ाद बनता जा रहा था और इलाके पर इलाका सर करता हुआ ईरान की खाड़ी की तरफ बढ़ रहा था। यह बात महायुद्ध के पहले के कुछ वर्षों की है। इब्नसऊद मुसलमानों की एक खास कौम या फिरके का, जिसे वहाबी कहते हैं और जिसको अठारहवीं सदी में अब्दुलवहाब ने कायम किया था, सरदार था। वहाबी असल में इस्लाम का एक सुधारक दल था, जैसाकि ईसाइयों में प्यूरिटन मत है। वहाबी लोग कई रीति-रिवाजों

सकते थे। मिस्र का शाह फुआद, जिसके राष्ट्र-विरोधी और स्वेच्छाचारी कारनामो पर हम पहले गौर कर चुके है, खलीफा बनने को बहुत इच्छुक था, लेकिन उसे कोई नही चाहता था—खुद मिस्र-वासी भी नहीं चाहते थे। शिकस्त खाने के बाद, हुसैन ने भी खलीफा होने का अपना दावा छोड दिया।

मक्का की इस्लामी कॉंग्रेस नें कोई महत्वपूर्ण निर्णय नही किये, और शायद उसकी गरज भी यह नही थी कि उसमें कोई महत्वपूर्ण बात हो। वह तो इब्नसऊद की अपनी स्थिति को, खासकर बाहरी ताकतो के सामने, मजबूत बनाने की तरकीब थी। खिलाफत कमेटी के हिन्दुस्तानी प्रतिनिधि, जिनमें मेरे खयाल से मौलाना मुहम्मद-अली भी शामिल थे, इब्नसऊद से निराश और नाराज होकर लौटे। लेकिन उसपर इसका कोई असर न पड़ा। उसने हिन्दुस्तान की खिलाफत कमेटी का उपयोग कर लिया था, जब कि उसे उसकी जरूरत थी। अब तो उसकी सद्भावना के बगैर भी उसका काम चल सकता था।

इब्नसऊद सिपाही और योद्धा की हैसियत से तो कामयाब हो ही गया था; अब वह उससे भी मुश्किल काम में यानी अपनेको आजकल के हालात के मुताबिक बनाने में लग गया। यह तरक्की पुराने ढंग के खानदानी समाज से एकाएक आजकल की दुनिया में छलॉंग मारकर आजाने के बराबर हुई। मालूम होता है कि इस काम मे भी इब्नसऊद को काफी कामयाबी मिली है, और उसने इस तरह साबित कर दिया है कि वह दूरदर्शी राजनीतिज्ञ है।

उसकी पहली कामयाबी खानाजगी यानी अन्दरूनी झगडो में हुई। बहुत ही थोडे अर्से में कारवान और सफर के रास्ते बिलकुल सुरक्षित होगये। यह एक बडी फतहयाबी थी, और कुदरती तौर पर बहुत-से यात्रियो ने, जिन्हे कि अभीतक रास्तोमें राहजनी और लूट का अकसर सामना करना पड़ता था, इसे बहुत पसन्द किया।

इससे भी आश्चर्यजनक सफलता थी—घूमते-फिरते रहनेवाले बदायूनो को बसा देना। उसने इनका बसाना हेजाज जीतने से भी पहले शुरू कर रक्खा था, और इस तरह उसनें एक आधुनिक राज्य की नीव डाल दी। इन न टिकनेवाले घुमक्कड़ और आजादी-पसन्द बदायूनों को बसाना आसान काम नही है, लेकिन इसमे इब्नसऊद को बहुत बडी कामयाबी हासिल हुई है। राज्य का इन्तजाम कई बातो में सुधरा है, और हवाई जहाज और मोटरे और टेलीफोन और आधुनिक सभ्यता के कई दूसरे निशान दिखाई देने लगे है। लेकिन मध्ययुग से आधुनिक युग में छलॉंग मारना आसान काम नही है, और सबसे ज्यादा कठिनाई लोगों के खयालात बदलने में आती है।

उसकी पीठ पर अंग्रेजो की ताकत थी। खुद हुसैन हेजाज का बादशाह बना, उसका एक लडका फैजल सीरिया का शासक बना; और दूसरे लड़के अब्दुल्ला को अंग्रेजो ने ट्रान्स-जोर्डन नामक नये राज्य का शासक बना दिया। मगर यह शान चन्द दिन ही कायम रही, क्योकि, जैसाकि पहले बयान किया जा चुका है, फैजल को सीरिया मे फ्रांसीसियो ने भगा दिया, और हुसैन की बादशाहत इब्नसऊद के वहाबियो की चढाई के सामने खत्म होगई। फैजल फिर बेकारो में शामिल होगया और उसे अंग्रेजो ने इराक की हुकूमत दे दी, जहाँकि वह अब भी अंग्रेजो की मेहरबानी से शाह बना हुआ शासन कर रहा है।

उस थोडे-से अर्से में, जबकि हुसैन हेजाज का बादशाह था, अंगोरा की तुर्की पार्लमेण्ट ने १९२४ में खिलाफत को मिटा दिया। अब कोई खलीफा न रहा। इसलिए हुसैन बडी भारी हिम्मत करके खाली तख्त पर खुद जा कूदा, और उसने अपनेआपको इस्लाम का खलीफा ऐलान कर दिया। इब्नसऊद ने देखा कि बस उसके लिए यही अच्छा मौका है और उसने अरब राष्ट्रीयता और मुस्लिम अन्तर्राष्ट्रीयता के सामने हुसैन की मुखालफत की। वह एक महत्वाकांक्षी अनधिकारी के मुकाबिले में इस्लाम का हिमायती बन गया, और बडे कुशलतापूर्ण प्रचार की मदद से उसने दूसरे देशो के मुसलमानो की सद्भावना प्राप्त करली। हिन्दुस्तान की खिलाफत कमेटी ने भी उसके पास अपनी सदिच्छायें भेजीं। अंग्रेजो ने भी हवा का रुख देखकर, यह महसूस करके कि जिस व्यक्ति की वे अबतक हिमायत करते रहे वह कामयाब न होगा, चुपचाप हुसैन का साथ छोड दिया। उन्होनें रुपया देना बन्द कर दिया और एक मजबूत और चढाई करते हुए दुश्मन के सामने बेचारा हुसैन, जिसके साथ इतने वादे किये गये थे, अकेला लाचार और असहाय छोड़ दिया गया।

कुछ ही महीनो में, अक्तूबर १९२४ में, वहाबी मक्का में दाखिल होगये, और उन्होने अपने कट्टरमत के अनुसार कुछ मकबरो को बर्बाद कर दिया। इस बर्बादी की वजह से मुसलमानी मुल्को में बहुत अंदेशा फैल गया। हिन्दुस्तान में भी इसका बड़ा विरोध किया गया। दूसरे साल मदीना और जद्दाह भी इब्न-सऊद के हाथ में आगये, और हुसैन और उसका खानदान हेजाज से निकाल दिया गया। १९२६ के शुरू में इब्नसऊद ने अपनेको हेजाज का बादशाह घोषित कर दिया। अपनी नई स्थिति को मजबूत बनाने और बाहर के मुसलमानो की सद्भावना बनाये रखने के लिए उसने जून १९२६ में मक्का में सारे दुनिया के मुसलमानो की कांग्रेस बुलाई, जिसमें उसने दूसरे देशो के प्रतिनिधियो को भी बुलाया। उसे खलीफा बनने की कोई इच्छा न थी और उसके वहाबी-मत के बहुत-से मुसलमान उसे किसी तरह भी खलीफा नहीं मान

वाली हैं। अरब में यह रेल एक बड़ी भारी चीज होगी, क्योंकि इससे वार्षिक यात्राओं में क्रान्ति होजायगी। इससे सिर्फ यात्रियों को ही फायदा न पहुँचेगा, बल्कि अरब लोगों के दृष्टिकोण को आधुनिक बनाने में भी मदद मिलेगी। उम्मीद है कि रेल दो साल में यानी १९३५ की वसन्त ऋतु से चलने लगेगी।

किसी पिछले खत में मैं लिख चुका हूँ कि अरब में एक रेलवे तो पहले से ही मौजूद है, जो हेजाज रेलवे कहलाती है और मदीना को सीरिया के अलप्पो नामक स्थान पर बगदाद रेलवे से जोड़ती है।

इस खत के शुरू के हिस्से में मैंने जिक्र किया है कि दक्षिण-पश्चिम में यमन का नाम 'अरेबिया फेलिक्स' था। वास्तव में यह नाम तो दक्षिणी अरब के एक बड़े हिस्से को भी दिया गया था, जो करीब-करीब ईरान की खाड़ी तक फैला हुआ था। लेकिन इस प्रदेश के लिए यह नाम बिलकुल गैरमौजूँ है, क्योंकि यह तो एक भद्दा-सा रेगिस्तान है। शायद पुराने जमाने में इसे लोग काफी तौर पर जानते नहीं थे और इसलिए यह गलती होगई। हालतक तो यह एक अज्ञात प्रदेश था, दुनिया की सतह पर की उन थोड़ी-सी जगहों में से एक था जिनकी नाप होकर नक्शा भी नहीं बना है। सिर्फ तीन साल पहले, पहली मर्तबा, एक अंग्रेज अन्वेषणकारी ने इसको पार किया है।

: १६६ :

इराक़ और आसमान से बम-वर्षा

७ जून, १९३३

अब एक अरब देश और रहता है, जिसपर हमें विचार करना है। यह देश है इराक या मेसोपोटामिया—टाइग्रीस (दजला) और यूफ्रेटीज (फुरात) नदियों के बीच का सम्पन्न और उपजाऊ प्रदेश; पुराने किस्से-कहानियों, बगदाद, और हारूंनल-रशीद और अलिफ लैला की भूमि। यह ईरान और अरबी रेगिस्तान के बीच में स्थित है। दक्षिण में इसका खास बन्दरगाह बसरा है, जो कि ईरान की खाड़ी से कुछ दूर नदी के ऊपर है। उत्तर में यह तुर्की की हद से लगा हुआ है। इराक और तुर्की दोनों कुर्दिस्तान में आ मिले हैं, जहाँ कि कुर्द जाति बसती है। अधिकांश कुर्द लोग तो अब तुर्की में हैं, और मैं तुम्हें पहले बता चुका हूँ कि वे तुर्की से अपनी आजादी के लिए लड़े थे। लेकिन ईरान में भी कुछ कुर्द लोग हैं और उनका वहाँ भी एक छोटी तादादवाला पर महत्वपूर्ण समाज है। मोसल, जिसकी बाबत बहुत अर्से तक तुर्की

यह नई तरक्की और तब्दीली बहुत-से अरबो को पसन्द नही आई; पश्चिम की नई गढी हुई मशीने, उनके एंजिन और मोटरे और हवाई-जहाज उन्हे शैतान के आविष्कार मालूम हुए। उन्होने इन नई बातो का विरोध किया, और १९२९ में उन्होने इब्न-सऊद के खिलाफ बगावत भी करदी। इब्नसऊद ने उन्हे चतुराई और दलीलो से अपनी तरफ मिलाने की कोशिश की, और कइयो को मिलाने में कामयाब भी हुआ। कुछ लोगो ने बगावत जारी रक्खी और इब्नसऊद के जरिये पस्त कर दिये गये।

इसके बाद इब्नसऊद के सामने एक दिक्कत और आई, लेकिन यह दिक्कत तो सारी दुनिया के ही सामने आई थी। १९३० से सभी जगह व्यापार में भारी मन्दी आगई है। पश्चिम के बडे-बडे औद्योगिक देशो ने इसको सबसे ज्यादा महसूस किया है, और इसके बढते हुए जाल से निकलने के लिए अब भी पैर पीट रहे है। संसार के व्यापार से अरब का कोई वास्ता नही है, लेकिन वहाँ मन्दी का अनुभव दूसरी तरह से हुआ। इब्नसऊद की आमदनी का खास ज़रिया हर साल मक्का आनेवाले यात्रियो की तादाद थी। विदेशो से हर साल क़रीब एक लाख यात्री मक्का आया करते थे। १९३० में यह तादाद घटकर चालीस हजार रह गई, और घटती अब भी जारी है। इसका नतीजा यह हुआ कि राज्य की आर्थिक व्यवस्था बिलकुल उलट-पुलट होगई, और अरब के कई हिस्सो में बडी ही दुर्दशा पैदा होगई। कहा जाता है कि कई प्रदेशो की हालत तो इतनी बुरी है कि तुर्की हुकूमत के ख़राब-से-ख़राब जमाने में भी वैसी नही हुई थी। रुपये की कमी से इब्नसऊद का हाथ तंग होगया और उसकी कई सुधार-योजनायें बन्द होगई। वह विदेशियो को उद्योग और व्यापार-सम्बन्धी सुविधायें नही देना चाहता था, क्योकि उसका यह अन्देशा सही था कि अगर विदेशी लोग देश के औद्योगिक साधनो को काम में लायँगे तो उससे विदेशी असर बढ़ेगा, और फिर इससे विदेशी दस्तन्दाजी होगी और अपनी आज़ादी में कमी आयगी। उसका अन्देशा बिलकुल ठीक था, क्योकि ज्यादातर जिन तकलीफो को औपनिवेशिक और गुलाम देशो ने बर्दाश्त किया है वे विदेशी उद्योग-विस्तार से ही पैदा हुई है। इब्न सऊद ने कुछ तरक्की और खुशहाली होने लेकिन आज़ादी के मिटने की बनिस्बत आजादी को ज्यादा पसन्द किया।

फिर भी मन्दी की मजबूरी से इब्नसऊद को अपनी नीति में थोड़ा सुधार करना पड़ा है, और अब वह विदेशियो को कुछ सहूलियते देने को तैयार है। लेकिन इस स्थिति में भी वह अपनी आजादी को महफूज़ रखने का खयाल रखता है, और इसके लिए शर्ते तय करदी गई है। इस तरह पहली सहूलियत जद्दाह बन्दरगाह और मक्का के बीच रेल बनाने के लिए एक हिन्दुस्तानी मुस्लिम पूंजीपति दल को दी जाने

वाले वाक्यो मे ढक दिया जाता है, और इस तरह उसे छिपा दिया जाता है। लेकिन कभी-कभी यह साधुता-प्रदर्शक पाखण्ड नंगी सचाई से बहुत बुरा लगता है

अब हम इस बात पर गौर करते है कि इराक में लोगो की इच्छाओ पर किस तरह अमल किया गया, और ब्रिटिश मैण्डेट में यह देश किस तरह आजादी की तरफ़ बढ़ता चला गया। महायुद्ध के दौरान में अंग्रेजो ने इराक को—या, जिस नाम से वह उस वक़्त मशहूर था, मेसपॉट को—तुर्की के खिलाफ़ अपनी कारगुजारियो का खास मुकाम बना लिया था। उन्होने इस देश में अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी फौजो की भरमार करदी थी। उन्हे १९१६ में एक बडी शिकस्त मिली, जबकि कुतलअमारा में जनरल टाउनशेण्ड की मातहती में एक ब्रिटिश फौज को तुर्को के सामने हार खानी और शरण लेनी पडी। सारे मेसोपोटामियन युद्ध में भयंकर फ़िज़ूलखर्ची और बदइन्तजामी रही, और चूंकि भारत-सरकार इसके लिए ज्यादातर जिम्मेदार थी इसलिए उसे अपनी नालायकी और बेवकूफी के बारे में बहुत सख्त बाते बर्दाश्त करनी पडीं। फिर भी, अखीर में अंग्रेजो के बढ़े हुए साधनो का नतीजा निकला ही और उन्होने तुर्को को उत्तर में खदेड़ दिया और बाद में वे क़रीब-करीब मोसल तक जा पहुँचे। महायुद्ध के अखीर में सारा इराक अंग्रेजो के फौजी कब्ज़े में था।

इंग्लैण्ड को इराक का मैण्डेट मिलने का पहला असर १९२० के शुरू में जाहिर हुआ। इसके खिलाफ जबरदस्त विरोध किया गया, जो बढते-बढ़ते दंगे-फसाद की शक्ल में जाहिर हुआ, और दंगो ने बगावत की शक्ल इख्तियार करली, जोकि सारे देश में फैल गई। यह एक अजीब और मजेदार बात है कि १९२० के इस पहले आधे हिस्से में करीब-करीब एकसाथ ही तुर्की, मिस्र, सीरिया, फिलस्तीन, इराक और ईरान में गड़बडी हुई थी। हिन्दुस्तान में भी उन्हीं दिनो असहयोग की चर्चा थी। इराक की बगावत को अन्त में, खासकर हिन्दुस्तान की फौज की मदद से, दबा दिया गया। बहुत अर्से से हिन्दुस्तान की फ़ौजो का यह काम रहा है कि वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का गन्दा काम किया करती है, और इस कारण मध्य-पूर्व और दूसरे मुल्को में हमारे देश की काफी बदनामी होगई है।

अंग्रेजो ने इराक की बगावत को कुछ तो जोर-जबरदस्ती से और कुछ भविष्य में आजादी देने के वादो से दबा दिया। उन्होने अरब मन्त्रियो की एक अस्थायी सरकार कायम की, लेकिन हर मन्त्री के साथ एक अंग्रेज सलाहकार था जोकि असली ताकत रखता था। मगर ये फालतू और नामजद मन्त्री भी इतने तेज थे कि अंग्रेजो को पसन्द न आये। अंग्रेजों की योजना यह थी कि इराक बिलकुल उनके हुक्म के

और इंग्लैण्ड में झगड़ा चलता रहा था, अब इराक के इस उत्तरी कुर्दिश प्रदेश में ही है। इसका अर्थ है कि वह अंग्रेजो के नियन्त्रण में है। मोसल के नजदीक ही असीरियनो के प्राचीन नगर निनेव के खंडहर हैं।

इराक उन देशो में से एक था जिनके लिए इंग्लैण्ड को राष्ट्र-संघ से 'मैण्डेट' मिला था। 'मैण्डेट' का अर्थ राष्ट्र-संघ की पवित्र भाषा में है . राष्ट्र-संघ की तरफ से सभ्यता की 'पवित्र धरोहर' (ट्रस्ट)। मूल उद्देश्य यह था कि 'मैण्डेट' वाले देशो के वाशिन्दे अभी इतने बढ़े हुए नहीं है, या इस लायक नहीं है, कि वे अपने हितो को खुद सम्हाल सके, इसलिए बड़ी शक्तियाँ इस काम में उनको मदद दें। शायद इसकी मिसाल यह होसकेगी कि कुछ गायो या हिरनो के हितो की हिफाजत के लिए किसी, शेर को मुकर्रर किया जाय। यह मान लिया गया था कि ये 'मैण्डेट' वहाँके निवासियो के कहने से दिये गये है। पश्चिमी एशिया में तुर्की हुकूमत से आजाद किये हुए मुल्को के मैण्डेट इंग्लैण्ड और फ्रान्स के हिस्से में आये। जैसा कि मैं पहले ही बता चुका हूँ, इन दोनो देशो की सरकारो ने ऐलान किया कि उनका एकमात्र यही उद्देश्य है कि "वहाँकी जातियो को मुकम्मल और यकीनी तौर पर सभ्य बनाना और वहाँ ऐसी राष्ट्रीय सरकारें और व्यवस्थापक-मण्डल कायम करना जिनकी हस्ती वहाँ के असली वाशिन्दो की अपनी इच्छा और पसन्द पर मुनहसर या निर्भर हो।" इस उच्च उद्देश्य को हासिल करने के लिए पिछले बारह वर्षों में जो-जो काम किये गये वे हम सीरिया, फिलस्तीन और ट्रान्स-जोर्डन के विषय में मुख्तसर तौर पर देख ही चुके हैं। वहाँ बार-बार गड़बड़ी हुई, असहयोग हुआ और बहिष्कार हुआ। उस वक्त लोगो की प्रेरणा और बिना किसी दबाव की उनकी पसंदगी को बढ़ावा देनें के लिए उन्हें गोलियो से मारा गया, उनके नेताओ को सजायें दी गईं और जलावतन किया गया, उनके अखबारो का दमन किया गया, उनके शहरो और गाँवो को बर्बाद किया गया और अक्सर फौजी कानून तक जारी किया गया। इन घटनाओ में नई बात कोई नहीं है। इतिहास के बिलकुल शुरू से ही साम्राज्यवादी शक्तियाँ जबरदस्ती से काम लेती और विनाश और आतंक फैलाती रही हैं। नये ढग के साम्राज्यवाद में नई बात यह है कि वह अपने आतक और लूट को 'ट्रस्टीशिप', 'जनता का हित', 'पिछडी हुई जातियो को स्वायत्त-शासन की तालीम देना' वगैरा बडे-बडे जुमलो के परदे में छिपानें की कोशिश करता है। वे लोगो पर गोली चलाते हैं, मारते हैं और बर्बादी करते हैं—सिर्फ उन्हीं मरनेवाले लोगो की भलाई के लिए! यह पाखण्ड शायद तरक्की की निशानी हो, क्योंकि भलाई के लिए पाखण्ड करना ही पड़ता है; और इससे जाहिर होता है कि सचाई पसन्द नहीं की जाती और इसलिए उसे इन पसन्द आनेवाले और बहलाने

लेकिन फिर भी इससे समस्या का हल न हुआ। कुछ महीनो के बाद सर पर्सी काक्स ने बादशाह और मन्त्रि-मडल को फिर काम करने का जाहिरा मौका दिया, और इन लोगो से ब्रिटेन के साथ एक सुलह मजूर करवाली। फिर आश्वासन दिये गये कि इग्लैण्ड इराक को आजादी हासिल करने में मदद देगा और राष्ट्र-सघ का मेम्बर भी बनवा देगा। इन सुन्दर और तसल्ली देनेवाले वादो के परदे में यह ठोस वाकया छिपा हुआ था कि इराक-सरकार को इस बात के लिए राजी कर लिया गया कि वह अग्रेज अफसरो या अग्रेजो के पसन्द किये हुए अफसरो की मदद से हुकूमत को चलावे। अक्तूबर १९२२ की इस सुलह की, जो कि लोगो की इच्छा के खिलाफ हुई, जनता ने निन्दा की। जनता ने कहा कि अरब मन्त्रिमण्डल तो एक धोखा है, और असली ताकत फिर भी अग्रेज अफसरो के हाथो में है। नेताओ ने नैशनल कान्स्टीटयुएण्ट एसेम्बली का, जो कि भावी विधान तैयार करने के लिए बुलाई गई थी, बहिष्कार करने का फैसला किया। यह असहयोग कामयाब हुआ और असेम्बली की बैठक न हो सकी। टैक्स वसूल करने में भी बडी गड़बडी और दिक्कते पैदा हो गई।

एक वर्ष से भी ज्यादा अर्से तक, १९२३ के तमाम साल, ये झगडे चलते रहे। आखिरकार इराक के हक में कुछ तब्दीलियाँ सन्धि में करदी गई और आन्दोलन खड़ा करनेवाले खास नेताओ को जलावतन कर दिया गया। फलत. आन्दोलन धीमा पड़ गया, और १९२४ के शुरू में कान्स्टीटयुएण्ट एसेम्बली का चुनाव हो सका। इस एसेम्बली ने भी ब्रिटिश सुलहनामे का विरोध किया। इसपर अंग्रेजो पर भारी दबाव डलवाया, और आखिरकार एक-तिहाई से कुछ ज्यादा मेम्बरो ने सन्धि पर मंजूरी दे दी, लेकिन बहुत-से सदस्य तो इस अधिवेशन में आये तक नही थे।

कान्स्टीटयुएण्ट एसेम्बली ने इराक के लिए एक नया विधान तैयार किया। कागज पर लिखा हुआ तो वह अच्छा ही मालूम हुआ, क्योकि उसमें यह तय कर दिया गया कि इराक एक खुद-मुख्तार आजाद राज्य है जिसमें कि पुश्तैनी वैधानिक बादशाहत रहेगी और पार्लमेण्टरी ढग का शासन होगा; लेकिन पार्लमेण्ट की दो मजलिसो में से एक की, यानी सिनेट की, नामजदगी बादशाह पर रक्खी गई। इस तरह बादशाह के हाथ में बडी ताकत रही, और बादशाह की पीठ पर थे अंग्रेज अफसर जो कि सभी महत्त्व-पूर्ण ओहदो पर कायम थे। यह विधान मार्च १९२५ से अमल में आया, और कुछ वर्षो तक नई पार्लमेण्ट काम करती रही, लेकिन मैण्डेट की मुखालिफत फिर भी जारी रही। अधिकाश समय तो लोगो का ध्यान मोसल के मामले में इग्लैण्ड और तुर्की के झगडे पर लगा रहा, क्योकि इस प्रदेश का दावेदार इराक भी था। आखिरकार जून १९२६ में इंग्लैण्ड, इराक और तुर्की के बीच एक सम्मिलित सन्धि होकर इस मामले

मुताबिक अमल करे, पर कुछ मन्त्रियो ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। इसलिए अप्रैल १९२१ में अग्रेजो ने मुख्य मत्री सैयद तालिबशाह को, जो कि उनमें सबसे ज्यादा लायक था, गिरफ्तार करके जलावतन कर दिया, और इस तरह मुल्क को आजादी के वास्ते तैयार करने के लिए यह दूसरा कदम उठाया गया। १९२१ की गर्मियो में अग्रेज हेजाज के शाह हुसैन के लड़के फैजल को ले आये, और उसे इराकियो के सामने उनके भावी बादशाह के रूप में पेश किया गया। तुम्हे याद होगा कि उन दिनो फैजल बेकार था, क्योकि उसकी सीरिया वाली कारगुजारी फ़ान्सीसी हमले के आगे असफल हो चुकी थी। वह अग्रेजो का एक अच्छा दोस्त था, और उसने महायुद्ध में तुर्की के खिलाफ उठनेवाले अरब विद्रोह में सबसे ज्यादा हिस्सा लिया था।, इसलिए यह मुमकिन था कि स्थानीय मन्त्री अग्रेजो की योजनाओ के जितने मुआफिक हो पाये थे, उससे वह ज्यादा मुआफिक होता। 'प्रतिष्ठित' लोगो यानी मध्य दर्जे के मालदार लोगो और दूसरे प्रमुख व्यक्तियो ने इस शर्त पर फैजल को अपना बादशाह बना लेना मजूर कर लिया कि हुकूमत वैधानिक हो और उसके साथ प्रजातन्त्रवादी पार्लमेण्ट हो। उनके हाथ में कुछ था तो नही, लेकिन चाहते थे कि एक सच्ची पार्लमेण्ट बने, और चूंकि फैजल बादशाह बनने ही वाला था इसलिए उन्होने पार्लमेन्ट बनने की यह एक शर्त रखदी। आम तौर पर लोगो की राय नही ली गई। इस तरह अगस्त १९२१ में फैजल बादशाह बन गया।

लेकिन इससे समस्या हल नही होती थी, क्योकि इराकी लोग ब्रिटिश मैण्डेण्ट के बहुत खिलाफ थे और मुकम्मल आजादी हासिल करके दूसरे अरब देशो के साथ मिल जाना चाहते थे। आन्दोलन और प्रदर्शन जारी रहे, और एक साल बाद अगस्त १९२२ में मामला बहुत ज्यादा बढ गया। तब अग्रेज अधिकारियो ने इराकियो को आजादी का एक सबक और पढाया। ब्रिटिश हाइकमिश्नर सर पर्सी काक्स ने बादशाह की (जो उस समय बीमार था) मन्त्रि-मण्डल की, और इराक को जिस तरह की भी कौंसिल दी गई थी उस सबकी सत्ता का खात्मा कर दिया, और शासन के पूरे अख्तियारात खुद ले लिये। दरहकीकत, वह खुद-मुख्तार डिक्टेटर बन गया, और उसने जैसा मन में आया वैसा जबरदस्ती किया और गडबडी को अग्रेजी फौज और खासकर ब्रिटिश हवाई फौज की मदद से दबा दिया। वही पुराना किस्सा जो कि थोडे-थोडे फर्क से हिन्दुस्तान, मिस्र, सीरिया वगैरा में हुआ, यहाँ भी दोहराया गया। राष्ट्रीय अखबार रोक दिये गये, पार्टियाँ तोड़ दी गई, नेता जलावतन कर दिये गये और अग्रेजी हवाई जहाजो ने बमो के जरिये ब्रिटिश साम्राज्य की ताकत को कायम कर दिया।

सरकार से लोग संतुष्ट नही है। यह बहुत ही अवाञ्छनीय समझा गया कि राष्ट्र-संघ के सामने ये बाते आवे, इसलिए इन झगडो को बल और आतंक से खत्म कर देने की खास कोशिश की गई। इस काम के लिए अंग्रेजी हवाई फौज का इस्तैमाल किया गया। शान्ति और व्यवस्था कायम करने की उसकी कोशिश का नतीजा किसी हदतक एक मशहूर अंग्रेज अफसर के बयान से समझा जा सकता है। ८ जून १९३२ को, लंदन में रायल एशियन सोसायटी की सालगिरह के जलसे पर व्याख्यान देते हुए लेफ्टिनेण्ट कर्नल सर आरनल्ड विल्सन ने जिक्र किया है कि किस तरह :—

"आर० ए० एफ० यानी रायल एयर फोर्स ने (जेनेवा की घोषणाओ के विरुद्ध भी) पिछले दस सालो मे, और खासकर पिछले छ महीनो मे, कुर्दिश जनता पर निरन्तर बम-वर्षा की है। बरबाद किये हुए गॉव, मरे हुए पशु, अग-भग की हुई स्त्रियाँ और बच्चे, 'टाइम्स' के विशेष सवाद-दाता के शब्दो मे, ये सब इसके सुबूत है कि सभ्यता का एक ही साँचा सब जगह फैला हुआ है।"

यह जानकर कि गॉव के लोग हवाई जहाज को आता देखकर अक्सर भाग जाते है और इतने विनोद-प्रिय नही है कि बमो द्वारा मारे जाने तक ठहरे रहे, एक नये किस्म का बम भी, जिसे कुछ देर बाद फूटनेवाला बम कहते है, इस्तेमाल किया गया। यह गिरते ही फूटता न था बल्कि इस तरह बनाया गया था कि कुछ वक्त बाद फूटा करता था। यह राक्षसी युक्ति इसलिए की गई कि गॉववाले हवाई जहाजो के जाने के बाद फिर अपनी झोपड़ियो में लौट आयें और फिर बमो के फटने से घायल हो जायें। जो मर जाते थे वे तो खुश-किस्मत थे, लेकिन जिनके अंग-भंग हो जाते थे, जिनके हाथ पैर टूट जाते थे, या जिन्हे और किसी जगह सख्त चोटें लगती थी, वे बहुत ज्यादा बद-किमत थे, क्योकि उन दूर के देहातो में कोई भी डाक्टरी मदद नहीं मिल सकती थी।

इस तरह शान्ति और व्यवस्था फिर कायम होगई, और इराक़ की सरकार ने राष्ट्र-संघ के सामने ब्रिटिश सरपरस्ती में अपनेआपको पेश किया और उसे मेम्बर बना लिया गया। यह बिलकुल ठीक ही कहा गया है कि 'बम मार-मार कर' इराक़ को राष्ट्र-संघ में दाख़िल कर दिया गया।

इराक़ के राष्ट्र-सघ का सदस्य बन जाने पर ब्रिटिश मैण्डेट खत्म होगया। उसकी जगह अब १९३० की संधि आगई, जिससे कि राज्य पर अंग्रेजो का अमली दबाव कायम होगया है। इस स्थिति से असन्तोष अब भी जारी है, क्योकि इराक़ के लोग पूरी आजादी और अरब राष्ट्रो की एकता चाहते है। राष्ट्र-संघ की मेम्बरी में उनकी कोई बडी दिलचस्पी नहीं है, क्योकि पूर्व की अधिकाश दूसरी कौमो की तरह

का फैसला होगया। मोसल इराक को मिल गया, और चूंकि इराक खुद ब्रिटिश साम्राज्य की छाया में था इसलिए अंग्रेजो के स्वार्थ भी सुरक्षित रहे।

जून १९३० में, ब्रिटेन और इराक में एक और दोस्ताना सुलह हुई। इसके जरिये भी, अन्दरूनी और बाहरी मामलो में इराक की मुकम्मिल आजादी को तस्लीम किया गया। लेकिन शर्तें और रुकावटें ऐसी रक्खी गई जिनसे कि यह आजादी गुलामी में तब्दील हो जाती थी। मसलन हिन्दुस्तान को जानेवाले रास्तो की, जिसे सन्धि में 'जरूरी आम्द-रफ्त' कहा गया है, हिफाजत के लिए इराक इंग्लैण्ड को हवाई-अड्डो के लिए जगह देगा। ब्रिटेन मोसल और दूसरी जगहो पर भी अपनी फौजें रक्खेगा। इराक फौजी तालीम के लिए सिर्फ अंग्रेज शिक्षक ही रख सकेगा और इराकी फौज में अंग्रेज अफसर सलाहकार की हैसियत से मुलाजिम रहेगे। हथियार, गोला-बारूद, हवाई जहाज वगैरा सिर्फ इंग्लैण्ड से लिये जायेंगे। युद्ध छिड़ने पर, दुश्मन से जगी तैयारियां करने के लिए, अंग्रेजो को देश में सब तरह के सुभीते कर दिये जायंगे। इस तरह मोसल के पास के मोर्चे से इंग्लैण्ड बडी आसानी से तुर्की, ईरान या आजर-बायजान के सोवियट पर हमला कर सकता है।

इस सन्धि के बाद १९३१ में ब्रिटेन और इराक के बीच एक जुडीशियल सन्धि भी हुई, जिसके जरिये इराक ने एक अंग्रेज जुडीशियल सलाहकार, (अपील की अदालत का अंग्रेज प्रेसीडेण्ट) और बगदाद, बसरा, मोसल और दूसरी जगहो में अंग्रेज प्रेसीडेण्ट रखना मजूर कर लिया।

इन शर्तो के अलावा भी मालूम होता है कि अंग्रेज अफसर और भी कई ऊँचे ओहदो पर है। नतीजा यह है कि यह 'आजाद' मुल्क दरहकीकत इग्लैण्ड का एक मातहत मुल्क बन गया है। १९३० की सधि, जिसके जरिये से यह सब हुआ है, पच्चीस साल के लिए है।

१९२५ में नये विधान के मजूर होने के बाद हालाँकि नई पार्लमेण्ट काम करने लगी, लेकिन लोग सतुष्ट नहीं थे और बाहरी प्रदेशो में कभी-कभी झगडे होजाते थे। ऐसा खासकर कुर्दिश इलाके में होता था, जहाँ कि बार-बार अशान्ति खडी हो जाती थी, और जिसे ब्रिटिश हवाई फौज ने बम-वर्षा और सारे गाँव की तबाही की कारगुजारियो के जरिये दबा दिया। १९३० की संधि के बाद इराक के ब्रिटिश सरपरस्ती में राष्ट्र-संघ में शामिल किये जाने का सवाल खड़ा हुआ। लेकिन देश में तो शान्ति नहीं थी, और झगडे होते ही रहते थे। इससे न तो मैण्डेटरी-शक्ति इंग्लैण्ड की नेकनामी होती थी, और न बादशाह फैजल की हुकूमत की ही नामवरी होती थी, क्योकि बगावतो से काफी सबूत मिलता था कि अंग्रेजो द्वारा जबरदस्ती लादी हुई

गद्दी पर बिठाया, और हेजाज़ में भी हुसैन को गद्दी पर बैठाने की कोशिश की। दूसरी तरफ फ्रांस चूंकि खुद एक नमूनेदार मध्यमवर्गीय देश है, इसलिए वह अपने मातहत देशो के कुछ मध्यमवर्गीय भागो, उठते हुए व्यापारी वर्गो, द्वारा समर्थन प्राप्त करने की कोशिश करता है। मसलन, सीरिया में उसने ईसाई मध्यमवर्गों का समर्थन प्राप्त करना चाहा था। इंग्लैण्ड और फ्रान्स दोनो ही अपने सब मातहत देशो में अपना विरोध करनेवाली राष्ट्रीयता को कमजोर करने के लिए उसे टुकडे-टुकडे करने, फूट डालने, अल्पसंख्यक, जातीय और मजहबी सवालो को पैदा करने की नीति का सहारा लेते है। लेकिन सारे पूर्वी देशो में राष्ट्रीयता इन सब भेद-भावो को धीरे-धीरे पार कर रही है, और इस कार्य में वह 'मध्य-पूर्व' के अरब देशो में ही शायद सबसे ज्यादा कामयाब हुई है, जहाँ कि मजहबी फिरके अब राष्ट्रीयता के आदर्श के सामने कमजोर पड़ते जा रहे है।

मैंने ऊपर तुम्हे बताया है कि इराक में ब्रिटिश आर० ए० एफ० (रायल एयर फोर्स) से किस तरह काम लिया गया। पिछले दस-बारह साल से ब्रिटिश सरकार की यह निश्चित नीति हो गई है कि वह अपने नाम के आज़ाद पर असल में आधे-मातहत देशो में जिसे 'पुलिस-कार्य' कहा जाता है, वह करने के लिए हवाईजहाजो का इस्तेमाल करने लगी है। यह ख़ासकर वही किया जाता है जहाँ किसी हद तक स्वायत्त शासन दिया जाता है, और शासक-मण्डल ज्यादातर उसी देश का होता है। इन देशों में अब कब्ज़ा जमानेवाली सेनायें नही रक्खी जाती, या उन्हे बहुत कम कर दिया गया है। इसके कई फ़ायदे है। बहुत-सा रुपया बच जाता है, और उस देश पर फौजी कब्ज़ा ज़ाहिरा कम दिखाई देता है। साथ ही हवाईजहाजो और बमों के द्वारा स्थिति पर उनका पूरा काबू रहता है। इस तरह मातहत इलाको में हवाई जहाजो से बम-वर्षा का उपयोग बहुत बढ़ गया है, और दूसरी ताकतो की बनिस्बत शायद अंग्रेज ही इस उपाय को ज्यादा काम मे लाते है। मैंने इराक़ का हाल तो बता ही दिया। यही कहानी हिन्दुस्तान की उत्तर-पश्चिमी सरहद के बारे में भी दोहराई जा सकती है, जहाँ कि हवाई बम-वर्षा अक्सर होनेवाली बात होगई है।

मुमकिन है, फौज भेजने के पुराने तरीके की बनिस्बत यह तरीक़ा ज्यादा सस्ता और ज्यादा कारगर हो। लेकिन यह बहुत ही बेरहम और भयंकर तरीक़ा है। असल में पूरे-पूरे गाँवो पर बम बरसाना, ख़ासकर देर से फूटनेवाले बम बरसाना और गुनहगारो और बेगुनाहो को एक-साथ मार डालने से ज्यादा घृणित और जंगली काम की कल्पना करना भी मुश्किल है। इस तरीक़े से दूसरे देश पर हमला करना भी बड़ा आसान हो जाता है। इसलिए इसके ख़िलाफ खूब चीख़-पुकार उठी

वे समझते हैं कि राष्ट्र-सघ तो बडी-बडी यूरोपियन शक्तियो के हाथ में एक हथियार है जिससे वे अपने औपनिवेशिक या दूसरे स्वार्थ सिद्ध करती रहती है।

अधिक अमली आजादी की मॉग इतनी जबरदस्त है कि बादशाह फैजल तक को उसपर अंग्रेजो के सामने जोर देना पड़ा है। जिस समय मैं यह खत लिख रहा हूँ, अखबारो में यह खबर छपी है कि वह कुछ ही दिनो में सरकारी काम से इग्लैण्ड जा रहा है। मुमकिन है कि इराक और इग्लैण्ड के ताल्लुकात के सवाल पर फिर से बहस हो और इराक कुछ छोटे-मोटे फायदे हासिल कर सके। जबतक कि फौजी और खास मोर्चेबन्दी सम्बन्धी नियन्त्रण इंग्लैण्ड के हाथ में रहते है तबतक वह महत्वशून्य छोटे-छोटे मामलो में झुक भी सकता है, ताकि वह उदार-हृदय मालूम हो सके और शायद उससे दूसरे पक्ष की सद्भावना भी हासिल कर सके। जब अगला महायुद्ध आयगा, तो इराक सम्भवत. एक महत्वपूर्ण केन्द्र बनेगा।

अब हम अरब राष्ट्रो पर सरसरी नजर डाल चुके है। तुमने देखा होगा कि महायुद्ध के बाद ये सब हिन्दुस्तान और पूर्व के दूसरे देशो की तरह राष्ट्रीयता की लहरो से जोरो के साथ हिल उठे थे। मानों बिजली की एक लहर इन सब में एक-साथ दौड गई हो। दूसरी उल्लेखनीय बात है सबका एक ही तरह के उपाय काम में लाना। इन में से कई देशो में बगावते और हिंसात्मक विद्रोह हुए, लेकिन वे असहयोग और बहिष्कार की नीति की तरफ ही ज्यादा झुकते गये। इसमें शक नही कि मुकाबिला करने के इस उपाय का रिवाज पहलेपहल १९२० में हिन्दुस्तान ने ही डाला था, जबकि कॉग्रेस ने बापू का नेतृत्व ग्रहण किया। मेरा यह मतलब नही कि ये दूसरे देश बापू की उसके पक्ष में दी हुई मुख्य दलीलो को भी मानते थे। लेकिन फिर भी असहयोग और कौन्सिलो के बहिष्कार का खयाल हिन्दुस्तान से ही पूर्व के दूसरे देशो में फैला है, और यह उपाय आजादी की लड़ाई में घर कर गया है और उसपर अक्सर अमल होता है।

साम्राज्यवादी नियन्त्रण अमल में लाते वक्त इंग्लैण्ड और फ़ान्स किस तरह परस्पर जुदा-जुदा उपायो को काम में लाते है, यह जानना बड़ा दिलचस्प है और इसपर मैं तुम्हारा ध्यान खीचना चाहता हूँ। इंग्लैण्ड अपने सभी मातहत मुल्को में जागीरदारो, जमींदारो और सबसे अनुदार और पिछडे हुए वर्गो से मेल करने की कोशिश करता है। यह बात हिन्दुस्तान में, मिस्र में और दूसरी जगहो में देखी गई है। वह अपने मातहत देशो में डगमगाती हुई राजगद्दियाँ पैदा कर देता है, उनपर प्रगति-विरोधी शासको को बिठा देता है, और अच्छी तरह जानता है कि वे उसका समर्थन करेगे। उसने मिस्र में फुआद, इराक में फैजल, ट्रान्स-जोर्डन में अब्दुल्ला को

अब भी वह खासकर मुसलमानो में लोकप्रिय है। अफगानिस्तान में आज भी फारसी ही सरकारी भाषा है, हालाँकि अफगानिस्तान की आम जबान पश्तो है।

ईरान के बारे में अपने पिछले खतो में जितना लिख चुका हूँ उससे ज्यादा लिखना नही चाहता। लेकिन अफगानिस्तान में हाल में जो घटनायें हुई है उनका कुछ जिक्र करना जरूरी है। अफ़गानिस्तान का इतिहास तो हिन्दुस्तान के इतिहास का क़रीब-करीब एक हिस्सा ही है। असल में बहुत अर्से तक अफगानिस्तान हिन्दुस्तान का ही एक भाग था। अलहदा होने के बाद, और खासकर पिछले सौ-सवासौ साल से, वह रूस और इंग्लैण्ड इन दो बडे साम्राज्यो के बीच एक मध्यवर्ती राज्य बन गया है। रूसी साम्राज्य मिट चुका है, और उसकी जगह सोवियट यूनियन कायम होगया है, लेकिन अफ़गानिस्तान अब भी उसी तरह मध्यवर्ती स्थिति में है, जहाँ कि अंग्रेज और रूसी दोनों प्रधानता हासिल करने के लिए साजिश करते रहते हैं। उन्नीसवीं सदी में इन साजिशो ने बढ़कर इंग्लैण्ड और अफ़गानिस्तान के बीच जग की सूरत इख्तियार कर-ली थी, जिसमें अंग्रेजो को कई बार नुकसान उठाना पड़ा, लेकिन आखिरकार इंग्लैण्ड की प्रधानता कायम होगई। अफ़गानी राजघराने के कई आदमी अब भी नजरबन्द की तरह उत्तर हिन्दुस्तान में जगह-जगह रक्खे हुए है, और हमें इस बात की याद दिलाते है कि किस तरह इंग्लैण्ड अफगानिस्तान में दस्तदाजी किया करता था। ऐसे अमीर जो अंग्रेजो के दोस्त थे, हुकूमत करने लगे और अफ़गानिस्तान की पर-राष्ट्रीय नीति निश्चित रूप से अंग्रेजो के दबाव में होगई। लेकिन ये अमीर कितना भी दोस्ताना बर्ताव रखते हो तो भी उनपर पूरा यकीन नहीं किया जा सकता था, और हर साल अंग्रेज उन्हे खुश करने और अपने अधीन बनाये रखने के लिए बहुत-सा रुपया दिया करते थे। अमीर अब्दुर्रहमान इसी किस्म का आदमी था। इसकी लम्बी हुकूमत १९०१ में खत्म हुई। उसके बाद हबीबुल्ला अमीर हुआ, और वह भी अंग्रेजो से अच्छे ताल्लुक्कात रखता था।

अफ़गानिस्तान जो अंग्रेजो का मुहताज बन गया, उसकी एक वजह थी उसकी स्थिति। नक़्शे से तुम देख सकोगी कि बलोचिस्तान के बीच में आनें से उसका समुद्र से ताल्लुक टूट गया है। कोई ऐसा मकान हो जिसमें आम सड़क पर पहुंचने के लिए किसी दूसरे की जमीन में से गुजरे बिना रास्ता न हो, तो वह कितनी तकलीफ़देह हालत होगी? ऐसी ही हालत अफ़गानिस्तान की है। बाहरी दुनिया तक पहुंचने का उसका सबसे आसान रास्ता हिन्दुस्तान में से था। उन दिनो हिन्दुस्तान के उत्तर में रूसी इलाके मे आमद-रफ़्त के कोई अच्छे साधन न थे। मेरा ख़याल है कि हाल में सोवियट सरकार ने रेल बनाकर और हवाई जहाज और मोटर-सरविसो को प्रोत्सा-

हैं, और जिनेवा में राष्ट्र-सघ में निरस्त्र जनता पर हवाई हमला करने के खिलाफ बडे-बडे भाषण दिये जाते हैं। पिछले साल (जुलाई १९३२ में) राष्ट्र-सघ की या राष्ट्र-सघ की नि शस्त्रीकरण कान्फ्रेन्स की मीटिंग में अग्रेज प्रतिनिधि सर जान साइमन भी इस आम मुखालिफत में शामिल होगये थे, और उन्होने कहा था कि यह 'बिलकुल पूरी तरह से' बन्द कर दिया जाना चाहिए। लेकिन ताज्जुब है कि जो प्रस्ताव पास हुआ उसमें 'देशी गाँवो' पर बम बरसाने की छूट करदी गई!

सिर्फ एक हफ्ता पहले (२९ मई १९३३ को) जिनेवा में निःशस्त्रीकरण कान्फ्रेन्स में इस मामले पर फिर बहस हुई, और रूटर के एक तार में लिखा है कि "जब अग्रेजो ने तजवीज की कि मातहत देशो में सिर्फ पुलिस-कार्य के लिए ही हवाई-जहाज का इस्तेमाल किया जाय,···· ···तो इस पर बडी भारी मुखालफत हुई।" मालूम होता है कि दूसरे सब देशो ने, जिनमें यूनाइटेड स्टेट्स भी शामिल है, हवाई बम-वर्षा को बिलकुल बन्द कर देने पर जोर दिया। लेकिन ब्रिटिश सरकार मानने से इन्कार कर देती है और इस मामले पर नि शस्त्रीकरण कान्फ्रेन्स के टूट जाने की नौबत लाने को भी तैयार है। इस बात पर ब्रिटेन सारी दुनिया के खिलाफ है। लेकिन इसमें शक नही कि किसी-न-किसी दूसरी साम्राज्यवादी शक्ति का गुप्त समर्थन उसे प्राप्त है।

: १७० :

अफ़ग़ानिस्तान और एशिया के कुछ अन्य देश

८ जून, १९३३

इराक के पूर्व में ईरान या फारस है, और ईरान के पूर्व में अफगानिस्तान है। ईरान और अफग़ानिस्तान दोनो ही हिन्दुस्तान के पडोसी है, क्योकि ईरानी सरहद हिन्दुस्तान से बलोचिस्तान में कईसौ मील तक मिली हुई है, और अफगानिस्तान और हिंदुस्तान की सरहद भी बलोचिस्तान की बिलकुल पश्चिमी नोक से हिन्दूकुश के उत्तरी पर्वत तक, जहातक कि हिन्दुस्तान अपने बर्फ से ढके हुए मस्तक को मध्य-एशिया की छाती पर रक्खे हुए है और सोवियट के मुल्को की तरफ झाँक रहा है, करीब एक हजार मील तक साथ-साथ चली गई है। ये तीनो देश पडोसी ही नही है। बल्कि इनकी नस्ल भी एक ही है, क्योकि इन सब में प्राचीन आर्य नस्ल की ही प्रधानता है। और सस्कृति की दृष्टि से भी, जैसा कि मैं तुम्हे बता चुका हूँ, पिछले जमाने में इन सबमें एकसी बातें थीं। अभी हालतक उत्तरी हिन्दुस्तान में आलिमो की जबान फारसी ही थी, और

हुए देश को थोडे-से वक्त में तब्दील कर देने, अफगानो को पुरानें रास्ते से धक्का मारकर और खदेडकर नये रास्ते पर चलाने का आश्चर्यजनक कार्य शुरू होगया। स्पष्टत. अमानुल्ला का आदर्श कमालपाशा ही था, और उसने कई बातो में—अफगानो को कोट, पेण्ट और यूरोपियन हैट पहनाने और दाढ़ी साफ करवाने तक में—उसकी नकल करने की कोशिश की। लेकिन अमानुल्ला में मुस्तफा कमाल की-सी दृढता और योग्यता न थी। कमालपाशा ने अपनें बडे-बडे सुधार करने से पहले अपने देश में और बाहर के देशो मे अपनी ताकत बिलकुल महफूज़ और मजबूत करली थी। उसके साथ एक ज़ोरदार और अच्छी फौज थी, और अपनी जनता में उसकी ज़बरदस्त इज्ज़त थी। अमानुल्ला इन सब बातो का खयाल न करके आगे बढ़ गया। उसका काम ज्यादा मुश्किल भी था, क्योंकि तुर्कों की बनिस्बत अफगानी लोग ज्यादा पिछडे हुए थे।

लेकिन घटना हो जाने के बाद तो समझदारी आना आसान होता ही है। अमानुल्ला के उन शुरू के वर्षों मे, वह सब बातो में कामयाब ही होता नज़र आता था। उसनें कई अफ़गान लडके और लड़कियो को तालीम हासिल करने के लिए योरप भिजवाया। अपने शासन में उसने कई सुधार शुरू किये और उसने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति अपने पडोसियो और तुर्की के साथ सुलह करके मजबूत करली। सोवियट रूस ने चीन से तुर्की तक सारे पूर्वी देशो के साथ उदार और दोस्ताना नीति जान-बूझकर इख्तियार कर रक्खी थी, और इस सोवियट दोस्ती और मदद की वजह से विदेशी दबाव से तुर्की और ईरान के छूटनें में बडी मदद मिली थी। और जिस आसानी से अमानुल्ला ने १९१९ में इंग्लैण्ड के साथ अपने छोटे-से जंग में अपना मकसद हासिल कर लिया था, उसमें भी यही एक महत्वपूर्ण कारण रहा होगा। बाद के वर्षो में सोवियट रूस, तुर्की, ईरान और अफगानिस्तान इन चार शक्तियो में बहुत-सी सन्धियाँ और सुलहनामे हुए। इन सबमें, या किसी तीन में, एकसाथ कोई सन्धि नही हुई। हर शक्ति ने दूसरी तीन शक्तियो से अपनी-अपनी जुदा, लेकिन करीब-करीब एक-सी, सन्धि की। इस तरह 'मध्य-पूर्व' में सन्धियो का एक जाल-सा खड़ा होगया, जिसने इन सब देशो को मजबूत कर दिया। मैं नीचे इन सन्धियो की सिर्फ तारीखवार फेहरिस्त दे देता हूँ :—

तुर्क-अफगान सन्धि	१९ फरवरी १९२१
सोवियट-तुर्की "	१७ दिसम्बर १९२५
तुर्की-ईरानी "	२२ अप्रैल १९२६
सोवियट-अफ़गान "	३१ अगस्त १९२६
सोवियट-ईरानी "	१ अक्तूबर १९२७
ईरानी-अफ़गानी "	२८ नवम्बर १९२७

हित करके दोनो तरह से इन साधनो को उन्नत कर लिया है। इस तरह जब हिन्दुस्तान ही अफगानिस्तान के लिए दुनिया पर निगाह डालने की सिर्फ एक बाहरी खिड़की थी, तो ब्रिटिश सरकार कई तरीको से दबाव डालकर इसका फायदा उठा सकती थी। समुद्र तक पहुँचने की अफगानिस्तान की यह दिक्कत अब भी उस देश के सामने एक बडा सवाल है।

१९१९ के शुरू में अफ़गानी राज-दरबार के अन्दरूनी झगडे और षड़यंत्र बाहर ज़ाहिर होगये, और राजमहल में एक के बाद एक दो क्रान्तियाँ जल्दी-जल्दी होगईं। मं ठीक नहीं जानता कि परदे की ओट में क्या-क्या घटनायें हुईं, या इनके लिए कौन ज़िम्मेदार था। किसी ने पहले अमीर हबीबुल्ला का कत्ल कर दिया, और उसके बाद उसका भाई नसरुल्ला अमीर हुआ। लेकिन बहुत जल्द ही नसरुल्ला हटा दिया गया और अमानुल्ला, जो कि हबीबुल्ला के छोटे लड़को में से एक था, अमीर बन गया। उसने इसके बाद ही मई १९१९ में हिन्दुस्तान पर चढाई कर दी। इसके लिए उस वक्त तात्कालिक कारण क्या था, या किसने पहले झगड़ा शुरू किया, यह मुझे मालूम नही है। शायद अमानुल्ला को यह बुरा लगा कि वह किसी तरह भी अंग्रेज़ो के मात-हत रहे। वह अपने देश की पूरी आज़ादी कायम करना चाहता था। शायद उसने यह भी समझा कि इसके लिए मौका भी अच्छा है। तुम्हे याद होगा कि उन्ही दिनो पजाब में फौजी कानून जारी था, हिन्दुस्तान में आम बेचैनी थी और खिलाफत के सवाल पर मुसलमानो में आन्दोलन बढ़ रहा था। कारण और प्रलोभन कुछ भी रहे हो, अफगानियो की अग्रेज़ो से लड़ाई होगई। लेकिन यह लड़ाई बहुत थोडे अर्से तक चली, और बहुत कम हुई। फौजी ताकत में तो हिन्दुस्तान के अग्रेज़ अमानुल्ला से बहुत ज्यादा मज़बूत थे, लेकिन उनकी तबीयत लड़ाई की नही थी, और कुछ घटनायें होने पर ही उन्होने अफगानिस्तान से सुलह करली। नतीजा यह हुआ कि अफ़गानिस्तान पूरी तरह से आज़ाद मुल्क तस्लीम कर लिया गया, और विदेशो से अपने ताल्लुक्कात कायम करने में उसे पूरी आज़ादी मिल गई। इस तरह अमानुल्ला ने अपना मकसद हासिल कर लिया, और योरप और एशिया में उसकी इज्ज़त बहुत बढ़ गई। लाज़िमी तौर पर अग्रेज़ उसे अच्छा नही समझते थे।

अपने देश में एक नई नीति जारी करने के कारण तो अमानुल्ला की तरफ़ लोगो का और भी ज्यादा ध्यान जाने लगा। यह नीति थी पश्चिमी ढंग के सुधार बडी तेज़ी से करना, जिसे अफगानिस्तान का पश्चिमीकरण कहते है। इस काम में उसकी पत्नी बेगम सुरैया ने उसे बडी मदद दी। उसकी कुछ तालीम योरप में हुई थी, और स्त्रियो का बुरके में बन्द रहना उसे बड़ा खटकता था। इस तरह एक बहुत ही पिछडे

गया है कि अफगान बागियों के पास अंग्रेजी रायफले थी। लेकिन यह तो काफी जाहिर था कि अमानुल्ला को अफगानिस्तान में कमजोर कर देने में इंग्लैण्ड की दिलचस्पी थी।

जिस वक्त अफगानिस्तान में अमानुल्ला की जड़ें उखाड़ी जारही थीं, उस वक्त वह योरप की राजधानियों में शानदार स्वागतो का आनन्द ले रहा था। वह अपने सुधारों के प्रति नया उत्साह लेकर नये विचारो से भरा हुआ और कमालपाशा से, जिससे वह अंगोरा में मिला था, और भी ज्यादा प्रभावित होकर अपने देश को लौटा। वह इन सुधारो को और भी आगे बढ़ाने के लिए फौरन जुट पड़ा। उसने सरदारो के खिताबात बन्द कर दिये, और मजहबी मुखियो के इख्तियारात भी कम करने की कोशिश की। उसने शासन चलाने के लिए मंत्रियो की एक कौंसिल बनाने की भी कोशिश की, और इस तरह से अपनी स्वेच्छातन्त्री शक्तियों को भी कम कर लिया। स्त्रियों की आजादी का काम भी धीरे-धीरे आगे बढ़ाया गया।

अचानक दबी हुई आग भड़क उठी, और १९२८ के खत्म होने के कुछ पहले बगावत चमकने लगी। एक मामूली भिश्ती बच्चा-ए-सक्का के नेतृत्व में विद्रोह फैला और १९२९ में वह कामयाब होगया। अमानुल्ला और उसकी बेगम भाग गये, और भिश्ती अमीर बन गया। पॉच महीने तक बच्चा-ए-सक्का काबुल में हुकूमत करता रहा; बाद में वह अमानुल्ला के एक सेनापति नादिरखां द्वारा हटा दिया गया। नादिरखॉ ने खुद अपनी तरकीब से काम लिया, और जब वह कामयाब होगया तो नादिरशाह के नाम से खुद ही शासक बन बैठा। पिछले साढ़े तीन साल से नादिरशाह ही अफग़ानिस्तान का बादशाह है, लेकिन इस दर्मियान और झगडे बराबर बने ही रहे, और अब भी बने है। जाहिर है कि वह अमानुल्ला की बनिस्बत इग्लैण्ड से ज्यादा दोस्ताना ताल्लुक रखता है।

अफग़ानिस्तान में अब भी अमनो-अमान नही है, और साजिश की अफ़वाहे अक्सर आती ही रहती है। इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है, क्योकि दो ताकतवर विरोधियो के बीच में मध्यवर्ती राज्य होने की सजा तो उस देश को भुगतनी ही चाहिए। इस वक्त अमानुल्ला और भूतपूर्व रानी सुरैया रोम में रह रहे है। दुनिया में भागे हुए राज-वंशो की भरमार होती जा रही है।

आज सुबह के अखबार की एक खबर से जाहिर होता है कि अफगानिस्तान मे शान्ति नही है। दो दिन पहले, ६ जून १९३३ को, बर्लिन के अफगान राजदूत को, एक अफगान विद्यार्थी ने 'आजादी की खातिर' का नारा लगाकर गोली से मार दिया। यह मंत्री नादिरशाह का भाई था।

मैने अफग़ानिस्तान का और पश्चिमी और दक्षिणी एशिया का भी पूरा बयान

ये सन्धियां सोवियट राजनीतिज्ञो की कामयाबी का सबूत थीं, और इनसे 'मध्य-पूर्व' में अंग्रेजो के प्रभाव को गहरा धक्का लगा। यह कहने की तो जरूरत ही नही कि ब्रिटिश सरकार ने इन्हे बहुत नापसन्द किया, और खासकर अमानुल्ला के सोवियट रूस की तरफ दोस्ती और झुकाव को तो उसने बहुत ज्यादा नापसन्द किया।

१९२८ के शुरू में अमानुल्ला और रानी सुरैया योरप का एक बड़ा दौरा करने के लिए अफगानिस्तान से रवाना हुए। वे योरप की कई राजधानियो में—रोम, पेरिस, लन्दन, मास्को— गये, और सब जगह उनका बड़ा स्वागत हुआ। ये सभी देश व्यापार और राजनैतिक उद्देश्यो के लिए अमानुल्ला की सद्भावना प्राप्त करनें को उत्सुक थे। उसे कीमती तोहफे भी भेंट किये गये। लेकिन उसने बडी राजनैतिक होशियारी से काम लिया, और किसीसे कोई खास वादा नही किया। लौटते वक्त वह तुर्की और ईरान भी होता आया।

उसके लम्बे दौरे की तरफ बहुत लोगो का ध्यान गया। इससे अमानुल्ला की इज्जत बढ गई, और इससे दुनिया में अफगानिस्तान का महत्व भी बहुत बढ गया। लेकिन खुद अफगानिस्तान के अन्दर हाल अच्छा न था। एक ऐसे समय, जब कि पुराने तौर-तरीके और जिन्दगी को पलट देनेवाली बडी-बडी तब्दीलियाँ हो रही थीं, उसके बीच में अपने देश को छोड जाने में अमानुल्ला ने बडी भारी जोखिम उठाई थी। मुस्तफा कमाल ने यह जोखिम कभी नहीं उठाई। अमानुल्ला की लम्बी गैरहाजरी में सारे प्रगति-विरोधी लोग और शक्तियाँ, जो उसके खिलाफ थीं, धीरे-धीरे सामने आगई। हर तरह की साजिश की गई और उसको बदनाम करने के लिए हर तरह की अफवाहे फैलाई गई। इस अमानुल्ला-विरोधी प्रचार के लिए, न जाने किस तरफ से, रुपये की बाढ-सी आगई। मालूम होता है कि बहुत-से मुल्ला लोगो को इस काम के लिए रुपया दिया गया था और वे सारे देश में अमानुल्ला को काफिर, दीन का दुश्मन, घोषित करते फिरते थे। रानी सुरैया की अजीब-अजीब तस्वीरे, जिनमें वह यूरोपियन ढग की रात की पोशाक या और कोई लापरवाही में पहनी हुई पोशाक में नजर आती थी, हजारो की तादाद में देहातो में बाटी गई थी—यह दिखाने के लिए कि वह किस अनुचित प्रकार के कपडे पहनती है। इस व्यापक और खर्चीले प्रचार का करनेवाला कौन था? अफगानियो के पास तो न इतना रुपया था, और न इतनी तालीम थी। उनपर इसका खूब असर हो सकता था। मध्य-पूर्व और योरप में यह आम तौर पर माना जाता था और कहा जाता था कि इस प्रचार में ब्रिटिश खुफिया महकमे का हाथ था। ऐसी बातो का साबित होना मुश्किल होता है, और इस काम से अंग्रेजो का ताल्लुक बताने के लिए कोई खास सबूत नही मिलता, हालांकि यह कहा

यारात को महदूद करे, साम्यवाद से भरी हुई ही दिखाई देती हो। यह भी बिलकुल मुमकिन है कि स्याम मे किसी हद तक साम्यवाद फैल गया हो, जैसा कि वह चीन के कुछ हिस्सो में काफी मजबूत है। लेकिन ज्यादा मुमकिन बात यह है कि स्याम में साम्यवादी रग लिये हुए मध्यवर्गीय राष्ट्रीयता पैदा होगई हो, और वहाँकी पुरानी सामन्ती समाज-व्यवस्था पर हमला कर रही हो। सबसे ताजी खबर यह है कि एक और 'शान्तिपूर्ण क्रान्ति' होगई है, और फौजी अफसरो के अगुआ-दल ने फिर जोर पकड लिया है, और एसेम्बली को फिर से कायम करने का आग्रह किया है।

स्याम के पूर्व फ्रेञ्च इण्डो-चायना में भी राष्ट्रीयता फैली है, और उसकी ताकत बढती जा रही है। राष्ट्रवादी आन्दोलन को दबाने के लिए फ्रेञ्च सरकार ने भी कई षडयन्त्र के मुकदमे चलाये है और बहुत-से लोगो को लम्बी-लम्बी सजायें दी है। मार्च १९३३ में जिनेवा की एक नि शस्त्रीकरण कान्फरेस में फ्रेञ्च प्रतिनिधि मो० सारौत ने एक बडे भेद की बात कही थी। यह प्रतिनिधि खुद फ्रेञ्च इण्डो-चायना का गवर्नर रह चुका था। उसने जिक्र किया कि "मातहत देशो में राष्ट्रीयता बढ़ रही है, ओर उनपर हुकूमत करना बहुत ज्यादा मुश्किल होता जा रहा है।" उसने फ्रेञ्च इण्डो-चायना की मिसाल दी कि जब वह वहाँका गवर्नर था तो व्यवस्था कायम रखने के लिए सिर्फ १,५०० आदमी थे, लेकिन अब वहाँ १०,००० आदमियो की जरूरत होती है।

अखीर में डच ईस्ट-इडीज के अन्तर्गत जावा का भी जिक्र कर देना मुनासिब होगा, जोकि अपनी शकर और रबर के लिए मशहूर है, और साथ ही कारखानेदारो के खेतो पर काम करनेवाले लोगो का बुरी तरह खून चूसने के लिए भी मशहूर है। राष्ट्रीयता की बढती के साथ, हिन्दुस्तान की तरह, थोडा-सा राजनैतिक सुधार और और बहुत-सा दमन भी आया। १९२७ में डच सत्ता के खिलाफ बगावत होगई थी जो काफी बेरहमी के साथ दबा दी गई थी। डच सरकार उसे साम्यवादी बगावत बताती थी, हालाकि उसके सारे बयान से वह साम्यवादी की बनिस्बत कौमी ही ज्यादा मालूम होती थी। इसमें शक नही कि पूर्व के तमाम मुल्को में साम्यवाद भी बढ रहा है; लेकिन गिनती के खयाल से अब भी वह महत्व-शून्य है। उसकी ताकत इस बात में है कि उसकी तरफ लायक कुरबानी करनेवाले और तेज स्वभाव के नौजवान स्त्री और पुरुष खिचते है।

कुछ महीनें पहले जावा के नजदीक के समुद्री हिस्से में एक अजीब घटना हुई। एक डच जंगी जहाज के नाविको ने वेतन-कटौती के विरोध में जहाज पर अपना क़ब्ज़ा जमा लिया और उसे लेकर चल दिये। उन्होनें किसी चीज का नुकसान नही

कर दिया है। अब मै एशिया के दक्षिण-पूर्वी कोने की हाल की कुछ घटनाओ का थोडा हाल बयान करूँगा और फिर इस खत को खत्म कर दूँगा। इस हिस्से की बाबत मैं तुम्हे ज्यादा नही बता सकता, क्योकि मुझे खुद भी बहुत कम मालूम है।

बरमा के पूर्व में स्याम है, जो दुनिया के इस हिस्से में सिर्फ एक ही देश है जो अपनी आजादी को कायम रख सका है। वह एक तरफ ब्रिटिश बरमा और दूसरी तरफ फ्रेञ्च-इडोचायना के बीच में जकडा हुआ है। इस देश में पुराने भारतीय स्मारक-चिन्हो की भरमार है, और उसकी परम्पराओ और सस्कृति और रीति-रिवाजो पर आज भी हिन्दुस्तान का असर दिखाई देता है। हाल तक वहाँ राजा का मनमाना शासन था, और समाज ज्यादातर सामन्तशाही की हालत में था। हाँ, साथ-ही-साथ छोटा-सा मध्यमवर्ग भी बढ रहा था। मेरे ख़याल से राजाओ का खिताब अक्सर राम होता था, जिस शब्द से कि हमें फिर हिन्दुस्तान की याद आने लगती है। इस तरह उनमें राम प्रथम, राम द्वितीय इत्यादि राजा हुए थे। महायुद्ध के जमाने में स्याम मित्र-दल के साथ होगया, जबकि मित्र-दल की जीत साफ़ जाहिर होने लगी थी, और बाद में वह राष्ट्र-सघ का भी सदस्य बन गया।

जून १९३२ में बैंकोक के, जोकि स्याम की राजधानी है, राजमहल में एक क्रान्ति हुई, और बताया गया कि कुछ नौजवान स्यामी अफ़सरो और दूसरे लोगो ने, जोकि एक शासन-विधान की माँग करते थे, राजा और उसके परिवार और मुख्य मन्त्रियो को गिरफ्तार कर लिया है। राजा ने किसी तरह के एक शासन-विधान को, जिसमें उसके अख्तियारात महदूद कर दिये गये थे, मान लिया और एक पीपल्स असेम्बली यानी जनता की कौंसिल कायम होगई। मुझे ठीक-ठीक मालूम नहीं है कि क्या-क्या बाते हुई, लेकिन मालूम होता है कि जिस तरह नौजवान तुर्कों और सुलतान अब्दुलहमीद के मामले में अचानक फौजी कार्रवाई की गई थी, इसी तरह की कोई अचानक फौजी कार्रवाई अमल में आई होगी। बेशक इस फौजी कार्रवाई के पीछे जनता की दुर्दशा छिपी हुई थी। फिर भी यह क्रान्ति जनता की आम उथल-पुथल नही मालूम हुई। राजा के जल्दी मान जाने से सकट-काल खत्म होगया। मालूम होता है कि राजा ने इस तब्दीली को मजूरी दिल से नही दी थी। अप्रैल १९३३ में उसी राजा प्रजाधिपक ने इस कारण से अचानक एसेम्बली तोड दी कि उसके कुछ सदस्य साम्यवाद की हिमायत कर रहे हैं। इतनी दूर से अधिक समाचार के अभाव में इस बाबत कोई भी फैसला करना मुश्किल है। फिर भी, मालूम होता है कि राजा सिर्फ किसी बहाने की तलाश में था, जिससे वह एसेम्बली को खत्म करदे और अपनी स्वेच्छाचारी शक्ति को फिर ग्रहण कर ले। शायद उसे ऐसी हर बात जो उसके अख्ति-

बाद सबसे बडी घटना वह क्रान्ति थी जो कि नही हुई। जिन परिस्थितियो ने रूस में बोलशेविक क्रान्ति पैदा करदी, वे, चाहे कुछ कम अश मे ही सही, मध्य और पश्चिमी योरप में भी मौजूद थी। रूस और पश्चिम के औद्योगिक देशो—इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ़ान्स वगैरा—में फर्क यह था कि रूस में मजबूत मध्यम-वर्गीय समाज नही था। असल में मार्क्स के उसूल के मुताबिक तो उम्मीद यही थी कि श्रमिको की क्रान्ति पहले इन्ही उन्नत औद्योगिक देशो में होगी, न कि पिछडे हुए रूस में। लेकिन महायुद्ध ने ज़ारशाही के पुराने सडे हुए ढाँचे को चकनाचूर कर दिया, और सिर्फ इसलिए कि वहाँ बीच में आजाने और पश्चिमी ढग की पार्लमेण्ट द्वारा शासन पर नियन्त्रण करने के लिए कोई मजबूत मध्यम-वर्ग नही था, मजदूरो के सोवियटो ने सत्ता पर कब्ज़ा जमा लिया। इसलिए यह एक काफी आश्चर्यजनक बात हुई कि रूस का पिछड़ापन ही, उसकी कमज़ोरी का कारण ही, उसके लिए उससे भी उन्नति देशो की बनिस्बत बडा कदम उठाने का सबब बन गया। लेनिन के नेतृत्व में बोलशेविको ने यह कदम उठाया, लेकिन वे किसी धोखे में नही थे। वे जानते थे कि रूस पिछड़ा हुआ है और उसे आगे बढ़े हुए देशो के बराबर होने मे वक्त लगेगा। उन्हे उम्मीद थी कि श्रमिको का प्रजातंत्र कायम रखने की उनकी मिसाल से योरप के दूसरे मुल्को के मज़दूर भी अपनी-अपनी मौजूदा हुकूमतो के खिलाफ बगावत करने में उत्साहित होगे। उन्होने महसूस किया कि योरप में सार्वत्रिक सामाजिक क्रान्ति होने से ही उनके बचे रहने की उम्मीद है। वरना, बाकी पूँजीवादी दुनिया तो रूस की नई सोवियट सरकार को कुचल ही देगी।

इसी आशा और विश्वास से अपनी क्रान्ति के शुरू में उन्होने संसार-भर के मजदूरो के नाम अपनी अपीले निकाली। उन्होने दूसरे देशो को जीतकर दबा लेने की योजनाओ की निन्दा की। उन्होने कहा कि ज़ारशाही रूस ओर इग्लैण्ड व फ़्रान्स के बीच जो गुप्त सन्धियां हुई है उनके आधार पर वे अपना कोई दावा नही करेगे। और साफ ज़ाहिर कर दिया कि कुस्तुनतुनिया तुर्को के ही पास रहना चाहिए। उन्होनें पूर्वी देशो को और ज़ारशाही साम्राज्य की कितनी ही पामाल कौमों को उदार से उदार शर्तें दी। और सबसे बडी बात यह थी कि वे दुनियाभर के मजदूरो के हिमायती बन गये, और उन्होने हर जगह के मजदूरो को प्रेरणा की कि वे उनकी मिसाल पर अमल करे और साम्यवादी प्रजातंत्र कायम करले। राष्ट्रीयता और रूस के राष्ट्र का उनके लिए इसके सिवा और कोई अर्थ न था कि दुनिया के उस हिस्से में ही इतिहास में पहली बार श्रमिको की सरकार कायम हुई थी। जर्मन और मित्र-राष्ट्रों की सरकारो ने बोलशेविक अपीलो का दमन किया, लेकिन फिर भी वे कई लड़ाई के मोर्चो और कारख़ानो के प्रदेशों में पहुँच ही गई। हर जगह उनका काफ़ी असर हुआ, और फ़्रान्सीसी

किया, और यह भी साफ जाहिर कर दिया कि वे सिर्फ अपने वेतनो की बाबत विरोध कर रहे हैं। वह एक तरह की उग्र हड़ताल थी। इसपर डच हवाई जहाजो ने इस जगी जहाज पर बम बरसाये, कई नाविको को मार दिया, और इस तरह उस पर कब्ज़ा पा लिया।

अब हम एशिया को छोड देते है, जहाँ कि राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद के बीच लगातार सघर्ष के बाद सघर्ष होते ही जाते है, और योरप पर आते है, क्योंकि योरप भी हमारा ध्यान खींच रहा है। हमने महायुद्ध के बाद के योरप पर विचार नही किया है, और तुम्हे याद रखना चाहिए कि अब भी योरप की परिस्थितियो में ही ससार की परिस्थितियो की चाबी है। इसलिए हमारे अगले कुछ खत योरप के बारे में ही होगे।

एशिया के दो हिस्सो, दो बडे-बडे हिस्सो, पर गौर करना अभी बाकी है—एक तो चीन का प्रदेश, और दूसरा उत्तर में सोवियट प्रदेश। कुछ समय बाद हम उन-पर फिर पहुँचेंगे।

: १७१ :

वह क्रान्ति जो होते-होते रह गई

१३ जून, १९३३

जी० के० चेस्टरटन ने, जो कि आजकल अंग्रेजी के एक मशहूर लेखक है, कही लिखा है कि इग्लैंड में उन्नीसवीं सदी की सबसे बडी घटना वह क्रान्ति है जो कि नहीं हुई या होते-होते रह गई। तुम्हे याद होगा कि उन्नीसवी सदी में कई मौको पर इग्लैण्ड क्रान्ति के किनारे तक आगया था, यानी ऐसी सामाजिक क्रान्ति होने ही वाली थी जिसे निचले वर्ग के लोग और श्रमिक मिलकर करते। लेकिन हर बार आखिरी वक्त पर शासकवर्ग झुक जाते थे, पार्लमेण्टरी ढाँचे के ही अन्दर वोट का अधिकार बढाकर ऊपरी तौर पर कुछ हिस्सा बाँट देते थे, और बाहर की साम्राज्यवादी लूट के लाभो में से भी थोडा हिस्सा दे देते थे, और इस तरह आनेवाली क्रान्ति को दबा रखते थे। वे ऐसा इसलिए कर सके कि बाहर उनका साम्राज्य बढ रहा था, और उससे उन्हे धन मिल रहा था। इसलिए इग्लैण्ड में क्रान्ति नही हुई, लेकिन उसका साया अक्सर देश पर छा जाता था, और क्रान्ति के भय से घटनाओ पर असर पडता था। इस तरह वह बात, जो असल में हुई नहीं, पिछली सदी की सबसे बडी घटना कही जाती है।

इसी तरह, शायद, यह कहा जा सकता है कि पश्चिमी योरप में महायुद्ध के

फौज में फूट होती दिखाई दी। जर्मन फौजो और मजदूरो पर तो और भी ज्यादा असर हुआ। जर्मनी और आस्ट्रिया और हगरी—इन हारे हुए मुल्को में बलवे और बगावते भी हुई, और कई महीनो या साल-दो साल तक तो योरप में एक जबरदस्त सामाजिक क्रान्ति का अन्देशा बना ही रहा। हारे हुए मुल्को की बनिस्बत जीते हुए मित्र-राष्ट्रो की हालत कुछ अच्छी थी, क्योकि कामयाबी के सबब से उनमें हारी हुई शक्तियो से वसूल करके अपना कुछ नुकसान पूरा कर लेने की हिम्मत और उम्मीदें पैदा होगई थीं (जो कि बाद की घटनाओ से काफी झूठी साबित हुई)। लेकिन मित्र-राष्ट्रो में भी क्रान्ति का वातावरण था। असल में सारे योरप और एशिया का वातावरण असन्तोष से पूरी तरह भरा हुआ था, और सतह के नीचे क्रान्ति की आग सुलग और गडगडा रही थी और अक्सर भभक उठना भी चाहती थी। लेकिन योरप और एशिया में असन्तोष के और जो वर्ग क्रान्ति करना चाहते थे उनके प्रकारो में भेद था। एशिया में पश्चिमी साम्राज्यवाद के खिलाफ उठनेवाली कौमी बगावतो में मध्यम वर्ग आगे रहा, और योरप में श्रमिक वर्गो ने चाहा कि मौजूदा पूंजीवादी समाज-व्यवस्था को उलट दें और मध्यम-वर्गो से सत्ता छीन ले।

इन गडगडाहटो और अन्देशो के होने पर भी, मध्य या पश्चिमी योरप में रूस की तरह की कोई क्रान्ति नही हुई। पुरानी समाज-व्यवस्था उसपर होनेवाले हमलो को बर्दाश्त कर लेने की ताकत रखती थी, लेकिन वह इन हमलो से इतनी काफी कमजोर होगई और डर गई कि उससे सोवियट रूस बच गया। अगर पीछे की तरफ से यह जबरदस्त मदद न मिली होती तो यह बिलकुल मुमकिन था कि १९१९ या १९२० में साम्राज्यवादी शक्तियो के सामने सोवियट नष्ट होजाता। पर महायुद्ध के बाद धीरे-धीरे जैसे-जैसे साल गुजरते गये, स्थिति किसी हद तक शान्त होती गई। राजवादियो और सामन्त-जमीदारो यानी प्रगति-विरोधी रूढिवादियो और नरम साम्यवादी या सोशल डिमोक्रेट लोगो के बीच एक अजीब तरह का मेल होगया, और इन्होनें मिलकर क्रान्तिकारी तत्त्वो को दबा दिया। असल में यह एक अजीब मेल था, क्योकि सोशल डिमोक्रेट कहा करते थे कि हम मार्क्सवाद और श्रमिको की सरकार में विश्वास रखते हैं। इस तरह जाहिरा तो उनके आदर्श वही थे जो कि सोवियटो और कम्यूनिस्टो यानी साम्यवादियो के थे। फिर भी ये सोशल डेमोक्रेट लोग पूजीवादियो से भी ज्यादा कम्यूनिस्टो से डरते थे, और कम्यूनिस्टो को कुचलने के लिए पूजीवादियो से मिल गये। या यह भी मुमकिन है कि वे पूजीवादियो से इतना डरते थे कि उनके खिलाफ होने की हिम्मत नही कर सकते थे, उन्होनें शान्तिपूर्ण और पार्लमेण्टरी पद्धति से अपनी स्थिति मजबूत करने और यो अप्रत्यक्ष रूप से साम्यवाद ले आने की उम्मीद की। उनके इरादे कुछ भी रहे

तरह से पैदा या मजबूत नही होतीं। किसी राष्ट्र की क्रान्ति में तो उसका राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक ढाँचा ही बदल जाना चाहिए। यह उम्मीद करना कि, जब क्रान्ति के दुश्मनो के हाथ में सत्ता छोड दी जायगी तो वह क्रान्ति टिकी रहेगी, बेमानी है; लेकिन जर्मन सोशल डिमोक्रेटो ने ठीक यही बात की, और उन्होने क्रान्ति के विरोधियो को उसके नाश के लिए तैयारी और सगठन करने के पूरे मौके दे दिये। जर्मनी में पुराने सेनावादियो और फौजी अफसरो का दबदबा बना रहा।

नई सोशल डिमोक्रेटिक सरकार को यह पसंद न आया कि कील के नाविक सारे देश में घूम-घूमकर क्रान्तिकारी विचार फैलाते रहे। उसने इन नाविको को बर्लिन में दबाने की कोशिश की, और जनवरी १९१९ के शुरू में बडे झगडे हुए और खून-खराबी भी हुई। इसपर जर्मन साम्यवादियो ने सोवियट सरकार कायम करने की कोशिश की, और शहर की आम जनता से मदद माँगी। उन्हे जनता से कुछ मदद मिली, और उन्होने सरकारी इमारतो पर क़ब्जा कर लिया—और जर्मनी में एक हफ्ते तक, जिसे बर्लिन में 'लाल हफ्ता' कहा जाता है, शहर की सत्ता उन्हीके हाथो में दिखाई दी। लेकिन जनता ने काफी साथ नही दिया, क्योकि ज्यादातर लोग भौंचक्के-से थे, और उन्हे समझ नही आता था कि क्या करना चाहिए। बर्लिन के सिपाही भी भौंचक्के-से होगये, और तटस्थ रहे। चूंकि इन सिपाहियो पर यकीन नहीं किया जा सकता, इसलिए सोशल डिमोक्रेटो ने खास तौर पर कुछ विशेष स्वयंसेवक भर्ती कर लिये, और उनकी मदद से साम्यवादी बगावत को दबा दिया। लड़ाई बडी बेरहमी से हुई, और किसीको माफ नहीं किया गया। लड़ाई खत्म होने के कुछ दिन बाद दो साम्यवादी नेता कार्ल लेबकनेख्ट (Liebknecht) और रोजा लक्जेमबर्ग अपनी छिपने की जगहो पर तलाश कर लिये गये, और कुछ लोगो के जरिये बेरहमी से कत्ल कर दिये गये। इस क़त्ल से और बाद में कातिलो के मुकदमे में बरी हो जाने से, साम्यवादियो और सोशल डिमोक्रेटो के बीच बडी कटुता पैदा हो गई। कार्ल लेबकनेख्ट विल्हेल्म लेबकनेख्ट का पुत्र था, जोकि उन्नीसवीं सदी का मशहूर साम्यवादी लडाका था और जिसका नाम मेरे एक पिछले खत में आया है। रोजा लक्जेमबर्ग भी एक पुराना काम करनेवाला था और लेनिन का बड़ा दोस्त था—और सचाई यह थी कि जिस साम्यवादी बगावत के कारण लेबकनेख्ट और लक्जेमबर्ग की मृत्यु हुई, उसके ये दोनो खिलाफ थे।

साम्यवादी लोग सोशल डिमोक्रेटिक प्रजातंत्र द्वारा कुचल दिये गये, और इसके बाद फौरन ही वेमर नाम के स्थान पर प्रजातन्त्र के लिए एक शासन-विधान तैयार किया गया। इसलिए उसे वेमर-विधान कहते हैं। तीन महीने के अन्दर ही प्रजातन्त्र में नई

का जर्मन मजदूरो पर काफी असर हुआ, और युद्ध-सामग्री तैयार करनेवाले कारखानो में बडी-बडी हडताले हुई। इससे जर्मनी की साम्राज्यवादी सरकार के लिए बडी गभीर परिस्थिति पैदा होगई, और मुमकिन था कि उसका सर्वनाश भी होजाता। इसपर समाजवादी नेताओ ने हडताल कमेटी में शामिल होकर, और अन्दर से हड़ताल तोड-कर, परिस्थिति को बचा लिया।

४ नवम्बर १९१८ को उत्तर-जर्मनी के कील बन्दरगाह की नौ-सेना में बगावत होगई। जर्मन नौ-सेना के बडे-बडे जगी जहाजो को बाहर जाने का हुक्म दिया गया, लेकिन नाविको और आगवालो ने बाहर जानें से इन्कार कर दिया। जो फौजें उन्हे दबाने के लिए भेजी गई थीं, वे भी उनसे मिल गईं और उन्हीके साथ होगई। अफसर अपने पदो से हटा दिये गये या गिरफ़्तार कर लिये गये, और मजदूरो और सैनिको की कौंसिले (सोवियटें) कायम करली गईं। ये सब बाते रूस की सोवियट क्रान्ति के शुरू की घटनाओ की-सी ही थीं, और ऐसा मालूम होने लगा कि ये सारे जर्मन में फैल जायेंगी। फौरन ही कील में सोशल डिमोक्रेटिक नेता जा पहुँचे और वे नाविको और सैनिको के ध्यान को दूसरी बातो में लगानें में कामयाब हुए। लेकिन ये नाविक अपने हथियार लेकर कील से रवाना होगये, और सारे देश में बगावत के बीज लेकर फैल गये।

क्रान्तिकारी आन्दोलन फैलता जा रहा था। बवेरिया (दक्षिण-जर्मनी) में एक प्रजातन्त्र की घोषणा करदी गई। फिर भी कैसर तो चिपटा ही रहा। ९ नवम्बर को बर्लिन में एक आम हडताल शुरू होगई। सारा काम-काज बन्द होगया, और कुछ हिंसा भी न हुई, क्योंकि शहर की सारी फौज क्रान्तिकारियो की तरफ जा मिली। पुरानी व्यवस्था जाहिरा तो नष्ट होगई थी, और सवाल यह था कि अब इसकी जगह क्या होगा ? कुछ साम्यवादी नेता सोवियट या प्रजातन्त्र का ऐलान करने ही वाले थे कि एक सोशल डिमोक्रेटिक नेता ने उनसे भी पहले पार्लमेण्टरी ढग के प्रजा-तन्त्र का ऐलान कर दिया।

इस तरह जर्मन प्रजातन्त्र कायम हुआ। लेकिन वह तो सिर्फ नाम का प्रजातन्त्र था, क्योंकि असल में किसी चीज में भी तब्दीली नही हुई थी। सोशल डिमोक्रेटो नें, जिनके हाथ में सारी परिस्थिति थी, करीब-करीब हर बात को पहले की तरह ही रखा। उन्होने मन्त्रित्व वगैरा के कुछ ऊँचे ओहदे लेलिये, लेकिन फौज, सिविल सर्विस और अदालतो के अफसर और कर्मचारी वही रहे और सारा शासन उसी तरह का रहा जैसा कि कैसर के जमाने में था। इस तरह, जैसा कि हाल की छपी एक किताब का नाम है, "कैसर चला गया, लेकिन उसके जनरल बने रहे।" क्रान्तियाँ इस

महायुद्ध के बाद एक और बात जो जोर पकड़ती गई, वह है बल-प्रयोग की मनोवृत्ति का पैदा होना। यह ताज्जुब की बात है कि जब हिन्दुस्तान में अहिंसा का सन्देश फैलाया जा रहा था, उन्ही दिनो दुनिया में करीब-करीब सभी जगह हिंसा—नग्न और निर्लज्ज हिंसा—ही अमल में आ रही थी और उसका गौरव बढ़ाया जा रहा था। इसका कारण था ज्यादातर तो महायुद्ध और बाद में मुख्तलिफ वर्गों के स्वार्थों की टक्कर। ज्यो-ज्यो मुख्तलिफ वर्गों के स्वार्थ ज्यादा-ज्यादा एक-दूसरे से टकराते गये और उनमें स्पष्टता और गहराई आती गई, त्यो-त्यो हिंसा बढ़ती गई। उदार सिद्धान्त करीब-करीब मिट गये, और उन्नीसवी सदी का प्रजातन्त्रवाद नापसन्द किया जाने लगा। डिक्टेटर लोग मैदान में आगये।

मैने इस खत में हारी हुई शक्तियो के बारे में लिखा है। जीतनेवाली शक्तियो को भी ऐसी ही तकलीफें उठानी पडी, हालाकि मध्य-योरप के समान उथल-पुथल या बलवे इग्लैण्ड और फ्रास में नही हुए। इटली में एक खास ढग की उथल-पुथल हुई, जिसके अजीब ही नतीजे हुए। उनका बयान भी अलग किया जाना चाहिए।

: १७२ :

पुराने क़र्ज़ चुकाने की नई तरकीब

१५ जून, १९३३

इस तरह हम देखते है कि महायुद्ध के बाद योरप और दरअसल किसी हद तक सारा ससार एक उबलती हुई कढाई की हालत में था। वर्साई की और दूसरी सधियो से मामले नही सुधरे। योरप के नये नकशे से पोल और जेक और बाल्टिक जातियो को आजाद बनाकर कुछ पुरानी राष्ट्रीय समस्यायें सुलझाई गईं। लेकिन इसके साथ ही आस्ट्रियन टिरोला या टायरल को इटली के मातहत करने, यूक्रेन के एक हिस्से को पोलैण्ड को दे देने, और पूर्वी योरप में और भी कुछ दु खदाई मुल्की बटवारा करने के कारण कई नई-नई राष्ट्रीय समस्यायें खडी भी होगई। सबसे अजीब और चिढ़ पैदा करनेवाली पोलिश कॉरीडर और डेनजिग की व्यवस्था थी। योरप के मध्य और पूर्व में कई नये छोटे-छोटे राज्य बना दिये गये, जिसके मानी हुए सरहदो, चुगी की हदबन्दियो और आपसी नफरतो में वृद्धि।

१९१९ की इन सन्धियो के अलावा भी रूमानिया ने किसी तरह बेसारेबिया प्रदेश ले लिया, जोकि पहले दक्षिण-पश्चिम रूस का हिस्सा था। तबसे लगातार इस प्रदेश की बाबत सोवियट और रूमानिया में झगड़ा और दलीलबाजी होती रही है। बेसारेबिया 'नीपर का एलसेस-लॉरेन' कहलाने लगा है।

हुआ जो 'सफेद आतक' (White Terror) कहलाता है और जो महायुद्ध के बाद के इतिहास के सबसे ज्यादा खूनी हिस्सो में से एक माना जाता है। हंगरी में कुछ अब भी सामन्तशाही है, और ये सामन्त जमीदार बडे-बडे कारखानेदारो के साथ, जिन्होने महायुद्ध के जमाने में बडी दौलत पैदा करली थी, मिल गये, और उन्होने न सिर्फ साम्यवादियो को बल्कि आम तौर पर मजदूरो, सोशल डिमोक्रेटो, उदार और शान्तिवादी लोगो और यहूदियो तक को कत्ल किया और उनपर आतंक फैला दिया। तभीसे हंगरी में एक प्रगति-विरोधी डिक्टेटरशाही कायम है। वहाँ दिखाने के लिए एक पार्लमेण्ट है, लेकिन चुनाव की पर्चियाँ खुली हुई पडती है, यानी पार्लमेण्ट के मेम्बरो का चुनाव जाहिरा तौर पर होता है और पुलिस और फौज इस बात की कोशिश करती है कि डिक्टेटरशाही जिन्हे पसन्द करती या चाहती है सिर्फ वे ही लोग चुनें जावें। राजनैतिक सवालो पर सार्वजनिक सभायें होने नहीं दी जाती।

इस खत में मैंने मध्य-योरप की महायुद्ध के बाद की घटनाओ पर और युद्ध और हार और रूसी क्रान्ति के उन देशो पर होनेवाले परिणामो पर, जो पहले 'मध्य-योरप की शक्तियाँ' कहलाते थे, विचार किया है। युद्ध के आश्चर्यजनक आर्थिक परिणाम, और उनसे पूंजीवाद मौजूदा दुर्दशा में कैसे आ गया है, इसका हाल हमें अलग ही देखना होगा। इस खत में मैंने जो कुछ लिखा है उसका मतलब यही है कि महायुद्ध के वाद के उन दिनो में योरप में क्रान्ति आती हुई दिखाई देती थी। इस बात से सोवियट रूस को वडी मदद मिली, क्योंकि किसी भी बडी साम्राज्यवादी शक्ति को अपने मजदूर-वर्ग पर बुरा असर पैदा होने के अन्देशे से उसपर पूरे दिल से हमला करने की हिम्मत नहीं हुई। फिर भी क्रान्ति हुई नहीं, सिर्फ कहीं-कही छोटे-छोटे प्रयत्न हुए जो कुचल दिये गये। इस सामाजिक क्रान्ति के कुचलने और रोकने में सोशल डिमोक्रेटो ने सबसे ज्यादा हिस्सा लिया, हालांकि उनका सारा दल इसी तरह की सामाजिक क्रान्ति के उसूल पर कायम हुआ था। मालूम होता है कि ये सोशल डिमोक्रेट समझते थे या उम्मीद करते थे कि पूंजीवाद खुद ही अपनी मौत मर जायगा। इसलिए जोर से उसपर हमला करने के बजाय उन्होने उसे कम-से-कम उस वक्त तो बचे रहने में मदद दी। या यह भी मुमकिन है कि उनकी बडी भारी और मालदार पार्टी-मशीन इतने आराम में थी, या मौजूदा समाज-व्यवस्था में ही इतनी फँसी हुई थी, कि वह सामाजिक उथल-पुथल की जोखिम उठाना नहीं चाहती थी। उन्होने बीच का रास्ता इख्तियार करने की कोशिश की। लेकिन नतीजा यह हुआ कि उन्होने सारा काम बिगाड दिया और हाथ में जो कुछ था वह भी खो दिया। जर्मनी की हाल की घटनाओ ने इस बात को और भी ज्यादा साफ कर दिया है।

या फ्रांक के मुकाबिले में खुद जर्मन मार्क की कीमत घट गई। इसलिए सरकार को और मार्क छापने पडे, और फिर इससे मार्क की कीमत और भी गिरी। यह अव्यवस्था बहुत ज्यादा बढ़ गई, यहाँतक कि एक डालर या पाउण्ड की कीमत अरबो कागजी मार्क होगई। असल में कागजी मार्क का कोई मूल्य ही नही रहा। लिफाफ़े पर लगाने के लिए एक टिकट की कीमत दस लाख कागजी मार्क होगई! दूसरी चीजो के दाम भी इसी हिसाब से कम या ज्यादा थे, और हमेशा बदलते भी रहते थे।

जर्मनी का यह 'इन्फ्लेशन' और मार्क की कीमत में आश्चर्यजनक गिरावट अपने-आप ही नही होगये थे। यह जर्मन सरकार ने आर्थिक कठिनाइयो में से निकलने के लिए जान-बूझकर किया था, और बहुत काफ़ी दूर तक वह कठिनाइयो मे से निकल भी गई; क्योकि सरकार ने और म्यूनिसिपैलिटियो ने और दूसरे कर्जदारो ने जर्मनी के अपने अन्दरूनी क़र्जे आसानी से मूल्यहीन कागजी मार्को द्वारा चुका दिये। बेशक वे इस तरह बाहरी देशो के कर्जो को नही चुका सकते थे, क्योकि वहाँका कोई भी आदमी उनके कागजी रुपये को नही ले सकता था। जर्मनी में तो वे क़ानून के जरिये भी ऐसी अदायगी को मजूर करवा सकते थे। इस तरह सरकार और हर कर्जदार कर्ज के दुःखदायी बोझ से छूट गया। लेकिन ऐसा करनें में बडी जबरदस्त मुसीबते उठानी पडीं। इन्फ्लेशन के इस अर्से में सभी लोगो ने तकलीफें उठाई; लेकिन सबसे ज्यादा मुसीबत मध्यमवर्गो को हुई, क्योकि उन्हे ज्यादातर निश्चित तनख्वाहे मिलती थी, या दूसरी किसी तरह की आमदनी भी निश्चित ही थी। बेशक ज्यो-ज्यो मार्क गिरता गया त्यो-त्यो इनकी तनख्वाहे बढ़ती गईं, लेकिन जिस रफ़्तार से मार्क गिरता था उसके मुताबिक ही उनकी तनख्वाहे नही बढ़ पाती थी। निचले मध्यमवर्ग तो इस इन्फ्लेशन से करीब-क़रीब मिट ही गये, और जब हम जर्मनी मे बाद के वर्षो में होनेवाली खास-खास घटनाओं पर विचार करेगे तो हमें इस बात को याद रखना होगा। क्योकि फिर तो इन असतुष्ट वर्गहीन (Declassed) मध्यम-वर्गो की एक जबरदस्त असन्तुष्ट सेना बन गई, जिनसे बडी-बडी क्रान्तिकारी संभावनायें थी। वे प्रमुख दलो के साथ बननेवाली प्राइवेट फौजो में दाखिल होगये और ज्यादातर हिटलर के नये दल नैशनल सोशलिस्ट या नाजी पार्टी में चले गये।

पुराना मार्क, जो कि अब बिलकुल भी काम का न रहा था, मसूख कर दिया गया, और नये नोट, जिन्हे 'रेण्टेन मार्क' कहते थे, चालू किये गये। इनमें 'इनफ्लेशन' नहीं किया गया, और ये अपने सोने की कीमत के बराबर होते थे। इस तरह जर्मनी अपनें निचले मध्यम वर्गो का सफाया करके फिर स्थायी मुद्रा-प्रणाली पर लौट आया।

जर्मनी की आर्थिक मुसीबतो के बडे-बडे अन्तर्राष्ट्रीय परिणाम हुए। मित्र-राष्ट्रो

दूसरी तब्दीलियों में भी बड़ा सवाल मुआवज़े (रिपेयरेशन्स) का था, यानी उस रुपये का जो महायुद्ध के खर्चों और नुकसानों के बदले में हारा हुआ जर्मनी जीतनेवाले मित्र-राष्ट्रों को अदा करे। वर्साई की सन्धि में इसकी कोई निश्चित रकम मुकर्रर नहीं की गई थी, लेकिन बाद की कान्फरेन्सों में मुआवज़े की रकम ६,६०,००,००,००० पौण्ड मुकर्रर की गई, जो सालाना किस्तों में देनी थी। इतनी बड़ी रकम किसी देश के लिए भी देना मुश्किल था, और हारा और थका हुआ जर्मनी तो इसे देने के और भी ज्यादा नाकाबिल था। जर्मनी ने इसका विरोध किया, लेकिन बेकार हुआ, और फिर जब कोई चारा न रहा तो उसने यूनाइटेड स्टेट्स यानी सयुक्तराष्ट्र अमेरिका से उधार लेकर दो-तीन किस्तें अदा कीं। कुछ वक्त गुज़ारने और फिर सारे सवाल पर फिर से गौर करवाने के लिए ही उसने ऐसा किया। उसे और ज्यादातर दूसरे मुल्कों पर भी यह ज़ाहिर होगया था कि पीढ़ियों तक बड़ी-बड़ी रकमें वह देता नहीं जा सकता था।

बहुत जल्दी ही जर्मनी की आर्थिक व्यवस्था टूट गई, और सरकार के पास न तो बाहरी कर्ज़, जैसे मुआवज़ा वगैरा, और न अन्दरूनी देनदारियाँ तक पूरी करने के लिए काफी धन रहा। दूसरे देशों को अदायगी सुवर्ण में करनी पड़ती थी। जब अदायगियाँ मुकर्रर तारीखों पर न हो सकीं, तो वादा-खिलाफी हुई। फिर भी जर्मनी के अन्दर तो सरकार करेंसी नोटों की शक्ल में अदायगी कर सकती थी, और इसलिए उसने अधिकाधिक कागज़ी नोट छाप लेने की तरकीब चलाई। कागज़ के नोट छाप लेने से धन पैदा नहीं होता, सिर्फ साख या अदायगी की ज़िम्मेदारी का इन्तज़ाम पैदा होता है। लोग कागज़ के नोटों का इस्तेमाल इसलिए करते हैं कि उन्हें मालूम है, अगर वे चाहें तो उनके बदले में उन्हें सोना या चाँदी मिल सकता है। इन नोटों के लिए बैंकों में हमेशा किसी कदर सोना रक्खा रहता है, जिससे कि नोटों की कीमत बनी रहे। इस तरह कागज़ी रुपये से बड़ा उपयोगी काम निकलता है, क्योंकि इससे रोज़ाना लेन-देन में सोना लगने से बच जाता है और साख भी बढ़ जाती है। लेकिन अगर कोई सरकार इस बात का खयाल न करे कि बैंकों में कितना सोना है और कागज़ी रुपया छापती और बेहद नोट जारी करती चली जाय तो इस कागज़ी रुपये की कीमत ज़रूर गिरेगी। नोट जितना ज्यादा छपता जायगा, उतनी ही उसकी कीमत घटेगी और देनदारी की माप का कार्य भी वह उतना ही कम करेगा। इस व्यवस्था को 'इनफ्लेशन' कहते हैं। १९२२ और १९२३ में जर्मनी में ठीक यही बात हुई। जर्मन सरकार को अपने खर्चे के लिए जैसे-जैसे ज्यादा रुपये की ज़रूरत होती गई, वैसे-वैसे वह ज्यादा-से-ज्यादा नोट छापती गई। इससे हर चीज़ के दाम चढ़ गये, लेकिन पौण्ड, डालर

शक्ल मे रुपया मित्र-राष्ट्रो को देना था। इसलिए अमेरिका ने जर्मनी को उधार दिया, और जर्मनी मित्र-राष्ट्रो को दे सका, ताकि अन्त मे मित्र-राष्ट्र भी अमेरिका को अदायगी कर सके। यह एक बड़ा मजेदार फैसला था, जिससे कि हरेक सतुष्ट नजर आता था! दरअसल, इसके सिवा वसूली करने की और कोई सूरत ही नही थी। हॉ, यह उधारी और अदायगी का सारा चक्कर एक बात पर निर्भर था—अमेरिका जर्मनी को उधार देता चला जाय। अगर यह बन्द होजाता है तो सारी व्यवस्था टूट जाती है।

इन उधारियो और अदायगियो में नकद धन का वास्तविक लेना और देना नही होता था; कागजी जमा-खर्च होजाता था। अमेरिका जर्मनी के नामे एक खास रकम लिख देता था, जर्मनी इसे मित्र-राष्ट्रो के नामे बदलवा देता था, और मित्र-राष्ट्र फिर उसे ही अमेरिका के नामे बदलवा देते थे। वास्तविक धन कही न जाता था, न आता था, सिर्फ हिसाब के कागजो में कई इन्दराज होजाया करते थे। अमेरिका गरीब मुल्को को, जो अपने पिछले कर्जों का सूद भी न चुका सकते थे, रुपया क्यों उधार देता गया? अमेरिका ने उधार इसलिए दिया कि किसी तरह इनका काम चलता रहे, और वे दीवालिया न हो, क्योकि अमेरिका को योरप के एकदम बर्बाद हो जाने का डर था, जिससे कि सारा कर्जा मारा जाता। इसलिए समझदार ऋणदाता या साहूकार की तरह, अमेरिका ने अपने कर्जदारो को जिन्दा और उनका काम चालू रक्खा। लेकिन कुछ वर्षो के बाद अमेरिका इस लगातार ऋण देने की नीति से तग आगया और उसने देना बन्द कर दिया। फौरन ही मुआवजे और कर्जे की सारी इमारत गिर पडी, किस्ते रुक गई और योरप और अमेरिका के सारे राष्ट्र एक ऐसी दलदल में फँस गये, जिसमें पडे वे अब भी तड़फड़ा रहे हैं। इसके बारे में मैं बाद में कुछ और कहूँगा।

इस तरह महायुद्ध के बाद मुआवजे की समस्या ने योरप को दस-बारह साल से भी ज्यादा फँसाये रक्खा। इसके साथ ही महायुद्ध के कर्जो यानी जर्मनी के अलावा दूसरे देशों के कर्जो का भी सवाल था। जैसा कि मै महायुद्ध की बाबत लिखे हुए खत में तुम्हे बता चुका हूँ, शुरू के दिनो में इंग्लैण्ड और फ्रांस अपने छोटे-छोटे मित्र-देशो को युद्ध के लिए रुपया उधार देते थे। इसके बाद फ़्रांस के जरिये खत्म होगये, और उसने उधार देना बन्द कर दिया। लेकिन इंग्लैण्ड देता रहा। बाद में आर्थिक दृष्टि से इंग्लैण्ड भी बिगड़ गया, और ज्यादा उधार नही दे सका। सिर्फ अमेरिका ही दे सकता था, और उसने बडी फैयाजी यानी उदारता से कर्जा दिया, जिसमें उसका और इंग्लैण्ड, फ्रास और दूसरे मित्र-राष्ट्रो का भी फ़ायदा था। इस तरह महायुद्ध खत्म

को दिये जानेवाले मुआवज़े की किस्त चूक गई। यह मुआवज़ा इन मित्र-राष्ट्रों के बीच बांट लिया जाता था, और सबसे ज्यादा हिस्सा फ्रांस को मिलता था। रूस उसमें से कुछ भी नहीं लेता था। असल में, उसमें अगर उसका कोई हक़ रहा भी हो तो वह भी उसने छोड़ दिया था। जर्मनी की तरफ से जब किस्त की अदायगी न हुई तो फ्रांस और बेलजियम ने जर्मनी के रूर प्रदेश पर फौजी कब्ज़ा कर लिया। मित्र-राष्ट्रों के पास वर्साई-सन्धि के मुताबिक राइनलैण्ड पहले से ही था। जनवरी १९२३ में फ्रांस और बेलजियम ने एक और हिस्से पर कब्ज़ा कर लिया (इंग्लैण्ड ने इस काम में शरीक होने से इन्कार कर दिया)। यह रूर प्रदेश राइनलैंड के पास ही है और इसमें बहुत अच्छी-अच्छी कोयले की खानें और कारखाने हैं। फ्रांसीसी चाहते थे कि कोयला वगैरा जो माल वहाँ पैदा होता है उसपर कब्ज़ा करके वे अपनी रकम अदा कर लें। लेकिन इसमें एक कठिनाई आगई। जर्मन सरकार ने फ्रांस के इस कब्ज़े का विरोध निष्क्रिय प्रतिरोध या सत्याग्रह के ज़रिये करने का फैसला किया, और उसने रूर के खान-मालिकों और मजदूरों से कह दिया कि वे काम बन्द करदें और फ्रांसीसियों को किसी तरह भी मदद न दें। उसने खान-मालिकों और कारखाने-दारों को उनके किये गये नुकसान के एवज़ में लाखों मार्क भी दिये। नौ या दस महीनों के बाद, जिनमें फ्रांस और जर्मनी दोनों को बहुत खर्च उठाने पड़े, जर्मन सरकार ने निष्क्रिय प्रतिरोध हटा लिया और उस प्रदेश में खानों और कारखानों के चलाने में फ्रांस से सहयोग करना शुरू कर दिया। १९२५ में फ्रेञ्च और बेलजियनों ने रूर को छोड़ दिया।

रूर में जर्मनी का निष्क्रिय प्रतिरोध टूट गया, लेकिन उसने ज़ाहिर कर दिया कि मुआवजे के सवाल पर फिर से गौर होना चाहिए और किस्तों की रकम ज्यादा समझदारी से मुकर्रर की जानी चाहिए। इसलिए एक के बाद एक जल्दी-जल्दी कई कान्फ्रेन्सें हुईं और कमीशन मुकर्रर हुए, और एक के बाद एक कई योजनायें निकाली गईं। १९२४ में डाज़-योजना बनी, और पाँच साल बाद १९२९ में यग-योजना बनी, और तीन साल बाद १९३२ में सभीने यह मान लिया कि और किस्तें नहीं दी जा सकती हैं, और उसका ख़याल ही छोड़ दिया गया।

१९२४ के बाद इन कुछ वर्षों तक जर्मनी ने मुआवजे की बाकायदा किस्तें अदा कीं। लेकिन जब जर्मनी के पास धन नहीं था और वह दीवालिया-सा हो रहा था, तो यह बात किस तरह हो सकी? यह अदायगियां अमेरिका से उधार लेकर की गईं। मित्र-राष्ट्रों (इंग्लैण्ड, फ्रान्स, इटली वगैरा) को अमेरिका को रुपया देना था जोकि उन्होंने महायुद्ध के ज़माने में उधार लिया था; और जर्मनी को मुआवज़े की

हैं, बल्कि शस्त्रास्त्रो के लिए कुछ छोटे मुल्को को कर्जा भी देते जा रहे है। अगर योरप के इन देशो के पास शस्त्रास्त्रो के लिए इतना रुपया है, तो अमेरिका उनसे अपना कर्जा क्यो छोडे ? अगर वह अपना कर्जा छोड भी दे, तो शायद वह रकम भी शस्त्रास्त्रो पर खर्च करदी जायगी। अमेरिका की यही दलीले थी, और वह अपने कर्जो का दावा करता ही रहा। इस सवाल का अबतक कोई फैसला नहीं हुआ है और मेरे लिखते वक्त इसपर दसवी या बीसवी बार बहस हो रही है।

मुआवजे की तरह ही महायुद्ध के कर्जो का किसी तरह चुकाया जाना भी काफी मुश्किल था। अन्तर्राष्ट्रीय कर्जे या तो सोने की शक्ल में, या माल की शक्ल में, या किसी कार्य (जैसे खुश्की या समुद्री मार्ग से माल लाने-लेजाने आदि) की शक्ल में चुकाये जा सकते है। इतनी बडी रकमो को सोने की शक्ल में देना नामुमकिन था, क्योकि इतना सोना मिल ही नही सकता था। और माल या कार्य की शक्ल में अदायगी करना भी, मुआवजे और कर्जे दोनो के ही लिए, करीब-करीब नामुमकिन था। क्योकि अमेरिका ने और योरप के देशो ने आयात-निर्यात करो की ऊँची-ऊँची दीवारें खडी करदी थी, जिनसे कि विदेशी माल का आना बन्द होगया था। इससे एक असम्भव परिस्थिति पैदा होगई और यही असली कठिनाई थी। फिर भी कोई देश आयात-निर्यात करो की बाधायें कम करने को या कर्जे की रकम के बदले माल लेने को तैयार न था, क्योकि इससे देश के उद्योग-धन्धों को नुकसान होने की सम्भावना थी। यह एक अजीब और दु:खदाई चक्कर था।

सिर्फ योरप महाद्वीप ही सयुक्तराष्ट्र अमेरिका का कर्जदार नही था। अमेरिका के बैंकरो और व्यापारियो ने कनाडा और लैटिन अमेरिका (यानी दक्षिणी और मध्य अमेरिका और मैक्सिको) में बहुत बडी-बडी पूंजी लगा रक्खी थी। ये लैटिन अमेरिकन देश महायुद्ध के दर्मियान आधुनिक कारखानो और मशीनो की शक्ति से बडे प्रभावित हुए थे। इसलिए उन्होने कारखानो की तरक्की पर सारा ध्यान लगा दिया, और धन तो, जो कि संयुक्तराष्ट्र अमेरिका मे बहुत भरा पडा था, उत्तर दिशा से बहता हुआ चला आया। उन्होने इतना कर्ज ले लिया कि वे उसका सूद भी नही चुका सकते थे ! हर जगह डिक्टेटर पैदा होगये और जबतक कर्जा मिलता गया तबतक तो सब मामला ठीक चलता रहा—उसी तरह, जिस तरह कि जबतक अमेरिका जर्मनी को रुपया देता गया तबतक सब मामला ठीक चलता रहा। और योरप की ही तरह जब लैटिन अमेरिका को भी कर्जा मिलना बन्द होगया तो वहाँ भी सारा ढाँचा टूट गया।

अमेरिका की बचाई हुई पूंजी का और लैटिन अमेरिका में उसका परिमाण कितनी जल्दी-जल्दी बढ़ता गया, इसका कुछ अनुमान कराने के लिए मै तुम्हे दो आँकडे बताता

होने पर कुछ देशो पर फ्रास का कर्जा होगया था, कई पर इंग्लैण्ड का कर्जा होगया था, और सारे मित्र-राष्ट्रो पर अमेरिका का बडा भारी कर्जा होगया था। अमेरिका ही एक ऐसा देश था जिसपर दूसरे किसीका ऋण न था। उस वक्त वह एक बडा भारी साहूकार देश बन गया था। वह इग्लैण्ड के पुराने स्थान पर पहुँच गया, और ससार का साहूकार बन गया। कुछ आँकडे देने से यह बात और भी साफ होजायगी। महायुद्ध के पहले अमेरिका एक ऋणी देश था, उसपर दूसरे देशो का ३ अरब डालर कर्जा था,महायुद्ध के समाप्त होने के वक्त तक यह कर्जा मिट गया था, और इसके बजाय अमेरिका ने ही बहुत बडी-बडी रकमें उधार दे दी थी। १९२६ में अमेरिका ऋण-दाता देश होगया, और उसका दिया हुआ कर्जा २५ अरब डालर तक पहुँच गया।

युद्ध के ये कर्ज कर्जदार मुल्को—इग्लैण्ड, फ्रान्स, इटली वगैरा—पर बहुत ज्यादा बोझ-से थे, क्योकि ये सब सरकारी कर्जे थे, जिनके लिए सरकारे जिम्मेदार थी। उन्होने अमेरिका से खास रियायती शर्तें प्राप्त करने की कोशिश की, और उन्हे कुछ सहूलियते मिल भी गई, लेकिन फिर भी बोझ तो बना ही रहा। जबतक जर्मनी मुआवजे की रकमें देता रहा, तबतक तो ये कर्जदार मुल्क अमेरिका को वही रकमें (जो असल में अमेरिका का दिया हुआ कर्ज ही था) तब्दील करके देते रहे। लेकिन जब मुआवजे मिलना अनियमित होगया या बन्द होगया, तो कर्जा चुकाना मुश्किल होगया। योरप के कर्जदार देशो ने कोशिश की कि मुआवजे और युद्ध के कर्जो का ताल्लुक कायम कर दिया जाय। उन्होने कहा कि दोनो बातो पर साथ-साथ विचार किया जाना चाहिए, और अगर यह बन्द हो जाता है तो वह भी अपनेआप बन्द होजाना चाहिए, लेकिन अमेरिका ने इन दोनो बातो को एक मानने से इन्कार कर दिया। उसने कहा कि मैंने तो रुपया दिया है, मुझे अपना वह रुपया मिलना चाहिए, और इससे मुझे कोई मतलब नहीं कि जर्मनी से मुआवजा मिलता है या नही, जिसका कि आधार ही दूसरा है। योरप में अमेरिका के इस रुख पर बडी नाराजगी जाहिर की गई और उसे बहुत बुरा-भला कहा गया। कहा कि वह शायलाक जैसा लोभी बनिया है, कि जिसने अपने कर्जदार का पूरा एक पौंड मास काटकर लेने का हठ किया था। खासकर फ्रान्स में यह कहा गया कि यह युद्ध सबके साझे का काम था, जिसके लिए कि कर्जा लिया गया था, इसलिए कर्जे को साधारण ऋण के समान न समझना चाहिए। और दूसरी तरफ अमेरिकन लोगो में महायुद्ध के बाद योरप में होनेवाले झगडो और साजिशो से बडी नफरत पैदा होगई थी। उन्होने देखा कि अब भी फ्रान्स और इंग्लैण्ड और इटली अपनी-अपनी फौजो और नौसेनाओ पर भारी-भारी रकमें खर्च करते जा रहे

उन्नीस सौ बीस के बाद के दस वर्षों की अमेरिकन सम्पन्नता के आंकड़े मैंने इसलिए दिये हैं कि तुम्हें मालूम हो जाय कि आजकल की औद्योगिक सभ्यता ने एक देश को हिन्दुस्तान और चीन जैसे पिछड़े हुए अनौद्योगिक देशों के मुकाबिले में कितना ज्यादा मालदार बना दिया, और तुम यह भी देख लो कि इस सम्पन्नता के मुकाबिले में अमेरिका में बाद का संकट और सर्वनाश कितना बड़ा आया, जिसका कि मैं आगे बयान करूंगा ।

संकट-काल तो बाद में आया । और १९२९ तक तो यही दिखाई दिया कि योरप और एशिया जिन बुराइयों में फंस गये हैं उनसे अमेरिका बचा हुआ है । हारी हुई ताकतों का हाल खराब था । मैंने तुम्हें जर्मनी की तकलीफों का कुछ हाल बता ही दिया है । मध्य-योरप के ज्यादातर छोटे देश, खास तौर पर आस्ट्रिया, तो और भी बुरी दशा में थे । आस्ट्रिया को भी 'इन्फ्लेशन' की मुसीबतें उठानी पड़ीं, और पोलैण्ड को भी । फिर इन दोनों को ही अपनी करेंसी या मुद्रा-प्रणाली बदलनी पड़ी ।

लेकिन ये मुसीबतें सिर्फ हारे हुए देशों तक ही महदूद नहीं थीं, बल्कि जीतने वाले देशों पर भी धीरे-धीरे आगईं । यह बात हमेशा मानी जाती थी कि कर्ज़दार होना अच्छा नहीं है । अब एक नया और अजीब ही तजुर्बा हुआ, वह यह कि ऋणदाता होना भी अच्छा नहीं है । क्योंकि विजयी शक्तियां, जिनका मुआवजा जर्मनी को चुकाना था, इस मुआवजे के सबब से बड़ी कठिनाइयों में पड़ गईं, और जब उसकी वसूली करने लगीं तो वे और भी ज्यादा मुसीबत में पड़ीं । इस बाबत मैं अगले खत में लिखूंगा ।

: १७३ :

मुद्रा की गड़बड़ी

१६ जून, १९३३

महायुद्ध के बाद के जमाने में एक बड़ी उल्लेखनीय बात मुद्रा यानी सिक्कों, नोटों आदि की गड़बड़ी हुई । महायुद्ध के पहले हर देश में मुद्रा की बहुत कुछ निश्चित कीमत हुआ करती थी । हर मुल्क की अपनी अलग-अलग प्रचलित मुद्रा थी—जैसे हिन्दुस्तान में रुपया, इंग्लैण्ड में पौण्ड, अमेरिका में डालर, फ्रांस में फ्रांक, जर्मनी में मार्क, रूस में रूबल, इटली में लीरा, वगैरा; और इन मुख्तलिफ सिक्कों का भी आपस में एक निश्चित सम्बन्ध होता था । वे एक-दूसरे से अन्तर्राष्ट्रीय 'गोल्ड स्टैण्डर्ड' (स्वर्ण-मान) द्वारा सम्बन्धित थे, यानी हर देश के प्रचलित सिक्के की सोने में एक

हैं। १९२६ में अमेरिका की लगी हुई पूंजी सवा चार अरब डालर थी। तीन साल बाद, १९२९ में, वह साढे पाँच अरब से ज्यादा होगई।

इस तरह महायुद्ध के बाद के इन वर्षो में अमेरिका बेशक सारी दुनिया का साहूकार बन गया। वह धनी था, सम्पन्न था, और दौलत से फटा पडता था। वह सारी दुनिया पर हावी था, और उसके निवासी कुछ-कुछ घृणा के साथ योरप को, और एशिया को तो और भी ज्यादा, बूढा और झगडालू महाद्वीप समझते थे। १९२० से १९२९ तक की जबरदस्त खुशहाली के उन दिनो में अमेरिका के धन की जरा कल्पना करो। १९१२ से १९२७ तक के पद्रह वर्षो में अमेरिका का सारा राष्ट्रीय धन १,८७,२३,९०,००,००० डालर से बढकर ४,००,००,००,००,००० डालर होगया। १९२७ में उसकी आबादी ११७० लाख के करीब थी और हर आदमी पर ३,४२८ डालर धन का औसत पडता था। प्रगति इतनी तेजी से हुई है कि ये ऑकडे हर साल बदल जाते हैं। एक पिछले खत में, हिन्दुस्तान और दूसरे देशो की राष्ट्रीय आय का मुकाबिला करते हुए, मैंने अमेरिका का आँकडा बहुत नीचा दिया था। वह ऑकड़ा सालाना आमदनी का था, न कि धन का, और शायद वह किसी पिछले साल का था। १९२७ का आँकडा जो ऊपर दिया गया है, वह अमेरिका के प्रेसीडेण्ट कूलिज के नवम्बर १९२६ के एक वक्तव्य पर से लिया गया है।

कुछ और ऑकडे भी तुम्हे दिलचस्प मालूम होगे। वे सब १९२७ के हैं। सयुक्तराष्ट्र अमेरिका में कुटुम्बो की तादाद २७० लाख थी। उनकी मिल्कियत में १,५९,२३,००० बिजलीदार मकान थे, और १,७७,८०,००० टेलीफोन व्यवहार में आते थे। १,९२,३७,१७१ मोटर-कारे चलती थी, और यह तादाद सारी दुनिया की तादाद का ८१ फीसदी थी। अमेरिका ने सारे ससार की ८७ फीसदी मोटर-गाड़ियाँ बनाईं, दुनिया का ७१ फीसदी पेट्रोलियम तैयार किया, और दुनिया का ४३ फीसदी कोयला निकाला। इसपर भी उसकी आबादी ससार की आबादी की ६ फीसदी ही थी। इस तरह आम रहन-सहन का दर्जा बहुत ऊँचा था, और फिर भी जितना ऊँचा होना मुमकिन था उतना नहीं था, क्योकि धन तो कुछ ही अरबपतियो और खरबपतियो के हाथो में केन्द्रित था। ये 'बडे-बडे व्यापारी' (Big Business) ही सारी दुनिया पर हुकूमत करते थे। उन्हींकी मर्जी से प्रेसीडेण्ट यानी राष्ट्रपति चुना जाता था, वे ही कानूनो के बनानेवाले थे, और अक्सर वही कानूनो को तोडा भी करते थे। इन बडे व्यापारियो में बडी भयकर रिश्वतखोरी जारी थी, लेकिन अमेरिका में जबतक आम तौर पर सम्पन्नता या खुशहाली रही तबतक उन्होने इसकी कोई परवा नहीं की।

आई। क्योंकि औद्योगिक तरक्की का अर्थ था बहुत ही पेचीदा और नाज़ुक अन्तर्राष्ट्रीय ढाँचा। ज़ाहिर है कि तिब्बत जैसे पिछड़े हुए और दुनिया से अलग रहनेवाले देश पर तो मार्क या पौण्ड के उतार-चढ़ाव का कोई असर न होगा, लेकिन डालर की कीमत के गिरनें से जापान में फौरन गड़बड़ी पड़ जायगी।

इसके अलावा, हर औद्योगिक देश में हरेक वर्ग के हित जुदा-जुदा थे। इस तरह, कुछ वर्ग तो सस्ती मुद्रा और इन्फ्लेशन (हाँ, जर्मनी की तरह इनफ्लेशन नहीं) चाहते थे, लेकिन कुछ वर्ग इससे बिलकुल उलटी बात, डिफ्लेशन यानी मुद्रा का ऊँचा स्वर्ण-मूल्य चाहते थे। मसलन, ऋणदाता बैंकर वगैरा इस राय के थे कि मुद्रा की कीमत ऊँची रहे, क्योंकि उन्हें लोगो से धन लेना था, और ऋणी लोग कुदरती तौर पर यह चाहते थे कि कर्ज़े चुकाने के लिए मुद्रा सस्ती रहे। कारख़ानेंदार और माल तैयार करनेवाले सस्ती मुद्रा के तरफदार थे। क्योंकि वह आम तौर पर बैंकरो के कर्ज़दार थे, और उससे भी बड़ा कारण यह था कि इससे विदेश में उनके माल बिकनें में मदद मिलती थी। अगर ब्रिटेन में मुद्रा सस्ती हो तो, इसका मतलब यह होगा कि विदेशियों में ब्रिटिश माल की क़ीमत जर्मन या अमेरिकन या दूसरे देशो के माल से कम होगी और इससे ब्रिटेन के कारख़ानेदारो को फायदा होगा और उनका माल ज्यादा बिकेगा। इस तरह तुम्हें मालूम होगा कि जुदा-जुदा वर्ग अपना-अपना मतलब साधना चाहते थे, और खास रस्साकशी कारखानेंदारों और बैंकरो के बीच में थी। मैं इस बात को ज्यादा-से-ज्यादा आसान बनाकर समझाने की कोशिश कर रहा हूँ। दरअसल, इसमें बहुत-से पेचीदा कारण शामिल थे।

फ़्रान्स और इटली में 'इनफ्लेशन' हुआ, और फ़्रांक और लीरा का भाव गिर गया। पहले एक पाउण्ड स्टर्लिंग के (जो कि ब्रिटिश पौण्ड का नाम है) लगभग २५ फ़्रांक मिला करते थे। फिर भाव के गिरनें से एक पाउण्ड के २७५ फ्रांक तक हो गये। आख़िरकार उसका भाव एक पाउण्ड के १२० फ्रांक के करीब मुकर्रर कर दिया गया।

महायुद्ध के बाद जब अमेरिका ने इंग्लैण्ड की मदद करना बन्द कर दिया, तो पौण्ड की कीमत कुछ गिर गई। उस वक्त इंग्लैण्ड के सामने कठिनाई खड़ी हो गई। क्या उसे मुनासिब था कि वह पाउण्ड की क़ीमत की इस कुदरती गिरावट को मंज़ूर करले, और पौण्ड की यह नई कीमत ही मुकर्रर करदे? इससे माल तो सस्ता होजाता और कारखानो को मदद भी पहुँचती, लेकिन बैंकरों और ऋणदाताओ को नुकसान होता। और इससे भी महत्वपूर्ण बात यह थी कि इससे दुनिया के आर्थिक केन्द्र के रूप में लन्दन की जो स्थिति थी वह मिट जाती। फिर तो इस स्थिति में

निश्चित यानी तयशुदा कीमत होती थी। हर देश की सीमा में उसकी प्रचलित मुद्रा ठीक समझी जाती थी, लेकिन उसके बाहर नही। दो भिन्न-भिन्न प्रचलित मुद्राओ का सम्बन्ध जोडनेवाली चीज थी सोना, और इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन सोने की शक्ल में हुआ करते थे। जबतक कि प्रचलित मुद्राओ का निश्चित स्वर्ण-मूल्य रहा तबतक उनमें ज्यादा फर्क नही पड सका, क्योंकि जहाँतक मूल्य या कीमत का ताल्लुक है वहाँतक सोना एक काफी स्थायी धातु है—यानी ऐसी धातु है जिसमें मूल्य सम्बन्धी उतार-चढाव बहुत कम होता है।

लेकिन महायुद्ध-काल की जरूरियात से मजबूर होकर युद्ध करनेवाली सरकारो को यह स्वर्ण-मान (गोल्ड स्टैण्डर्ड) छोड़ना पड़ा, और इस तरह उन्होंने अपनी प्रचलित मुद्राओ को सस्ता बना दिया। किसी हदतक 'इन्फ्लेशन' भी किया गया। इससे व्यापार चलाने में तो मदद मिली, लेकिन मुख्तलिफ देशो की प्रचलित मुद्राओ या सिक्को के बारे में उलट-फेर जरूर होगया। महायुद्ध के जमाने में दुनिया दो विरोधी पक्षो में बँट गई थी—एक मित्र-राष्ट्रो का पक्ष और दूसरा जर्मन पक्ष; और हर पक्ष के अन्दर आपसी सहयोग और सगठन था, और हरेक बात युद्ध को मद्देनजर रखकर की जाती थी। दिक्कते तो महायुद्ध के बाद पैदा हुईं, और बदलते हुए माली हालात और कौमो के आपसी अविश्वासो का नतीजा यह हुआ कि मुख्तलिफ प्रचलित मुद्राओ में गडबडी पड गई। आजकल की सारी अर्थ-व्यवस्था ज्यादातर साख (क्रेडिट) पर चल रही है। बंक-नोट और चेक दोनो ही वास्तविक धन नही, सिर्फ अदायगी के वादे हैं, लेकिन उन्हे वास्तविक धन के तौर पर मजूर कर लिया जाता है। साख हमारे विश्वास पर कायम है, और अगर विश्वास हट जाता है तो उसके साथ साख (क्रेडिट) भी चली जाती है। पिछले दस-बारह वर्षो में मुद्रा-व्यवस्था में इतनी ज्यादा गडबडी होने का यह भी एक कारण है। क्योंकि योरप की कठिनाई से भरी परिस्थितियो ने सारे विश्वास को हिला दिया है। आज की दुनिया परस्पराधीन भी है, हरेक हिस्से का दूसरे हिस्से से बडा गहरा ताल्लुक है, और हमेशा ही अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ चलती रहती है। इसका मतलब यह है कि एक देश की गडबडी का दूसरे देशो पर फौरन असर पडता है। अगर जर्मनी का मार्क गिरता है, या जर्मन बैंक फेल होजाता है, तो उससे लन्दन और पेरिस और न्यूयार्क के लोग भी कई तरह से गड़बडी में पड जाते हैं।

इन और दूसरे कारणो से, जिन्हे बतलाकर मै तुम्हे हैरान नही करूँगा, करीब-करीब तमाम मुल्को में मुद्रा या धन के बारे में दिक्कते पैदा होगईं, और अक्सर जो मुल्क उद्योग-धन्धो में जितना ज्यादा बढा हुआ था उतनी ही ज्यादा उसपर मुसीबत

महाद्वीप और अमेरिका के बड़े-बडे और ज्यादा अच्छी तरह सगठित गिरोहो का आसानी से मुकाबिला नहीं कर सकता था।

चूंकि कोयले के उद्योग की हालत दिन-ब-दिन गिरती गई, इसलिए खानो के मालिको नें मजदूरो की मजदूरी घटाने का फैसला किया। खानो के मजदूरो ने इसकी सख्त मुखालफत की, और इसमें उन्हे दूसरे उद्योगो के मजदूरो का समर्थन भी प्राप्त होगया। खान-के मजदूरो के वास्ते ब्रिटेन का सारा मजदूर-सगठन लड़ाई लड़ने को तैयार होगया, और एक 'युद्ध-समिति' बन गई। इससे पहले तीन बडे-बडे मजदूर-संघो-—खान मजदूरो, रेलवे मजदूरो और ट्रान्सपोर्ट मजदूरो—के बीच एक मजबूत त्रिगुट या संगठन बना था, जिसमें कि कई लाख सुसंगठित और सीखे हुए मजदूर शामिल थे। मजदूरो के इस तेज रुख से सरकार डर-सी गई, और उसने खान-मालिको को धन की मदद देकर उस संकट को आगे के लिए टाल दिया। यह मदद इसलिए दी गई कि वे एक साल तक पुराने दर से मजदूरो को मजदूरी दे सके। एक जॉच-कमीशन भी मुकर्रर किया गया। लेकिन इस सारी कार्रवाई का भी कोई नतीजा न निकला, और दूसरे साल १९२६ में जब मालिको ने फिर मजदूरी घटानी चाही तो संकट-काल आ खडा हुआ। इस बार सरकार मजदूरो से लड़ने को तैयार थी; क्योकि उसने पिछले महीनो में इसके लिए हर तरह की तैयारी करली थी।

कोयले की खानो के मालिको नें मजदूरों के लिए काम बन्द कर देने का निश्चय किया, क्योकि मजदूरो नें मजदूरी में कमी करना मंजूर नही किया। इससे इंग्लैण्ड में फौरन एक आम हड़ताल होगई, जो कि ट्रेड-यूनियन कॉग्रेस की तरफ से की गई थी। ट्रेड-यूनियन कॉग्रेस की इस आज्ञा का खूब अच्छी तरह पालन किया गया, और देशभर के तमाम संगठित मजदूरो ने काम बन्द कर दिया। देश का करीब-करीब सब काम-काज बन्द होगया। रेले नहीं चलती थीं, अखबार नहीं छपते थे, और बहुत-से दूसरे कार्य बन्द होगये। सरकार ने स्वयंसेवको की मदद से कुछ जरूरी कारोबार जारी रक्खे। आम हड़ताल ठीक आधी रात यानी ३-४ मई १९२६ को शुरू हुई। दस दिन के बाद ट्रेड-यूनियन कांग्रेस के नरम नेताओ नें, जिन्हे इस तरह की क्रान्तिकारी हड़ताल से कोई मुहब्बत न थी, इस बहाने पर अचानक उसे बन्द करवा दिया कि उनसे कोई अनिश्चित-सा वादा कर दिया गया है। खानो के मजदूर मुसीबत में अकेले रह गये, लेकिन फिर भी, डगमगाते हुए भी वे कई महीनो तक अपनी लड़ाई लड़ते रहे। भूख से मजबूर किये जाकर आखिर वे हरा दिये गये। यह एक महत्वपूर्ण हार थी—न सिर्फ खान-मजदूरो के लिए, बल्कि आम तौर पर सभी ब्रिटिश मजदूरो के लिए। कई जगहो पर मजदूरियाँ घटाई गई, कुछ उद्योगो में काम के

न्यूयार्क आजाता, और ऐसा होने पर क़र्ज़ा चाहनेवाले लोग लन्दन के बजाय न्यूयार्क ही जाते। दूसरा रास्ता यह था कि ज़ोर लगाकर पाउण्ड को ही उसकी पहली कीमत पर पहुँचा दिया जाना। इससे पाउण्ड की इज्ज़त भी बढ जाती और लन्दन दुनिया का आर्थिक नेता भी बना रहता। लेकिन उद्योग-धन्धो को नुकसान होता और, जैसा कि हुआ, और भी कई अवाञ्छनीय बातें होतीं।

ब्रिटिश सरकार ने १९२५ में दूसरा मार्ग ही पसन्द किया, और पाउण्ड को चढाकर उसकी पहली कीमत पर कर दिया। इस तरह उसने किसी हद तक अपने उद्योग-धन्धों को अपने बैंकरो के लिए कुर्बान कर दिया। असली सवाल उसके सामने और भी बड़ा था, क्योंकि उससे उसके साम्राज्य के जारी रहने पर ख़ास असर पडता था। अगर लन्दन दुनिया के आर्थिक नेतृत्व को खो देता है, तो साम्राज्य के मुख़्तलिफ हिस्से फिर उसके नेतृत्व या मदद की ख्वाहिश न करेंगे, और धीरे-धीरे साम्राज्य टुकडे-टुकडे और तबाह होजायगा। इसलिए यह सवाल साम्राज्य की नीति का सवाल बन गया, और ब्रिटेन के कारखानो और उस वक़्त के अन्दरूनी हितो की कुर्बानी करके भी इस व्यापक साम्राज्यवाद की ही जीत हुई। तुम्हें याद होगा कि इसी तरह साम्राज्य-सम्बन्धी कारणो से ही महायुद्ध के बाद लंकाशायर और ब्रिटिश कारख़ानों को कुछ नुक्सान पहुँचाकर भी ब्रिटेन ने हिन्दुस्तान में बडे-बडे कल-कारख़ानों और उद्योग-धन्धो को बढ़ाने का विचार किया था।

इस तरह ब्रिटेन ने अपना नेतृत्व और साम्राज्य बनाये रखने के लिए एक ज़बरदस्त कोशिश की, लेकिन यह कोशिश बडी महँगी पडी और उसका नाकामयाब होना लाज़िमी था। ब्रिटिश सरकार या कोई भी दूसरी सरकार आर्थिक व्यवस्था की अनिवार्य भावी घटनाओ पर काबू नहीं रख सकती थी। अत. कुछ वक़्त के लिए तो पाउण्ड ने अपना पुराना दबदबा फिर हासिल कर लिया, लेकिन इससे उद्योग-धन्धे धीरे-धीरे बिगड़ने लगे। बेकारी बढने लगी, और ख़ासकर कोयले के धन्धे में तो बडी कठिनाई आई। इसकी ख़ास वजह थी पौण्ड का डिफ्लेशन (जोकि उसका स्वर्ण-मूल्य बढाने का नाम था)। कुछ दूसरे कारण भी थे। मुआवज़े की अदायगी में जर्मनी का कुछ कोयला भी ले लिया गया था, और इसका मतलब यह था कि ब्रिटेन के कोयले की जरूरत कम होगई, जिसका नतीजा यह हुआ कि कोयले की खानो में ज्यादा बेकारी होगई। इस तरह ऋणदाता और विजयी देशो ने भी महसूस कर लिया कि हारे हुए देश से इस तरह का ख़िराज हासिल करना भी कोई बिलकुल सुख-ही-सुख की बात नहीं है। ब्रिटेन के कोयले के उद्योग की व्यवस्था भी बहुत खराब थी। यह उद्योग सैकडो छोटी-छोटी कम्पनियो में बँटा हुआ था, और योरप

अब खत्म ही होना चाहता है, दोष है। वे रूस की मिसाल देकर कहा करते थे कि हालाँकि वहाँ बहुत-सी दूसरी गड़बडी और तकलीफ़ें हैं, लेकिन बेकारी नहीं है।

ये सवाल कुछ पेचीदा है, और इन इनसानी मुसीबतो की दवा क्या है, इस बाबत डाक्टरो और पण्डितो की भी जुदा-जुदा रायें है। फिर भी हम उनपर गौर तो करेंगे ही और उनकी कुछ ख़ास विशेषताओ की जाँच भी करेंगे।

आजकल की सारी दुनिया एक ही सम्पूर्ण इकाई बनती जा रही है, और बहुत हद तक बन भी चुकी है। इसका मतलब यह है कि जीवन, प्रवृत्तियाँ, उत्पत्ति, विभाजन, खपत वगैरा सभी अन्तर्राष्ट्रीय और संसार-व्यापी बन रहे है और यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। व्यापार, उद्योग-धधे, मुद्रा-प्रणाली भी ज्यादातर अन्तर्राष्ट्रीय हो रही है। मुख्तलिफ मुल्को में गहरे नजदीकी ताल्लुकात है, वे एक-दूसरे पर निर्भर है, और एक देश की घटना का दूसरे देश पर असर पडता है। इस सारी अन्तर्राष्ट्रीयता के होते हुए भी, सरकारे और उनकी नीतियाँ अब भी संकुचित रूप से राष्ट्रीय ही है। बल्कि महायुद्ध के बाद के वर्षो में यह सकुचित राष्ट्रीयता और भी ख़राब और उग्र होगई है, और वही आज दुनिया में सबसे ज़बरदस्त चीज़ बन गई है। नतीजा यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ और सरकारो की राष्ट्रीय नीतियो के बीच संघर्ष चलता रहता है। ससार की अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियो को तुम एक ऐसी नदी मान लो, जो समुद्र की तरफ बहती हुई जा रही है, और राष्ट्रीय नीतियाँ मानो उस नदी को रोकने, बाँधने, दिशा बदलने और उलटा बहाने तक की कोशिशो के समान है। जाहिर है कि नदी उलटी नही बहाई जा सकती, और न रुक ही सकती है। लेकिन मुमकिन है कि कही-कही उसके रुख में थोडी-सी तब्दीली हो सके, या बाँध भर जाय और उसके ऊपर से पानी बहने लगे। इस तरह आजकल की यह राष्ट्रीयता नदी के नियमित बहाव में बाधा डाल रही है, और कहीं बाढ़ें पैदा कर रही है, कही नदी-प्रवाह से झीलें बना रही है, और कही सड़नेवाली तलैया पैदा कर रही है, लेकिन वह नदी की आखिरी मंजिल को कभी रोक न सकेगी।

इस तरह व्यापार और आर्थिक क्षेत्र में 'आर्थिक राष्ट्रीयता' कही जानेवाली चीज़ पैदा होगई है। इसका मतलब यह है कि हरेक देश को जितना माल वह ख़रीदे उससे ज्यादा बेचना चाहिए, और जितना माल वह ख़ुद खपा सके उससे ज्यादा पैदा करना चाहिए। हरेक मुल्क अपना माल बेचना चाहता है, लेकिन ख़रीदेगा कौन ? बिक्री के लिए जरूरी है कि एक बेचनेवाला हो और एक ख़रीदनेवाला हो। ऐसी दुनिया हो ही नही सकती जिसमें सिर्फ बेचनेवाले ही हो। लेकिन आर्थिक राष्ट्रीयता का आधार यही है। हर मुल्क आयात-निर्यात करो की दीवारे यानी आर्थिक बाधायें खडी करता है, जिससे

घण्टे बढाये गये, और मजदूरो की रहन-सहन का दर्जा नीचे गिर गया। सरकार ने अपनी जीत का फायदा उठाया, और मजदूरो को कमजोर करने के लिए और खासकर भविष्य में कोई भी आम हड़ताल न होने देने के लिए नये कानून बना दिये। १९२६ की यह आम हडताल इसलिए नाकामयाब हुई कि मजदूरो के नेताओ में अनिश्चितता और कमजोरी थी, और वे उसके लिए तैयार न थे। असल में उनका सारा मकसद उसको टालना ही था, और जब वे ऐसा न कर सके तो उन्होंने पहला मौका हाथ आते ही उसे खत्म कर दिया। दूसरी तरफ सरकार पूरी तरह तैयार थी और उसे मध्यम वर्गो का सहयोग भी प्राप्त हुआ।

इग्लैण्ड की आम हडताल और कोयले के उद्योगो की लम्बी काम-बन्दी से सोवियट रूस में बडी दिलचस्पी पैदा होगई थी, और रूस की ट्रेड-यूनियनो ने बहुत बडी-बडी रकमें, जो कि रूस के मजदूरो ने चन्दा करके इकट्ठा की थीं, इंग्लैण्ड के खान-मजदूरो की मदद के लिए भेजी।

उस वक्त के लिए तो इंग्लैण्ड मे मजदूर दबा दिये गये, लेकिन किसी उद्योग की गिरावट और बेकारी की बढ़ती का यह कोई हल न था। बेकारी से मजदूरों में आम तौर पर मुसीबत आई, इससे राज्य पर भी एक बड़ा बोझ होगया, क्योकि कई देशो में वेकारी का बीमा करने का एक तरीका पैदा हो चुका था। यह मान लिया गया था कि राज्य का फर्ज है कि वह ऐसे मजदूरो का भरण-पोषण करे जो बगैर अपने किसी कसूर के बेकार हो। सरकार के पास नाम दर्ज करानेवाले ऐसे बेकारो को कुछ मदद दी जाती थी, जिसे 'डोल' कहते थे। इस कारण सरकार और स्थानीय संस्थाओ को बडी-बडी रकमें खर्च करनी पड़ती थी।

यह सब क्यो होरहा था? उद्योग-धंधे क्यो गिरते जा रहे थे? व्यापार क्यो कम हो रहा था? बेकारी क्यो बढ़ रही थी? सिर्फ इंग्लैंड में ही नहीं बल्कि करीब-करीब सभी मुल्को में हालत क्यो खराब होती जा रही थी? राजनीतिज्ञ और शासक लोगो ने हालत सुधारने की जाहिरा खूब इच्छा की, कान्फ्रेन्स पर कान्फ्रेंसें की गई, लेकिन उन्हे कोई कामयाबी न मिली। यह बात नहीं थी कि भूकम्प या बाढ़ या अनावृष्टि जैसी कोई कुदरती मुसीबत आगई हो, जिससे कि अकाल और तकलीफें पैदा होगई हों। दुनिया बहुत-कुछ पहले की ही तरह चल रही थी। असल में भोजन और कारखाने और हर तरह के जरूरी पदार्थ पहले से मिकदार और तादाद में ज्यादा ही होगये थे, फिर भी मानव जाति के कष्ट बढ़ गये। जाहिर था कि कोई-न-कोई बुनियादी खराबी होगई है, जिससे कि यह उलटा नतीजा निकला। समाज में कहीं-न-कही भयंकर कुप्रबन्ध मौजूद था। समाजवादियो और साम्यवादियो ने बताया कि यह सब पूंजीवाद का ही, जो कि

उनका नुक़सान होता है। यह भी इस बात की एक वजह है कि क्यों आयात-निर्यात कर एकबार शुरू होजाने पर बने ही रहते हैं, और क्यों आर्थिक राष्ट्रीयता दुनिया में चल रही है, हालांकि ज्यादातर लोग मान चुके हैं कि इससे सबका नुकसान है। स्थापित स्वार्थों के एक बार पैदा होजाने पर उनका ख़ात्मा करना आसान नहीं है, और किसी अकेले राष्ट्र का ऐसे मामले में आगे बढ़ना तो और भी कम आसान है। अगर सभी देश एकसाथ मिलकर आयात-निर्यात करों को ख़त्म करदें या बहुत हद तक घटा दें, तो शायद ऐसा हो भी सके। इसमें भी कठिनाइयाँ होंगी। ऐसा करने से औद्योगिक रूप से पिछड़े हुए देशों को नुकसान पहुँचेगा, क्योंकि वे उन्नत देशों का बराबरी के आधार पर मुकाबिला नहीं कर सकेंगे। नये उद्योग-धंधे तो अक्सर संरक्षणात्मक कर के साये में ही खड़े होते हैं।

आर्थिक राष्ट्रीयता से राष्ट्रों में आपसी व्यापार कम होता है और रुकता है। इस तरह संसार-व्यापी बाज़ार के खुलने में हानि होती है। हर राष्ट्र एकाधिकार का क्षेत्र बन जाता है, और उसका बाज़ार संरक्षित होजाता है; यानी खुला बाज़ार नहीं रह पाता। हर राष्ट्र के अन्दर भी एकाधिकार (मोनोपली) बढ़ जाते हैं, और खुला और उन्मुक्त बाज़ार गायब होने लगता है। बड़े-बड़े ट्रस्ट (व्यापारियों के समूह), बड़ी-बड़ी दूकानें और बड़े-बड़े कारखाने छोटे उत्पादकों और दूकानदारों को निगल जाते हैं, और इस तरह प्रतियोगिता को ही ख़त्म कर देते हैं। अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी, जापान और दूसरे औद्योगिक देशों में ये राष्ट्रीय एकाधिकार रखनेवाले ट्रस्ट या कम्पनियाँ भयंकर गति से बढ़ गई हैं, और इस तरह ताकत थोड़े-से ही लोगों के हाथों में जमा होगई है। पेट्रोल, साबुन, रासायनिक चीज़ें, शस्त्रास्त्र, लोहा, बैंकिंग, और दूसरी भी अनेक वस्तुओं में एकाधिकार क़ायम होगये हैं। इस सबका एक अजीब नतीजा होता है। वह विज्ञान की तरक़्क़ी और पूंजीवाद की बढ़ती का अनिवार्य यानी कुदरती नतीजा है, लेकिन वह इस पूंजीवाद की जड़ को ही काटता है। क्योंकि पूंजीवाद संसार-व्यापी बाज़ार और खुले बाज़ार के साथ ही शुरू हुआ था। प्रतियोगिता ही पूंजीवाद की जान थी। अगर संसार-व्यापी बाज़ार मिट जाता है और राष्ट्रीय सीमाओं के अन्दर भी खुले बाज़ार की प्रतियोगिता मिट जाती है तो समाज के इस पुराने पूंजीवादी ढाँचे की बुनियाद ही हट जाती है। यह तो दूसरी बात है कि अब इसकी जगह पर कौन-सी समाज-व्यवस्था आयगी, लेकिन मालूम होता है कि पुरानी समाज-व्यवस्था इन एक-दूसरे की विरोधी प्रवृत्तियों को रखती हुई ज्यादा दिन चल नहीं सकती।

विज्ञान और औद्योगिक प्रगति मौजूदा सामाजिक प्रणाली से बहुत आगे पहुँच चुकी है। वे भोजन और ज़िन्दगी की अच्छी चीज़ें बहुत ज्यादा पैदा करती हैं और

विदेशी माल न आसके, और साथ ही वह अपना विदेशी व्यापार भी बढ़ाना चाहता है। आयात-निर्यात कर की ये दीवारे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को, जिसके आधार पर आजकल की दुनिया बनी है, रोकती है और मार देती है। जैसे-जैसे व्यापार कम होता जाता है, उद्योग-धंधों को नुकसान होता है और बेकारी बढती है। इसका नतीजा यह होता है कि विदेशी माल को, जिससे स्वदेश के उद्योग-धंधो में रुकावट पड़ने का खयाल किया जाता है, रोकनें के लिए और भी जबरदस्त कोशिश की जाती है, और आयात-निर्यात करो की दीवारें और भी ऊँची कर दी जाती है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को और ज्यादा नुक़सान पहुँचता है और यह दु:खदाई चक्कर चलता रहता है।

आजकल की औद्योगिक दुनिया असल में राष्ट्रीयता के दर्जे से आगे बढ़ चुकी है। माल की उत्पत्ति और विभाजन की सारी प्रणाली सरकारो और देशो के राष्ट्रीय ढाँचो के साथ मेल नही खाती। भीतरी वस्तु अब अपने ऊपरी छिलके से ज्यादा बढ़ने लगी है, और छिलका तडकने लगा है।

इन आयात-निर्यात करो और व्यापारिक बाधाओ से हर देश के सिर्फ कुछ वर्गो को ही असल में फायदा पहुँचता है, लेकिन चूँकि ये वर्ग ही अपने-अपने देशो पर हावी है इसलिए वे ही देश की नीति को बनाया-बिगाड़ा करते है। इसलिए हर देश दूसरे देशो से बढने की कोशिश करता है, और नतीजा यह होता है कि सभीको नुकसान पहुँचता है, और राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धायें और घृणाये यानी कौमी लाग-डाँट और नफ़रत बढती जाती है। आपसी मतभेदो को कान्फ्रेंसे करके मिटाने की बार-बार कोशिशें की जाती है, और जुदा-जुदा देशो के प्रतिनिधि ऊँची-से-ऊँची सदिच्छा प्रकट करते है, लेकिन कामयाबी उनके पास तक भी नही फटकती। क्या इससे तुम्हे हिन्दुस्तान के साम्प्रदायिक सवाल यानी हिन्दू-मुस्लिम-सिख समस्याओ को हल करने की कोशिशो की याद नहीं आती? शायद दोनो ही मामलो में नाकामयाबी का कारण यह है कि धारणायें गलत बनाली गई है, हेतु गलत समझे गये है, और साथ ही उद्देश्य भी गलत रक्खे जाते है।

जो वर्ग इन आयात-निर्यात करो से और आर्थिक राष्ट्रीयता को बढ़ानेवाले दूसरे तरीको से—मसलन राज्य की तरफ से विशेष आर्थिक सहायता, रेल-किराये की ख़ास दरो वगैरा से—फायदा उठाते है वे मिल्कियतदार और कारखानेदार वर्ग ही है, जिन्हे कि संरक्षण-प्राप्त स्वदेशी बाजारो से लाभ होता है। इस तरह सरक्षण और आयात-निर्यात करो के साये में स्थापित स्वार्थ निर्मित होजाते है, और सभी स्थापित स्वार्थो की तरह वे भी बडे जोर के साथ हर ऐसी तब्दीली की मुख़ालिफ़त करते है जिनसे

दिखलाकर कि अदृष्ट शक्तियों से उनका सम्बन्ध है, अपनी इच्छा के मुताबिक अज्ञान जनता को चलाया करते थे। आजकल धर्माधीशों की ताकत बहुत कम होगई है, और औद्योगिक देशो में तो करीब-करीब बिलकुल ही नहीं रही। धर्माधीशो की जगह अब विशेषज्ञ, अर्थशास्त्री और बैंकर और ऐसे ही दूसरे लोग पैदा होगये हैं, जो गूढ़ भाषा में, जिसमें ज्यादातर शब्द पारिभाषिक होते हैं, बात करते हैं, जिसे मामूली लोगो का समझना मुश्किल होता है। इस तरह औसत आदमी को इन सवालो को तय करने का काम इन विशेषज्ञो पर छोड़ देना पड़ता है। लेकिन विशेषज्ञ लोग, जान में या अनजान में, शासकवर्गो के ही साथ जुड़ जाते है, और उनके ही हितो को फायदा पहुँचाते है। फिर विशेषज्ञो में मतभेद भी होता है।

इसलिए यह अच्छा है कि हम सब इन आर्थिक सवालों को, जो आजकल राजनीति और दूसरी भी सारी बातों पर हावी मालूम होते हैं, कुछ-कुछ समझ लेने की कोशिश करे। इन्सान को कई तरह से वर्गो और श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। एक बँटवारा इस तरह भी हो सकता है कि इन्सान दो श्रेणी के है: एक तो जमाने की लहर के साथ बहनेवाले, जिनकी अपनी कोई इच्छा-शक्ति नहीं होती और जो पानी की सतह पर पडे हुए तिनके की तरह अपनेआपको इधर-उधर बह जाने देते हैं, और दूसरे वे लोग जो जिन्दगी में जोरदार अभिनय करते है और परिस्थिति पर असर डालते है। दूसरे वर्ग के लोगो के लिए ज्ञान और समझ जरूरी है; क्योकि कोई भी कारगर काम इनके आधार पर ही हो सकता है। सिर्फ सद्भावना या सदिच्छाओ से ही काम नही चल सकता। जब कभी कोई कुदरती मुसीबत या महामारी या सूखा पड़ जाता है या और कोई भी कष्ट आजाता है तो सिर्फ हिन्दुस्तान में ही नही बल्कि योरप में भी अक्सर देखा जाता है कि लोग कष्ट दूर करने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते है। अगर ईश्वर की प्रार्थना से उनकी आत्मा को तसल्ली मिलती है और विश्वास और हिम्मत पैदा होती है तो वह अच्छी चीज है और उसपर किसीको एतराज करने की जरूरत नहीं। लेकिन प्रार्थना से महामारी मिट जायगी, इस ख़याल के बदले अब यह वैज्ञानिक विचार पैदा होता जा रहा है कि बीमारियो के मूल कारणो को सफाई और दूसरे तरीको से दूर करना चाहिए। अगर कारख़ाने की मशीनो में कोई टूट-फूट होजाय, या गाडी के टायर में सूराख़ होजाय, तो ऐसा नहीं देखा जायगा कि लोग बैठे रहे या प्रार्थना करते रहे और सिर्फ आशा, सदिच्छा या प्रार्थना करते रहे, कि वह टूट-फूट अपने-आप दुरुस्त हो जाय, या सूराख़ खुद जुड़ जाय। वे काम करना और मशीन और टायर को सुधारना शुरू कर देते है, और फ़ौरन ही मशीन फिर चलने लगती है और गाडी सड़क पर दौड़ने लगती है।

पूंजीवाद यह नही जानता कि इन चीजो का क्या उपयोग किया जाय ! बल्कि वह अक्सर इन चीजो को बर्बाद करने या उनकी उत्पत्ति कम करने लगता है। और इस तरह हम यह असाधारण दृश्य देखते हैं कि प्रचुरता और दरिद्रता यानी खुशहाली और गरीबी साथ-ही-साथ मौजूद हैं। अगर आधुनिक विज्ञान और उत्पत्ति के साधनो के लायक यह पूंजीवाद नही है, तो कोई दूसरा तरीका ढूंढ़ना होगा जो विज्ञान के ज्यादा अनुकूल हो। वरना, दूसरा रास्ता यह है कि विज्ञान का ही गला घोट दिया जाय और उसे आगे बढने से रोक दिया जाय। लेकिन ऐसा करना तो बेवकूफी होगी, और, कुछ भी हो, उसका तो खयाल करना ही मुश्किल है।

जब आर्थिक राष्ट्रीयता मौजूद है, जब एकाधिकारो और क़ौमी लाग-डाट की बढती हो रही है, और जब दम तोडते हुए पूंजीवाद के दूसरे दोष मौजूद हैं, तो सारी दुनिया में गडबडी मची हो तो इसमें ताज्जुब की बात कौन-सी है ? आजकल का साम्राज्यवाद खुद भी इस पूंजीवाद का एक रूप है, क्योंकि हर साम्राज्यवादी ताकत दूसरी जातियो का खून चूसकर अपने कौमी सवालो को हल करना चाहती है। इससे फिर साम्राज्यवादी ताकतो में लाग-डाट और कशमकश पैदा होती है। आजकल इस उलटी दुनिया में हर बात का नतीजा सघर्ष ही होता है !

मैंने तुम्हे यह बताते हुए इस खत को शुरू किया था कि महायुद्ध के बाद मुद्रा-प्रणाली में अजीब गड़बडी पैदा होगई थी। क्या हम मुद्रा-प्रणाली को दोष दे सकते हैं, जबकि और भी तमाम बातो में बेहद गड़बडी हो गई है ?

: १७४ :

दाँव और घात

१८ जून, १९३३

मेरे पिछले दो खत आर्थिक और मुद्रा-सम्बन्धी सवालो की बाबत थे। ये विषय बडे रहस्यपूर्ण यानी भेद से भरे हुए और समझने में कठिन माने जाते हैं। यह तो सच है कि वे आसान नहीं हैं, और उनपर बहुत ज्यादा गौर करने की जरूरत पड़ती है, लेकिन फिर भी वे बहुत भयकर नहीं हैं और उन विषयो की बाबत रहस्यपूर्णता का वातावरण बन जाने के लिए कुछ हदतक अर्थशास्त्री और विशेषज्ञ लोग भी जिम्मेदार हैं। पुराने जमाने में रहस्यपूर्ण बातो का ठेका धर्माधीशो के पास रहता था, और वे तरह-तरह के कायदो और रस्म-रिवाजो के जरिये, जो अक्सर किसी ऐसी पुरानी जबान में पूरी की जाती थी जिन्हे कोई नही समझता था, और यह

ज्यादा नजर आता था, और फ्रांस विजय की भावना को खास तौर पर जाहिर करता था। कुदरती तौर पर हारे हुए मुल्क सुलहनामो की कई शर्तो से असन्तुष्ट थे, और हालाँकि वे कुछ नहीं कर सकते थे फिर भी भविष्य में तब्दीली के सपने देखा करते थे। आस्ट्रिया और हगरी बडी मुसीबत में थे; उनकी हालत और भी बिगड़ती हुई मालूम होती थी। दूसरी तरफ, युगोस्लेविया सर्बिया का ही बढा हुआ रूप था, और वह कई बेमेल वर्गो और जातियो का एक समूह बन गया था। उसके मुख्तलिफ हिस्सो को एक-दूसरे से ऊब उठने और आपस में जुदा हो जाने की प्रवृत्ति से भर जाने में ज्यादा वक्त न लगा। खासकर क्रोशिया में (जो अब युगोस्लेविया का एक सूबा है) आजादी का एक जोरदार आन्दोलन चल रहा है, और इसे सर्बियन सरकार ने जोर-जबरदस्ती से दबाने की कोशिश की है। पोलैण्ड नकशे पर अब काफी बड़ा होगया है, लेकिन उसके साम्राज्यवादी लोग दक्षिण में काले समुद्र तक फैल जाने के और इस तरह सन् १७७२ की पुरानी पोलिश सरहद फिर से कायम करने के गैरमामूली सपने देखते है। आजकल तो पोलैण्ड में रूसी यूक्रेन का एक हिस्सा भी शामिल है। इसे तरह-तरह के जुल्म, मौत की सजाओ, और बर्बरतापूर्ण दमन के आतक से 'शान्त करने' या 'पोलिश बनाने' की कोशिश कीगई है, और अब भी की जा रही है। ये आग के कुछ छोटे-छोटे-से ढेर है जो पूर्वीय योरप में सुलग रहे है। इनका महत्व इस कारण है कि इस आग के ज्यादा बढ जाने का अन्देशा है।

राजनैतिक रूप में, और उपयोगिता की दृष्टि से भी, महायुद्ध के बाद के जमाने में योरप में फ्रांस ही प्रमुख राष्ट्र होगया था। वह जो कुछ चाहता था, प्रदेश या राज्य के रूप में और मुआवजे के इकरार की शक्ल में उसे ज्यादातर मिल गया था, लेकिन फिर भी वह सुखी न था। एक बडी दहशत हमेशा उसके सिर पर सवार थी, कि कहीं जर्मनी फिर उससे लड़ने लायक मजबूत न बन जाय, और कहीं उसे हरा न दे। इस दहशत का खास सबब यह था कि जर्मनी की आबादी उससे बहुत ज्यादा थी। फ्रांस का मुल्क असल में जर्मनी से बड़ा है, और शायद उपजाऊ भी ज्यादा है। फिर भी फ्रान्स की आबादी ४१० लाख से कम है, और स्थायी-सी है। लेकिन जर्मनी की आबादी ६२० लाख से ज्यादा है, और बढ़ती जा रही है। जर्मन लोग हमलावर और लड़ाकू भी मशहूर हैं और इसी पीढी के सामने वे दो बार फ्रांस पर हमला भी कर चुके हैं।

इसलिए फ्रास पर जर्मनी द्वारा बदला लिये जाने का भय हमेशा सवार रहा, और उसकी सारी नीति की बुनियाद और खास उसूल 'सुरक्षितता' यानी उसने जो कुछ हासिल कर लिया है उसे बनाये और बचाये रखने की सुरक्षितता ही रहा है।

इसी तरह मानवीय और सामाजिक मशीन में भी सदिच्छा के अलावा हमें उसकी अच्छी वाकफियत और उसकी ताकतो का ज्ञान होना चाहिए। यह ज्ञान निश्चित तो प्राय नही होता, क्योकि उसका ताल्लुक मनुष्य की इच्छाओ, आकाक्षाओ, रुचि-अरुचियो और आवश्यकताओ-जैसी अनिश्चित चीजो से होता है, और जब आम लोगो या तमाम समाज या मुख्तलिफ वर्गों के मनुष्यो का हम विचार करते है तो ये चीजें और अनिश्चित होजाती है। लेकिन अध्ययन और अनुभव और निरीक्षण से इस अनिश्चित गिरोह या जमघट में भी धीरे-धीरे व्यवस्था आने लगती है, और ज्ञान बढता है, और उसके साथ अपनी परिस्थिति को बनाने या सम्हालने की हमारी योग्यता भी बढती है।

अब मै महायुद्ध के बाद के इन वर्षो में योरप के राजनैतिक पहलू के बारे में कुछ कहना चाहता हूँ। पहली बात, जो खास तौर पर दिखाई देती है, यह है कि महाद्वीप यानी योरप इन तीन हिस्सो में बँट गया था—महायुद्ध में जीतनेवाले राष्ट्र, महायुद्ध में हारनेवाले राष्ट्र, और सोवियट रूस। नार्वे, स्वीडन, हालैण्ड और स्वीजरलैण्ड-जैसे भी कुछ छोटे-छोटे देश थे जो इन तीनो हिस्सो में से किसीमें भी न आते थे, लेकिन बृहत्तर राजनैतिक दृष्टिकोण से उनका कोई खास महत्त्व नही था। हाँ, सोवियट रूस श्रमिको की सरकार बनाकर अकेला अलग ही था, और विजयी शक्तियो को हमेशा खटकता रहता था। यह खटक सिर्फ इसलिए नही थी कि उसकी शासन-प्रणाली ऐसी थी जिससे कि दूसरे देशो के श्रमिको को क्रान्ति की प्रेरणा मिलती थी, बल्कि इसलिए भी थी कि वह विजयी शक्तियो की पूर्व-देशीय योजनाओ में अडगा डालता था। मैने तुम्हे रूस में विदेशी ताकतो की लड़ाइयो का हाल पहले बताया है, जिनमें कि सन् १९१९ और १९२० में इन विजयी राष्ट्रो में से ज्यादातर राष्ट्रो ने सोवियट शासन को कुचल डालने की कोशिश की थी। फिर भी सोवियट रूस तो जिन्दा ही रहा, और योरप की साम्राज्यवादी ताकतो को उसकी हस्ती बर्दाश्त करनी पडी, लेकिन यह भी किया उन्होने कम-से-कम सदिच्छा या गौरव के साथ ही। खासकर इग्लैण्ड और रूस की पुरानी लाग-डाट, जोकि जारशाही जमाने से चली आ रही थी, फिर भी जारी रही, और उससे कई बार ऐसी सनसनी, अन्देशे और वाक़आत पैदा होजाते थे, जिनसे लडाई छिड़ जाने का डर होजाता था। सोवियट-रूस को विश्वास होगया था कि इग्लैण्ड उसके खिलाफ हमेशा साजिश करता रहता है और योरप में सोवियट-विरोधी सगठन खडा कर रहा है। कई बार लड़ाई का खौफ भी पैदा होजाता था।

पश्चिमी और मध्य योरप में जीते और हारे हुए देशो के बीच का फर्क बहुत

महायुद्ध के बाद के वर्षो में ब्रिटिश साम्राज्य में उसके छिन्न-भिन्न होने की भी कुछ प्रवृत्तियॉ नजर आई। दूसरे खतो में भी मैने इस सवाल के कुछ पहलुओ पर बहस की है। यहॉ मै सिर्फ एक पहलू का जिक्र करूँगा। आस्ट्रेलिया और कनाडा दोनो ही अमेरिका के सांस्कृतिक और आर्थिक प्रभाव में अधिक-अधिक आने लगे थे, और इन तीनो देशो में जो एक सामान्य बात थी वह है---जापानियो से, खासकर जापानियो के अपने देश में बसनें से, नाराजी। आस्ट्रेलिया को तो इससे खास खतरा है, क्योकि उसमें गैर-आबाद जगह बहुत पडी है और जापान दूर नही है और उसकी आबादी भी बहुत बढती जा रही है। न तो इग्लैण्ड के ये दोनो उपनिवेश और न सयुक्तराष्ट्र अमेरिका ही इग्लैण्ड की जापान से दोस्ती पसन्द करते थे। इंग्लैण्ड अमेरिका को खुश रखना चाहता था, क्योकि ऋणदाता की हैसियत से और दूसरी तरह भी अमेरिका दुनिया में प्रमुख होता जाता था, और साथ ही वह अपना साम्राज्य भी जबतक चल सके तबतक चलाये रखना चाहता था। इसलिए उसने १९२२ में वाशिंगटन कान्फरेन्स में जापान की दोस्ती को कुरबान कर दिया। मैने चीन पर जो पिछला खत लिखा था उसमें तुम्हे इस कान्फ्रेंस की बाबत लिखा था। वहीपर चार राष्ट्रो का समझौता (Four Power Agreement) और नौ राष्ट्रो की सन्धि (Nine Power Treaty) हुई थी। इन सन्धियो का चीन और पैसिफिक समुद्र-तट से ताल्लुक था, लेकिन सोवियट रूस को, जिसका इनसे जीवन-मरण का सम्बन्ध था, उसके विरोध करने पर भी बुलाया नही गया।

इस वाशिंगटन कान्फरेन्स से इग्लैण्ड की पूर्वीय नीति में फर्क शुरू होता है। अभीतक तो इंग्लैण्ड 'सुदूर-पूर्व' (Far East) में, और जरूरत हो तो हिन्दुस्तान में भी, जापान से मदद लेनें का भरोसा रखता था। लेकिन अब दुनिया के मामलो में 'सुदूर-पूर्व' एक बड़ा जरूरी हिस्सा बनता जा रहा था, और वहॉ मुख्तलिफ मुल्को के स्वार्थो में कशमकश भी थी। चीन उठ रहा था, या उठता-सा दिखाई देता था, और जापान और अमेरिका एक-दूसरे के ज्यादा खिलाफ होते जा रहे थे। कई लोगो का खयाल था कि अगला महायुद्ध खासकर पैसिफिक (प्रशान्त) महासागर में होगा। जापान और अमेरिका दोनो के बीच में इंग्लैण्ड अमेरिका के पक्ष में ढल गया, बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि उसने जापान का पक्ष छोड़ दिया। उसकी नीति थी बगैर निश्चित इकरार किये हुए ताकतवर और दौलतमन्द अमेरिका से दोस्ती जरूर बनाये रखना। जापानी दोस्ती खत्म कर देनें के बाद इंग्लैण्ड ने 'सुदूर-पूर्व' के भावी संभावित युद्ध के लिए तैयारी शुरू करदी। उसने सिंगापुर में बहुत बडे और खर्चीले 'डाक' बनवाये, और इस मुकाम को जहाजी बेडे का जबरदस्त अड्डा बना दिया। इस जगह से

फ्रास की सैनिक प्रमुखता के ही सब से वे सब देश दबे रहते थे, जो वर्साई की सन्धि से असन्तुष्ट थे, क्योकि इस सन्धि को बनाये रखना फ्रास की सुरक्षितता के लिए जरूरी समझा जाता था। अपनी स्थिति को और भी मजबूत करने के लिए फ्रास ने ऐसे राष्ट्रो का एक गुट बना लिया जो वर्साई-सन्धि को बनाये रखने में दिलचस्पी लेते थे। ये देश थे—बेलजियम, पोलैण्ड, जेकोस्लोवेकिया, रूमानिया और युगोस्लेविया।

इस तरह फ्रास ने योरप में अपना नेतृत्व कायम कर लिया। यह इग्लैण्ड को पसन्द न आया, क्योकि इग्लैण्ड नही चाहता कि उसके सिवा कोई दूसरी ताकत योरप में हावी होजाय। इग्लैण्ड के दिल में अपने दोस्त फ्रास के लिए जो मुहब्बत और मित्रता थी उसमें बडी कमी आगई; इग्लैण्ड के अखबारो में फ्रास को खुदगर्ज और सगदिल कहा जाने लगा, और पुराने दुश्मन जर्मनी के लिए मित्रतापूर्ण शब्द इस्तेमाल किये जाने लगे। इग्लैण्ड के लोग कहने लगे कि इंसान को पुरानी बातो को भूल जाना और माफ कर देना चाहिए, और लडाई के दिनो को याद कर शान्ति के दिनो में वर्ताव नही करना चाहिए। ये कैसी ऊँची भावनायें थी! और अग्रेजी दृष्टिकोण से तो दोहरी प्रससनीय थी, क्योकि ये अग्रेजी नीति से मेल भी खा जाती थी। एक इटैलियन राजनीतिज्ञ काउण्ट स्फोरजा ने कहा है कि "ब्रिटिश जाति को दयालु ईश्वर ने यह महान् वरदान दे रक्खा है कि इग्लैण्ड को जिस बात में कोई राजनैतिक फायदा होता हो, या ब्रिटिश सरकार जो कोई राजनैतिक कार्रवाई करे, उसे सभी वर्ग ऊँचे-से-ऊँचे नैतिक कारणो से उचित सिद्ध करे।"

१९२२ के शुरू से यूरोपियन राजनीति में इग्लैण्ड और फ्रास की कशमकश एक स्थायी चीज होगई है, और वह तबसे चल ही रही है। जाहिरा तौर पर तो दोनो तरफ के लोग आपस में हँसकर मिलते है, शिष्टता के शब्द कहते है, और उनके राजनीतिज्ञ और प्रधानमन्त्री अक्सर मिला करते और साथ-साथ फोटो भी खिचवाते है; लेकिन दोनो सरकारे अक्सर एक-दूसरे से भिन्न दिशाओ में ही जाती है। १९२२ में जब जर्मनी अपनी किस्त की अदायगी न कर सका, तो इग्लैण्ड रूर प्रदेश पर मित्र-राष्ट्रो के दखल करलेने के हक में न था। लेकिन फ्रास ने इग्लैण्ड की परवा न करते हुए अपनी मर्जी के मुताबिक अमल किया। इग्लैण्ड ने इसमें कोई हिस्सा न लिया।

एक और पुराना मित्र फ्रास से अलग होगया, और दोनो देशो में हमेशा कशमकश होने लगी। इसका कारण था १९२२ में मुसोलिनी का सत्ता प्राप्त कर लेना, और उसकी साम्राज्यवादी आकांक्षायें, जिनमें फ्रास बाधा डालता था। मुसोलिनी और फैसिज्म का हाल मैं तुम्हे अपने अगले खत में बताऊँगा।

मान लेने से इन्कार कर दिया। हाँ, उसने यह वादा किया कि इसको बदलवाने के लिए वह सिर्फ शान्तिपूर्ण उपाय ही काम में लायगा। अगर एक भी फरीक समझौते को भग करे तो बाकी सबने मिलकर उसका मुकाबिला करने का इकरार किया।

लोकार्नो की सन्धि अग्रेजी नीति की सफलता थी। इस सन्धि से ब्रिटेन किसी हद तक फ्रास और जर्मनी के बीच पच बन गया, और इससे जर्मनी रूस से भी अलग कर लिया गया। लोकार्नो का खास महत्व इस बात में है कि इसमें पश्चिमी योरप के राष्ट्र एक सोवियट-विरोधी गुट की शक्ल में आगये। इससे रूस भयभीत होगया और कुछ ही महीनो में उसने तुर्की के साथ सन्धि करके इसका जवाब दे दिया। यह रूसी-तुर्की सन्धि दिसम्बर १९२५ में, मोसल के खिलाफ राष्ट्र-सघ द्वारा फैसला होने के, जो कि तुर्की के खिलाफ था, ठीक दो दिन बाद ही हुई। सितम्बर १९२६ में (जब कि हम लोग इत्तफाक से जेनेवा में थे और तुम इकोल इन्टरनेशनल में अपने छोटे-छोटे पैरो से चलकर पहुँच जाया करती थीं) जर्मनी राष्ट्र-संघ में दाखिल होगया। लोग आपस में खूब गले मिले, हाथ मिलाये, और राष्ट्र-सघ के सभी लोगो नें प्रसन्नता की मुस्कराहट से एक-दूसरे को बधाई दी।

इस तरह यूरोपियन राष्ट्रो में, जो अक्सर अपनी आन्तरिक नीतियो से प्रभावित रहते थे, एक-दूसरे के खिलाफ दाँव और घात चलते रहे। इग्लैण्ड में दिसम्बर १९२३ में आम चुनाव हुआ और उसमें अनुदार दल की हार हुई, और पार्लमेण्ट में मजदूर दल ने, हालाँकि उसका साफ बहुमत न था, पहली बार मन्त्रि-मण्डल बनाया। रैम्जे मैकडानल्ड प्रधानमन्त्री हुआ। यह सरकार सिर्फ साढे नौ महीने ही जिन्दा रही। फिर भी इस अर्से में उसने सोवियट रूस से समझौता कर लिया, और दोनो देशो में राजनैतिक और व्यापारिक ताल्लुकात कायम कर लिये गये। अनुदार लोग सोवियट राज्यो को जरा भी मानने के ख़िलाफ थे, और ब्रिटेन के अगले आम चुनाव में, जो कि पिछले चुनाव के एक साल के अन्दर हुआ, रूस का बहुत ज्यादा जिक्र आया। इसका कारण यह था कि अनुदार लोगो ने चुनाव में एक खास पत्र को, जो जिनोवीर पत्र के नाम से मशहूर है, अपना खास मोहरा बना लिया था। मै अब भूल गया हूँ कि इस पत्र में क्या लिखा था, लेकिन स्पष्टत उसमें कोई साजिश करने की बात सूचित की गई थी, और बताया गया था कि इग्लैण्ड में खुफिया तौर से कुछ कार्रवाइयाँ करनी चाहिएँ। जिनोवीर सोवियट सरकार का एक प्रमुख बोलशेविक था। उसने उस खत से बिलकुल इन्कार किया और कहा कि वह बनावटी होगा। फिर भी अनुदार लोगो नें उस पत्र का पूरा दुरुपयोग किया, और कुछ-कुछ उसकी मदद से ही चुनाव जीत लिया। अब एक अनुदार सरकार कायम हुई और प्रधानमन्त्री स्टैनली बाल्डविन बना। इस सर-

इंग्लैण्ड हिन्द-महासागर और प्रशान्त महासागर के बीच होनेवाले आवागमन पर निय-न्त्रण रख सकता है। एक तरफ तो वह हिन्दुस्तान और बरमा पर हावी रह सकता है, और दूसरी तरफ फ्रांस और हालैण्ड के मातहत देशो पर भी हावी हो सकता है, और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वह प्रशान्त महासागर के युद्ध में कारगर और ज़बर्दस्त हिस्सा ले सकता है, चाहे वह जापान के ख़िलाफ हो या और किसी ताकत के ख़िलाफ़ हो।

१९२२ में वाशिगटन में इग्लैण्ड और जापान का गुट टूट जाने से जापान अकेला रह गया। मजबूरन जापानियो को रूस की तरफ नज़र दौडानी पडी, और वे सोवियट राज्यों से अच्छे ताल्लुकात कायम करने लगे। तीन साल बाद, जनवरी १९२५ में, जापान और सोवियट यूनियन के बीच एक सन्धि होगई।

महायुद्ध के बाद कुछ साल तक जर्मनी के साथ विजयी शक्तियो ने जाति-बहिष्कृत का-सा बर्ताव किया। इन शक्तियों से ज्यादा हमदर्दी न पाकर, और इन्हे कुछ डरा देने की निगाह से, वह सोवियट रूस की तरफ मुड़ा और उससे अप्रैल १९२२ में एक सन्धि--रेपैलो की सन्धि--करली। सन्धि की बातचीत गुप्त रूप से की गई थी, और इसलिए जब सन्धि प्रकाशित की गई तो मित्र-राष्ट्रो को धक्का-सा लगा। ख़ासकर ब्रिटिश सरकार तो बहुत घबरा गई, क्योकि इग्लैण्ड के शासक-वर्ग सोवियट सरकार को बहुत ज्यादा नापसन्द करते थे। दरअसल इसी अनुभव ने कि अगर जर्मनी के साथ अच्छा बर्ताव न किया गया और उसे मनाया न गया तो वह रूस से मिल जायगा, जर्मनी के प्रति अंग्रेज़ो की नीति में तब्दीली पैदा करदी। वे जर्मनी की तकलीफो को कुछ महसूस करने लगे, और उन्होने कई तरह से गैर-सरकारी तरीके पर जर्मनी को मदद पहुँचाने की इच्छा प्रकट की। वे रूर-प्रदेश की दख़लयाबी से भी दूर रहे। यह सब कुछ जर्मनी की मुहब्बत के सबब से नहीं किया गया, बल्कि इस ख्वाहिश से किया गया कि जर्मनी रूस से अलग बना रहे, और सोवियट-विरोधी गुट में शामिल रहे। कुछ साल तक अंग्रेज़ो की नीति की यही कसौटी रही, और १९२५ में लोकार्नो में उन्हे काम-याबी भी मिल गई। लोकार्नो में राष्ट्रो की एक कान्फरेन्स की गई, और महायुद्ध के बाद पहली बार विजयी शक्तियो और जर्मनी में कुछ बातो में असली मेल हुआ, जो कि [illegible] एक मुआहदनामे की शक्ल में लिख लिया गया। पूरा मेल तो हुआ ही नहीं था, मुआवज़े का ज़बर्दस्त सवाल और दूसरे सवाल बाकी ही रहे। लेकिन एक अच्छी शुरुआत होगई थी और कई आपसी आश्वासन और वादे किये गये। जर्मनी ने वर्साई-सन्धि में बनाई हुई अपनी पश्चिम की फ्रेंच सीमा को मजूर कर लिया, लेकिन पूर्वीय सीमा को, और उसके साथ समुद्र से मिले हुए पोलैण्ड के करडोर को, उसने तयशुदा

[illegible] ने चीन की सरकारों से ऐसी कार्रवाई करवाई, जिससे कि रूस को युद्ध में पड़ना पड़े। लेकिन रूस ने लड़ाई न की। एक महीने बाद मई १९२७ में एक और पुलिसवाली हमला रूसी व्यापारी कार्यालयों पर किया गया, और इस बार यह लन्दन में हुआ। यह 'आरकॉस-रेड' कहलाता है क्योंकि इंग्लैण्ड में रूस की सरकारी व्यापारी कम्पनी का नाम 'आरकॉस' था। यह भी दूसरे राष्ट्र का एक बड़ा भारी और जैसा कि बाद में साबित हुआ, एक बिलकुल अनुचित अपमान था। इसके बाद फौरन ही दोनों देशों में राजनैतिक और व्यापारिक सम्बन्ध टूट गये। इसके अगले माह जून में वारसा में पोलैण्ड में रहनेवाले सोवियत राजदूत का कत्ल कर दिया गया। (चार साल पहले स्विटजरलैंड में रूस का सोवियत राजदूत मार दिया गया था।) इन सब वाकयात के एक-के-बाद-एक जल्दी-जल्दी होने से रूस के लोगों को डर होगया और उन्हें पूरी उम्मीद होगई कि साम्राज्यवादी राष्ट्र सब मिलकर उनपर हमला करेंगे। रूस में युद्ध का दुस्वप्न आतंक फैल गया और पश्चिमी योरप के कई देशों में मजदूरों ने रूस के पक्ष में, और नज़दीक आनेवाले युद्ध के ख़िलाफ़, प्रदर्शन किये। लेकिन यह डर निकल गया और युद्ध नहीं हुआ।

इसी साल १९२७ में रूस ने बड़े पैमाने पर बोल्शेविक क्रान्ति का दसवाँ वार्षिकोत्सव मनाया। इस वक़्त इंग्लैण्ड और फ्रांस रूस के बहुत ख़िलाफ़ थे, लेकिन पूर्वीय देशों में रूस की दोस्ती का इज़हार इसी बात से होता था कि इस उत्सव में ईरान, तुर्की, अफ़ग़ानिस्तान और मंगोलिया से आये हुए सरकारी प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया था।

जब योरप और दूसरे स्थानों पर ये सनसनियाँ और युद्ध की तैयारियाँ चल रही थीं, उसी वक़्त निःशस्त्रीकरण के बारे में बहुत-सी बातचीत भी हो रही थी। राष्ट्र-संघ के कवेनेंट (इक़रारनामे) में यह बात लिखी हुई थी कि "इस संघ के मेम्बर मानते हैं कि शान्ति क़ायम रखने के लिए ज़रूरी है कि अपने-अपने राष्ट्र की सुरक्षितता रखते हुए हरेक राष्ट्र के शस्त्रास्त्रों में ज़्यादा-से-ज़्यादा कमी की जाय, और अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों पर सब एकसाथ मिलकर अमल करें।" इस ऊँचे उद्देश्य को लिख देने के अलावा राष्ट्र-संघ ने उस वक़्त और कुछ नहीं किया लेकिन उसने अपनी कौंसिल को हिदायत दी कि वह इस मामले में आगे कार्रवाई करे। जर्मनी और दूसरी हारी हुई ताक़तें तो संधियों के मुताबिक़ निःशस्त्र कर ही दी गई थीं। जीतने वाले मुल्कों ने वादा किया था कि हम भी इसके बाद अपना निःशस्त्रीकरण कर लेंगे. लेकिन बार-बार कान्फ्रेन्सें करने के बाद भी कोई ठोस नतीजा नहीं निकला। यह कोई ताज्जुब की भी बात नहीं थी. क्योंकि हर राष्ट्र ऐसा निःशस्त्रीकरण चाहता था

कार से बार-बार कहा गया कि वह जिनोवीर पत्र की सचाई या झूठ की जाँच कराये; लेकिन उसने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। बर्लिन में बाद के रहस्योद्घाटन से मालूम हुआ कि वह एक जाली खत था, जो एक 'सफेद' रूसी व्यक्ति यानी एक बोलशेविक-विरोधी प्रवासी रूसी ने बनाया था। लेकिन इस जालसाजी ने इंग्लैण्ड मे अपना काम पूरा कर दिया, और एक सरकार को हटाकर दूसरी कायम करदी। ऐसी छोटी-छोटी घटनाओ से अन्तर्राष्ट्रीय मामलो पर असर पड जाया करता है'

नई अनुदार सरकार ने रूस से फ़ौरन ताल्लुकात नही तोडे। वह उससे जाहिरा तौर पर सम्बन्ध बनाये रही, लेकिन व्यवहार मे हमेशा नाराजगी जाहिर करती और नुक्स निकालती रही और इसमें शक नही कि अन्दर-ही-अन्दर बहुत-सी साजिशें भी होती रही। जिस उदारता से रूस के मजदूरो ने १९२६ की ब्रिटिश खान-मजदूरो की बडी लडाई में मदद पहुँचाई, उससे तो बाल्डविन की सरकार बहुत ज्यादा खीझ गई। बाद में उसी साल एक नई बात से, जो कि इस बार 'सुदूर पूर्व' में हुई, उसे और भी गुस्सा आया। अचानक चीन में एक मजबूत संयुक्त राष्ट्रीय सरकार पैदा होगई, और सोवियट सरकार से उसकी बडी गहरी दोस्ती मालूम हुई। कई महीनो तक चीन में अंग्रेज बडी मुश्किलो में रहे, और उन्हे अपने रौब और दबदबे मे होनेवाली कमी को बर्दाश्त करना पडा, साथ ही और भी कई ऐसे काम करने पडे जिन्हे वे नापसन्द करते थे। इसके बाद चीन के आन्दोलन में, कुछ समय की कामयाबी के बाद, फूट पड गई और वह टुकडो में बँट गया। जनरलो यानी सेनापतियो ने आन्दोलन के उग्र विचार वाले व्यक्तियो का कत्ले-आम किया या उन्हे निकाल दिया, और शघाई के विदेशी बैंकरो का सहारा लेना ही ज्यादा पसन्द किया। यह अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों मे रूस की एक बडी हार थी और इससे चीन में तथा दूसरे देशो मे रूस की इज्जत बहुत कम होगई। इंग्लैण्ड के लिए यह एक जीत थी, और उसने सोवियट को हार का और भी अनुभव कराकर इस मौके को ओर भी अच्छा बनाने की कोशिश की। सोवियट-विरोधी गुट फिर संगठित किया गया और रूस को चारो तरफ से घेर लेने की कोशिश की गई।

करीब १९२७ के बीच में दुनिया के मुख्तलिफ हिस्सो में कई जगह सोवियट के खिलाफ कार्रवाई की गई। अप्रैल १९२७ में एक ही दिन पेकिंग के सोवियट राजदूतावास पर और शघाई के सोवियट प्रतिनिधि के स्थान पर हमले किये गये। इन प्रदेशो पर चीन की दो जुदा-जुदा सरकारो का नियन्त्रण था, लेकिन इस मामले में दोनो ने एक साथ कार्रवाई की। राजदूतावास पर हमला होना और राजदूत का अपमान होना एक बडी ग़ैर-मामूली बात होती है, क़रीब-क़रीब लाजिमी तौर पर इससे युद्ध छिड जाता है। रूस का विश्वास था कि इग्लैण्ड और दूसरी सोवियट-विरोधी

शुरू में खयाल यह था कि सिर्फ फ्रास और अमेरिका के बीच एक इक़रारनामा हो-जाय, लेकिन वह बढ़ गया, और आखिरकार इसमें ससार के करीब-करीब सभी राष्ट्र शामिल होगये। अगस्त १९२८ में पेरिस में इस इकरारनामे पर दस्तखत हुए, इसलिए यह १९२८ का पेरिस का इकरारनामा, या केलाग-ब्रियॉद इकरारनामा, या सिर्फ केलाग इकरारनामा कहलाता है। केलाग अमेरिका का राजमत्री (Secretary of State) था जिसनें इस मामले में नेतृत्व किया था, और एरिस्टाइड ब्रियॉद फ्रास का परराष्ट्र-सचिव था। इस इकरारनामे में एक छोटा-सा मजमून था, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय बहस-तलब मामलो को हल करने के लिए युद्ध से काम लेने की निन्दा की गई थी और इकरारनामे पर दस्तखत करनेवालो ने आपसी बर्ताव में युद्ध की नीति छोड़ देना मंजूर किया था। ये शब्द, जो करीब-करीब उस इकरारनामे के ही शब्द है, सुनने में बडे सुन्दर है, और अगर इनको सचाई से लिखा गया होता तो इनसे युद्ध ही खत्म हो सकता था। लेकिन फौरन ही यह जाहिर होगया कि इकरारनामा करनेवाली शक्तियाँ कितनी झूठी है। फ्रासीसियो और अग्रेजो ने, और खासकर अग्रेजो ने, दस्तखत करने से पहले कई सरक्षण रख लिये, जिससे कि उनके लिए इकरारनामा न होने के बराबर ही होगया। ब्रिटिश सरकार नें इकरारनामे से उन सब जगी कार्रवाइयो की छूट लेली जो उसे साम्राज्य के हित के लिए करनी पडेंगी। इसका मतलब यह हुआ कि वह जब चाहे तब युद्ध कर सकेगी। उसनें अपने अधिकार और प्रभाव के क्षेत्रो पर एक तरह से अग्रेजी 'मनरो-सिद्धान्त' की घोषणा करदी।

जब आम लोगो के सामने युद्ध को 'गैर-कानूनी' बनाया जा रहा था, उसी वक़्त १९२८ में इंग्लैण्ड और फ्रास के बीच एक गुप्त नौसेना-सम्बन्धी समझौता हुआ। यह बात किसी तरह जाहिर होगई, और इससे योरप और अमेरिका को बड़ा रंज पहुँचा। इससे परदे की ओट में होनेवाले मामलो की असली हालत का काफी पता लगता है।

सोवियट यूनियन ने केलाग-इकरारनामे को मंजूर किया, और उसपर दस्तखत कर दिये। उसके ऐसा करनें का असली सबब यह था कि इस तरह, कुछ हद तक ही सही, वह इस इकरारनामे की आड़ लेकर सोवियट पर हमला करनेवाले गुट का बनना रोक देना चाहता था। इकरारनामे में अंग्रेजो के सरक्षण खासकर सोवियट के खिलाफ ही रक्खे हुए मालूम होते है। इकरारनामे पर दस्तखत करते वक़्त रूस ने इंग्लैण्ड और फ़्रांस के इन संरक्षणो पर जबरदस्त एतराज किया।

रूस युद्ध को टालने का इतना इच्छुक था कि उसने अपने पडोसियो पोलैण्ड, रूमानिया, इस्थोनिया, लटविया, तुर्की और ईरान से शान्ति रखनें के बारे में एक खास सुलह करके अपने बचाव की और भी पेशबन्दी करली। इस सुलहनामे पर १९

जिससे हो सके तो वह दूसरे राष्ट्रों की बनिस्बत ज़ोरदार बना रहे; और इसे कोई भी दूसरा राष्ट्र मंज़ूर न करता था। फ्रांसीसी हमेशा इस मांग पर अड़े कि निःशस्त्रीकरण से पहले सुरक्षितता हो जानी चाहिए।

बड़ी शक्तियों में से न तो अमेरिका और न सोवियट यूनियन ही राष्ट्र-संघ के मेम्बर थे। दरअसल सोवियट यूनियन तो समझता था कि राष्ट्र-संघ एक मुक़ाबिले का और विरोधी संगठन है सोवियट यूनियन के ख़िलाफ़ खड़ा किया हुआ पूंजीवादी ताक़तों का गिरोह है। सोवियट यूनियन ही ख़ुद एक राष्ट्र-संघ समझा जाता था (जैसा कि ब्रिटिश साम्राज्य को भी बताया जाता है), क्योंकि इसमें भी कई प्रजातंत्र सदस्य के शामिल थे। पूर्वीय जातियां भी राष्ट्र-संघ को सन्देह की निगाह से देखती थीं और इसे साम्राज्यवादी शक्तियों का एक हथियार मानती थीं। फिर भी अमेरिका, रूस और क़रीब-क़रीब सभी मुल्कों ने राष्ट्र-संघ की कान्फ्रेन्सों में निःशस्त्रीकरण पर विचार करने में हिस्सा लिया। १९२६ में या शायद १९२७ के शुरू में राष्ट्र-संघ ने एक प्रिपेरेटरी कमीशन मुक़र्रर किया, जिसका काम था निःशस्त्रीकरण के मामले में एक बड़ा विश्व-सम्मेलन बुलाने के लिए ज़मीन तैयार करना। इस कमीशन ने कितनी ही योजनाओं पर, एक-के-बाद-एक, विचार कर डाला, लेकिन इसका सिल-सिला ख़त्म ही न हुआ और नतीजा कुछ न निकला। सोवियट की तरफ़ से निःशस्त्रीकरण की कई मौलिक तज्वीज़ें पेश की गईं, लेकिन चूंकि यह समझा गया कि इनसे बहुत ही ज़्यादा निःशस्त्रीकरण हो जायगा इसलिए इनको अव्यावहारिक मान लिया गया। पिछले साल यही 'प्रिपेरेटरी कमीशन' विश्व-निःशस्त्रीकरण-सम्मेलन में मिल गया और इसकी बैठकें अब महीनों से होती चली आ रही हैं और बातचीत का ख़ात्मा ही नहीं होता है—यहांतक लोग भी क़रीब-क़रीब भूल गये हैं कि जिनेवा में ऐसी कोई चीज़ मौजूद है!

अमेरिका ने निःशस्त्रीकरण की इन बहसों में सिर्फ़ हिस्सा ही नहीं लिया, बल्कि संसार में अपनी सबसे ज़बरदस्त आर्थिक स्थिति के कारण योरप और यूरोपियन मामलों में उसकी दिलचस्पी भी बढ़ गई। सारा योरप उसका क़र्ज़दार था, और वह यूरोपियन मुल्कों को फिर एक-दूसरे का गला काटने से रोकना चाहता था; क्योंकि उनके झगड़ों के अलावा भी अगर ये सब फिर लड़ने लगें तो उसके क़र्ज़ों और व्यापार का क्या हाल होगा? निःशस्त्रीकरण की बहसों से जब जल्दी कोई नतीजा न निकला तो १९२८ में, फ्रांस और अमेरिका की सरकारों के बीच बातचीत होकर शान्ति-रक्षा में सहायक होनेवाली एक नई तज्वीज़ निकली। इस तज्वीज़ में बड़ी हिम्मत के साथ यह कोशिश की गई कि 'युद्ध' ही 'ग़ैर-क़ानूनी' बना दिया जाय।

महायुद्ध शुरू होने से पहले भी इटली घोर आर्थिक संकट में फँस गया था। १९११-१२ में वह तुर्की के साथ युद्ध में जीत तो गया था और उत्तरी अफरीका का त्रिपोली प्रदेश मिल जाने से इटली के साम्राज्यवादी खुश भी बहुत हुए थे, मगर इस छोटी-सी लडाई से इटली की भीतरी भलाई बहुत नहीं हुई थी और उसकी आर्थिक हालत नही सुधरी थी। बल्कि अवस्था और भी बुरी होगई थी और १९१४ में, जबकि महायुद्ध छिड़ता ही दिखाई देता था, इटली क्रान्ति के दरवाज़े पर खड़ा था। कारखानो में बडी-बडी हडतालें हो रही थीं। नरम दल के समाजवादी नेता हड़तालो को दबाकर बडी मुश्किल से मजदूरो को आगे बढ़ने से रोक पाये थे। उसके बाद ही महायुद्ध शुरू होगया। इटली ने अपने जर्मन मित्रो का साथ देने से इन्कार कर दिया. उसने दोनो तरफ से ज्यादा-से-ज्यादा रियायतें हासिल करने के लिए अपनी निरपेक्षिता या उदासीनता का फायदा उठाने की कोशिश की। इस तरह ऊँची-से-ऊँची बोली बोलनेवाले को अपनी सहायता बेचने की वृत्ति शोभास्पद तो नहीं थी, परन्तु राष्ट्रो के हृदय नहीं होता और उनके व्यवहार के तरीके अलग ही होते हैं। यही व्यवहार अगर व्यक्ति करे तो उन्हे शर्म के मारे सिर नीचा करना पडे। रिश्वत देनें के लिए मित्र-राष्ट्रो यानी इंग्लैण्ड और फ़्रांस की स्थिति ज्यादा अनुकूल थी। उन्होंनें नकद रुपया भी दिया और आगे चलकर इलाका देने का वचन भी दिया। इस कारण इटली मित्र-राष्ट्रो की तरफ होकर १९१५ की मई में लड़ाई में शामिल हुआ। मेरा खयाल है, मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि कुछ समय बाद एक गुप्त सन्धि के द्वारा इटली को स्मर्ना और छोटे एशिया का एक हिस्सा देने की बात हुई थी। मगर इस सन्धि के पक्की होने से पहले ही रूस में बोलशेविक क्रान्ति होगई और यह सारा खेल बिगड़ गया। इटली को यह भी एक शिकायत थी और पेरिस की शान्ति-परिषद में इस बात पर असन्तोष रहा कि इटली के हको की उपेक्षा की गई। वहाँके साम्राज्यवादियो और अमीरो को आशा थी कि नये-नये देश इटली के अधिकार में आयेंगे और वे उनका शोषण करके अपने देश के आर्थिक भार को हलका कर सकेंगे।

महायुद्ध के बाद इटली की हालत बहुत खराब होगई थी और वह किसी भी दूसरे मित्र-राष्ट्र से अधिक थक गया था। वहाँकी आर्थिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न होती दीखती थी और समाजवाद और साम्यवाद के हामियों की तादाद बढ़ रही थी। उनके सामने रूस का बोलशेविक उदाहरण तो था ही। एक तरफ कारखानो के मजदूर आर्थिक अवस्था से कष्ट पा रहे थे, दूसरी तरफ सिपाही बडी तादाद में फ़ौज से ख़ारिज होकर मारे-मारे बेकार फिर रहे थे। उपद्रव होने लगे और मध्यमवर्ग के नेता इन सैनिको को मजदूरो की बढ़ती हुई ताकत का मुक़ाबिला करने के लिए संग-

फरवरी १९२९ को, केलाग-इकरारनामे के अन्तर्राष्ट्रीय कानून बन जाने के छ महीने पहले, दस्तखत हुए।

इस तरह आपस में लडनेवाली और भरभराकर गिरनेवाली दुनिया के ढांचे को आखिरी कोशिशो से बचाने के लिए ये इकरारनामे और सुलहनामे होते गये, मानो इस तरह के इकरारनामो या ऊपरी पैवन्दो से अन्दर गहरी बैठी हुई बीमारी का इलाज हो सकता हो। यह १९२० और १९२९ के बीच का जमाना था, जब कि योरप के देशो में अक्सर समाजवादी या सोशल डिमोक्रेट लोग राज्याधिकारी थे। जितना ज्यादा उन्हे राज्याधिकार और सत्ता मिलती गई, उतना ही ज्यादा वे पूंजीवादी ढांचे के अन्दर अपनेआपको मिलाते गये। दर-हकीकत वे पूंजीवाद के सबसे अच्छे रक्षक बन गये, और अकसर ज्यादा-से-ज्यादा अनुदार या प्रगति-विरोधी व्यक्ति के समान उग्र साम्राज्यवादी बन गये। महायुद्ध के बाद के जोश से भरे हुए कुछ क्रान्तिकारी वर्षो के पश्चात्, योरप की दुनिया किसी हद तक ठण्डी पड गई। मालूम होता था कि फिर कुछ वक्त के लिए पूजीवाद ने अपनेआपको परिस्थितियों के मुताबिक बना लिया, और कही भी जल्दी कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन होने की सम्भावना नजर नहीं आती थी।

सन् १९२९ में योरप का ऐसा हाल था।

: १७५ :

मुसोलिनी और इटली का फ़ैसिज्म

२१ जून, १९३३

हमारी योरप की कहानी की रूपरेखा १९२९ या चार वर्ष पहले तक आ पहुंची है। परन्तु एक महत्वपूर्ण अध्याय अबतक अछूता ही रहा है। इसका बयान करने के लिए मुझे जरा पीछे जाना पडेगा। इसका ताल्लुक महासमर के बाद की इटली की घटनाओ से है। इन घटनाओ का महत्व इसलिए नहीं है कि उनसे हमें इटली के हालात मालूम होते हैं, बल्कि इसलिए है कि वे नये ढग की घटनायें हैं और उनसे दुनियाभर में होनेवाली एक नई प्रवृत्ति और कशमकश की सूचना मिलती है। इस तरह इनका महत्व राष्ट्रीय ही नहीं है, बल्कि उससे भी अधिक है। इसीलिए मैंने इन्हें अलग पत्र के लिए रख छोडा था। इसलिए, इस खत में मुसोलिनी का हाल होगा और इटली में फैसिज्म का जोर कैसे बढा, इसका जिक्र होगा। मुसोलिनी इस वक्त दुनिया के बडे-से-बडे आदमियों में एक है।

थे और इनका मुख्य काम था मौका पाकर समाजवादियो, उग्र सुधारको और उनकी सस्थाओ पर हमला करना। इस तरह से कभी ये किसी समाजवादी पत्र के छापेखाने को नष्ट करते तो कभी किसी समाजवादी नियन्त्रण वाली म्यूनिसिपैलिटी या सहयोग-समिति पर हमला करते। बडे-बडे कारखानेवार और अमीर लोग मजदूर-आन्दोलन और समाजवाद के विरोध में आम तौर पर इन सैनिक दलो को अपने रुपये और प्रभाव की सहायता देने लगे। सरकार नें उनकी ओर से आँखें बन्द करलीं। वह समाजवादी दल की शक्ति को नष्ट करना चाहती थी।

इन लडाकू दलो या, संक्षेप में कहे तो, फैसिस्टो को संगठित करनेवाला यह बेनिटो मुसोलिनी कौन था? उस वक़्त तो वह जवान था। (अब उसकी उम्र पचास वर्ष के करीब है। १८८३ में वह पैदा हुआ था।) उसका जीवन बड़ा रंग-बिरंगा और दिलचस्प रहा था। उसका पिता लुहार था और समाजवादी था। इसलिए बेनिटो समाजवादी संस्कृति लेकर बड़ा हुआ। शुरू जवानी में ही वह बड़ा गरम आन्दोलनकारी होगया था और क्रान्तिकारी प्रचार-कार्य के कारण उसे स्वीजरलैण्ड की नई रियासतो से निकाल दिया गया था। नरम समाजवादी नेताओ पर उसकी नरमी के कारण उसनें बुरी तरह हमले किये। राज्य के खिलाफ बम और दूसरे आतकवादी साधनो का वह खुला समर्थन करता था। तुर्की के साथ इटली की जो लड़ाई हुई उसकी अधिकाश समाजवादी नेंताओ ने ताईद की थी। मगर मुसोलिनी की बात दूसरी थी। उसने लड़ाई का विरोध किया और इस सिलसिले में कई हिंसा के कामो पर उसे कुछ मास की कैद भी भोगनी पडी। लड़ाई का समर्थन करनेवाले नरम समाजवादी नेताओ का उसने घोर विरोध किया और उन्हे समाजवादी दल से निकलवा-कर छोड़ा। मिलान से निकलनेवाले समाजवादी दैनिक पत्र 'अवन्ती' का वह सम्पादक बन गया और उसमें नित्य मजदूरो को हिंसा का मुकाबिला हिसा से करने की सलाह देता रहा। हिसा के इस उत्तेजन पर नरम मार्क्सवादी नेताओ को जोरदार आपत्ति थी।

इतने ही में महायुद्ध आ पहुँचा। कुछ महीनो तक मुसोलिनी युद्ध के ख़िलाफ़ और इटली के तटस्थ रहने के पक्ष में रहा। फिर अचानक उसने अपना विचार या अपने विचारो को जाहिर करने का ढंग बदल दिया और एलान कर दिया कि इटली को मित्र-राष्ट्रो के साथ शरीक होजाना चाहिए। वह समाजवादी पत्र को छोड़कर इस नई नीति का प्रचार करनेवाले एक नये पत्र का सम्पादन करने लगा। वह समाजवादी दल से निकाल दिया गया। आगे चलकर वह साधारण सिपाहियो में भरती होगया, और इटली की तरफ से लड़ाई के मोर्चे पर लड़ता हुआ घायल हुआ।

लड़ाई के बाद मुसोलिनी ने अपनेंको समाजवादी कहना बन्द कर दिया।

ठित करने लगे। १९२० के गरमी के दिनो में स्थिति विकट हो गई। धातु के कारखानो के मजदूरो ने ज्यादा मजदूरी की माँग की। इनकी सभा में ५ लाख सदस्य थे। यह माँग मजूर नहीं हुई और मजदूरो ने हड़ताल करने का निश्चय कर लिया। उन्होने हडताल का एक नया ही तरीका निकाला। यानी मजदूर अपने-अपनें कारखानो में पहुँचे और न खुद काम किया और न किसीको करने दिया। संघवादी समाजवादियो (Syndicalists) का यही कार्यक्रम था और फ़्रांस का मजदूर-आन्दोलन बहुत अर्से से इसका समर्थक था। इस अडगेबाजी का जवाब मालिको ने यह दिया कि उन्होने कारखाने बन्द कर दिये। इसपर मजदूरों ने कारखानो पर कब्जा करके उन्हे समाजवादी ढग पर चलाने की कोशिश की।

मजदूरो की यह कारंवाई निश्चित रूप से क्रान्तिकारी थी। अगर वे इसपर डटे रहते, तो या तो सामाजिक क्रान्ति हुए बिना न रहती या वे नाकामयाब होते। बहुत दिनो तक कोई बीच की हालत कायम नही रह सकती थी। उस वक़्त इटली में समाजवादी दल बड़ा प्रबल था। मजदूर-संघो पर तो उसका नियन्त्रण था ही, तीस-हजार म्युनिसिपैलिटियाँ भी उसके क़ाबू में थीं और पार्लमेण्ट में उसके १५० यानी एक-तिहाई सदस्य थे। अगर किसी दल में जोर हो, उसकी जड़ जमी हुई हो, जायदाद उसके पास हो और बहुत-से सरकारी पद उसके हाथ में हो, तो वह अक्सर क्रान्तिकारी नही होता। फिर भी इटली के समाजवादी दल और उसके नरम सदस्यो तक ने कारखानो पर अधिकार कर लेने की मजदूरो की कार्रवाई का समर्थन किया। मगर इतनी-सी बात करके इस दल ने और कुछ नही किया। वह पीछे हटना तो नहीं चाहता था, मगर उसमें आगे बढ़ने का साहस भी नहीं था। उसने कम-से-कम विरोध का बीचवाला रास्ता पसन्द किया। उसका वही हाल हुआ जो सब हिचकिचाहट से भरे हुए और अनिश्चयी लोगो का हुआ करता है। वे ठीक समय पर कोई निर्णय नही कर पाये, समय उन्हे छोडकर आगे निकल गया, और वे कहीं के न रहे। उग्र सुधारको और मजदूर नेताओ की हिचकिचाहट के कारण आखिर कारखानो पर से मजदूरो का क़ब्जा जाता रहा।

इससे मालिक वर्ग का हौसला बहुत बढ गया। उन्होने देख लिया कि मजदूरो और उनके नेताओ की जितनी ताकत वे समझते थे उतनी नहीं है। अब उन्होने मजदूर-आन्दोलन और समाजवादी दल से बदला लेने और उन्हे तहस-नहस कर देने की योजना बनाई। १९१९ में फौजो से खारिज हुए सिपाहियो के कुछ स्वयसेवक-दल बेनिटो मुसोलिनी ने बनाये थे। मालिक वर्ग का ध्यान इनकी तरफ गया। ये लड़ाकू दल या फैसिस्ट (जो इटालियन के Fasci di Combattimenti से बना है) कहलाते

इस तरह जब समाजवादी नेता शका, सकोच और आपस के झगडो में लगे रहे और उनके दल में फूट होती रही उस समय फैसिस्टो का जोर खूब बढता गया। नियमित सेना का फैसिज्म के प्रति बड़ा दोस्ताना रुख था और मुसोलिनी ने सेनापतियो को अपनी तरफ मिला लिया था। मुसोलिनी का यह बडे मार्के का काम था कि उसने ऐसे मुख्तलिफ और विरोधी तत्त्वो को अपने साथ करके ऐक्य-सूत्र में बाँध रक्खा और अपने अनुयायियो के हर समूह का यह विश्वास जमा दिया कि फैसिज्म खास तौर पर उसीका हिमायती है। धनवान फैसिस्ट यह समझने लगे कि मुसोलिनी उनकी सम्पत्ति का रक्षक है और पूजीवाद के खिलाफ वह जो भाषण करता और नारे लगाता है वे खाली सर्वसाधारण को धोखा देने की बातें है। गरीब फैसिस्ट यह मानने लगे कि फैसिज्म में असली चीज तो यह पूंजीवाद का विरोध ही है और बाकी बातें अमीरो को खुश करने भर के लिए है। इस तरह मुसोलिनी इन दोनो वर्गों से काम निकालने लगा। एक दिन वह अमीरो के हक में बोलता तो दूसरे ही दिन गरीबो के पक्ष में भाषण देता। मगर असल में वह सम्पत्तिशाली वर्ग का हिमायती था, क्योकि वे उसे आर्थिक सहायता देते थे और यह इसलिए कि वे अपने चिर-शत्रु समाजवाद और मजदूर-आन्दोलन की शक्ति को नष्ट करने पर तुले हुए थे।

अन्त में १९२२ के अक्तूबर में फैसिस्टो की टुकड़ियो ने नियमित सेनानायको के नेतृत्व में रोम पर धावा बोल दिया। प्रधानमन्त्री ने अबतक फैसिस्टो के कार्यो को सहन किया था। अब उसे भी फौजी कानून की घोषणा करनी पडी। परन्तु अब क्या था; देर बहुत हो चुकी थी और खुद बादशाह भी मुसोलिनी की तरफ होगया था। उसने फौजी कानून की आज्ञा रद्द करदी, अपने प्रधानमन्त्री का इस्तीफा मंजूर कर लिया और मुसोलिनी को प्रधानमन्त्री बनने और मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए आमंत्रण दिया। ३० अक्तूबर १९२२ को फैसिस्ट सेना रोम पहुँची और उसी दिन मुसोलिनी प्रधानमन्त्री बनने के लिए मिलान से रेल द्वारा आ पहुँचा।

फैसिज्म की विजय हुई और सत्ता मुसोलिनी के हाथ में आगई। परन्तु उसका पक्ष क्या था? वह किस नीति और कार्यक्रम का समर्थक था? आम तौर पर बडे आन्दोलनो का निर्माण किसी स्पष्ट विचार-धारा पर होता है और ये विचार कुछ निश्चित सिद्धान्तो पर निर्भर होते है, और उनका निश्चित ध्येय और कार्यक्रम होता है। फ़ैसिज्म में यह अद्वितीय गुण है कि न उसके कोई निश्चित सिद्धान्त है, न विचार-धारा और तत्त्व-ज्ञान। हाँ, समाजवाद, साम्यवाद और उदार विचारो का विरोध ही एक तत्त्व-ज्ञान समझ लिया जाय तो बात दूसरी है। १९२० में यानी फैसिस्ट दलो के बनने के एक वर्ष बाद मुसोलिनी ने घोषणा की थी कि फैसिस्ट लोग—

उसका पुराना दल उसे नापसन्द करता था और मजदूरवर्ग पर उसका कोई प्रभाव नही रहा। वह इधर का रहा न उधर का। उसनें शान्तिवाद और समाजवाद के साथ-साथ पूजीवादी शासन की भी निन्दा करनी शुरू करदी। वह हर किस्म के राज्य की बुराई करने लगा, और अपनेको व्यक्तिवादी बताकर अराजकता की तारीफ करने लगा। ये तो बाते हुई उसके लिखने की। अब उसने जो किया वह भी सुन लो। १९१९ में उसने फैसिज्म की स्थापना की और अपने लड़ाकू दलो में बेकार सैनिको को भरती करना शुरू कर दिया। इन दलो का धर्म हिंसा था और सरकार के तटस्थ रहने से इनका हौसला और उत्पात बढता गया। कभी-कभी शहरो में मजदूर-वर्ग मे इनकी बाकायदा भिडन्त होजाती थी और वे इन्हे मार भगाते थे। परन्तु समाजवादी नेता मजदूरो की इस लडाकू वृत्ति के खिलाफ थे। वे उन्हे धीरज और शान्ति से फैसिस्ट खतरे का मुकाबिला करने की सलाह देते थे। उन्हे उम्मीद थी कि फैसिज्म इस तरह अपनी मौत आप मर जायगा। पर फैसिस्ट दलो की ताकत बढ़ती गई। बढती भी क्यो नहीं, जब अमीरो के रुपये की उन्हे मदद थी, सरकार उनके काम में दखल नही देती थी और सर्व-साधारण में जो विरोध-भावना थी वह सब नष्ट होचुकी थी। नौबत यहाँतक पहुँची कि मजदूरो के एकमात्र हथियार हड़ताल का भी प्रयोग फैसिस्टो की हिंसा को रोकने के लिए नहीं किया गया।

मुसोलिनी के नेतृत्व में फैसिस्टो ने दो विरोधी विचार-धाराओ का मेल साधा। प्रथम तो वे समाजवाद और साम्यवाद के कट्टर शत्रु थे। इससे उन्हे पूंजीपतियो की सहायता मिल गई। दूसरे मुसोलिनी पुराना समाजवादी आन्दोलक और क्रान्तिकारी था और उसकी जबान पर अनेक पूजी-विरोधी नारे रहते थे। ये गरीबो को पसन्द आते थे। आन्दोलन के विशेषज्ञ साम्यवादियो से उसने यह कला भी खूब अच्छी तरह सीख ली थी। इस तरह फैसिज्म एक अजीब खिचडी बन गया था और उसका अलग-अलग तरह से अर्थ लगाया जा सकता था। असल में तो यह पूजीपतियो का आन्दोलन था, परन्तु इसके कई रणनाद पूजीवाद के लिए खतरनाक भी थे। इस तरह इसमें तरह-तरह के लोग शामिल होगये। मध्यमवर्ग—खासकर निम्न श्रेणी के मध्यमवर्ग के बेकार लोग इसके स्तम्भ थे। ज्यो-ज्यो इसकी ताकत बढ़ती गई त्यो-त्यो बेकार और साधारण मजदूर, जिनके संघ नहीं बने थे, फासिस्ट दल की ओर आकर्षित होने लगे। सफलता का लोहा सभी मानते हैं। फैसिस्टो ने दूकानदारो से जबरदस्ती भाव कम करवाके गरीबो का सद्भाव प्राप्त कर लिया। और मनचले लोग तो वैसे ही फैसिस्ट झण्डे के नीचे बहुत-से आगये। लेकिन यह सब कुछ होने पर भी फैसिज्म एक अल्पसंख्यक आन्दोलन ही रहा।

सत्ता के यह हरगिज़ अनुकूल नही पड़ सकता। उनका नेता मुसोलिनी इल ड्यूस अर्थात् सर्वेसर्वा बन गया। उनकी वर्दी काली कुर्ती होने के कारण वे काली कुर्ती वालो के नाम से प्रसिद्ध होगये।

फैसिस्ट लोगो का यदि कोई रचनात्मक कार्य-क्रम था तो वह सिर्फ सत्ता हासिल कर लेना था। इस कारण मुसोलिनी के प्रधानमन्त्री बन जानें पर उनकी यह मुराद पूरी होगई। इसके बाद वह अपने विरोधियो को पीसकर अपनी स्थिति मजबूत करने के काम में लग गया। हिसा और आतकवाद का असाधारण चक्र शुरू हुआ। इतिहास में हिसा एक साधारण-सी बात रही है, परन्तु आम तौर पर इसे एक आवश्यक बुराई समझा गया है और इसके लिए बहानें ढूंढे गये और सफाई दीजाती रही है। मगर फैसि-ज्म को हिसा के बारे में ऐसा कोई क्षमा-याचना का-सा ढंग इख्तियार करने की जरू-रत मालूम नही देती। इन लोगो के लिए तो यह एक मानी हुई और तारीफ़ की चीज है। वे विरोध न होने की हालत में भी हिसा करते है, पार्लमेण्ट मे विरोधी सदस्यो को इन लोगो ने पीट-पीटकर भयभीत कर दिया और विधान को बिलकुल बदल देनेवाला एक नया कानून जबरदस्ती पास करवा लिया। इस तरह मुसोलिनी के पक्ष में भारी बहुमत प्राप्त किया गया।

यह आश्चर्य की बात है कि जब फैसिस्ट लोगो के हाथ में सचमुच सत्ता आगई और पुलिस और राज की सारी शक्ति पर उनका अधिकार जम गया तब भी उनकी गैर-कानूनी हिसा जारी रही। परन्तु वह जारी रही और उन्हे कोई रोकनेवाला भी नही रहा। सरकारी पुलिस तो दखल ही क्यो देती? लोगो की हत्यायें हुई, उन्हें मारा-पीटा और अन्य शारीरिक यातनायें दी गई और उनकी सम्पत्ति नष्ट करदी गई। ये फैसिस्ट एक खास तरीके का व्यापक प्रयोग करते थे। उनके विरोध का साहस करने-वालो को वे अण्डी के तेल की भारी-भारी खुराकें पिला देते थे।

१९२४ में गियाकोमो मेटिमोरी नामक समाजवादी नेता की हत्या की गई। यह पार्लमेण्ट का सदस्य था। इससे योरप-भर में बडी सनसनी फैली। इसने थोडे दिन पहले ही चुनाव में फैसिस्ट तरीको पर भाषण देकर उनकी आलोचना की थी। उस-के कुछ ही समय बाद उसकी हत्या करदी गई। दिखावे के लिए हत्यारो पर मुकदमा चलाया गया; परन्तु वे प्रायः बिना सजा के ही छूट गये। उदार दल के नरम नेता अमेण्डोला की मृत्यु मार के कारण हुई। भूतपूर्व उदार प्रधानमन्त्री निटी मुश्किल से जान बचाकर इटली से भागा; मगर उसका घर नष्ट कर दिया गया। ये थोडे-से उदा-हरण तो ऐसे है जिनपर ससार-भर का ध्यान गया। वैसे इनकी हिंसा तो लगातार और व्यापक रूप में जारी रही। यह हिसा दमन के कानूनी उपायो से अलग थी। यह

"किसी भी तरह के निश्चित सिद्धान्तो के बन्धन से मुक्त है। उनके सामने एक ही ध्येय है। वह है इटली-निवासियो का भावी हित। इस ध्येय की ओर वे अविश्रान्त गति से बढ रहे है।"

यह तो कोई निश्चित नीति नही हुई, क्योंकि अपने देशबन्धुओ की भलाई का दावा करने को तो सभी तैयार होते है। १९२२ मे, यानी रोम के लिए कूच करने के ठीक एक महीने पहले, मुसोलिनी ने कहा था, "हमारा कार्य-क्रम बहुत सीधा-सादा है। हम इटली पर शासन करना चाहते है।" कितनी साफ़ बात है ?

हाल ही में इटली के एक विश्वकोष में फैसिज्म की उत्पत्ति पर एक लेख लिखकर मुसोलिनी ने यह बात और भी स्पष्ट करदी है। उसमें वह कहता है कि जब वह रोम के लिए रवाना हुआ था, उस वक्त उसके दिमाग़ में आगे के लिए कोई निश्चित योजना नही थी। उसके मन पर पुराने समाजवादी सस्कार थे। विकट राजनैतिक स्थिति के मौके पर कुछ कर गुजरने की उसके जी में प्रबल लालसा थी। बस इसीसे प्रेरित होकर उसने बीडा उठा लिया।

फैसिज्म और साम्यवाद (Communism) मे परस्पर कट्टर विरोध है, परन्तु इनकी कुछ कार्रवाइयाँ मिलती-जुलती है। वैसे जहाँतक सिद्धान्तो और विचारो का सम्बन्ध है, इनमें ज़मीन-आसमान का फ़र्क है। हम देख चुके है कि फैसिज्म के कोई आधार-भूत सिद्धान्त नही है। उसकी शुरुआत ही ख़ाली मस्तिष्क से हुई है। इसके विपरीत साम्यवाद या मार्क्सवाद एक पेचीदा आर्थिक मत और ऐतिहासिक दृष्टिकोण है। उसके लिए कठोर-से-कठोर मानसिक अनुशासन की ज़रूरत है।

हालाँकि फैसिज्म के कोई सिद्धान्त या आदर्श नहीं है, फिर भी हिसा और आतकवाद का उसका एक निश्चित विधि-विधान है और अतीत काल के बारे मे उसका एक ख़ास दृष्टिकोण है। इससे हमें फैसिज्म को समझने मे थोडी मदद मिल जाती है। उसका सकेत-चिन्ह एक पुराना रोमन साम्राज्य का निशान है जो रोम के सम्राटो और हाकिमो के आगे-आगे चलता था। यह छड़ियो का एक गट्ठा होता था और उसके बीच में एक कुल्हाडा रहता था। रोमन भाषा में उन छड़ियो को Fasces कहते थे और इसी से Fascimo शब्द बना। फैसिस्ट सगठन भी पुराने रोमन नमूनें पर बना है। नाम तक पुराने ही काम में लाये जा रहे है। फैसिस्ट सलामी फैसिस्टा कहलाती है। यह भी वही आगे बढाकर ऊँचे किये हाथो की पुरानी रोमन सलामी है। इस प्रकार फैसिस्टो की नजर प्रेरणा के लिए भी साम्राज्यवादी रोम पर ही गई है। उनका दृष्टिकोण साम्राज्यवादी है। उनका 'मोटो' या आदर्शवाक्य है—"चर्चा नही, केवल आज्ञा पालन।" यह आदर्श शायद सेना के लिए तो ठीक है, परन्तु लोक-

शाही नगर सुन्दर बनाया जा रहा है और सुधार की कई बडी-बडी योजनायें हाथ मे लीगई है। मुसोलिनी के कल्पना जगत् में नये रोमन साम्राज्य के स्वप्न नाच रहे है।

पोप और इटली की सरकार में प्राचीन काल से झगडा था। वह १९२९ में खत्म होगया। मुसोलिनी और पोप के प्रतिनिधि के बीच समझौता होगया। जबसे १८७१ में इटली राज्य ने रोम को अपनी राजधानी बनाया था तभीसे पोप ने इसे स्वीकार नही किया था और रोम पर अपनी सर्वोपरि सत्ता छोड़ने से इन्कार किया था। इसीलिए पोप लोगो ने यह नीति ग्रहण करली थी कि पोप निर्वाचित होते ही वे रोम के अपने विशाल वैटिकन महल में चले जाते और फिर कभी इटली की भूमि पर नही निकलते। वे स्वेच्छा से कैदी बनकर रहते थे। १९२९ के समझौते से रोम का यह छोटा-सा वैटिकन इलाका एक स्वतत्र और सम्पूर्ण सत्ताधारी राज्य मान लिया गया। पोप इस राज्य का निरकुश शासक है और इसके नागरिको की संख्या ५०० के करीब है। इस राज्य की अपनी अदालते, सिक्का, डाक के टिकट और सार्वजनिक सेवा के विभाग है। इसकी छोटी-सी रेलवे दुनिया में सबसे महँगी है। अब पोप कैदी की तरह नही रहता। वह कभी-कभी वैटिकन से बाहर आता है। पोप के साथ सन्धि करके मुसोलिनी कैथलिक सम्प्रदाय के ईसाइयो में लोकप्रिय होगया। फैसिस्ट हिसा का गैरकानूनी स्वरूप करीब एक साल तक वड़ा उग्र रहा और बाद में भी १९२६ तक कुछ-कुछ बना रहा। १९२६ में राजनैतिक विरोधियो से निपटने के लिए 'असाधारण कानून' बना दिये गये। इनसे राज्य को बडे अधिकार मिल गये और गैर-कानूनी कार्रवाई अनावश्यक होगई। वे क़ानून कुछ ऐसे ही थे जैसे वे आर्डिनेस और उनपर बने हुए कानून है जिनकी हम भारतवासियो पर इतनी वर्षा हुई है। इन 'असाधारण कानूनो' के अनुसार लोगो को सजायें दी जा रही है, जेल भेजा जा रहा है और वडी तादाद में देश-निकाले दिये जा रहे है। सरकारी अको के अनुसार १९२६ के नवम्बर और १९३२ के अक्तूबर के बीच में १०,०४४ आदमियो को विशेष अदालतो के सामने पेश किया गया था। पौंजा, बेण्टोलीन और ट्रिमटी नामक तीन द्वीप इन निर्वासितो के लिए अलग ही सुरक्षित कर दिये गये है। कहा जाता है कि वहाँ-की हालत बहुत खराब है। इस बीच में दमन और गिरफ़्तारियाँ तो जारी है ही। अभी हाल ही की यानी १९३३ के मार्च मास की बात है कि मिलान नगर और उत्तरी प्रदेशों में बहुत लोग गिरफ्तार किये गये थे। रोम पर फैसिस्टो की कूच का पिछले साल दसवाँ वार्षिकोत्सव था। उस अवसर पर आम माफी दी गई थी और बहुत-से मामूली और थोडे-से राजनैतिक कैदी छोडे गये थे। मगर प्रमुख और लम्बी मियाद के राजनैदिक कैदी नहीं छोड़ गये।

कोई भटकी हुई भीड़ की हिंसा भी नहीं थी। यह तो जान-बूझकर सगठित रूप में की गई बाक़ायदा हिंसा थी। इसके शिकार सभी विरोधी होते थे। समाजवादी और साम्य-वादी ही नहीं, उदार दल के शान्त और नरम-से-नरम आदमी भी नही बचते थे। मुसो-लिनी की आज्ञा थी कि विरोधियो का जीना कठिन या 'असम्भव' बना दिया जाय, कोई दूसरा दल, सगठन या सस्था जीवित न रहने पावे; जो कुछ हो फैसिस्ट हो, सभी नौकरियां भी फैसिस्टो को ही मिलें। इसकी तामील भी सचाई के साथ होती थी।

मुसोलिनी इटली का सर्वशक्तिमान विधाता और सर्वेसर्वा होगया। वह प्रधान-मत्री ही नहीं, साथ ही वैदेशिक, गृह, औपनिवेशिक, युद्ध, जलसेना और श्रमजीवी विभागो का मत्री भी बन बैठा। एक तरह से सारा मन्त्रि-मण्डल ही वह था। बेचारा बादशाह कोने में बिठा दिया गया। उसका कभी नाम ही सुनाई नही देता। पार्लमेण्ट भी धीरे-धीरे एक तरफ धकेल दी गई और छायामात्र रह गई। फैसिस्ट महापरिषद् (फैसिस्ट ग्रैंड कौंसिल) का ही बोलबाला होगया और परिषद् में मुसोलिनी की तूती बोलने लगी।

मुसोलिनी ने शुरू-शुरू में विदेशी मामलो पर जो भाषण दिये उनसे योरप में बड़ा आश्चर्य और भय फैला। वे भाषण असाधारण ढग के थे। वे शेखी और धमकियो से भरे थे। उनमें राजनीतिज्ञो की-सी चिकनी-चुपडी बाते जरा भी नहीं थीं। ऐसा मालूम होता था मानो वह सदा लडाई के लिए तुला बैठा हो। वह इटली के साम्राज्यवादी भाग्य की और इटली के असख्य वायुयानो के आकाश में छा जाने की बातें करता था, और उसने कई बार अपने पडोसी फ़्रान्स को खुली धमकियाँ दीं। अवश्य ही फ़्रान्स इटली से कहीं अधिक बलवान था। मगर लड़ने की किसीकी इच्छा नहीं थी, इसलिए मुसोलिनी की ये सब बाते बर्दाश्त करली जाती थीं। राष्ट्रसघ को मुसोलिनी ने अपने व्यंग और तिरस्कार का खास तौर पर निशाना बनाया। दिल्लगी तो यह थी कि इटली खुद राष्ट्रसंघ का सदस्य था। एक अवसर पर तो मुसोलिनी ने बहुत बुरी तरह आगे बढकर उसका मान भग किया। फिर भी राष्ट्रसघ और दूसरी शक्तियां इसे पी गई। परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे मुसोलिनी के भाषणों की उत्तेजना भी कम पड़ती गई। उसका रवैया नरम हो-गया है और अब वह भी दूसरे शान्त राजनीतिज्ञो की तरह ही शान्ति और नि शस्त्री-करण की बातें करता है। निरकुश शासको की सत्ता पशुबल पर निर्भर होती है, इस कारण युद्ध उनके लिए सदा खतरनाक होते है।

पिछले दस साल में इटली में बहुत-से बाहरी परिवर्तन हुए है और यात्रियो के दिल पर वहां व्यवस्था और समय की पाबन्दी देखकर अच्छा असर पड़ता है। रोम का

मोरक्को के छोटे-बडे दो हिस्से करके फ्रास और स्पेन ने उन्हे अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्रो में बॉट लिया था। १९२१में मोरक्को के रीफ लोगो में अब्दुलकरीम नाम का एक योग्य नेता स्पेनिश शासन के खिलाफ खडा हुआ। उसने बडी काबलियत और बहादुरी का सबूत दिया और स्पेनिश फौजो को बार-बार हराया। इससे स्पेन की भीतरी स्थिति विकट होगई। राजा और सेनानायक दोनो विधान और पार्लमेण्ट का खात्मा करके निरकुश शासन कायम करना चाहते थे। इस बात पर वे दोनो सहमत थे, लेकिन सर्वेसर्वा कौन बने इस बात पर उनमे मतभेद था। राजा खुद सर्वसत्ताधारी या निरकुश शासक बनना चाहता था और फौज के लोग सैनिक-शाही कायम करना चाहते थे। १९२३ के सितम्बर में फौज ने बगावत करदी। इससे मामला फौज के हक में तय होगया और सेनापति प्राइमो दि रिवेरा सर्वेसर्वा बन गया। उसने पार्लमेण्ट को मुअत्तल करके पशुबल के जरिये यानी फौज के सहारे हुकूमत करनी शुरू कर दी। फिर भी रीफो के खिलाफ मोरक्को वाली मुहिम कामयाब नही हुई और अब्दुलकरीम आगे बढ-बढकर स्पेन की सत्ता का तिरस्कार करता रहा। स्पेनिश सरकार ने उसके सामने अनुकूल शर्ते पेश कीं, मगर उसने उन्हे मजूर नही किया। वह बराबर मुकम्मल आजादी का दावेदार रहा। मुमकिन है कि अकेली स्पेनिश सरकार उसे दबा देने में कामयाब न होती। फ्रान्स का मोरक्को में बडा स्वार्थ था। १९२५ में उसने दखल देने का फैसला किया और अपने विशाल साधन अब्दुलकरीम के खिलाफ लगा दिये। १९२६ के मध्य में अब्दुलकरीम की हार हुई, फ्रास वालो के आगे उसने हथियार डाल दिये और उसकी लम्बी और वीरतापूर्ण लडाई खत्म हुई।

इस बीच स्पेन में प्राइमो दि रिवेरा की तानाशाही जारी रही। उसके मामूली लवाजमात यानी फौजी जबरदस्ती, खबरो पर पाबन्दी, दमन और कभी-कभी फौजी कानून भी साथ रहे। याद रहे कि यह तानाशाही मुसोलिनी की तानाशाही से जुदा ढग की थी। इसका आधार सिर्फ सेना पर था और इटली में जनता के कुछ वर्गों का सहारा था। ज्योही ही सेना प्राइमो दि रिवेरा से ऊबी कि और कोई उसकी मदद करनेवाला ही नही रहा। १९३० के शुरू में ही राजा ने प्राइमो को बर्खास्त कर दिया। उसी साल क्रान्ति भी हुई थी और वह दबा भी दी गई थी। मगर प्रजातन्त्र और क्रान्ति की भावना इतनी व्यापक होगई थी कि उसे दबाकर रखना असभव था। १९३१ में प्रजातन्त्रवादियो ने म्यूनिसिपल चुनाव में अपने भारी बल का परिचय दिया और उसके थोडे ही दिन बाद राजा अलफैन्जो ने गद्दी छोड़कर देश से भाग जाने में ही बुद्धिमानी समझी। अस्थायी सरकार कायम होगई और स्पेन में योरप की सबसे नई प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का जन्म हुआ। अबतक स्पेन निरकुश राजतन्त्र और धार्मिक

इन लगातार गिरफ्तारियो से ज़ाहिर है कि इस सारे दमन के बावजूद देश में गुप्त और क्रान्तिकारी विरोध मौजूद है। उसकी शक्ति कितनी है, यह कह सकना कठिन है। वैसे ज़ाहिरा तो यही मालूम होता है कि मुसोलिनी ही सर्वेसर्वा है और उसकी जड़ खूब मजबूत जम गई है। परन्तु आर्थिक बोझ बढ़ता जारहा है और देश की माली हालत फिर बहुत खराब होगई है। मगर यह बात तो आज करीब-करीब सभी देशो के लिए कही जा सकती है।

: १७६ :

लोकसत्ता और निरंकुश शासन

२२ जून, १९३३

बेनिटो मुसोलिनी ने अपनेको इटली का सर्वेसर्वा (डिक्टेटर) क्या बना लिया, उसके उदाहरण की बीमारी योरप-भर में फैलती दीखने लगी। उसने कहा—"योरप के हर देश में सिंहासन खाली पड़ा है। कोई योग्य पुरुष उसपर कब्जा करले, इसीकी देर है।" कई मुल्को में निरंकुश शासन कायम होगये। पार्लमेण्टें या तो तोड़ दी गई या उन्हे जबरदस्ती सर्वसत्ताधारियो (डिक्टेटरो) की इच्छाओ के अनुकूल बना लिया गया। स्पेन की मिसाल ध्यान देने लायक है।

स्पेन महासमर में नहीं पडा था। उसने लड़ाकू राष्ट्रो को माल बेच-बेचकर खूब धन कमाया। लेकिन उसके अपने झगडे तो थे ही और वह औद्योगिक दृष्टि से बहुत पिछडा हुआ देश था। एक समय था, जब अमेरिका और पूर्वी देशो का धन उसके यहाँ बहकर आता था और योरप में उसका दर्जा बहुत ऊँचा था। लेकिन वह ज़माना कभी का बीत चुका था। अब तो योरप में उसकी महत्वपूर्ण शक्ति भी नहीं समझी जाती थी। उसकी पार्लमेण्ट कमजोर-सी संस्था थी। उसे कोर्टे कहते थे। रोमन पादरियो का ज़ोर था। उद्योग-धधो में पिछडे हुए योरप के दूसरे देशो में जो बात हुई, वही स्पेन में भी हुई। जर्मनी और इंग्लैण्ड के ठोस मार्क्सवाद और नरम समाजवाद की अपेक्षा वहाँ सघवाद और अराजकतावाद का प्रचार ज्यादा हुआ। जब १९१७ में रूस के बोलशेविक सत्ता के लिए जूझ रहे थे उस वक्त स्पेन के मजदूरो और उग्र सुधारको ने व्यापक हडताल करके लोकसत्तात्मक प्रजातन्त्र कायम करने की कोशिश की। बादशाह की सरकार और सेना ने मिलकर इस हडताल और सारे आन्दोलन को कुचल दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि देश में सेना की सत्ता सर्वोपरि होगई। बादशाह भी फौज का सहारा पाकर पहले से ज़रा अधिक स्वतन्त्र और स्वेच्छाचारी होगया।

की हुई--साम्यवादियो की, फैसिस्टो की और सेना की। सैनिक तानाशाही में कोई खास बात नही है। वह पुराने जमाने से चली आई है। साम्यवादी और फैसिस्ट तानाशाहियाँ इतिहास में नई चीज हैं और हमारे अपने समय की खास उपज है।

इन तानाशाहियो के बारे मे सबसे मार्के की बात यह है कि ये लोकसत्ता और प्रतिनिधि-शासन के बिलकुल खिलाफ है। तुम्हे याद होगा, मैंने तुम्हे बताया है कि उन्नीसवी सदी लोकसत्ता की सदी थी। उस सदी में फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति की दी हुई मनुष्य के अधिकारो-सम्बन्धी विचार-धारा ने उन्नत लोगो के मस्तिष्क पर शासन किया था और व्यक्ति-स्वातत्र्य का ध्येय सर्वमान्य होगया था। इसीमें से योरप के ज्यादातर देशो में--कही कम कही ज्यादा--प्रतिनिधि-शासन का विकास हुआ। इसमे आर्थिक क्षेत्र में दखल न डालने और जो कुछ चल रहा है वही चलने देने का उसूल चल गया। बीसवी सदी ने, या यू कहो कि महासमर के बाद के सालो ने, उन्नीसवी सदी की इस महान् परम्परा का अन्त कर दिया और अब नियमित लोक-सत्ता को कल्पना का आदर बहुत ही थोडे लोगो में रह गया है। लोकसत्ता के इस पतन के साथ उदार कहलानेवाले समूहो का भी सब जगह एकसा हाल हुआ और अब उनकी गिनती सबल शक्तियो में नही रही।

लोकसत्ता की टीका और विरोध साम्यवादियो और फैसिस्टो दोनो ने किया है, मगर दोनो की दलीले बिलकुल जुदा-जुदा है। जिन देशो में साम्यवाद या फैसिज्म किसीका भी जोर नही है, उनमें भी लोकसत्ता की पहले जैसी कद्र नहीं रही। पार्ल-मेण्ट की पहलेवाली बात जाती रही और अब उसकी बहुत इज्जत नही है। शासन विभाग के मुखियाओ को बडे इख्तियारात देदिये जाते है और वे पार्लमेण्ट से पूछे बिना जो ठीक समझते है कर डालते है। इसकी एक वजह तो यह है कि आजकल का वक़्त बड़ा नाज़ुक है। इसमें तुरन्त कार्रवाई करने की जरूरत पड़ती रहती है और प्रतिनिधि-सभायें जल्दी कार्रवाई नही कर सकती। जर्मनी ने हाल ही में अपनी पार्ल-मेण्ट को बिलकुल धता बता दिया है और अब वहाँ फैसिस्ट शासन का बुरे-से-बुरा रूप प्रकट हो रहा है। अमेरिका के सयुक्त राष्ट्र के प्रधान के हाथो में सदा ही बडे अधिकार रहे है और इस साल वे और भी बढ़ा दिये गये है। इस वक़्त तो सिर्फ इग्लैण्ड और फ़्रांस ही दो बडे देश रह गये है जहाँ जाहिरा तौर पर पार्लमेण्ट पहले की तरह काम कर रही है। उनकी मनमानी उनके मातहत देशो और उपनिवेशो में होती है। अंग्रेजो का फैसिज्म हिन्दुस्तान में और फ़्रांस का इण्डो-चीन में 'शान्ति-स्थापन' का काम कर रहा है! मगर लन्दन और पैरिस में भी पार्लमेण्ट खोखली होती जा रही है। पिछले ही महीने उदार दल के एक प्रमुख अंग्रेज ने कहा था:--

शासन का प्रतीक बना हुआ था। अब उसने राजा अलफ़ैन्ज़ो को मुजरिम करार दिया और चर्च यानी धर्म-संस्था के खिलाफ लड़ाई शुरू करवी।

मगर मैं तो तुम्हे सर्वसत्ताधारियो (डिक्टेटरो) का हाल कह रहा था। इटली और स्पेन के सिवाय जिन दूसरे देशो ने लोकसत्तात्माक शासन-प्रणाली को छोड़कर निरकुश शासन स्थापित कर लिये थे, वे ये हैं—पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, यूनान, बलगेरिया, पुर्त्तगाल, हगरी और आस्ट्रिया। पोलैण्ड में सेना पर अधिकार होने के कारण पिलसूडस्की सर्व-सत्ताधारी यानी डिक्टेटर बन गया था। यह ज़ार के जमाने का पुराना समाजवादी था। पोलैण्ड की पार्लमेण्ट के सदस्यो को यह ऐसी बुरी-बुरी सुनाया करता था कि आश्चर्य होता था। कभी-कभी तो वे सचमुच गिरफ़्तार करके भेज दिये जाते थे। यूगोस्लाविया में खुद राजा सर्वेसर्वा है। कहते है कि इस देश में कही-कहीं तुर्कों के शासन से भी अधिक ख़राब हालत और ज़ुल्म है।

मैने जिन मुल्को का जिक्र किया है उन सब में शायद अब खुली तानाशाही नही है। उनके जल्दी-जल्दी होनेवाले परिवर्त्तनो से वाकिफ रहना मुश्किल है। कभी-कभी उनकी पार्लमेण्टो की थोडी देर के लिए नीद खुल जाती है और उन्हे काम करने दिया जाता है। कभी-कभी, जैसा बलगेरिया में हाल ही में हुआ, सत्ताधारी सरकार जिन सदस्यो को नापसन्द करती है उनके समूह-के-समूह को गिरफ्तार करके पार्लमेण्ट से उन्हे निकाल देती है। साम्यवादी लोग आम तौर पर इस गुस्से के शिकार होते हैं। पीछे से और दलो के सदस्य जैसे-तैसे अपना काम चलाते हैं। ये देश सदा ही या तो सर्व-सत्ताधारियो यानी डिक्टेटरो के मातहत रहते है या इनकी हालत करीब-करीब ऐसी ही रहती है। व्यक्तियो या छोटे-छोटे समूहो की इन सरकारो का आधार पशुबल होता है और उन्हे लगातार विरोधियो के दमन, हत्या, सख्त पाबन्दियो और कैद का तथा गुप्तचरो के जाल का सहारा ढूंढना पडता है।

योरप के वाहर भी तानाशाहियो का उदय हुआ। मैं तुम्हे तुर्की और कमाल-पाशा का हाल पहले ही बता चुका हूँ। दक्षिण अमेरिका में कई सर्वसत्ताधारी थे, लेकिन वहांके लिए यह सस्था पुरानी हो चुकी थी, क्योंकि दक्षिणी अमेरिका के प्रजातत्रो ने लोकसत्ता के विधि विधानो को कभी अच्छी नजर से नही देखा।

तानाशाहियो की इस सूची में मैंने सोवियट यूनियन को शामिल नहीं किया है, क्योंकि वहांकी तानाशाही है तो उतनी ही निर्दय जितनी और देशो की है मगर वह एक मुख्तलिफ किस्म की है। वहां किसी व्यक्ति या छोटे-से समूह का बोलबाला नही है, वल्कि एक ऐसे सुसगठित राजनैतिक दल का है जिसका मुख्य आधार मजदूरो पर है। वे इसे 'ग़रीवो का सर्वाधिकार' कहते है। इस तरह तानाशाही तीन किस्म

करने के लिए एक बीच का ऐसा समय जरूरी है जिसमें सारी सत्ता गरीबो के हाथ मे रहे और पूजीवादी और अमीर वर्ग इस तरह दबाकर रक्खे जायँ कि वे मजदूरो के राज्य के खिलाफ षडयत्र न रच सके। इस तरह की सर्वोपरि सत्ता सोवियट यूनियन में है। उसमें सारे मजदूर, किसान और काम करनेवाले वर्गों का प्रतिनिधित्व है। इस तरह इस तानाशाही में ९० या ९५ फीसदी लोगो की बाकी के ५ या १० फीसदी लोगो पर हुकूमत होती है। यह तो हुई सिद्धान्त की वात। व्यवहार में साम्यवादी दल का नियत्रण सोवियट पचायतो पर है और साम्यवादी दल पर शासको के गुट का अधिकार है। और जहाँतक खबरो पर पाबन्दी और विचार या कार्य की आजादी का ताल्लुक है, वहाँतक यह तानाशाही भी उतनी ही कडी है जितनी और किसी तरह की तानाशाही होसकती है। परन्तु चूकि इसका आधार श्रमजीवियो का सद्भाव है, इसलिए उन्हे साथ रखना इसके लिए जरूरी है। और आखरी बात यह है कि इसमें मजदूरो का या किसी एक वर्ग का दूसरे वर्ग के लाभ के लिए शोषण नही होता। कोई शोषक वर्ग वाकी ही नही रहता। अगर कोई शोषण करता है तो वह राज्य ही करता है और वह सबकी भलाई के लिए करता है। यह याद रखने की बात है कि रूस में कभी लोकसत्तात्मक शासन नही रहा। वह तो १९१७ में निरंकुश राजतंत्र से एकदम छलाग मारकर साम्यवाद में पहुँच गया।

फैसिस्ट दृष्टिकोण इससे बिलकुल भिन्न है। मै तुम्हे पिछले खत में बता चुका हूँ कि यह जान सकना आसान नही है कि फैसिस्टो के क्या उसूल है। उनके कोई निश्चित उसूल मालूम नही होते। मगर इसमें कोई शक नहीं कि लोकसत्ता के वे खिलाफ है। हाँ, लोकसत्ता का उनका विरोध और कम्यूनिस्टो (साम्यवादियो) का विरोध बिलकुल जुदा है। साम्यवादी लोकसत्ता के खिलाफ़ इसलिए है कि यह असली चीज नही है, बनावटी चीज है। फैसिस्ट लोकसत्ता के सिद्धान्त और विचार के ही खिलाफ है। वे अपनी पूरी ताकत के साथ लोकसत्ता की निन्दा करते है। मुसोलिनी ने उसे 'सडी हुई लाश' की पदवी दी है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विचार से भी फैसिस्टो को उतनी ही नफरत है। उनके खयाल से राज्य ही सब कुछ है, व्यक्ति की कोई गिनती वही। (साम्यवादी भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को बहुत महत्व नही देते)। उन्नीसवी सदी की उदार लोकसत्ता का पुजारी बेचारा मैजिनी आज जिन्दा होता तो वह अपने देश-बन्धु मुसोलिनी से क्या कहता!

साम्यवादियो और फैसिस्टो को ही नहीं, और बहुत-से लोगो को भी, जिन्होने वर्तमान युग के झगडो पर विचार किया है, इस पुराने विचार से असन्तोष होगया है कि मताधिकार दे देने का ही नाम लोकसत्ता है। लोकसत्ता का अर्थ है

हमारी प्रतिनिधि संस्था पार्लमेण्ट तेजी के साथ एक शासन-समूह के हाथ का खिलौना बनती जा रही है और उसके हुक्मो का पालन भर कर देना उसका काम रह गया है। इस समूह का चुनाव एक अपूर्ण और भद्दे निर्वाचन-यन्त्र के द्वारा होता है।"

इस तरह उन्नीसवी सदी की लोकसत्ताओ और पार्लमेण्टो का असर सभी जगह कम हो रहा है। कुछ देशो में तो इन्हे खुले और बहुत भद्दे ढंग से रद कर दिया गया है और कुछ देशो में उनका कोई अर्थ नही रह गया है। वे धीरे-धीरे एक गम्भीर और थोथा तमाशा होती जा रही है। एक इतिहासकार ने पार्लमेण्टो के इस पतन की तुलना उन्नीसवी सदी के राजाशाही के पतन से की है। इस लेखक के मत से पार्लमेण्टें भी उसी तरह निर्बल और दिखावटी चीजें हो जायगी और होती जा रही है; वे दीखने में बडी और महत्वपूर्ण रहेगी, मगर उनका अर्थ कुछ भी नही रहेगा—जिस तरह कि इग्लैण्ड और दूसरे देशो में राजा की असली सत्ता जाती रही और वह सिर्फ प्रदर्शन के लिए वैध शासक मात्र रह गया।

यह सब क्यो हुआ ? जिस लोकसत्ता का आदर्श असख्य मनुष्यो को सौ वर्ष से भी अधिक प्रेरणा देता रहा और जिसपर हजारो ने अपने प्राण निछावर कर दिये, वह आज इतनी नापसन्द क्यो होगई ? ऐसे परिवर्तन काफी कारणो के बिना तो हुआ नही करते। उनका आधार अस्थिरचित्त जनता की सनक भी नही होता। अवश्य ही जीवन की आधुनिक परिस्थिति में कोई बात ऐसी है जो उन्नीसवी सदी की नियमित लोकसत्ता के साथ मेल नही खाती। यह विषय दिलचस्प और पेचीदा है। मैं इसपर यहां विस्तार से तो नही कह सकता, मगर दो-एक बाते तुम्हारे विचार के लिए रखता हूं।

मैंने पिछले पैरे में लोकसत्ता का जिक्र करते वक्त 'नियमित' शब्द काम में लिया है। साम्यवादियो का कहना है कि वह सच्ची लोकसत्ता नहीं थी। वह सिर्फ लोकसत्ता का परदा था जिसके नीचे यह सत्य छिपा रहता था कि एक वर्ग दूसरे वर्गो पर हुकूमत कर रहा है। उनके कहने के मुताबिक लोकसत्ता पूजीवादी वर्ग की सर्वोपरि सत्ता के लिए परदे का काम देती थी। उनकी राय में यह धनिक-राज्य था। सर्वसाधारण को जो मताधिकार मिला था, और जिसकी इतनी बड़ाई की गई है, उससे उन्हे चार-पांच वर्षो में एक बार इतना-सा कहने का हक मिला था कि 'अ' उनपर राज्य करे और उनका शोषण करे या 'ब' करे। हर हालत में अमीर गरीबो का खून चूसते रहे। सच्ची लोकसत्ता तभी कायम होसकती है जब यह वर्ग-राज्य और शोषण न रहे और सिर्फ एक ही वर्ग बाकी रह जाय। परन्तु ऐसे समाजवादी शासन का विकास

व्यक्तित्व के द्वारा नही करना चाहिए। यह लोकसत्तात्मक ढग है। उन्हे विकास फैसिस्ट तरीके पर करना चाहिए और ससार की अतम-चेतना के रूप में यानी अपने अह के विकसित रूप में करना चाहिए। (इसका क्या अर्थ हुआ, यह मेरी समझ में खाक भी नही आया)। इस तरह इस दृष्टिबिन्दु में व्यक्तित्व और स्वातंत्र्य का कोई स्थान नही। इसके अनुसार सच्चा व्यक्तित्व और व्यक्ति-स्वातंत्र्य वही है जो मनुष्य अपनेको किसी दूसरी चीज यानी राज्य में विलीन करके प्राप्त करता है।'

"कुटुम्ब, राज्य और आत्मा मे मिल जाने से मेरा व्यक्तित्व मिटता नही है वल्कि ऊँचा उठता है, मजबूत होता और बढता है।"

जेण्टाइल फिर कहता है —

"शक्ति किसी भी तरह की हो, यदि उससे सकल्प पर असर पडता है तो वह नैतिक शक्ति ही है, उसके पक्ष मे दलील चाहे उपदेश की दी जाय या डण्डे की।"

इससे हम समझ सकते ह कि भारत में जब सरकार लाठी-चार्ज करवाती है तो कितने नैतिकबल को काम में लेती है!

ये सब बाते तो ऐसी है कि जो चीज हो चुकी हो उसका अर्थ खास तरह से लगाया जाय या उसे न्याय्य सिद्ध किया जाय। यह भी कहा जाता है कि फ़ैसिज्म का उद्देश्य 'सामूहिक राज्य' (Corporative State) की स्थापना करना है। मेरा अनुमान है कि ऐसे राज्य में सब लोग सामूहिक भलाई के लिए मिल-जुलकर काम करते है। परन्तु अभीतक इटली में या और कहीं भी ऐसा राज्य प्रकट नही हुआ है। इटली में भी और पूंजीवादी देशो की तरह ही पूंजीवाद मजे से अपना काम कर रहा है।

चूंकि फैसिज्म और मुल्को में भी फैल गया है, इससे जाहिर है कि यह इटली की ही कोई विशेषता नहीं है, बल्कि एक ऐसी चीज है जो किसी भी देश में खास तरह के आर्थिक और सामाजिक हालात होने पर पैदा होसकती है। जब कभी मजदूरो का बल बढ़ता है और वे सचमुच पूंजीवादी राज्य के लिए खतरनाक होजाते है, तो पूंजीवादी वर्ग का अपने बचाव की कोशिश करना स्वाभाविक है। आम तौर पर मजदूरो की तरफ से ऐसा खतरा भयकर आर्थिक संकट के अवसरो पर ही पैदा होता है। अगर सम्पन्न और शासक वर्ग उस वक़्त पुलिस और फौज की मदद लेकर मामूली लोकसत्तात्मक साधनो से मजदूरो को नही दबा सकते है, तो वे फैसिस्ट तरीके का सहारा लेते है। यह इस तरह कि एक लोकप्रिय सार्वजनिक आन्दोलन खड़ा कर दिया जाता है; उसमें कुछ रणनाद या नारे तो सर्वसाधारण को पसन्द आनेवाले रख दिये जाते है, पर वह आन्दोलन सम्पत्तिशाली वर्ग की रक्षा के ही लिए होता है। इस आन्दोलन की रीढ़ नीचे दर्जे का मध्यमवर्ग होता है, क्योकि इसमें बेकारो की तादाद बहुत होती है। इन

समानता, और समानता के समाज में ही लोकसत्ता फल-फूल सकती है। यह स्पष्ट है कि सबको मताधिकार दे देने से ही समानता का समाज कायम नही होजाता। वयस्क-मताधिकार यानी सब बालिग स्त्री-पुरुषो को राय देने का हक देदेने या ऐसी ही और कुछ बाते होजाने पर भी आज भयकर असमानता मौजूद है। इसलिए लोकसत्ता को मौका देना हो तो समानता का समाज कायम होना लाजिमी है। इस तर्क से कई तरह के दूसरे आदर्शो और साधनो का सवाल खडा होजाता है। परन्तु यह बात सभी लोग निर्विवाद रूप से मानते है कि आजकल की पार्लमेण्टें बहुत ही असन्तोषजनक है।

फैसिज्म को ज़रा और गहरी नज़र से देखें और मालूम करे कि यह क्या है। इसे हिंसा पर गर्व और शान्तिप्रियता से नफ़रत है। इटली के विश्वकोष में मुसोलिनी ने लिखा है :—

"फैसिज्म का न तो शाश्वत शान्ति की आवश्यकता मे विश्वास है और न उसकी उपयोगिता मे। शान्तिवाद मे जद्दोजहद से बचने की वृत्ति छिपी हुई है। वह मूलत कायरता ही है। इसलिए फैसिज्म कुर्बानी के मुकाबिले मे अमन को ठुकराता है। युद्ध और सिर्फ युद्ध से ही मनुष्य की शक्तियो की अधिक-से-अधिक जोरआज-माई होती है और उसको स्वीकार करने का साहस करनेवाली जातियो के सिर पर ही उच्चता का सेहरा बँधता है। और सब तरह की परीक्षाये नकली होती है। वे मनुष्य के सामने जीवन या मरण के चुनाव का सवाल पेश नही करती।"

फैसिज्म उत्कट राष्ट्रवादी और साम्यवाद अन्तर्राष्ट्रीय है। फैसिज्म अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोध करता है। उसने राज्य को एक देवता बना दिया है। इस देवता के चरणो में व्यक्ति की स्वतत्रता और अधिकारो की बलि चढनी ही चाहिए। उसके लिए अपने देश के सिवा और सब मुल्क गैर है और करीब-करीब दुश्मन जैसे है। यहूदियो को विदेशी समझकर आमतौर पर सताया जाता है। फैसिज्म में भले ही कुछ धनिक-विरोधी नारो और क्रान्तिकारी साधनो का स्थान हो, परन्तु उसका सम्पत्तिशाली और प्रतिगामी वर्गो से गठबन्धन ज़रूर है।

ये फैसिज्म की कुछ सूरते है। उसका कोई तत्त्वज्ञान हो तो उसे समझ सकना कठिन है। हम देख चुके है कि इसका आरम्भ सत्ता की लालसा के साथ हुआ है। जब कामयाबी मिल गई, तब उसका तत्त्वज्ञान बनाने की कोशिश की गई। तुम चक्कर में तो पडोगी मगर तुम्हे फैसिज्म की कल्पना हो जायगी, इसलिए एक प्रसिद्ध फैसिस्ट तत्त्ववेत्ता का उद्धरण दूंगा। उसका नाम जियोवानी जेण्टाइल है। यह फैसिज्म का अधिकार-प्राप्त तत्त्ववेत्ता माना जाता है और फैसिस्ट सरकार का एक मंत्री भी रह चुका है। जेण्टाइल का कहना है कि 'लोगो को अपना आत्मानुभव या विकास अपने

: १७७ :

चीन की क्रान्ति और प्रति-क्रान्ति

२६ जून, १९३३

अब हम योरप और उसके असन्तोष को छोड़कर उससे भी बडे उपद्रव के क्षेत्र, सुदूर पूर्व, चीन और जापान मे चले। चीन पर लिखे हुए अपने पिछले खत मे मैंने तुम्हे बताया था कि इस युवा प्रजातन्त्र को कितनी मुश्किले पेश आई है। यह प्रजातंत्र ससार की अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण संस्कृति की भूमि में स्थापित हुआ। उस वक्त देश तहस-नहस होता दिखाई दे रहा था और तूशन और महातूशन नाम से पुकारे जानेवाले बेउसूल सेनानायको की ताकत बढ़ रही थी। ये लोग हमेशा आपस में लडते रहते थे। इन्हे अक्सर साम्राज्यवादी राष्ट्रो की तरफ से उत्साह और सहायता दी जाती थी, क्योकि इन राष्ट्रो का स्वार्थ इसीमें था कि चीन दुर्बल हो और आपस में लडता रहे। इन तूशनो के कोई उसूल नही थे। उनमें से हरेक अपनी-अपनी बड़ाई चाहता था और वहाँ जो छोटे-छोटे गृह-युद्ध चलते रहते थे उनमें वे कभी इस तरफ हो जाते थे और कभी उस तरफ। उनके और उनकी सेनाओ के गुजर का भार अभागे किसानो पर पडता था। मै तुम्हे यह भी बता चुका हूँ कि चीन के महान् नेता डॉक्टर सनयातसेन ने दक्षिणी चीन मे कैण्टन नगर में राष्ट्रीय सरकार सगठित की थी। इस महापुरुष ने जीवन-भर चीन की आजादी के लिए कोशिश की थी।

सारे देश पर विदेशी पूँजीवादी राष्ट्रो के आर्थिक स्वार्थो का प्रभाव था। ये शघाई और हॉगकॉग वगैरा बडे-बडे बन्दरगाहवाले शहरो में बैठकर चीन के सारे विदेशी व्यापार का नियंत्रण करते थे। डॉक्टर सन ने बिलकुल सच कहा था कि आर्थिक दृष्टि से चीन इन राष्ट्रो का उपनिवेश है। एक मालिक का होना ही कम बुरी बात नही होती। कई मालिको का होना कभी-कभी उससे भी बुरी बात है। डॉक्टर सन ने देश का औद्योगिक विकास करनें और अपने घर का सुधार करने के लिए विदेशो की सहायता लेने की कोशिश की थी। अमेरिका और ब्रिटेन से खास उम्मीदे थी, मगर दोनो नें या और भी किसी साम्राज्यवादी राष्ट्र ने सहायता नही दी। चीन के शोषण में सबका स्वार्थ था। वे उसकी भलाई या बल-वृद्धि नही चाहते थे। तब १९२४ मे डॉक्टर सन ने रूस की तरफ नजर डाली।

चीन के विद्यार्थियो और शिक्षित वर्ग में गुप्त रूप से पर तेजी के साथ साम्यवाद बढ़ रहा था। १९२० में एक साम्यवादी दल बन चुका था और वह गुप्त समिति के रूप में काम करता रहा, क्योकि वहाँ की मुख्तलिफ सरकारो ने उसे खुले तौर पर तो

नारो से और अपनी हालत सुधारने की उम्मीदो से आकर्षित होकर बहुत-से राजनैतिक विचारो में पिछडे हुए और असगठित मजदूर भी शामिल होजाते है। ऐसे आन्दोलन को वडे-वडे अमीरो से रुपये की मदद मिलती है, क्योकि उन्हें इससे फायदा होने की उम्मीद होती है। देश की पूंजीवादी सरकार इस आन्दोलन के हिसा-धर्म और हिसा-कार्य को जानते और देखते हुए भी इसलिए सहन कर लेती है कि यह उसके समान-शत्रु—समाजवादी मजदूर आन्दोलन—से लोहा लेता है। फैसिज्म दल के रूप में भी ओर देश की सरकार बन जाने पर और भी प्रबल होकर मजदूरो के सगठन का नाश करता है ओर सव विरोधियो को भयभीत रखता है।

इस तरह फैसिज्म का उदय उस वक्त होता है जब बढते हुए समाजवाद और जमे हुए पूजीवाद में वर्ग-युद्ध तीव्र और भयंकर होजाता है। यह सामाजिक संघर्ष किसी गलतफहमी से पैदा नही होता, बल्कि हमारे वर्तमान समाज के स्वाभाविक विरोधी हितो और सघर्षो को अच्छी तरह समझने के कारण होता है। इन सघर्षो की उपेक्षा करने से ये नही मिटते। जिन लोगो को वर्तमान व्यवस्था से कष्ट होता है वे ज्यो-ज्यो इस हित-विरोध को समझते जाते है त्यो त्यो उनमें अपने हिस्से से वचित रहने पर अधिक गुस्सा पैदा होता है। जिनके पास सब कुछ है वे कुछ भी छोड़ने को तैयार नही होते। वस इसीसे सघर्ष तीव्र होजाता है। जबतक पूजीवाद अपनी सत्ता कायम रखने के लिए लोकसत्तात्मक सस्थाओ के साधन काम में ले सकता है, तबतक लोक-सत्ता को कायम रहने दिया जाता है। जब यह सम्भव नही रहता, तब पूजीवाद लोक-सत्ता को परे फेंक देता है और हिसा और आतकवाद का खुला फैसिस्ट तरीका इख्ति-यार कर लेता है।

शायद रूस के सिवा योरप के सभी देशो में फैसिज्म थोडे-बहुत प्रमाण मे मौजूद है। इसकी सबसे ताजा जीत जर्मनी में हुई है। इग्लैण्ड में भी शासकवर्ग में फैसिस्ट विचार फैल रहे है और उनका प्रयोग हम हिन्दुस्तान में तो अक्सर देखते ही है। ससार की रग-भूमि पर आज फैसिज्म पूजीवाद का अन्तिम अस्त्र बनकर साम्यवाद से जूझ रहा है।

परन्तु फैसिज्म की और बातें जाने दें तो भी उससे ससार को सतानेवाली आर्थिक समस्याओ का भी कोई हल नही मिलता। इसका तीव्र राष्ट्रवाद ससार की एक-दूसरे पर निर्भर रहने की वृत्ति के विरुद्ध पडता है और पूंजीवाद के पतन से उत्पन्न होने-वाली समस्यायें वढती हैं। दूसरे देशो के प्रति इसकी जो आक्रमणकारी मनोवृत्ति है उससे राष्ट्रो में परस्पर सघर्ष पैदा होता है और इससे अक्सर युद्ध की नौबत आ जाती है।

जमीदारी बनती है तो वारिसो में बँटकर उसके जल्दी ही छोटे-छोटे हिस्से होजाते हैं। करीब-करीब आधे किसानो के अपने खेत हैं और आधे जमीदारो की जमीन जोतते हैं। इस तरह चीन छोटे-छोटे बेशुमार किसानो का देश है। सैकडो वर्षो से चीनी किसानो को यह श्रेय है कि वे जमीन में से अधिक-से-अधिक सार निकाल लेते हैं। उनके खेत इतने छोटे हैं कि उन्हे मजबूर होकर ऐसा करना पड़ता है। वे अपनी विलक्षण सूझ काम में लाते हैं और भयकर परिश्रम करते हैं। मेहनत बचाने की कृषि की आधुनिक सुविधायें उनके पास नही हैं। वर्ना जितना फल उन्हे मिलता है उसके लिए इतनी कठोर मेहनत न करनी पडती।

इस सारी सूझ और कडी मेहनत के बावजूद लगभग आधे किसानो का आमद-खर्च बराबर नही होता था और वे अपनी छोटी-छोटी उम्र यूही आधेपेट गुजार देते थे। हिन्दुस्तान के बेशुमार किसानो का भी यही हाल होता है। चीनी किसान सदा ही नगे-भूखे-से रहते थे और जब अकाल और बाढ का संकट आता तो लाखो बेमौत मर जाते। बोरोडीन की सूचना पर डॉक्टर सन की सरकार ने किसानो और मजदूरो की मुसीबत दूर करने के लिए कानून बनाये, लगान पौना कर दिया गया, मजदूरो के लिए आठ घण्टे की मेहनत और जीवन-निर्वाह के योग्य मजदूरी मुकर्रर की गई और किसान-सघ स्थापित किये गये। स्वभावत इन सुधारो का सर्वसाधारण ने स्वागत किया और उनके दिल उत्साह से भर गये, वे नये सघो में धड़ाधड़ शामिल होगये और कैण्टन-सरकार की मदद के लिए खडे होगये।

इस तरह कैण्टन ने अपनी शक्ति मजबूत करके उत्तर के तूशनो से भिडन्त करने की तैयारी करली। एक फौजी कालेज खोल दिया गया और सेना का निर्माण किया गया। कैण्टन में ही नही, सारे चीन में और कुछ हद तक पूर्व-भर में एक दिलचस्प घटना यह होरही है कि धार्मिक सत्ता का स्थान भौतिक सत्ता लेती जा रही है। संकुचित अर्थ में तो चीन कभी धार्मिक देश नही रहा। अब वह और भी भौतिक होगया है। पहले शिक्षा धार्मिक थी, अब भौतिक करदी गई है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि चीन के बहुत-से प्राचीन मन्दिर अब सार्वजनिक उपयोग के काम में लाये जा रहे हैं। कैण्टन के एक मशहूर और पुराने मन्दिर में आजकल पुलिस को तालीम दी जाती है। दूसरे स्थान पर मन्दिरो को बदलकर तरकारी के बाजार बना दिये गये हैं। धार्मिक अन्ध-विश्वास को दूर करने के लिए सस्थायें बन गई है। वे प्रचार-कार्य करती है।

डॉक्टर सनयातसेन १९२५ के मार्च में मर गये, मगर कैण्टन-सरकार की ताकत बढ़ती गई। बोरोडीन उसका सलाहकार बना रहा। थोडे समय बाद कुछ घटनायें

काम करने नही दिया। डॉक्टर सन साम्यवाद से दूर ही रहते थे। उनके मशहूर 'जनता के तीन उसूलों' से मालूम होता है कि वे नरम समाजवादी थे। मगर उनपर इस बात की अच्छी छाप पडी कि सोवियट रूस का चीन और दूसरे पूर्वी राष्ट्रो के साथ उदार और अच्छा वर्ताव है। उन्होने रूस के साथ दोस्ताना ताल्लुकात पैदा कर लिये और कुछ रूसी सलाहकार रख लिये। इनमें से वोरोडीन ज्यादा मशहूर था। वह एक निहायत काबिल वोल्शेविक था। वोरोडीन कैण्टन के राष्ट्रीय दल काउ-मिन-तॉंग के लिए एक जबरदस्त मददगार सावित हुआ। उसने चीन में एक ऐसे वलशाली राष्ट्रीय दल के निर्माण और सगठन के लिए परिश्रम किया जिसकी पीठ पर सर्वसाधारण का सहारा हो। उसने बिलकुल साम्यवादी ढग पर ही काम करने की कोशिश नहीं की। उसने दल की राष्ट्रीय वुनियाद कायम रक्खी, मगर काउ-मिन-तांग में साम्यवादियो के लिए भरती होने का दरवाजा खुलवा दिया। इस तरह राष्ट्रीय काउ-मिन-तॉंग और साम्यवादीदलो में एक तरह का वेजाब्ता मेल होगया। काउ-मिन-तॉंग के बहुत-से अनुदार और धनी सदस्यो को साम्यवादियो का यह सम्पर्क पसन्द नहीं था। उधर बहुत-से साम्यवादियो को भी यह अच्छा नहीं लगता था। इसका कारण यह था कि उन्हे अपना कार्यक्रम नरम वनाना पड़ता था और वहुत-सी ऐसी वाते करनें से बाज रहना पड़ता था जो वे दूसरी सूरत में करते। यह मेल बहुत दिन नहीं टिका। हम देखेंगे कि यह एक नाजुक मौके पर टूटा और उससे चीन पर वडी विपत्ति आई। जिन दो या अधिक वर्गो के स्वार्थ आपस में टकराते हो उन्हे एक ही दल में मिलाकर रखना हमेशा मुश्किल होता है। परन्तु जबतक यह मेल कायम रहा तवतक खूब कामयाव हुआ और काउ-मिन-तॉंग और कैण्टन सरकार का वल वढ़ता गया। किसान-सभाओ और मजदूर-संघो को प्रोत्साहन दिया गया और उनका तेजी से विस्तार हुआ। आम जनता की इसी मदद से कैण्टन की काउ-मिन-तॉंग को सच्ची सत्ता प्राप्त हुई। इसीसे जमीन के मालिक नेताओ के कान खडे हुए और आगे चलकर उन्हे दल को तहस-नहस करने की प्रेरणा मिली।

वहुत वातो में जबरदस्त फर्क होते हुए भी चीन और भारत की स्थिति में वडी समानता है। चीन असल में कृषि-प्रधान देश है। वहॉं वेशुमार किसान है। पूंजीवादी उद्योग सिर्फ छ-सात वडे-वडे शहरो में ही है और विदेशियो के हाथो में है। करोडो किसान कर्ज के भयकर बोझ से पिसे जा रहे है। लगान की दर बहुत ऊँची है और हिन्दुस्तान की तरह वहॉं भी किसानो को कई महीने मजबूरन वेकार रहना पडता है। उन दिनो खेतो में वहुत कम काम रहता है। इस तरह इस खाली समय को भरने और उनकी आमदनी वढाने के लिए गृह-उद्योगो की जरूरत है। अव तो वहाँ बहुत-से गृह-उद्योग हो भी गये है। वहॉं वडी-वडी जमींदारियॉं वहुत कम है। जव कोई वडी

और उसे हर तरह मदद दी। कैण्टन की सेना के खिलाफ लडने के लिए जो फौजें भेजी जाती वे शायद ही कभी लडती और अक्सर सब सामान-सहित उसमें आकर मिल जाती। १९२६ का साल खत्म होने से पहले राष्ट्रवादियो ने आधा चीन पार कर लिया और यॉगत्सी नदी पर हैंकन का बडा शहर ले लिया। उन्होने अपनी राजधानी कैण्टन से हटाकर हैंकन में करली और उसका नाम बदल कर वूहन रख लिया। उत्तरी सेनापतियो को पस्त करके भगा दिया गया। साम्राज्यवादी सत्ताओ की अकस्मात् ऑख खुली। उन्हे बुरा तो लगा, परन्तु उन्होने देख लिया कि एक नवीन और आक्रमणकारी राष्ट्रवादी चीन सामने खडा है, जो समानता का दावा करता है और धमकी में आने से इन्कार करता है।

१९२७ के शुरू में राष्ट्रवादियो ने हैंकन की ब्रिटिश रियायती बस्ती पर कब्जा करने की कोशिश की। इसपर चीनियो और अंग्रेजो में सघर्ष होगया। अगर इस तरह का उत्तेजनापूर्ण रुख चीनी लोग पहले कभी इख्तियार करते तो लड़ाई छिड़ जाती और ब्रिटिश सरकार उन्हे कुचल डालती। इतना ही नहीं, वह उन्हे डरा-धमकाकर हर्जाने और रिआयते वसूल करती। १८४० के अफीम के युद्ध से अबतक सदा यही रिवाज चला आता था, यह हम देख चुके हैं। मगर अब जमाना बदल गया था और अंग्रेजो के मुकाबिले में नई तरह का चीन खडा था। इसलिए तुरन्त और पहली ही बार अंग्रेजो की नीति बदली और नवीन चीन के प्रति उन्होने नरम रुख इख्तियार किया। हैंकन की बस्ती का मामला छोटा-सा था और आसानी से तय हो सकता था। परन्तु उससे थोडी ही दूर पर और राष्ट्रवादियो की कूच के रास्ते में ही शघाई का बड़ा बन्दरगाह था। चीन में विदेशियो के अधिकार में यह सबसे बड़ा और कीमती रिआयती क्षेत्र था। शघाई की किस्मत के साथ विदेशियो के बडे-बडे स्वार्थ लगे हुए थे। वह शहर—नहीं, उसका रिआयती भाग—विदेशी नियत्रण में था और करीब-करीब चीनी सरकार की सत्ता से स्वतत्र था। जब चीन की राष्ट्रीय सेना शंघाई के करीब पहुंचने लगी, तो शघाई के इन विदेशियो और उनकी सरकारो को बडी चिन्ता हुई और उनकी सेना और लड़ाकू जहाज शीघ्र उस बन्दर पर पहुँच गये। १९२७ के शुरू जनवरी में ब्रिटिश सरकार ने खासतौर पर बडी-सी सेना शघाई भेजदी। इसमे हिन्दुस्तानी सिपाही भी थे।

उस वक्त हैंकन या वूहन में कायम राष्ट्रीय सरकार के सामने एक मुश्किल समस्या पैदा होगई—आगे बढ़ा जाय या न बढ़ा जाय, और शघाई को लेलिया जाय या नही? उन्हे अबतक आसानी से जो कामयाबी मिली थी उससे उनका हौसला बढ़ गया था और उनमें उत्साह भर गया था। शंघाई था भी अत्यन्त आकर्षक

ऐसी हुई जिनसे चीन-निवासी विदेशी पूजीपतियो और खास तौर पर अग्रेजो के खिलाफ गुस्से से भर गये। शघाई की मिलो में हड़ताले हुई थी और १९२५ की मई में एक प्रदर्शन में एक मजदूर मारा गया। उसकी स्मृति में एक विशाल सामूहिक प्रार्थना का आयोजन किया गया था। उस अवसर पर विद्यार्थियो और मजदूरो ने साम्राज्य-विरोधी प्रदर्शन किये। एक अग्रेज पुलिस अफसर ने अपनें मातहत सिक्ख सिपाहियो को इस भीड पर गोली चलाने का हुक्म दिया। हुक्म मारने के लिए गोली चलाने का था। कई छात्र मारे गये। इससे चीन-भर में अंग्रेजो के खिलाफ गुस्से की आग भभक उठी। बाद की एक घटना ने स्थिति को और भी बिगाड दिया। यह घटना १९२५ के जून में कैण्टन की शमीन नामक विदेशी बस्ती में हुई। वहॉं मुख्यत चीनी विद्यार्थियो की भीड पर मशीनगन चला दी गई। ५२ आदमी मारे गये और बहुत-से घायल हुए। इस घटना को 'शमीन का हत्या-काण्ड' नाम दिया गया और इसके लिए मुख्यत· अग्रेजो को दोषी ठहराया गया। कैण्टन में ब्रिटिश माल के राज-नैतिक वहिष्कार की घोषणा करदी गई और कई महीने तक हॉंगकॉंग का व्यापार वन्द कर दिया गया। इससे अग्रेज व्यवसायियो और ब्रिटिश सरकार को बडा नुक्सान हुआ। तुम्हे शायद मालूम ह कि हागकाग दक्षिण चीन में अंग्रेजो का इलाका है। यह कैण्टन के पास ही है और यहॉंसे बहुत बड़ा व्यापार होता है।

डॉक्टर सन की मृत्यु के बाद कैण्टन-सरकार के दाहिने और बायें अगो यानी नरम और गरम दलो में लगातार कशमकश रही। कभी एक पक्ष के हाथ मे सत्ता आजाती तो कभी दूसरे के हाथ में। १९२६ के मध्य में नरम दली च्यांग-काई-शेक प्रधान सेनापति बना और उसने साम्यवादियो को धकेल बाहर करना शुरू कर दिया। फिर भी दोनो दल किसी तरह एक हद तक साथ-साथ काम करते रहे। उनके दिलो में परस्पर अविश्वास जरूर था। उसके बाद कैण्टन की सेना का तूशनो से लडने और उन्हे निकाल बाहर करने के लिए उत्तर की तरफ बढना शुरू हुआ। उसका उद्देश्य सारे देश में एक राष्ट्रीय सरकार कायम करना था। यह कूच एक असाधारण घटना थी और शीघ्र ही सारे ससार का ध्यान उसकी तरफ खिच गया। असल में लडाई भी बहुत कम हुई और दक्षिण की सेना फतह-पर-फतह हासिल करती हुई तेजी से आगे बढती गई। उत्तर वालो में फूट थी, लेकिन दक्षिण वालो की असली ताकत इस बात में थी कि किसान और मजदूर उन्हे चाहते थे। उनकी फौज के आगे-आगे प्रचारको और आन्दोलको की टुकडी चलती थी और वह किसानो और मजदूरो के सघ सगठित कर-करके उन्हे समझाती थी कि कैण्टन-सरकार के मातहत होने पर उन्हे क्या-क्या लाभ होगे। इसलिए नगर और गॉंव दोनो ने बढती हुई फौज का स्वागत किया

और नरम अगो में फूट हुई। इससे राष्ट्रीय विजय का अन्त होगया और चीन पर विपत्ति आगई। क्रान्ति खत्म हुई और प्रति-क्रान्ति शुरू होगई।

च्याग-काई-शेक ने हैंकन-सरकार के बहुत-से मन्त्रियो की इच्छा के खिलाफ शघाई पर कूच किया था। इसलिए दोनो दल एक-दूसरे के खिलाफ साजिश करने लगे। हैंकनवालो ने सेना पर च्याग का प्रभाव घटाने और उससे पिण्ड छुड़ाने की कोशिश की। च्याग ने नानकिग में दूसरी सरकार कायम करली। यह सब शघाई की विजय के थोडे दिन बाद ही होगया। हैंकन की अपनी ही सरकार से विद्रोह करके अब च्याग ने अपना स्वरूप पूरी तरह प्रकट कर दिया और साम्यवादियो, उग्रदलवालो और सघ वाले मजदूरो पर हल्ला बोल दिया। जिन मजदूरो की बदौलत वह शघाई पर इतनी आसानी से कब्जा कर पाया था और जिन्होने खुशी से पागल होकर उसका स्वागत किया था, उन्हींको अब उसने चुन-चुनकर सताया और कुचल दिया। बहुत लोगो को गोली या तलवार से मार दिया गया और हजारो को गिरफ्तार करके जेलखाने भेज दिया गया। लोगो की धारणा यह थी कि राष्ट्रवादी शंघाई में स्वतन्त्रता की धारा बहायेंगे, और हुआ यह कि खून की नदियाँ बह निकली।

१९२७ के अप्रैल मास के इन्ही दिनो में एक ही रोज पेकिग और शघाई के सोवियट दूतावासो की एकसाथ तलाशियाँ हुई। यह साफ जाहिर था कि च्याग-काई-शेक उत्तरी सेनानायक चैंग सोलिन से मिलकर कार्रवाई कर रहा है। वैसे इन दोनो में लडाई समझी जाती थी। पेकिग और शघाई दोनो में साम्यवादियो और प्रगति-शील मजदूरो का 'सफाया' किया गया। साम्राज्यवादी सत्ताओ ने तो इन घटनाओ का स्वागत किया ही। उन्हे यह काम इसलिए पसन्द था कि इससे चीनी राष्ट्रवादियो की एकता भग होकर उनका बल क्षीण होता था। यह बहुत मुमकिन है कि उस वक्त च्याग-काई-शेक का शघाई-स्थित विदेशी राष्ट्रो से खुफिया ताल्लुक हो। आगे चल-कर तो इसमें कोई शक नही रहा कि उसने उनका सहयोग चाहा था। तुम्हे याद होगा कि लगभग उसी समय, यानी १९२७ के मई में, ब्रिटिश सरकार ने लन्दन के सोवियट भवन की तलाशी ली थी और फिर रूस के साथ ताल्लुकात तोड़ दिये थे।

इस तरह एक-दो महीने के अन्दर ही चीन का सारा नक्शा बदल गया। जो काऊ-मिन-ताग ऐक्य और विजय की पताका फहराता हुआ चीनी राष्ट्र का प्रतिनिधि था और सफलता का सेहरा सिर पर बाँधे हुए विदेशी सत्ताओ के सम्मुख खड़ा हुआ था, वही काउ-मिन-ताँग अब तहस-नहस होगया था, उसके भिन्न-भिन्न अंग आपस में लड रहे थे, और जिन मजदूरो और किसानो ने उसे जीवन और बल दिया था वे ही अब

पुरस्कार। उधर वे केवल आगे बढ ही रहे थे और ५०० मीलो से भी ज्यादा लम्बा-चौडा इलाका पार कर आये थे, मगर उन्होंनें वहाँ अपनी हालत मजबूत बनाने का उपाय नही किया था। इस हालत में अगर वे शघाई पर हमला कर देते तो विदेशी सत्ताओ से भिडकर मुश्किलो में फँस जाते। मुमकिन है इससे उन्होने जो कुछ हासिल किया था वह भी खतरे में पड जाता। बोरोडीन ने सावधानी से चलने और स्थिति को मजबूत कर लेने की सलाह दी। उसकी राय यह थी कि राष्ट्रवादियो को शघाई से अलग ही रहना चाहिए और चीन के दक्षिणी आधे भाग में, जहाँ उनका अधिकार कायम हो चुका था, अपनी स्थिति दृढ कर लेनी चाहिए। इस बीच में उत्तर में प्रचार-कार्य के जरिये जमीन तैयार करनी चाहिए। उसे उम्मीद थी कि बहुत जल्दी यानी एकाध वर्ष में ही सारा चीन राष्ट्रवाद के आगमन का स्वागत करेगा। उस वक्त शघाई को लेलेने, पेंकिंग पर कूच करने और विदेशी सामाज्यवादी शक्तियो का सामना करने का मौका मिलेगा। क्रान्तिकारी होकर भी बोरोडीन ने यह सावधानी की सलाह दी, क्योंकि वह अनुभवी था और परिस्थिति विशेष को पैदा करनेवाले भिन्न-भिन्न तत्त्वो को समझ सकता था। परन्तु काउ-मिन-तॉग के दाहिने अग के नेताओ ने और खास तौर पर प्रधान सेनापति च्याग-काई-शेक ने शघाई की तरफ कूच करने पर जोर दिया। शघाई को लेलेने की इस इच्छा का असली कारण आगे चलकर उस वक्त जाहिर हुआ जब काउ-मिन-तॉग के बिखरकर दो टुकडे होगये। इन दाहिने अग के नेताओ को किसान और मजदूर-सघो की बढ़ती हुई ताक़त पसन्द न थी। बहुत-से सेनानायक खुद भू-स्वामी थे। इसलिए उन्होने इन सघो को कुचल देने का फंसला कर लिया, भले ही इसमें दल के दो टुकडे हो जायें और राष्ट्रवादी पक्ष कमजोर हो जाय। शघाई बडे-बडे चीनी अमीरो का महत्वपूर्ण केन्द्र था। दाहिने अग के यानी प्रतिगामी सेनानायको को यह विश्वास था कि ये अमीर उन्हे अपने दल के प्रगतिशील अग और खासतौर पर साम्यवादियो से लड़ने में रुपये-पैसे की और दूसरी मदद देंगे। वे यह भी जानते थे कि ऐसी लड़ाई में उन्हे शघाई के विदेशी साहूकारो और कारखानेदारो से भी मदद मिलेगी।

इसलिए उन्होने शघाई पर कूच कर दी। १९२७ के १२ मार्च को शहर का चीनी हिस्सा उनके हाथ आ भी गया। विदेशी बस्ती पर उन्होने हमला नहीं किया। शघाई का यह पतन हुआ भी बहुत लड़ाई के बिना ही। विरोधी सेनायें राष्ट्रवादियो में जा मिली और राष्ट्रवादियो के पक्ष में मजदूरो की आम हडताल हो जाने से शघाई की तत्कालीन सरकार का पूरी तरह पतन होगया। दो दिन बाद नानकिंग का बडा शहर भी राष्ट्रीय सेना के कब्जे में आगया। इसके बाद ही काउ-मिन-तॉग दल के उग

का बोझ किसानो पर भयकर होगया। बेशुमार सिपाही काम की तलाश में देहातो में आवारा फिरने और काम न मिलने पर अक्सर लूटमार करने लगे।

१९२७ के दिसम्बर में नार्नाकग-सरकार और सोवियट रूस के सम्बन्ध टूट गये और साम्राज्यवादी सत्ताओ की शह् पाकर नार्नाकग नें आगे बढकर सोवियट का विरोध करने की वृत्ति धारण करली। अगर रूस बराबर युद्ध को टालता न रहता तो १९२७ में ही चीन से उसकी जग छिड् जाती। १९२९ में चीन ने फिर आक्रमणकारी ढग इख्तियार किया। इस बार मचूरिया में ऐसा हुआ। वहॉके सोवियट दूतावास की तलाशी ली गई और चीनी पूर्वी रेलवे के रूसी कर्मचारियो को बरखास्त कर दिया गया। यह रेलवे अधिकाश में रूसी सम्पत्ति थी और सोवियट सरकार ने चीनियो के खिलाफ तुरन्त कार्रवाई की। कुछ महीनो तक एक तरह् का जग रहा। उसके बाद सरकार ने पुरानी व्यवस्था फिर से कायम करनें की रूसी मॉग स्वीकार करली।

मंचूरिया से और उसके बीच में होकर निकली हुई रेलवे से कई बार अन्त-र्राष्ट्रीय पेचीदगियाँ पैदा हुई है, क्योंकि वहॉ बहुत-से, और खासकर चीन, जापान और रूस के, स्वार्थ टकराते है। पिछले दो वर्षो में दुनियाभर के नाराज होनें पर भी जापान ने उसपर पूरा नियत्रण स्थापित करने की कोशिश की और उसमें वह प्राय सफल भी हो गया है। इसका हाल अगले खत में बताऊँगा।

मंने ऊपर जिक्र किया है कि चीन के कुछ हिस्सो में साम्यवादी सरकार कायम हुई है। यह सरकार आज भी मौजूद है। हॉ, यह स्पष्ट नही है कि इसका बल कितना है और इसका अधिकार कितने विस्तार में है। मालूम होता है दक्षिण के क्वाटंग प्रान्त के हेफग जिले मे १९२७ के नवम्बर में पहलेपहल साम्यवादी शासन कायम हुआ था। यह 'हेफग सोवियट प्रजातन्त्र' कहलाया। इसका विकास अलग-अलग किसान-सघो में से हुआ था। चीन के भीतरी भागो में सोवियट इलाका बढता गया और १९३२ के मध्य तक असली चीन का छठा भाग उसमें शामिल होगया। इसका विस्तार २,५०,००० वर्गमील और जन-संख्या ५ करोड् होगई। इस इलाके पर साम्यवादी दल का सम्पूर्ण अधिकार है और कहते है वहॉ अनुशासन का भी अच्छा पालन होता है। उन लोगो ने चार लाख आदमियो की लाल सेना बनाली है और उसके सहायक अंगो में लड़के और लड़कियाँ भी शामिल होगये है। नानकिग और कैण्टन दोनो सरकारो ने इन चीनी सोवियटो को कुचलने में कोई कसर नहीं रक्खी है, मगर अभीतक उन्हे सफलता नहीं मिली। इसका एक कारण तो यह है कि कम्यूनिस्ट इलाका भीतरी भागो में है और वहॉ आवागमन के साधन अच्छे न होने के कारण वह दुर्गम है। दूसरा कारण यह है कि काउ-मिन-तॉग का प्रभाव तो

सताये और मारे जाते थे। शघाई के विदेशी स्वार्थों को फिर सुख की साँस लेने का मौका मिला। वे बडे कृपा-पूर्ण हाथो से एक समूह को दूसरे के खिलाफ मदद देने लगे। मजदूरो को भडकाने और सताने का लाभदायक और सुखद मनोरजन वे खास तौर पर करने लगे। शंघाई ही क्या, चीन भर के कारखानो के मजदूरो का मालिक लोग भयकर शोषण करते थे और उनका जीवन और रहन-सहन अत्यन्त दुःखी था। संगठन से उन्हे बल मिला था और मालिको को मजबूर होकर उनकी मजदूरी बढ़ानी पडी थी। इस कारण कारखानेदारो को—भले ही वे यूरोपियन हो या जापानी और चीनी हो—मजदूर-सघ नहीं सुहाते थे।

चीन में घटना-चक्र जिस तरह चल पडा उसपर मास्को में बोरोडीन की कडी टीका हुई और १९२७ के जुलाई में वह रूस चला गया। उसके जाते ही हैंकन के काउ-मिन-तॉग दल का उग्र पक्ष छिन्न-भिन्न होगया। अब काउ-मिन-तॉग पर नानकिंग-सरकार का पूरा नियत्रण होगया और साम्यवादियो के खिलाफ खास तौर पर, और वैसे सभी उग्र दलवालो और मजदूर नेताओ के खिलाफ, लडाई जारी रही। इस अवसर पर जो लोग चीन छोड़कर चले गये, या जिन्हे निकाल दिया गया, उनमें से महान नेता सनयातसेन की आदरणीया विधवा श्रीमती सन भी थीं। उन्होनें दुःखित होकर घोषणा की कि सेनावादियो और दूसरे लोगो ने चीन की स्वतन्त्रता के लिए किया गया उनके पतिदेव का महान् कार्य नष्ट कर दिया। फिर भी ये सेनावादी डाक्टर सन के उसूलो की ही दुहाई देते रहे।

चीन फिर सेनानायको की आपसी लडाइयो की भूल-भुलैया में फँस गया। कैण्टन ने नानकिंग-सरकार से अलग होकर दक्षिण में अपनी स्वतन्त्र सरकार कायम करली। १९२८ में पेकिंग नानकिंग-सरकार के हाथ पड गया। उसका नाम बदलकर पीपिंग रख दिया गया। इसका अर्थ 'उत्तरी शान्ति' है और पेकिंग का अर्थ 'उत्तरी राजधानी' है। मगर अब वह राजधानी तो रहा नहीं।

पेकिंग के पतन के बाद—हाँ, अब तो हमें उसे पीपिंग कहना चाहिए—देश के मुख्तलिफ हिस्सो में गृह-युद्ध जारी रहा। कैण्टन में तो अलग सरकार बन ही गई थी। उत्तर में भी भिन्न-भिन्न सेनानायक अपनी मनमानी करते, परस्पर लड़ते रहते और कभी-कभी थोडे दिन के लिए आपस में सुलह कर लेते थे। कहनें को कैण्टन के सिवा सारे चीन में नानकिंग की राष्ट्रीय सरकार का शासन था, मगर कई इलाके उसकी हुकूमत के बाहर थे। उनमें से उल्लेखनीय एक बडा भीतरी प्रदेश था। वहाँ साम्य-वादी शासन कायम होगया था। नानकिंग-सरकार का मुख्य आधार, आर्थिक सहायता के लिए, शघाई के कोठी वालो पर था। अलग-अलग सेनानायको की बड़ी-बड़ी सेनाओ

सरदार रहे। धर्म, शिक्षा और सभी बातो मे यही ध्यान रक्खा गया है। धर्म-विभाग सरकारी नियन्त्रण में है, मन्दिरो और धर्म-स्थानो पर सरकारी अफसरो का सीधा कब्जा है और पुजारी सरकारी नौकर हैं। इस तरह मन्दिरो और स्कूलो के जरिये प्रचार का एक जबरदस्त हथियार काम में लाया जा रहा है। वह लोगो को न सिर्फ देशभक्ति की शिक्षा देता रहता है, बल्कि उन्हे यह भी सिखाता रहता है कि सम्राट् दैवी पुरुष है और उसकी आज्ञा का पालन हर हालत में होना चाहिए। पुरानी वीर परम्परा से मिलते-जुलते अर्थ का जापानी शब्द 'बुशीदो' हैं। इसका अर्थ एक प्रकार की वश-भक्ति है। इसी कल्पना का विस्तार करके उसे राज्य-भर पर लागू कर दिया गया है और सबसे ऊपर सम्राट् से इसका नाता जोड़ दिया गया है। असल में सम्राट् एक प्रतीक है और उसके नाम पर बडे-बडे भूस्वामी और सैनिक वर्ग शासन-सत्ता का सचालन करते हैं। उद्योगवाद के कारण जापान में एक अमीर वर्ग पैदा हुआ है, मगर बडे-बडे कारखानेदार भूस्वामियो में से ही बन गये हैं और इस कारण शक्ति एक अमीर वर्ग के हाथ में जाने की नौबत नही आई। नतीजा यह हुआ है कि जापान में थोडे-से बलशाली परिवारो का देश के उद्योग और राजनीति दोनो पर एकाधिकार कायम होगया है।

जापान में बहुत जमाने से बौद्ध धर्म लोकप्रिय रहा है, लेकिन शिण्टो मत राष्ट्रीय धर्म अधिक है और वह पूर्वजो की पूजा पर जोर देता है। इस पूजा में राष्ट्र के पुराने सम्राटो और वीर पुरुषो की और खास तौर पर उन लोगो की पूजा शामिल है जो लडाई मे मारे गये हो। इस तरह शिण्टो धर्म देश-प्रेम और सम्राट्-भक्ति के भावो का प्रचार करने के लिए एक जबरदस्त और कारगर हथियार बन गया है। जापानी लोगो का विलक्षण देश-प्रेम और अपने वतन के लिए कुर्बानी करने की उनकी तैयारी मशहूर है। मगर यह बात बहुत लोग नहीं जानते कि यह देश-प्रेम बहुत आक्रमणकारी और विश्वव्यापी साम्राज्य के सपने देखनेवाला है। १९१५ के करीब जापान में एक नया सम्प्रदाय निकला। यह 'ओमोतो क्यो' कहलाता है और इसका प्रचार देशभर में बडी तेजी से होगया। इस सम्प्रदाय का खास उसूल यह है कि जापान सारी दुनिया का शासक हो और सम्राट् उसका प्रमुख सत्ताधारी। इस सम्प्रदाय की तरफ से कहा गया था कि—

"हमारा उद्देश्य सिर्फ यही है कि जापान का सम्राट् सारे संसार का शासक बन जाय, क्योकि संसार में वही ऐसा शासक है जिसमें सबसे प्राचीन स्वर्गवासी पूर्वज से विरासत में मिली हुई आध्यात्मिक लक्ष्य के प्रचार की भावना बाकी है।"

हम देख चुके है कि महायुद्ध के समय जापान ने चीन को डरा-धमकाकर उससे

जल्दी-जल्दी नष्ट हो रहा है और सोवियटों की लोकप्रियता और ताकत बढ़ रही है। साम्यवाद के लिए कहा जाता है कि वह उद्योग-प्रधान देशों में ही फलता-फूलता है, और ये चीनी सोवियट प्रजातन्त्र ठहरे बहुत पिछड़े हुए और दुनिया से अलग-थलग। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि ये चीन के भविष्य का निर्माण करने में महत्त्वपूर्ण काम करेंगे। आज भी इनके अधिकार में बहुत बड़ा प्रदेश है। वह करीब-करीब संयुक्तप्रान्त, दिल्ली, पंजाब, और सीमाप्रान्त के सम्मिलित इलाके के बराबर है, यानी बनारस से पेशावर तक उसका विस्तार हो सकता है। आबादी भी संयुक्तप्रान्त से अधिक है।

आज मेरी गिरफ्तारी को अठारह महीने होगये! पूरा डेढ़ वर्ष निकल गया!

: १७८ :

जापान सारी दुनिया को अँगूठा दिखाता है

२१ जून, १९३३

हम चीन के अंग-भंग की दुःखद कहानी सुन चुके हैं। हमने यह भी देख लिया कि किस तरह क्रान्ति पहले तो विजयी हुई और फिर अचानक वह बेदम होगई और भयंकर प्रति-क्रान्ति यानी क्रान्ति के खिलाफ होनेवाली प्रतिक्रिया उसे निगल गई। पर कहानी अभी खत्म नहीं हुई। अभी और बाकी है। जिस वक्त यह लिख रहा हूँ, उस वक्त भी चीन के अंग-भंग का सिलसिला जारी है। क्रान्ति के असफल होने की वजह यह थी कि राष्ट्रीयता के बन्धनों में जितना बल था उससे ज्यादा ताकत वर्ग-भावना के स्वार्थ और संघर्ष में थी। अमीरों और भूस्वामियों ने किसानों और मजदूरों की प्रधानता कायम होने से राष्ट्रीय आन्दोलन की कमर तोड़ देना अच्छा समझा। हिन्दुस्तान में भी हमें आज यही बात दूसरी शक्ल में होती हुई नजर आ रही है।

चीन के लिए भीतरी झगड़े तो थे ही, अब उसको एक विदेशी दुश्मन के संकल्पपूर्ण आक्रमण का सामना भी करना था। यह दुश्मन जापान था और वह चीन की कमजोरी और दूसरे राष्ट्रों के और-और झंझटों में फँसे रहने से फायदा उठाने पर तुला हुआ था।

जापान आधुनिक उद्योगवाद और मध्यकालीन सामन्तशाही का और प्रतिनिधि-शासन तथा स्वेच्छाचार एवं सैनिक नियंत्रण की खिचड़ी का एक अजीब नमूना है। भूस्वामी, शासकों और सैनिकवर्ग ने मिलकर इरादतन वहाँ ऐसा खानदानी राज्य बनाने की कोशिश की है जिसमें सम्राट् सर्वोपरि अधिकारी और वे उसके सामन्त या

वर्तमान व्यवस्था की ऐसी सारी बातो का खात्मा हो। जापान में सत्ताधारी पूँजीपति-वर्ग लोगो का अधिकाधिक शोषण कर रहा था, उनके कष्ट दिन-दिन बढ़ रहे थे और इसलिए वहाँ भी साम्यवाद फैल रहा था। आबादी तेजी से बढ़ रही थी। अमेरिका, कनाडा और आस्ट्रेलिया के वीरान जंगलो में भी जाकर जापानी लोग बस नही सकते थे। उनके लिये दरवाजा बन्द कर दिया गया था। चीन पास में था, मगर वहाँ पहले ही आबादी ज्यादा थी। कुछ लोग कोरिया और मंचूरिया में जा बसे थे। जापान के अपने खास झगडे तो थे ही, दुनियाभर उद्योगवाद और व्यापार की मंदी के कारण जो कष्ट अनुभव कर रही थी उसका उसे भी सामना करना पड़ा। जब उसकी भीतरी परिस्थिति गम्भीर होने लगी, तो साम्यवादी और सभी उग्र विचारो का दमन शुरू होगया। १९२५ में एक 'शान्तिर-रक्षा कानून' पास हुआ। उसकी भाषा रोचक है, इसलिए इस कानून की पहली कलम उद्धृत करता हूँ। वह यो है :--

"जिन्होंने राष्ट्र के विधान को बदलने या व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रणाली को मिटाने की गरज़ से कोई मण्डल या पञ्चायत सगठित की है या जो उसके उद्देश्य को पूरी तरह जानकर उसमे शामिल हुए है, उन्हे मौत से लगाकर पाँच वर्ष कैद तक की सजा दी जायगी।"

यह कानून कितना ज्यादा सख्त है कि इसमें न सिर्फ साम्यवाद की ही बल्कि सभी तरह के समाजवादी, उग्र या वैध सुधारो तक की मनाई करदी गई है। इससे यह अन्दाज़ लगाया जा सकता है कि साम्यवाद के बढने से जापानी सरकार कितनी डरी हुई है।

मगर साम्यवाद तो सामाजिक परिस्थिति से पैदा होनेवाले व्यापक दुखो का परिणाम है। जबतक इस परिस्थिति में सुधार नही होता तबतक सिर्फ दमन से काम नही चल सकता। इस वक़्त जापान में लोगो को भयंकर कष्ट है। चीन और हिन्दुस्तान की तरह वहाँ भी किसान कर्ज के भारी बोझ से कुचले जा रहे हैं। जबरदस्त फौजी खर्च और लड़ाई की जरूरियात की वजह से वहाँ टैक्स का बोझ खास तौर पर भारी है। ऐसी खबरे भी आती है कि भूखो मरते हुए किसान घास और जड़ें खाकर गुज़र कर रहे हैं और अपने बच्चो तक को बेच रहे हैं। बेकारी के कारण मध्यमवर्ग का भी बुरा हाल है और खुदकुशी बढ़ रही है।

साम्यवाद के विरोध का सिलसिला बडे पैमाने पर १९२८ के आरम्भ में शुरू हुआ। उस वक्त एक रात में एक हज़ार से ज्यादा गिरफ़्तारियाँ हुई, मगर अख़बारो को एक महीने तक यह खबर छापने की इजाजत नही मिली। तबसे पुलिस की तरफ़ से तलाशियाँ और बहुत ज्यादा तादाद में धर-पकड़ का ताँता-सा बँधा हुआ है।

अपनी इक्कीस माँगें पूरी कराने की कोशिश की थी। इसपर अमेरिका और योरप में बड़ा शोर मचने से वह जितना चाहता था उतना सब तो उसे नही मिला, मगर बहुत कुछ मिल गया। युद्ध के बाद जार का साम्राज्य टूट गया और जापान ने देखा कि एशिया में हाथ-पैर फैलाने का इससे अच्छा मौका नही मिलेगा। उसकी फौज साइबेरिया में घुस गई और उसके एजेण्ट ठेठ मध्य-एशिया में समरकन्द और बुखारा तक जा पहुँचे। मगर सोवियट रूस के सम्हल जाने से, और कुछ अमेरिका के विरोध और अविश्वास के कारण, जापान के मसूबे पूरे नहीं हुए। यह सदा याद रखने की बात है कि जापान और अमेरिका में ज़रा भी प्रेम नही है। वे एक-दूसरे से बडी नफरत करते है और प्रशान्त महासागर के आर-पार से एक-दूसरे को सशक दृष्टि से देखते रहते है। १९२२ की वाशिंगटन-परिषद् से जापान की महत्वाकाक्षाओ पर पानी फिर गया और अमेरिका की राजनीति सफल होगई। इस परिषद् में जापान-सहित नौ राष्ट्रो ने चीन की अखण्डता का आदर करने की प्रतिज्ञा की। इसका यह अर्थ था कि जापान को चीन में फैलने की सारी आशाये छोडनी होगी। इस परिषद् में इग्लैण्ड और जापान की सधि भी खत्म हुई और सुदूर पूर्व में जापान अकेला रह गया। ब्रिटिश सरकार ने सिंगापुर में एक जबरदस्त समुद्री किला बनाना शुरू कर दिया। यह साफ तौर पर जापान के लिए खतरनाक है। १९२४ में अमेरिका ने जापानियो के खिलाफ आयात-कानून पास किया। वह अपने यहाँ जापानी मजदूरो को नही आने देना चाहता था। इस जातीय भेद-भाव से जापान में बहुत और सारे पूर्व में कुछ-कुछ, रोष पैदा हुआ। मगर जापान अमेरिका का कुछ बिगाड नही सका। इस तरह अकेला पड जाने और चारो तरफ दुश्मनो से घिर जाने पर जापान की नजर रूस पर गई और १९२५ के जनवरी में उसके साथ सुलह होगई।

इसी बीच में जापान पर जो महान् विपत्ति आई और उसे बहुत कमजोर कर गई, उसका हाल तुम्हे अवश्य बताऊँगा। १९२३ के १ सितम्बर को वहाँ एक भयंकर भूकम्प आया और उसके साथ-साथ राजधानी टोकियो के विशाल नगर में तूफान भी आया और आग भी लगी। यह विशाल नगर नष्ट होगया और योकोहामा बन्दर भी नेस्तनाबूद होगया। एक लाख से ऊपर आदमी मारे गये और बहुत भारी नुक्सान हुआ। जापानी लोगो ने इस विपत्ति का सामना साहस और दृढता के साथ किया और पुराने टोकियो के खण्डहरो पर उन्होने नया शहर खडा कर लिया।

जापान ने रूस के साथ अपनी कठिनाइयो की वजह से सुलह की थी। लेकिन इसका यह मतलब नहीं था कि उसने साम्यवाद का समर्थन किया हो। साम्यवाद का अर्थ ही यह है कि सम्राट-पूजा, सामन्तशाही, शासकवर्ग द्वारा गरीबो का शोषण और

नौ राष्ट्रो की सन्धि का हाल बताया था। यह सुलह या सन्धि खास तौर पर पश्चिमी राष्ट्रो की सूचना पर चीन में जापानियो के हथकण्डे रोकने के लिए हुई थी। साफ और असदिग्ध शब्दो मे जापान-सहित नवो राष्ट्रो ने 'चीन की सत्ता, स्वाधीनता और उसकी भूमि एव शासन-सबधी अखण्डता का आदर करना' मजूर किया था।

कुछ वर्ष तक जापान ने कुछ नही किया। लेकिन परदे की आड मे कुछ चीनी सेनापतियो या तूशनो को गृह-युद्ध जारी रखकर चीन को कमजोर करने में रुपये-पैसे की और दूसरी मदद करता रहा। उसने चंग सोलिन की खास तौर पर मदद की। इसका मचूरिया और पेकिंग में भी बोलबाला था और जबतक दक्षिण के राष्ट्र-वादियो की विजय न हुई तबतक उसीका बोलबाला रहा। १९३१ में जापानी सरकार ने मचूरिया में खुले तौर पर आक्रमणकारी रवैया इख्तियार कर लिया। इसकी वजह यह भी हो सकती है कि जापान की भीतरी आर्थिक हालत बहुत खराब हो चली थी और इसलिए सरकार मजबूर होकर विदेश में ऐसा काम कर रही थी, जिससे लोगो का ध्यान बँट जाय और घर की खीचतान कुछ कम हो जाय, या सैनिक दल का शासन में बहुत जोर बढ गया हो या यह खयाल होगया हो कि दूसरे सब राष्ट्रो को तो अपने-अपने झगडो ओर व्यापारिक मन्दी की चिन्ता है, इसलिए कोई बोलनेवाला नही है। शायद इन सभी कारणो से प्रेरित होकर जापान ने इतनी खतरनाक कार्रवाई की हो। इस कार्रवाई से १९२२ की नौ राष्ट्रो की सधि तो टूटती ही थी, यह बात राष्ट्र-सघ के नियमो के भी खिलाफ थी, क्योकि चीन और जापान दोनो ही राष्ट्र-संघ के सदस्य थे और उसकी मजूरी के बिना एक-दूसरे पर हमला नही कर सकते थे, और १९१८ में युद्ध को गैर-कानूनी कर देने के लिए पैरिस में जो केलाग-सधि हुई थी उसका भी साफ तौर पर भग होता था। चीन के खिलाफ लडाई की कार्रवाइया करके जापान ने जान-बूझकर ये अहदनामे और वादे तोड डाले और ससार-भर का विरोध मोल ले लिया।

अलबत्ता उसने यह बात साफ लफ्जो में नही कही। जापानी सरकार ने कुछ ऐसे कमजोर और झूठे बहाने बनाये कि मचूरिया मे डाकुओ का उपद्रव है और वहाँ ऐसी छोटी-मोटी घटनायें होगई है कि व्यवस्था और जापानी हितो की रक्षा के लिए मजबूर होकर फौज भेजनी पडी है। साफ तौर पर लडाई का ऐलान नही किया गया, फिर भी जापानियो की तरफ से मचूरिया पर हमला होगया। इससे चीनी लोग बडे नाराज हुए। चीनी सरकार ने नाराजगी जाहिर की, और राष्ट्र-सघ और दूसरे राष्ट्रो से फरियाद की, मगर किसीने कोई ध्यान नही दिया। सभी देश अपने-अपने झगडो के मारे तग थे। जापान का विरोध करके नई इल्लत कौन मोल ले? यह भी मुम-

सबसे बड़ा धावा पिछले साल यानी १९३२ के अक्तूबर में हुआ। उस वक्त २२५० आदमी पकड़े गये। इनमें से ज्यादातर आदमी मजदूर नहीं, बल्कि विद्यार्थी और शिक्षक हैं। इनमें सैकड़ो स्नातक यानी ग्रेजुएट और स्त्रियाँ हैं। यह बात अजीब-सी मालूम होती है कि जापान में बहुत-से मालदार युवको का साम्यवाद की तरफ झुकाव हुआ है। पिछले दिनों एक बैंक भी लूटा गया है। यह साम्यवादियो का काम बताया जाता है और उन्होने पुराने, रूसी और पोलिश 'भूतपूर्व मालिको' (ex-proprietors) की नकल की है। पुलिस साम्यवाद और उग्र विचारो को दबाने में इतनी मशगूल रहती है कि उसे मामूली मुजरिमो के लिये बहुत कम वक्त मिलता है। वहाँ भी हिन्दुस्तान की तरह उदात्त विचारक अपराधियो से ज्यादा खौफनाक समझे जाते हैं। हिन्दुस्तान में मेरठ-षड्यन्त्र का मामला चला, कुछ जापानी साम्यवादियो के मुकदमे भी वैसे ही बरसो तक चलते रहे हैं।

मैंने जापान के ये सब हालात तुम्हे इसलिए बता दिये हैं कि जापान ने मचूरिया में जो करतूत की है उसकी भूमिका या जमीन के बारे में तुम्हे कुछ अन्दाज होजाय। अब मैं उस करतूत का कुछ हाल सुनाता हूँ।

पिछले खतो में मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि जापान ने एशिया महाद्वीप की जमीन पर पहले कोरिया और फिर मचूरिया में पैर जमाने की लगातार कोशिश की। १८९४ में चीन के और दस वर्ष बाद रूस के साथ जापान की जो लड़ाइयाँ हुई उन दोनों का यही मतलब था। जापान को कामयाबी मिली, और वह एक-एक कदम आगे बढ़ता गया। कोरिया को उसने अपनेमें मिलाकर जापानी साम्राज्य का अग ही बना लिया। रूस ने मचूरिया के आरपार चीन की पूर्वी रेलवे बनाई थी। उसका एक हिस्सा जापान के नियन्त्रण में आ गया और उसका नाम दक्षिण मचूरिया रेलवे रख दिया गया। इन सब तब्दीलियो के होते हुए भी सारे मचूरिया पर चीन की ही हुकूमत थी और रेलवे के कारण चीनी लोग आ-आकर बड़ी तादाद में वहाँ बसते रहे। असल में ऐसा माना जाता है कि दुनिया के इतिहास में जितने जितने लोग इस तरह चीन के उत्तर-पूर्व के प्रान्तों में आकर बसे, उतने और कम ही स्थानो पर बसे हैं। १९२३ से १९२९ तक सात वर्ष के भीतर २५ लाख चीनियो ने देश-त्याग दिया। मचूरिया की आबादी अब तीन करोड़ है और इनमें से ९५ फीसदी चीनी हैं। इस तरह तीनों प्रान्त पूरी तरह चीनी हैं। बाकी ५ फीसदी रूसी, मगोली खानाबदोश, कोरियन और जापानी हैं। पुराने मचू लोग चीनियो में मिल गये हैं और अपनी भाषा तक भूल बैठे हैं।

तुम्हें याद होगा कि मैंने तुम्हे १९२२ में वाशिंगटन कान्फरेन्स के मौके पर हुई

पास न बहुत सामान था, न बडी तोपें। उसकी वर्दी भी रद्दी-सी थी। चीन के कड़ाके के जाडे से बचने के लिए उसके पास पूरे कपडे भी नही थे। उसमें बहुत-से पन्द्रह-सोलह वर्ष के और कुछ सिर्फ बारह-बारह वर्ष के लड़के भी थे। इस बेसामान फौज ने च्याग-काई-शेक के हुक्म के खिलाफ जापानियो से लड़ने और उन्हे रोक रखने का फैसला किया। १९३२ के जनवरी और फरवरी में दो हफ्ते तक नानकिंग-सरकार की मदद के बिना ये लोग लड़ते रहे। वे लडे भी इस विलक्षण वीरता से कि कहीं अधिक सबल और सुसज्जित जापानी सेना को रुक जाना पडा। इससे खुद उन्हे भी ताज्जुब हुआ। जापानियो को ही नही, बल्कि विदेशी राष्ट्रो और खुद चीन-निवासियो को भी ताज्जुब हुआ। जब ये लोग दो हफ़्ते तक किसी की मदद के बिना लड़ते रहे और सब से उन्हे शाबाशियाँ दी जा रही थी, तब कही बचाव में मदद करने के लिए चियाग-काई-शेक ने थोडे-से सिपाही भेजे।

उन्नीसवे कूच की सेना ने इतिहास बना दिया और ससार-भर में नाम कमा लिया। उसकी स्वदेश-रक्षा ने जापान की योजनाओ को अस्त-व्यस्त कर दिया। इधर पश्चिमी राष्ट्रो को भी शघाई में अपने स्वार्थों की चिन्ता थी। इसलिए शंघाई क्षेत्र से जापानी सेना धीरे-धीरे हटाली गई और जहाजो में भर-भरकर वापस भेज दी गई। यह उल्लेखनीय बात है कि इन पश्चिमी राष्ट्रो को चापेई जैसे हजारो आहुतियाँ लेने-वाले मनमानें हत्याकाण्डो और पवित्र राष्ट्रीय सधियो और अन्तर्राष्ट्रीय नियमो के भग होने का इतना खयाल नही था जितना अपने माली और दूसरे स्वार्थों का खयाल था। इस मामले की राष्ट्र-सघ से कई बार फरियाद की गई, मगर वह किसी-न-किसी बहाने से इसे हमेशा टालता रहा। सघ के लिए यह कोई महत्त्व की बात ही न थी कि सचमुच लड़ाई हो रही है और हजारो आदमी मारे जा चुके है और मारे जा रहे है। कहा यह गया कि चूँकि सरकारी तौर पर लड़ाई का ऐलान नहीं किया गया, इस-लिए वास्तविक युद्ध हुआ ही नही। संघ की इस कमजोरी और जीती मक्खी निगल जाने की कार्रवाई से उसकी प्रतिष्ठा और कीर्ति को बड़ा धक्का लगा। अलबत्ता इसकी जिम्मेदारी कुछ बडे राष्ट्रो के सिर पर थी। इंग्लैण्ड ने तो सघ में खास तौर पर जापान का पक्ष लिया। आखिरकार संघ ने लॉर्ड लिटन की अध्यक्षता में मंचूरिया के मामले की जॉच के लिए एक कमीशन मुकर्रर किया। इसे राष्ट्रो ने तुरन्त मंजूर कर लिया। क्योकि इसका अर्थ था कई मास तक निर्णय स्थगित रखना। मंचूरिया बहुत दूर था और कमीशन को वहाँ जाकर जॉच करने और रिपोर्ट लिखने में मुद्दत लगती। शायद मामला हवा में ही उड जाता।

जापानी शघाई से तो हट गये, पर अब उन्होने मचूरिया की तरफ ज्यादा ध्यान

किन है कि कुछ राष्ट्रो ने—खास तौरपर इग्लैण्ड ने—-जापान से खुफिया समझौता कर लिया हो। चीन की अनियमित सेना ने जापान को मंचूरिया में खूब दिक किया। फिर भी यह नही माना गया कि दोनो देशो में युद्ध है। जापान को अधिक दिक्कत तो चीन के जापानी माल के बडे बहिष्कार-आन्दोलन से हुई।

१९३२ की जनवरी में जापानी फौज शघाई के पास चीन की जमीन पर जा धमकी और वहाँ उसने आधुनिक समय का एक बडा ही दर्दनाक कत्लेआम कर डाला। उसने पश्चिमी राष्ट्रो के डर से विदेशी बस्तियो को तो छोड दिया और घनी आबादी के चीनी मुहल्लो पर हमला किया। शघाई के पास एक बडे इलाके पर बम और गोले वरसाये गये। मेरे खयाल से उस इलाके का नाम चेपेई था। वह बिलकुल तहस-नहस कर दिया गया, हजारो मारे गये और बेशुमार लोग बेघर-बार होगये। याद रहे कि यह लडाई किसी फौज के खिलाफ नहीं थी। यह तो बेगुनाह और नि.शस्त्र लोगो पर बम-वर्षा थी। इस 'वीरतापूर्ण' कार्रवाई का जिम्मेदार एक जापानी जल-सेनापति था। पूछने पर उसने कहा कि जापान का यह निर्णय दयापूर्ण है कि "नि.शस्त्र लोगो पर अन्धाधुन्ध बम-वर्षा सिर्फ दो ही दिन और की जाय।" शघाई में लंदन के 'टाइम्स' पत्र का जो सवाददाता था वह जापान का हिमायती था, मगर उसके दिल पर भी इस घटना से इतनी चोट पहुँची कि उसने इसे चीनियो का जापानियो के हाथो 'कत्ले-आम' बताया। चीनियो के भाव इस घटना पर क्या हुए होगे, इसका तो अन्दाज आसानी से लगाया जा सकता है। समूचे चीन में क्रोध और आतंक की लहर दौड गई और ऐसा मालूम हुआ कि इस जगली विदेशी हमले के सामने देश के मुख्तलिफ और एक-दूसरे के विरोधी सेनानायक और शासक आपस के ईर्ष्या-द्वेष को भूल गये हैं। सवके मिलकर जापान का मुकाबिला करने की चर्चा चली और चीन के भतरी प्रदेश की साम्यवादी सरकार ने भी नानकिंग सरकार को अपनी सेवायें पेश की। फिर भी ताज्जुव की वात यह हुई कि नानकिंग या उसके नेता चियाग-काई-शेक ने बढती हुई जापानी फौज की तरफ शंघाई की रक्षा करने के लिए चिट्टी उँगली भी नही उठाई। नानकिंग ने इतना-सा किया कि राष्ट्रसंघ के पास अपनी विरोध-सूचना भेज दी। उसने जापानियो का सम्मिलित विरोध सगठित करने की कोशिश तक नही की। मालूम होता है वह वाते भले ही बडी-बडी बनाता हो, लेकिन उसके जी में मुकाबिला करने की इच्छा ही नही थी, हालाकि देश क्रोध के मारे लाल पीला हो रहा था।

इसके वाद ही दक्षिण से चलकर एक अजीब-सी सेना शघाई के मैदान में आ पहुँची। यह उन्नीसवीं कूचवाली सेना कहलाती थी। इसमें कैण्टन के लोग ही थे, मगर यह न तो कैण्टन सरकार के तावे में थी और न नानकिंग के। इस भद्दी-सी फौज के

इस नये हमले और नये दिन के हत्याकाण्ड से सघ की नींद खुली और छोटे राष्ट्रो के संघ ने एक प्रस्ताव द्वारा लिटन-रिपोर्ट को मंजूर किया और जापान की निन्दा की। जापान ने इसकी जरा भी परवा नहीं की। (क्या वह नहीं जानता था कि इंग्लैण्ड और कुछ दूसरे राष्ट्र चुपके-चुपके उसकी पीठ ठोक रहे थे ?) जापान राष्ट्र-सघ में से निकल गया। संघ से इस्तीफा देकर जापान चुपचाप पीपिंग की तरफ़ बढता गया। उसका किसीने मुकाबिला नहीं किया। ऐसा मालूम होता है कि यह सब पहले से गढा-गढ़ाया खेल था। करीब एक महीने पहले जब जापान की फौज पीपिंग के दरवाजे पर पहुँच गई तब अचानक यह ऐलान हुआ कि ३१ मई १९३३ ई० को चीन और जापान में लड़ाई बन्द होने की सुलह होगई है। सारा मामला रहस्यपूर्ण मालूम होता है और अभी-तक कोई निश्चित बात मालूम नहीं होपाई है। लेकिन इतना दीखता है कि जापानी सरकार की विजय होगई और नानकिंग-सरकार ने, चाहे कमजोरी से या जान-बूझकर, उस विजय को स्वीकार कर लिया है। जापानी हमले के प्रति नानकिंग-सरकार और काउ-मिन-तांग दल ने जिस दयनीय उपेक्षा का परिचय दिया, उसके बाद अगर चीन में उनकी लोकप्रियता बुरी तरह घट रही हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

मैं मंचूरिया के विषय में बहुत कह गया। वह महत्वपूर्ण है, क्योंकि चीन के भविष्य पर उसका असर पडता है। लेकिन इस बात से उसका महत्व और भी ज्यादा होगया है कि उससे राष्ट्र-संघ की कलई खुल गई और यह साबित होगया कि अन्तर्राष्ट्रीय अन्याय के प्रमाणित होने पर भी संघ कुछ नहीं कर सकता और इसलिए वह एक बिलकुल निकम्मी चीज है। इससे बडे-बडे यूरोपियन राष्ट्रो की दुरंगी चालो और साजिशो का भी भण्डाफोड़ होगया। इस खास मामले में सघ का सदस्य न होते हुए भी अमेरिका नें जापान के खिलाफ कड़ा रुख इख्तियार करने की कोशिश की और लड़ाई पर उतारू-सा होगया। मगर इंग्लैण्ड और दूसरे राष्ट्रो ने गुप्त रूप से जापान का जो समर्थन कर दिया, उससे अमेरिका के रुख का कोई असर नहीं हुआ और वह भी जापान के विरोध में अकेला पड जाने के डर से अधिक सावधान होगया। संघ ने जापान की साधुतापूर्ण भर्त्सना यानी शरीफाना डॉट-डपट करदी है। उम्मीद तो यह रक्खी गई थी कि इसके साथ-साथ कोई सम्मिलित कार्रवाई भी की जायगी। लेकिन हुआ कुछ भी नहीं, और न आगे कुछ होना-जाना है। मंचूकुओ के कठपुतली राज्य को राष्ट्र-संघ के सदस्यो ने मंजूर नहीं किया, मगर यह नामंजूरी भी खिलवाड़-सी होती जा रही है।

राष्ट्र-संघ ने जापान की निन्दा करदी, तब भी ब्रिटिश मंत्री और राजदूत आगे बढ़-बढ़कर जापान के कार्य को उचित बताते रहते हैं। रूस के प्रति इंग्लैण्ड का

देना शुरू कर दिया। उन्होने एक नाममात्र की सरकार कायम करके ऐलान कर दिया कि मचूरिया ने आत्म-निर्णय के अधिकार से काम लिया है। इस नई कठपुतली का नाम मचूकुओ रक्खा गया और चीन के पुराने मचू राजवश के एक जर्जर युवक को नये राज्य का राजा बना दिया गया। वैसे यह सब सिर्फ एक तमाशा था और असली शासक जापान था। सब लोग जानते थे कि जापानी फौज हटा ली जाय तो मचूकुओ राज्य का एक दिन में ढेर हो जाय।

जापानियो को मचूरिया में दिक्कत पेश आई, क्योकि चीनी स्वयसैनिको के दल उनसे बराबर लडते रहे। इन टुकड़ियो को जापानी लोग 'डाकू' कहते है। जापानियो ने स्थानीय चीनियो को भर्ती करके मचूकुओ की सेना बनाई और उसे शिक्षित और सुसज्जित किया। जब उसे डाकुओ से लडने भेजा गया तो वह सारा नये ढग का सामान लेकर डाकुओ में जा मिली। इस सदा चलते रहने वाली जग के मारे मचूरिया का बुरा हाल है। फसलें बोई नही जाती और सोयाबीन का व्यापार मर रहा है।

कई महीनो की जॉच-पडताल के बाद लिटन-कमीशन नें राष्ट्र-सघ के सामने अपनी रिपोर्ट पेश करदी। यह बडी सावधानी, सयम और विवेकपूर्वक लिखी गई थी पर इसमें जापान की पेट भरकर निन्दा की गई थी। इससे बृटिश सरकार बडी परेशान हुई, क्योकि वह जापान की रक्षा करने पर तुली हुई थी। अन्त में संघ के सामने यह सवाल पेश हुआ। इग्लैण्ड से अमेरिका का रवैया जुदा ही था। वह जापान के बहुत खिलाफ था। अमेरिका ने ऐलान किया कि जापान मचूरिया में या और कही भी जबरदस्ती कोई परिवर्तन करेगा तो अमेरिका उसे मंजूर नही करेगा। अमेरिका के इस सख्त रवैये के बावजूद इग्लैण्ड ने और कुछ फ्रास, इटली और जर्मनी ने जापान का समर्थन किया। यह कहा जा चुका है कि इस और दूसरे मामलो में ब्रिटेन ने जापान के साथ खुफिया समझौता कर रक्खा है।

जिस वक़्त सघ निर्णय को टालने में कोई कसर नही रख रहा था उसी वक़्त जापान ने एक नया काम किया। १९३३ के नये दिन की बात है। जापानी फौज एकाएक चीन में जा धमकी और उसने शनहेकवान नगर पर हमला कर दिया। यह शहर चीन की बडी दीवार की तरफ है। बडी-बडी तोपो और नाशक जहाजो से गोले और वायुयानो से बम बरसाये गये। यह पूरी तरह नये ढग का हमला था और शनहेकवान जलकर खाक होगया। बहुत तादाद में उसके निवासी हताहत हुए। इसके बाद जापानी सेना बढती हुई चीन के जेहोल प्रान्त मे घुसकर पीपिग के पास पहुँच गई। बहाना यह किया गया कि 'डाकू' लोग जेहोल को केन्द्र बनाकर वहाँसे मँचूकुओ पर हमले किया करते थे। किसी-न-किसी तरह जेहोल मचूकुओ में शामिल कर लिया गया।

दिया है। अब मैं सुदूर पूर्व से विदा लेता हूँ। मगर इसे खत्म करने से पहले मै तुम्हे छोटे-से कोरिया देश की याद दिला देना चाहता हूँ (वैसे यह इतना छोटा तो नही है)। जापानी उस देश के स्वामी है, मगर वह अभीतक आजादी के सपने देखता है और उसके लिए कोशिश भी करता है। (कोरिया के बाहर तो !) 'कोरिया की अस्थायी प्रजातन्त्र सरकार' भी है।

: १७६ :

समाजवादी सोवियट प्रजातंत्र संघ

७ जुलाई, १९३३

अब जरा सोवियट पचायतो की भूमि रूस में लौट चले और उसकी कहानी जहाँ छोडी थी वहाँसे फिर आगे बढ़ायें। हम १९२४ की जनवरी तक पहुँच गये थे, जबकि क्रान्ति के प्रवर्त्तक और नेता लेनिन का देहान्त हुआ था। उसके बाद दूसरे देशो की बाबत मैंने जो बहुत-से खत तुम्हे लिखे है उनमें रूस का जिक्र बार-बार आया है। योरप की समस्याओं या हिन्दुस्तानी सरहद, सुदूर पूर्व, चीन और जापान, तुर्की और ईरान पर विचार करते वक्त बीच-बीच में रूस से ताल्लुक पड़ता रहा है। यह बात तुम्हे साफ दिखाई देने लगी होगी कि एक राष्ट्र की राजनीति और अर्थनीति को दूसरे देश की राजनीति और अर्थनीति से अलग रखना बहुत मुश्किल ही नही, असल में गैर-मुमकिन है। पिछले वर्षो में राष्ट्रो के आपस के ताल्लुकात इतने गहरे होचले है और वे एक-दूसरे पर इतने निर्भर रहने लगे है कि दुनिया कई बातो मे एक होगई है। हमारे स्कूल-कालेजो की वही पुरानी रफ़्तार है। राष्ट्रीय इतिहास की पुस्तकों में अब भी पुराने ढंग पर खास देशो का ही हाल रहता है। लेकिन इतिहास अब अन्तर्राष्ट्रीय विषय यानी दुनिया-भर का इतिहास होचला है। अब उसे एक देश के बारे में समझने के लिए भी समूचे संसार पर नजर रखकर देखना पडेगा।

योरप और एशिया में सोवियट संघ का लम्बा-चौड़ा प्रदेश पूँजीवादी ससार से अलग ही है। फिर भी वह हर जगह इस दूसरी दुनिया के सम्पर्क में और अनेक बार सघर्ष में आता है। पिछले खतो में मै तुम्हे बता चुका हूँ कि सोवियट नीति पूर्व के देशो के प्रति उदार है। उसने तुर्की, ईरान और अफग़ानिस्तान को मदद दी और चीन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर लिये। ये सम्बन्ध बाद में एकाएक टूट गये। मै तुम्हे यह भी कह चुका हूँ कि किस तरह आर्कस पर धावा हुआ और ज़िनोवीर पत्र से ब्रिटेन के आम चुनाव पर असर पड़ा, हालाकि बाद में वह खत बनावटी

व्यवहार इसमे बिलकुल उलटा है। करीव, दो महीने हुए कि रूस में गुप्तचरो के अपराध पर कुछ अग्रेज इंजीनियरो पर मुकदमा चलाया गया था। कुछ छोड़ दिये गये और दो को हलकी-हलकी कैद की सजा दीगई। इसपर वड़ा वावेला मचा और ब्रिटिश सरकार ने रूसी माल को ब्रिटेन में आने से रोक दिया। रूस ने भी अग्रेजी माल के आने की मनाई करके इसका मुनासिव जवाव दिया।

इस तरह कम-से-कम अभी तो चीन के हाथ से मंचूरिया जाता रहा। मगोलिया सोवियट देश है। उसकी रूसी सोवियट-संघ से दोस्ती है। तिव्वत अव आजाद हो गया। असली चीन में अव कम-से-कम तीन सरकार है। मुख्य सरकार नानकिंग में है, दूसरी दक्षिण में कैण्टन में है, और तीसरी अन्दरूनी इलाके की साम्यवादी सरकार है। इनके अलावा अनेक सेनापति और तूशन है। वे मनमानी करते और कभी इस दल के और कभी उस दल के साथ मिलते रहते है। उत्तर में वडी दीवार से लगाकर लग-भग पीपिंग तक जापान मुंह वाये बैठा है। वडे-वडे बन्दरगाहो पर विदेशियो का कब्जा है। उनकी वडी-वडी रिआयती वस्तियाँ है और वे वडे-वडे भीतरी प्रदेशो के व्यापार पर अपना अधिकार रखते है। सोवियट और साम्यवादी इलाके को छोड़कर, देश पर विदेशियो का आर्थिक प्रभाव और प्रभुत्व और भी ज्यादा है।

एक और वडा प्रान्त चीन से अलग होता दीख रहा है। यह सिंकियाग अथवा चीनी तुर्किस्तान है और तिव्वत और साइवेरिया के वीच में है। इस प्रान्त के यारकन्द और काशगर नगरो को, काश्मीर के श्रीनगर से लद्दाख प्रान्त के लेह नगर होकर, कारवान नियमित रूप से जाते रहते है। दो-तीन मास से खवरे आ रही है कि सिंकियाग के तुर्को ने विद्रोह कर दिया है और यारक़न्द और काशगर पर कब्जा कर लिया है। अग्रेज ऐसा सकेत करते रहते है कि इस विद्रोह के पीछे सोवियट रूस का हाथ है। दूसरी ओर, समाचार भेजने वाली सोवियट संस्थाओ ने खुले तौर पर कहा है कि यह विद्रोह कुछ ब्रिटिश साम्राज्यवादियो के प्रोत्साहन से हुआ है। उनका उद्देश्य यह वताया जाता है कि मचूकुओ की तरह सिंकियाँग भी चीन और रूस के वीच में एक निरपेक्ष राज्य वन जाय। जिस अग्रेज अफसर ने सिंकियाग में यह विद्रोह सगठित किया है उसका नाम तक प्रकाशित किया गया है। कहा नहीं जा सकता कि सच्ची वात क्या है, मगर यह निश्चित समझ लेना चाहिए कि ब्रिटिश और सोवियट दोनो सरकारे सिंकियाग में षडयन्त्र रच रही है। मुमकिन है यह विद्रोह राष्ट्रीय हो, क्योंकि वहांके मुसलमान तुर्को पर धार्मिक भावो से राष्ट्रीय भावो का असर ज्यादा है। मालूम होता है, चीनी तुर्किस्तान में प्रजातंत्र की घोषणा होगई है।

इस खत के साथ मैंने चीन और जापान की कहानी को आज के दिन तक पहुँचा

बड़े प्रमाण में कीमती मशीनें खरीदने को तैयार हो। रूस-जैसे कृषि-प्रधान देश और जर्मनी, इंग्लैण्ड और अमेरिका जैसे उद्योग-प्रधान देशो में व्यापार होने से दोनो ही पक्ष का फायदा था, क्योंकि रूस को यंत्रो की जरूरत थी और उसके बदले में वह सस्ते खाद्य पदार्थ और कच्चा माल देसकता था।

आखिरकार साम्यवाद की घृणा से थैली का ज़ोर ज्यादा ताकतवर साबित हुआ और करीब-करीब सभी देशों ने सोवियट सरकार को मान लिया और बहुतो ने तो उसके साथ सन्धियाँ भी करली। अमेरिका ही एकमात्र ऐसा राष्ट्र है जिसने अबतक सोवियट को स्वीकार नहीं किया है। आजतक भी उनके आपस में राजनैतिक संबंध नहीं है, हालाँकि उनके कायम होजाने की जल्दी ही उम्मीद है। फिर भी रूस और अमेरिका में व्यापार होता रहा है।

इस तरह सोवियट ने ज्यादातर पूँजीवादी और साम्राज्यवादी राष्ट्रो के साथ ताल्लुकात कायम कर लिये। एक हद तक, उसनें इनके आपसी ईर्ष्या-द्वेष से फायदा भी उठाया। यह फायदा उसनें उस समय भी उठाया जब १९२२ में पराजित जर्मनी ने उसके साथ रपैलो की सन्धि की थी। मगर यह समझौता बड़ा ही नापायदार था और पूँजीवाद और साम्यवाद की दो प्रणालियो में मौलिक विरोध था। औपनिवेशिक देशों की गुलाम रिआया और कारखानो के मजदूर दोनो ही दलित और शोषितवर्ग में थे। बोलशेविक सदा इन लोगो को शोषकों से बगावत करने के लिए भड़काते रहते थे। यह काम वे सरकारी तौर पर नही करते थे, बल्कि कोमिण्टर्न नाम की अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी संस्था के द्वारा करते थे। उधर साम्राज्यवादी राष्ट्र और खासकर इंग्लैण्ड सोवियट की हस्ती मिटाने के लिए बराबर साजिश करते रहते थे। इसलिए झगड़ा तो होता ही; और बार-बार झगड़ा होने से राजनैतिक सम्बन्ध-विच्छेद होने और लड़ाई की खबरे उडने की नौबत भी आई। तुम्हे याद होगा कि १९२७ में आर्कर्स के धावे और तलाशी के बाद रूस के ताल्लुकात इंग्लैण्ड से टूट गये थे। असल बात तो यह है कि पिछले साढे पन्द्रह वर्ष में, जबसे सोवियट का जन्म हुआ है तभीसे, इग्लैण्ड और रूस में कशमकश रही है। इसका कारण भी आसानी से समझा जा सकता है। इंग्लैण्ड सबसे बड़ा साम्राज्यवादी राष्ट्र है और रूस एक ऐसी कल्पना सामने रखता है जो साम्राज्यवाद की जड़ ही काट डालना चाहती है। मगर इन विरोधी देशो के बीच में और भी एक चीज है। जार के जमाने से ही रूस और इग्लैण्ड में पीढियो से दुश्मनी चली आती है।

इंग्लैण्ड और दूसरे पूजीवादी देशो में आज सोवियट सेना का इतना भय नही है जितना सोवियट विचारो और साम्यवादी प्रचार का है। यह है तो अप्रत्यक्ष चीज,

निकला। मै तुम्हे सोवियट देश के बीच में लेचलकर यह दिखाना चाहता हूँ कि वहाँ जो अद्भुत और मनोहर सामाजिक प्रयोग होरहा है उसकी प्रगति कैसी है।

१९१७ से १९२१ तक क्रान्ति के बाद के पहले चार वर्ष क्रान्ति की रक्षा में बहुतेरे दुश्मनो से लडने में बीते। यह ज़माना बडे जोश और नाटक की-सी तब्दीलियो का था। उसमें लडाई और बगावत, गृह-युद्ध, भूख और मौत की भरमार थी। इस अन्धकार में यह रोशनी भी थी कि आम जनता में जिहादी या धर्म के के लिए लडने-जैसा जोश था और आदर्श की रक्षा में उसने गैर-मामूली बहादुरी दिखाई थी। लोगो को तुरन्त किसी फल की उम्मीद नही थी, मगर उनके हृदय भावी आशाओ और नतीजो के भाव से भरे हुए थे। इनके कारण वे सारे भयंकर कष्ट सह लेते थे और थोडी देर के लिए यह भी भूल जाते थे कि उनके पेट में अन्न नही पड़ रहा है। यह 'सैनिक साम्यवाद' का ज़माना था।

इसके बाद जब १९२१ में लेनिन ने नई अर्थनीति जारी की, तब थोडा आराम मिला। यह नीति साम्यवाद से पीछे हटकर देश के पूँजीपति वर्ग से समझौता करने की थी। इसका यह अर्थ नहीं था कि बोलशेविक नेताओ ने अपना ध्येय बदल दिया है। इसका मतलब इतना ही था कि आराम लेनें और ताजा होने के लिए वे एक कदम पीछे हटगये थे, ताकि फिर बाद में वे कई कदम आगे बढने के काबिल होजायँ। इस तरह सोवियट ने जमकर एक ऐसे राष्ट्र की रचना का बहुत बड़ा काम अपने हाथ में लिया, जिसका बहुत कुछ नाश होचुका था। निर्माण के इस काम में उन्हे रेलवे इंजिनो और गाडियो, मोटर के छकडो, हलो और कारखानो के सामान की और यत्रो की जरूरत थी। यह सब उन्हे विदेशो से खरीदना पडा और उसके लिए उनके पास रुपया बहुत कम था। इसलिए उन्होने विदेशो से कर्ज लेने की कोशिश की, ताकि वे खरीद के माल की कीमत हलकी किस्तो में चुका सकें। मगर कर्ज तो तब मिले जब इन देशो से बोल-चाल का भी वास्ता हो। वे तो सरकारी तौर पर एक-दूसरे को मानते तक न थे। इसलिए सोवियट रूस को इस बात की बडी फ़िक्र थी कि किसी तरह बडे राष्ट्र उसे मानलें। लेकिन इन बडी-बडी साम्राज्यवादी सत्ताओ को बोलशेविको और उनके सारे कामो से नफरत थी। उनके ख़याल से, साम्यवाद इतनी बुरी वस्तु थी जिसका दमन करना ही उचित था। दस्तन्दाजी और लडाई करा-कराके वे उसे कुचलने की कोशिश भी भरसक कर चुकी थी। मगर उन्हे कामयाबी नही मिली। उनका बस चलता तो वे सोवियट के साथ कोई सरोकार न रखतीं। मगर जिस सरकार के कब्जे में समूची दुनिया का छठा हिस्सा हो उसकी उपेक्षा करना मुश्किल है। इससे भी ज्यादा मुश्किल है एक ऐसे अच्छे ग्राहक की उपेक्षा करना जो बहुत

क्रान्तिकारी फ्रास ने न सिर्फ पुराने शासको की विदेशो के साथ की हुई सधियाँ ही फाड फेकी, बल्कि राष्ट्रीय ऋण भी रद कर दिया।"

इस तरह कर्ज अदा न करने का औचित्य साबित कर देने पर भी, सोवियट सरकार दूसरे राष्ट्रो से राजीनामा करने के लिए इतनी उत्सुक थी कि वह कर्ज के सवाल पर भी उनसे चर्चा करने के लिए पूरी तरह तैयार होगई। मगर उसने यह शर्त रक्खी कि यह चर्चा उसी वक्त हो सकती है जब विदेशी सरकार सोवियट को बिना शर्त के मान ले। असल बात तो यह है कि सोवियट ने इंग्लैण्ड, फ्रांस और अमेरिका को कर्ज चुकाने के बहुत आश्वासन दिये, मगर इन पूंजीवादी राष्ट्रो को रूस के साथ समझौता करने की बहुत उत्सुकता नही थी।

ब्रिटिश दावे के मुकाबिले में सोवियट ने बडा मजेदार दावा पेश किया। रूस पर अग्रेजो का सारा दावा सरकारी और युद्ध के ऋण, रेलवे के हिस्सो और व्यापारिक पूंजी के रूप में ८४ करोड पौण्ड का था। बोलशेविको के दुश्मनो को रूसी गृहयुद्ध में ब्रिटेन और ब्रिटिश सेना ने मदद दी थी। उससे जो हानि हुई थी उसके हिस्से का दावा रूस ने ब्रिटेन पर किया। गृहयुद्ध में रूस की सारी हानि चार अरब छ करोड़ बहत्तर लाख छब्बीस हजार चालीस पौण्ड कूती गई थी। इसमें ब्रिटेन का हिस्सा दो अरब पौण्ड के करीब था। इस तरह ब्रिटेन के दावे से रूस का दावा अढ़ाई गुना था।

बोलशेविको का यह दावा कमजोर भी नही था। उन्होने 'अलाबामा' नामक जहाज की मशहूर नजीर पेश की थी। उन्नीसवी सदी में अमेरिका में जो गृहयुद्ध हुआ था उसीके सिलसिले में दक्षिणी राज्यो के लिए यह जहाज इंग्लैण्ड में बना था। यह जहाज गृह-युद्ध छिड़ने के बाद लिवरपूल से रवाना हुआ था और इसने उत्तरी राज्यो की जहाजी यात्रा और व्यापार को बहुत नुक्सान पहुँचाया था। इंग्लैण्ड और अमेरिका में लड़ाई होते-होते बच गई। सयुक्त राष्ट्र की सरकार ने दावा किया कि युद्ध के जमाने में लड़ाई का जहाज दक्षिणी राज्यो को सौंपने का इंग्लैण्ड को कोई हक न था और इसलिए जितना नुक्सान हुआ वह उसे मिलना चाहिए। मामला पंचायत में डाला गया और अन्त में इंग्लैण्ड से अमेरिका को ३८,८९,१६६ पौण्ड हर्जाने के दिलवाये गये।

रूस के गृह-युद्ध में इंग्लैण्ड का हिस्सा कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण और असर डालने-वाला था। जिस एक लड़ाकू जहाज के देने पर उसे इतना भारी हर्जाना चुकाना पड़ा उससे तो यह बहुत ज्यादा था। सोवियट की तरफ से सरकारी तौर पर बताया गया है कि रूस के विदेशी हस्तक्षेप की लड़ाइयो में साढ़े तेरह लाख आदमी मारे गये।

रूस के पुराने कर्ज के सवाल का आखिरी फैसला नहीं हुआ, मगर ज्यों-ज्यो समय बीतता जा रहा है त्यो-त्यों उसका महत्व अपनेआप घटता जा रहा है।

मगर ज़ोरदार और ख़तरनाक बहुत है। इसका प्रतीकार करने के लिए रूस के ख़िलाफ़ लगातार और बहुत कुछ झूठा प्रचार किया जाता है और सोवियट की दुष्टता की अजीब-अजीब कहानियाँ फैलाई जाती हैं। सोवियट नेताओं के लिए ब्रिटिश राजनीतिज्ञ ऐसी ज़बान काम में लाते हैं जो उन्होने लड़ाई के वक़्त में दुश्मन के लिए भले ही की हो, मगर और कभी किसीके लिए नहीं प्रयोग की। लॉर्ड बर्कनहेड ने सोवियट राजनीतिज्ञों को ऐसे वक्त में 'हत्यारो का गुट' और 'मुट्ठीभर मोटे मेंडक' बताया था, जब इन दोनों देशों में कोई लड़ाई न थी, बल्कि दोनो में परस्पर राजनैतिक सम्बन्ध थे। इन बातो से यह ज़ाहिर है कि सोवियट और साम्राज्यवादी राष्ट्रो में सच्ची दोस्ती नहीं हो सकती। उनमें मौलिक भेद है। महायुद्ध के विजेता और पराजित राष्ट्रों में मेल हो सकता है, मगर साम्यवादियो और पूजीवादियो में नहीं हो सकता। इन दोनों में अगर मेल हो सकता है तो वह अस्थायी ही हो सकता है। वह सिर्फ़ थोड़े वक्त के लिए लड़ाई बन्द कर देने का निश्चय है।

सोवियट रूस और साम्राज्यवादी राष्ट्रो के झगडे की जड़ बार-बार यह बताई जाती है कि रूस ने विदेशो का कर्ज़ चुकाने से इन्कार कर दिया। आजकल तो यह ज़िन्दा सवाल नहीं रहा, क्योंकि इन बुरे दिनो में तो करीब-करीब सभी देशो ने क़र्ज़ नहीं चुकाया है। फिर भी यह सवाल समय-समय पर खड़ा होता रहता है। बोलशेविकों के हाथ में सत्ता आई, उसके थोड़े ही दिन बाद उन्होने दूसरे देशो से लिया हुआ ज़ार के समय का कर्ज रद कर दिया। वैसे तो १९०५ की असफल क्रान्ति के समय ही इस नीति का ऐलान कर दिया गया था। उन्होने अपने उसूल की सचाई का यह सबूत दिया कि चीन वग़ैरा पूर्वी देशो में वे जो रुपया माँगते थे उसका दावा छोड़ दिया। महायुद्ध के हर्जाने की रकम में से भी उन्होने अपना हिस्सा छोड दिया। १९२२ में मित्र-राष्ट्रों ने इस कर्ज़ के बारे में एक स्मरण-पत्र (Memorandam) दिया, जिसके जवाब में सोवियट सरकार ने उन्हे याद दिलाया कि भूतकाल में कितने पूजीवादी राष्ट्रों ने अपने कर्ज़ रद कर दिये और विदेशियो की सम्पत्ति ज़ब्त करली थी। "जो सरकारें और प्रणालियाँ क्रान्तियो से पैदा होती हैं वे पिछले शासनों की ज़िम्मेदारियो को निभाने के लिए बँधी हुई नहीं हैं।" सोवियट सरकार ने मित्र-राष्ट्रो में से फ्रांस को ख़ास तौर पर स्मरण दिलाया कि उसने अपनी महान् क्रान्ति के समय क्या किया था।

फ्रांस की उस राष्ट्रीय परिषद् ने, जिसका काम आज उचित उत्तराधिकारी होने का माना जाता है २२ दिसम्बर १७९२ को ऐलान किया था कि अत्याचारियों की सन्धियों से जनता की सत्ता बँधी हुई नहीं है। उस घोषणा के अनुसार

कारण यही था कि यह संघर्ष कम किया जा सके। इसलिए किसानो को खानगी व्यापार करने की भी सुविधा दी गई।

बिजली के प्रचार की योजना पर लेनिन का इतना ज्यादा जोर था कि उसका बनाया हुआ एक सूत्र (फार्मूला) मशहूर होगया। उसने कहा था कि "बिजली और सोवियट पंचायते मिलकर समाजवाद के बराबर है"। लेनिन की मौत के बाद भी बिजली का प्रचार बडी तेजी से जारी रहा। किसानो पर असर डालने और खेती के तरीको का सुधार करने के लिए दूसरा उपाय यह किया गया कि हल चलाने और दूसरे कामो के लिए भारी एंजिनो से काम लेना शुरू किया गया। ये यंत्र अमेरिका की फोर्ड कम्पनी से लिये गये थे। रूस में मोटर से चलनेवाले यंत्र बनाने का बड़ा कारखाना कायम करने का ठेका भी सोवियट सरकार ने फ़ोर्ड कम्पनी को दिया। इस कारखाने में हर साल एक-एक लाख मोटरे तैयार हो सकती थीं। यह कारखाना खासकर बोझा ढोने और हल चलाने के एंजिन बनाने के लिए ही था।

दूसरा काम, जिससे सोवियट और विदेशी स्वार्थो का सघर्ष हुआ, यह था कि रूस ने भी तेल और पैट्रोल निकालना और विदेशो में बेचना शुरू कर दिया। कोह-काफ के आजरबैजन और ज्याजिया प्रदेशो में तेल बहुतायत से पाया जाता है। शायद यह उसी बडे तेल-क्षेत्र का भाग है जो ईरान, मोसल और इराक तक फैला हुआ है। कास्पियन समुद्र पर बाकू नगर तो दक्षिणी रूस का बड़ा तेल-नगर है। रूस वालो ने बडी-बडी तेल की कम्पनियो से सस्ते भाव पर विदेशो में तेल और पैट्रोल बेचना शुरू कर दिया। अमेरिका की स्टैण्डर्ड ऑयल कम्पनी, एंग्लोपर्शियन, रॉयल डचशेल कम्पनी और दूसरी कम्पनियाँ बडी ताकतवर है और दुनिया-भर को तेल पहुँचाने का इनको एकाधिकार-सा मिला हुआ है। सोवियट के सस्ते भावो पर तेल और पैट्रोल बेचने से उन्हे बड़ा नुक़सान हुआ और गुस्सा आया। उन्होने रूसी तेल को 'चोरी का तेल' कह-कर सोवियट के खिलाफ आन्दोलन शुरू कर दिया, क्योकि रूस ने कोहकाफ़ के तेल के कुएँ उनके पुराने पूजीवादी मालिको से छीन लिये थे। लेकिन थोडे दिन बाद इन कम्पनियो ने इस 'चोरी के तेल' के साथ समझौता कर लिया।

मैंने इस खत में और दूसरे खतो में जगह-जगह पर 'सोवियट' या 'सोवियटो' का जिक्र किया है। कभी-कभी इसका भी जिक्र किया है कि 'रूस' ने यह किया और 'रूस' ने वह किया। इन सारे लफ्ज़ो का इस्तेमाल मैंने जरा आजादी के साथ किया है और एक ही अर्थ में किया है। अब मै तुम्हें बता देना चाहता हूँ कि यह चीज क्या थी और क्या है। तुम यह तो जरूर जानती हो कि बोलशेविक क्रान्ति के बाद, १९१७ के नवम्बर में, पेट्रोग्राड में सोवियट- प्रजातन्त्र का ऐलान किया गया था। ज़ार का

इस बीच बड़े-बड़े पूंजीवादी और साम्राज्यवादी देश इंग्लैण्ड, फ़्रांस, जर्मनी और इटली वही बात कर रहे हैं जिसपर वे रूस से इतने बिगड़े थे। यह सही है कि वे न तो कर्ज रद करते हैं और न पूंजीवादी प्रणाली के आधार का विरोध करते हैं। वे तो सिर्फ रुपया चुकाते नहीं।

रूस को ताजा होने के लिए समय की जरूरत थी और समाजवादी ढंग पर एक लम्बे-चौड़े देश के निर्माण के महान् कार्य में उसकी सारी शक्ति लगी हुई थी, इसलिए सोवियट नीति यह थी कि किसी भी तरह शान्ति रक्खी जाय। दूसरे देशो में समाजवादी क्रान्ति होने की निकट-भविष्य में सम्भावना नहीं दिखाई देती थी, इस कारण फिलहाल 'विश्व-क्रान्ति' का खयाल धुंधला पड़ गया था। पूर्वी देशो में शासन-प्रणाली पूंजीवादी थी, फिर रूस ने उनके साथ दोस्ती और सहयोग की नीति अपनाई। मैंने तुम्हे बता दिया है कि रूस, तुर्की, ईरान और अफ़गानिस्तान में आपसी सधियो का जाल बिछ गया था। सभीको बड़े-बड़े साम्राज्यवादी देशो से एक-सा ही खौफ और नफरत थी, इसलिए वे सब मिल गये।

१९२१ में लेनिन ने जिस नई अर्थ-नीति की शुरुआत की थी उसका मतलब यह था कि मध्यवर्ग के किसान भूमि के समाजवादी विभाजन से सहमत होजायें। वहांके मालदार किसानो को 'कुलक' कहते हैं। कुलक शब्द का अर्थ मुक्का है। इन लोगो को प्रोत्साहन नही दिया गया, क्योकि ये भी छोटे-छोटे पूंजीपति ही थे और भूमि के समाजवादी विभाजन का विरोध करते थे। लेनिन ने गांवो में बिजली के प्रचार की भी बडी भारी योजना जारी की। बिजली के बड़े-बड़े यंत्र वहां लगाये गये। इसका मतलब हर तरह किसानो की मदद करना और देश को उद्योग-प्रधान बनाने के लिए रास्ता साफ करना था। सबसे बड़ा उद्देश्य यह था कि किसानों में उद्योगवादी मनोवृत्ति पैदा होजाय और शहरी मजदूरो के वे ज्यादा नजदीक आजायें। जिन गांवो में बिजली की रोशनी लग गई और जिनकी खेती का ज्यादातर काम बिजली के जोर से होने लग गया, वहांके किसान पुराना ढर्रा और अन्ध-विश्वास छोडकर नये ढग पर विचार करने लगे। शहरो और गांवो के, शहरियो और देहातियो के स्वार्थों में सदा सघर्ष होता है। शहरी मजदूर चाहता है कि गांवो से तो उसे खाद्य सामग्री और कच्चा माल सस्ता मिले और वह जो माल कारखानो में बनाता है उसकी कीमत ऊंची मिले। उधर किसान चाहता है कि शहर से औजार और पक्का माल तो सस्ते भावो पर मिले और उसकी पैदा की हुई खाद्य-सामग्री और कच्चे माल की कीमत ज्यादा-से-ज्यादा मिले। चार वर्ष के सैनिक साम्यवाद के कारण यह सघर्ष बहुत तीव्र हो रहा था। नई अर्थ-नीति के जारी करने का मुख्य

(२) सफेद रूसी समाजवादी सोवियट प्रजातन्त्र।

(३) उक्रेन समाजवादी सोवियट प्रजातन्त्र।

(४) काफ़ के पार का समाजवादी सोवियट प्रजातन्त्र (Trans-Caucasian Socialist Federative Soviet Republic)।

(५) तुर्कमीनिस्तान या तुर्कमीन समाजवादी सोवियट प्रजातन्त्र।

(६) उज़बक समाजवादी सोवियट प्रजातन्त्र।

(७) ताजीकिस्तान या ताजिक समाजवादी सोवियट प्रजातन्त्र।

मगोलिया का भी सोवियट संघ से कुछ-न-कुछ सम्बन्ध है।

इस तरह सोवियट संघ कई प्रजातन्त्रो का समूह है। इन अंगभूत प्रजातन्त्रों में से कुछ खुद भी संघ है। इस तरह रूसी प्रजातन्त्र बारह स्वशासन-भोगी प्रजातन्त्रो का संघ है। और काफ़ के पार का प्रजातन्त्र आज़रबैजन, ज्यार्जिया और आर्मीनिया के तीन प्रजातन्त्रों का सघ है। इन परस्पर-सम्बन्धित और एक-दूसरे पर निर्भर प्रजातन्त्रो के अलावा इनके भीतर बहुत-से 'राष्ट्रीय' और 'स्वशासन-भोगी' प्रदेश है। हर जगह इतने स्वशासन को जारी रखने का उद्देश्य यह है कि प्रत्येक जाति को अपनी संस्कृति और भाषा की रक्षा करने और ज्यादा-से-ज्यादा आज़ादी भोगने का मौका मिले। कोशिश यह की गई है कि जहाँतक हो सके किसी एक राष्ट्रीय या जातीय समूह का दूसरे पर प्रभुत्व न रह सके। अल्पसंख्यक जातियो की समस्या को सोवियट ने जिस तरह हल किया है वह हमारे लिए दिलचस्पी की चीज़ है, क्योकि हमारे सामने भी यह मुश्किल सवाल है। हमसे सोवियट की कठिनाइयाँ कहीं ज्यादा थी, क्योकि उन्हे १८२ मुख्तलिफ़ जातियो से निपटना था। लेकिन उन्होने इस मसले को बहुत सफलतापूर्वक हल किया है। उन्होने बहुत आगे बढ़कर हरेक अलग जाति को मान लिया और उन्हे अपना काम और शिक्षा अपनी-अपनी भाषा में करने का उत्साह दिलाया। यह बात अलग-अलग अल्प-संख्यक जातियो की अलग होने की वृत्ति को खुश करने के लिए ही नहीं की गई, बल्कि यह अनुभव करके की गई कि देशी भाषा के ज़रिये ही सर्वसाधारण में सच्ची शिक्षा और संस्कृति की प्रगति होसकती है। इस नीति का नतीजा भी बहुत अच्छा निकला है।

इस तरह संघ में एक ही तरह की पद्धति जारी नहीं की गई है, फिर भी उसके मुख्तलिफ़ हिस्से एक-दूसरे के इतने ज्यादा नज़दीक आते जा रहे है जितने ज़ार के केन्द्रित राज्य में भी वे कभी नही आये थे। इसका कारण यह है कि उनके आदर्श समान है और वे सब मिलकर एक ही बड़ा काम कर रहे है। सघ के प्रत्येक प्रजातन्त्र को जब चाहे संघ से अलग होने का हक है, मगर ऐसा होने की नौबत शायद ही

साम्राज्य कोई एकरस राष्ट्रीय राज्य न था। खास रूस का योरप और एशिया की बहुत-सी जातियो पर प्राधान्य था। इन जातियो की तादाद क़रीब दो सौ थी और उनमें आपस में बडा भारी फर्क था। जार के जमाने में उनके साथ गुलाम रिआया का-सा वर्ताव होता था और कमोबेश उनकी भाषाओ और संस्कृतियो का भी दमन किया जाता था। मध्य-एशिया के पिछडे हुए लोगो के सुधार के लिए प्रायः कुछ नहीं किया गया। यहूदियो का कोई खास प्रदेश नही था और अल्प-सख्यक जातियों में सबसे बुरा वर्ताव उनके साथ होता था। यहूदियो के हत्याकाण्ड बुरी तरह मशहूर होगये थे। इन हत्याओ को 'पैग्रो' कहते थे। इस कारण इन पीड़ित जातियो के बहुत-से लोग रूसी क्रान्ति में शामिल हुए, लेकिन उनकी खास दिलचस्पी राष्ट्रीय क्रान्ति में थी, सामाजिक क्रान्तियो में नही थी। १९१७ के फरवरी महीने की क्रान्ति के बाद जो अस्थायी सरकार बनी उसने इन जातियों से बहुत-से वादे किये, मगर उसने किया-धरा कुछ नहीं। उधर लेनिन ने बोलशेविक दल के शुरू जमानें से ही इस बात पर जोर दिया था कि हरेक जाति को अपने भाग्य-निर्णय का पूरा हक दिया जाय, यहाँतक कि वे चाहे तो बिलकुल अलग और स्वतन्त्र भी होजायें। यह पुराने बोलशेविक कार्यक्रम का अंग था। क्रान्ति के बाद बोलशेविको ने देश की शासन-सत्ता हाथ में आते ही आत्म-निर्णय के इस उसूल में अपना विश्वास दुहराया।

गृह-युद्ध के समय ही जार का साम्राज्य चूर-चूर होगया था और थोडे दिन तक सोवियट प्रजातन्त्र के नियन्त्रण में मास्को और लेनिनग्रेड के चारो ओर छोटा-सा इलाका रह गया। पश्चिमी राष्ट्रो का प्रोत्साहन पाकर बाल्टिक समुद्र से लगी हुई कई जातियाँ, अर्थात् फिनलैण्ड, एस्टोनिया, लटविया, और लिथुएनिया, स्वाधीन राज्य बन गईं। इसी तरह पोलैण्ड भी स्वाधीन बन गया। जब रूसी सोवियट की गृह-युद्ध में विजय हुई और विदेशी सेनायें अपने-अपने घर गई तब साइबेरिया और मध्यएशिया में अलग-अलग और स्वाधीन सोवियट सरकारे बन गईं। इन सरकारो के समान उद्देश्य थे, इसलिए उनकी आपस में गहरी दोस्ती होना लाजिमी था। १९२३ में उन्होने मिलकर सोवियट संघ बना लिया। इसका पूरा और सरकारी नाम समाजवादी सोवियट प्रजातत्र सघ (Union of Socialist and Soviet Republics) है। अग्रेजी में इसे सक्षेप में U. S S. R (यू० एस० एस० आर०) भी कहते हैं।

१९२३ से संघ के प्रजातन्त्रो की संख्या में कुछ परिवर्तन हुए हैं, क्योंकि एक-दो प्रजातन्त्रो के टुकडे होगये हे। मै समझता हूँ आजकल संघ में ७ प्रजातन्त्र हैं:—

(१) रूस (Russian Socialist Federative Soviet Republic) जिसे संक्षेप में आर० एस० एफ० एस० आर० कहते है।

उसीने जबरदस्त मुश्किलात के बावजूद लाल सेना बनाई थी। इसी सेना ने गृह-युद्ध में और विदेशी दस्तन्दाजी के खिलाफ फतह हासिल की थी। फिर भी ट्राटस्की बोलशेविक दल में नया-ही-नया आया था और लेनिन को छोड़कर पुराने बोलशेविक न उसे बहुत चाहते थे और न उसपर विश्वास करते थे। इन पुराने बोलशेविको में से स्टालिन साम्यवादी दल का प्रधानमंत्री बन गया था और उस हैसियत से रूस का प्रधान और बड़ा ही ताकतवर संगठन उसके हाथ में था। ट्राटस्की और स्टालिन में बनती न थी। वे एक-दूसरे से नफरत करते थे और किसी भी बात में मेल नहीं खाते थे। ट्राटस्की प्रतिभाशाली लेखक और वक्ता था और उसने अपनी महान् संगठन और कार्य-शक्ति का भी सबूत दे दिया था। वह बडी तेज अक्ल का रौशन-दिमाग़ आदमी था। वह क्रान्ति के उसूलो का विकास करता रहता और विरोधियों पर चाबुक और बिच्छू के डंक की तरह चुभनेवाले वाग्बाण चलाया करता था। उसके सामने स्टालिन मामूली आदमी लगता था। वह शान्त, सरल और मामूली अक्ल वाला आदमी था। फिर भी वह एक बडा संगठनकर्ता, एक वीर योद्धा और फौलादी इरादा रखनेवाला यानी दृढ़-संकल्प वाला आदमी था। अब तो वह 'फौलाद का आदमी' कहलाने भी लगा है। इन दोनो बडी हस्तियो के लिए साम्यवादी दल में एकसाथ गुंजाइश नहीं थी।

स्टालिन और ट्राटस्की का संघर्ष व्यक्तिगत ही नहीं था, उससे ज्यादा और कुछ भी था। क्रान्ति के विकास के बारे में दोनो की नीति और साधन अलग-अलग थे। ट्राटस्की ने क्रान्ति के बहुत वर्ष पहले से ही 'स्थायी क्रान्ति' के उसूल गढ़ रक्खे थे। उनके मुताबिक किसी एक देश के लिए पूरे समाजवाद की स्थापना करना मुमकिन नहीं, भले ही उस देश की स्थिति कितनी ही अच्छी और अनुकूल हो। सच्चा समाजवाद विश्व-क्रान्ति के बाद ही आ सकता है, क्योंकि उसी वक्त किसानो को पूरा समाजवादी बनाया जा सकता है। आर्थिक विकास में समाजवाद पूंजीवाद के बाद की दूसरी ही ऊंची मंजिल है। जब पूंजीवाद अन्तर्राष्ट्रीय होगया, तभी वह बैठ गया। आज अधिकाश जगत् में हम यही होता देख रहे हैं। इस अन्तर्राष्ट्रीय रचना का काम समाजवाद ही सफलतापूर्वक कर सकता है। इसीलिए समाजवाद अनिवार्य है। मार्क्स का यही उसूल है। लेकिन समाजवाद को एक ही देश यानी राष्ट्रीय रूप में ही अमल में लाने की कोशिश की जायगी तो उसका अर्थ पीछे हटकर नीची आर्थिक सीढ़ी पर उतरना होगा। अन्तर्राष्ट्रीयता उन्नति मात्र की जरूरी बुनियाद है और इसमें सामाजिक उन्नति भी शामिल है। अन्तर्राष्ट्रीयता से पीछे हटना न संभव है और न वाञ्छनीय या मुनासिब ही है। इसलिए ट्राटस्की के मत से सोवियट संघ जैसे बडे किन्तु अकेले देश में समाजवाद का निर्माण कर सकना आर्थिक दृष्टि से असम्भव है। कितनी ही बातें ऐसी है जिनमें

आवे, क्योंकि पूंजीवादी ससार के विरोध के सामने समाजवादी प्रजातन्त्रो के सघ में शामिल रहने में उन्हे बहुत बडे-बडे फायदे है।

अवश्य ही इस संघ का प्रधान प्रजातन्त्र रूसी प्रजातन्त्र है। यह लेनिनग्रेड से ठेठ साइवेरिया तक देश के आर-पार फैला हुआ है। सफेद रूस पोलैण्ड से लगा हुआ है। उक्रेन काले समुद्र के किनारे-किनारे दक्षिण में है। यह रूस का अन्न-भण्डार है। कोह काफ के पार वाला प्रजातन्त्र, जैसा इसके नाम से ही जाहिर है, काफ पहाड़ के उसपार कैस्पियन और काले समुद्र के बीच में है। इस प्रजातन्त्र में आर्मीनिया भी शामिल है। यह मुद्दतो तक तुर्कों और आर्मीनियनो के भयंकर हत्याकाण्ड की रंगस्थली रहा है। अव सोवियट प्रजातन्त्र बन जाने से यहाँके लोग शान्तिपूर्ण कामो में लग गये दीखते है। कैस्पियन समुद्र की दूसरी ओर तुर्कमीनिस्तान, उजबकिस्तान और ताजकिस्तान नामक तीन मध्य-एशियाई प्रजातन्त्र है। उजबकिस्तान में बुखारा और समरकन्द के मशहूर शहर है। ताजकिस्तान अफगानिस्तान के ठीक उत्तर में है और यह हिन्दुस्तान के सबसे पास का सोवियट इलाका है।

मध्य-एशिया के साथ बहुत पुराने जमाने से हमारे ताल्लुकात रहे है, इसलिए इन मध्य एशियाई प्रजातन्त्रो के साथ हमारी खास दिलचस्पी है। पिछले चन्द सालो में उन्होने जो उल्लेखनीय प्रगति करली है उसके कारण वे और भी आकर्षक होगये है। जारशाही में वे बहुत पिछडे हुए और अन्धविश्वासी देश थे। उनमें शिक्षा का प्रचार बहुत कम था और उनकी स्त्रियाँ करीब-करीब परदे में रहती थीं। लेकिन अब वे बहुत बातो में हिन्दुस्तान से आगे है।

: १८० :

'पायाटिलेटका' अथवा रूस की पंचवर्षीय योजना

९ जुलाई, १९३३

जबतक लेनिन जिया वही सोवियट रूस का एकमात्र नेता रहा। उसके आखरी फैसले के सामने सब झुक जाते थे। जब कभी संघर्ष होता तो उसकी बात कानून की तरह मान ली जाती थी और साम्यवादी दल के आपसी झगडे पलभर में मिटा देती थी। उसकी मृत्यु के बाद विपत्ति का आना लाजिमी था, क्योंकि प्रतिस्पर्धी यानी मुखालिफ गिरोह और शक्तियां प्रभुत्व के लिए आपस में लड़ने लगीं। लेनिन के बाद बाहर की दुनिया की और कुछ हद तक रूस की नजर में भी ट्राटस्की बोलशेविको में प्रधान आदमी था। ट्राटस्की ने ही अक्तूबर की क्रान्ति में प्रमुख भाग लिया था और

इस तरह इन दो बडे आदमियो का बड़ा झगड़ा खत्म हुआ और जिस रग-मंच पर ट्राटस्की ने इतनी वीरता और तेजस्विता का अभिनय किया था वहाँसे उसे हटा दिया गया। जिस सोवियट सघ का वह एक प्रधान निर्माणकर्त्ता था उसको छोड़कर उसे जाना पडा। इस जबरदस्त हस्ती से करीब-करीब सभी पूजीवादी देश भयभीत थे। उन्होने उसे अपने यहाँ नही आने दिया। दूसरे यूरोपियन देशो की तरह इंग्लैण्ड ने भी उसे घुसने की इजाजत नही दी। अन्त में उसे तुर्की में शरण मिली और वह आज-कल प्रिंकिपो में रहता है। मैं समझता हूँ यह इस्तम्बोल से आगे एक छोटा-सा टापू है। पद और दूसरे काम-काज की जिम्मेवारियो और झझटो से छूटकर अब वह लिखने-पढने के काम में लग सकता है। उसके ऐसा करने से परिणाम भी सुन्दर निकला है। उसका नया ग्रथ History of the Russian Revolution (रूस की क्रान्ति का इतिहास) है। अभी उसकी उम्र भी बहुत नही है। वह कोई पचास-पचपन वर्ष का होगा। सभव है भविष्य के गर्भ में उसके लिए बहुत काम रक्खा हो। आगे चलकर उसका कुछ भी हो, ससार के इतिहास में उसके लिए एक कोना सुरक्षित है, और जिस सघर्ष के साथ सोवियट रूस में उसकी हस्ती मिट गई वह एक दु खान्त नाटक तो है, लेकिन इससे उसके प्रतिभाशाली और अद्वितीय जीवन में कला का स्पर्श होगया। प्रिंकिपो मे बैठकर वह कडी भाषा में स्टालिन और उसके साथियो की टीका करता रहता है और ससार के अनेक भागो में नियमित ट्राटस्की-दल खडा होगया है। साम्यवाद का यह अग सत्ताधारी साम्यवादी दल को पसन्द नही है, क्योकि वह साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् की आज्ञा मानता है और परिषद् पर स्टालिन का प्रभुत्व है।

ट्राटस्की का निपटारा करके स्टालिन ने असाधारण साहस के साथ कृषि-संबंधी अपनी नई नीति के काम को हाथ में लिया। उसके सामने बडी कठिन परिस्थिति थी। पढ़े-लिखो में बेकारी और मुसीबत थी और मजदूरो में भी हड़तालें हो चुकी थीं। उसने कुलको यानी मालदार किसानो पर भारी कर लगाये और यह रुपया सम्मिलित खेती के निर्माण में खर्च किया। सम्मिलित खेती का यह मतलब है कि छोटे-छोटे बहुतेरे किसान सहयोग के तरीके पर बडी-बडी खेतियाँ करते है और उसका मुनाफ़ा आपस में बाँट लेते है। सम्पन्न किसानो ने इस नीति का विरोध किया और वे सोवियट सर-कार से बहुत बिगडे। उन्हे यह डर था कि उनके मवेशी और खेतो का सामान उनके दरिद्र पडोसियो के मवेशियो और सामान के साथ मिला दिया जायगा। इस डर के मारे उन्होने सचमुच पशु-धन नष्ट कर दिया। इतने ज्यादा मवेशी मारे गये कि अगले साल खाने-पीने की चीजो की, माँस की, और दूध मक्खन वगैरा की बहुत ज्यादा कमी रही।

सोवियट को पश्चिमी योरप के उद्योगवादी देशो पर निर्भर रहना पड़ता है। यह तो शहर और गाँव के सहयोग की-सी बात हुई। उद्योगवादी पश्चिम को शहर समझ लिया जाय, और रूस को अधिकांश में गाँव मान लिया जाय। राजनैतिक दृष्टि से भी ट्राटस्की की राय में पूंजीवादी वातावरण के बीच में अकेला समाजवादी देश बहुत दिनो तक ज़िन्दा नहीं रह सकता। दोनो में ज़रा भी मेल नही होसकता। हम देख चुके हैं कि यह बात कितनी सच है। या तो पूंजीवादी राष्ट्र उस समाजवादी देश को कुचल देंगे या पूंजीवादी देशो में सामाजिक क्रान्तियाँ होकर सब जगह समाजवाद कायम हो जायगा। अलबत्ता कुछ समय या कुछ वर्षों तक दोनो साथ-साथ रह सकते है, मगर उनका समतौल स्थिर नही होगा।

बहुत हद तक यही ख़याल क्रान्ति के पहले और पीछे सभी बोलशेविक नेताओ का रहा है। वे बडे अधीर होकर विश्व-क्रान्ति या कम-से-कम कुछ यूरोपियन देशो में क्रान्ति की बाट देखते रहे। महीनो तक योरप की हवा में गर्जना होती रही, मगर तूफान वर्षा हुए बिना ही निकल गया। रूस अपनी पंचवर्षीय योजना में लग गया और साधारण जीवन बिताने लगा। ट्राटस्की ने इसपर ख़तरे की घण्टी बजाई। उसने चेतावनी दी कि अगर विश्व-क्रान्ति के उद्देश्य से उग्र नीति काम में नहीं ली गई तो रूस की क्रान्ति भी जोखिम में पड़ जायगी। इस चेतावनी का नतीजा यह हुआ कि ट्राटस्की और स्टालिन में ज़बरदस्त द्वन्द्व-युद्ध छिड़ गया और इस टक्कर नें कुछ वर्षो तक बराबर साम्यवादी दल को हिला रक्खा। दल की सत्ता स्टालिन के हाथ में थी, इसलिए उसकी पूरी जीत हुई। ट्राटस्की और उसके हिमायती क्रान्ति के दुश्मन समझे गये और दल में से निकाल दिये गये। ट्राटस्की को पहले तो साइबेरिया भेजा गया और फिर सघ के बाहर निर्वासित कर दिया गया।

स्टालिन और ट्राटस्की में जल्दी ही भिड़न्त होने का कारण यह था कि स्टालिन ने किसानो को समाजवाद के पक्ष में करने के लिए कृषि के बारे में उग्र नीति जारी करने का प्रस्ताव किया। यो दूसरे देशो में क्या हो रहा है इसका ख़याल न करके अकेले रूस में समाजवाद का निर्माण करने की कोशिश थी। ट्राटस्की ने इसे मंजूर नहीं किया। वह अपने 'स्थायी क्रान्त्रि' के उसूल पर डटा रहा। उसका कहना था कि इसके बिना किसान पूरी तरह समाजवादी नहीं बन सकते। असल बात यह थी कि स्टालिन ने भी ट्राटस्की की बहुत-सी सूचनाओ पर अमल तो किया, मगर किया उसने अपने ढंग से, ट्राटस्की के ढग पर नही। इसके बारे में ट्राटस्की ने अपने आत्म-चरित्र में लिखा है: "राजनीति में निर्णायक यही बात नहीं होती कि वस्तु क्या है, बल्कि यह होती है वह कैसे की जाती है और कौन करता है।"

में एक भी कमजोर या पिछडी कडी से देर होने या सारा सिलसिला बन्द हो जाने की सम्भावना थी। लेकिन पूंजीवादी देशो की अपेक्षा रूस को एक बडी सुविधा थी। पूंजीवाद में ये सारे काम व्यक्तियो की इच्छा और सयोग पर निर्भर रहते है और लागडांट के कारण प्रयत्न बेकार भी बहुत होते है। अलग-अलग पदार्थ पैदा करनेवाले मुख्तलिफ़ किस्म के मजदूरो में कोई सहयोग नहीं होता। संयोग से बाजार में आकर खरीदारी या बिक्री करनेवालो के बीच में कुछ सहयोग होजाता है। सार यह है कि बडे पैमाने पर और योजना के अनुसार काम नहीं होता। अलग-अलग व्यापरी या कम्पनियाँ अपने भावी कामो की योजनायें बना सकती है और बनाती है, मगर इन व्यक्तिगत योजनाओ में दूसरो से बाजी मार लेजाने की सम्भावना ही रहती है। राष्ट्रीय दृष्टि से इसका नतीजा उलटा ही होता है। इसका अर्थ यह होता है कि विपुलता और अभाव, सम्पन्नता और विपन्नता साथ-साथ रहते है। सोवियट सरकार को यह सुविधा थी कि देशभर के भिन्न-भिन्न उद्योगो और प्रवृत्तियो पर उसका नियन्त्रण था। इसलिए वह हरेक प्रवृत्ति को उचित स्थान देकर एक ही योजना बना सकी और उसको अमल में ला सकी। इसमें शक्ति नष्ट होने की भी गुंजाइश नहीं रहती। सिर्फ हिसाब लगाने या काम चलाने या काम चलाने में जो भूलें होजाती है उन्हींसे जो हानि होती है सो होती है। ये भूले भी अलग-अलग आदमियो के हाथ में नियन्त्रण होने की हालत में ज्यादा होती है और सारा नियन्त्रण एक ही जगह से होने में कम होती है।

पंचवर्षीय योजना का उद्देश्य सोवियट-सघ में उद्योगवाद की जड मजबूत करना था। कल्पना यह नहीं थी कि कपड़ा वग़ैरा जैसी सबकी जरूरत की चीजें बनाने के कुछ कारखाने खोल दिये जायें। हिन्दुस्तान की तरह बाहर से मशीनें मँगाकर लगा लेना तो आसान था। खपत का माल बनाने के इन कारखानों को 'हलके उद्योग' कहते है। इन हलके उद्योगो का दारोमदार 'भारी उद्योगो' पर होता है। लोहा, फौलाद और यंत्र बनाने के कारखाने भारी उद्योग कहलाते है। ये छोटे उद्योगो के लिए यंत्र, सामान और एंजिन वग़ैरा तैयार करते है। सोवियट सरकार ने बहुत दूर की सोचकर पंचवर्षीय योजना में इन आधार-भूत या बडे कारखानो पर सारी शक्ति लगाने का निश्चय किया। इस तरह उद्योगवादी बुनियाद मजबूत होजायगी और बाद में छोटे-छोटे उद्योग भी सरलता से खडे हो सकेगे। बडे कारखानों से रूस को यंत्रो और लड़ाई के सामान के लिए भी दूसरे देशो के मुंह की ओर नहीं देखना पडेगा।

मौजूदा परिस्थिति में रूस के लिए बडे-बडे उद्योग पसन्द करना ही ठीक था, मगर इससे लोगों को प्रयत्न भी बहुत अधिक करना पड़ा और कष्ट भी खूब सहने

इस बात की स्टालिन को आशा नहीं थी, मगर वह जी कडा करके अपने कार्य-क्रम पर अटल रहा। इतना ही नहीं, उसने कार्यक्रम को बढाया और उसे सारे देश के लिए कृषि और उद्योग दोनो के एक बलशाली आयोजन के रूप में बदल दिया। किसान को उद्योग के निकट लाना था और इसके लिए राज्य की ओर से नमूने के बडे-बडे और सम्मिलित खेत कायम करना था। बडे-बडे कारखाने खोलकर पानी से, बिजली निकालने के यत्र लगाकर, खानो का काम और इसी तरह के अनेक दूसरे काम जारी करके देश-भर को उद्योगवादी बनाना था। साथ ही शिक्षा, विज्ञान, सहयोगी खरीद-फरोख्त, लाखो मजदूरो के लिए मकान बनवाने और सब तरह उनके रहन-सहन का तरीका ऊँचा करने वगैरा के काम हाथ में लेने थे। यही मशहूर 'पंच-वर्षीय योजना' थी। रूसी लोग इसे 'पायाटिलेटका' कहते हैं। यह कार्य-क्रम इतना विशाल, उच्चाकाक्षापूर्ण और कठिन था कि किसी धनी और उन्नत देश के लिए भी एक पीढी में पूरा होना मुश्किल था। रूस जैसे पिछडे हुए और गरीब मुल्क के लिए इसे हाथ में लेना तो हद दर्जे की बेवकूफी ही मालूम होती थी।

यह पंचवर्षीय योजना बहुत ध्यानपूर्वक विचार और खोज के बाद बनी थी, वैज्ञानिको और इंजीनियरो नें सारे देश की स्थिति की जाँच की थी और बहुत-से विशेषज्ञो ने इस समस्या पर चर्चा करली थी कि कार्यक्रम के एक भाग का दूसरे के साथ कैसे मेल बिठाया जाय। सच्ची कठिनाई इस मेल बिठाने के काम में आई थी। अगर कारखाने के लिए कच्चे माल का अभाव हो तो बड़ा सारा कारखाना खोल देने के मानी ही क्या? अगर कच्चा माल मिल भी जाय तो उसे कारखाने में पहुँचा देने का इन्तजाम होना चाहिए। इस तरह ढुलाई की समस्या हल करनी पड़ती है, उसके लिए रेलवे बनानी पड़ती है। रेलवे के लिए कोयला चाहिए और उसके लिए खाने चलाना आवश्यक है। खुद कारखाने को चलाने के लिए कोई शक्ति चाहिए। यह शक्ति जुटाने के लिए बडी-बडी नदियो को बाँधकर उनके पानी से बिजली पैदा की गई और यह बिजली तारो के जरिये कारखानो और खेतो में पहुँचाई गई और शहरो और गाँवो में रोशनी के लिए इस्तेमाल की गई। फिर इन सब कामो के लिए इजीनियरो, मिस्त्रियो और कुशल मजदूरो की जरूरत होती है और थोडे-से समय में बीसो हजार स्त्री-पुरुषो को तालीम दे देना हँसी-खेल नहीं है। हजारो की तादाद में खेतो पर काम करने के लिए भारी-भारी एंजिन भेज तो दिये जायें, मगर उन्हे चलाये कौन?

ये थोडे-से उदाहरण तुम्हे इस बात की कल्पना करने के लिए दे दिये हैं कि पचवर्षीय योजना से कैसी-कैसी घबरा देनेवाली और पेचीदा समस्यायें पैदा हुई होगी। इसमें एक-एक भूल से दूरवर्ती परिणाम निकल सकते थे। कार्य की श्रृंखला

को ही पहलेपहल मिला है कि उसने राष्ट्र की सारी शक्ति नाश के नहीं निर्माण के शान्तिपूर्ण प्रयत्न में, यानी एक पिछडे हुए देश का औद्योगिक उत्थान करने और उसे समाजवाद के ढाँचे में ढालने के काम में, लगादी। मगर कष्ट भी लोगो को और खास तौर पर उच्च और मध्यमवर्ग के किसानो को बहुत ही हुआ और कई बार ऐसा मालूम होने लगता था कि यह सारी विशाल योजना बैठ जायगी और शायद अपने साथ-साथ सोवियट सरकार को भी ले डूबेगी। ऐसी अवस्था में टिके रहना ग़ैर-मामूली हिम्मत का ही काम था। बडे-बडे बोलशेविको ने विचार किया कि कृषि-सबधी कार्य-क्रम का भार और उससे होनेवाला कष्ट असहनीय है और लोगो को आराम मिलना चाहिए। मगर स्टालिन का यह ख़याल नहीं था। वह जी कडा करके चुपचाप अडा रहा। वह बात करना नहीं जानता था। सार्वजनिक भाषण वह शायद ही कभी देता था। वह ऐसा दीखता था मानो भाग्य की अटल रेखायें लोहे की मूर्ति बनकर एक निश्चित लक्ष्य की ओर बढ रही हैं। उसके इस साहस और दृढ सकल्प की छूत उसके साम्यवादी दल के सदस्यो और दूसरे कार्यकर्त्ताओ को भी लगी।

पचवर्षीय योजना के पक्ष में लोगो का जोश कायम रखने और उन्हे अपने प्रयत्न में लगा रखने के लिए लगातार प्रचार-कार्य किया गया। पानी से बिजली निकालने के बडे-बडे कारखानो, बाँधो, पुलो, पुतलीघरो और सामूहिक खेतो के बनाने में जनता ने खूब दिलचस्पी ली। इजीनियरिंग सबसे लोकप्रिय धन्धा होगया और इजीनियरिंग के बडे-बडे सफल कार्यों की वैज्ञानिक तफसील से अखबार भरे रहने लगे। जगल और मरुभूमियाँ आबाद होगईं और एक-एक बडे कारखाने के आसपास बडा और नया शहर खडा होगया। नई सडके, नई नहरे और नई रेलवे बन गई। रेले ज्यादातर बिजली की थीं। हवाई जहाजो के जरिये आने-जाने की प्रणाली का विकास होगया। रासायनिक पदार्थों, युद्ध-सामग्री और औजारो के उद्योग कायम होगये और सोवियट-सघ भारी एजिन, मोटरे, रेल के डब्बे, हवाई जहाज और पनचक्कियाँ सब बनानें लग गया। बिजली का दूर-दूर तक प्रचार होगया और रेडियो आम तौर पर काम में आने लगा। बेकारी का नाम-निशान भी नही रहा, क्योकि निर्माण-कार्य और दूसरा काम इतना था कि उसमें जितने मजदूर मिल सकते थे वे सब लग गये। बहुत-से योग्य इजीनियर विदेशो से आये। उनका स्वागत किया गया। याद रहे कि यह बात उन दिनो की है जब सारे पश्चिमी योरप और अमेरिका में मन्दी छाई हुई थी और बेकारो की तादाद बुरी तरह बढ गई थी।

मगर पचवर्षीय योजना के काम में कोई दिक्कत न आई हो, सो बात नही थी। कई बार बडा झगडा खडा होजाता था, सहयोग की भी कमी होजाती और प्रतिक्रिया

पडे। बडे उद्योगो पर छोटे उद्योगो से बहुत ज्यादा खर्च करना पड़ता है और इससे भी बड़ा अन्तर यह है कि बडे उद्योगो से बहुत देर में मुनाफ़ा होता है। कपडे का कारखाना खोलते ही कपड़ा तैयार होने लगता है और वह तुरन्त बिक सकता है। यही हाल दूसरे छोटे कारखानो का है जो खपत की चीजें बनाते है। मगर लोहे या फौलाद के कारखाने में तो फौलाद की पटरी या एंजिन ही बन सकते है। ये जबतक रेलवे न बन जाय तबतक न खप सकते है, न काम आ सकते है। इसमें समय लगता है और तबतक बहुत-सा रुपया उस व्यवसाय में रुका रहता है और उतना ही देश दरिद्र रहता है।

इस कारण रूस के लिए इतनी ज्यादा तेज़ी के साथ बडे-बडे कारखानो का बनाना बडी भारी कुर्बानी थी। यह सारी रचना, ये सारे यंत्र बाहर से आये थे, उनकी कीमत चुकानी पडी थी और वह भी सोना-चाँदी के रूप में। इसकी व्यवस्था कैसे की गई ? सोवियट-सघ के निवासियो ने अपने पेट पर पट्टी बाँध ली—आधे भूखे रहे, और बाहरवालो को चुकाने के लिए जरूरी चीजो से भी अपनेको वंचित रक्खा। उन्होंने अपने खाद्य-पदार्थ बाहर भेजे और उनके मूल्य से यंत्रो के दाम चुकाये। गेहूँ, कॅगरान, जौ, गल्ला, तरकारी, फल, अण्डे मक्खन, मांस, पक्षी, शहद, मछली, शकर, तेल, मिठाइयाँ आदि जो भी चीजें बिक सकती थी वे सब बिकने को भेजदी। इन चीजो के भेजने का अर्थ यह था कि उन्होने इनके बिना काम चलाया। रूसियो को मक्खन मिला ही नही या बहुत कम मिला, क्योकि वह यंत्रो की कीमत में बाहर चला जाता था। यही हाल और बहुत-से माल का हुआ।

यह प्रबल प्रयत्न पंचवर्षीय योजना के रूप में १९२९ मे शुरू हुआ। क्रान्ति की भावना फिर फैल गई, आदर्श की पुकार पर सर्वसाधारण के दिल हिल गये और उन्होने इस नवीन संग्राम में अपनी सारी शक्ति लगादी। यह संग्राम किसी विदेशी या भीतरी दुश्मन के खिलाफ नहीं था। यह लड़ाई रूस की पिछडी हुई हालत के, पूंजीवाद के अवशेष के और नीचे रहन-सहन के ढंग के खिलाफ थी। लोगो ने फिर से उत्साहपूर्वक त्याग करना बर्दाश्त किया और फकीरो की-सी सख्त जिन्दगी बिताई। उन्होने महान् भविष्य के संकेत पर वर्तमान का बलिदान कर दिया। करते भी क्यो नही ? उन्हीको तो उसके निर्माण का गर्व और श्रेय था।

एक काम को पूरा करने में राष्ट्रो ने पहले भी अपनी सारी शक्तियाँ लगाई है, मगर यह बात युद्ध-काल में ही हुई है। महासमर के समय जर्मनी, इंग्लैण्ड और फ्रांस के जीवन का एक ही लक्ष्य था; और वह था लड़ाई में जीतना। इस उद्देश्य के सामने और सब बाते गौण हो गई थी। मगर यह श्रेय इतिहास में सोवियट रूस

: १८१ :

सोवियट संघ की कठिनाइयाँ, असफलतायें और सफलतायें

११ जुलाई, १९३३

सोवियट रूस ने पचवर्षीय योजना बनाकर एक बड़ा भारी काम हाथ में लिया था। यह योजना अकेले ही कई क्रान्तियो के बराबर थी। इसमें खेती और उद्योग दोनो की क्रान्तियाँ शामिल थी। पुराने ढग से छोटे पैमाने पर खेती करनेवाले किसानो में बडे पैमाने पर सामूहिक और यन्त्रो द्वारा खेती का तरीका चला देना और रूस जैसे उद्योगहीन देश को इस तेजी से उद्योगवादी बना देना क्रान्ति से क्या कम है? मगर योजना के बारे में सबसे दिलचस्प बात थी वह भावना जो उसके पीछे काम कर रही थी, क्योकि यह भावना राजनीति और उद्योग दोनो के लिए नई है। यह भावना विज्ञान की भावना है। इसमें समाज-रचना के काम में सोच-समझकर वैज्ञानिक तरीके इस्ते-माल करने की कोशिश है। ऐसी बात किसी उन्नत-से-उन्नत देश में भी पहले नहीं हुई थी। इस तरह मानवीय और सामाजिक मामलो में विज्ञान के साधनो का उपयोग करना ही सोवियट योजना की बडी भारी ख़ासियत है। यही वजह है कि सारी दुनिया इस वक्त योजना बनाने की चर्चा कर रही है, मगर जब पूंजीवाद जैसी सामाजिक व्यवस्था का आधार ही स्पर्धा यानी लाग-डाट और मालदारो के स्वार्थो की रक्षा है तो उसमें कोई भी सफल योजना बनाना कठिन है। इसलिए योजना बनाने और पूजीवादी देशो में सहयोग कायम करने की कोरी बातें ही होकर रह जाती है।

मगर मैं तुम्हे कह चुका हूँ कि पंचवर्षीय योजना से कष्ट, कठिनाई और गड़बड़ बहुत हुई। लोगो को इसकी भयकर कीमत चुकानी पडी। ज्यादातर लोगो ने यह कीमत ख़ुशी-ख़ुशी चुकाई और उज्ज्वल भविष्य की उम्मीद में कुरबानी की और कष्ट सह लिये। कुछ लोगो ने यह,कीमत मन से नहीं, बल्कि सोवियट सरकार के दबाव से चुकाई। जिनको सबसे ज्यादा तकलीफ हुई उनमें कुलक या मालदार किसान भी थे। उनके पास दौलत ज्यादा थी और उनका ख़ास असर था। इसलिए नई योजना से उनका मेल नहीं बैठा। वे समाज के पूजीवादी अंग थे और इस कारण वे सामूहिक खेती का समाजवादी ढंग पर विकास होने में बाधक थे। अकसर वे इस समूहवाद का विरोध करते थे, कभी-कभी गिरोहो में घुसकर उन्हे भीतर से कमज़ोर करते थे या उनसे नाजायज फायदा उठाने की कोशिश करते थे। सोवियट सरकार ने उनपर हथोड़े बरसाये। सरकार ने मध्यमवर्ग के बहुत-से आदमियो पर भी बडी सख़्तियाँ कीं, क्योकि उनपर दुश्मन की तरफ़ से जासूसी और गुप्त विरोध करने का शक था। इस सन्देह

और हानि भी होजाती थी। लेकिन इन सब बातो के होते हुए भी काम का जोश बढता गया और हमेशा ज्यादा-से-ज्यादा काम की माँग बनी रही। फिर तो यह आवाज आने लगी कि पाँच वर्ष की योजना चार ही वर्ष में पूरी हो, मानो इस विलक्षण कार्यक्रम के पूरा करने के लिए पाँच वर्ष का समय थोड़ा नहीं था। योजना जाब्ते से ३१ दिसम्बर १९३२ को यानी चार वर्ष के अखीर में पूरी हुई; और १९३३ की प्रथम जनवरी से यानी तुरन्त ही दूसरी पचवर्षीय योजना शुरू होगई !

पचवर्षीय योजना की चर्चा करते समय कुछ लोग तो इसे बडी भारी कामयाबी बताते है और कुछ कहते है यह नाकामयाब रही। कहाँ-कहाँ नाकामयाबी रही, यह बताना आसान है; क्योकि कई बातो में लोगो की आशायें पूरी नहीं हुई। आज रूस में बहुत बातो में भयंकर विषमता है। मुख्य अभाव कुशल और तालीमयाफ्ता कार्यकर्त्ताओ का है। कारखाने अधिक और उन्हे चलाने के लिए योग्य इंजीनियर थोडे है। भोजनालय और पाकशालायें ज्यादा और होशियार रसोइये कम है। यह बेहिसाब हालत अवश्य ही थोडे समय बाद नहीं रहेगी, या कम तो हो ही जायगी। एक बात साफ है कि पंचवर्षीय योजना ने रूस की बिलकुल कायापलट करदी है। सामन्तशाही से निकलकर वह एकदम उन्नत उद्योगवादी देश होगया है। संस्कृति की भी आश्चर्य-जनक प्रगति हुई है। समाज की सेवा के साधन, स्वास्थ्य-रक्षा के उपाय और आकस्मिक घटना का बीमा आदि की व्यवस्था संसार-भर से अधिक व्यापक और उन्नत ढग की है। मुसीबत और ग़रीबी होते हुए भी बेकारी और भूख का भयंकर भत जो दूसरे देशो के मजदूरो पर सवार है उसका रूस से काला मुँह होगया है। लोगो को आर्थिक निश्चिन्तता की नई अनुभूति होरही है।

पचवर्षीय योजना की सफलता-असफलता की दलीलो में कोई सार नहीं है। उसका अमली उत्तर तो सोवियट-संघ की आज की हालत से मिल जाता है। दूसरा जवाब यह भी है कि इस योजना ने संसार-भर के दिमाग पर अपनी छाप बिठाई है। अब सभी तीन वर्ष, पाँच वर्ष और दस वर्ष की योजनाओं की बात करते है। यहाँतक कि आम तौर पर समय के एक पीढ़ी पीछे रहनेवाले भारतीय गवर्नरो को भी योजनाओ की बात करने का चस्का लग गया है। सोवियट ने इस शब्द में जादू भर दिया है।

१९१७ में आबादी थी		१३ करोड़
१९२६ ,, ,, ,,		१४ करोड़ ९० लाख
१९२९ ,, ,, ,,		१५ करोड़ ४० ,,
१९३० ,, ,, ,,		१५ करोड़ ८० ,,
१९३३ ,,	(वसन्त ऋतु का अनुमान)	१६ करोड़ ५० ,,

इस तरह १५ वर्ष से जरा ज्यादा समय में ३॥ करोड आदमी बढ गये। २६ फ़ी सदी वृद्धि एक गैरमामूली बात है।

वैसे सारे सोवियट संघ की ही आबादी बढी, मगर शहरो मे विशेष वृद्धि हुई। पुराने नगर और भी बडे बन गये और मरुभूमि में नये-नये कारख़ानो के नगर खडे होगये। पचवर्षीय योजना में बडे-बडे उद्योग-धन्धो का निर्माण हुआ। उनमें काम बहुत था। इससे आकर्षित होकर बेशुमार किसान अपने गाँव छोड़-छोडकर शहरो में जापहुँचे। रूस-भर में १९१७ में एक लाख या उससे अधिक आबादी के २४ शहर थे। १९२६ में इनकी सख्या ३१ और १९३३ में ५० से ऊपर होगई। पद्रह साल के भीतर सोवियट ने १०० से ऊपर उद्योग-नगर बना दिये। १९१३ से १९३२ के बीच में मास्को की आबादी १६ लाख से ३२ लाख यानी दुगुनी होगई। लेनिनग्रेड में भी दस लाख आदमी बढ गये और वहाँ तीस लाख की सख्या पूरी होगई। काफ़ के पार बाकू नगर की आबादी भी ३,३४,००० से बढकर ६,६०,००० यानी दुगुनी होगई। १९१३ से १९३२ तक शहरो की आबादी २ करोड़ से ३॥ करोड़ होगई।

जब किसान शहर में जाकर मजदूर बन जाता है तो वह अपने गाँव में था उस वक्त की तरह अन्न पैदा करनेवाला नहीं रहता। कारखाने में काम करके वह पक्का माल या औजार बना सकता है, मगर जहाँतक खाद्य पदार्थो का ताल्लुक है वह ख़र्च करनेवाला ही होजाता है। इस तरह गाँवो से उठ-उठकर बहुत-से किसानो के शहरो में चले जाने का मतलब यह हुआ कि जो अन्न पैदा करते थे वे ही उसे ख़र्च करनेवाले बन गये। भोजन के मसले को इस बात ने और भी पेचीदा बना दिया।

एक बात और भी थी। देश के बढते हुए उद्योग के लिए कारख़ानो को अधिकाधिक कच्चे माल की जरूरत हुई। इस तरह कपडे के कारखानो में रुई की जरूरत हुई। इसलिए अनेक प्रदेशों में अनाज के बजाय रुई और दूसरा कच्चा माल बोया गया। इससे भी अन्न की कमी बढ़ी।

सोवियट संघ की आबादी का इतना ज्यादा बढ़ना ख़ुद ही ख़ुशहाली का बढ़िया सबूत था। अमेरिका की तरह इसका कारण लोगो का बाहर से आकर बसना नहीं था। इससे जाहिर होता था कि लोगो को कष्ट और असुविधा होते हुए भी भूखों

के कारण, जो शायद कुछ मामलो में सच्चा था, बहुत-से इजीनियरो को सजायें देकर जेल में भेज दिया गया। चूंकि बहुत-सी हाथ में ली हुई बडी-बडी योजनाओ में इंजीनियरो की खास जरूरत थी, इसलिए इस कार्रवाई से पचवर्षीय योजना को भी धक्का पहुंचा।

विषमता तो करीब-करीब सभी जगह थी। ढुलाई की व्यवस्था ठीक न होने से अक्सर कारखानो और खेतो में पैदा हुए माल को वही पडे-पडे इन्तजार करना पडता था। इससे सब जगह काम में गडबड़ होती थी। सबसे बडी मुश्किल यह थी कि योग्य विशेषज्ञो और इंजीनियरो की कमी थी।

इस पचवर्षीय योजना के समय संसार में, या यूं कहो कि पूंजीवादी ससार में, ऐसी मन्दी छाई हुई थी जैसी पहले कभी नही हुई। व्यापार बैठता जा रहा था, कारखाने बन्द हो रहे थे और बेकारी बढ़ रही थी। अनाज और कच्चे माल की कीमत बुरी तरह घट जाने से दुनियाभर के किसानो में त्राहि-त्राहि मची हुई थी। यह अजीब बात मालूम होती थी कि जब और सब जगह यह बेकारी और बेरोजगारी फैली हुई थी उस वक्त सोवियट संघ में दिन-रात काम-धन्धे की धूम मची हुई थी। ऐसा मालूम होता था कि दुनिया की मन्दी का उसपर कोई असर ही नही है। उसकी अर्थ-व्यवस्था ही बिलकुल जुदा थी। मगर मन्दी के असर से सोवियट भी बच नहीं सका। यह असर चुपके-चुपके और अप्रत्यक्ष रूप से हुआ। इससे सोवियट की कठिनाइयाँ बहुत बढ गई। मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि सोवियट बाहर से मशीने मोल ले रहा था और उनकी कीमत उसे खेती की पैदावार विदेशो को बेचकर चुकानी पडती थी। चूंकि खाद्य पदार्थों का भाव संसार के बाजारो में गिर गया था, इसलिए सोवियट को भी अपने निर्यात माल की कीमत थोडी मिलती थी। मगर खरीदी हुई मशीनरी के दाम चुकाने को तो उसे पूरा सोना ही देना पड़ता था। इसलिए अधिकाधिक अन्न बाहर भेजना पडता था। इस तरह दुनिया की व्यापारिक मन्दी और भावो की कमी से सोवियट को भी नुक्सान हुआ और उसने जो हिसाब लगा रक्खा था उसमें बहुत-सी गड़बड़ हुई। इससे देश में कई जरूरत की चीजो की और भी कमी होगई और उतनी ही तकलीफ बढी।

एक तरफ अन्न की कमी दिन-दिन ज्यादा होरही थी और दूसरी ओर सघ-भर में आबादी बेहिसाब बढ रही थी। खेती की पैदावार की मन्द प्रगति के मुकाबिले में आबादी का इस तेजी से और बेहिसाब बढ़ना ही सोवियट की प्रधान समस्या थी। क्रान्ति से पहले सोवियट सघ के मौजूदा इलाको की आबादी १३ करोड थी। उसके बाद गृहयुद्ध में भीषण जन-हानि हुई। फिर भी इसके बाद के सालो में आबादी में जो बढती हुई वह देखने की बात है :—

ने व्यक्तिगत सम्पत्ति को पवित्र और रक्षणीय बताकर अपने समय में पूंजीवादी व्यवस्था को दृढ़ करने का उद्देश्य पूरा किया है तो हम साम्यवादियो को तो सार्वजनिक सम्पत्ति को पवित्र और रक्षणीय घोषित करके नई समाजवादी अर्थ-व्यवस्था को मजबूत करने की और भी ज्यादा कोशिश करनी चाहिए।"

लोगो को आराम पहुंचाने के लिए सोवियट सरकार ने और भी उपाय किये। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण कार्य था सामूहिक और व्यक्तिगत खेतो की फालतू पैदावार को शहरो के बाजार में बेचने की इजाजत देना। इससे कुछ-कुछ उस नई अर्थ-नीति की याद आती है जो सैनिक साम्यवाद के समय के बाद १९२१ में जारी हुई थी। मगर आज के सोवियट सघ में और उस समय के सघ में जमीन-आसमान का फर्क है। वह अब समाजवाद के मार्ग पर बहुत-सी मजिले तय कर चुका है; वह उद्योगवादी बन गया है और उसकी खेती बहुत कुछ सामूहिक होगई है।

पिछले चार साल में २,००,००० सामूहिक खेत सगठित किये गये है और ५,००० सरकारी खेत भी है। ये खेत औरो के लिए नमूने का काम देते है। ये बहुत बडे है। इनमें सबसे बड़ा ५० लाख एकड़ का है। इस काल में १,२०,००० जोतनेवाले एंजिन और लगाये गये है। लगभग दो-तिहाई किसान अब इन सामूहिक कृषि-संघो के सदस्य होगये है।

दूसरी प्रवृत्ति जिसकी आश्चर्य-जनक प्रगति हुई है, सहयोग-समितियो के संगठन की है। १९२८ में खरीदारो की सहयोग-समिति के दो करोड़ साढ़े छः लाख मेम्बर थे। १९३२ में यह तादाद सात करोड़ पचास लाख होगई। इस संस्था के थोक और फुटकर बिक्री भंडारो का सिलसला सघ के एक कोने से दूसरे कोने तक फैला हुआ है, कोई जगह उनसे खाली नही है।

रूस के बेशुमार नये उद्योगो और कारखानो की फेहरिस्त से इस खत को भरने की जरूरत नहीं है। वह सूची लम्बी और प्रभावशाली होगी। मगर इतना कहे बिना नहीं रहा जाता कि पिछले छः वर्ष में बीस लाख मजदूर-कुटुम्बो को नये मकान रहने के लिए मिले है। यह तो मै तुम्हे दूसरी जगह बता ही चुका हूँ कि मजदूरो की तन्दुरुस्ती और जिन्दगी की रक्षा के लिए सामाजिक बीमे की बडी व्यापक व्यवस्था की गई है।

१९३३ की पहली जनवरी को दूसरी पंचवर्षीय योजना शुरू होगई। यह भी है तो लम्बी-चौडी, परन्तु यह पहली से आसान है। इसकी मनशा छोटे उद्योगो की तरक्की करना है और इसका नतीजा यह होगा कि लोगों का रहन-सहन का तरीका जल्दी ऊँचा होजायगा। यह उम्मीद की जाती है कि पिछले चार वर्ष के कष्ट और

नहीं मरना पड़ा। नाप-तौलकर खाद्य पदार्थों के बाँटने की कडी व्यवस्था से सारी आबादी के पास बिलकुल जरूरी भोजन-सामग्री पहुँच जाती थी। आँखो देखनेवालो का अधिकारपूर्वक कहना है कि आबादी के इस तेजी से बढ़ने का कारण ज्यादातर यह था कि लोगो को आर्थिक निश्चिन्तता अनुभव होने लगी थी। वहाँ अब बच्चे कुटुम्ब के लिए भार-रूप नही है, क्योकि राज्य उनकी सम्हाल रखनें, उन्हे खिलाने-पिलानें और शिक्षा देने के लिए तैयार है। दूसरा कारण यह है कि सफाई और इलाज की सहूलियतो के बढ जाने से बच्चो की मृत्यु-संख्या २७ से घटकर १२ फ़ी सदी रह गई है। मास्को में १९१३ में साधारणतः एक हजार पर २३ मौते हुआ- करती थीं; पर १९३१ में १३ प्रति हजार ही रह गईं।

खाद्य पदार्थों की कमी से होनेवाली अनेक कठिनाइयो में एक और बढ़ गई। १९३१ में सघ के कुछ भागो में अकाल पड़ गया। १९३१ और १९३२ में सुदूर पूर्व में युद्ध की गरम खबरे भी उड़ती रहीं। कहीं दूसरी पूंजीवादी शक्तियो से मिलकर जापान रूस पर हमला न करदे, इस डर से सोवियट ने आडे वक्त पर फौज के काम आने के लिए अनाज और दूसरे खाद्य पदार्थ इकट्ठे करना शुरू कर दिया। सोवियट के खिलाफ जंग छिड़ने का खतरा सच्चा ही है और वह बना रहता है, मगर बोल-शेविको पर तो यह दिन-रात भूत की तरह सवार रहता है और इसी लिए बार-बार ऐसी खबरे उडती रहती है। एक पुरानी रूसी कहावत है कि 'डर से आँखें बडी हो जाती है।' यह कहावत बच्चो पर लागू करो या जातियो और राष्ट्रो पर, कितनी सच्ची है! चूंकि साम्यवाद और पूंजीवाद में सच्चा मेल नही होसकता, और साम्राज्य-वादी राष्ट्र साम्यवाद को कुचलने पर तुले हुए है और उसके लिए पैंतरे बदलते और षडयन्त्र रचते रहते है, इसलिए बोलशेविको के कान सदा खडे रहते है और जरा-सी उत्तेजना मिलते ही वे आँखें फाड़-फाड़कर देखनें लगते है। अक्सर उन्हे चिन्ता का काफी कारण भी मिल जाता है और उन्हे घर के भीतर भी कारखानो और बडे व्यव-सायो के नष्ट करने के व्यापक प्रयत्नो का सामना करना पड़ा है।

१९३२ सोवियट संघ के लिए बहुत ही नाजुक साल रहा और अब भी, १९३३ के जुलाई में, यह लिखते समय तक संकट-काल समाप्त नहीं हुआ है। बहुत-से सामूहिक खेतो पर सार्वजनिक सम्पत्ति की चोरियाँ बहुत हुईं। इन चोरियो और गुप्त विरोध के खिलाफ सरकार ने बहुत सख्त कार्रवाई की। मामूली तौर पर रूस में मृत्युदण्ड नहीं है, मगर प्रति-क्रान्ति के मामलो में यह सजा जारी करदी गई है। सोवियट सरकार ने आज्ञा दी है कि सार्वजनिक सम्पत्ति का चुराना प्रति-क्रान्ति के बराबर है, इसलिए इसकी सजा मौत है। इस बारे में स्टालिन ने कहा है: "अगर पूंजीवादियो

महासागर से बाल्टिक समुद्र तक, पामीर पहाड़ से मध्यएशिया के हिन्दूकुश पहाड़ तक, फैले हुए सोवियट संघ में रहनेवाली मुख्तलिफ जातियो में एकता और एक-रसता बढ़ी ।

संघ का बुरा-से-बुरा संकट-काल तो शायद चला गया है, मगर अभी वह है जरूर । काफप्रान्त के कुछ हिस्सो में थोडे ही महीनो पहले सचमुच अकाल की हालत थी । इस वक़्त सारे सघ की चिन्ता और आशा-भरी दृष्टि अगली फ़सल पर लगी हुई है । पिछले यानी १९३३ के वसन्त में बुवाई बडे जोर की हुई थी और आशायें यही है कि फसल बहुत अच्छी होगी । यह हुआ तो चार वर्ष लम्बे दुःख और चिन्ता के शीत काल का अन्त होकर रूस में वसन्त की आशा, जीवन और उत्साह देनेवाली हवा बहेगी ।

मुझे सोवियट रूस में आम तौर पर शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति की ो प्रगति हुई है उसका हाल लिखने का लोभ तो हो रहा है, मगर इसे सवरण ही करना पडेगा । तुम्हें थोडी-सी इधर-उधर की रोचक बाते ही बताऊँगा । जो लोग निर्णय करनें के अधिकारी है उनमें से बहुतो की मान्यता है कि रूस की शिक्षा-प्रणाली आज संसार में सबसे अच्छी और नई है । निरक्षरता का तो काला मुँह ही होगया है और उजबकि-स्तान और तुर्कनिस्तान जैसे पिछडे हुए मध्य-एशियाई प्रदेशो में सबसे आश्चर्यजनक प्रगति हुई है । इस प्रदेश में १९१३ में १२६ पाठशालायें और ६,२०० विद्यार्थी थे । १९३२ में वहाँ ६९७५ पाठशालायें और ७,००,००० छात्र थे । इनमें से एक-तिहाई लडकियाँ थी । सब जगह शिक्षा अनिवार्य करदी गई है । इस जबरदस्त तरक्की का महत्व समझने के लिए तुम्हे याद रखना चाहिए कि कुछ ही समय पहले तक लड़कियाँ परदे में रक्खी जाती थीं और उन्हे संसार के इस हिस्से में बाहर नहीं निकलने दिया जाता था । कहते है, इतनी जल्दी प्रगति लैटिन लिपि के जारी करनें के कारण हुई । भिन्न-भिन्न स्थानीय लिपियो की बनिस्बत इस लिपि से प्रारंभिक शिक्षा आसान होगई । तुम्हे याद होगा, मैं तुम्हे बता चुका हूँ, कि कमालपाशा नें भी अरबी के बजाय लैटिन लिपि या वर्णमाला जारी करदी है । उसे यह कल्पना और दूसरी भाषाओ के अनुकूल वर्णमाला रूस के प्रयोग से मिली । १९२७ में काफप्रदेश के प्रजातत्रो ने अरबी लिपि छोड़कर लैटिन लिपि को अपनाया । निरक्षरता दूर करने में इससे बडी कामयाबी हुई और चीनी, मंगोली, तुर्क, तातार, बुदयत, बश्कीर, ताजिक और अनेक दूसरी जातियो नें, जो सोवियट संघ में शामिल है उनमें से अधिकांश ने, लैटिन लिपि को अपना लिया । भाषा तो वही स्थानीय रही जो सदा से काम में आती थी । सिर्फ लिपि बदल गई ।

तुम्हे यह जानने में दिलचस्पी होगी कि सोवियट संघ की सारी पाठशालाओ के

भार सहन करने के बाद अब लोगो को ज्यादा आराम और सुखपूर्ण जीवन के रूप में थोडा इनाम दिया जा सकेगा। अब मशीनो के लिए बाहर जाने की जरूरत न होगी। क्योकि रूस के बडे कारखाने ये मशीने मुहैया कर सकेगे। इससे सोवियट का वह भार भी हलका हो जायगा जो उसे खरीदे हुए माल की कीमत चुकाने के लिए बहुत-से खाद्य पदार्थ बाहर भेजने में उठाना पड़ता था।

हाल ही में सामूहिक खेतो के किसानो की परिषद् में बोलते हुए स्टालिन ने कहा था :—

> "हमारा पहला काम सारे सामूहिक खेती करनेवाले किसानो को सम्पन्न-बनाना है। हाँ, साथियो, सम्पन्न बनाना। • कभी-कभी लोग कहते है 'जब समाजवाद है तो फिर हम काम क्यो करे? हम पहले भी काम करते थे, अब भी करते है। क्या काम करना छोड देने का हमारे लिए वक्त नही आगया? •• नही, समाज की रचना परिश्रम पर हुई है।•• • समाजवाद चाहता है कि सब लोग ईमानदारी से काम करे, दूसरो के लिए, अमीरो के लिए, शोपको के लिए काम न करे। मगर अपने लिए और समाज के लिए काम करे।"

काम तो रहेगा और रहना चाहिए। हाँ, वह पंचवर्षीय योजना के चार वर्ष के कठोर काल की बनिस्बत भविष्य में हलका और रुचिकर होगा। असल में सोवियट सघ का उसूल ही यह है—"जो काम न करे वह खाये भी नहीं।" लेकिन बोलशेविको ने काम के साथ एक नया हेतु और लगा दिया है और वह है समाज की भलाई के लिए काम करना। पहले भी आदर्शवादियो और इक्के-दुक्के आदमियो ने इसी हेतु से प्रेरित होकर काम किया है, मगर सारे समाज के इस हेतु को स्वीकार करके उसके अनुसार काम करने का पहले कोई उदाहरण नहीं मिलता। पूंजीवाद का आधार ही स्पर्धा यानी लाग-डॉट और दूसरो को नुकसान पहुँचाकर अपना फ़ायदा करना था। सोवियट संघ में इस मुनाफे के हेतु का स्थान सामाजिक हेतु ले रहा है। एक अमेरिकन लेखक कहता है कि रूस के श्रमजीवी यह सीख रहे है कि "पारिस्परिक अधीनता स्वीकार करने से भी दारिद्रच और भय से स्वाधीनता मिलती है।" दरिद्रता और अनिश्चितता का भय गरीबो की गर्दन पर सब जगह और सदा सवार रहता है। यह कहा जाता है कि सोवियट रूस में इस भय के निकल जाने से मानसिक बीमारियो का अन्त-सा होगया है।

इस तरह इन चार कठोर वर्षों में सोवियट संघ में सब जगह और सब तरह की तरक्की हुई है। इनमें कष्ट और विषमतायें तो हुई, मगर फिर भी नगरो, उद्योगो, बडी-बडी सामूहिक खेतियो, जबरदस्त सहयोग-समितियो, व्यापार और आबादी तथा सस्कृति, विज्ञान और विद्या की प्रगति अवश्य हुई। सबसे बडी बात यह हुई कि प्रशान्त

कोलनताई को बनाया। मेरा ख़याल है कि लेनिन की विधवा श्रीमती क्रुप्सकाया सोवियट के शिक्षा-विभाग की एक शाखा की अध्यक्ष है।

सोवियट संघ दिन-दिन और घडी-घडी होनेवाले इन परिवर्तनो के कारण एक मजेदार देश होगया है। लेकिन उसका भी कोई भाग इतना रोचक और मनोहर नहीं है जितना साइबेरिया का मरुस्थल और मध्यएशिया की प्राचीन घाटियाँ है। ये दोनो ही मानवीय परिवर्तन और उन्नति के प्रभाव से पीढ़ियो तक अछूते रहे है, लेकिन आज बडी तेजी से छलागें भरकर आगे बढ़ रहे है। इन तेजी से तब्दीलियो की तुम्हे थोडी-सी कल्पना कराने के लिए मै ताजिकिस्तान का कुछ हाल बताता हूँ। शायद यह सोवियट संघ के सबसे पिछडे हुए प्रदेशो में से था।

ताजिकिस्तान पामीर पर्वत-श्रेणी की घाटियो में, आक्सस यानी अक्षु नदी के उत्तर में, अफगानिस्तान और चीनी तुर्किस्तान से लगा हुआ है। भारतीय सीमाप्रान्त से भी दूर नही है। यह बुख़ारा के अमीरो के कब्जे में था और ये अमीर रूसी ज़ार के उमराव थे। १९२० में बुख़ारा की स्थानीय क्रान्ति हुई और अमीर को हटाकर प्रजा ने बुखारा सोवियट प्रजातन्त्र कायम कर लिया। इसके बाद खानाजंगी शुरू हुई और उसी उत्पात में अनवरपाशा की मृत्यु हुई। यह किसी जमाने में तुर्की का सार्वजनिक नेता था। बुखारा प्रजातंत्र का नाम उज़बक समाजवादी सोवियट प्रजातंत्र पड़ा और वह रूसी सोवियट सघ एक अंगभूत सर्वसत्ताधारी प्रजातत्र हुआ। १९२५ में उज़बक प्रदेश के भीतर एक स्वशासन-भोगी ताजिक प्रजातंत्र बना। १९२९ में ताजिकिस्तान भी एक सर्वसत्ताधारी प्रजातंत्र बन गया और सोवियट संघ के सात अंगभूत सदस्यो में से एक होगया।

ताजिकिस्तान को इतना गौरव तो मिल गया, मगर वह दस लाख से भी कम आबादी का छोटा-सा पिछड़ा हुआ इलाका था। वहाँ रास्ते भी अच्छे नहीं थे, सिर्फ़ ऊँटो के रास्ते थे। नया दौर शुरू होते ही सड़के, आबपाशी, खेती, उद्योग, शिक्षा और स्वास्थ्य के साधन सुधारने के उपाय किये गये। मोटरो के रास्ते बनाये गये, खेती बोई जानें लगी और सिचाई के कारण उसमें खूब सफलता मिली। १९३१ के मध्य तक रुई की खेती के ६० फी सदी भाग में सामूहिक प्रणाली जारी होगई और अन्न-प्रदेश के बडे भाग का संगठन भी सामूहिक खेती के तरीके पर होगया। बिजली-घर बन गया और आठ रुई के और तीन तेल के पुतलीघर खडे होगये। एक रेलवे बन गई और उज़बकिस्तान में होकर सोवियट संघ की बडी रेलवे से मिला दी गई। हवाई जहाज भी चलनें लगे और उनको ख़ास-ख़ास हवाई रास्तो से जोड़ दिया गया।

१९२९ में सारे देश में सिर्फ एक दवाख़ाना-था। १९३२ में ६१ अस्पताल और

दो-तिहाई बच्चो को पाठशालाओ में ही गरम-गरम दुपहरी कराई जाती है, यानी दोपहर का नाश्ता कराया जाता है। इसका पैसा नहीं लिया जाता। वहाँ तो शिक्षा भी मुफ्त दी जाती है। मुफ्त दी भी क्यो न जाय ? वहाँ मजदूरो का राज जो ठहरा।

साक्षरता की वृद्धि और तालीम की तरक्की के कारण वहाँ पढ़नेवाले लोगो की तादाद बहुत बढ गई है और शायद रूस में और किसी भी देश से ज्यादा किताबें और अखबार छपते हैं। अधिकाश पुस्तके गम्भीर और 'भारी' है, और देशो की तरह हलके उपन्यास नहीं हैं। रूसी श्रमजीवी को इंजीनियरिंग और बिजली से इतनी दिलचस्पी है कि वह उनके विषय की पुस्तके पढ़ना जितना पसन्द करता है उतना कहानियो की किताबें पढना नहीं करता। मगर बच्चो के लिए बहुत मजेदार पुस्तके है, परियो की कहानियाँ तक है, हालाकि मैं समझता हूँ पुराने ख़याल के बोलशेविको को परियो की कहानियाँ पसन्द नहीं है।

विज्ञान में या विज्ञान के शुद्ध स्वरूप और उसके बहुत-से प्रयोगो में रूस पहले ही प्रथम श्रेणी में आ चुका है। विज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओ की बहुत-सी विशाल संस्थायें और प्रयोगालय बन गये है। लेनिनग्रेड में वनस्पति-उद्योग की इतनी बडी संस्था है कि उसमें अकेले गेहू के २८,००० अलग-अलग नमूने है! यह संस्था हवाई जहाज से चावल बोने के तरीको का प्रयोग कर रही है।

जारो और उनके उमरावो के पुराने महलो में अब लोगो के लिए अजायबघर, आरामगाहे तथा स्वास्थ्य-भवन बन गये हैं। लेनिन ग्रेड के पास ही एक छोटा-सा क़स्बा है। पहले इसे 'जारको सेलो' यानी 'जार का गाँव' कहते थे। वहाँ सम्राट् के दो महल थे और गरमी में जार वहीं रहता था। अब उसका नाम बदल कर 'डेत्स्को सेलो' यानी 'बच्चो का गाँव' रख दिया गया है। मेरा ख़याल है कि पुराने महल अब बच्चो और नवयुवको के ही काम के रह गये है। आज के सोवियट रूस में बच्चो और नवयुवको पर ख़ास महरबानी है। दूसरो को भले ही अभाव का कष्ट हो, पर इन लाडलो को तो हर चीज बढिया-से-बढ़िया मिलनी चाहिए। उन्हींके लिए तो मौजूदा पीढी मेहनत कर रही है, 'क्योकि वे ही आगे चलकर समाजवादी और वैज्ञानिक राज्य के मालिक बनेगे, बशर्तेकि यह उनके जीवन-काल में स्थापित होजाय।' मास्को में 'माता और बच्चे की रक्षा की केन्द्रीय संस्था' है।

रूस में स्त्रियो को शायद और सब देशो से ज्यादा आजादी है। फिर भी उन्हे राज्य की तरफ से ख़ास संरक्षण मिला हुआ है। वे सब धन्धो में प्रवेश कर सकती है और उनमें इंजीनियरो की ख़ासी बडी तादाद है। किसी भी सरकार ने अगर पहले-पहल एक स्त्री को राजदूत बनाया हो तो वह रूस ने बुढ़िया बोलशेविक श्रीमती

सघ के बारे में मेरा यह आखिरी खत है इसलिए इसे थोडा बढ़ाकर मै तुम्हें अब सोवियट की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बता देता हूँ। तुम्हे याद हो तो तुम पहले ही जान चुकी हो कि केलॉग-संधिपत्र पर सोवियट ने भी दस्तख़त किये थे। यह सधि युद्ध को बन्द करने के लिए हुई थी। १९२९ में लिटविनोफ़ का समझौता भी हुआ था। असल में रूस किसी भी तरह शान्ति की रक्षा और युद्ध को टालने के लिए बुरी तरह उत्सुक था और इन बातो को पक्की करने के लिए वह हर मौके का स्वागत करता था। इन सधियो और समझौतो को काफी न समझकर उसने अपने पडोसियो के साथ परस्पर हमला न करने के शर्तनामे भी कर लिये। १९३२ के नवम्बर में उसने इसी तरह की एक सन्धि फ्रांस के साथ की। योरप की राजनीति में यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। मेरे ख़याल से रूस के पडोसियो में अकेले जापान ने ही परस्पर हमला न करने का समझौता करने से इन्कार किया। चीन ने बहुत दिन तक शान्त विरोध करने और राजनैतिक सम्बन्ध न जोडने के बाद सोवियट सरकार की सत्ता को दुबारा स्वीकार किया। यह उस वक्त की बात है जब चीन पर मंचूरिया में जापान का दबाव बहुत वढ गया था।

जापान के साथ सोवियट के ताल्लुकात अच्छे नही है। जापान की सरकार सोवियट को सुदूरपूर्व में हमेशा छेडती और तंग करती रहती है। पिछले साल-दो साल में सुदूरपूर्व में युद्ध होने की बातें भी बार-बार उठती रही है, मगर रूस ने लड़ाई करने से अपमान सह लेना ज्यादा पसन्द किया है। इग्लैण्ड और रूस का संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक स्थायी चीज़ बन गई और कभी-कभी वह चमक उठती है। कुछ महीने पहले मास्को में ब्रिटिश इजीनियरो पर मुकदमा चला था। उस पर बड़ा वावेला मचा और नतीजा यह हुआ कि दोनो देशो ने एक-दूसरे से बदला लेने की कार्रवाइयाँ कीं। मगर वह तूफान अब जाता रहा है, इंजीनियर छोड़ दिये गये है और साधारण सम्बन्ध कायम होगये है। अमेरिका ने अभी तक रूस को स्वीकार नही किया है, हालाकि दोनो देशो में व्यापार ख़ूब होता है। अब अमेरिका स्वीकार कर लेगा, ऐसी बात चल रही है, और यह भी कहा जाता है कि चूकि इग्लैड और जापान रूस के प्रतिस्पर्धी और भावी शत्रु है, इसलिए वे अमेरिका को सोवियट सरकार को स्वीकार करने से रोक रहे है। इधर सोवियट का बड़ा आग्रह है कि अमेरिका उसे स्वीकार करले।

जर्मनी में नाज़ी सरकार के रूप में रूस का एक नया और आगे बढ़कर चोट करनेवाला दुश्मन पैदा होगया है। अभी रूस का सीधा नुक़सान करने का तो इसमें सामर्थ्य नहीं है, मगर आयन्दा के लिए उसका ख़तरा बहुत है और वह अभी से साजिश करने लगा है। वह दिन-दिन फॅसिस्ट होता जा रहा है।

३७ दांत के दवाखाने होगये जिनमें २१२५ बीमारो के रहने का इतजाम था और २० डॉक्टर थे। शिक्षा की प्रगति का पता निम्नलिखित अंको से लग सकता है:—

१९२५ में	सिर्फ ६ आधुनिक पाठशालायें
१९२६ के अन्त में	११३ पाठशालायें और २,३०० छात्र
१९२९ में	५०० पाठशालायें
१९३१ में	२०० से अधिक शिक्षण-सस्थायें और १,२०,००० छात्र।

अवश्य ही शिक्षा पर खर्च भी एकदम बढ़ गया है। १९२९–३० का शिक्षा का बजट ८० लाख रुबल था। (बट्टा न लगे तो, यानी बराबर का भाव हो तो, एक रुबल लगभग २ शिलिंग या १।-)॥ के बराबर होता है।) १९३०–३१ का बजट २ करोड़ ८० लाख रुबल था। साधारण पाठशालाओ के सिवा शिशुशालायें, ट्रेनिंग स्कूल, पुस्तकालय और वाचनालय खुल रहे थे और १९३२ में नारा यह था कि 'अगले दो वर्ष में निरक्षरता मिट जानी चाहिए'। लोगो में इल्म यानी विद्या की जबरदस्त प्यास पैदा हो गई थी।

इन हालात में स्त्रियो का परदे में रहना तो मुमकिन ही नही था और वह तेजी से हट रहा था।

इन सब बातो में मुश्किल से ही विश्वास हो सकता है। क्या बिजली की इस तेज चाल से तरक्की हो सकती है? यह भी याद रहे कि इस देश की आबादी दस लाख से थोडी-सी ही ज्यादा है, यानी इलाहाबाद जिले से भी बहुत कम है। मैंने यह जानकारी और अक एक योग्य अमेरिकन यात्री की रिपोर्ट से लिये है। वह १९३२ के शुरू में ताजिकिस्तान देखने गया था। शायद उसके बाद तो वहाँ और भी परिवर्तन हुए है।

मालूम होता है कि सोवियट सघ ने नवजात ताजिक प्रजातन्त्र को शिक्षा और दूसरे कामो के लिए रुपये की मदद इसीलिए दी कि पिछडे हुए भागो को उन्नत करना सघ की नीति है। लेकिन इस प्रदेश में खनिज सम्पत्ति भी बहुत मालूम होती है। सोना, तेल और कोयला मिले है और ऐसा भी विश्वास किया जाता है कि सोना बहुत ज्यादा है। पुराने जमाने में चगेजखाँ के समय तक ये सोने की खानें चलती थीं, मगर तबसे उनका काम बन्द मालूम होता है।

१९३१ में ताजिकिस्तान में प्रतिक्रान्तिवादियो का विद्रोह हुआ और बहुत-से भूस्वामी और अमीरवर्ग के लोग, जो देश छोडकर अफगानिस्तान भाग गये थे, हमला करने आये। मगर यह विद्रोह सफल नही हुआ, क्योंकि किसानो ने साथ नही दिया।

यह खत लम्बा हो रहा है और खिचडी-सा बनता जा रहा है। लेकिन सोवियट

विज्ञान की बात शुरू करने से पहले मैं तुम्हे फिर याद दिला दूं कि महायुद्ध के समय से स्त्रियो की हालत में बहुत बडी तब्दीली होगई है। जिसे कानून, समाज और रिवाज के बधनो से स्त्रियो की मुक्ति कहा जाता है उसकी शुरुआत उन्नीसवी सदी में हुई थी, जब बडे-बडे उद्योग कायम हुए और उनमें स्त्री मजदूरो को नौकर रक्खा गया। पहले तो तरक्की की रफ्तार सुस्त थी। फिर लड़ाई के कारण उसकी गति बहुत तेज होगई और युद्ध के बाद तो वह करीब-करीब पूरी होगई। आज तो ताजिकिस्तान में भी, जिसका हाल पिछले खत में लिख चुका हूँ, स्त्रियाँ डॉक्टर, शिक्षक और इंजीनियर है। ये ही कुछ वर्ष पहले परदे में रहती थीं। तुम और तुम्हारी पीढ़ी तो परदे से बाहर रहने को स्वाभाविक समझ लोगी। पर यह बात न सिर्फ एशिया में बल्कि योरप में भी बिलकुल नई है। सौ वर्ष भी नही हुए कि १८४० में लन्दन में ससार का पहला दासत्व-विरोधी सम्मेलन हुआ था। उसमें स्त्री-प्रतिनिधि अमेरिका से आई थीं जहा हब्शी गुलामो के होने से बहुत लोगो में आन्दोलन मचा हुआ था। लेकिन सम्मेलन ने इन स्त्री-प्रतिनिधियो को इस बिना पर शामिल करने से इन्कार कर दिया कि किसी स्त्री के लिए सार्वजनिक सभा में भाग लेना अनुचित और बेहयाई की बात है!

तो अब विज्ञान की बात करे। सोवियट रूस की पंचवर्षीय योजना का बयान करते वक्त मैंने तुम्हे बताया था कि यह योजना सामाजिक मामलो में विज्ञान की भावना का प्रयोग थी। कुछ ही हद तक सही, पिछले डेढ़-दो सौ वर्ष से पश्चिमी सभ्यता के पीछे यही भावना रही है। जैसे-जैसे इसका असर बढता गया, वैसे-वैसे तर्क-विरुद्ध और जादू-टोना तथा अंध-विश्वास के विचार पीछे हटते गये है और विज्ञान के विपरीत साधनो और क्रियाओ का विरोध हुआ है। इसका यह मतलब नही कि जन्तर-मन्तर, वहम और खामखयाली पर विज्ञान की भावना की पूरी विजय होगई है। अभी यह बात बहुत दूर है। मगर तरक्की जरूर बहुत हुई है और उन्नीसवी सदी में इस भावना की कई बातो में बडी भारी जीत हुई है।

मैं तुम्हे पहले बता चुका हूँ कि उद्योग और जीवन में विज्ञान के प्रयोग से उन्नीसवीं सदी में कितने बडे परिवर्तन हुए है। ससार और खास तौर पर पश्चिमी योरप और उत्तरी अमेरिका इतने बदल गये है कि पहचाने नही जा सकते। वे इतने बदल गये जितने पहले हजारो वर्ष में नही बदले थे। उन्नीसवी सदी में योरप की आबादी का इतना ज्यादा बढ़ जाना कम ताज्जुब की बात नहीं है। १८०० में सारे योरप की आबादी १८ करोड़ थी। वह कई युगो में धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते इतनी हुई थी। फिर उसमें एकदम वृद्धि हुई और १९१४ में वह ४६ करोड़ होगई है। इस बीच में लाखो आदमी योरप से दूसरे देशो मे और खासकर अमेरिका में भी जा बसे

विदेशो के साथ सोवियट रूस एक सन्तुष्ट राष्ट्र का-सा व्यवहार करता रहा है। झगडे से बचने और किसी भी कीमत पर शान्ति कायम रखनें की कोशिश करना उसका ध्रुव है। यह रवैया क्रान्तिकारी नीति से बिलकुल उलटा है। क्रान्तिकारी नीति का उद्देश्य तो दूसरे देशो में क्रान्ति को उत्तेजन देना होता है। इसलिए रूस की मौजूदा नीति अन्तर्राष्ट्रीय नही, राष्ट्रीय नीति है। इससे हम ट्रॉटस्की की 'स्थायी क्रान्ति' की और स्टालिन की एक देश में समाजवाद फैलाने की नीति का भेद समझ सकते है। यह समझ में आ सकता है कि अपनी बडी-बडी भीतरी योजनाओ में बुरी तरह व्यस्त रहने के कारण रूस को बाहर झगडे मोल लेने का अवकाश नही है। मगर इसका यह नतीजा लाजिमी है कि वह पूंजीवादी राष्ट्रो के सामने एक छोटी-सी सयानी लड़की का-सा व्यवहार करने की कोशिश करे और अपने माने हुए शत्रु साम्राज्यवादी और फैसिस्ट राष्ट्रो से समझौते करे। इसका अर्थ हुआ अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी सघ की मूल नीति का त्याग। इससे यह भी परिणाम हुआ है कि रूस के बाहर अलग-अलग देशो में साम्यवादी दल कमजोर होगये है और उनका कोई असर नही है। सोवियट संघ की नीति यह है कि बाहर समाजवाद और साम्यवाद का कुछ भी हो, अपनी रक्षा किसी भी तरह करनी चाहिए।

जिस वक्त मै यह लिख रहा हूँ उस वक्त लन्दन में संसार-भर की आर्थिक परिषद् हो रही है। यह परिषद् तो असफल हो रही है, मगर रूस ने इस अवसर का लाभ उठाकर संसार के सारे देशो से आये हुए प्रतिनिधियो में से अपने पडोसियो के साथ परस्पर हमला न करने का दूसरा समझौता कर लिया है। रूस, अफ़ग़ानिस्तान, एस्टोनिया, लटविया, ईरान, पोलैण्ड, रूमानिया, तुर्की और लिथुएनिया ने १९३३ के शुरू जुलाई में इस सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। जापान पहले की तरह अब भी अलग ही है।

: १८२ :

विज्ञान की प्रगति

१३ जुलाई, १९३३

महासमर के बाद के वर्षों में दुनिया-भर में जो राजनैतिक घटनायें हुई है उनके बारे में मैंने तुम्हे विस्तारपूर्वक लिखा है। थोड़ा-सा हाल आर्थिक परिवर्तनो का भी बताया है। इस चिट्ठी में दूसरे विषयो और ख़ास तौर पर विज्ञान और उसके नतीजो के बारे में लिखना चाहता हूँ।

में एम्सटर्डम में रहता था। कहा जाता है कि उसके पुस्तकालय मे साठ से कम ही ग्रन्थ थे।

इसलिए हमारा भला यह समझने में ही है कि ससार में ज्ञान-वृद्धि होजाने से यह जरूरी नही है कि हम पहले से अच्छे या समझदार होगये। ज्ञान से पूरा लाभ उठा सकने के लिए हमें ज्ञान का ठीक-ठीक उपयोग करना आना चाहिए। अपनी तेज गाडी पर चढ़कर सरपट दौडने से पहले हमें यह मालूम होना चाहिए कि किधर जाना है। यानी हमें कुछ कल्पना तो होनी चाहिए कि जीवन का ध्येय क्या है? बेशुमार लोगो को आज कोई ऐसी कल्पना नही है और वे इसकी कभी चिन्ता भी नही करते। वे रहते विज्ञान के युग में हैं और उनके विचार और कार्य बहुत पुराने जमाने के है। इसलिए कठिनाइयो और संघर्ष का पैदा होना स्वाभाविक है। चालाक बन्दर मोटर चलाना सीख सकता है, मगर ऐसे हॉकनेवाले के हाथो में जान सुरक्षित नहीं होती।

आधुनिक ज्ञान आश्चर्यजनक रूप में पेचीदा और व्यापक है। हजारो खोज करनेवाले लगातार अपने काम में लगे रहते हैं। हरेक अपने-अपने विभाग में खोज करता रहता है, अपने-अपने चप्पे में बिल खोदा करता है और ज्ञान-गिरि में छोटे-छोटे कण जोड़ता रहता है। ज्ञान का क्षेत्र इतना लम्बा-चौडा है कि प्रत्येक कार्यकर्त्ता को अपनी-अपनी दिशा में विशेषज्ञ बनना पड़ता है। अक्सर उसे ज्ञान की दूसरी शाखाओ का पता भी नहीं होता और इस तरह वह कुछ विभागो में बड़ा पण्डित होकर भी दूसरे अनेक विभागो में बिलकुल कोरा होता है। उसके लिए मानव-प्रवृत्ति के सारे क्षेत्र के बारे में बुद्धिमत्तापूर्ण विचार करना कठिन होजाता है। पुराने अर्थ में वह सुसस्कृत नही है।

अलबत्ता ऐसे व्यक्ति भी हैं जो इस सकुचित विशेषज्ञता से ऊपर उठे हैं। वे खुद विशेषज्ञ होकर भी विस्तृत दृष्टिकोण रख सके है। युद्ध और मानवीय झगडो से विचलित न होकर ये लोग वैज्ञानिक खोज का काम बराबर करते रहे हैं और पिछले पन्द्रह-बीस वर्ष में उन्होने ज्ञान में काफी वृद्धि की है। आज का सबसे बड़ा वैज्ञानिक एल्बर्ट आइन्स्टीन समझा जाता है। यह जर्मनी का यहूदी है और चूंकि हिटलर की नई सरकार यहूदियो को पसन्द नही करती, इसीलिए आइन्स्टीन हाल में जर्मनी से निकाल दिया गया है!

आइन्स्टीन ने भौतिक शास्त्र के कुछ नये सिद्धान्तो का आविष्कार किया है। इनका सृष्टि से सम्बन्ध है और ये गणित की पेचीदा क्रियाओ से निकले है। इनसे न्यूटन के कुछ ऐसे सिद्धान्तो में भी परिवर्तन होगया है जिन्हे दो सौ वर्ष से असंदिग्ध रूप में माना जाता था। आइन्स्टीन के मत का समर्थन भी बडे मजेदार तरीके पर हुआ। उसके मत के अनुसार प्रकाश का व्यवहार एक खास तरीके का होता है

थे। हम इनकी तादाद चार करोड़ समझ सकते हैं। इस तरह सौ से कुछ ज्यादा वर्ष में ही योरप की आबादी १८ से ५० करोड़ होगई। यह वृद्धि योरप के उद्योग-प्रधान देशों में अधिक मार्के की हुई। अठारहवी सदी के आरम्भ में इंग्लैण्ड की आबादी सिर्फ ५० लाख थी और वह पश्चिमी योरप में सबसे गरीब देश था। वह दुनिया का सबसे मालदार मुल्क होगया और उसकी आबादी चार करोड़ होगई।

इस बढ़ती और दौलत का कारण यह था कि वैज्ञानिक जानकारी के कारण प्रकृति की क्रियाओ पर अधिक नियंत्रण होगया था, या यो कहो कि उन्हे ज्यादा अच्छी तरह समझ लिया गया था। इससे ज्ञान बहुत बढ़ गया, मगर यह न समझ लेना कि अक्ल भी बहुत बढ गई। मनुष्य कुदरत की ताकत को काबू में रखने और उससे काम तो लेने लग गये, मगर उन्हे यह खयाल साफ-साफ नहीं था कि जीवन का ध्येय यानी जिन्दगी का मकसद क्या है या क्या होना चाहिए? ताकतवर मोटर-गाडी काम की और वाञ्छनीय चीज है, लेकिन यह तो मालूम होना चाहिए कि उसमें बैठकर जाना कहाँ है। अगर उसे ठीक तरह नही चलाया जाय तो वह चट्टान पर से उछलकर खड्ड में जा पडेगी। ब्रिटिश विज्ञान-सघ के अध्यक्ष ने पिछले साल कहा था "मनुष्य ने अपने ऊपर काबू करना तो सीखा ही नही, और कुदरत पर उसका काबू पहले ही हो गया।"

हममें से ज्यादातर लोग विज्ञान से पैदा हुई या बनी हुई चीजें काम में लाते हैं। जैसे रेल, हवाई जहाज, बिजली, बेतार का तार और हजारो और चीजें। मगर हम यह विचार नहीं करते कि ये बनी कैसे? हम अपना हक समझकर उन्हे योंही स्वीकार कर लेते हैं। हमें इस बात का बड़ा गर्व है कि हम उन्नत युग में रहते हैं और खुद भी बडे 'आगे बढे हुए' हैं। इसमें तो कोई शक नही कि हमारा जमाना पहले के जमानो से बहुत जुदा है और, मेरे खयाल से, यह कहना भी बिलकुल सही है कि यह पहले से कहीं अधिक उन्नत है। मगर इसका यह अर्थ भी नही है कि हम व्यक्ति या समूह की हैसियत से भी पहले से अधिक उन्नत है। यह कहना परले दर्जे की बेवकूफी होगी कि चूंकि एजिन हाँकनेवाला एजिन को चला सकता है, इसलिए एजिन हाँकनेवाला अफलातून या सुकरात से अधिक उन्नत या ऊँचे दर्जे का मनुष्य है। लेकिन यह कहना बिलकुल ठीक होगा कि अफलातून के रथ से एजिन आवागमन का बढिया साधन है।

आजकल हम बहुत-सी किताबें पढते हैं। मुझे भय है कि इनमें से ज्यादातर वाहियात किताबें हैं। पुराने जमाने में लोग थोडी-सी किताबें पढते थे, लेकिन वे अच्छी होती थीं और उन्हे उनका अच्छा ज्ञान होता था। योरप के दार्शनिको में स्पिनोजा बहुत बडा आदमी था। वह विद्या और बुद्धि का भण्डार था। वह सत्रहवी सदी

है वह नही दीखता है, बल्कि वह दीखता है जो उसकी प्रकाश-किरण के रवाना होते वक़्त वह था। सभव है इस किरण को अपनी लम्बी यात्रा पर निकले सैकडों हज़ारों वर्ष होगये हो। समय और स्थान सम्बन्धी हमारे विचारो में इन बातो से बडी गड़बड़ होती है, इसीलिए ऐसे मामलो पर विचार करने में आइंस्टीन के मत से बडी मदद मिलती है। अगर हम स्थान छोडकर सिर्फ समय का विचार करे तो भूत और वर्तमान की खिचडी होजाती है, क्योकि जिस तारे को हम देखते हैं वह हमारे लिए वर्तमान है, मगर दरअसल हमें जो दिखाई देता है वह भूतचाल की चीज़ है। हमें जितना-सा ज्ञान है उसके हिसाब से तो सभव है प्रकाश की किरण के रवाना होने के बाद वह तारा कभी का नष्ट होगया हो।

मैंने कहा है कि हमारा सूर्य छोटा-सा महत्वहीन तारा है। लगभग एक लाख तारे और हैं। ये सब आकाशगंगा कहलाते है। रात को दीखनेंवाले तारो में से अधिकांश इसमें हैं। परन्तु खाली आँख से हमें बहुत ही थोडे तारे दीखते है, बडे-बडे खुर्दबीनो की मदद से हमें बहुत अधिक तारे दीख सकते हैं। इस विज्ञान के विशेषज्ञो ने हिसाब लगाया है कि जगत् में ऐसी एक लाख अलग-अलग आकाश-गगायें है!

और एक आश्चर्य की बात सुनो। हमें बताया गया है कि यह जगत् बढ़ती हुई चीज़ है। सर जेम्स जीन्स नामक गणित-शास्त्री ने इसकी साबुन के ऐसे बुल्ले से तुलना की है जो बड़ा होता जा रहा है और विश्व उस बुल्ले की ऊपरी सतह है। यह बुल्ले या बुदबुदे के जैसा जगत् इतना बड़ा है कि प्रकाश को इसके एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुँचने में लाखो और करोडो वर्ष लगते है!

अगर तुम्हारी आश्चर्य-शक्ति थक न गई हो तो जगत् के बारे में और भी कुछ बताऊँ। यह जगत् सचमुच अद्‌भुत वस्तु है। केम्ब्रिज का एक प्रसिद्ध ज्योतिषी सर आर्थर एडिंगटन हमें बताता है कि हमारा जगत् धीरे-धीरे बिखर रहा है और वह घडी की तरह है। अगर इसमें फिर से किसी तरह चाबी नही भरी गई तो यह छिन्न-भिन्न होजायगा। अलबत्ता यह सब होता लाखो वर्षों में है, इसलिए हमें चिन्ता नही करनी चाहिए। उन्नीसवीं सदी के मुख्य विज्ञान भौतिक और रसायनशास्त्र थे। उनसे मनुष्य को प्रकृति या बाहर की दुनिया पर प्रभुत्व प्राप्त करने में मदद मिली। फिर वैज्ञानिक पुरुष अपने भीतर देखने और अपना खुद का अध्ययन करने लगा। जीवनशास्त्र का महत्व बढा। मनुष्य, पशु और वनस्पति के प्राणो का अध्ययन हुआ। अबतक उसमें असाधारण उन्नति हो चुकी है और जीवशास्त्री कहते है कि इंजेक्शन या सुई लगाकर अथवा दूसरे साधनो से शीघ्र मनुष्यो के स्वभाव भी बदले जा सकेंगे। इस तरह शायद यह भी होसकेगा कि कायर साहसी बन जाय या अधिक

और उसकी परीक्षा सूर्य-ग्रहण के अवसर पर हो सकती है। जब ग्रहण हुआ तो प्रकाश की किरणो का व्यवहार उसी तरह का हुआ। इस प्रकार गणित के तर्क से निकाले हुए परिणाम की पुष्टि वास्तविक प्रयोग से होगई।

मैं यह उसूल तुम्हे समझाने की कोशिश नही करूँगा, क्योकि यह बहुत गहन है और मुझे भी इसकी स्पष्ट कल्पना नही है। यह सापेक्ष्यवाद (Theory of Relativity) कहलाता है। जगत् के बारे में विचार करते समय आइंस्टीन को पता लगा कि समय और स्थान की कल्पनायें अलग-अलग लागू नही हो सकती। इसलिए उसने दोनो को रद करके एक नया विचार पेश किया और उसमें दोनो को मिला दिया। यही स्थान-समय (Space-Time) कल्पना है।

इधर आइंस्टीन ने विश्व का विचार किया, उधर वैज्ञानिको ने अत्यन्त असीम चीजो की खोज की। सुई की नोक को लो। यह शायद छोटी-से-छोटी चीज है जिसे आँख से देखा जा सकता है। वैज्ञानिक साधनो से यह साबित कर दिया गया कि यह सुई की नोक एक तरह से अपने भीतर एक विश्व को छिपाये हुए है। इसके भीतर एक-दूसरे के चक्कर लगानेवाले अणु है और प्रत्येक अणु ऐसे परमाणुओ से बना है जो परस्पर स्पर्श किये बिना घूमते रहते है और प्रत्येक परमाणु के बहुत-से छोटे-छोटे बिजली के अश होते है। इन्हे प्रोटन और एलेक्ट्रन (विद्युत्कण) कहते है। ये भी सदा बडी तेजी से घूमते रहते है। इनमें भी और सूक्ष्म भाग होते है जिन्हे पाजिट्रन, न्यूट्रन और डेण्टन कहते है। और उनकी औसत जिन्दगी एक सेकण्ड का अरबवाँ हिस्सा कूती गई है। यह सब बहुत ही छोटे पैमाने पर आकाश में घूमनेवाले ग्रहो और तारो की-सी बात हुई। याद रहे कि अणु इतना छोटा होता है कि बढ़िया-से-बढ़िया खुर्दबीन से भी दिखाई नहीं देता। परमाणुओ और उनके हिस्सो की तो कल्पना करना भी कठिन है। फिर भी वैज्ञानिक यन्त्रो की इतनी उन्नति हुई है कि इन सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिस्सो के बारे में भी बहुत-सी जानकारी इकट्ठी होगई है। हाल में परमाणु के टुकडे किये गये है।

विज्ञान के नये-से-नये मतो का विचार करते समय दिमाग चक्कर खाने लगता है और उन्हे समझ सकना बहुत ही कठिन है। अब मैं तुम्हे और भी आश्चर्यजनक बात कहूँगा। हम जानते है कि हमारी पृथ्वी हमें इतनी बडी दीखती है, परन्तु सूर्य के लिए वह एक छोटा ग्रह है और सूर्य खुद बहुत ही नगण्य-सा छोटा तारा है। स्थान के महासागर में सारा सूर्य-मण्डल एक बूंद के बराबर है। विश्व में दूरियाँ इतनी बडी-बडी है कि उसके कुछ भागो से हम तक प्रकाश के पहुँचने में हजारो लाखो वर्ष लगते है। इस तरह जब हमें रात को कोई तारा दीखता है तो वह जो कुछ अब

एक ख़ास संकेत पर भोजन मिलने की आशा करना सिखाया। नतीजा यह हुआ कि कुत्ते के दिमाग में इस सकेत के साथ खानें का सम्बन्ध जुड गया और भोजन न आने की हालत में वही परिणाम होने लगा जो भोजन से होता था।

कुत्तो और उनकी लार पर किये गये इन प्रयोगो के आधार पर मनुष्य के मानस-शास्त्र की रचना हो रही है और यह दिखा दिया गया है कि किस प्रकार वहुत-सी बाते मनुष्य बचपन में अपनेआप करता है और बडा होने पर वे ही बाते किसी परिस्थिति या प्रेरणा से करनें लगता है। असल बात यह है कि हम जो कुछ सीखते है उस सबका यही आधार है। हमारी आदते इसी तरह बनती है और हम भाषाएँ वगैरा सीखते है। हमारे सारे काम इसी तरह होते है। साधारण भय की ही बात ले लो। जब कोई आदमी पास में सॉप देखता है या उससे मिलता-जुलता रस्सी का टुकडा उसे नजर आता है तो वह बडी तेजी में और बिना विचारे उछलकर दूर भागता है। इसमें उसे पावलोव के प्रयोगो के ज्ञान की जरूरत नही है।

पावलोव के प्रयोगो ने सारे मानस-शास्त्र में क्रान्ति कर दी है। कुछ प्रयोग तो बडे मनोरञ्जक है, मगर इस प्रश्न पर यहॉ विस्तार से नही लिख सकता। हॉ, इतना और कहूँगा कि मानस-विज्ञान में खोज के और भी कई तरीके है।

मैंने यह थोडी-सी मिसाले इसलिए दी है कि तुम्हे वैज्ञानिक कार्य के तरीको का कुछ खयाल बँध जाय। पुरानी आध्यात्मिक पद्धति में बडी-बडी बातो की अस्पष्ट चर्चा की जाती थी। उन बातो को पूरी तरह समझना ही मुश्किल था, तो उनका विश्लषेण करना तो असम्भव ही था। लोग उनपर विवाद करते-करते खूब गरम होजाते, मगर उनकी दलीलो की सत्यता या असत्यता की कोई अन्तिम कसौटी नही थी, इस-लिए मामला सदा हवा में ही उड़ जाता। वे लोग दूसरी दुनिया की चर्चा में इतने लगे रहते थे कि उन्हे इस संसार की साधारण बातो पर ध्यान देने की परवा नही थी। विज्ञान का तरीका उससे बिलकुल उलटा है। छोटी-छोटी और नगण्य दिखाई देनेवाली बातो को ध्यान से देखा जाता है और इसीसे महत्वपूर्ण परिणाम निकल आते है। इन परिणामो के आधार पर सिद्धान्त बनाये जाते है और इन सिद्धान्तो की परीक्षा और अधिक अध्ययन और प्रयोगो द्वारा करली जाती है।

इसका यह अर्थ भी नही है कि विज्ञान में भूल नही होती। भूल तो कई बार होती है और कदम पीछे हटानें पड़ते है। मगर किसी प्रश्न को समझने का सही तरीका वैज्ञानिक पद्धति ही मालूम होती है। आज विज्ञान का वह सारा अहकार और संकीर्ण भाव भी जाता रहा है जो उसमें उन्नीसवी सदी में था। उसे अपनी सफलताओ पर गर्व है, मगर उसमें यह मानने की विनम्रता भी है कि अभी तो ज्ञान का विशाल और

सभव यह है कि इस तरीके से सरकार अपने आलोचको और विरोधियो की विरोध-शक्ति कम कर सकेगी।

जीवशास्त्र के बाद दूसरी सीढी पर मानसशास्त्र अथवा मनोविज्ञान है। इसका सम्बन्ध मन से, मानवीय विचारो, हेतुओ, भय और इच्छाओ से है। इस प्रकार विज्ञान नये-नये क्षेत्रो में प्रवेश कर रहा है और हमें अपने बारे में बहुत-सी बातें बता रहा है। इससे शायद हमें अपने पर नियन्त्रण रखने में मदद मिलेगी।

सन्ततिशास्त्र भी जीवशास्त्र से आगे का एक कदम है। यह नस्ल-सुधार का विज्ञान है।

यह भी दिलचस्प बात है कि किस प्रकार कुछ पशुओ के अध्ययन से विज्ञान के विकास में सहायता मिली है। बेचारे मेण्डक को चीर-फाड़कर यह मालूम किया गया कि ज्ञानतन्तु और स्नायु किस प्रकार काम करते हैं। मक्खी एक नन्ही-सी जान है। एक मक्खी होती है जो अक्सर ज्यादा पके केलो पर बैठती है। इसीसे उसका नाम केला-मक्खी पडा है। इसके जरिये पैतृक सस्कारो का जितना ज्ञान हुआ है उतना और किसी साधन से नही हुआ है। इस मक्खी को ध्यान से देखनें पर यह पता चल गया है कि एक पीढी के सस्कार दूसरी पीढी को उत्तराधिकार में किस तरह मिलते हैं। इससे मनुष्यो के उत्तराधिकार-सिद्धान्त की क्रिया समझने में कुछ-कुछ मदद मिलती है।

इससे भी वेहूदा-सा जानवर, जिससे हमें बहुत शिक्षा मिलती है, साधारण टिड्डी है। अमेरिकन लोगो नें दीर्घकाल तक और सावधानी से अध्ययन करने के बाद दिखाया है कि पशुओ और मनुष्यो में लिंग-भेद कैसे होता है। अब हमें इस विषय में बहुत-सी बातें मालूम होगई है कि छोटा-सा पिण्ड-गर्भ अपने जीवन के ठेठ प्रारम्भ से ही किस प्रकार नर या मादा बन जाता है और धीरे-धीरे बढता-बढता नर या मादा प्राणी यानी छोटा लडका य लडकी होजाता है।

चौथा उदाहरण मामूली घरेलू कुत्ते का है। पावलोव एक प्रसिद्ध रूसी विज्ञानवेत्ता है। इस समय उसकी उम्र ८४ वर्ष की है, फिर भी वह अपना काम कर रहा है। उसने कुत्तो को ध्यान से देखना शुरू किया और जब खाना देखते ही उनके मुंह से लार टपकती तब वह खास तौर पर ध्यान देता। उसने कुत्ते के मुंह के इस रस को माप तक लिया। खाने को देखते ही कुत्ते के मुंह में इस तरह पानी का आना एक अपने-आप होनेवाली घटना है। यह ऐसी बात है जैसे पहले के अनुभव के बिना बच्चा छींकता, जभाई लेता या अगडाई लेता है। यह तो हुई अपनेआप होनेवाली प्रेरणा (Unconditional reflex) की बात।

बाद में पावलोव ने यही बात प्रेरणा से पैदा करने की कोशिश की। यानी उसने

के ये गहन और उच्च प्रदेश विशुद्ध विज्ञान हैं। अधिकाश लोगो को इस प्रकार के विज्ञान में बहुत रस नही आता। विज्ञान की जो बातें रोजमर्रा की जिन्दगी पर लागू होती हैं उनकी तरफ आम लोगो का अधिक आकर्षण होना स्वाभाविक है। पिछले डेढ़सौ वर्ष में इसी व्यावहारिक विज्ञान ने जिन्दगी की कायापलट की है। असल बात यह है कि आज जीवन पर विज्ञान की इन शाखाओ का शासन है, वे ही उसे बनाती-बिगाड़ती हैं, और उनके बिना जीवन की कल्पना भी नही हो सकती। लोग अक्सर बात किया करते हैं कि पुराना जमाना बड़ा अच्छा था, सतयुग था। प्राचीन काल के कुछ भाग बेशक बहुत ही मनोहर हैं और सभव है कुछ बातो में वे हमारे समय से बढ़कर भी हो। मगर शायद यह आकर्षण भी दूरी के या और किसीकी अपेक्षा एक खास अनिश्चितता के कारण हो। हम किसी युग को इस कारण भी महान् समझ सकते हैं कि उसे कुछ महापुरुषो ने सुशोभित किया था अथवा उनकी उस समय प्रधानता रही थी। मगर साधारण लोगो की हालत तो इतिहास के ठेठ उस छोर से इस छोर तक दु:ख-पूर्ण ही रही है। उनका सदा से चला आरहा बोझ तो किसीने कुछ भी हलका किया है तो विज्ञान ने ही किया है।

अपने चारो तरफ देखोगी तो तुम्हे पता लग जायगा कि जो चीजें तुम्हे नजर आरही हैं उनमें से ज्यादा का विज्ञान के साथ कुछ-न-कुछ ताल्लुक है। हम यात्रा करते हैं तो व्यावहारिक विज्ञान के साधनो से, उन्ही के द्वारा एक-दूसरे के समाचार जानते हैं, हमारा भोजन भी उन्हीके जरिये तैयार होता और एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाया जाता है। जो अखबार हम पढ़ते हैं, हमारी पुस्तकें और हमारे लिखने के कागज और कलम वैज्ञानिक उपायो के बिना तैयार ही नही हो सकते। सफाई, तन्दुरुस्ती और कुछ बीमारियो पर फतह हासिल करने के लिए विज्ञान का सहारा जरूरी है। आधुनिक ससार का काम व्यावहारिक विज्ञान के बिना बिलकुल नहीं चल सकता। और सब दलीले छोड़ भी दें तो एक दलील आखिरी है : विज्ञान के बिना संसार की आबादी को पूरा खाने को नही मिल सकता और आधी या इससे अधिक आबादी भूखो मर जायगी। मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि किस तरह पिछले सौ वर्ष में आबादी इतनी तेजी से बढ़ गई है। यह बढ़ी हुई आबादी तभी जिन्दा रह सकती है जब भोजन-सामग्री को पैदा करने और एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने के लिए विज्ञान की मदद मिल जाय।

जबसे विज्ञान ने बडे यंत्रो का मानव-जीवन में प्रवेश कराया है तभीसे उन्हे सुधारने का सिलसिला बराबर जारी है। हर साल और माह बेशुमार छोटे-छोटे फेरबदल करके इन यंत्रो को ज्यादा काम के और मनुष्य के परिश्रम पर कम निर्भर

अनन्त महासागर अछूता पडा है। बुद्धिमान यही समझा करते हैं कि उनका ज्ञान बहुत थोडा है। मूर्ख समझते है कि वे सब कुछ जानते है। यही बात विज्ञान की है। ज्यो-ज्यो वह प्रगति करता है त्यो-त्यो उसका कट्टरपन घटता है और उससे जो सवाल पूछे जाते हैं उनका जवाब वह सकोच के साथ देता है। एडिंगटन कहता है—"विज्ञान की उन्नति की माप यह नही है कि हम कितने सवालो का जवाब दे सकते है, बल्कि यह है कि हम कितने सवाल पूछ सकते है।" बात शायद यही है, फिर भी विज्ञान दिन-दिन ज्यादा सवालो का जवाब देता है और हमें जिन्दगी को समझने में मदद देता है। इस तरह अगर हम उससे फायदा उठाना चाहे तो वह हमें पहले से अच्छी जिन्दगी बसर करने में समर्थ बनाता है और जीवन के उद्देश्य को एक पूरी करने योग्य चीज बनाता है। वह जीवन के अँधेरे कोनो में रोशनी पहुँचाता है और तर्क-विरुद्ध अस्पष्ट बातो के झमेले से निकालकर हमें सत्य के सम्मुख उपस्थित करता है।

: १८३ :

विज्ञान का सदुपयोग और दुरुपयोग

१४ जुलाई, १९३३

पिछले ख़त में मैने तुम्हे नई-नई वैज्ञानिक प्रगति के अद्भुत संसार की झाँकी कराई थी। पता नही तुम्हे वह झाकी अच्छी लगेगी या नही और तुम्हारा विचार और सफलता के इन क्षेत्रो की ओर आकर्षण होगा या नही। तुम्हे इन विषयो पर अधिक जानने की इच्छा होगी तो तुम आसानी से बहुत-सी किताबें खोज लोगी। मगर यह याद रखना कि मनुष्य के विचार में सदा तरक्की होती रहती है और वह प्रकृति और जगत् की समस्याओ को समझने और उनसे जूझने की हमेशा कोशिश करता रहता है। इस कारण संभव है जो बात मैं तुम्हे आज बता रहा हूँ वह शायद कल बिलकुल नाकाफ़ी और पुरानी होजाय। मानव मस्तिष्क की इस चुनौती ने मुझे तो मुग्ध कर दिया है। यह जगत् के दूर के कोनो में कैसे उड़ान मारती है, उसके गहरे-से-गहरे रहस्यो में कैसे गोते लगाती है और अत्यन्त छोटी-से-छोटी चीज से लगाकर अत्यन्त बडी-से-बडी वस्तु को नापने और हाथ में लेने का साहस करती है।

यह सब 'विशुद्ध' विज्ञान कहलाता है। इसका जीवन पर सीधा या तुरन्त असर नहीं पडता। यह जाहिर है कि सापेक्ष्यवाद या स्थान-समय (Space-Time) की कल्पना या जगत् के आकार से हमारे दैनिक जीवन का कोई ताल्लुक नहीं। इन सिद्धान्तो में से ज्यादातर ऊँचे गणितशास्त्र पर अवलम्बित हैं और इस अर्थ में गणित

ज्यादा खरीद सकते है। उनके रहन-सहन का ढँग ऊँचा होजाता है और पक्के माल की माँग बढ़ जाती है। इसका नतीजा यह होता है कि अधिक कारखाने खुलते है और ज्यादा आदमियो को काम मिलता है। इस तरह मशीन हर कारखाने में मजदूरो की जगह तो लेती है, मगर सब बातो को देखते हुए ज्यादा कारखाने खुलने से बहुत ज्यादा मजदूरो को काम मिल जाता है।

यह क्रिया बहुत समय तक जारी रही, क्योकि इसे उद्योग-प्रधान देशो के द्वारा पिछडे हुए दूर-दूर देशो के बाजारो के शोषण से मदद मिलती रही। पिछले कुछ साल से यह क्रिया बन्द होगई दीखती है। शायद मौजूदा पूंजीवादी व्यवस्था के अब और फैलने की गुंजाइश नही रही है और इस व्यवस्था में कुछ परिवर्तन की जरूरत है। आधुनिक उद्योगवाद में 'सामूहिक उत्पत्ति' होती है, मगर वह जारी तभी रह सकती है जब बनाये हुए माल को सर्वसाधारण खरीदते रहे। अगर आम लोग बहुत गरीब या बेकार हो तो वे माल नही खरीद सकते।

यह सब होते हुए भी, यत्रो का सुधार बराबर होरहा है और मनुष्यो का स्थान मशीने ले रही है और बेकारी बढ़ रही है। पिछले चार साल में दुनिया-भर में बडी मन्दी छाई हुई है, मगर इससे यत्र-सुधार की प्रगति में बाधा नही पडी है। कहा जाता है कि १९२९ से अमेरिका के सयुक्त राज्यो में इतने ज्यादा सुधार हुए है कि अगर १९२९ की उत्पत्ति कायम रक्खी जाय तो भी जो लाखो आदमी बेकार होगये है वे हरगिज काम में नही लगाये जा सकते।

कारण और भी बहुत है, मगर एक कारण यह भी है कि जिससे ससार-भर में खासकर उद्योग-प्रधान देशो में बेकारी की महासमस्या पैदा हुई है। यह एक अजीब और उलटी समस्या है, क्योकि नई-से-नई मशीनो के जरिये ज्यादा-ज्यादा माल तैयार होने का मतलब यह है—या होना चाहिए—कि राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़े और सबके रहन-सहन का ढग ऊँचा हो। इसके बजाय दरिद्रता और कष्ट भयंकर रूप से बढ गये है। खयाल होता है कि इस समस्या को वैज्ञानिक ढंग से हल करने में मुश्किल नहीं होनी चाहिए। शायद मुश्किल न भी हो। मगर असली कठिनाई वैज्ञानिक और उचित रूप से हल करने में आती है। ऐसा करने में बहुत-से स्थायी स्वार्थों पर असर पड़ता है और उनमें अपनी-अपनी सरकार पर काबू रखने की ताकत है। दूसरे, यह समस्या मूल में अन्तर्राष्ट्रीय है और आजकल राष्ट्रीय स्पर्धा के कारण कोई अन्तर्राष्ट्रीय हल निकल नहीं पाता। सोवियट रूस इसी तरह की समस्याओ को वैज्ञानिक उपायो से हल करने की कोशिश कर रहा है, मगर उसे करना पड़ता है सब कुछ राष्ट्रीय पैमाने पर ही। बाकी की दुनिया पूजीवादी और खिलाफ है, इस कारण उसकी मुश्किले

रहनेवाले बनाने की कोशिश होरही है। बीसवी सदी के पिछले तीस वर्षो में यन्त्रो के सुधार को प्रगति खासतौर पर तीव्र हुई है। इन सालो में तरक्की की रफ्तार—जो अब भी जारी है—इतनी तेज रही है कि उससे उद्योग या पैदावार के तरीको की उतनी ही कायापलट होरही है जितनी अठारहवी सदी के पिछले आधे हिस्से की औद्योगिक क्रान्ति से हुई थी। यह नई क्रान्ति ज्यादातर पैदावार के काम में बिजली के बढते हुए इस्तेमाल से हुई। इस तरह बीसवी सदी में और वह भी ख़ासकर अमेरिका में एक महान विद्युत-क्रान्ति हुई है और इससे जीवन की बिलकुल नई अवस्थायें पैदा होरही हैं। जैसे अठारहवी सदी की औद्योगिक क्रान्ति का परिणाम यन्त्र-युग हुआ वैसे ही आज विद्युत-क्रान्ति शक्ति-युग (Power Age) लारही है। आज उद्योगो, रेलो और बहुत-से दूसरे कामो में बिजली इस्तेमाल होती है, बिजली की ताकत का सब जगह बोलबाला है। इसीलिए लेनिन को बहुत दूर की सूझी थी और उसने सारे सोवियट रूस में पानी से बिजली पैदा करने के बडे-बडे कारखाने बनाने का निश्चय किया था।

और-और सुधारो के साथ उद्योगो मे बिजली की ताकत के इस इस्तेमाल से कई बार बहुत थोडे खर्च में बडी तब्दीलियाँ होजाती हैं। इस तरह बिजली से चलनेवाले यत्र में थोडा-सा हेर-फेर करने से उत्पत्ति दुगुनी होसकती है। इसका कारण यह है कि इससे आदमी की जरूरत कम-से-कम होती जा रही है और आदमी तो धीरे-धीरे काम करता है और उससे भूले भी ज्यादा होती है। इस तरह जैसे-जैसे यंत्र सुधरते जाते हैं वैसे-वैसे उनमें कम मजदूर रखने पड़ते हैं। आजकल अकेला आदमी थोडे-से हत्थे हिलाकर और बटन दबाकर बडी-बडी मशीने चलाता है। इसका नतीजा एक तरफ यह होता है कि पक्के माल की उत्पत्ति बेहिसाब बढ जाती है, और दूसरी तरफ यह कि कारखाने में बहुत मजदूरो की जरूरत न रहने से लोग बेकार होजाते हैं। साथ ही मशीने बनाने की कला में इतनी तेजी से तरक्की होती है कि अकसर जब किसी कारख़ाने में नई मशीन लगाई जाती है तो लगाते-लगाते नये-नये सुधारो के कारण वह कुछ बातो में पुरानी पड जाती है।

अलबत्ता मशीन यानी यंत्र-युग की शुरुआत से ही मजदूरो का स्थान मशीने लेती रही है। शायद मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि उन दिनो बहुत-से दगे भी हुए थे और मजदूरो ने गुस्से में नई मशीनो को तोड-फोड़ दिया था। लेकिन आख़िरकार मालूम हुआ कि मशीनो से ज्यादा लोगो को काम मिलता है। मजदूर मशीन की मदद से ज्यादा माल तैयार कर सकता है, इस कारण उसकी मजदूरी बढ जाती है और माल का भाव सस्ता होजाता है। इस तरह मजदूर और साधारण लोग इस माल को

ऐसे समूह-शासन अलग-अलग तरह के राज्यो में बन जाते हैं । कभी तो यह शासन जाहिरा तौर पर लोकसत्ता के सिद्धान्तो का आदर करते हैं और कभी उनकी खुली निन्दा करते हैं । समूह-शासन वाले इन भिन्न-भिन्न राज्यों की आपस में मुठभेड़ होती है और राष्ट्रो में लड़ाई छिड़ जाती है । आज या भविष्य में ऐसी बडी लड़ाई हो तो वह इन समूह-शासनो को ही नहीं, सभ्यता तक को नष्ट कर सकती है । यह भी हो सकता है कि उसकी खाक में से अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी राज्य पैदा हो । मार्क्सवादियो को यही आशा है ।

युद्ध असल में इतनी भयंकर चीज है कि उसपर विचार करना रुचिकर विषय नहीं होता । इसी वजह से अच्छे-अच्छे शब्दो, बहादुरी पैदा करनेवाले सगीत और भड़कीली वर्दियों में सचाई छिपाई जाती है । मगर आज युद्ध का क्या अर्थ होता है, इसे थोड़ा जान लेने की जरूरत है । पिछले महायुद्ध से बहुत लोगों को लड़ाई की भयंकरता समझ में आई । फिर भी कहा जाता है कि आगे जो लड़ाई होगी उसके सामनें पिछला महायुद्ध कुछ भी नहीं था । इसका कारण यह है कि अगर औद्योगिक यन्त्र-कला में पिछले कुछ वर्षो में दसगुनी तरक्की हुई है तो युद्ध-विज्ञान सौगुना अधिक बढ़ा है । लड़ाई में अब पलटन के हमलो और रिसाले के धावों की कोई गिनती नहीं रही । आज पुराना पैदल सिपाही और घुड़सवार करीब-करीब उतने ही निकम्मे होगये हैं जितने धनुष और बाण । आज के युद्ध मे मशीन से चलनेवाले टैंको और हवाई जहाजो और बम गोलो का काम रह गया है । खास तौर पर पिछले दोनो का ही महत्व है । हाँ, टैंक रेगनेवाले पहियो पर चलनेवाला एक तरह का लड़ाई का जहाज होता है ।

वायुयानो की गति और शक्ति दिन-दिन बढ़ रही है । सिनोर डिला सिरवा नामक एक स्पेन-निवासी ने नया आविष्कार किया है । इसे 'ऑटोजीरो' कहते है । यह करीब-करीब सीधा उड़ता है और इसलिए हवाई जहाजो के अड्डे जैसे किसी चीज की जरूरत नहीं होती । यह तेज भी चल सकता है और धीरे-धीरे भी, और चक्कर भी लगा सकता है ।

अगर जंग छिड़ जाय तो ऐसा अन्देशा है कि लड़नेवाले राष्ट्रो पर फौरन दुश्मन के हवाई हमले होगे । जंग का ऐलान होने के कुछ ही घण्टो में ये हवाई जहाज आ पहुँचेगे या दुश्मन को और भी नुकसान में रखनें के लिए चुपके से पहले भी आ सकते हैं । और फिर वे बडे-बडे शहरो और कारखानो पर निहायत जोरदार बम गोलो की वर्षा कर देंगे । इनसे बचाव होना करीब-करीब नामुमकिन होगा । सम्भव है शत्रु के कुछ वायुयान नष्ट कर दिये जायें, परन्तु शहर को बरबाद करने के लिए तो बाकी बचे हुए वायुयान भी काफी होगे । हवाई जहाजो में से फेंके हुए बम-गोलो में से जहरीली गैसें

और भी बढ जाती है । यह बात न होती तो उसकी कठिनाइयाँ कम होती । इससे ट्राट्स्की की यह बात एक हद तक समझ में आसकती है कि अकेले देश में सच्चा समाजवाद नहीं हो सकता । दुनिया की राजनैतिक रचना भले ही अभी पिछडी हुई और सकीर्ण राष्ट्रवादी है, फिर भी दुनिया आज दरअसल अन्तर्राष्ट्रीय बन गई है । समाजवाद सफल होना है तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय और विश्व-व्यापी समाजवाद बनना होगा । घडी की सुइयाँ पीछे नहीं घुमाई जा सकती, इसी तरह अपूर्ण होते हुए भी आज की अन्तर्राष्ट्रीय रचना राष्ट्रीय एकान्तवाद के पक्ष में कुचली नहीं जा सकती । कुछ देशो में फैसिस्ट लोग राष्ट्रीयता का रंग गहरा करने की जो कोशिश कर रहे है, वह अन्त में नाकामयाब हुए बिना नहीं रह सकती, क्योकि वह मूल में ही आज की ससारव्यापी अर्थ-नीति के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप के खिलाफ है । हाँ, यह हो सकता है कि इस तरह खुद डूबकर वह दुनिया को भी साथ में ले डूबें और, आधुनिक सभ्यता की भाषा में, सबको एक-साथ आफत में फँसा दें ।

ऐसी विपत्ति का खतरा कोई दूर की या अकल्पनीय बात हरगिज नही है । हम देख चुके है कि जहाँ विज्ञान के साथ-साथ बहुत-सी अच्छी बाते आगई है वहाँ उसके कारण युद्ध की भयकरता भी बुरी तरह बढ़ गई है । राज्यो और सरकारो ने अक्सर विशुद्ध और व्यावहारिक दोनो तरह के विज्ञान की अनेक शाखाओ की उपेक्षा की है; मगर विज्ञान के युद्ध-सम्बन्धी पहलू के प्रति उन्होने लापरवाही नही दिखाई है । उन्होने अपनेको शस्त्र-सज्जित और बलवान बनाने के लिए नई-से-नई वैज्ञानिक कला से पूरा फायदा उठाया है । ज्यादातर राज्यो का पशुबल ही अन्तिम आश्रय होता है और वैज्ञानिक यत्र-कला उन्हे इतने बलवान बना रही है कि वे आम तौर पर किसी परिणाम के भय के बिना ही प्रजा पर जुल्म कर सकते है । पुराने जमाने में जालिम सरकारो के खिलाफ जनता बगावत कर दिया करती थी और खुले रास्तो में मोर्चे बाँधकर लडाई किया करती थी । फ़्रांस की महान् राज्यक्रान्ति में ऐसा ही हुआ था । मगर अब ये बाते असभव होगई है । अब किसी नि:शस्त्र या हथियार-बन्द भीड़ के लिए भी सगठित और सुसज्जित सरकारी सेना से लड़ना नामुमकिन है । रूस की राज्य-क्रान्ति की तरह राज्य की सेना खुद राज्य के खिलाफ होजाय, यह दूसरी बात है । मगर जबतक ऐसा न हो तबतक बलपूर्वक राज्य को नहीं हराया जा सकता । इस कारण अब आजादी के लिए लड़नेवाली प्रजा को दूसरे और शान्तिपूर्ण सामूहिक उपायो का सहारा लेना पड़ता है ।

इस तरह विज्ञान से राज्यो पर समूहो का नियन्त्रण कायम होता है और व्यक्तिगत आजादी और लोकसत्ता के उन्नीसवीं सदी वाले पुरानें विचारो का नाश होता है ।

इन दोनो मे परस्पर विरोध और स्पर्द्धा है। एक में सहयोग और समझदारी की प्रगति है और सभ्यता का निर्माण है। दूसरी क्रिया नाशकारी है। वह सब चीजो को तोड-फोड़ देना चाहती है और मनुष्य जाति के लिए आत्महत्या का प्रयत्न है। दोनो की गति दिन-दिन तीव्र हो रही है और दोनो ही विज्ञान के अस्त्रो और कलाओ से सुसज्जित होरही है। जीत किसकी होगी ?

: १८४ :

महामन्दी और संसारव्यापी संकट

१९ जुलाई, १९३३

विज्ञान ने मनुष्य के हाथ में जो ताकत सौंप दी है और इन्सान उसको जिस तरह काम में ला रहा है उसपर जितना ज्यादा विचार करते है उतना ही अधिक आश्चर्य होता है। आज सचमुच पूँजीवादी दुनिया जिस बुरी हालत मे है उसे देखकर हैरत होती है। रेडियो के जरिये विज्ञान हमारी आवाज दूर-दूर के देशो में पहुँचाता है। बे-तार के तार से हम पृथ्वी के दूसरे किनारे पर बसे हुए लोगो से बात करते है और थोडे ही दिन में हम 'टेलीविजन' (Television) यानी दृश्य-प्रेक्षण यंत्र से उन्हे देखने भी लगेंगे। विज्ञान अपनी अद्भुत कला के जरिये वे सब चीजें पैदा कर सकता है जिनकी मानव-जाति को बडे परिमाण में जरूरत है और वह ससार को दरिद्रता के पुराने रोग से सदा के लिए छुड़ा सकता है। बहुत पुराने जमाने से ही, जब इतिहास उदय होने लगा था तभीसे, मनुष्य रोजमर्रा की कडी मेहनत से थोड़ा-बहुत आराम पाने के लिए कोशिश करता रहा है। इस मेहनत के बदले उसे पुरस्कार बहुत थोड़ा मिलता रहा है और इसके बोझे से वह हमेशा कुचला जाता रहा है। इससे छुटकारा पाने की उम्मीद में वह स्वर्ग के सपने देखता रहा है और एक ऐसी दुनिया में पहुँचने की कल्पना करता रहा है जहाँ दूध की नदियाँ बहती हो और सब चीजो का ठाठ हो। लोगो ने गुजरे हुए सुनहरे जमाने की अर्थात् सतयुग की याद करके आनेवाले स्वर्ग से ये आशायें लगाईं कि कम-से-कम वहाँ तो शान्ति और सुख मिलेगा। उसके बाद ही विज्ञान का अवतार हुआ। इसने उत्पत्ति के साधन तो लोगो के हाथ में खूब दे दिये, मगर फिर भी इस वास्तविक और संभवनीय बाहुल्य के बीच मे भी ज्यादातर आद-मियो की जिन्दगी में मुसीबत और गरीबी बनी ही रही। क्या यह अजीब गोरखधन्धा नहीं है ?

हमारा वर्तमान समाज सचमुच विज्ञान और उसकी दी हुई बेशुमार चीजो से

निकलेंगी और प्रदेश के प्रदेश में फैलकर छा जायेंगी। इसकी पहुँच के भीतर हरेक जीव दम घुटकर मर जायगा। यह निहत्थी आबादी को बड़े पैमाने पर और निहायत निर्दय और कष्टप्रद ढंग से बरबाद करना होगा। इससे असहनीय शारीरिक और मानसिक पीड़ा होगी। और इस तरह की घटना विरोधी दलों के बड़े-बड़े शहरों में दोनों तरफ से साथ-साथ भी हो सकती है। पिछले महायुद्ध की तरह योरप में लड़ाई हुई तो लन्दन, पेरिस और बर्लिन कुछ ही दिनों या हफ़्तों के भीतर राख के ढेर होजायेंगे।

हालत और भी ख़राब होसकती है। हवाई जहाजों से जो बम-गोले फेंके जायेंगे उनमें अलग-अलग भयंकर बीमारियों के कीड़े भरे होंगे तो शहर के शहर में इन रोगों की छूत फैल जायगी। इस तरह की 'कीड़ों की लड़ाई' और तरह भी जारी रह सकती है। चीज़ों और पीने के पानी में कीटाणु मिलाये जा सकते हैं और प्लेग के चूहे जैसे रोगवाहक जन्तुओं से काम लिया जा सकता है।

ये सब बातें राक्षसी और अविश्वसनीय मालूम होती हैं और हैं भी ऐसी ही। राक्षस भी ऐसा करना नहीं चाहेगा। मगर जब लोग पूरी तरह भयभीत होकर जीवन-मरण के युद्ध में लगे होते हैं तब अविश्वसनीय बातें होती ही हैं। इसी डर के मारे कि कहीं दुश्मन अनुचित और राक्षसी उपायों से काम न लेने लगे, प्रत्येक देश को सबसे आगे रहने की प्रेरणा मिलती है। इसका कारण यह है कि हथियार इतने खतरनाक हैं कि जो मुल्क उनका पहलेपहल इस्तेमाल करता है वह बड़े फायदे में रहता है। डर की आँखें बड़ी होती हैं!

असल में पिछले महायुद्ध के समय भी जहरीली गैस दूर-दूर तक काम में लाई गई थीं और यह बात बहुत लोगों को मालूम है कि सभी बड़े-बड़े राष्ट्रों के यहाँ आज लड़ाई के काम के लिए यह गैस तैयार करने के बड़े-बड़े कारख़ाने मौजूद हैं। इन सब बातों का एक अजीब नतीजा यह होगा कि आगामी महायुद्ध में वास्तविक लड़ाई युद्ध-क्षेत्र में नहीं होगी। सेनाओं को खाइयाँ खोदकर एक-दूसरे के सामने आने की ज़रूरत न होगी। सच्ची लड़ाई शहरों में और निःशस्त्र आबादी के घरों में होगी। यह भी मुमकिन है कि युद्ध में सबसे सुरक्षित जगह युद्ध-क्षेत्र होगा, क्योंकि सेना की तो हवाई हमलों, ज़हरीली गैसों और छूत की बीमारियों से पूरी रक्षा की ही जायगी। परन्तु पीछे रहनेवाले लोगों, स्त्रियों और बच्चों की रक्षा के लिए ऐसी कोई व्यवस्था नहीं होगी।

इन सबका परिणाम क्या होगा? विश्वव्यापी नाश? सदियों की कोशिशों से संस्कृति और सभ्यता की जो बढ़िया इमारत तैयार हुई है उसका अन्त?

क्या होगा, यह कोई नहीं जानता; भविष्य के गर्भ में क्या छिपा है, उसे देखा नहीं जा सकता। हमें तो केवल दो क्रियायें संसार में साथ-साथ होती हुई दिखाई दे रही हैं।

ढेर लग जाता है। व्यवसाय की हालत नाजुक होजाती है और उद्योग फिर मन्दा पड़ जाता है। थोडे समय हालत स्थिर रहती है। इस बीच में इकट्ठा हुआ माल धीरे-धीरे निकल जाता है, कारखाने फिर चेतते हैं और शीघ्र ही दूसरा सम्पन्न काल आजाता है। साधारणत यही चक्र चलता है और अधिकांश लोग यह आशा लगा लेते है कि किसी-न-किसी समय खुशहाली आकर रहेगी। लेकिन १९२९ में अचानक हालत और भी बुरी होगई। अमेरिका ने जर्मनी और दक्षिणी अमेरिका के राज्यो को रुपया उधार देना बन्द करके उधार लेने और देनें के कागजी व्यवसाय का अन्त कर दिया। यह स्पष्ट था कि अमेरिका के पूँजीपति सदा रुपया उधार देते ही नही रह सकते थे, क्योकि इससे उनके कर्ज़दारो का कर्ज़ और भी बढ़ता जाता और कर्ज़ का कभी चुकना ही नामुमकिन होजाता। उन्होने अबतक भी रुपया इसीलिए उधार दिया था कि उनके पास नकद रुपये की बहुतायत थी और उसका और कोई उपयोग वे कर नहीं सकते थे। इस फालतू रुपये से वे सट्टा भी खूब करने लगे। लोगो को जुआ खेलने का बाक़ायदा नशा-सा आगया और हर आदमी जल्दी धनवान बनने की इच्छा करने लगा।

जर्मनी को उधार मिलना बन्द होते ही वहाँ उथल-पुथल मच गई और कुछ जर्मन बैंको का दिवाला निकल गया। धीरे-धीरे हर्जानें और कर्ज़े की अदायगी का दौर बन्द होगया। दक्षिणी अमेरिका की बहुत-सी सरकारे और दूसरे छोटे-छोटे राज्य नादिहन्द होने लगे। संयुक्तराष्ट्र के राष्ट्रपति हूवर ने जब विस्मय के साथ यह देखा कि उधार देनें की सारी प्रणाली का ही ख़ात्मा हुआ जा रहा है, तो १९३१ के जुलाई मास में साल-भर के लिए क़र्ज़ की अदायगी मुलतवी करदी। इसका अर्थ यह हुआ कि एक वर्ष के लिए क़र्ज़दारो को आराम देने को ऋण और हर्जाने का चुकाना सरकारो के लिए आपस में बन्द कर दिया गया।

इस बीच में १९२९ के अक्तूबर में अमेरिका में एक मार्के की घटना होगई। शेयरो के सट्टे से उनके भाव बेहूदा तरीके पर बढ़ गये और फिर अचानक उसी तरह गिर गये। न्यूयार्क के धनी हलकों में बडी उथल-पुथल मच गई और उसी दिन से अमेरिका की सम्पन्नता का जमाना खत्म हुआ। व्यापार की मन्दी से जैसे दूसरे देश कष्ट भोग रहे थे वही हाल संयुक्तराष्ट्र का भी होगया। उद्योग और व्यवसाय की मन्दी अब विशालकाय बनकर दुनियाभर में फैल गई। यह ख़याल न करना कि शेयरो के सट्टे या न्यूयार्क की आर्थिक उथल-पुथल के कारण अमेरिका का दिवाला निकल गया या इनके कारण मन्दी आगई। यह तो ऊँट की पीठ पर लदे हुए बोझे में आखिरी तिनके का शामिल होना था। असली कारण तो बहुत गहरे थे।

परेशान है। उनका एक-दूसरे के साथ मेल नही बैठता। समाज के पूंजीवादी स्वरूप और नई वैज्ञानिक कला और उत्पत्ति के तरीको में संघर्ष है। समाज ने पैदा करना तो सीख लिया, मगर पैदा की हुई चीजो का बँटवारा करना नही सीखा।

इस छोटी-सी भूमिका के बाद हम जरा योरप और अमेरिका पर एक नजर और डाले। महायुद्ध के बाद पहले दस वर्षो में वहाँ क्या-क्या झगडे हुए और दिक्कते पेश आईं, उनका थोडा-सा हाल मै तुम्हे बता चुका हूँ। लड़ाई के बाद की अवस्थाओ का हारे हुए देशो यानी जर्मनी और मध्य-योरप के छोटे-छोटे मुल्को पर बहुत बुरा असर हुआ, उनकी मुद्रा-प्रणाली की साख नष्ट होगई और मध्यमवर्ग के लोग बर्बाद होगये। योरप के विजेता और साहूकार राष्ट्रो की स्थिति भी इससे थोडी-सी ही अच्छी थी। वे सब अमेरिका के कर्जदार थे और उनके सिर पर राष्ट्रीय युद्ध-ऋण का भार भी बहुत ज्यादा था। इन दोनो कर्जो के बोझ के मारे वे लडखड़ा रहे थे और हक्के-बक्के होगये थे। वे इस आशा में जी रहे थे कि जर्मनी से हर्जाने का रुपया मिल जायगा और उससे कम-से-कम विदेशी कर्ज चुकानें का काम निकल जावेगा। यह उम्मीद बहुत माकूल नहीं थी, क्योकि जर्मनी तो बेचारा खुद दिवालिया था। इस कठिनाई का उपाय इस तरह हुआ कि अमेरिका ने जर्मनी को रुपया उधार दिया, जर्मनी ने इंग्लैण्ड और फ्रास वगैरा को उनके हिस्से का हर्जाना चुका दिया और उन्होने इससे अमेरिका को कर्ज का एक हिस्सा अदा कर दिया।

इन दस सालो में सयुक्तराष्ट्र अमेरिका ही एकमात्र सम्पन्न देश था। वहाँ तो दौलत की बाढ-सी आगई थी और इस खुशहाली का ही यह नतीजा हुआ कि लोगो ने बेहिसाब आशायें बाँध ली और सरकारी कागजो (Securities) और कारखानो के हिस्सो (Shares) का सट्टा होने लगा।

पूंजीवादी जगत् में आमतौर पर यह ख़याल फैला हुआ था कि पहले की तरह यह आर्थिक उथल-पुथल भी निकल जावेगी और धीरे-धीरे संसार में सम्पन्नता का समय आ जावेगा। असल में ऐसा मालूम होता है कि पूंजीवाद के जीवन में सकट के बाद सम्पन्नता और सम्पन्नता के बाद सकट आते ही रहते हैं। मार्क्स ने अपने 'कैपिटल' (पूंजी)नामक ग्रन्थ में बहुत पहले ही यह बात बता दी थी और यह साबित कर दिया था कि पूंजीवाद के तरीको में न कोई योजना होती है और न विज्ञान'। इसलिए उनका इस तरह का नतीजा होना लाजिमी है। उद्योगो की सफलता से एक समय ऐसा आता है जब चीजो के भाव बुरी तरह बढ जाते हैं। उस समय अधिक-से-अधिक मुनाफा उठाने के लिए सब लोग खूब माल पैदा करना चाहते हैं। नतीजा यह होता है कि खपत से कहीं ज्यादा उपज हो जाती है। तैयार माल का

पहली तिमाही	आयात का मूल्य	निर्यात का मूल्य	दोनो का मूल्य
१९२९	७९७२०	७३१७०	१५२८९०
१९३०	७३६४०	६५२००	१३८८४०
१९३१	५१५४०	४५३१०	९६८५०
१९३२	३४३४०	३०२७०	६४६१०
१९३३	२८२९०	२५५२०	५३८१०

इन अंको से हमें मालूम होता है कि संसार का व्यापार किस तरह अधिकाधिक गिरता गया है। और इस वर्ष की पहली तिमाही में तो वह चार वर्ष पहले जितना था उसका ३५ फी सदी या एक-तिहाई के करीब ही रहगया। और यह गिरावट अब भी जारी है और ऐसा दिखाई देता है, मानो सारी पूँजीवादी सामाजिक रचना इस प्रकार खत्म होरही है कि उसके फिर से सम्हलने की आशा ही न हो।

व्यापार-सम्बन्धी ये कठिन अंक मानवीय हिसाब से हमें क्या बता रहे है ? ये हमें कह रहे है कि अधिकाश लोग इतनें गरीब है कि जो वे पैदा करते है उसे खरीद नही सकते। ये कह रहे है कि बेशुमार मजदूर बेकार है और संसार की अधिक-से-अधिक सद्भावना के होते हुए भी उन्हे रोजगार नहीं मिल सकता। योरप और संयुक्त-राष्ट्र में ही तीन करोड़ मजदूर है,जिनमें से तीस लाख ब्रिटेन में और एक करोड तीस लाख संयुक्तराष्ट्र में है। हिन्दुस्तान या एशिया के दूसरे देशो में कितने'बेकार है, इसका तो किसीको पता भी नही है। शायद अकेले हिन्दुस्तान में बेकारो की तादाद योरप और अमेरिका से भी कही ज्यादा है। दुनियाभर के इन बेशुमार बेकारो और उनके आश्रित कुटुम्बियो का विचार करो तो तुम्हे कुछ कल्पना होगी कि व्यापार की मन्दी से मनुष्यो पर कैसी मुसीबत आई है। योरप के अनेक देशो में सरकारी बीमे की ऐसी प्रणाली है कि बेकारो में दर्ज होनेंवाले सब लोगो को गुजर के लायक खर्च दिया जाय। सयुक्तराष्ट्र में उन्हे धर्मादा दिया जाता है।

मगर इस खर्चें और खैरात से क्या काम चलता है और बहुतो को यह भी कहाँ मिलता है ? मध्य और पूर्वीय कुछ हिस्सो में अवस्थायें भयंकर है। अस्ट्रिया और हंगरी रोग-पीडित राष्ट्र होगये है। ऐसा मालूम होता है कि उनकी बीमारी प्राण लेकर छोडेगी। जर्मनी में विपत्ति का डंक लगने से हाल ही में एक असाधारण प्रति-क्रान्ति हुई। इंग्लैण्ड को १५० वर्ष के संसार-व्यापी साम्राज्यवादी शोषण का सहारा है, फिर भी उसका काम चलना मुश्किल होरहा है। वह बेकारो को बीमे के रूप में खर्च देता है और किसी तरह उन्हे शान्त रखता है। मगर इस खर्च का भार उठाना दिन-दिन भारी होरहा है। अबतक हिसाब लगाने पर मालूम होता है कि जितना

दुनिया-भर में व्यापार घटने लगा और खास तौर पर खेती से पैदा होनेवाली चीजों का भाव तेजी से गिरने लगा। कहते हैं, लगभग सभी चीजों की पैदावार जरूरत से ज्यादा होगई थी। इसका वास्तविक अर्थ यह हुआ कि जो माल तैयार होता था उसे खरीदने के लिए लोगों के पास रुपया नहीं था, यानी माल की खपत कम होगई थी। जब तैयार माल बिक न सका, तो वह जमा होगया। इसलिए जिन कारखानों में वह तैयार होता था, उनका बन्द होना भी स्वाभाविक था। वे ऐसी चीजें बनाते नहीं रह सकते थे जिनकी बिक्री न हो। इससे योरप, अमेरिका और सभी देशों में बेकारी बहुत बुरी तरह बढ गई। सभी औद्योगिक देशों को गहरी हानि पहुँची। यही हाल उन कृषि-प्रधान देशों का भी हुआ जो दुनिया के बाजार में उद्योगों के लिए खाद्य-पदार्थ या कच्चा माल भेजते थे। इस तरह हिन्दुस्तान के कारखानों को भी कुछ नुकसान पहुँचा, मगर भावों के गिर जाने से किसानों को बहुत ज्यादा हानि हुई। मामूली तौर पर खाने-पीने की चीजों की कीमत का घटना लोगों के लिए न्यामत होता है, क्योंकि उन्हें खाने का सामान सस्ता मिल जाता है। मगर पूजीवादी प्रणाली में उलटी गंगा बहती है। इसलिए यह वरदान भी शाप बन गया। किसानों को जमींदार या सरकार का लगान चुकाने के लिए नकद रुपया देना पड़ा और यह नकद रुपया हासिल करने के लिए उन्हें अपना माल बेचना पडा। माल की कीमत असाधारणतः इतनी कम होगई कि कभी-कभी उन्हें सारी पैदावार बेच देने पर भी काफी रुपया नहीं मिला। अक्सर उन्हें जमीनों से बे-दखल कर दिया गया, मिट्टी के झोपडों से निकाल दिया गया और उनके घरों में जो थोडा-सा सामान रहता है वह भी लगान चुकाने के लिए नीलाम कर दिया गया। इस तरह जिस वक्त खाद्य पदार्थ इतने सस्ते थे उस समय भी, जिन लोगों ने उन्हें पैदा किया था, उन्हें भूखों मरना और बेघर-बार होना पडा।

संसार की परस्पर-निर्भरता ने ही इस मन्दी को सर्वव्यापी बना दिया। मेरा अनुमान है कि बाहरी दुनिया से अलग-थलग कोई तिब्बत जैसी जगह ही इससे बची रही होगी। महीने दर महीने मन्दी फैलती गई और व्यापार गिरता गया। ऐसा मालूम होता था कि सारे सामाजिक शरीर को धीरे-धीरे लकवा मार रहा है और उसे बेकार कर रहा है। चार साल से लगातार यही हाल है। और, कहीं-कहीं अस्थायी सुधार होने की बात छोड दें तो, स्थिति बिगडती ही जा रही है। इस बिगाड की कल्पना करने का सबसे अच्छा उपाय शायद यह है कि पिछले चार साल के व्यापार के सच्चे आंकडों की जांच की जासके। संसार के व्यापार के राष्ट्र-संघ ने नीचे लिखे आंकडे प्रकाशित किये हैं। ये अंक हर वर्ष के पहले तीन मास के और लाख स्वर्ण-डालरों में हैं—

परन्तु इन मजदूरो की हालत दिन-पर-दिन बिगड़ती ही चली गई। बहुतो को कुछ भी मदद नहीं मिली, और वे एक शहर से दूसरे शहर मारे-मारे फिरते रहे। वे बाज़ारो में घूमते रहते, आने-जानेंवाले मोटरवालो से उन्हे भी बिठा लेने की मिन्नत करते रहते और अक्सर धीमी चलनेवाली मालगाड़ियो पर चढ़कर उनके पायदानो पर लटकते रहते। अमेरिका में इन आवारो को 'होबो' कहते है। अमेरिका में पहलेपहल इन आवारा 'होबो' लोगो में हज़ारो स्त्रियाँ भी दिखाई दी। वे भी रोजगार की तलाश में खाक छानती थी। इससे भी ज्यादा मर्मस्पर्शी बात यह थी कि कम उम्र के लड़के और लड़कियाँ और बच्चे तक अकेले या छोटे-छोटे झुण्ड बनाकर उस विशाल देश के इस किनारे से उस किनारे तक भटकते फिरते। शिशु-संघ ने हिसाब लगाया है कि अमेरिका में २१ वर्ष से नीचे के ऐसे दो लाख के करीब लड़के और लड़कियाँ मारे-मारे फिरते है। इससे उन हालतो का स्मरण होता है जो गृह-युद्ध के बाद रूस में भी मौजूद थी। उस समय रूस आवारा लड़के और लडकियो से भरा था।

बडी उम्र के और हट्टे-कट्टे आदमी काम की आशा लगाये और बाट देखते हुए बेकार बैठे रहते थे, और नमूने के कारखाने भी बन्द पडे थे, फिर भी पूँजीवाद चीज ही ऐसी है कि उसी वक्त मिठाई की अँधेरी और गन्दी दुकाने खुलने लगीं और १२ से १६ वर्ष के बच्चो को उनमें थोडी-सी मजदूरी पर दस-दस और बारह-बारह घण्टे रोज काम में जोता जाने लगा। कुछ कारखानेदारो ने इन लड़के और लड़कियो की बेकारी की मजबूरी का फ़ायदा उठाया और उनसे अपने कारखानो में खूब कड़ा और लम्बा काम लिया। इस तरह मन्दी के कारण अमेरिका में फिर से बच्चो की मजूरी शुरू हुई और इस बुराई और ऐसी ही दूसरी बुराइयो को रोकनेवाले कानूनो की खुले-आम अवहेलना की गई।

यह याद रहे कि अमेरिका में या बाकी की दुनिया में खाद्य पदार्थो या तैयार माल की कमी नहीं थी, बल्कि शिकायत यह थी कि माल जरूरत से ज्यादा है और पैदावार खर्च से ज्यादा हुई है। सर हेनरी स्ट्राकोश नामक प्रसिद्ध अंग्रेज अर्थशास्त्री ने बयान किया है कि जुलाई सन् १९३१ में, यानी मन्दी के दूसरे साल में, संसार की मण्डियो में इतना माल था कि अगर अगले सवा दो वर्ष तक संसार भर के लोग कुछ भी काम न करते तो भी उनका गुजर उसी तरह से चलता रह सकता था जिस तरह गुजर करनें का उनका अभ्यास है। यह बयान खूब गौर करने लायक है। फिर भी इसी काल में इतना व्यापक कष्ट और भुखमरी रही है जितनी आधुनिक औद्योगिक संसार ने कभी नहीं देखी। एक तरफ यह कष्ट और दूसरी तरफ साथ ही साथ खाद्य पदार्थो को सच-मुच नष्ट कर देनें का सिलसिला जारी रहा। फसलें नही काटी गईं और उन्हे खेतो में

उसने महायुद्ध पर खर्च किया था उससे कहीं अधिक महायुद्ध के वक्त से वह बेकारों पर खर्च कर चुका है। देशभर में कारखानें खाली और बेकार पडे है। लकाशायर का रुई का महान् उद्योग, जो किसी समय आधी दुनिया को कपडा देता था, अब सिकुडकर आधा रहगया है और वहाँके कारीगर श्रमजीवी बेकार बैठे अच्छे दिनो की प्रतीक्षा कर रहे है और वे दिन आ नही रहे। इन रजिस्टर में दर्ज हुए मजदूरो को फिर भी थोड़ा-सा खर्च मिल जाता है। मगर इनके पीछे और कितने अधिक लोग है, जिन्हे कुछ भी नहीं मिलता और जो भूखो मरते है ?

सभी वडे उद्योग-प्रधान देशो में अमेरिका पर मन्दी का प्रहार सबसे पीछे हुआ। परन्तु उसकी प्रतिक्रिया भी और जगहो से वहाँ अधिक हुई। अमेरिका के लोगो को व्यापार की लम्बी और लगातार मन्दी का तथा कष्ट-सहन का अभ्यास नही है। उनके पास हमेशा पैसे का जोर रहा है। इसलिए पहली चोट लगते ही उनके होश उड़ गये। जव बेकारो की तादाद लाखो पर पहुँचने लगी और भुखमरी का दृश्य एक मामूली वात होगई तो राष्ट्र की हिम्मत टूट गई। बैको और उद्योगो में लोगो का विश्वास नहीं रहा और उन्होने रुपया निकाल-निकालकर घरो में जमा कर लिया। वैको की तो हस्ती ही विश्वास और साख के आधार पर होती है। विश्वास नहीं रहा तो वैक भी गया। संयुक्तराष्ट्र में इंग्लैण्ड से विपरीत छोटे-छोटे बैक बहुत है। वे अपना-अपना कारोवार स्वतन्त्र रूप से चलाते है। दूसरे शहरो में इनकी शाखायें भी नहीं होती। इन छोटे बैंको का बालू की भीत की तरह ढेर होगया। पिछले चारेक वर्ष में सयुक्तराष्ट्र में करीब दस हजार बैंको का दिवाला निकल गया। एक-एक दिवाले से स्थिति और भी विकट हुई, लोग और भी अधिक डर गये, और आमतौर पर हालत पहले से ज्यादा खराब होगई।

अमेरिका में योरप की तरह वेकारो के बीमे की पद्धति नही है। मगर हम हिन्दुस्तानियो की तरह अमेरिकनो को अपने बीच में लोगो को भूखे मरते देखकर उनकी उपेक्षा करने का भी अभ्यास नहीं है। यहाँ भारत में तो लोग भूखो मरे तो किसीको परवा ही नही होती, और लाखो भूखो मरते ही है। भुखमरी की क्रिया आम तौर पर धीरे-धीरे होती है। जव यह तेज और व्यापक होजाती है तव उसे अकाल का नाम दे देते है और फिर स्थिति का मुकाबिला करने के लिए कुछ निर्वल-सा प्रयत्न कर दिया जाता है। अमेरिका में हजारो धर्मार्थ सस्थाओ और म्युनिसि-पैलिटियो ने वेकारो को खिलाने-पिलानें का बीड़ा उठा लिया। यह उनके लिए वड़ा भारी वोझा होगया और इससे बहुत-सी म्युनिसिपैलिटियां दिवाले की हालत तक पहुँच गई। अमेरिका ने किसी भी तरह अपने लाखो वेकार मजदूरो को जिन्दा रख लिया।

में भी तबादले के अनेक उदाहरण पैदा हुए, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की पेचीदा प्रणाली में तो गडबड़ होगई थी। इस तरह इग्लैण्ड ने स्कैण्डीनेविया से ईंधन लेकर उसे कोयला देदिया, कनाड़ा ने सोवियट रूस के तेल के बदले में एलूमीनियम देदिया और सयुक्तराष्ट्र ने ब्रैजील को गेहूँ देकर कहवा लेलिया।

मन्दी से अमेरिका के किसानो को बहुत नुक्सान पहुँचा और उन्होने अपने खेत गिरवी रखकर बैंको से जो रुपया उधार लिया था उसे वे न चुका सके। इसलिए बैंको ने खेतो को नीलाम करवाकर अपना रुपया वसूल करने की कोशिश की। लेकिन किसानो ने ऐसा नही होने दिया। उन्होने इन नीलामो को रोकने के लिए अपनी युद्ध-समितियाँ संगठित करली। फल यह हुआ कि नीलाम के समय किसान की सम्पत्ति पर किसीको बोली लगाने का साहस नही होता था और बैंको को विवश होकर किसानो की शर्तें माननी पडी। किसानो की यह बगावत मध्य-पश्चिमी अमेरिका के कृषि-प्रदेशो में फैली और 'किसानो की छुट्टी' की सगठित प्रणाली शुरू हुई। इसका यह अर्थ था कि किसान हड़ताल कर देते थे और पडोसी शहरो को खाद्य पदार्थ देनें से इन्कार कर देते थे। एक 'दूध की हड़ताल' भी हुई थी और उसमें बहुत-सा दूध इसलिए जानबूझकर फेंक दिया गया था कि वह शहरो में न जा सके। जैसे-जैसे स्थिति की विकटता बढती गई है वैसे-वैसे अमेरिका के इन पुराने खयाल के किसानो का दृष्टिकोण भी अधिकाधिक उग्र और क्रान्तिकारी बनता जा रहा है। उनकी माँग है कि खेती के सारे कर्ज़ या तो रद कर दिये जायँ या अनिश्चित काल तक मुल्तवी कर दिये जायँ और सारे करो में भारी कमी करदी जाय। उनके रणनाद ये हैं— "मानवीय अधिकार कानूनी और सम्पत्ति के अधिकारो से ऊपर हैं," "गिरवी का पहला हक़ स्त्रियो और बच्चो का है" वगैरा।

अमेरिका के किसानो का यह आन्दोलन दिलचस्प है, क्योकि यह शुद्ध स्वदेशी आन्दोलन है और समाजवाद या साम्यवाद से इसका कुछ भी ताल्लुक नहीं है। ये किसान उन पुराने अमेरिकनो की नस्ल से है जो देश के पुरातनतावादी वर्ग की रीढ है। लेकिन आर्थिक कष्ट के कारण ये सम्पन्न मध्यम वर्ग के किसानो से ऐसे किसान बनते जा रहे हैं जो हल जोतकर पेट भरते है और सम्पत्ति कुछ भी नही रखते। इस परिवर्तन के साथ-साथ उनकी मनोवृत्ति भी बदलती और अधिकाधिक क्रान्तिकारी बनती जा रही हैं। मन्दी की वजह से कारखानो के मजदूर-वर्ग में भी तब्दीली होरही है। पहले होशियार मजदूर यानी कारीगर लोग इतने खुशहाल रह चुके है कि योरप के श्रमजीवियो से उनकी कुछ भी तुलना नहीं होसकती। वे छोटे-मोटे पूंजीपति और मध्यम वर्ग से अधिक मिलते-जुलते थे। यही कारण है कि अमेरिका का मजदूर-

ही खडे-खडे सड जाने दिया गया। फल वृक्षो पर छोड दिये गये । और बहुत-सी चीजो को तो दरअसल बरबाद कर दिया गया। तुम्हे एक ही मिसाल बताता हूँ। जून १९३१ से फरवरी १९३३ तक ब्रेजील में कहवे की १ करोड ४० लाख बोरियाँ नष्ट की गईं। एक बोरी में १३२ पाउण्ड वजन होता है, इसलिए कुल १ अरब ८४ करोड़ ८० लाख पाउण्ड कहवा नष्ट किया गया । यदि एक आदमी को एक पाउण्ड दिया जावे तो यह कहवा दुनिया की सारी आबादी के लिए काफी से भी अधिक था । तो भी हम जानते थे कि लाखो आदमी ऐसे हैं जिन्हे कहवा मिले तो वे खुश हो, परन्तु उन्हे मिलता नहीं।

कहवे के अलावा गेहूं, रुई और कितनी ही दूसरी चीजें नष्ट करदी गईं। रुई, रबर, चाय वगैरा की बुवाई सीमित करके भावी उत्पत्ति घटाने के भी उपाय किये गये है । यह सारा नाश और सीमा-बन्धन खेती की पैदावार की कीमत बढ़ाने ही के लिए किया गया है, ताकि माल की कमी के कारण माँग पैदा हो और भाव बढ जायें। इससे मण्डी में माल बेचनेवाले किसानो को तो बेशक फायदा होगा, मगर खरीददारों का क्या हाल होगा? सचमुच हम एक अजीब दुनिया में रहते है । अगर पैदावार कम करदी जाती है तो कीमते इतनी ऊँची होजाती हैं कि बहुतेरे लोग उसे खरीद नहीं सकते और उन्हे कष्ट भोगना पड़ता है। अगर पैदावार ज्यादा करदी जाती है तो भाव इतने गिर जाते है कि उद्योग और खेती का काम नही चलता और बेकारी फैल जाती है । बेकार तो बेचारे खरीदें ही क्या, जब उनके पास रुपया ही न हो? अकाल और बाहुल्य, दोनो ही सूरतो में गरीबो के भाग्य में तो दु.ख सहना ही बदा है ।

मै कह चुका हूँ कि मन्दी के समय अमेरिका में या दूसरी जगहो पर माल की कमी नहीं थी। किसानो के पास खेती की पैदावार पडी हुई थी और वह बिक नहीं सकती थी, और शहर के लोगो के पास पक्का माल जमा हो रहा था जिसका कोई खरीदार नहीं मिलता था। फिर भी एक को दूसरे के पदार्थो की जरूरत तो थी ही। दोनो ही ओर धन का अभाव होने से विनिमय की क्रिया बन्द होगई। फिर अत्यंत उद्योग-प्रधान, प्रगतिशील पूंजीवादी अमेरिका में बहुत-से लोगो ने तबादले का पुराना तरीका इख्तियार कर लिया। जब रुपया काम में नहीं आता था तब, पुराने जमाने में, यही रिवाज था । जब विनिमय की पूंजीवादी व्यवस्था रुपये के अभाव में अस्तव्यस्त होगई तो लोगो ने रुपये के बिना ही काम चलाना शुरु कर दिया । वे काम के बदले में काम और माल के बदले में माल देने-लेने लगे । सनद दे-देकर इस तबादले की सहायता करने के विनिमय-सघ खडे होगये । तबादले की एक मजेदार मिसाल यह थी कि एक ग्वाले ने अपने बच्चो की शिक्षा के एवज में विश्वविद्यालय को दूध, मक्खन और अण्डे दिये ।

दूसरे देशो में भी तबादले का रिवाज एक हद तक जारी हुआ । राष्ट्रो के बीच

: १८५ :

संकट के कारण

२१ जुलाई, १९३३

इस महान् मन्दी के पिशाच ने संसार का गला दबा रक्खा है और लगभग सारे काम-काज बन्द या मन्द कर दिये हैं। बहुत जगहो पर उद्योग का चक्र घूमना बन्द होगया है। जिन खेतो में खाने-पीने के और दूसरे पदार्थ पैदा होते थे वे यो ही बेजुते पडे है। रबड़ के पेडो से रबड़ चू रहा है, मगर उसे इकट्ठा करनेवाले नही है। पहाड़ियो के ढाल, जहाँ पहले चाय के हरे-भरे खेत लहलहाते थे, अब बंजर पडे है और उनकी कोई सम्हाल नहीं करता। जो लोग ये सब काम किया करते थे वे बेकारो की महान् सेना में भर्ती होकर काम और रोजगार की बाट देखते है, मगर वह मिलता ही नहीं और वे बेचारे निराश होकर भूख और दरिद्रता का सामना कर रहे है। बहुतेरे देशो में आत्महत्याओ की तादाद खूब बढ़ गई है।

मैं बता चुका हूँ कि मन्दी की चोट सभी उद्योगो पर हुई। मगर एक उद्योग अछूता रहा, और वह था हथियार और युद्ध-सामग्री बनाने का। यह उद्योग भिन्न-भिन्न राष्ट्रो की जल, स्थल और हवाई सेनाओ के लिए हथियार और युद्ध के सामान तैयार करता है। यह व्यवसाय खूब चमका और इसके हिस्सेदारो को मुनाफा भी भरपूर मिला। इस-पर मन्दी का कुछ असर नही हुआ, क्योकि इसका धंधा राष्ट्रो की प्रतिद्वद्विता और संघर्ष पर चलता है और ये दोनो बातें इस सकट-काल में खूब बढ़ गई।

सोवियट संघ का बड़ा प्रदेश भी मन्दी के सीधे असर से बचा रहा। वहाँ बेकारी तो हुई ही नहीं और पचवर्षीय योजना के कारण काम पहले से भी ज्यादा रहा। यह प्रदेश पूजीवाद के नियत्रण से बाहर था और यहाँकी अर्थ-व्यवस्था भी अलग तरह की थी। लेकिन, जैसा में तुम्हे बता चुका हू, उसपर भी मन्दी का अप्रत्यक्ष रूप में कुपरिणाम तो हुआ ही, क्योकि खेती की पैदावार उसे विदेशो में बेचनी पड़ती थी और उसका भाव बहुत गिर गया था।

इस महामन्दी का, इस ससारव्यापी संकट का, कारण क्या था? यह संकट अपने ढंग का भयंकर तो क़रीब-करीब उतना ही था जितना पिछला महायुद्ध था। इसे पूंजी-वाद का अन्तकाल कहते है, क्योकि इसकी चोट से पूंजीवाद की व्यापक और पेचीदा व्यवस्था छिन्न-भिन्न होरही है। पूंजीवाद का इस तरह अन्त क्यो होरहा है? और क्या यह संकट स्थायी है? पूंजीवाद इसके बाद भी कायम रहेगा? या यह कि जिस महान् प्रणाली ने युग-युगान्तर से संसार पर अपना प्रभुत्व जमा रक्खा है वह अन्तिम

आन्दोलन इतना पिछडा हुआ और प्रतिगामी रहा । अब वे सच्चे अर्थ में जाग्रत गरीब बन रहे है ।

मैने सयुक्तराष्ट्र की अवस्थाओ का विस्तार से बयान किया है, क्योकि अमेरिका कई बातो में मनोहर देश है । पूंजीवादी देशो में यह सबसे उन्नत है और यहां योरप और एशिया की तरह इसके प्राचीन काल पर सामन्तशाही का असर नहीं रहा है । इस कारण वहां परिवर्तन तेजी से होने की सम्भावना रहती है । दूसरे देशो में गरीबो को कष्ट सहने का ज्यादा अभ्यास रहा है । अमेरिका के लिए यह बात और इतने बडे पैमाने पर होना एक नई विस्मयकारक घटना थी । मैने अमेरिका के बारे में तुम्हे जो कुछ बताया है उससे तुम मन्दी के समय दूसरे देशो की हालत का अन्दाज लगा सकती हो । कुछ देशो की हालत तो बहुत बुरी थी और कुछ की जरा अच्छी थी । सब बातो को देखते हुए कृषि-प्रधान और पिछडे हुए देशो की इतनी दुर्दशा नही हुई जितनी आगे बढे हुए उद्योग-प्रधान देशो की हुई । उनके पिछडेपन ने ही एक हद तक उनकी रक्षा की । उनकी खास मुसीबत यह थी कि खेती की पैदावार के भाव एक-दम गिर जाने से वहांके किसानो पर आफत का पहाड टूट पडा । आस्ट्रेलिया एक कृषि-प्रधान देश है । भावो के गिर जाने से वह अग्रेजी बैको को कर्ज नही चुका सका और दिवाला निकलने की नौबत आपहुंची । आखिर उसने अंग्रेज साहूकारो की कडी शर्तें मानकर अपनी जान बचाई । मन्दी के जमाने में साहूकार वर्ग के ही वारे-न्यारे होते है और उसीका सबपर सिक्का जमता है ।

दक्षिणी अमेरिका में सयुक्तराष्ट्र से उधार मिलना बन्द होने और मन्दी के कारण उथल-पुथल मच गई, और वहांकी अधिकाश प्रजातन्त्र सरकारो या यो कहो कि वहांके सर्वसर्वा शासको का तख्ता उलट गया । दक्षिण के सारे देशो में क्रान्तियां हुई । इनमें अर्जेण्टाइन, ब्रेजील और चिली के तीनो प्रमुख देश शामिल थे । दक्षिणी अमेरिका में सभी क्रान्तियां राजमहलो तक सीमित रहती है और केवल सर्वसर्वा शासक और बडे-बडे सरकारी अधिकारी बदल जाते है । ये क्रान्तियां भी इसी तरह की थीं । वहां जो व्यक्ति या दल सेना और पुलिस पर अधिकार जमा लेता है वही शासक बन बैठता है । दक्षिणी अमेरिका की सभी सरकारे बुरी तरह कर्ज में फॅसी हुई है और अधिकाश नादिहन्द होचुकी है ।

अग्रेज राजनीतिज्ञ ने कहा है कि "विचारशील लोगो का विश्वास है कि समाज का ह्रास शुरू होगया है। हमें मालूम है कि योरप में एक युग का अन्त होरहा है।"

जर्मन लोगो की राय में इस उथल-पुथल का असली कारण युद्ध का हर्जाना था। और बहुत-से लोगो के खयाल से मन्दी का सबब यह था कि राष्ट्रो के विदेशी और भीतरी युद्ध-ऋण का बोझा असह्य होगया और वह सारे उद्योग को कुचलने लगा। इस तरह संसार के कष्टो के लिए मुख्यतः महायुद्ध को ही जिम्मेदार ठहराया जाता है। कुछ अर्थशास्त्रियो का यह खयाल है कि झगडे की जड रुपये का विचित्र व्यवहार और भावो का बुरी तरह गिरना है और यह हुआ है सोने की कमी के कारण। सोने की कमी कुछ तो इसलिए हुई कि खानो से ही ससार की जरूरत के लायक सोना नही निकलता और ज्यादातर इसलिए हुई कि अलग-अलग सरकारो ने सोना जमा कर लिया। दूसरे लोग यह भी कहते हैं कि सारी खुराफात अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को रोकनेवाली आर्थिक राष्ट्रीयता, चुगी और भारी कर-बन्दी की वजह से है। एक कारण यह बताया जाता है कि वैज्ञानिक कला बहुत आगे बढ़ गई है, उसके कारण बहुत कम मजदूरो की ज़रूरत रह गई है और इसलिए बेकारी ज्यादा होगई है।

इन सारी सूचनाओ के पक्ष में बहुत-कुछ कहा जा सकता है और यह भी मुमकिन है कि ससार की मौजूदा गड़बड में इन सभीका हाथ रहा हो। मगर इनमें से किसी एक पर या सब पर भी सकट का दोष लगाना उचित या न्याय-सगत मालूम नहीं होता। असल में इन बताये जानेवाले कारणो में से बहुत-से तो इस उथल-पुथल के परिणाम है। हाँ, सकट को गम्भीर बनाने में इनमें से एक-एक ने मदद ज़रूर पहुँचाई है। मगर झगडे की जड़ बहुत गहरी है। युद्ध में हार जाना इसका कारण नही है, क्योकि विजेता खुद इसमें फँसे हुए है। राष्ट्र की गरीबी भी कारण नहीं हो सकती, क्योकि ससार के सबसे धनी देश अमेरिका को ज्यादा-से-ज्यादा नुक़सान हो रहा है। इसमें कोई शक नही कि सकट के जल्दी ही होने में महायुद्ध का जबरदस्त हाथ रहा है। इसके दो कारण हुए। एक तो कर्ज का भारी भार और ऋणदाताओ में उसके बँटवारो का तरीका, और दूसरा कारण यह हुआ कि लड़ाई के समय और लड़ाई के बाद कुछ वर्ष चीजो के जो ऊँचे भाव रहे वे बनावटी थे और उनका एकदम से गिरना अनिवार्य था। परन्तु हम जरा और गहरे पैठकर देखें।

कहते है कि जरूरत से ज्यादा उत्पत्ति झगडे की जड़ है। लेकिन यह शब्द ही ग़लत है। जब करोडो आदमी नितान्त आवश्यक-से-आवश्यक चीजो की कमी के कारण तकलीफ पा रहे है तो जरूरत से ज्यादा उत्पत्ति कैसी? हिन्दुस्तान में करोडो मनुष्यो को तन ढकने के लिए भी पूरा कपड़ा नही मिलता। फिर भी हम सुनते है

सांस ले रही है ? ऐसे कितने ही सवाल पैदा होते है और उनमें बडा आकर्षण या कशिश है, क्योंकि उनके जवाब पर मानव-जाति का और साथ ही हमारा भी भविष्य निर्भर है। इस सकट को दूर करने के लिए पिछले चार वर्ष में भिन्न-भिन्न देशो में मुख्तलिफ उपाय किये गये है, मगर उनसे स्थिति उलटी बिगडी ही है। बहुत-सी बलवर्द्धक ओषधियां दी गई मगर, जैसा सभी उत्तेजक दवाइयो का असर होता है, इससे भी थोडे समय के लिए सुधार मालूम हुआ और बाद में और भी शिथिलता आई। १९३२ के दिसम्बर में ब्रिटिश सरकार ने अमेरिकन सरकार को एक खत भेजा और उसमें यह प्रार्थना की कि उसका युद्ध का कर्ज माफ कर दिया जाय। इस खत में यह बताया गया था कि किस तरह 'मर्ज बढता गया ज्यों-ज्यो दवा की'। उसमें कहा गया कि "सब जगह कर बुरी तरह बढा और खर्च खूब घटा दिया गया है। फिर भी जिस नियत्रण और मर्यादा से बीमारी का इलाज होने की उम्मेद थी उसीसे वह और बढ गई।" आगे चलकर यह बताया गया कि "इस नुक्सान और मुसीबत का कारण प्रकृति की कजूसी नही है। भौतिक विज्ञान की सफलता दिनोदिन बढ रही है और सच्ची दौलत के पैदा करने की छिपी हुई विशाल शक्तियां ज्यो-की-त्यो बनी हुई है।" कसूर प्रकृति का नही, बल्कि इन्सान और उसकी बनाई हुई प्रणाली का है।

पूंजीवाद की इस बीमारी का सही-सही निदान करना या इसके इलाज का नुसखा तजवीज करना आसान नही है। अर्थशास्त्रियो को इस बारे में सब कुछ मालूम होना चाहिए, लेकिन उनके आपस में ही मतभेद है और वे अलग-अलग कारण और इलाज बताते है। अगर इस मामले में किसीके दिमाग में साफ विचार है तो सिर्फ साम्यवादियो और समाजवादियो के दिमाग में है। उनका कहना है कि पूंजीवाद का इस भांति छिन्न-भिन्न होना उनके सिद्धान्तो और विचारो के अनुसार उचित है। पूंजीवादी विशेषज्ञ तो साफ तौर पर अपनी घबराहट और परेशानी कबूल करते है। मांटेग्यू नॉर्मन अग्रेज अर्थ-व्यवस्थापको में एक बहुत बड़ा और काबिल आदमी है। वह बैंक ऑफ इग्लैण्ड का गवर्नर है। उसने कुछ महीने पहले एक सार्वजनिक अवसर पर कहा था—"आर्थिक समस्या मेरे बूते की बात नही है। कठिनाइयां इतनी विशाल और नवीन है कि उनकी कोई नजीर नही मिलती और मै तो इस विषय को बडे अज्ञान और विनय के साथ हाथ में लेता हूं। मेरे लिए यह सवाल बहुत बडा सवाल है। अभी तो अंधेरी गुप सुरग-ही-सुरग दिखाई देती है। आशा है आगे चलकर प्रकाश के भी दर्शन हो।" मगर यह प्रकाश छलावे की तरह हमारे हृदयो में आशायें पैदा करता और फिर विलीन होजाता है। इस बीच दुनिया किसी महान् विपत्ति के मुख में फिसलती चली जा रही है। सर आक्लैण्ड गिडीज नामक मशहूर

दुनिया पर ही एक तरह से पूंजीवादी शोषण छा गया तो फैलने की यह क्रिया बन्द होगई और बडे-बडे राष्ट्रो के संघर्ष से लड़ाई छिड़ गई।

ये सब बाते मै पहले बता चुका हूँ, लेकिन मै इन्हे इसलिए दोहरा रहा हूँ कि तुम्हे वर्तमान संकट को समझने में मदद मिले। बढ़ते हुए पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के इस जमाने में पश्चिम में अनेक बार संकट आये, क्योकि एक तरफ लोग बहुत-सा रुपया बचाकर रखते थे और दूसरी तरफ लोगो के पास खर्च करने को बहुत थोड़ा रुपया रहता था। मगर ये संकट-काल निकल गये, क्योकि पूंजीपतियो का फालतू रुपया पिछडे हुए प्रदेशो का विकास और शोषण करने में लग गया और इस तरह वहाँ नये बाजार खडे होगये और माल की खपत बढ़ गई। साम्राज्यवाद पूंजीवाद का अन्तिम स्वरूप कहलाया। मामूली हालत मे यह शोषण-क्रिया दुनिया-भर के उद्योग-प्रधान बन जाने तक जारी रह सकती थी, लेकिन बीच में कठिनाइयाँ और रुकावटें पैदा होगईं। खास मुश्किल थी साम्राज्यवादी राष्ट्रो की भयंकर प्रतिस्पर्धा। उनमें से हरेक खुद बडे-से-बड़ा हिस्सा लेना चाहता था। दूसरी मुश्किल यह हुई कि पराधीन देशो में नया राष्ट्रवाद पैदा हुआ। वहाँके उद्योगो की उन्नति होनें लगी,और वे अपने यहाँकी मण्डियो को माल पहुँचाने लगे।

हम देख चुके है कि इन सब क्रियाओ के परिणाम-स्वरूप युद्ध हुआ। लेकिन युद्ध से पूंजीवाद की कठिनाइयाँ न हल न हुई, हो सकती थीं। सोवियट सघ का विशाल प्रदेश पूंजीवादी संसार में से सफा निकल गया और शोषण करनें जैसा बाजार न रहा। पूर्व में राष्ट्रीयता अधिकाधिक तीव्र हो चली और उद्योगवाद फैलने लगा। लड़ाई के समय और लड़ाई के बाद वैज्ञानिककला में जो जबरदस्त उन्नति हुई उससे भी सम्पत्ति के असमान विभाजन में और बेकारी के पैदा होनें में मदद मिली। युद्ध-ऋण भी एक प्रबल कारण हुआ।

युद्ध-ऋण भारी बहुत था और यह याद रखना चाहिए कि वह कोई ठोस सम्पत्ति नहीं था। अगर कोई देश रेलवे या आबपाशी के लिए या देश के किसी और लाभ-दायक काम के लिए रुपया उधार लेता है तो उस ऋण और खर्च के बदले में उसके पास कुछ ठोस चीज आजाती है। असल में इन कामो पर खर्च की हुई सम्पत्ति से भी अधिक पैदा हो सकती है। इसीलिए ये उत्पादक कार्य कहलाते हैं।

मगर युद्ध-काल में उधार लिया हुआ रुपया ऐसे किसी काम में खर्च नहीं हुआ। वह उत्पादक तो था ही नहीं, बल्कि विनाशक था। बेशुमार रुपया खर्च किया गया और उसके पीछे नाश-ही-नाश बाकी रहा। इस तरह युद्ध-ऋण खालिस भार के सिवा और कुछ न था। युद्ध-ऋण तीन तरह का था। एक लड़ाई का हर्जाना था जो

कि हिन्दुस्तानी मिलो और खादी-भण्डारो में माल भरा पड़ा है और कपड़ा जरूरत से ज्यादा तैयार होगया है। असल बात यह है कि लोग इतने गरीब हो गये हैं कि वे कपडा ख़रीद नही सकते। बात यह नहीं है कि उन्हे कपडे की जरूरत नही है। बात यह है कि गरीबो के पास रुपया ही नहीं है। इस घनाभाव का अर्थ यह नहीं है कि रुपया दुनिया से गायब होगया है। इसका अर्थ यह है कि संसार के लोगो में रुपये का बटवारा बदल गया है और लगातार बदल रहा है। यानी सम्पत्ति के विभाजन में असमानता है। एक ओर बहुत ज्यादा धन है और उसके मालिको को यह भी मालूम नहीं कि इस सब का क्या उपयोग करे। वे उसे केवल बचा लेते है और बैंको में जमा कराते रहते हैं। यह रुपया बाजार में चीजें खरीदने के काम नही आता। दूसरी तरफ़ धन की बहुत कमी है और जिन चीजो की जरूरत है वे भी रुपये के अभाव में नहीं ख़रीदी जा सकती।

घुमा-फिराकर इस सब कथन का यह अर्थ हुआ कि दुनिया में गरीब और अमीर है। यह बात इतनी साफ तौर पर जाहिर है कि इसके लिए किसी तर्क की जरूरत नहीं है। इतिहास के शुरू से ही ये गरीब और अमीर बराबर चले आये है। फिर मौजूदा सकट के लिए उन्हे क्यो जिम्मेवार ठहराया जाय? मेरे ख़याल से किसी पिछले ख़त में मै तुम्हे बता चुका हूँ कि पूंजीवादी प्रणाली की सारी वृत्ति ही सम्पत्ति के विभाजन की असमानताओ को बढ़ाने की है।

सामन्तशाही में स्थिति प्रायः स्थिर रहती थी या धीरे-धीरे बदलती थी। पूजीवाद में बडे-बडे यंत्र और ससारव्यापी बाजारो के कारण वेग है और उसमें परिवर्तन तेजी से होता है, क्योकि दौलत व्यक्तियो और दलो के पास इकट्ठी होजाती है। सम्पत्ति के विभाजन में असमानता के बढ़ने और उसमें कुछ और कारणो के मिलने से उद्योग-प्रधान देशो में मजदूरो और पूजीपतियो में नया संघर्ष पैदा हुआ। इन देशो के पूजीपतियो ने मजदूरो को कई तरह की रिआयते देकर इस खिंचाव को कम किया। मगर अपने यहाँ ज्यादा मजदूरी देकर और जीवन-सम्बन्धी अवस्थाओ में सुधार करके इन लोगों ने ग़ुलाम देशो और पिछडे हुए प्रदेशो का ख़ूब शोषण किया। इस तरह एशिया, अफरीका, दक्षिणी अमेरिका और पूर्वी योरप के शोषण से पश्चिमी योरप और उत्तरी अमेरिका के उद्योग-प्रधान देशो को दौलत जमा करने में मदद मिली। इसका थोड़ा-सा हिस्सा उन्होने अपने यहांके मजदूरो को भी देदिया। जैसे-जैसे नये बाजार पैदा हुए वैसे-वैसे नये उद्योग चल पडे या पुराने बढ़ गये। साम्राज्यवाद ने आगे बढ-बढकर इन बाजारो और कच्चे माल की तलाश करने का रूप धारण कर लिया। इसमें अलग-अलग औद्योगिक राष्ट्रो की प्रतिस्पर्धा हुई और उनके स्वार्थ टकराये। जब सारी

नही रखना चाहता। उन्होने नये-नये कारखानो और यंत्रो में और दूसरे बडे-बडे खर्च के उद्योगो में यह रुपया जरूरत से ज्यादा लगा दिया। आमतौर पर लोगो की जैसी दिवालिया हालत होरही थी उसे देखते हुए उनका इस तरह पूंजी लगाना मुनासिब नही था। पर वे शेयरबजार में सट्टा भी करने लगे। उन्होने अधिकाधि बडे और व्यापक पैमाने पर माल बनाने की तैयारी करली। मगर इससे फायदा क्या, जब सर्वसाधारण के पास खरीदने को रुपया ही न हो ? इस तरह उत्पत्ति अधिक होगई, माल बिक न सका, उद्योगो में घाटा रहने लगा और बहुत-से बन्द होने लगे। व्यवसायियो ने नुक़सान से घबराकर उद्योगो में पूंजी लगाना बन्द कर दिया और रुपया बैंको में पड़ा रक्खा। इस तरह बेकारी फैल गई और मन्दी संसारव्यापी होगई। मैंनें उथल-पुथल के बताये हुए भिन्न-भिन्न कारणो की अलग-अलग चर्चा की है, परन्तु वे सब साथ-साथ चलते रहे और इसीसे व्यापार की यह मन्दी इतनी भयकर होगई जितनी कि पहले कभी नही थी। तत्त्वतः इसका कारण पूजीवाद से प्राप्त हुई फालतू आमदनी का असमान विभाजन था। इसीको दूसरी तरह से यो कहा जा सकता है कि गरीबो ने जिस माल को अपनी मेहनत से तैयार किया था उसीको खरीदने के लिए उन्हे मजदूरी और वेतन के रूप में काफी रुपया नही मिला। उनकी सारी आमदनी से इस माल की कीमत ज्यादा थी। अगर यह रुपया गरीबो के पास होता तो इस माल के खरीदने में काम आता। मगर यह रुपया तो उन थोडे-से धनवान लोगो के पास जमा होगया जिन्हे यह भी पता न था कि इसका क्या करे। यही फालतू रुपया ऋण की धारा में बह-बहकर अमेरिका से जर्मनी, मध्य-योरप और दक्षिणी अमेरिका पहुँचा। इसी विदेशी कर्ज ने युद्ध-जर्जर योरप और पूंजीवादी व्यवस्था को कुछ वर्ष तक कायम रक्खा। फिर भी संकट का एक कारण तो यह ऋण भी बनाही और इसी-के बन्द होने पर सारा ढॉचा अर्रा कर गिर पड़ा।

अगर पूंजीवाद के संकट का यह निदान सही है, तो इलाज भी वही ठीक होसकता है जिससे सबकी आय समान हो या कम-से-कम समान होने की सम्भावना हो। यह काम पूरी तरह तो समाजवाद को अपनाने से ही हो सकता है लेकिन जबतक परिस्थिति मजबूर न करे तब तक पूंजीपति ऐसा होनें देने वाले नही हैं। लोग सयोजित पूंजीवाद की, पिछडे हुए प्रदेशो का शोषण करनें के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय-संघो की बात करते है; परन्तु इन बातो के पीछे राष्ट्रीय लाग-डॉट और संसार के बाजारो के लिए साम्राज्यवादी राष्ट्रो का आपसी सघर्ष भयंकर होता जारहा है। ऐसी हालत में योजना कैसी ? दूसरे को नुक्सान पहुँचाकर अपना फायदा करने की ? पूंजीवाद का उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ होता है और स्पर्धा उसके स्वभाव में है। स्पर्धा और योजना का क्या साथ?

चुकाने के लिए हारे हुए देशो को मजबूरन राजी होना पडा, दूसरे मित्र-राष्ट्रों पर एक-दूसरे का और खास तौर पर अमेरिका का कर्ज था, और तीसरे प्रत्येक देश ने अपने-अपने नागरिको से रुपया उधार लिया था।

इन तीनो अलग-अलग तरह के क़र्जों में से हरेक बहुत भारी था। लेकिन इन सब में प्रत्येक देश का राष्ट्रीय ऋण सबसे बड़ा था। इस तरह लड़ाई के बाद ब्रिटिश राष्ट्रीय ऋण ६ अरब ५० करोड़ पौण्ड तक पहुँच गया था। ऐसे कर्जों का ब्याज चुकाना भी बहुत बडा भार होगया था और उसका अर्थ हुआ बहुत भारी कर लगाना। जर्मनी ने अपना भारी भीतरी कर्ज नोट छाप-छापकर उतार दिया। इससे वहाँका पुराना सिक्का मार्क खत्म हुआ और इस तरह से उसने अपना बोझा हलका कर दिया, हालाकि जिन लोगो ने उसे उधार दिया था वे घाटे में रहे। फ़्रास नें भी नोट छाप-छापकर निकालने का वही तरीका इख्तियार किया, मगर उस हद तक नहीं किया। उसने अपने सिक्के फ्राक की कीमत घटाकर पॉचवे हिस्से के लगभग करदी और इस तरह एक ही बार में अपने भीतरी राष्ट्रीय ऋण का $\frac{४}{५}$ हिस्सा उड़ा दिया। यह चाल दूसरे देशो के कर्ज यानी युद्ध के हर्जानें और विदेशी कर्ज के बारे में नहीं चली जा सकती थी। उन्हे तो ठोस सोना ही देना पड़ा।

एक देश का दूसरे देश को इस तरह क़र्ज अदा करने का अर्थ यह हुआ कि चुकानेवाले देश को उतने रुपये की हानि हो और वह और भी गरीब होजाय। लेकिन भीतरी कर्ज अदा कर देने से देश की स्थिति में ऐसा कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योकि रुपया किसी भी तरह देश का देश में रहता है। फिर भी एक दूसरी तरह का अन्तर तो पडा ही, और वह बहुत बड़ा अन्तर था। इस तरह के क़र्ज देश के अमीर और गरीब सभी लोगो पर कर लगाकर जमा किये हुए रुपये से चुकाये जाते है। सरकार को उधार देनेवाले लोग धनवान थे। नतीजा यह हुआ कि धनवानो का क़र्ज चुकाने के लिए धनी और निर्धन दोनो पर कर लगाया गया। इससे धनवानो ने सरकार को कर के रूप में जो कुछ दिया था उससे कही ज्यादा उन्हे वापस मिल गया; पर गरीबो ने तो दिया ही दिया, उन्हे बदले में मिला कुछ नहीं। फलतः मालदार ज्यादा मालदार होगये और गरीब और भी ग़रीब होते गये।

योरप के कर्जदार देशो ने अमेरिका के क़र्ज का जो कुछ हिस्सा चुकाया वह सब रुपया भी वहाँके बडे-बडे साहूकारो और धन-कुबेरो की जेब में गया। इस तरह युद्ध-ऋण का नतीजा यह हुआ कि बुरी परिस्थिति और भी बुरी होगई और गरीबो को नुक्सान पहुँचाकर अमीर लोग धन से और भी लद गये। धनवानो ने इस रुपये को किसी काम में लगाना चाहा, क्योकि कोई व्यवसायी अपने रुपये को बेकार पड़ा

जब संकट और मन्दी संसारव्यापी है, तो यही कल्पना होती है कि उनका उपाय भी अन्तर्राष्ट्रीय होना चाहिए। सहयोग का कोई-न-कोई रास्ता निकालने की कोशिशें मुख्तलिफ देशो ने की है, मगर वे सब नाकामयाब रहे। इसलिए प्रत्येक देश जगत्व्यापी इलाज से निराश होकर आर्थिक राष्ट्रवाद के रूप में राष्ट्रीय उपाय ढूँढ रहा है। दलील यह दी जाती है कि जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कम होरहा है तो हम कम-से-कम अपने देश का व्यापार तो अपने हाथ में रक्खें और विदेशी माल अपने यहाँ न आने दे। बाहर के व्यापार का कोई भरोसा नही और वह बदलता भी रहता है, इसलिए हर मुल्क अपने घरू बाजार पर ही ज्यादा-से-ज्यादा ध्यान देने की कोशिश कर रहा है। चुंगी-कर लगाकर या बढ़ाकर विदेशी माल को रोका जाता है और इसमें सफलता भी मिली है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को हानि पहुँचाने मे भी सफलता मिली है, क्योकि हर मुल्क की चुंगी से दुनिया के व्यापार में रुकावट होती है। योरप, अमेरिका और कुछ हद तक एशिया-भर में चुगी की ऊँची-ऊँची दीवारे खडी है। चुगी का दूसरा नतीजा यह हुआ कि जिन्दगी का मामूली खर्च बढ गया, क्योकि खाद्य पदार्थो का और उन सब चीजो का, जिनकी चुगी से रक्षा होती है, भाव चढ़ गया। चुगी से राष्ट्रीय एकाधिकार पैदा होता है और बाहर की लाग-डॉट मिट जाती है या मुश्किल होजाती है। एकाधिकार में भाव तो बढ़ते ही है। जिस विशेष उद्योग को चुंगी का संरक्षण मिल जाता है उसे उस संरक्षण से लाभ होता है, या यो कहो कि उसके मालिकों को तो फायदा होता है, मगर माल को खरीदनेवाले लोग ज्यादातर घाटे में रहते, है क्योकि उन्हे ज्यादा कीमत चुकानी पड़ती है। इस तरह चुंगी से विशेष वर्गों को थोड़ा आराम मिल जाता है और स्थायी स्वार्थ पैदा होजाते है, क्योकि चुंगी से फायदा उठानेवाले उद्योग उन स्वार्थों को कायम रखना चाहते है। इस तरह हिन्दुस्तान में कपडे के उद्योग को जापान के खिलाफ बहुत भारी संरक्षण मिला हुआ है। इससे भारतीय मिल-मालिको को बहुत लाभ है और वे ऊँचे भाव लगा सकते हैं। सरक्षण के बिना वे जापान की बराबरी नहीं कर सकते। यहाँ का शक्कर का उद्योग भी संरक्षित है। इस कारण हिन्दुस्तान-भर में, और विशेषकर संयुक्तप्रान्त और बिहार में, शक्कर के कारखाने धडाधड खुले है और खुलते जा रहे हैं। इस तरह स्थायी स्वार्थ पैदा होगये है और अगर शक्कर की चुंगी उठादी जाय तो इन स्वार्थों को धक्का पहुँचेगा और शक्कर के नये कारखाने शायद बन्द होजायँगे।

दो तरह के एकाधिकारो की वृद्धि हुई। एक तो बाहरी एकाधिकार यानी चुंगी की सहायता पानेवाले राष्ट्रो के बीच में; और दूसरे भीतरी एकाधिकार, जिसमें बडे व्यवसाय छोटो को हड़प कर लेते है।

समाजवादियो और साम्यवादियो की बात छोड़दें तो भी कितने ही विचारशील लोग वर्तमान स्थिति में पूंजीवाद की उपयोगिता में सन्देह करने लगे हैं। कुछ लोगो ने सिर्फ मौजूदा लाभ के तरीके को बल्कि रुपया देकर माल खरीदनें की मूल्य-प्रथा को भी मिटा देने के लिए अचम्भे में डालनेवाले उपाय सुझाये हैं। अमेरिका के अर्थशास्त्री इजीनियरो के एक दल ने अपना नाम 'टेकनो-क्रैट्स' रक्खा है। उनका प्रस्ताव है कि रुपये के बजाय शक्ति की इकाई ही काम में लानी चाहिये। इस इकाई को अर्ग (Erg) कहते हैं। दूसरी सूचना यह है कि यह इकाई अर्न (Ern) होना चाहिए। इसका अर्थ है शक्ति की इकाई के साथ नत्रजन (Nitrogen) को मिला देना। मैं यह नहीं समझाऊँगा कि इनका उपयोग किस तरह से किया जाये। मैं तो इनका उल्लेख सिर्फ तुम्हे यह समझाने के लिए कर रहा हूँ कि किस तरह लोगो का दिमाग पुरानी बातें छोडता जा रहा है। डगलस साहब की सामाजिक साख का सिद्धान्त एक और ही तजवीज पेश करता है। उसके अनुसार मजदूरी और वेतन प्राचीन काल के अवशेष-मात्र हैं, इसलिए उन्हे बिलकुल ही उठा देना चाहिए। इस मजदूरी और वेतन का चुकाना लोगो में खरीदने की ताकत बाँटना है। आजकल इससे अच्छी तरह काम नहीं चलता, क्योंकि खरीदने की अधिकाश शक्ति मुट्ठी-भर लोगो के हाथ में चली जाती है। इसलिए, मेजर डगलस सूचित करते हैं कि देश की असली दौलत में साल भर में जो खालिस वृद्धि हो उसकी समूची कीमत सारे नागरिको को राष्ट्रीय मुनाफे की शक्ल में बाँट दी जाया करे। इस तरह सभी नागरिक खर्च की सभी चीजें खरीद सकते हैं—यानी वह माल जो खप सकता है, न कि रेलवे और कारखानो जैसा बड़ा माल। इस तरह वर्षभर में समूचे राष्ट्र द्वारा पैदा की हुई चीजें सबको मिल जायेंगी। इस प्रथा में अति उत्पत्ति तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि खर्च करने की और पैदा करने की शक्ति में समतौल रहता है। इस प्रणाली का आधार उधार की प्रथा को बढ़ाकर सब नागरिको में फैला देना है।

ये सब प्रस्ताव अभी तो हवा-ही-हवा में हैं। ये हैं भी इतने क्रान्तिकारी कि पूंजीवादी लोग इन्हे नही अपना सकते। जिनेवा के अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कार्यालय ने हाल में बेकारी तुरन्त कम करने के लिए यह सीधी-सी सूचना पेश की कि मजदूरो के काम के घण्टे सप्ताह में चालीस कर दिये जायें। इसका फल यह होता कि लाखो और मजदूरो को काम मिल जाता और उस हदतक बेकारी घट जाती। मजदूरो के सभी प्रतिनिधियो ने इस सूचना का स्वागत किया; परन्तु ब्रिटिश सरकार इसके खिलाफ थी, और जर्मनी और जापान की मदद से उसने किसी तरह इसे दाखिल दफ्तर करवा दिया। लडाई के बाद के इस सारे समय में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कार्यालय से ब्रिटेन की कारगुजारी बराबर प्रतिगामी रही है।

ज्यादा हो गया। इन घाटो की पूर्ति या तो रुपया उधार लेने से ही हो सकी या दूसरी अमानती रकमो में से रुपया निकालकर हो पाई। इससे सम्बन्धित देशो की आर्थिक स्थिति कमजोर होगई।

साथ-ही-साथ माल के बडे-बडे ढेर बे-बिके रह गये, क्योकि लोगो के पास खरीदने को काफी रुपया नहीं था और कई जगहो पर ये 'फालतू' खाद्य-पदार्थ और दूसरी चीजें सचमुच नष्ट करदी गई, हालाँकि और स्थानो में लोगो को उनकी सख्त जरूरत थी। यह संकट और मन्दी सोवियट संघ के सिवाय सारी दुनिया में हुई। किन्तु इसे मिटाने के लिए भिन्न-भिन्न राष्ट्रो ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप में आपस में सहयोग नही किया। हरेक देश ने अपनी ही चिन्ता, दूसरो से आगे बढ़ने की कोशिश और दूसरो की विपत्ति से खूब फायदा उठाने की तजवीज की। इस निजी और खुदगर्जी से भरी हुई कार्रवाई तथा दूसरे अधूरे उपायो से स्थिति और भी गभीर होगई। ससार के मामलो में दो मुख्य बाते या प्रवृत्तियाँ और है, जिनका इस व्यापारिक मन्दी से तो कोई ताल्लुक़ नहीं है लेकिन इसपर उनका असर बहुत पडता है। एक तो है सोवियट संघ के साथ पूंजीवादी संसार की प्रतिद्वन्द्विता या लागडॉट, और दूसरी इंग्लैण्ड और अमेरिका की प्रतिस्पर्धा।

पूँजीवादी संकट से सारे पूँजीवादी देश कमजोर और ग़रीब होगये और एक अर्थ में युद्ध के सयोग कम होगये है। हर मुल्क अपना घर सुधारने में लगा हुआ है और किसीके पास जोखम के कामो पर खर्च करने के लिए रुपया नहीं है। फिर भी उलटी बात तो देखो कि इसी सकट से लड़ाई का ख़तरा बढ गया है, क्योकि इससे राष्ट्र और उनकी सरकारे निराश होरही है। और निराश लोग अक्सर अपनी भीतरी कठिनाइयाँ बाहर लड़ाई लड़कर हल किया करते है। यह बात ख़ास तौर पर उस हालत में होती है जब सत्ता सर्वेसर्वा शासक या छोटे-से दल के हाथ में होती है। सत्ता छोड़नें के बजाय वह अपने देश को लड़ाई के गढ़े में फेंक देता है और इस तरह अपनी रिआया का ध्यान घरेलू झगडो से हटा देता है। यो देखा जाय तो सोवियट सघ के खिलाफ युद्ध छिड़ने की सम्भावना सदा रहती है, क्योकि यह आशा रक्खी जा सकती है कि इस युद्ध में बहुत-से पूँजीवादी देश आपस में मिल जायँगे। मै तुम्हे बता चुका हूँ कि सोवियट संघ पर पूँजीवादी सकट का पूरा असर नहीं हुआ। वह अपनी पंचवर्षीय योजनाओ को पूरा करने मे लगा और किसी भी तरह लडाई से बचने पर तुला रहा।

महायुद्ध के बाद इग्लैण्ड और अमेरिका की लाग-डॉट लाजिमी होगई। ये दोनो संसार की सबसे बडी ताकते है। दोनो ही संसार के मामलो में अपना-अपना प्रभुत्व रखना चाहती है। महायुद्ध के पहले इंग्लैण्ड का प्रभुत्त्व निर्विवाद था। युद्ध

अलबत्ता एकाधिकारो की वृद्धि कोई नई चीज नही है। यह तो महायुद्ध के पहले भी कई साल तक होती रही है। अब उसकी गति तेज होगई है। चुगी भी अनेक देशो में पहले से मौजूद थी। इग्लैण्ड ही बडे देशो में ऐसा था जिसने मुक्त व्यापार (Free Trade) पर अबतक भरोसा रक्खा और चुगी के बिना काम चलाया था। परन्तु अब उसे भी अपनी परम्परा तोडकर दूसरे देशो की बराबरी में आना पडा और चुगी-कर लगाना पडा। इससे उसके कुछ उद्योगो का तात्कालिक बोझा कुछ हलका होगया। इन सब उपायो से स्थानीय और अस्थायी लाभ तो हुआ, लेकिन सारे ससार की दृष्टि से देखा जाय तो हालत असल में पहले से भी खराब होगई। न सिर्फ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और भी कम होगया, बल्कि सम्पत्ति के विभाजन की असमानता कायम रही और बढ गई। बराबरी के राष्ट्रो ने एक-दूसरे के खिलाफ चुगी-कर लगा दिया। इन्हे चुगी की दीवार कहते है। इनसे आपस में सघर्ष बराबर बना रहा। जैसे-जैसे ससार की मण्डियाँ कम होती गई और उनपर सरक्षण लगता गया वैसे-वैसे उनके लिए छीना-झपटी भी तेज होती गई और मालिक लोग अपने मजदूरो की मजदूरी कम करने के लिए दबाव डालने लगे, ताकि वे दूसरे देशो से लाग-डाँट कर सके। इस तरह मन्दी बढ़ती गई और बेकारो की तादाद में वृद्धि होती गई। मजदूरी घटाने के साथ-साथ मजदूरो की खरीदने की ताकत भी कम होगई।

: १८६ :

नेतृत्व के लिए अमेरिका और इंग्लैण्ड का झगड़ा

२५ जुलाई, १९३३

मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि मौजूदा मन्दी के जमाने में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार घटते-घटते सिर्फ तीसरे हिस्से तक रह गया है। लोगो की खरीदने की शक्ति कम होजाने से अन्दरूनी या देशी व्यापार कम होगया। बेकारी बढ़ती चली गई और इन करोडो बेकारो का पालन-पोषण करने का बड़ा भारी बोझा मुख्तलिफ सरकारो के सिर पर आ पडा। भारी कर लगाने पर भी बहुत-सी सरकारो का आय-व्यय बराबर होना तक असम्भव-सा होगया। उनकी आमदनी घटती गई और खर्च, किफायत और वेतन की कटौती के बावजूद, बढा-चढा रहा। इसका कारण यह था कि इस खर्च का बड़ा भार जल, स्थल और हवाई सेना के साथ और भीतरी और बाहरी कर्ज की अदायगी के साथ बँधा हुआ था। राष्ट्रीय बजटो में घाटा रहने लगा। यानी आय से व्यय

और उसका प्रधान-पद धीरे-धीरे किन्तु लगातार संयुक्तराष्ट्र के हाथो में चला जावे। यह विचार अंग्रेजो को सुखकर नही हो सकता कि जिन चीजो को वे इतने महत्त्व की समझते है उनमें से अधिकांश को वे छोड़दें, वे अपनी प्राचीन प्रतिष्ठा और साम्राज्यवादी शोषण का लाभ खो दें और अमेरिका के सद्भाव पर निर्भर रहकर संसार में पीछे की जगह स्वीकार करे। वे बिना लडे दबनेवाले नही है। इंग्लैण्ड की वर्तमान स्थिति का यही दु:खपूर्ण चित्र है। उसके पुराने बल के सारे श्रोत सूखते जा रहे है और भविष्य अनिवार्य पतन की तरफ सकेत करता हुआ मालूम होता है, मगर पीढ़ियो तक जिस अग्रेज जाति को दूसरो पर हुकूमत करनें की आदत रही है, वह इस तरह की स्थिति को स्वीकार करने के लिये तैयार नही है। वह इसके खिलाफ लड़ रही है और लडेगी।

मैंने तुम्हे आज के ससार की दो मुख्य प्रतिद्वद्वितायें बताई है, क्योकि इनसे घटना-चक्र बहुत कुछ समझ में आ जाता है। अलबत्ता और भी बहुत-सी प्रतिस्पर्धायें है। सारी पूँजीवादी प्रथा का आधार ही प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वन्द्विता पर है।

हाँ, तो मन्दी के कारण घटना-चक्र किस प्रकार घूम रहा है उसीका वर्णन जारी रक्खें। जून १९३० में फ्रासीसियो ने राइनलैण्ड खाली कर दिया। इससे जर्मन लोगो की बडी चिन्ता दूर हुई, लेकिन यह चीज इतनी देर में आई कि उसे सद्भाव का चिन्ह नही समझा गया और मन्दी के अन्धकार के कारण सभी चीजो का रग काला दिखाई देता था। जैसे-जैसे व्यापार की हालत बिगडती गई वैसे-वैसे ऋणी देशों के पास रुपये की कमी होती गई और हर्जाने और कर्ज का चुकाना मुश्किल ही नहीं बल्कि असम्भव होगया। अदायगी की मुश्किल को टालने के लिए राष्ट्रपति हूवर नें एक वर्ष के लिए ऋण वसूल करना स्थगित कर दिया था। कोशिश तो यह की गई कि युद्धऋण के सारे सवाल पर ही फिर से विचार किया जाय। लेकिन संयुक्त-राष्ट्र की कांग्रेस नें यह मजूर नही किया। फ्रास की सरकार भी जर्मनी से युद्ध का हर्जाना वसूल करने के सवाल पर उतनी ही सख्त रही। ब्रिटिश सरकार चूंकि देन-दार भी थी और लेनदार भी थी, इसलिए वह इस बात के पक्ष में थी कि हर्जाने और ऋण दोनो रद करके हिसाब साफ कर दिया जाय।

सब देश अपनें-अपने हिसाब से विचार करते थे। फल यह हुआ कि मिलकर कोई कार्रवाई नहीं हो सकी। १९३१ के बीच में जर्मनी की आर्थिक व्यवस्था टूट गई और बैंकों के दिवाले निकल गये। इससे इंग्लैण्ड में भी संकट पैदा होगया और वह अपना देना नहीं चुका सका। देश का आर्थिक पतन होने की नौबत आगई। इस खतरे का बहाना लेकर मजदूर सरकार को उसीके मुखिया मैकडॉनल्ड ने भंग कर दिया और

से संयुक्तराष्ट्र सबसे मालदार और ताकतवर राष्ट्र होगया और स्वभावत: उसने चाहा कि संसार में जिस पद का वह अपनेआपको हकदार समझता था वह पद यानी प्रमुख पद भविष्य में उसे मिले। आयन्दा वह हर बात में इंग्लैण्ड की ही नहीं चलने देने वाला था। इंग्लैण्ड खुद भी पूरी तरह समझ गया था कि जमाना बदल गया है और उसने अमेरिका की दोस्ती चाहकर अपनेआपको समय के अनुकूल बनानें की कोशिश भी की। उसने तो यहाँतक किया कि अमेरिका को खुश करने लिए जापान के साथ की हुई मित्रता की सन्धि तोड़दी और आगे बढ़कर अमेरिका को खुश करने की कई कार्रवाइयाँ की। लेकिन इंग्लैण्ड अपने विशेष स्वार्थ और स्थिति और खासकर आर्थिक नेतृत्व छोड़ने को तैयार न था क्योंकि इन चीजों के साथ उसकी महानता और उसका साम्राज्य बँधे हुए थे। मगर अमेरिका को ठीक इसी आर्थिक नेतृत्व की जरूरत थी। इसलिए दोनो देशो में संघर्ष लाजिमी होगया। दोनो देशो के साहूकर ऊपर से आपस में बडी मीठी और प्रेम-भरी बाते करते थे, लेकिन दरपरदा अपनी-अपनी सरकारो के बल पर जगत् के आर्थिक और औद्योगिक नेतृत्व रूपी बडे पुरस्कार के लिए लड़ते रहते थे। इस खेल में जीत और तुरप के पत्ते अधिकतर अमेरिका के हाथ में दिखाई दिये, लेकिन दीर्घ अनुभव और क्रीड़ा-कौशल इंग्लैण्ड की तरफ ज्यादा थे।

युद्ध के कर्जे के कारण दोनो राष्ट्रो में कटुता और भी बढ़ गई और इंग्लैण्ड में अमेरिका को यह कहकर गालियाँ दी जानें लगी कि वह तो अपने सेर-भर मास के लिए शायलाक बन रहा है। बात असल में यह थी कि ब्रिटिश सरकार पर अमेरिका का कर्ज गैरसरकारी साहूकारो का दिया हुआ था। इन लोगो ने युद्ध-काल में या तो रुपया दिया था या साख दी थी। संयुक्तराष्ट्र की सरकार ने अपनी ओर से सिर्फ इतमीनान दिलाया था। इसलिए सयुक्तराष्ट्र की सरकार के लिए कर्ज को उड़ा देने का सवाल नही था। अगर वह इंग्लैण्ड को कर्ज माफ कर देती तो इतमीनान दिलाने-वाले की हैसियत से खुद उसको रुपया चुकाना पड़ता। अमेरिका की कांग्रेस को ऐसा कोई कारण नहीं दिखाई दिया कि वह खासतौर पर संकट के समय इस अतिरिक्त जोखम को अपने ऊपर ओढे।

इस तरह इंग्लैण्ड और अमेरिका के आर्थिक स्वार्थों की खीचातानी मुख्तलिफ तरीको पर हुई। आर्थिक स्वार्थ का जोर दूसरे जोरो से बढ़कर होता है। इन दोनो जातियो में बहुत-सी बाते एक-सी है। फिर भी उनमें आजकल भावी युद्ध की सम्भावना की चर्चा होरही है। ऐसे युद्ध में यह कल्पना नही की जा सकती कि इंग्लैण्ड जीत सकेगा, क्योंकि अमेरिका का बल और उसके साधन बहुत बडे है। लेकिन ऐसे युद्ध के सिवाय दूसरा चारा यही दिखाई देता है कि इंग्लैण्ड के विशेष अधिकार

की रकम घटाकर इस आशा से नाममात्र की रख दी गई कि संयुक्तराष्ट्र ऋण में भी ऐसी ही कमी कर देगा। लेकिन संयुक्तराष्ट्र की सरकार ने ऋण और हर्जाने के सवालो को मिलाने से या कर्ज को बट्टेखाते लिखने से इन्कार कर दिया। इससे सारा मामला फिर उलट गया और योरप के लोग अमेरिका से बडे नाराज हुए।

दिसम्बर १९३२ में संयुक्तराष्ट्र को किस्त चुकाने का समय आया। इंग्लैण्ड और फ्रास वगैरा की तरफ से बडे जोर की वकालत हुई, लेकिन अमेरिका टस-से-मस न हुआ। बडी बहस के बाद इंग्लैण्ड ने भुगतान कर दिया। लेकिन यह भी कह दिया कि बस यह आखिरी किस्त है। फ्रास और कुछ दूसरे देशो ने भी रुपया देने से इन्कार कर दिया और दिवालिया होगये। इसके बाद कोई नया समझौता नही हुआ और पिछले मास यानी जून १९३३ में कर्ज की दूसरी किस्त चुकाने का समय आया। फ्रांस ने फिर भुगतान करने से इन्कार कर दिया, लेकिन इंग्लैण्ड के प्रति अमेरिका ने उदारता दिखाई और नाममात्र के लिए थोडा-सा रुपया लेकर बडे सवाल का फैसला आगे के लिए छोड़ दिया। मालूम नही वह फैसला क्या होगा, लेकिन यह बात काफी तौर पर साफ है कि ऋण का बड़ा भाग कभी अदा नही होगा। मामला परिस्थितियो के हाथ में चला गया है और उन्होने कर्ज का सफाया कर दिया है। शायद अमेरिका ने भी सब्र कर लिया है, लेकिन वह कर्जा छोड़ देने के बदले में कुछ विशेष अधिकार या लाभ लेलेना चाहता है।

इस बारे में जब इंग्लैण्ड और फ्रास जैसे बडे-बडे और धनी पूजीवादी देश अपने ऋण से पिण्ड छुड़ाने की कोशिश कर रहे है और अपने-अपने ढग और प्रणाली के मुताबिक ऐसी माँग कर रहे हैं तो यह विचार करना दिलचस्पी से खाली न होगा कि सोवियट ने जब अपना कर्ज चुकानें से इन्कार कर दिया तो उसकी इन्ही देशो ने इतनी तीव्र निन्दा क्यो की ? हिन्दुस्तान में भी जब कॉग्रेस की तरफ से यह कहा गया कि इंग्लैण्ड का हिन्दुस्तान पर जो कर्जा बताया जाता है उसके सारे सवाल पर हमारी निष्पक्ष अदालत विचार करेगी तो सरकारी हलको से 'धर्म डूब गया' की पुकार मचाई गई है। राष्ट्रीय ऋण चुकाने के ऐसे ही सवाल पर आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड में भी गहरा सघर्ष उत्पन्न होगया और उनके बीच व्यापारिक युद्ध अबतक भी चल रहा है।

मैंने बार-बार इंग्लैण्ड के आर्थिक नेतृत्व और उसके लिए अमेरिका की लड़ाई का और अलग-अलग देशो के बैंको के उथल-पुथल और आर्थिक पतन का उल्लेख किया है। तुम पूछती होगी कि इन सब बातो का अर्थ क्या है, क्योकि मुझे इसमें संदेह ही है कि तुम यह सब समझती होगी, शायद तुमको इस विषय में रस न आता हो। लेकिन जब मैं इसके बारे में इतनी सारी बातें कह चुका हूं तो मुझे ऐसा लगता है कि

वह 'राष्ट्रीय सरकार' का नेता बनकर सामने आगया। इस सरकार में प्रधानता अनुदार दल की थी। लेकिन पाउण्ड की रक्षा यह राष्ट्रीय सरकार भी न कर सकी। उसी समय के आसपास वेतन घटाने के सवाल पर अटलांटिक प्रदेश की जलसेना के ब्रिटिश नाविको ने विद्रोह कर दिया। इस शान्त विद्रोह का ब्रिटेन और योरप पर जबरदस्त असर हुआ। रूसी क्रान्ति की स्मृतियाँ और नाविको के विद्रोह की बाते लोगो के दिमाग में ताजा हो आईं और आनेवाले बोलशेविज्म का भय उनके दिलो में भर गया। ब्रिटिश पूंजीपतियो ने विपत्ति आनें से पहले अपनी पूंजी बचा लेने का निर्णय किया और उसे बडे परिमाण में विदेशो में भेज दिया। धनवान लोगो का देश-प्रेम रुपये पर आँच आने की जोखम नहीं उठा सकता।

ज्यो ही ब्रिटिश पूंजी बाहर गई, पाउण्ड की कीमत घट गई और अन्त में २३ सितम्बर १९३१ को इंग्लैण्ड को सोने का विनिमय छोड़ देना पड़ा। यानी उसे अपना सोना बचाने के लिए पाउण्ड को सोने से अलग करना पड़ा। उसके बाद से अब कोई पहले की तरह पाउण्ड के नोटो के बदले में सोना नही माँग सकता।

पाउण्ड की कीमत का इस तरह घट जाना ब्रिटिश साम्राज्य और इंग्लैण्ड की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की दृष्टि से एक बडी भारी घटना थी। इसका अर्थ था कम-से-कम कुछ समय के लिए उसका वह आर्थिक नेतृत्व छोड़ देना जिसके बदौलत रुपये-पैसे के मामले में लन्दन ससार का केन्द्र और मुख्यनगर बन गया था। इस नेतृत्व की रक्षा के लिए १९२५ में इंग्लैण्ड ने अपने उद्योगो को हानि पहुँचाकर भी सोने का विनिमय फिर से ग्रहण कर लिया था और उसे बेकारी, और कोयलो की खानो की हड़तालो का सामना करना पडा था। लेकिन ये सब उपाय बेकार हुए और दूसरे देशो की कार्रवाइयो से पाउण्ड को सोने से अलग होना पड़ा। यह ब्रिटिश साम्राज्य के अन्त होने की शुरुआत का निशान मालूम हुआ और संसार-भर में इसका यही अर्थ लगाया गया। चूंकि यह ऐतिहासिक घटना २३ सितम्बर १९३१ को हुई इसलिए यह तारीख बडी महत्त्वपूर्ण होगई। परन्तु इंग्लैण्ड ठहरा डटकर लड़नेवाला और उसके अधीन निस्सहाय साम्राज्य तो आडे वक्त में काम आने के लिए था ही। हिन्दुस्तान और मिस्र ये दोनो देश पूरी तरह उसके कब्जे में थे। इन दोनो का सोना खींचकर ही अधिकाश में उसने अपना सकट टाल दिया। पाउण्ड के गिरनें से उसके कारखानो को फायदा हुआ, क्योकि वह अपना माल विदेशो में सस्ता बेच सकता था। उसने विलक्षण ढग से अपनी हालत सम्हाल ली। फिर भी युद्ध के हर्जाने और कर्ज की समस्या तो थी ही। यह जाहिर था कि जर्मनी हर्जाना नही चुका सकता और ऐसा करनें से उसने जाब्ते से भी इन्कार कर दिया। अन्त में १९३२ में लाजेन में एक परिषद् हुई। उसमें हर्जाने

सिक्का होता है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का आधार सोना होता है, क्योंकि दुर्लभ धातु के रूप में इसका अपना मूल्य है। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में सोना या तो सिक्के के रूप में दिया जाता है या पासे के रूप में। परन्तु यदि एक देश से दूसरे देश के हरेक भुगतान में सचमुच सोने का ही उपयोग करना पडे तो बडी जबरदस्त दिक्कत होजाय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास ही न होने पाय। इसके सिवा ससार-भर के सोने की वास्तविक मात्रा से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की कीमत या मात्रा भी सीमित होजाय, क्योंकि जब यह सीमा आ पहुँचे और भुगतान के लिए सोना और मिले नहीं तो उस वक्त तक विदेशी व्यापार का आगे लेन-देन ही नहीं हो सकता जबतक कि कुछ सोना छुट्टा होकर वापस न आजावे।

परन्तु बात ऐसी नही है। १९२९ में ससारभर में सारा सोने का सिक्का ११ अरब डालर था। उसी वर्ष में, जो माल एक देश से दूसरे देश को भेजा गया उस सबकी कीमत ३२ अरब डालर थी। ४ अरब का विदेशी ऋण भी था और ४ अरब के ही करीब का दूसरा विदेशी भुगतान था। इसमें यात्रियो का खर्चा, जहाज का भाडा और प्रवासियो द्वारा घर भेजा हुआ रुपया सब शामिल था। इस तरह सब मिलाकर राष्ट्रीय भुगतानो की कीमत लगभग ४० अरब डालर हुई। यह सोने के सिक्को से करीब-करीब चौगुना है।

तो फिर विदेशो का भुगतान किस तरह किया जाता है? जाहिर है कि सब-का-सब भुगतान सोने के रूप में तो नही किया जा सकता। आमतौर पर भुगतान एक प्रकार के सहायक रुपये या चैक और हुण्डी आदि पुर्जो के रूप में किया जाता है। ये पुर्जे व्यापारी अपने ऋण की रसीद के रूप में विदेशो को भेजते हैं। यह काम-काज विदेशी हुण्डियो के विनिमय का काम करनेवाले बैंको के जरिये होता है। विनिमय के ये बैंक भिन्न-भिन्न देशो के लेवा-बेची करनेवाले लोगो के सम्पर्क में रहते हैं और उनके पास जो हुण्डियाँ आती हैं उनके द्वारा लेन-देन का जमा-खर्च करते रहते हैं। यदि किसी समय बैंक के पास हुण्डियो का अभाव होजाय तो वह उसकी पूर्ति सरकारी बॉण्ड या कर्ज या अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियो के हिस्सो आदि के रूप में प्रसिद्ध सरकारी कागज से कर लेते हैं। ये हिस्से तार द्वारा बेचे या दूसरो को दिलाये जा सकते हैं और इस प्रकार दूसरे देशो में भुगतान तुरन्त किया जा सकता है।

इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भुगतान केन्द्रीय विनिमय बैंको के द्वारा व्यापारी या सरकारी कागज के रूप में यानी हुण्डियो और सिक्योरिटी आदि के रूप में होता है। इन बैंको को रोजमर्रा की व्यापारिक आवश्यकताओ के लिए इन दोनो तरह के कागजो का यानी हुण्डियो और सिक्योरिटियो का ढेर हमेशा अपने पास रखना

थोडे और विस्तार से समझाने का प्रयत्न करूँ। हमें रस आवे या न आवे, इन आर्थिक घटनाओ का राष्ट्रीय और व्यक्तिगत दोनो ही दृष्टियो से हमपर खूब परिणाम होता है। और इसलिए जिन बातो से हमारा वर्तमान और भविष्य बनता-बिगडता है उन्हे समझ लेना ही अच्छा है। बहुत-से लोगो पर पूंजीवादी ससार की आर्थिक व्यवस्था की रहस्यमयी कार्य-प्रणाली की ऐसी छाप पड़ती है कि वे इसे बडे भय और आदर्श की दृष्टि से देखने लगते है। उन्हे यह इतनी पेचीदा, नाजुक और जटिल मालूम होती है कि वे इसे समझने की भी कोशिश नही करते और इसलिए इसे वे विशेषज्ञो, साहूकारो और ऐसे ही लोगो के लिए छोड़ देते है। यह पेचीदा और जटिल तो बेशक है और यह आवश्यक नही कि जो चीज जटिल है वह अच्छी भी हो ही, परन्तु फिर भी हमें वर्तमान ससार को समझना हो तो इस आर्थिक प्रणाली का भी कुछ ज्ञान होना चाहिए। मै तुम्हे सारी प्रणाली समझाने की कोशिश नही करूँगा। यह मेरे बूते की बात भी नहीं है। क्योंकि मै इसका कोई विशेषज्ञ नहीं हूँ, मै तो इसका एक विद्यार्थी मात्र हूं। और इसलिए तुम्हे थोडी-सी बातें बता भर दूगा। मुझे आशा है कि इनकी मदद से तुम संसार की कुछ घटनाओ और अखबारो की खबरे समझ सकोगी। इस कार्य में मुझे फ़ासिस डिलायजी नामक फ़ास के एक योग्य अर्थशास्त्री के अत्यन्त स्पष्ट वर्णन पर आधार रखना पडेगा। फ्रेंच लोग वडे साफ दिमाग और जाग्रत बुद्धि के होते है। अंग्रेजो में यह बात नहीं है; उन्हे तो अपने 'दिमागी घपलेपन' और तर्कहीनता पर ही नाज है। मुझे शायद जो कुछ मै कह चुका हूँ उसीका बहुत-कुछ हिस्सा दोहराना पडेगा। परन्तु तुम्हे समझनें में मदद मिले तो उसकी परवा न करना। याद रखना इसका नाम पूंजीवादी प्रणाली है। इसमें हिस्सेदारी की व्यक्तिगत कम्पनियाँ होती है, गैरसरकारी बैंक होते है और शेयर बाजार होते है, जहाँ शेयर यानी हिस्से खरीदे और बेचे जाते है। सोविय़ट संघ में आर्थिक और औद्योगिक प्रणाली बिलकुल दूसरी तरह की है। वहाँ ऐसी कम्पनियाँ, खानगी बैंक या शेयर बाजार नहीं होते। वहाँ करीब-करीब सब चीजो की मालिक सरकार है और उसीका उनपर नियन्त्रण है और विदेशी व्यापार असल में तबादले के ढंग पर है।

तुम जानती हो कि प्रत्येक देश का भीतरी व्यवसाय करीब-करीब सारा चैको के जरिये और उससे कम बैंक-नोटो के द्वारा होता है। सोना और चाँदी तो छोटी-मोटी खरीदारी के सिवाय क्वचित् ही काम में लाये जाते है (सोना तो असल में मिलता ही कम है)। यह कागजी रुपया साख की निशानी होता है और जबतक लोगो का नोट जारी करनेवाले बैको या देश की सरकार में विश्वस होता है तबतक इससे नकद रुपये का काम निकलता रहता है। लेकिन इस कागजी रुपये से एक देश से दूसरे देश को रुपया चुकाने का काम नही निकलता। क्योकि हरेक देश का अपना-अपना राष्ट्रीय

सकता है जब हुण्डियो का कोई ऐसा केन्द्रीय बाजार हो जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय होता हो। ऐसा बाजार उसी देश में हो सकता है जहाँ नीचे लिखी तीन सुविधायें हो—

१. उसका विदेशी व्यापार इतना फैला हुआ और मुख्तलिफ किस्म का होना चाहिए कि उसके पास सब तरह की हुण्डियो की बहुतायत रहे।

२. वहाँ हर तरह के सरकारी कागज मिल सके, यानी वह पूंजी का सबसे बड़ा बाजार हो।

३ उसका सोने की भी सबसे बडी मण्डी होना आवश्यक है, ताकि हुण्डी और सरकारी कागज दोनो के न मिलने की हालत में सोना आसानी से मिल सके।

सारी १९ वी सदी में इग्लैण्ड ही ऐसा देश था जहाँ ये तीनो शर्ते पूरी होती थी। चूकि वह उद्योग के क्षेत्र में सबसे पहले उतरा था और एक विशाल साम्राज्य पर उसका एकाधिकार था, इसलिए ससार में उसका विदेशी व्यापार सबसे अधिक हो गया था। उसने अपने बढते हुए उद्योग पर अपनी खेती का बलिदान कर दिया। उसके जहाज हर बन्दरगाह से व्यापार का माल और हुण्डियाँ ले जाते थे। इस महान् औद्योगिक विकास के कारण वह स्वभावत पूंजी का सबसे बडा बाजार बनगया और उसके पास सब तरह के विदेशी सरकारी पुर्जो का ढेर लग गया। दूसरा सहायक कारण उसके लिए यह हुआ कि ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर --यानी दक्षिण अफरीका, आस्ट्रे-लिया, कनाडा और हिन्दुस्तान में--दुनिया का दो-तिहाई सोना निकलता था। इन सोने की खानो का माल लन्दन में फौरन बिक जाता था। बैंक ऑफ इग्लैंण्ड इनका निकला हुआ सारा सोना एक बँधे हुए भाव पर खरीद लेता था।

इस तरह लन्दन हुडियो, सरकारी कागजो और सोने की प्रधान मण्डी बन गया। वह ससार की आर्थिक राजधानी होगया। जिस किसी सरकार या साहूकार को विदेश से हिसाब करने की जरूरत हुई और अपनें देश में इसका साधन न मिला, तो वह लन्दन चला जाता और वहाँ उसे हर तरह का व्यापारिक और आर्थिक कागज तथा सोना मिल जाता। पाउण्ड के नोट व्यापार के ठोस चिन्ह बन गये। अगर डेन-मार्क या स्वीडन को दक्षिण अमेरिका से कुछ खरीद करने की जरूरत हुई तो सौदा पाउण्ड के नोटो में हो जाता था, भले ही माल कभी लन्दन न आये।

इग्लैंण्ड को इस धन्धे से बड़ा भारी मुनाफा था, क्योकि सारी दुनिया का काम उससे निकलता था और उसके बदले में दुनिया उसे कुछ-न-कुछ कर देती थी। इससे प्रत्यक्ष लाभ तो था ही। साथ ही विदेशी व्यापारी भावी भुगतान के लिए अंग्रेजी बैंको में रुपया जमा रखते थे। इस अमानत को ये बैंक दूसरे लोगो को थोडे-थोडे समय के लिए उधार देकर फ़ायदा उठाते थे। अग्रेजी बैंको को विदेशी कारख़ानेदारो के धन्धे

पडता है। वे प्रति सप्ताह सूचियाँ प्रकाशित करके बताते रहते है कि उनके पास कितना सोना और कितना विदेशी पुर्जा है। साधारणत' विदेशी भुगतान के लिए सोना कभी बाहर नही भेजा जाता। परन्तु जब कभी ऐसा होता है कि और किसी तरह से भुगतान करने की अपेक्षा सचमुच सोना भेजना सस्ता पडता है तब साहूकार लोग सुवर्ण-धातु भेजते है।

सोने के विनिमय वाले देशो में राष्ट्रीय सिक्के का मूल्य सोने की शक्ल में मुकर्रर होता है और वहाँ उसके बदले में कोई भी सोना माँग सकता है। इसलिए ये सिक्के प्राय स्थिर रहते है और उनका आपस में विनिमय होसकता है, क्योकि उनके बदले में सोना मिल सकता है। उनकी कीमत में कमी-बेशी होसकती है तो वह एक देश से दूसरे देश में सुवर्ण-धातु भेजने के खर्च की वजह से ही होसकती है, क्योकि अपने देश में कीमत ज्यादा हुई तो व्यवसायी दूसरे देश से आसानी से सोना मॅंगवा सकता है। सोने के विनिमय की प्रणाली यही है। इस प्रणाली में अलग-अलग राष्ट्रो के सिक्के स्थिर होते है और १९ वीं सदी से ठेठ महायुद्ध के समय तक इस प्रणाली के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ता गया। आज यह प्रणाली टूट गई है और इसीलिए रुपये का व्यवहार बड़ा विचित्र होगया है और अधिकाश राष्ट्रो का सिक्का अस्थिर बन गया है।

मोटे हिसाब से हर देश का आयात और निर्यात का व्यापार बराबर-सा होता है। दूसरे शब्दो में कहे तो, एक देश जो माल मॅंगाता है उसकी कीमत वह उस माल के रूप में चुकाता है जो वह बाहर भेजता है। परन्तु यह बात बिलकुल सही नही है और अक्सर एक-न-एक तरफ थोड़ा-बहुत रुपया बाकी निकलता है। जब जावक से आवक का मूल्य अधिक होता है तो वह देना-बाकी (Advance Balance) कहलाता है और उस देश को हिसाब पूरा करने के लिए कुछ भुगतान और ऊपर से करना पड़ता है। भिन्न-भिन्न देशो के बीच में माल का आवागमन नियमित रूप से हर्गिज नही होता, वह बहुत बार बदलता रहता है। उसमें उतार-चढाव आते है और प्रत्येक परिवर्तन के साथ हुण्डियो की माँग और उनका भुगतान बदलता रहता है। अक्सर ऐसा भी होता है कि किसी देश के पास ऐसी हुण्डियाँ तो बहुत होती है जिनकी उसे उस समय जरूरत नहीं होती और ऐसी हुण्डियाँ उसके पास काफी नहीं होतीं जिनकी उसे आवश्यकता हो। मसलन फ्रास के पास जर्मनी पर जर्मनी के सिक्के मार्क में की हुई हुण्डियाँ तो काफी से ज्यादा हो, परन्तु ऐसी हुण्डियाँ काफी न हो जिनसे वह अमेरिका के साथ डालर के रूप में हिसाब तय कर सके, तो ऐसी हालत में फ्रास जर्मनी की हुण्डियो को बेचकर उनके बदले में संयुक्तराष्ट्र पर डालर की हुण्डियाँ खरीदना चाहेगा। ऐसा वह तभी कर

उस देश का जितना हाल उसे मालूम होता उतना वहाँकी सरकार को भी नही होता था। जिन सरकारी कागजो में किसी विदेशी सरकार का हिताहित होता उन्हे खरीदनें और बेचने के छोटे-छोटे दाव-पेचो से या थोडी मुद्दत के लिए खास ढग से कर्ज देकर उस विदेशी सरकार की राजनैतिक नीति पर दबाव डाला जा सकता था। इसे ऊँचा अर्थ-प्रबन्ध (High Finance) कहते हैं। साम्राज्यवादी राष्ट्रो के हाथ में दबाव डालने के जो साधन पहले भी थे और अब भी हैं उनमें यह साधन निहायत कारगर है।

महायुद्ध के पहले यह परिस्थिति थी। लन्दन नगर ब्रिटिश साम्राज्य के बल और वैभव का केन्द्र और चिन्ह था। महायुद्ध के कारण अनेक परिवर्तन हुए और पुरानी व्यवस्था उलट गई। लन्दन यानी इग्लैण्ड को विजय तो प्राप्त हुई, मगर उसकी कीमत बहुत महँगी चुकानी पडी।

लडाई के बाद क्या हुआ, यह अगले खत में बताऊँगा।

: १८७ :

डालर, पाउण्ड और रुपया

२७ जुलाई, १९३३

महायुद्ध नें दुनिया के तीन टुकडे कर दिये। दो टुकडे तो दोनो तरफ लड़नेवाले राष्ट्रो के हुए और तीसरे में तटस्थ देश रहे। लड़नेवाले प्रदेशो में परस्पर कोई व्यापार या सम्पर्क बाकी न रहा। हाँ, एक-दूसरे की जासूसी करने का खुफिया काम चलता ही रहा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पूरी तरह चौपट होगया। समुद्र पर कब्जा होनें के कारण इंग्लैण्ड, फ़ास और दूसरे मित्र-राष्ट्र तटस्थ और पराधीन देशो के साथ थोड़ा व्यापार जारी रख सके; लेकिन जर्मन पनडुब्बियो के मारे वह भी महदूद होगया था। लड़नेवाले राष्ट्रो के सारे साधन लड़ाई में लग गये और बेशुमार रुपया खर्च हुआ। क़रीब १½ वर्ष तक इग्लैण्ड और फ्रास अपने गरीब साथियो को रुपया देते रहे और खुद अपने ही प्रजाजनो और अमेरिका से उधार लेते रहे। इसके बाद फ़ास तो थक गया और दूसरो को मदद न दे सका। इंग्लैण्ड १½ साल तक और बोझा उठाता रहा। मार्च १९१७ में उसकी भी थककर बैठ रहने की बारी आगई। उस वक्त वह सयुक्त-राष्ट्र को ५ करोड़ पाउण्ड की चढ़ी हुई किस्त नही चुका सका। इस नाजुक अवसर पर जब और किसी के पास भी आर्थिक साधन शेष नहीं रहे, इग्लैण्ड, फ़ास और उनके मित्रो के सौभाग्य से, अमेरिका उनकी तरफ लड़ाई में शामिल होगया। उस वक्त से

का सब हाल भी मालूम होजाता था। उनके हाथो में होकर जो हुण्डियां गुज़रती थीं उनसे जर्मन या दूसरे विदेशी व्यापारियो द्वारा लगाये हुए भावो का और विदेशो में उनके ग्राहको के नामो तक का अंग्रेज़ी बैंको को पता चल जाता था। ब्रिटिश उद्योग के लिए यह जानकारी बहुत उपयोगी थी, क्योंकि इससे उसे अपने विदेशी प्रतिद्वन्द्वियो को मात देने में सामर्थ्य मिलता था।

इस अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय को बढ़ानें और मज़बूत करने के लिए अंग्रेज़ी बैंको ने दुनियाभर में शाखायें और आढ़ते खोल दीं। विदेशो को ब्रिटिश उद्योग के प्रभाव में लाने के काम में तो ये बैंक मदद देते ही थे। ब्रिटिश दृष्टिकोण से ये एक और भी बडी उपयोगी सेवा करते थे। ये पूछताछ करते रहते थे और सभी बडी-बडी स्थानीय दूकानो और व्यवसायो के बारे में लिखित सामग्री रखते थे। इससे जब कभी कोई स्थानीय दूकान हुण्डी करती थी तो वहाँका ब्रिटिश बैंक या आढ़तिया उस हुण्डी का मूल्य जानता था और अगर वह उसमें कोई जोखम नहीं समझता तो उसपर अपनी साख दे सकता था। इसे 'सिकारना' कहते है, क्योंकि बैंक उस हुण्डी पर 'स्वीकार किया' यह शब्द लिख देता है। ज्योंहीं बैंक ने इसके सिकरने की गारण्टी दी कि हुण्डी आसानी से बेची या दूसरे के नाम की जा सकती थी, क्योंकि उसकी पीठ पर बैंक की साख होती थी। ऐसी गारण्टी के बिना एक अनजान विदेशी दूकान की हुण्डी को लन्दन जैसे या और कहीं के दूर के बाज़ार में ख़रीदनेवाला नहीं मिल सकता, क्योंकि उस दूकान को कोई जानता न था। बैंक हुण्डी को सिकार कर जोखम तो उठाता था; परन्तु वह ऐसा करता था अपनी स्थानीय शाखा द्वारा पूरी जाँच करवाने के बाद ही। इस तरह सिकारने की इस प्रथा ने हुण्डियो के लेन-देन और साधारणत. सारे व्यवसाय के लिए ही सुविधा करदी, और साथ ही दुनिया के व्यापार पर लन्दन नगर का पजा भी मज़बूत बना दिया। दूसरे किसी देश की ऐसी स्थिति नही थी कि वह किसी बडे पैमाने पर यह सिकारने का काम कर सके, क्योंकि विदेशो में उसकी शाखायें थोडी थीं।

इस तरह १०० से भी अधिक वर्ष तक लन्दन ससार की आर्थिक राजधानी रहा और अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था और व्यापार की बागडोर उसके हाथो में रही। रुपया तो वहाँ बहुत था ही और इस कारण सस्ती शर्तो पर मिल भी सकता था। इससे सारे साहूकार उधर आकर्षित होते थे। बैंक ऑफ इंग्लैण्ड के गवर्नर के पास दुनिया के चारो कोनो से व्यापार और अर्थ-प्रबन्ध की रत्ती-रत्ती ख़बरे आती थीं और वह अपने बहीखातो और कागज़ो पर एक नज़र डालकर बता सकता था कि किस देश की आर्थिक व्यवस्था कैसी है। असल में कभी-कभी तो ऐसा होता था कि

कोई साधन नही था, और हुण्डियो का ब्रिटिश बैंको के जरिये लन्दन पहुँच जाना स्वाभाविक था। इस कठिनाई का सामना करने के लिए अमेरिकन बैंको नें झटपट विदेशो में शाखायें और आढ़ते खोलना शुरू कर दिया, और कई मुकामो पर बढ़िया इमारते खडी होगई। लेकिन एक कठिनाई और थी। 'सिकारनें' का काम ऐसे सधे हुए आदमी ही कर सकते थे, जिन्हे मुकामी हालात और स्थानीय व्यवसाय के बारे में पूरी जानकारी हो। ब्रिटिश बैंको ने सौ वर्ष तक प्रगति करके ऐसे आदमी तैयार कर लिये थे। इस बारे में जल्दी उनकी बराबरी करना आसान नही था।

तब अमेरिका वाले लन्दन के विरोध में कुछ फ्रेंच, स्विच और डच बैंको से मिल गयें। मगर इसमें बहुत कामयाबी नहीं मिली। फ्रास बड़ा धनी देश है और वह बहुत-सी पूंजी भी बाहर भेजता है, परन्तु उसने विदेशी हुण्डियो का लेन-देन संगठित करने की तरफ कभी ध्यान नही दिया था। इस तरह न्यूयार्क और लन्दन में रस्साकशी चलती रही और सारी बातो को देखते हुए लन्दन का कुछ बिगडा नही। १९२४ में न्यूयार्क के पक्ष में एक नई बात पैदा होगई। बहुत-से नोट छाप-छापकर निकालने के बाद जर्मन मार्क की कीमत स्थिर करदी गई और नोटो के छापने के समय जो जर्मन पूंजी स्वीजरलैण्ड और हालैण्ड में चली गई थी (जोखम या खतरे के समय पूंजी हमेशा इसी तरह बाहर चली जाती है) वह जर्मन बैंको में लौट आई। अमेरिका के आर्थिक गुट में जर्मनी के शामिल होजाने से लन्दन की स्थिति बहुत बदल गई थी, क्योकि अब लन्दन की सहायता के बिना ही अमेरिका की हुण्डियो के बदले में योरप की हुण्डियाँ मनचाही मिल सकती थीं। और लन्दन का सिक्का आज भी अस्थिर है, यानी सोने के रूप में पाउण्ड की कोई बँधी हुई कीमत नही है। वह सोने के विनिमय से अलग होगया।

अब तो लन्दन नगर के धनकुबेर घबराये। उन्होने देखा, अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के व्यवसाय की सारी मलाई तो न्यूयार्क और उसके यूरोपियन साथियो के हाथ में चली जा रही है और लन्दन के हिस्से में सिर्फ जूठन बाकी रह जाती है। इस हालत को रोकने के लिए पहला काम करने का यह था कि सोने के साथ पाउण्ड को फिर बाँध दिया जाय। इससे विनिमय का फिर से अच्छा व्यवसाय आने लगेगा। इसलिए १९२५ में पाउण्ड की पुराने हिसाब से कीमत स्थिर करदी गई। अंग्रेज साहूकारो की इसमें बडी विजय थी, क्योकि पाउण्ड की कीमत बढ़ जाने का अर्थ था उनकी आमदनी का बढ जाना। लेकिन अंग्रेजी उद्योग के लिए यह बुरा हुआ, क्योकि इससे विदेशो में अंग्रेजी माल का भाव बढ़ गया और कारखानेदारो को अमेरिका, जर्मनी और दूसरे औद्योगिक देशो के साथ विदेशी बाजार में स्पर्धा करने में बडी मुश्किल होने लगी। परन्तु इंग्लैण्ड ने जान-बूझकर अपनी साहूकारी प्रथा, या यो कहो कि संसार के

लगाकर सयुक्तराष्ट्र सारे मित्र-राष्ट्रो को लडाई के लिए रुपया देता रहा। उसने अपने प्रजाजनो से 'स्वाधीनता' और 'विजय' ऋणो के नाम से भारी कर्ज लिया और खुद भी खूब खर्च किया और मित्र-राष्ट्रो को भी उधार दिया। जैसा कि मै बता चुका हूँ, नतीजा यह हुआ कि जब युद्ध बन्द हुआ तो सयुक्तराष्ट्र दुनियाभर का साहूकार था और सारे राष्ट्र उसके कर्जदार थे। लडाई के शुरू में अमेरिका की सरकार पर योरप का ५ अरब डालर का ऋण था। लड़ाई के अन्त में अमेरिका का योरप पर १० अरब डॉलर का कर्ज होगया।

युद्ध के जमाने में अमेरिका को सिर्फ इतना ही आर्थिक लाभ नही हुआ। साथ ही उसका विदेशी व्यापार बढ गया और इग्लैण्ड और जर्मनी का घट गया। अमेरिका का विदेशी व्यापार ब्रिटिश व्यापार के बराबर होगया। संयुक्तराष्ट्र के पास ससार का दो-तिहाई सोना और बहुत-से विदेशी सरकारो के हिस्से और बॉण्ड भी इकट्ठे होगये।

इस तरह सयुक्तराष्ट्र की माली हालत सबसे अच्छी होगई। वह अपने कर्ज के भुगतान की माँग-भर करके अपने किसी भी ऋणी देश को दिवालिया बना सकता था। इसलिए उसे इस बात पर ईर्षा होना स्वाभाविक था कि दुनिया की आर्थिक राजधानी होने का प्राचीन पद लन्दन के पास क्यो रहे। वह चाहता था कि यह पद उसे मिले। वह चाहता था कि न्यूयार्क ससार का सबसे धनी शहर है, इसलिए लन्दन का स्थान उसे मिले। इस तरह न्यूयार्क और लन्दन के साहूकारो और धन-कुबेरो में भयकर सघर्ष शुरू हुआ और उनकी पीठ पर उनकी सरकारें थीं।

अमेरिका का दबाव पडा तो अंग्रेजी पाउण्ड हिल गया। बैंक आफ् इग्लैण्ड अपने सिक्के पर सोना नहीं दे सका और पाउण्ड के नोट का सोने के विनिमय से सम्बन्ध नही रहा। इसलिए उसकी कीमत बदलने और घटने लगी। फ्रास के फ्राक का भी भाव गिर गया। ऐसा मालूम होता था कि सारी दुनिया अस्थिर होगई है और उसमें अकेला अमेरिका का डालर चट्टान की तरह स्थिर होकर खड़ा है।

यह समझा जा सकता है कि इन अवस्थाओ में रुपये का व्यवसाय और सोना लन्दन से मुंह मोड़कर न्यूयार्क चला गया होगा। मगर आश्चर्य की बात देखो कि ऐसा नही हुआ और विदेशी हुण्डियाँ और खानो का सोना अब भी लन्दन जाता रहा। इसका यह कारण नही था कि लोग डालर से पाउण्ड को ज्यादा चाहते थे, बल्कि सबब यह था कि डालर आसानी से मिलता नही था। तुम्हे याद होगा, मै बता चुका हूँ कि 'सिकारने' की प्रथा के अनुसार ब्रिटिश बैंक अपनी शाखाओ और आढतो के जरिये दुनिया-भर में काम करते थे। अमेरिका के बैंको की ऐसी शाखायें या विदेशी आढते नही थी और इसलिए उनके पास 'सिकार कर' विदेशी हुण्डियाँ प्राप्त करने का

योरप यानी डैन्यूब और बालकन प्रदेशो के बैंको के साथ भी सम्बन्ध जोड़ लिया। न्यूयार्क भी वहाँ थोड़ा-बहुत काम-काज करता रहा। इस समय लोग दौलत के लिए पागल हो रहे थे। लन्दन और न्यूयार्क की स्पर्धा के कारण रुपया योरप में बहा आ रहा था, और लखपतियो और करोडपतियो की तादाद अजीब तेज़ी के साथ बढ़ रही थी। इसका उपाय भी लोगो ने सीधा-सा ढूँढ लिया था। कोई साहसी आदमी इनमें से किसी देश में रेलवे या कोई और सार्वजनिक हित का काम करने के लिए रिआयत हासिल कर लेता, या दियासलाइयां बनाने और बेचने या इसी तरह का कोई ठेका ले लेता। इस रिआयत या ठेके का काम करनें के लिए कम्पनी बन जाती और वह अपने हिस्से निकालती। इन हिस्सो के आधार पर न्यूयार्क और लन्दन के बडे-बडे बैंक धन उधार दे देते। साहूकार न्यूयार्क में दो फीसदी के ब्याज पर डालर के रूप में रकम उधार लेलेते और फिर उसी रकम को र्बालिन में ६ फ़ीसदी पर और वियेना में ८ फीसदी पर उधार देदेते। इस तरह चालाकी से दूसरे लोगो का धन इधर-उधर करके ये साहूकार बहुत धनवान होगये। इनमें से इवर क्रूगर नामक एक स्वीडन-निवासी बड़ा मशहूर था। उसके पास दियासलाइयो के ठेके थे, इसलिए वह दियासलाई का राजा कहलाता था। किसी समय क्रूगर की बडी भारी प्रतिष्ठा थी। परन्तु अब यह साबित होगया है कि वह पूरा ठग था और उसने बेशुमार रुपया गबन किया था। जब वह पकड़ा ही जानेवाला था तब, बरस दो बरस हुए, उसनें आत्महत्या करली। उस समय के और भी कई मशहूर साहूकार अपने गन्दे तरीक़ो के कारण आफ़त में फँस गये।

इंग्लैण्ड और अमेरिका की मध्य और पूर्वीय योरप में जो स्पर्धा हुई, उससे एक लाभ हुआ। १९२९ में मन्दी शुरू हुई, उससे पहले के सालो में योरप में इस स्पर्धा के कारण दौलत की नदियाँ बह गई इससे वहाँ की हालत बहुत सम्भल गई।

इस बीच, १९२६ और १९२७ में, फ़्रांस ने भी बहुत नोट छाप डाले थे और फ़्राक की कीमत बहुत घट गई थी। जब फ़्राक का भाव गिरा तो धनवाले फ़्रांसीसियो नें—और धन तो फ़्रांस के सभी छोटे-छोटे अमीर भी बचाकर रखते है—नुक़सान के डर से अपना धन बाहर भेज दिया। उन्होनें विदेशी सरकारी कागज और हुण्डियो के ढेर-के-ढेर खरीद लिये। १९२७ में फ़्राक की कीमत फिर स्थिर होगई और उसका भाव सोने के साथ बाँध दिया गया। मगर उसकी कीमत पहले से $\frac{1}{5}$ रह गई। अब फ़्रांस के जिन लोगो के पास विदेशी पुर्जे थे उन्हे उनको फ़्रांक में बदल लेने की बडी उत्सुकता हुई। उनका व्यापार अच्छा चेता, क्योकि उन्हें अब मूल से पँचगुनें फ़्राक मिल रहे थे। इस तरह नोटो के छपने से उन्हे जरा भी हानि नहीं हुई। अगर वे आरम्भ से ही फ़्रांक

विनिमय के बाजार में अपनी आर्थिक प्रभुता, कायम रखने के लिए कुछ हदतक अपने उद्योगों का बलिदान कर दिया। पाउण्ड की प्रतिष्ठा एकदम बढ गई, परन्तु तुम्हे याद होगा कि उसके बाद इग्लैण्ड में घरेलू झगडे पैदा होगये। इनका एक कारण उद्योग को आघात पहुँचना भी था। बेकारी फैल गई और लम्बे समय तक कोयले की खानो में आम हडताल भी रही।

पाउण्ड का मूल्य स्थिर होगया परन्तु इतने से ही काम नहीं चल सकता था। अमेरिका ब्रिटिश सरकार से एक बडी भारी रकम खाते-पेटे या हाथ-उधार की मांगता था। इसे वह किसी भी समय वापस ले सकता था। इस तरह की माँग करके अमेरिका इग्लैण्ड की स्थिति बहुत ही विकट बना और पाउण्ड का भाव गिरा सकता था, इसलिए बडे-बडे ब्रिटिश राजनीतिज्ञ, जिनमें स्टेनली बाल्डविन भी थे, दौडे-दौडे न्यूयार्क पहुँचे। वे किस्तो के रूप में युद्ध-ऋण के भुगतान के बारे में अमेरिका से शर्तें तय करना चाहते थे। अमेरिका के ऋणी सभी यूरोपियन देश थे और उनके लिए उचित मार्ग यही था कि वे आपस में सलाह करके फिर अच्छी-से-अच्छी शर्तें प्राप्त करने के लिए अमेरिका के पास जाते। परन्तु ब्रिटिश सरकार को पाउण्ड को बचाने और लन्दन का आर्थिक नेतृत्व कायम रखने की इतनी चिन्ता हुई कि उसे फ्रास या इटली के साथ मशविरा करने का वक्त भी नही मिला और वह किसी भी भाव जल्दी-से-जल्दी अमेरिका के साथ कोई प्रबन्ध कर लेना चाहती थी। प्रबन्ध तो होगया, मगर हुआ भारी कीमत देकर। अमेरिका की सरकार ने जो कडी-कडी शर्तें रक्खीं वे सब उसे माननी पडी। बाद में फ्रास और इटली का समझौता, अपने कर्ज के बारे में अमेरिका के साथ कहीं अच्छी शर्तों पर हुआ।

इन कठोर प्रयत्नो और कुर्बानियो से पाउण्ड और लन्दन नगर की रक्षा होगई। परन्तु दुनिया के सभी बाजारो में न्यूयार्क के साथ तनातनी जारी रही। धन की बहुतायत होने के कारण न्यूयार्क ने थोडे व्याज पर लम्बी मियाद के कर्जे देना शुरू किया, और अनेक देश जो पहले लन्दन के बाजार में उधार लिया करते थे अब न्यूयार्क के प्रलोभन में फँस गये। इन देशो में कनाडा, दक्षिण अफरीका और आस्ट्रेलिया शामिल थे। न्यूयार्क की बराबरी इन लम्बी मियाद के कर्जों में लन्दन नहीं कर सकता था; इसलिए उसने मध्य-योरप के बैंको को छोटी मियाद के कर्ज देने की कोशिश की। छोटी मियाद के कर्जो में साहूकार के अनुभव और उसकी प्रतिष्ठा का महत्व अधिक होता है।

यह बात लन्दन के हक में थी। इसलिए लन्दन के बैंको ने वियेना के बैंको के साथ गहरे सम्बन्ध स्थापित कर लिये और उनके जरिये मध्य और दक्षिण-पूर्वीय

नतीजा यह हुआ कि अंग्रेजों का बहुत-सा धन जो जर्मनी को थोडी मियाद के कर्ज के रूप में दिया गया था, वहीं बन्द होगया। लन्दन के साहूकारो की स्थिति बिकट होगई, क्योंकि उनके सिर पर भी देना था और वे जर्मनी से रकम मिलने पर आशा लगाये बैठे थे। फ्रास और अमेरिका नें १३ करोड़ पाउण्ड उधार देकर उनकी मदद की, मगर यह मदद वक्त निकल जानें पर पहुँची। लन्दन के आर्थिक हलको में घबराहट फैल गई। ऐसी घबराहट के अवसर पर सब लोग अपनी-अपनी रकम निकाल लेना चाहते हैं। इसलिए १३ करोड़ पाउण्ड बात-की-बात में साफ होगये। यह न भूलना कि उस समय पाउण्ड सोने के विनिमय से बँधा हुआ था और कोई भी पाउण्ड के नोट के बदले में सोना माँग सकता था।

उस समय ब्रिटेन में मजदूर सरकार थी। उसने और धन उधार लेना चाहा और चिन्तित होकर न्यूयार्क और पेरिस के साहूकारो से माँगा। मालूम होता है, उन्होने कुछ शर्तो पर मदद करना स्वीकार कर लिया। एक शर्त यह थी कि ब्रिटिश सरकार को मजदूरो और सामाजिक सेवा-सम्बन्धी कामो में किफायत करनी चाहिए। शायद मजदूरी और वेतन घटाने की बात भी सुझाई गई थी। यह ब्रिटेन के घरू मामलो में विदेशी साहूकारो का दखल देना हुआ। मजदूर सरकार के विरोधियो ने इस स्थिति से अनुचित लाभ उठाया। उस सरकार के मुखिया और प्रधान मन्त्री रैमजे मैक्डानल्ड नें सरकार और अपने दल दोनो को धोखा दिया और मुख्यतः अनुदार दल की सहायता से उसने दूसरी सरकार बना ली। यह 'राष्ट्रीय सरकार' कहलाई। यह संकट-निवारण के लिए ही बनी थी। योरप के मजदूर-आन्दोलन के इतिहास में रैमजे मैकडानल्ड का यह काम बे-वफाई का बडे मार्के का उदाहरण था।

राष्ट्रीय सरकार पाउण्ड की रक्षा के लिए बनी थी। वचन के अनुसार फ्रास और अमेरिका से उसे ऋण भी मिल गया। परन्तु उसकी सहायता से भी पाउण्ड की रक्षा न हो सकी। २३ सितम्बर १९३१ को सरकार को सोने का विनिमय छोड़ना पड़ा और पाउण्ड फिर अस्थिर सिक्का बन गया। पाउण्ड का भाव तेजी से गिरने लगा और लगभग १४ शिलिंग सोने के बराबर रहगया। यानी मोटे हिसाब से उसकी कीमत पहले से दो-तिहाई होगई।

इस घटना और तारीख का संसार में बड़ा असर हुआ। योरप नें इसे ब्रिटिश साम्राज्य के भावी नाश का निशान समझा, क्योंकि इसका अर्थ था संसार के सराफा-बाजार में लन्दन की प्रभुता का अन्त होना। पाउण्ड के गिरनें से अनेक देशो का सिक्का हिल गया, क्योंकि उन्होने पाउण्ड के नोट सोना समझकर रख छोडे थे और उनके बदले में सोना हर वक्त मिल भी सकता था। अब उन नोटो के बदले में सोना

रखते तो जरूर हानि होती। उस मौके से लाभ उठानें का फ्रेंच सरकार ने भी निर्णय कर लिया और उसने बदले में नई छपी हुई फ़्रांक की हुण्डियाँ देकर ये सारी विदेशी हुण्डियाँ या सरकारी कागज़ ख़रीद लिये। इस तरह फ्रेंच सरकार इन विदेशी हुण्डियो और सरकारी पुर्जो को लेकर अचानक बहुत मालदार होगई। असल बात यह है कि उस समय ये हुण्डियाँ और पुर्जे उसीके पास सबसे अधिक थे। उसकी इच्छा भी नहीं थी और उसमें इतना दम भी नहीं था कि वह आर्थिक नेतृत्व के लिए इंग्लैण्ड और अमेरिका की होड़ कर सके। परन्तु दोनो पर प्रभाव डालने की स्थिति में वह जरूर होगई थी।

फ्रास के लोग फूंक-फूंककर कदम रखते हैं और यही हाल उनकी सरकार का है। जो कुछ उनके पास होता है उसे भी गँवा देनें की जोखम उठाकर बड़ा मुनाफा करने के बजाय वे सुरक्षित रहकर थोड़ा लाभ उठाना पसन्द करते है। इसलिए फ्रेंच सरकार ने सावधान होकर अपना फालतू धन थोडे ब्याज पर लन्दन के अच्छे-अच्छे व्यापारियो को उधार दे दिया। इस तरह उसने ब्रिटिश बैंक से सिर्फ दो फीसदी ब्याज लिया। उसी पूंजी को ब्रिटश बैंक पाँच-छः फीसदी पर जर्मन बैंको को दे देते और जर्मन बैंक आठ-नौ फीसदी पर उसे वियेना भेज देते और वहाँसे वह धन बारह फीसदी पर हगरी या बालकन में पहुँच जाता। जितनी बडी जोखम उतना ही ज्यादा ब्याज। मगर बैंक आफ फ्रास ने जोखम उठाना पसन्द नहीं किया। इसीलिए उसने ब्रिटिश बैंको के साथ लेन-देन किया। इस प्रकार फ़्रांस ने अपनी ख़रीदी हुई विदेशी हुण्डियो के रूप में बहुत-सा रुपया लन्दन में रख दिया और इससे लन्दन की न्यूयार्क के साथ जो लड़ाई चल रही थी उसमें मदद मिली।

इस बीच में व्यापारिक उथल-पुथल और मन्दी बढ़ रही थी और खेती की पैदावार के भाव घट रहे थे। १९३० के जाडे में गेहूँ का भाव इतना गिर गया कि पूर्वीय योरप के बैंक अपने कर्जदारो से रुपया वसूल नही कर सके और इसलिए उन्होने वियेना में पाउण्ड और डालर के रूप में जो ऋण लिया था वह नहीं लौटा सके। इससे वियेना के बैंको में उथल-पुथल मच गई और वहाँ के क्रेडिट ऐनस्टालट नामक सबसे बडे बैंक का दिवाला निकल गया। इससे फिर जर्मन बैंक हिल उठे और मार्क का ढाँचा बैठने की नौबत आगई। ऐसा होता तो जर्मनी में अमेरिका और ब्रिटेन की पूंजी को ख़तरा होता। इसीको टालने के लिए राष्ट्रपति हूवर ने युद्ध-ऋण और हर्जाने की वसूली स्थगित रखने का ऐलान किया था। उस समय हर्जाने की अदायगी का आग्रह करने का अर्थ जर्मनी का सम्पूर्ण आर्थिक नाश होता। हुआ यह कि इतने से भी काम न चला। जर्मनी दूसरे देशो को अपना खानगी कर्ज भी न चुका सका और उसका भुगतान भी मुल्तवी करना पड़ा।

सेंट्रल बैंक कहते है) बदले में सोना लेने के लिए अपने पास की पाउण्ड की हुण्डियाँ बेच दी। अबतक उन्होंने पाउण्ड की हुण्डियाँ रख छोडी थीं, क्योकि उनके बदले में सोना किसी वक्त भी मिल सकता था और इसलिए उन्होने उसे सोना ही समझ रक्खा था। जब ये हुण्डियाँ अचानक बडी तादाद में बिकीं तो पाउण्ड का मूल्य आनन-फानन में ३० फी सदी गिर गया। इस तरह भाव गिरने से उन कर्जदारो को, जिनपर पाउण्ड के नोटों के रूप में देना निकलता था (इनमें कुछ सरकार और बडे-बडे व्यापारी भी शामिल थे), सोना चुका देनें की प्रेरणा हुई, क्योकि उन्हे ३० फी सदी कम देना पड़ा। इस तरह बहुत-सा सोना इंग्लैण्ड में आगया।

परन्तु सोनें की असली बाढ़ तो इंग्लैड में हिन्दुस्तान और मिस्र से आई। इन गरीब और पराधीन देशो को विवश होकर धनी इंग्लैण्ड की सहायता करनी पडी और इंग्लैण्ड की आर्थिक स्थिति को मजबूत करने के लिए इनके छिपे हुए साधन काम में लाये गये। इस मामले में इनकी नही सुनी गई। इग्लैंड की जरूरत के सामने इनकी इच्छाओ या हितो का मूल्य ही क्या हो सकता था?

भारत की दृष्टि से बेचारे भारतीय रुपये की कहानी लम्बी और दर्दनाक है। ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश पूंजी के स्वार्थों की पूर्ति के लिए उसकी कीमत बार-बार बदली जाती रही है। मै सिक्के के इस मामले में विस्तार से नही लिखना चाहता। सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूं कि सिक्के के मामले में लड़ाई के बाद ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान में जो कार्रवाइयाँ की है उनसे हिन्दुस्तान की असीम हानि हुई है। उसके बाद १९२७ में हिन्दुस्तान में इस बात पर बड़ा विवाद खड़ा हुआ कि पाउण्ड के नोट और सोने से सम्बन्ध रखते हुए रुपये का मूल्य कितना स्थिर किया जाय। उस समय पाउण्ड का सोने के विनिमय से सम्बन्ध था। यह 'अनुपात का विवाद' कहलाया, क्योकि सरकार तो रुपये की कीमत १ शिलिंग ६ पेंस रखना चाहती थी और भारतीय लोकमत लगभग १ स्वर से एक शिलिंग ४ पेंस चाहता था। सवाल पुराना था और यह था कि रुपये का मूल्य बढ़ाकर साहूकारो और पूँजीवालो को लाभ पहुँचाया जाय और विदेशी माल की आमद बढ़ाई जाय, या रुपये की कीमत घटाकर ऋणदाताओ का बोझा कम किया जाय और गृह-उद्योगो और निर्यात व्यापार को उत्तेजन दिया जाय? बात हिन्दुस्तानियो की न रहकर सरकार की ही चली और सोने के रूप में रुपये की कीमत १ शिलिंग ६ पेंस मुकर्रर होगई। इस तरह बहुत लोगो की राय में रुपये की कीमत थोडी बढ़ा दी गई। सिर्फ इंग्लैण्ड नें ही १९२५ में पाउण्ड को सोने के विनिमय पर लाते समय सिक्के की कीमत बढ़ाई थी। हम देख चुके है कि उसनें ऐसा अपने संसार के आर्थिक नेतृत्व को क़ायम रखने के लिए किया था और इसके

मिलना वन्द होगया और उनका मूल्य भी ३० फीसदी गिर गया। इसलिए कुछ दूसरे देशो के सिक्को का भाव भी घट गया और उन्हे इग्लैण्ड के कारण सोनें का विनिमय छोड देना पडा।

फ़ास की स्थिति इस समय मजबूत हो गई। उसकी सावधानी की नीति का उसे लाभ मिल गया। जहाँ अमेरिका और ख़ास तौर से इग्लैण्ड का उधार दिया हुआ धन जर्मनी में रुक गया और उन्हे धन की जरूरत होगई वहाँ फ़ास के पास विदेशी हुण्डियो और सोने के फ़ांक से रूप में धन की बहुतायत थी। अमेरिकन और ब्रिटिश दोनो सरकारो ने फ्रान्स पर अलग-अलग प्रेम-प्रदर्शन किया और अपनें-अपने पक्ष में एक-दूसरे के खिलाफ उसे मिला लेनें की भरसक कोशिश की। फ़ास बहुत सावधान रहा और उसने दोनो की ही बात नहीं मानी। इस प्रकार उसने सौदे का अवसर हाथ से चला जाने दिया।

१९३१ के अन्त में इंग्लैण्ड में पार्लमेण्ट का आम चुनाव हुआ। राष्ट्रीय सरकार की बडी भारी विजय हुई। वास्तव में यह विजय अनुदार दल की थी। मजदूर दल का लगभग सफाया होगया। "मजदूर सरकार उनकी पूंजी जब्त कर लेगी," ऐसी-ऐसी कहानियो से डरकर, और शायद वेतन की कटौती पर अटलाण्टिक प्रदेश की जलसेना के ब्रिटिश नाविको ने जो थोडे दिन विद्रोह कर दिया था उससे भी भयभीत होकर, ब्रिटिश नागरिक अनुदार राष्ट्रीय सरकार के पक्ष में होगये। अब भी इंग्लैण्ड में सत्ता इसी सरकार के हाथ में है। प्रधान मंत्री रैमजे मैकडानल्ड है,[१] परन्तु सबसे शक्तिशाली आदमी अनुदार दल का नेता स्टैनली बाल्डविन है। पार्लमेण्ट और ब्रिटिश नीति पर इसी दल का पूरा प्रभुत्व है।

सकट और ख़तरे के होते हुए भी पाउण्ड के गिरने के बाद तीनो मुखिया राष्ट्र अर्थात् अमेरिका, ब्रिटेन और फ़ांस या उनके साहूकार आपस में सहयोग न कर सके। सब एक-दूसरे को हानि पहुँचाकर अपनी-अपनी स्थिति अच्छी करनें की चाल चलते रहे हैं। आर्थिक नेतृत्व के लिए लड़ने के बजाय वे मिलकर एक सम्मिलित अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय का बाजार बना सकते थे। मगर सबने अपनी-अपनी खिचडी अलग पकाना ही पसन्द किया। बैंक ऑफ इंग्लैण्ड लन्दन को उसका खोया हुआ पद वापस दिलाने के काम में जुट गया और दुनिया के लिए बडे अचम्भे की बात है कि पिछले १८ महीनो में उसे बहुत कुछ सफलता भी मिल गई है, हालॉकि पाउण्ड अब भी सोनें के विनिमय से अलग है।

जब इंग्लैण्ड ने सोने का विनिमय छोड़ा तो दूसरे देशो के सरकारी बैंको ने (इन्हे

कीमत बढी, यानी सोने से ज्यादा रुपये मिलनें लगे। देश में दुःख और गरीबी का तो ठिकाना ही नही। लोगो पर कर्ज था ही। इस कारण उन्हे इसे चुकाने के लिए अधिक-से-अधिक रुपये हासिल करने को जेवर वगैरा के रूप में जितना भी सोना उनके पास था वह बेच डालने की प्रेरणा हुई। इसलिए थोड़ा-थोड़ा करके देशभर का सोना बैंको में पहुँचने लगा और बैंको ने इसे लन्दन के बाजार में बेचकर फायदा उठाया। इस तरह हिन्दुस्तान के सोने का प्रवाह लगातार इंग्लैण्ड की तरफ हुआ और अब भी होरहा हैं। कहा जाता है कि अबतक १ अरब ४६ करोड़ रुपयो का सोना हिन्दुस्तान से इग्लैण्ड जा चुका है। यह १० करोड़ पाउण्ड से भी ज्यादा के बराबर है। इसी सोने और मिस्र से इसी तरह आये हुये सोनें के तुफैल से बैंक ऑफ इग्लैण्ड और ब्रिटिश पूँजीपतियो की रक्षा हुई और उन्हे १९३१ के सितम्बर में अमेरिका और फ्रांस से उधार लिया हुआ रुपया चुकाने के साधन मिले।

यह अजीब बात है कि जहाँ दुनिया के सब देश—यहाँतक कि अधिक-से-अधिक धनी मुल्क भी—अपना-अपना सोना बचाकर रखते हैं और उसे बढाते हैं, हिन्दुस्तान में इसका उलटा होरहा है। अमेरिकन और फ्रेंच सरकारो ने अपने-अपने बैंको के तहखानो में भारी मात्रा में सोना जमा कर लिया है। यह विलक्षण काम है कि खानो में से निकालकर सोनें को फिर बैंको के तहखानो में गहरा गाड़ दिया जाय। बहुत-से देशो नें और ब्रिटिश उपनिवेशो ने अपने यहाँसे सोने की निकासी बन्द करदी है, अर्थात् वहाँ देश के बाहर कोई सोना नही लेजा सकता। इग्लैण्ड ने अपनें सोनें की रक्षा के लिए सोनें का विनिमय छोड़ दिया, मगर हिन्दुस्तान में बात ऐसी नहीं हुई; क्योकि यहां की अर्थनीति इग्लैण्ड के हितो के अनुसार चलाई जाती है।

अक्सर ऐसी बाते बताई जाती हैं कि हिन्दुस्तान में सोना और चाँदी गड़ा हुआ रक्खा है। मुट्ठीभर धनिक लोगो के बारे में कुछ हद तक यह सही भी है। परन्तु सर्वसाधारण तो इतने दरिद्र है कि वे कोई भी चीज जमा करके नही रख सकते। कुछ खाते-पीते किसान थोडे-से जेवर रखते है। यही उनका 'खजाना' है। उनको पूँजी लगानें की सहूलियते भी हासिल नही है। ये छोटे-मोटे जेवर और दूसरा सोना जो हिन्दुस्तान में था, वह मन्दी और सोने का भाव बढ़ जाने के कारण खिचकर चला गया है। राष्ट्रीय सरकार होती तो वह इस सोनें को बचाकर देश में ही रखती, क्योकि सोना ही अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का माना हुआ साधन है।

हाँ, तो पाउण्ड और डालर की लड़ाई का काम जारी रक्खें। इन उपायो और दूसरी चालो से, जिनका उल्लेख करने की मुझे जरूरत नहीं है, बैंक ऑफ़ इंग्लैण्ड ने अपनी स्थिति बहुत अशो में मजबूत करली। १९३२ के शुरू में भाग्य ने उसका कुछ

लिए वह बहुत कुछ त्याग करने को तैयार था। फ़्रांस, जर्मनी और दूसरे देशो ने अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए सिक्के की कीमत घटाना पसन्द किया था।

रुपये की कीमत बढा देने से हिन्दुस्तान में लगी हुई ब्रिटिश पूंजी का मूल्य बढ़ गया। इससे हिन्दुस्तानी उद्योग पर भी बोझा पडा, क्योकि हिन्दुस्तान के माल के भाव कुछ बढ गये। सबसे बडी बात यह हुई कि जो किसान और जमींदार बनियो के कर्ज़-दार थे उन सबका भार बढ़ गया, क्योकि जब रुपये की कीमत बढ़ी तो इस कर्ज़ की कीमत भी बढ़ गई। १८ और १६ पेन्स का फर्क २ पेन्स यानी १२॥ फी सदी मूल्य बढने के बराबर हुआ। मान लो हिन्दुस्तान के किसानो पर ९ अरब रुपया क़र्ज़ है। उसमें १२॥ फी सदी वृद्धि होजाने का अर्थ होता है १३ अरब की भारी रक़म और बढ जाना।

रुपये के रूप में अलबत्ता क़र्ज़ उतना ही रहा जितना पहले था। परन्तु खेती की पैदावार के मूल्य के रूप में क़र्ज़ बढ़ गया। रुपये का असली मूल्य यही होता है कि उस-से कितना गेहूं, कितना कपडा और कितनी और कोई चीज़-बस्त ख़रीदी जा सकती है। रुकावट न डाली जाय तो यह मूल्य अपने-आप ठीक होता रहता है। रुपये की ख़रीदने की ताक़त घट जाने से सिक्के की कीमत घट जाती है। कृत्रिम रूप से उसका मूल्य अधिक रख देने से उसकी ख़रीदने की शक्ति दीखने में बढ़ जायगी, लेकिन दरअसल नहीं बढती। इस प्रकार किसानो को मालूम होगया कि अब क़र्ज़ और ब्याज के चुकाने में पहले से उनकी आय अधिक चली जाती है और बहुत थोडी उनके पास रह जाती है। इस तरह १ शिलिंग ६ पेंस के अनुपात से हिन्दुस्तान में मन्दी और भी बढ गई।

जब सितम्बर १९३१ में पाउण्ड के नोटो का सोने से सम्बन्ध छूट गया तो रुपये का भी छूट गया। परन्तु उसे पाउण्ड के साथ बॉधे रक्खा गया। इस प्रकार एक शिलिंग छः पेंस का अनुपात तो कायम रहा, परन्तु सोने के रूप में अब उसकी कीमत कुछ घट गई। पाउण्ड के नोट के साथ रुपये को इसलिए बॉध रक्खा गया कि हिन्दुस्तान में लगी हुई ब्रिटिश पूंजी को आँच न आवे, क्योकि अगर रुपये को छुट्टा छोड दिया जाता तो उसकी कीमत घटने और पाउण्ड के नोटो के रूप में लगी हुई पूंजी को हानि पहुँचने की सम्भावना थी। हुआ यह कि नुक़सान भारत में लगी हुई अमेरिका और जापान आदि की गैरब्रिटिश विदेशी पूंजी को ही हुआ। रुपये को पाउण्ड के साथ बाँध देने से इग्लैण्ड को दूसरा बड़ा लाभ यह हुआ कि वह अपने उद्योगो के लिए जो कच्चा माल ख़रीदता था उसका मूल्य ब्रिटिश सिक्के में चुका सका। पाउण्ड के नोट का जितना ही बडा क्षेत्र उतना ही पाउण्ड का लाभ।

जैसे-जैसे पाउण्ड के साथ रुपये की क़ीमत घटती गई, वैसे-वैसे सोने की भीतरी

यह उधार का धन्धा साहूकारों के लिए फायदेमन्द तो है ही, इससे धीरे-धीरे उद्योग और खेती पर उनका काबू भी बढ़ता है। किसी नाजुक वक्त पर उधार देने से इन्कार करके या अपना रुपया वापस मॉगकर वे उधार लेनेवाले का काम चौपट कर सकते है। यह बात देश के भीतर और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र दोनो में लागू होती है, क्योंकि बडे-बडे केन्द्रीय बैंक अलग-अलग देशो की सरकारो को रुपया उधार देते है और इस तरह उनपर अपना दबाव रखते है। इसी तरह न्यूयार्क के साहूकार मध्य और दक्षिणी अमेरिका की बहुत-सी सरकारो पर नियंत्रण रखते है।

इन बडे-बडे बैंको की बात यह है कि अच्छे और बुरे दोनो तरह के समय में इन्हे मुनाफा ही-मुनाफा होता है। अच्छे दिनो में सबका रोजगार अच्छा चलता है और उसका हिस्सा इन्हे भी मिलता है। लोग खूब रुपया बैंको में जमा कराते है, बैंक उस पर बहुत थोड़ा ब्याज देते है और उसी रुपये को अधिक ब्याज पर दूसरो को उधार दे देते है। बुरे यानी मन्दी और संकट के दिनो में वे अपना रुपया दॉतो से पकडे रखते है। इससे मन्दी तो बढ़ती है, क्योंकि उधार के बिना बहुत-से धन्धो का चलना कठिन होजाता है, लेकिन बैंको को दूसरी तरह फायदा होता है। जमीन, कारखानो और सभी चीजो का भाव गिर जाता है और बहुत-से उद्योगो का दिवाला निकल जाता है। बैंक झटपट ये सब कुछ सस्ते में खरीद लेते है। इस तरह तेजी और मन्दी के बारी-बारी से दौर होने में साहूकारों का लाभ है।

वर्तमान महामन्दी के जमाने में बडे बैंको का बराबर अच्छा हाल रहा है और उन्होने अच्छा मुनाफा (Dividend) बॉटा है। यह सच है कि संयुक्तराष्ट्र में हजारों बैंको और आस्ट्रिया और जर्मनी में कुछ बडे-बडे बैंको का दिवाला निकल गया है। अमेरिका में जिन बैंको का दिवाला निकला वे सब छोटे-छोटे बैंक थे। मालूम होता है अमेरिका की बैंक-प्रणाली ही गलत थी। फिर भी न्यूयार्क के बडे-बडे बैंकों का काम ठीक-ठीक चला। इंग्लैण्ड में किसी बैंक का दिवाला नही निकला। अलबत्ता अगर मन्दी बनी रही तो अन्त में वहाँके बडे-से-बडे बैंको की भी वही हालत होगी जो खास तौर पर बिगड़ जानें पर जर्मनी और आस्ट्रिया में हुई थी।

इन कारणो से आज की पूंजीवादी दुनिया में सच्ची सत्ता साहूकारो के हाथ में है। इसीलिए लोग कहते है कि शुद्ध औद्योगिक युग के बाद अब यह हमारा 'पूंजीयुग' (Financial Age) आया है। पश्चिमी देशो में और खासतौर पर अमेरिका में धड़ाधड़ लखपति और करोड़पति बन रहे है। अमेरिका तो करोड़पतियो का देश ही कहलाने लगा है। इन धन-कुबेरो की बडी तारीफ होती है। लेकिन दिन-दिन यह प्रकट हो रहा है कि बडे-बडे पूंजीपतियो के तरीके बहुत ही गन्दे है और डाकुओ

साथ दिया, क्योकि जर्मनी में अमेरिका का धन रुक जाने से सयुक्तराष्ट्रो के बैंको में उथल-पुथल मच गई थी। इस उथल-पुथल में बहुत-से अमेरिकनो ने अपने डालर बेच-कर पौण्ड के नोट खरीद लिये। इस तरह ब्रिटिश सरकार को डालर की हुण्डियाँ बहुतायत से मिल गईं। इन्हे न्यूयार्क के सरकारी बैंक में देकर उसने बदले में सोना ले लिया। चूँकि डालर सोने के विनिमय पर था, इसलिए उसके एवज् में कोई भी सोना मांग सकता था। इस तरह किसी भी आपत्ति या पाउण्ड का भाव अधिक गिरे बिना ही ब्रिटिश सुवर्ण-भण्डार भर गया और पाउण्ड का मूल्य अस्थिर रह गया और सुवर्ण विनिमय से हट गया। साथ ही लन्दन के पास भरपूर विदेशी हुण्डियों और सरकारी पुर्जों के होने से वह फिर ससार का बड़ा और मुख्य हुण्डी-बाजार बन गया। फिलहाल न्यूयार्क हार गया। इसका बडा कारण तो, जैसा मैं किसी पिछले खत में बता चुका हूँ, यह था कि वहांके हजारो छोटे-छोटे बैंक बर्बाद होचुके थे।

: १८८ :

पूँजीवादी दुनिया की मिलकर प्रयत्न करने की असमर्थता

२८ जुलाई, १९३३

मैंने तुम्हे आर्थिक स्पर्धाओ और चालबाजियो की कितनी लम्बी कहानी सुना डाली! यह तुम्हे शायद ही अच्छी लगी हो। असल में मुझे खुद को भी अफसोस-सा ही है कि मैंने इस मजमून पर कलम उठाई और तुम्हे यह सलाह देने को जी चाहता है कि तुम इसे छोडदो। अन्तर्राष्ट्रीय साजिशो का जाला इतना गुंथा हुआ है कि इसे सुलझाना या इसमें घुसकर निकल आना आसान बात नही है। मैंनें तो तुम्हे जो कुछ ऊपर-ऊपर दिखाई देता है उसीकी झाँकी-सी दिखाने की कोशिश की है। जो कुछ होता है उसका बहुत-कुछ हिस्सा न कभी ऊपर आता है, न जाहिर होता है।

आज की दुनिया में साहूकार और पूंजीपति का महत्व बहुत ज्यादा है। कारखानेवालो के दिन भी जाते रहे। अब तो बडे-बडे साहूकार ही उद्योग, खेती, रेलवे, दुलाई और एक हद तक सरकार और सब चीजो पर नियन्त्रण रखते है। वजह यह है कि उद्योग और व्यवसाय के बढने से उनके लिए ज्यादा-से-ज्यादा रुपये की जरूरत होती है और यह रुपया बैंको से मिलता है। संसार का ज्यादातर काम आज-कल उधार या साख पर चलता है। और उधार देना-न देना, कम-ज्यादा देना और उसपर अधिकार रखना, यह सब बडे बैंको के हाथ में है। कारखानेदार और किसान दोनो को अपना काम चलाने के लिए रुपया उधार लेने बैंक के पास जाना पड़ता है।

के बेकारों की तादाद भी बढ़ती चली गई और डेढ़ करोड़ तक पहुँच गई। वहाँ मजदूरी की दर संसार में सबसे ऊँची थी, वह भी जल्दी-जल्दी घट गई और उसके साथ ही रहन-सहन का तरीका भी नीचा होगया। जिस महान् देश में सबको अवसर मिलता था और जिसका नाम सुनकर दूर-दूर से स्त्री-पुरुष आते थे, वहाँ निराशा का साम्राज्य छा गया। देश में बडे-बडे पूंजीपतियो का बोलबाला था। इनकी अनेक सरकारी जांच-पड़तालों में कलई खुल गई और वे पूरी तरह भ्रष्ट साबित होगये। इस तरह पूंजी और उद्योग के नेताओ पर से लोगो का विश्वास उठ गया। मन्दी के इस सारे जमाने में हरबर्ट हूवर राष्ट्रपति थे, लेकिन उन्होंने विकट स्थिति का कुछ भी उपाय नहीं किया। वे बडे-बडे पूंजीपतियो के मित्र समझे जाते थे। इसलिए उन्होने मनमानी करने के लिए उन्हे स्वतन्त्र छोड़ दिया। नतीजा यह हुआ कि जनता उनसे बुरी तरह नाराज होगई। १९३२ के नवम्बर में जब हर चार वर्ष में होनेवाले राष्ट्रपति का चुनाव हुआ तो हूवर को फ्रैंक रूजवेल्ट ने भारी बहुमत से हरा दिया। निराशा में डूबे हुए अमेरिका के मध्यमवर्ग के बेशुमार लोगो की रूजवेल्ट की तरफ दृष्टि गई और उन्हे आशा हुई कि वह हमारे कष्ट दूर करेंगे। अमेरिका के विधान के अनुसार चुनाव तो १९३२ के नवम्बर में होगया, परन्तु नये राष्ट्रपति ने अधिकार १९३३ के मार्च तक नही सम्भाले। इस बीच में संसार-भर की स्थिति और भी बिगड़ गई और एक ऐसी बडी आर्थिक परिषद् बुलाने की चर्चा जोर से चली जिसमें मन्दी के उपाय सोचने के लिए संसार के सब देश इकट्ठे हो। १९३३ के मार्च के शुरू में रूजवेल्ट अमेरिका के राष्ट्रपति की गद्दी पर बिठाये ही जा रहे थे कि वहाँके बेंको में दुबारा उथल-पुथल मच गई। उथल-पुथल बडे जोर की थी और लोगो में इतनी घबराहट फैल गई कि कुछ दिनो के लिए सारे बैंक बन्द कर देने पडे। इससे सयुक्तराष्ट्र को सोने का विनिमय छोड़ना पड़ा। डालर को पाउण्ड का साथ देना पड़ा और सोने से अलग होना पड़ा। देश में सोने की कमी नही थी और असल बात तो यह है कि अमेरिका के पास और किसी भी देश से ज्यादा सोना था। लेकिन आजकल की अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का इतना विचित्र हाल है कि यह सब कुछ होते हुए भी अमेरिका को सोने का विनिमय छोड़ना पड़ा और सोनें की निकासी बन्द करनी पडी। शायद इसका असली उद्देश्य यह था कि बैको और साहूकारो को नुक्सान पहुँचाकर भी उद्योग और खेती का भार हलका करनें के लिए डालर का भाव घटा दिया गया। मैंने तुम्हे पिछले खत में समझाया था कि रुपये का मूल्य १८ पेंस मुकर्रर कर देने से किस तरह हिन्दुस्तान में पूंजी की कीमत बढ़ गई और लोगो पर कर्ज का भार भी ज्यादा होगया। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने डालर का भाव घटाकर इससे उलटी बात की। तमाशे की बात तो यह देखो कि डालर का भाव

और धोखेबाजो से इन लोगो में इतना ही भेद है कि ये अपना काम बडे पैमाने पर करते है। बडे-बडे एकाधिकार (ठेके) छोटे-छोटे धन्धो को कुचल डालते है। बडी-बडी पूंजी के दांव-पेंच, जिन्हे बहुत कम लोग समझ सकते है, उन गरीबो को खूब मूंडते है जो भरोसा करके अपनी पूंजी लगाते है। योरप और अमेरिका के कुछ बडे-से-बडे श्रीमन्तो का हाल ही में भण्डाफोड़ हुआ है और वह दृश्य कोई सुहावना दृश्य नहीं था।

हम देख चुके है कि इंग्लैण्ड और अमेरिका के बीच आर्थिक नेतृत्व के लिए जो लडाई चल रही थी उसमें फिलहाल लन्दन की जीत हुई। लेकिन इस विजय से क्या हाथ आया ? इस लड़ाई के १२ वर्ष तक जारी रहने से धीरे-धीरे इससे होनेवाला लाभ कम होता गया। खास तौर पर पिछले चार साल में मन्दी खूब फैली और व्यवसाय और उद्योग को खा गई। विदेशी व्यापार पहले से एक-तिहाई रह गया। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यापारिक कागज यानी हुण्डियाँ भी दो-तिहाई घट गईं। जब कागज कम हुआ तो उसके बजाय और कुछ काम में लाना जरूरी होगया और सरकारी कागज यानी सिक्योरिटीज वगैरा की ज्यादा चाह हुई। इनकी भी बडी कमी होगई। व्यापार और उद्योग की मन्दी के कारण नये हिस्से और सिक्योरिटियाँ नहीं निकलीं और पुरानी सिक्योरिटियो की कीमत पहले से आधी या उससे भी कम होगई। अब भी भाव बारबर गिर रहे है और यदि इस गिरावट को रोकने की कोई बात न हुई तो सम्भव है अन्त में कुछ भी मूल्य न रहे !

इस तरह व्यापारिक और सरकारी दोनो तरह के कागज कम होगये है। फिर भी सरकारी और खानगी कर्जों पर चुकाया जानेवाला व्याज तो ज्यो-का-त्यो बना हुआ है। ऋणी देशो की जान बडी आफत में है कि वे क्या करे और कैसे चुकावे ? चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के लिए और कोई साधन नही है। इसलिए खास-तौर पर गरीब देशो में सोने की मांग बढ़ गई। फिर भी इन देशो से सोना धनी देशो में बहा चला जा रहा है, क्योकि गरीब देशो के पूजी वाले लोगो ने सिक्के का भाव बदलता और गिरता हुआ देखकर अपने रुपये की रक्षा करने के लिए विदेशी सरकारी पुर्जा खरीद लिया। इस तरह धनी देशो में सोना बढता जा रहा है और गरीब मुल्को में कम होता जारहा है। जिन देशो के पास सोना खूब जमा होगया है वे है संयुक्त-राष्ट्र, फ्रांस, स्वीजरलैण्ड और हालैण्ड। इग्लैण्ड के पास भी अब तो काफी सोना इकट्ठा होगया है।

लेकिन इतना सोना और धन इकट्ठा होने पर और उद्योग के नये-से-नये साधनो के होते हुए भी अमेरिका को बहुत सहायता नहीं मिली, क्योकि मन्दी के साथ-साथ वहाँ

संयुक्तराष्ट्र के प्रतिनिधि ने घबराई हुई दुनिया की बात कही और बताया कि राष्ट्रो के लिए "आर्थिक एकान्तवास की नीति इख्तियार करना बेवकूफी और सबका सन्यासियो की तरह अलग-अलग जिन्दगी बसर करना फिजूल है।" ज्यो ही लच्छेदार भाषण खत्म हुए, कठिनाइयाँ सामनें आने लगीं। अमेरिका ने युद्ध-ऋण के सवाल पर परिषद् में चर्चा करने से इन्कार कर दिया। यह मामला खानगी चर्चा का था। परिषद् पर पहला प्रहार तो यह हुआ। फिर सोने से अलग हुए सिक्को यानी पाउण्ड और डालर का भाव मुकर्रर करने के सवाल पर अपनी-अपनी स्थिति अच्छी बनाने के लिए अमेरिका, इंग्लैण्ड और फ़्रांस के बीच में चालबाजियां शुरू हुई। फ़्रांस और सोने के विनिमय वाले बाकी के देश खींच-तान करके अपना काम चला रहे थे, क्योकि पाउण्ड और डालर सोने के विनिमय से अलग थे और वे चाहते थे कि इन दोनो सिक्को का भाव स्थिर होजाय। लेकिन अमेरिका और इंग्लैण्ड तत्काल अपने-आपको किसी तरह बॉधना नही चाहते थे और एक-दूसरे के पैंतरे ध्यान से देख रहे थे। इन सब कारणो से परिषद् का कबाड़ा बैठ गया। सहयोग का प्रयत्न विफल होगया। अब हर देश अलग-अलग दूसरो का ख़याल किये बिना, संन्यासी की तरह रहकर और सम्भवतः स्वावलम्बी अर्थनीति बनाकर, सकट का सामना करने की कोशिश करेगा। पूजीवाद के कुछ नेताओ नें ही यह भविष्यवाणी की है। मगर सिर्फ परिषद् के असफल हो जाने से ही न तो पूंजीवाद की इमारत एकदम नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी और न क्रान्ति फैल जायगी। लेकिन इसमें कोई शुबहा नही कि इस नाकामयाबी ने पूँजीवाद की पीठ पर एक और लात जमाई है और अब उसका आगे का रास्ता ख़न्दक की तरफ़ जारहा है।

जर्मन सरकार ने पहले ही सार्वजनिक रूप में कह दिया कि उसकी स्थिति सरकारी या खानगी किसी भी तरह का ऋण चुकाने की नही है। उसने लम्बी मियाद मॉगी है; लेकिन वह शायद ही भुगतान कर सके। उस तरह जर्मनी की इस कार्रवाई का मतलब न देने के ही बराबर है। इससे उसके साहूकारो की विकट स्थिति होगई है, क्योकि कभी-कभी क़र्ज़दारो का दिवाला निकलने से कर्ज देनेवालो पर भी आफत आजाती है। १९३१ में जर्मनी में उथल-पुथल होने से ही तो इंग्लैण्ड को सोने का विनिमय छोड़ना और पाउण्ड को गिरना पड़ा था।

ब्रिटिश नीति साफ तौर पर आर्थिक राष्ट्रीयता की नीति बन चुकी थी। ब्रिटिश अर्थ-मन्त्री कहता है—"हमें अपने देश और साम्राज्य के हितो का ख़याल रखकर स्वतंत्र मार्ग का अनुसरण करते रहना चाहिए।" उसने पाउण्ड के नोट को सोने या डालर के साथ मिलाने से इन्कार कर दिया। अमेरिका के लिए फिर भी कुछ मुमकिन है, लेकिन इंग्लैण्ड के लिए स्वावलम्बी होना मुमकिन नही है। इंग्लैण्ड अपने लिए काफी खाद्य-

घटाने से इग्लैण्ड नाराज हुआ, क्योकि इससे सोनें का विनिमय छोड़कर उसने पाउण्ड के लिए जो सहूलियत हासिल करली थी वह जाती रही। अमेरिका के सोने का विनिमय छोडने से फ्रास को भी वहुत बुरा लगा, क्योकि उस वक़्त फ़्रांस ही एकमात्र ऐसा बड़ा देश था जो सोने के विनिमय पर कायम था। उसके लिए भी अब उसपर कायम रहना मुश्किल होगया। अगर अमेरिका और इंग्लैण्ड जैसे दूसरे बडे-बडे देश अपना-अपना सोना छाती-तले दवाकर बैठ जायें और उसे बाहर न निकलने दें तो जिन लोगो के पास फ्रास के नोट थे वे उसके बदले में सोना माँगते तो उन सबको फ़्रांस कहाँ-तक सोना दिये चला जाता ?

सव पश्चिमी देशो में भविष्य के बारे में शंका और अनिश्चितता फैली हुई थी। युद्ध-ऋण का मामला अभीतक तय न होनें से वह और भी बढ़ गई थी। प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिषद् से ऐसा लगता था कि कोई रास्ता निकल आयगा—शायद वहां कुछ हो सके और आपस की स्पर्धा और गला दबाने की वृत्ति रोकने के लिए कोई समझौता होजाय। परिषद् में इकट्ठे होकर असफल होना जोखम की बात थी। क्योकि फिर तो सहयोग की अन्तिम आशा के नष्ट होने की भी सम्भावना थी। एक मशहूर अमेरिकन अर्थशास्त्री ने कहा था कि यह परिषद् सफल न हुई तो सारी पूंजीवादी इमारत चूर-चूर हो जायगी। एक ब्रिटिश मन्त्री ने कुछ इस तरह की बात कही थी कि परिषद् कामयाब न हुई तो निराशा, प्रतिक्रिया और विद्रोह होगा। जोखम तो वडी थी, क्योकि कोई सम्मिलित योजना दिखाई नही देती थी। लेकिन जोखम उठाने के सिवाय कोई चारा भी न था। रैमसे मैकडॉनल्ड नें कहा, "यह हालत नहीं रहने दी जा सकती। कोई-न-कोई रास्ता निकालना ही पडेगा।"

यह भी बात नही थी कि यह अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् अपने ढंग की पहली ही परिषद् हो। महायुद्ध के वाद न जानें कितनी परिषदें हो चुकी हैं। असल में यह परिषदो का ही युग है। लडाई के वाद २७ अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिषदें हो चुकी थीं। यह २८वी परिषद् होनेवाली थी। घटना-चक्र और आधुनिक उद्योग के विकास से मजबूर होकर ससार को अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग ढूंढना पड़ता है। इसके लिए बार-बार कोशिश की जाती है, लेकिन वह कामयाव नहीं होती, क्योकि पूंजीवादी समाज का पैतृक संस्कार ही साफ तौर पर ऐसा है कि उसमें ऐसे सहयोग की गुंजायश नहीं रहती। परिषदें प्रस्ताव वडे अच्छे-अच्छे कर देती है, मगर वाद में उनपर अमल कुछ भी नहीं होता। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की नाकामयावी की सवसे वडी मिसाल राष्ट्र-संघ से मिलती है।

१६ जून १९३३ को अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिषद् वडी शान-शौकत के साथ लन्दन में शुरु हुई। ६६ देशो के प्रतिनिधि शामिल हुए। जोरदार भाषण दिये गये।

चुंगी न लगाने के विरोध में हिन्दुस्तान में तीव्र भावना रही है। इसका एक कारण राजनैतिक भी हो सकता है, लेकिन साथ ही यह भावना भी है कि दूसरे विदेशी राष्ट्रो के साथ व्यापार बन्द करके सिर्फ ब्रिटिश व्यापार के भरोसे रहना हमारे लिए हानिकर है। फिर भी दिल्ली की मौजूदा व्यवस्थापिका सभा ने, जो भारतीय जनता की प्रतिनिधि नही है, ओटावा के समझौते का समर्थन कर दिया। इसका एक नतीजा यह हुआ कि भारतवर्ष में आनेवाले दूसरे विदेशी माल के मुकाबिले में ब्रिटिश माल के भाव घट गये, क्योकि दूसरे देशो के माल पर बन्दरगाहो पर अधिक कर ले लिया जाता है। इस सुविधा का फायदा सरकार और ब्रिटिश-उद्योग ने ब्रिटिश माल के बहिष्कार के भारतीय आन्दोलन को दबाने में उठाया।

एक वर्ष के अनुभव ने बता दिया है कि ओटावा-नीति सफल नहीं हुई और उपनिवेशो और इग्लैण्ड के बीच में और खास तौर पर कनाडा के साथ बड़ा सघर्ष है, क्योकि कनाडा बढते हुए उद्योगवाला देश है और सयुक्तराष्ट्र के साथ उसके गहरे ताल्लुकात है। ब्रिटिश उद्योग की कुछ शाखाओ की कुछ हानि भी हुई ही है और चारो तरफ चुगी की दीवार खडी हो जाने से चीजो के भाव बढ गये है और निर्वाह का खर्च अधिक होगया है। इस तरह ओटावा-नीति बहुत सफल नही हुई। हाँ, उससे कुछ उद्योगो का भार अस्थायी रूप से हलका होगया, लेकिन ब्रिटिश राज्य की परेशानी बढाने के लिए जापान ने साम्राज्य की मण्डियो पर जोर से धावा कर दिया है। उसने हिन्दुस्तान, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफरीका और इंग्लैण्ड तक को नही छोड़ा है। मै तुम्हे बता चुका हूँ कि किस तरह जापान ने मचूरिया और चीन में जबरदस्ती की और जानबूझकर राष्ट्र-संघ की अवज्ञा की। जापान ऐसा कर सका, इसका बड़ा कारण यह था कि उसे गुप्त रूप से इग्लैण्ड की सहायता मिल गई। अप्रत्यक्ष रूप से जापान को इंग्लैण्ड और अमेरिका की प्रतिस्पर्धा से भी मदद मिली। अमेरिका ने जापान की जबरदस्ती के खिलाफ कड़ा रुख दिखाया था। मगर इग्लैण्ड की दुतर्फा नीति देखकर उसे भी नरम पड़ जाना पड़ा। जापान पर इससे भी बडी विपत्ति अपने घरेलू आर्थिक झगडो और पूंजी-सम्बन्धी सकट के कारण आई। जापान के सिक्के येन का भाव तेजी से गिरा और जापानी माल सस्ता हो गया। इसका फायदा उठा कर विदेशी मण्डियो को विदेशी माल से भर दिया गया। यह माल इतना सस्ता था कि चुंगी की दीवारें भी न रोक सकी। इस सस्तेपन के कारण ही जापानी माल के चीनी बहिष्कार-आन्दोलन की कमर टूटी। पूर्व की सारी मण्डियो और दक्षिण अफरीका और आस्ट्रेलिया में भी जापानी माल की भरमार होगई। इग्लैण्ड में जाकर कुर्ता एक शिलिंग में और मोजे दो पेंस में बिकने लगे। जर्मनी को भी बड़ा धक्का लगा। ऐसे भावो से स्पर्धा करना बिलकुल नामुमकिन

सामग्री पैदा नही करता और उसके कारखानो के लिए कच्चा माल बाहर से आता है। इसी कारण वह मुक्त-व्यापार पर कायम रहा और उसने अपने यहाँ बाहर का माल बिना चुगी लगाये या बहुत थोडी चुंगी लगाकर आने दिया था। ससार के व्यापार और उसके अपने व्यापार में रस्साकशी होने और साधारण तौर पर मौजूदा संकट के कारण उसे मजबूरन मुक्त-व्यापार की नीति छोडकर विदेशी माल पर चुगी लगानी पडी। यह सरकारी आमदनी बढाने और कम-से-कम ब्रिटिश माल के लिए घर के बाजार की रक्षा करने के लिए किया गया है। इससे भी ज्यादा बडी कोशिश की गई है पाउण्ड के नोटो के भाव के आधार पर ब्रिटिश साम्राज्य को एक ही आर्थिक इकाई बना देने का। साम्राज्य काफी बडा है। उसमें तरह-तरह के देश शामिल है और वे इग्लैण्ड के लिए काफी खूराक और दूसरी सामग्री पैदा करते है। इसलिए सिद्धान्त-रूप मे तो साम्राज्य को स्वावलम्बी बनाना मुमकिन था ही। इतना बड़ा प्रदेश, जिसमें पाउण्ड के नोटो का विनिमय और सब तरफ से सुरक्षित बाजार हो, इंग्लैण्ड के लिए बडी सहूलियत की बात है। डालर या फ्राक के बारे में पाउण्ड का भाव बढ़ और घट सकता है, लेकिन इससे उस प्रदेश में कोई फर्क नही पड़ता जहाँ पाउण्ड रुपये जैसे स्थानीय सिक्के के साथ बँधा हो।

इस खयाल को ध्यान में रखकर ओटावा (कनाडा) में ब्रिटिश साम्राज्य की एक परिषद् की गई। इस परिषद् में जल्दी ही यह बात सामने आगई कि साम्राज्य के देशो को बाकी के ससार से अलग करके एक इकाई बना देना इतनी आसान बात नहीं है। रुपये के या और किसी मामले में हिन्दुस्तान को दबाकर उससे कुछ भी करा लेना इग्लैण्ड के लिए बहुत आसान था; लेकिन कनाडा, आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफरीका केवल 'मातृदेश' के फायदे के लिए कुछ भी त्याग करनेवाले नही थे। दक्षिण अफरीका तो बाद में भी कुछ समय तक सोने के विनिमय पर कायम रहा (वह सोना पैदा करने वाला देश है) और पाउण्ड के नोट के विनिमय में शामिल नहीं हुआ। ओटावा में भाव-ताव और लेन-देन की बाते खूब हुई और अगर इंग्लैण्ड उपनिवेशो की माँगें मजूर न कर लेता तो परिषद् के भग होने की नौबत आ पहुँची थी। अपने उद्योगो को थोडी हानि पहुँचाकर भी उसे ऐसा करना पड़ा। उसे राजनैतिक और साम्राज्य सबन्धी कारणो से प्रभावित होना पड़ा, क्योकि परिषद् को भग करने से जो हानि होती उसे वह बर्दाश्त नहीं कर सकता था। उससे साम्राज्य को बडे जोर का आघात पहुँचता। इसलिए जहाँतक मुमकिन हो साम्राज्य के माल को तरजीह देने और विदेशी सामान न आने देनें की बात तय पाई। जबसे यह सवाल छिड़ा है तभीसे ब्रिटिश माल को तरजीह देने यानी उसपर कम चुगीं लगाने या

: १८६ :

स्पेन में क्रान्ति

२९ जुलाई, १९३३

अब मैं तुम्हे व्यापारिक मण्डी और कथित संकट की लम्बी कहानी से दूर ले चलूँगा। यह संकट जैसा होना चाहिए, वैसा इधर या उधर फैसला कर देनेवाला नहीं साबित हुआ। यह तो जमकर बैठ गया और करीब-करीब हमारा साथी बन गया। इससे तुम्हे हटाकर मै पिछले दो वर्ष की दो प्रमुख घटनाओ का हाल कहूँगा। ये दो घटनायें है स्पेन की क्रान्ति और जर्मनी की प्रति-क्रान्ति।

योरप का दक्षिण-पश्चिम का कोना स्पेन और पुर्तगाल से मिलकर बनता है। योरप के पुराने इतिहास में इन्होने महत्वपूर्ण भाग लिया है। इन ख़तों के दौरान में इसकी कुछ झलक हम देख चुके है। अरबो का लम्बा और तेजस्वी जमाना और कॉर्डोबा और ग्रेनाडा के गौरव; साहसी नाविको की प्रसिद्ध जल-यात्रायें; पोप द्वारा इन दोनो में ससार का बँटवारा और अमेरिका और ईस्ट-इण्डीज़ द्वीपो में साम्राज्यो की स्थापना; इस विस्तृत साम्राज्य के बन्दरगाहो और पूर्व के व्यापार से बहकर आनेवाली दौलत; कुछ अर्से के लिए योरप में उनकी प्रभुता और स्पेन के ख़िलाफ नेदरलैण्ड्स की आजादी की लड़ाई; और फिर सम्राज्य का पतन और नाश—इन सबका थोड़ा-थोड़ा हाल हम देख चुके। इस दक्षिण-पश्चिम के कोनें पर पश्चिमी योरप के उद्योगवाद का बहुत ही कम असर हुआ और वह दरिद्र और पिछड़ा हुआ रहा। पादरियो का प्रभाव खूब रहा। स्पेन और पुर्तगाल दोनो का शासन कमोबेश निरंकुश राजाओ के हाथ में था और व्यवस्थापिका सभायें बहुत कमजोर थीं। स्पेन की व्यवस्थापिका सभा 'कोर्टे' कहलाती है। १८७० के आसपास थोडे समय तक स्पेन में प्रजातन्त्र रहा था। लेकिन वह कामयाब नही हुआ और राजा किसी-न-किसी तरह फिर वापस आगया। १८९८ में क्यूबा के मामले में स्पेन की अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र से लड़ाई हुई, उसमें वह अपना आख़िरी उपनिवेश भी खो बैठा। क्यूबा आजाद होगया और फिलिपियन लोगो की जबरदस्त मुख़ालफत होते हुए भी अमेरिका ने फिलीपाइन टापुओ पर कब्जा कर लिया। जहाँतक मुझे याद पड़ता है, सिर्फ मोरक्को में स्पेन के प्रभाव में एक प्रदेश है। और कोई उसका उपनिवेश नही है।

पुर्तगाल ने किसी-न-किसी तरह न सिर्फ गोवा-जैसे हिन्दुस्तान के छोटे-छोटे टुकडे ही बल्कि अफरीका के ये बडे-बडे उपनिवेश भी अभीतक अपने कब्जे में कर रक्खे है। १९१० में राजा को गद्दी से उतारकर वहाँ प्रजातंत्र कायम हुआ। उस वक्त से

था। ब्रिटिश कारखानेदारो ने इस जापानी स्पर्धा को 'आर्थिक खतरा' बताया। हिन्दुस्तान में इसके खिलाफ बडा शोर-गुल मचा और जापानी माल पर नये और भारी कर लगा दिये गये। बदले में जापान जो हिन्दुस्तानी रुई खरीदता था वह उसने खरीदना बन्द कर दिया। इससे रुई पैदा करनेवाले हिन्दुस्तान के किसानो की हानि होगई।

जापानियो ने इस भयकर रूप में भाव घटाने की क्या युक्ति की? प्रथम तो येन का भाव गिर गया। दूसरे वहाँ के कारखानो में काम करनेवाली मजदूर लड़कियो को मजदूरी बहुत कम दी जाती है। तीसरे जापानी सरकार उद्योगो को मदद देती है। और चौथे जापान की जहाजी कम्पनियाँ थोडा भाडा लेकर मदद करती है। लेकिन यह भी मानना होगा कि जापानियो ने व्यवसाय और उद्योग में अपनी योग्यता का भी परिचय दिया है और वे सस्ती ही नहीं अच्छी चीजें भी बना रहे है। यह बहुत लोगो को मालूम नहीं है कि पुराने ब्रिटिश कारखाने अब बहुत पिछड़ गये है और उनकी मशीनें भी नई नहीं है। अलबत्ता नकली रेशम और मोटर के नये उद्योग योग्यतापूर्वक चलाये जा रहे हैं। भारतीय उद्योगो की व्यवस्था आमतौर पर अच्छी नही होती।

जैसे-जैसे यह भयकर जापानी लाग-डॉट बढती जा रही है, वैसे-वैसे दूसरे देश और विशेषत ब्रिटिश साम्राज्य के देश अपनी मण्डियो का दरवाजा उसके लिए बन्द करते जा रहे है। अगर जापानी माल का इस तरह बहिष्कार किया जायगा तो जापान क्या करेगा? उसके महान् उद्योग नष्ट हो जायगे और सारी आर्थिक व्यवस्था चौपट हो जायगी। यह बात दूसरी है कि उसे चीन के भीतरी हिस्से में उतना ही बड़ा बाजार मिल जाय। लेकिन इसकी सम्भावना बहुत कम है। बस इसी तरह की नाशकारी स्पर्धा पूजीवादी प्रणाली में चलती रहती है। कि इससे झगडे खडे होते है। आर्थिक प्रतिशोध की कार्रवाइयाँ होती हैं और अखीर में युद्ध तक छिड़ जाता है। (आर्थिक प्रतिशोध की कार्रवाइयाँ तो हम हिन्दुस्तान में भी देख रहे हैं।)

इसी तरह अगर ब्रिटेन के घरू बाजार का दरवाजा योरप के दूसरे मुल्को के लिए बन्द कर दिया जाय तो उससे भी इनमें से कई देश बरबाद ही होजायँगे। इसतरह हम देखते है कि हर देश अपने ही भले के लिए जो उपाय कर रहा है उनसे दूसरे देशो को और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को हानि पहुँचती है और सघर्ष और झगडा पैदा होता है।

मध्यमवर्ग है और अबतक इस वर्ग ने नागरिक प्रजातंत्र को कायम रक्खा है। स्पेन के मध्यमवर्ग के लोकशाही शासन के इतने अधिक दिन तक जीवित रहनें का तीसरा कारण यह है कि इसनें कृषि-सुधार को समस्या को जरा उत्साह के साथ हाथ में लिया है और इस तरह किसानो को थोड़ा आराम पहुँचाया है। लेकिन यह सब कुछ होते हुए भी आज स्पेन में मौलिक अस्थिरता दिखाई देती है। दमन खूब है—और चाहे स्पेन को लेलो, चाहे भारत या और किसी देश को लो, बड़े पैमानें पर होनेंवाला दमन सदा इस बात का चिन्ह होता है कि शासन-यंत्र में डर घुस गया है और उसे अपनी स्थिरता का भरोसा नहीं रहा है।

स्पेन की मौजूदा सरकार उग्र दल की उदार लोकसत्ता बताई जाती है और उसपर समाजवाद की हलकी-सी छाप है। प्रधानमत्री मेनेल अजाना सरकार और देश का सबसे ताकतवर आदमी समझा जाता है। राष्ट्रपति अलकला जमोरा है। अजाना खुद समाजवादी नहीं है, मगर स्पेनिश पार्लमेण्ट यानी 'कोर्टे' में समाजवादी दल उसका साथ देता है। यह दल सबसे सबल और सुसंगठित है। इस दल की पीठ पर मजदूर-सभायें है और समाजवाद में मार्क्स का अनुयायी होनें पर भी यह दल साम्यवाद का विरोधी है। साम्यवादी दल स्पेन में कमजोर है, परन्तु अराजकतावादियो का दल शक्तिशाली है। ये लोग 'अराजक संघवादी' (Anarcho-Syndicalists) कहलाते है।

मैंनें तुम्हे किसी पिछले खत में बताया था कि किस तरह उद्योगवाद में पिछड़े हुए दक्षिणी योरप के देशो में अराजकतावाद की वृद्धि हुई। इसके साथ बम फेंकने वगैरा के कामो को न मिला देना। इंग्लैण्ड और जर्मनी में मजदूर-आन्दोलन का निर्माण श्रमजीवी-संघ के ठोस ढंग पर हुआ था और इटली और स्पेन में अराजकता-वाद के विचार अधिक फैले थे। कार्ल मार्क्स और बकूनिन का पुराना झगड़ा इसी विषय पर हुआ था और बकूनिन को अधिकाश अनुयायी दक्षिण से मिले थे। इसी विषय को लेकर मार्क्स ने बकूनिन को प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ में से निकलवा दिया था। परन्तु अराजकतावाद और किसी देश से स्पेन में अधिक रहा। पूर्वी समुद्र-तट पर बार्सिलोना में इसका ज्यादा जोर है। जनवरी १९३३ में अराजकतावादियो का एक बड़ा विद्रोह हुआ, मगर वह दबा दिया गया।

यह बात पूरी तरह स्पष्ट नहीं है कि ये अराजक-संघवादी लोग क्या चाहते है। कम-से-कम मै तो उन्हे या उनकी नीति को समझ नहीं पाया। मुझे वह निरर्थक मालूम होती है। उनके सिवा स्पेन में दो तरह के विचारो के लोग और है। इनमें से एक के हाथ में इस वक़्त सत्ता है। यह उदार लोकसत्ता की मंजिल पार करके धीरे-धीरे समाजवाद तक पहुँचना चाहता है। दूसरा दल पूरे समाजवाद या समूहवाद

वहां कई विद्रोह हुए। राजा के दल वाले राजा को वापस लाने की कोशिश करते रहे और उग्र दल के समाजवादी और दूसरे लोग सर्वेसर्वा शासकों और प्रतिगामी सरकारों से पिण्ड छुडाने का प्रयत्न करते रहे। मगर प्रजातन्त्र किसी-न-किसी रूप में अबतक चला आरहा है। उसपर आम तौर पर सैनिक दल का काबू रहा है। महायुद्ध में पुर्तगाल ने इग्लैण्ड, फ्रास और उसके साथियो की तरफदारी की थी और उसमें से वह बडा भारी कर्जा मोल लेकर निकला था। नतीजा यह हुआ कि उसका दिवाला निकल गया। १९२६ से इस देश का कर्ता-धर्ता और सैनिक शासक जनरल कार्मोना है। वहां विद्रोह होने की खबरें बहुत बार उडती है। जब मैं ये पक्तियाँ लिख रहा हूँ, वैसा ही समाचार फिर निकला है। इससे यह जाहिर है कि मौजूदा शासन में स्थिरता नही है।

मैं पिछले खत में लिख चुका हूँ कि स्पेन में भी प्राइमो-द-रिवेरा के हाथ में सारी सैनिक और शासन की सत्ता थी। यह व्यवस्था मोरक्को में अब्दुलकरीम के खिलाफ जग में बार-बार हार खाने के बाद कायम हुई। आखिरकार उसके स्थान पर स्पेन का प्रजातत्र कायम हुआ। पुरानें एकतत्र शासन की इमारत पूरी तरह जर्जर हो-चुकी थी और रूस की जारशाही की तरह वह भी दुश्मन से लोहा लिये बिना ही चूर-चूर होगई। यहाँ का राजा बूर्बन और हैप्सबर्ग दोनो राजवंशो की सन्तान था। जब अप्रैल १९३१ में म्युनिसिपल चुनाव में प्रजातन्त्रवादियो की जबरदस्त जीत हुई तो इतने ही मे डरकर राजा भाग गया। इस क्रान्ति की तारीख १४ अप्रैल १९३१ थी। उसी दिन वहाँ अस्थायी सरकार कायम होगई।

स्पेन की यह क्रान्ति मार्च १९१७ वाली रूस की पहली क्रान्ति से बहुत मिलती-जुलती है। दोनो ही जगह क्रान्ति सामन्तशाही का सफाया करने के लिए देर से होने-वाली कोशिश थी और उसके लिए खास जोर दुःखी और असन्तुष्ट किसानो ने लगाया था। क्रान्ति के बाद भी स्पेन की हालत वैसी ही हुई जैसी १९१७ के मार्च और नवम्बर की दोनो क्रान्तियो के बीच में रूस की हुई थी। स्थिरता के कही दर्शन नहीं होते और अलग-अलग वर्ग अपनी खिचडी अलग-अलग पकाते रहे। क्रान्ति के विरोध में विद्रोह हुए और दबा दिये गये। यह हाल उग्र दल के विद्रोहो का हुआ है। स्पेन का अन्त क्या होगा, यह कहना मुश्किल है। मगर रूस की समानता से यह विचार जरूर होता है कि शायद यहाँ भी दूसरी क्रान्ति होगी और शासन-सूत्र मजदूरो और किसानो के हाथ में आजायगा। मुमकिन है कुछ वर्ष तक यह न भी हो। रूस में जो घटना-चक्र इतनी तेजी से चला उसका कारण यह था कि उस वक्त महायुद्ध जारी था और उससे बहुत बरबादी और कष्ट हुआ था। स्पेन में रूस से भी अधिक बलशाली

कि जून १९३३ में उसनें अजाना को प्रधान मंत्री के पद से मौकूफ कर दिया। परन्तु अजाना की जगह लेने के लिए कोई नहीं था, इसलिए वह प्रधान मंत्री बनकर फिर लौट आया।

दूसरी यानी किसानो की समस्या हल होना अभी बहुत दूर की बात है। सरकार का यह इरादा था कि जिन जमींदारो की जमींदारी छीनी जाय उन्हे मुआवजा देदिया जाय और जितनी बडी जमीदारी हो उतना ही कम मुआवजा दिया जाय। यह क्रिया बहुत धीरे-धीरे हुई और रूस की तरह दूर-दूर के किसानो ने कानून अपनें हाथ में लेकर जमींदारियो पर कब्जा कर लिया। इससे सरकार को बड़ा धक्का पहुँचा और उसनें जल्दी से क़ानून बना डाले। उसके सौभाग्य से ठीक उसी समय राजा के पक्ष में एक विद्रोह होगया और उसमें बहुत-से बडे-बडे सरदारो, उमरावो और जमीदारों ने हिस्सा लिया। विद्रोह आसानी से दबा दिया गया और जिन लोगो ने विद्रोह में भाग लिया था उनकी जायदादें जब्त करने का सरकार को अच्छा बहाना मिल गया। कुछ और बडी-बडी जायदादें छीन ली गई, क्योकि "वे अनियमित ढंग पर पैदा हुई थीं।" फिर ये छीनी हुई जमीदारियाँ किसानों को बाँट दी गई।

इन सब बातो के बावजूद अब भी बडी-बडी खानगी जायदादें हैं और राज्य का साधारण आर्थिक नियन्त्रण अनुदार लोगो के हाथ में है। अभीतक इस मूल आर्थिक समस्या को सुलझाने की बात सरकार टालती रही है।

शिक्षा-सम्बन्धी कार्यक्रम में अच्छी प्रगति हुई है और १९३३ के शुरू तक १० हजार नई पाठशालायें बन चुकी है।

सरकार के सामनें एक मुश्किल सवाल केटेलोनिया का था। यह पूर्वी समुद्र-तट का एक प्रान्त है। बार्सिलोना इसकी राजधानी है और अराजकतावाद का यहाँ अड्डा है। मुद्दत से इस प्रान्त ने अलग रहने का आन्दोलन किया है और जब स्पेन में प्रजा-तन्त्र हुआ तो केटेलोनिया ने अपनें अलग प्रजातन्त्र की घोषणा करदी। परन्तु मालूम होता है केटेलोनिया को स्पेन के प्रजातन्त्र के अधीन बहुत कुछ स्वशासन देकर समझौता कर लिया गया है।

इस तरह पुराना और कछुए की चाल चलनेवाला स्पेन दिन-दिन तेजी के साथ बदल रहा है। पादरियो का असर जाता रहा, उमरावों की शक्ति बिलकुल क्षीण होगई और सामन्तशाही विलीन होरही है। खेती-सम्बन्धी सुधारो से किसानों के कष्ट कुछ कम हुए है, परन्तु उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए अभी बहुत कुछ करना बाकी है। सवाल यह है कि मध्यम वर्ग का लोकशाही प्राजातन्त्र इस सुधार-कार्यक्रम को जारी रख सकेगा या दूसरी क्रान्ति और होगी और नये सिरे से काम शुरू करना पडेगा?

(Collectivism) की तरफ सीधा ही बढ़ना चाहता है और नये सिरे से काम शुरू करना चाहता है ।

स्पेन के नये विधान में कुछ दिलचस्प बाते है । व्यवस्थापिका सभा यानी 'कोर्ट' एक ही है और सभी बालिग स्त्री-पुरुषों को राय देने का हक हासिल है । खास बात यह है कि राष्ट्र-संघ की मंजूरी के बिना राष्ट्रपति को लड़ाई का ऐलान करने की मनाई है । जितने अन्तर्राष्ट्रीय नियम राष्ट्र-संघ में बनते है और स्पेन द्वारा मंजूर कर लिये जाते है वे तुरन्त स्पेन का कानून बन जाते है और अगर कोई निश्चित कानून उनके विरुद्ध पहले से होता है तो वह भी रद होजाता है ।

शुरू-शुरू में जो कानून बने उनमें यह बात भी थी कि किसी व्यक्ति या कुटुम्ब के अधिकार में २५ एकड़ से ज्यादा आबपाशी की जमीन नहीं रह सकती, और यह भी उसी वक्त तक रह सकती थी जबतक कि उसमें काश्त होती रहे । करखानो में मजदूर-समितियो को अधिकार दिया गया था कि कुछ बातो में वे कारखानो की व्यवस्था पर भी देखरेख रक्खें । खानगी ठेके उठाकर उनपर राज्य का अधिकार कर दिया गया । ३ वर्ष में २८ हजार नई पाठशालायें खोलने का शिक्षा-सम्बन्धी बड़ा कार्यक्रम तय किया गया । मजदूरो के लिए कम-से-कम इतनी मजदूरी मुकर्रर करदी गई कि वे सुख से रह सके ।

ये और बहुत-से और कानून बन तो गये, मगर सबपर अमल नहीं हुआ । फिर भी इसमें सन्देह नही कि पिछले दो सालो में बहुत कुछ हुआ है । प्रजातन्त्र ने जो दो बडी समस्यायें हाथ में ली वे है चर्च की और किसानो की ।

स्पेन सदियो से एक ऐसा देश रहा है जहाँ कैथलिक (सनातनी ईसाई) सम्प्रदाय का जोर है । ईसाई-धर्म में आस्था न रखनेवालों को दण्ड देनेवाले न्यायालय—'इनक्विज़िशन'—यहींसे शुरू हुए थे । जेसुइटपंथ का प्रवर्त्तक भी एक स्पेनी ही था । सभी कार्यों में चर्च यानी पादरियो का असर रहता था । सबसे ज्यादा असर शिक्षा-प्रणाली पर था और यह ज्यादातर उन्हीके नियन्त्रण में रहती थी । प्रजातन्त्र ने शिक्षा पर से यह पुराना पंजा हटा दिया । कोर्टे ने गिरजाघरों की ५० करोड़ डालर की सम्पत्ति को राष्ट्र की सम्पत्ति बना दिया और ८० हजार साधुओ और साध्वियो का पाठशालाओ में पढ़ाने का अधिकार छीन लिया । विचार यह है कि १ जनवरी १९३४ तक सारी प्राथमिक और माध्यमिक पाठशालायें राज्य के हाथ में आजायें ।

इस नीति का कुदरती नतीजा रोम के पोप के साथ टक्कर होना था । पोप ने राष्ट्रपति को समाज-बहिष्कृत करने की खुली धमकी दी और उसे इतना भय लगा

किसी पिछले खत में इटली का हाल लिखते हुए मैंने फैसिज्म की चर्चा की थी और बताया था कि यह उस समय कायम हुआ, जब आर्थिक संकट के जमाने में पूंजीवादी राज्य को सामाजिक क्रान्ति का खतरा था। मालिक पूँजीवादी वर्ग ने सामूहिक आन्दोलन खड़ा करके अपनी रक्षा का प्रयत्न किया। इसके लिए शुरू में नीचे दर्जे के मध्मवर्ग को साधन बनाया गया और भोले-भाले किसान और मजदूरों को आकर्षित करने के लिए भ्रम में डालनेवाले पूँजीवाद के विरोधी नारे इस्तेमाल किये गये। जब सत्ता और राज्य का नियत्रण हाथ में आगया तो सारी लोकसत्तात्मक संस्थाओ का सफाया होने लगा, दुश्मन कुचले जाने लगे और सभी मजदूर संस्थायें खासतौर पर नष्ट-भ्रष्ट की जाने लगी। इस तरह उनका शासन प्रधानतः हिंसा की बुनियाद पर खड़ा है। नये शासन में मध्यमवर्ग के समर्थको को नौकरियाँ देदी गई है और आमतौर पर कारखानो पर राज्य का कुछ-न-कुछ नियंत्रण कायम होगया है।

हम देखते है और इसकी संभावना भी की जा रही थी कि जर्मनी में यह सब कुछ हो रहा है, लेकिन ताज्जुब की बात तो यह है कि इसके पीछे कितनी जबरदस्त प्रेरणा है और कितने ज्यादा लोग हिटलर से जा मिले है।

नाजी प्रतिक्रिया पाँच महीने पहले यानी मार्च १९३३ में हुई। लेकिन मै तुम्हे इस आन्दोलन के शुरू के हालात बताने के लिए थोड़ा पीछे ले जाऊँगा।

१९१८ की जर्मन क्रान्ति, सच कहा जाय तो, नकली चीज थी; वह कोई क्रान्ति नहीं थी। कैसर चला गया और प्रजातत्र की घोषणा होगई। मगर पुरानी राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रणाली बनी रही। कुछ वर्ष तक नरम मार्क्सवादियो यानी लोकसत्तात्मक समाजवादियो के हाथ में राज्य का नियंत्रण रहा। उन्हे पुराने प्रतिगामी और स्थायी स्वार्थ वाले लोगो का बड़ा डर था और वे सदा उनसे समझौता करने की कोशिश करते रहते थे। उनकी पीठ पर उनके दल के जबरदस्त संगठन का जोर था। लाखो सदस्य और श्रमजीवी-संघ उनके हाथ में थे और बहुत लोगो की सहानुभूति उनके साथ थी। लेकिन प्रतिगामी शक्तियो के सामने उनकी नीति सदा बचाव की रही। आक्रमणकारी रुख तो उन्होने अपने ही उग्र अग और साम्यवादी-दल के प्रति रक्खा। उन्होने अपने काम में इस बुरी तरह घोटाला किया कि उनके बहुत-से सहायको ने उनका साथ छोड़ दिया। मजदूर उन्हे छोडकर साम्यवादी-दल में मिल गये और कई लाख सदस्यो के होने से वह दल खूब ताकतवर बन गया। मध्यमवर्ग के मददगार प्रतिगामी दलो में जा मिले। लोकसत्तात्मक समाजवादियो (Social Democrats) और साम्यवादियो में बराबर आपस में ठनी रहती थी। इससे दोनो की ताकत कमजोर होगई।

: १९० :

जर्मनी में नाज़ियों की जीत

३१ जुलाई, १९३३

स्पेन की क्रान्ति पर कुछ लोगों को ताज्जुब हुआ, लेकिन असल में ताज्जुब की कोई बात न थी। यह स्वाभाविक घटना-चक्र की बात थी और ध्यान से देखनेवाले लोग जानते थे कि यह होकर रहेगी। राजा, सामन्त और पादरियों की इस पुरानी इमारत में घुन लग चुका था और कोई बल बाक़ी नहीं रहा था। आज की परिस्थिति से उसका बिल्कुल मेल नहीं बैठता था और इस तरह पके फल की तरह हाथ लगते ही वह गिर पड़ी। हिन्दुस्तान में भी अभीतक पुराने जमाने की सामन्तशाही के बहुत-से खण्डहर बाकी हैं। उन्हें विदेशी सत्ता का सहारा न मिले तो वे शायद जल्दी ही मिट जावें।

लेकिन जर्मनी में हाल ही में जो परिवर्तन हुए हैं वे बिलकुल दूसरी तरह के हैं; और उन्होंने बेशक योरप को हिला दिया है और बहुत-से लोगों के होश उड़ा दिये हैं। हमारे लिए वे अभी इतने नजदीक की चीज़ हैं कि अभी उनके बारे में तटस्थ रहकर कोई राय नहीं बनाई जा सकती, क्योंकि रोज़ नई-नई ख़बरें आती हैं और उनसे या तो खीझ पैदा होती है या गुस्सा आता है। दूर से देखनेवाले को कुछ ऐसा मालूम होता है कि ज्यादातर जर्मनों का सिर फिर गया है। उनके हैवानी और जंगली व्यवहार का और कोई अर्थ ही नहीं समझ में आता। और यह कोई अर्थ भी नहीं। जर्मनों-जैसे सुसंस्कृत और बड़े ही उन्नत लोगों का इस तरह का वर्ताव देखकर बड़ा आश्चर्य होता है।

हिटलर और उसके नाज़ियों की जर्मनी में जीत होगई है। उनको फ़ैसिस्ट कहा गया है और उनकी जीत प्रतिक्रान्ति की जीत बताई गई है, यानी १९१८ की जर्मन क्रान्ति के बाद जो हुआ उसमें उलटी गंगा बह रही है। ये सब बातें बिलकुल सही हैं और हिटलरशाही में फैसिज्म के सारे तत्त्व, भयंकर प्रतिक्रिया और सारे उदार-दलों और ख़ासतौर पर मजदूरों पर जंगली हमलों की प्रवृत्ति मिलेगी। फिर भी इसमें इटली के फैसिज्म से बहुत कुछ बातें अधिक हैं। इसमें कोरी प्रतिक्रिया नहीं है, बल्कि यह कुछ अधिक विशाल और सामूहिक भावना पर आधार रखनेवाला आन्दोलन है। सामूहिक भावना अधिक लोगों यानी श्रमिकों की नहीं है बल्कि उस मध्यमवर्ग की है जो भूखों मर रहा था, जिसके पास कोई अधिकार न रहे थे, और इसलिए जो क्रान्तिकारी बन गया था।

'तूफानी दल' (Storm Troops) के नाम से भूरे कुर्ते की वर्दी वाली एक लड़ाकू सेना भी संगठित की। इसीलिए जैसे इटली के फैसिस्टो को काली कुर्तीवाले कहते है, वैसे ही नाजियो को भी अक्सर भूरी कुर्तीवाले (Brownshirts) के नाम से पुकारते है।

नाजियो का कार्यक्रम न स्पष्ट था और न रचनात्मक। वह तीव्र राष्ट्रीयतावादी था और जर्मनी और जर्मनो की महानता पर जोर देता था। बाकी बातो में तो वह भिन्न-भिन्न विरोधी भावनाओ की खिचडी था। वर्साई के सुलहनामे के खिलाफ तो वह था ही। उसे हर जर्मनी अपमानजनक समझता था। इसलिए बहुत लोग नाजियों की ओर आकर्षित हुए। यह कार्यक्रम मार्क्सवादियो, साम्यवादियो और समाजवादियों सबके खिलाफ था और मजदूर-सघो वगैरा का विरोधी था। यहूदियो से उसे खास चिढ़ थी, क्योकि यहूदियो को विदेशी जाति समझा जाता था और कहा जाता था कि वे जर्मनी की पवित्र आर्य नस्ल को बिगाड़ते है और उसके ऊँचे रहन-सहन को नीचा करते है। अस्पष्ट रूप से वह पूंजीवाद का विरोधी भी था, लेकिन बस इतना-सा ही कि मुनाफा खानेवालो और धनवानो को गालियाँ देदी जायें। इन लोगो के दिमाग में अगर कोई समाजवाद की, और वह भी धुंधली-सी, कल्पना थी तो यह थी कि सार्वजनिक सम्पत्ति पर राज्य का थोडा-बहुत नियन्त्रण होना चाहिए।

इन सब बातो के पीछे हिंसा की एक असाधारण विचार-धारा थी। हिंसा की प्रशंसा तो होती ही थी और उसे प्रोत्साहन भी दिया जाता था। हिंसा करना मनुष्य का सर्वोच्च कर्तव्य भी समझा जाता था। जर्मनी का एक मशहूर दार्शनिक, ऑस्वाल्ड स्पेंग्लर इस तत्त्वज्ञान का भाष्यकार है। वह कहता है—"मनुष्य शिकारी जानवर है, वीर, चालाक और निर्दय है" . ...."आदर्श कायरता के चिन्ह है"... "प्रगतिमान जीवो का शिकारी पशु ही सबसे ऊँचा स्वरूप है।" वह कहता है कि "सहानुभूति, राजीनामा, और शाँति ये दन्तहीन भावनायें है और घृणा ही शिकारी पशुओ की सबसे सच्ची जातीय भावना है।" मनुष्य को सदा सिंह के समान होना चाहिए जो अपनी गुफा में किसी बराबरीवाले का रहना कभी सहन न करे। उसे गाय की तरह दब्बू बनकर न रहना चाहिए, जो झुंड बनाकर रहती है और इधर से उधर हाकी जाती है। अवश्य ही इस प्रकार के मनुष्य के लिए युद्ध सबसे बड़ा और सुख देनेवाला काम होगा।

ऑस्वाल्ड स्पेंग्लर आज के बडे-से-बडे विद्वानो में एक है। उसनें जो पुस्तके लिखी है उनमें भरे हुए असाधारण पाण्डित्य को देखकर आश्चर्य होता है। और इस सारी विद्वत्ता से उसने ये विस्मयकारी और घृणापूर्ण परिणाम निकाले है! उसके उद्धरण मैंने इसलिए दिये है कि उनसे हमें हिटलरवाद के पीछे काम करनेवाली मनो-

जब लडाई के बाद के वर्षो में जर्मनी ने धड़ाधड़ नोट छापकर निकाले तो जर्मनी के कारखानेदारो और बडे-बडे जमींदारो ने इस कार्रवाई का समर्थन किया। जमींदारो पर भारी कर्ज था और उनकी जायदादें गिरवी रक्खी हुई थीं। सिक्के का उस समय प्राय कुछ भी मूल्य न था। उनके कर्ज चुक गये और जायदादें फिर उनके कब्जे में आगईं। बडे-बडे कारखानेदारो नें अपने यंत्र सुधरवा लिये और बडी-बडी कम्पनियां बनालीं। जर्मनी का माल इतना सस्ता होगया कि वह हर कहीं आसानी से बिकने लगा और बेकारी गायब होगई। श्रमजीवी-वर्ग का मजदूर-सघो के रूप में प्रबल सगठन था और मार्क के गिर जानें पर भी उन्होने अपनी मजदूरी न घटने दी। सिक्के के गिरजाने से मध्यमवर्ग की कमर टूट गई और वह बिलकुल दरिद्र होगया। १९२३-२४ में यही अपहृत मध्यमवर्ग पहलेपहल हिटलर के साथ शामिल हुआ। जब बैंको के दिवाले निकलनें और बेकारी के बढ़ने से मन्दी फैली तो और बहुत लोग हिटलर के साथ शामिल होगये। वह असन्तुष्ट लोगो के लिए आश्रय-स्थान बन गया। साथियो के मिलने का दूसरा बडा साधन पुरानी सेना का अफसर वर्ग था। महासमर के बाद वर्साई की सन्धि की शर्तो के अनुसार यह फौज तोड़ दी गई थी और हजारो अफसर बेकार होगये थे। उनके पास कोई काम न था। उस समय अलग-अलग खानगी फौजें बन रही थीं। इन फौजो का नाम 'नाजी स्टॉर्म ट्रूप्स' यानी नाजी तूफानी दल था। राष्ट्रवादियो की फौलादी टोपियों (Steel-helmets) वाली सेना थी। ये लोग अनुदार दल के थे और कैसर के वापस आनें के पक्ष में थे। बेकार अफसर इन सेनाओ में भर्ती होगये।

एडोल्फ हिटलर कौन था ? आश्चर्य की बात तो है मगर, सच है कि एक दो साल पहले तक वह जर्मन नागरिक तक नही बना था। वह जर्मन-आस्ट्रियन था और उसने छोटी हैसियत से युद्ध में काम किया था। उसने जर्मन प्रजातन्त्र के विरुद्ध विद्रोह में भाग लिया था, मगर अधिकारियो ने रिआयत करके उसे छोड़ दिया था। फिर उसने लोकसत्तात्मक समाजवादियो का विरोध करने के लिए राष्ट्रीय समाजवादियो (Natoinal Socialists) के नाम से अपना दल सगठित किया। नाजी शब्द इसी नाम से निकला है। 'नेशनल' (National) से ना (NA) और सोजीयलिस्ट (Sozialist) (जर्मन में सोशलिस्ट की जगह यह शब्द इस्तेमाल होता है) से "जी" (Zi) लेलिये गये हैं। यद्यपि इस दल का नाम समाजवादी था, परन्तु समाजवाद से इसका कतई वास्ता न था। समाजवाद का जो साधारण अर्थ है उसका हिटलर जानी दुश्मन था और है। इस दल ने अपना चिन्ह स्वस्तिक को बनाया। यह शब्द सस्कृत का है, लेकिन यह निशान प्राचीन काल से ससार-भर में प्रसिद्ध है। नाजियो ने

था। उसने अपनी अधिकतर शक्तियाँ साम्यवादियो के विरोध में खर्च की। दिल्लगी यह कि ये दोनो दल अपने-अपने ढंग पर मार्क्सवादी थे।

इस तरह जर्मनी बराबरी की फौजो की एक छावनी-सी बन गया। अक्सर दंगे होने लगे और खास तौर पर नाजियो द्वारा साम्यवादी मजदूरो की हत्यायें होने लगीं। कभी-कभी मजदूर भी बदला लेते। हिटलर को अपना भानमती का पिटारा कायम रखने में विलक्षण सफलता मिली। इसमें मुख्तलिफ किस्म के लोग थे जिनकी बहुत थोडी बाते एक-दूसरे से मिलती थीं। इसमें एक तरफ निम्न श्रेणी के मध्यमवर्ग और बडे-बडे कारखानेदारो और दूसरी तरफ धनी किसानो की अजीब खिचडी-सी थी। कारखानेदार हिटलर का साथ और उसे रुपया इसलिए देते थे कि वह समाजवाद को कोसता था और बढ़ते हुए मार्क्सवाद और साम्यवाद के विरुद्ध एक ही स्तम्भ दिखाई देता था। गरीब मध्यमवर्ग के लोगो, किसानो और मजदूरो को उसके पूंजी-विरोधी नारो से आकर्षण होता था।

१९३३ के मार्च के शुरू की बात है या फरवरी की, मुझे ठीक-ठीक याद नही, जब बूढे राष्ट्रपति हिंडनबर्ग ने, जिसकी उम्र अब ८६ वर्ष की है, हिटलर को चांसलर बना दिया। यह प्रधानमत्री की बराबरी का जर्मनी में सबसे ऊँचा ओहदा है। उस वक्त नाजियो और राष्ट्रवादियो में मेल था, मगर बहुत जल्द यह जाहिर होगया कि सम्पूर्ण अधिकार नाजियो के हाथ में है और दूसरे किसी की कोई गिनती नही है। साधारण चुनाव में नाजियो और उनके मित्र राष्ट्रवादियो का रीस्टॅग में नाम मात्र का बहुमत होगया। बहुमत न भी होता तो कोई बात न थी, क्योकि नाजी अपने विरोधियो को पार्लमेण्ट में ही पकड़कर जेलखाने भेज देते थे। इस तरह सारे साम्यवादी और बहुतसे लोकसत्तात्मक समाजवादी सदस्यो को हटा दिया गया। ठीक इसी समय रीस्टॅग की इमारत आग लगकर खाक होगई। नाजियो ने कहा कि यह साम्यवादियो का काम है और राज्य की जड़ काटने के लिए साजिश है। साम्यवादियो ने जोरदार शब्दो में इसका खण्डन किया। इतना ही नहीं, उन्होने नाजियो के नेताओ पर यह अभियोग लगाया कि उन्होने साम्यवादियो पर हमला करने का बहाना ढूँढने के लिए आग लगाई है।

इसके बाद जर्मनी-भर में नाजियो का आतक शुरू होगया। पहलेपहल पार्लमेण्ट बन्द करदी गई, हालाँकि नाजियो का बहुमत था। सारी सत्ता हिटलर और उसके मत्रिमण्डल को सौंप दी गई। वे जो चाहे सो कानून बनावे या करे। इस तरह प्रजातंत्र के 'वेमर' विधान का सफाया करके लोकसत्ता के सारे स्वरूप को खुले तौर पर नष्ट कर दिया गया। जर्मनी में एक प्रकार का सघ-शासन था। इसका भी खात्मा

वृत्ति समझ में आती है और पिछले कुछ महीनो में जो निर्दयता और पशुता हुई है उसके कारण स्पष्ट होजाते है। हॉ, यह नही मान लेना चाहिए कि सारे नाजियो के विचार ऐसे ही है। परन्तु नेताओ और उग्र अगो के खयाल जरूर यही है, और लोग इन्हीकी नकल करते है। शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि साधारण नाजी विचार ही नही करता। उसे अपने दु ख और राष्ट्रीय अपमान ने जगा दिया और जो स्थिति थी उसपर उसे क्रोध आगया। (रूर प्रदेश पर फ्रेंच अधिकार होने से जर्मनी में बडा रोष था)। जो हालात मालूम हुए है उनसे ऐसा दीखता है कि हिटलर बड़ा विलक्षण और जोरदार वक्ता है। उसने अपने बेशुमार श्रोताओ की भावनाओ को जगाया और जो कुछ होरहा था उसका सारा दोष मार्क्सवादियो और यहूदियो के सिर मढ दिया। जर्मनी के साथ फ्रास या अन्य विदेशो ने बुरा बर्ताव किया तो यही लोगो के लिए नाजियो में मिल जाने का एक कारण बन गया; क्योकि जर्मनी की सम्मान-रक्षा नाजी ही तो करनेवाले थे। आर्थिक संकट और भी विकट हुआ तो नाजीदल में और अधिक लोग भर्ती होगये।

लोकसत्तात्मक समाजवादी दल ने थोडे ही समय में शासन का नियन्त्रण खो दिया और दूसरे दलो की लाग-डॉट के कारण 'कैथलिक सेण्टर' नामक दूसरे दल के हाथ में सत्ता आई। रीस्टॅग यानी जर्मन पार्लमेण्ट में कोई एक दल इतना जोरदार नहीं था कि दूसरो की उपेक्षा कर सके। इसलिए बार-बार चुनाव होते थे और दलो में आपस में साजिश और चालबाजियाँ जारी रहती थी। नाजियो की बढ़ती देखकर लोकसत्तात्मक समाजवादी इतने डर गये कि उन्होने पूँजीवादियो के केन्द्रीय दल और राष्ट्रपति के पद के लिए बूढे सेनापति हिंडनबर्ग के चुनाव का समर्थन किया। नाजियो की बढती के बावजूद मजदूरो के दोनो दल यानी लोकसत्तात्मक समाजवादी और साम्यवादी मजबूत थे और दोनो के ही लाखो आदमी अन्त तक सहायक रहे, परन्तु दोनो के लिए समान रूप से विपत्ति सामने होने पर भी उनमें परस्पर सहयोग नहीं होसका। साम्यवादियो को तो यह कटु स्मृति बनी हुई थी कि १९१८ के बाद लोकसत्तात्मक समाजवादियो ने अपनी सत्ता के जमाने में उन्हे किस तरह सताया था और सकट के हर अवसर पर उन्होने किस तरह प्रतिगामी दलो का साथ दिया था। उधर लोकसत्तात्मक समाजवादी दल ब्रिटिश मजदूर दल की तरह दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-सघ से सम्बद्ध था। उसके पास रुपये की कमी न थी, उसका संगठन खूब व्यापक था, और उसके हाथ में कृपा करने के विपुल साधन थे। वह अपनी सुरक्षित स्थिति और प्रतिष्ठा को खतरे में डालने का कोई काम नहीं करना चाहता था। उसे कानून के खिलाफ या सीधी लड़ाई की कुछ भी कार्रवाई करते हुए बड़ा डर लगता

की गई है। जिन अखबारों ने जरा भी मतभेद प्रकट किया या टीका की, उन्हे बेदर्दी के साथ कुचल दिया गया। इस आतंकवाद का कोई समाचार नहीं छापने दिया जाता और कानाफूसी तक की कडी सजा दी जाती है।

नाजी दल के सिवा और सब संगठन और दल दबा दिये गये है। पहली बारी साम्यवादियों की आई, बाद में लोकसत्तात्मक समाजवादी, फिर कैथलिक मध्य दल-वाले और अन्त में नाजियो के मित्र राष्ट्रवादी भी कुचल दिये गये। जर्मनी के बल-शाली मजदूर-संघ, जिनमें पीढ़ियो का परिश्रम, बचत और त्याग लगा था, तोड़ दिये गये और उनके सारे रुपये और सम्पत्ति को जब्त कर लिया गया। सिर्फ एक दल और एक संगठन रहने दिया गया; और वह है नाजी दल।

नाजियों की विचित्र विचार-धारा जबरदस्ती सबके गले के नीचे उतारी जाती है और आतंक इतना छाया हुआ है कि कोई चूं तक नहीं कर सकता। शिक्षा, नाटक, कलाओ और विज्ञान सभी चीजो पर नाजी-छाप लगाई जा रही है। कप्तान हरमन गोरिंग हिटलर के खास आदमियो में से है। उसका कहना है, "सच्चा जर्मन अपने खून के साथ विचार करता है।" दूसरे नाजी नेता का कहना है कि "शुद्ध तर्क और राग-द्वेष-रहित विज्ञान के दिन गुजर गये।" बच्चो को सिखाया जाता है कि हिटलर दूसरा ईसा है, मगर पहलेवाले से बड़ा है। नाजी-सरकार लोगो में और खासकर स्त्रियो में शिक्षा का बहुत विस्तार करने के पक्ष में नहीं है। असल में हिटलरवादियो की राय में स्त्री का स्थान घर और रसोई में है और उसका मुख्य काम राज्य के लिए लड़ने और मरने के लिए बच्चे पैदा करना है। डॉ० जोजेफ गोएबेल्स दूसरा बड़ा नाजी नेता और 'प्रचार और प्रकाशन' मंत्री है। उसने कहा है कि "स्त्री का स्थान कुटुम्ब में है और उसका उचित कार्य अपने देश और राष्ट्र के लिए बच्चे देना है। स्त्रियो को मुक्त करने में राज्य के लिए खतरा है। उन्हे चाहिए कि पुरुषो की बाते पुरुषो के लिए छोड़ दें।" इसी डॉ० गोएबेल्स ने हमें यह भी बता दिया है कि जनता को प्रकाश देने का उसका क्या तरीका है। वह कहता है—"मेरा इरादा यह है कि पियानो बाजे की तरह अखबारों को भी अपनी अँगुलियो पर नचाऊँ।"

इस सारी बर्बरता, पाशविकता और गरजने और आग उगलने के कार्यक्रम की पीठ पर वंचित मध्यमवर्ग की दरिद्रता और भूख का बल था। यह सचमुच नौकरियो और रोटियो की लड़ाई थी। यहूदी डॉक्टर, वकील, शिक्षक और दाइयो वगैरा को निकाल देने का कारण यह था कि 'आर्य-जर्मन' उनकी होड़ नहीं कर सकते थे। उनकी सफलता पर इन्हे ईर्षा थी और उनकी नौकरियाँ ये खुद लेना चाहते थे। यहूदी दुकानो को इसलिए बन्द कर दिया गया, क्योंकि वे सफल प्रतिस्पर्धी थीं। बहुत-सी

करके सारी शक्ति र्बालन में केन्द्रित करदी गई । सब जगह डिक्टेटर-ही-डिक्टेटर रख दिये गये । वे सिर्फ अपनेसे ऊपर वाले डिक्टेटर के प्रति ही जिम्मेवार थे । सब डिक्टेटरो का गुरुघण्टाल तो हिटलर था ही ।

इधर ये परिवर्तन होरहे थे, उधर नाजियों के सैनिक दलों को जर्मनी-भर में छोड दिया गया । ये लोग जहाँ जाते वही अजीब जंगली और हैवानी ढंग की हिंसा और भय-प्रदर्शन की कार्रवाइयाँ करने लगते । एसी बात पहले कभी नही हुई थी । इस तरह की मारकाट और जोर-जुल्म पहले भी हुए है, 'लाल आतंक' और 'सफेद आतक' का जिक्र इस किताब में पहले किया जा चुका है, लेकिन वे हमेशा उसी वक्त हुए है जब किसी देश या प्रधान दल को गृह-युद्ध में अपनें प्राणो के लिए लड़ना पडा है । भय-प्रदर्शन भयकर खतरे या निरन्तर भय के कारण हुआ करते हैं। परन्तु नाजियो के सामने ऐसा कोई खतरा भी नहीं था और भय का कारण भी नहीं था । सरकार उनके हाथ में थी और उनके मुकाबिले में कोई सशस्त्र विरोध भी नहीं था । इस तरह भूरी कुर्ती वालो का आतक क्रोध या डर का परिणाम नही था बल्कि जान-बूझकर बैठे-बिठाये, और अविश्वसनीय पशुता के साथ उन सब लोगो को दबा देने की बात थी जो नाजियो का साथ नहीं दे रहे थे ।

पिछले कुछ महीनो में जर्मनी में जो अत्याचार हुए है और अब भी परदे की आड़ में होरहे हैं उनकी सूची या फेहरिस्त लिखने से कोई फायदा न होगा । मारपीट, यातनायें, गोली मार देने, हत्यायें कर डालने वग़ैरा की पाशविक कार्रवाइयाँ बडे भारी पैमाने पर हुई है और स्त्री और पुरुष दोनो उनके शिकार हुए है । बहुत बडी तादाद में, जो १३,००० से ६०,००० के बीच में कूती जाती है, लोगो को जेल या नजरबन्दी में डाल दिया गया है और कहा जाता है कि उनके साथ बुरा बर्ताव किया जाता है । सबसे जोर का हमला तो साम्यवादियो पर किया गया है, मगर उनसे नरम लोक-सत्तात्मक समाजवादियो का भी कुछ ज्यादा अच्छा हाल नहीं हुआ । यहूदियो की बुरी तरह कमबख्ती आई है और शान्तिवादियो, उदार दल वालो, मजदूर-सघ वालों और अन्तर्राष्ट्रीयतावादियो पर भी हमले किये गये हैं । नाजी लोग डके की चोट कहते है कि यह तो मार्क्सवाद, और मार्क्सवादियो के ही नहीं, बल्कि 'उग्र' विचार वाले सभी लोगो का नाश करने का युद्ध है । यहूदियो को सारे पदो और धन्धो से भी निकाल बाहर करना है । हजारो यहूदी अध्यापक, शिक्षक, संगीतज्ञ, वकील, न्यायाधीश, वैद्य और दाइयाँ वर्खास्त करदी गई हैं । यहूदी दूकानदारो का बहिष्कार कर दिया गया है और यहूदी मजदूरो को कारखानो से निकाल दिया गया है । जो पुस्तके नाजियो को नापसन्द है वे ढेर-की-ढेर नष्ट करदी गई है और खुले तौर पर उनकी होलियाँ

हुई है कि लोकसत्तात्मक समाजवादियो का महान् दल मुकाबिले की जरा भी कोशिश किये बिना बिलकुल नेस्तनाबूद होगया। योरप के श्रमजीवीवर्ग का इससे पुराना, इससे बड़ा और इससे अधिक सुसंगठित दल और कोई न था। यह दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ की रीढ़ था। हालाँकि सिर्फ नाराजगी जाहिर करने से कुछ भी होना-जाना नहीं था, फिर भी इस दल ने इतना भी न किया। वह सारे अपमान और तिरस्कार को चुपचाप सहता रहा और अखीर में खुद भी मिट गया। पग-पग पर लोकसत्तात्मक समाजवादी नेता नाजियो के सामने झुकते गये। उन्हे हर बार यह उम्मीद होती थी कि झुकने और अपमान सहन करने से मुमकिन है कुछ तो बचा रह जायगा। लेकिन उनका झुकना ही उनके लिए बेडी होगया और नाजियो ने मजदूरो को बताया कि किस नीचता के साथ विपत्ति के समय उनके नेताओ ने उनका साथ छोड दिया। योरप के मजदूर वर्ग की लड़ाई के लम्बे इतिहास में हार अधिक और जीत कम हुई है। लेकिन इस बेहयाई के साथ, जरा भी विरोध किये बिना, मजदूर-पक्ष को धोखा देनें और आत्म-समर्पण करने की दूसरी कोई मिसाल नही मिलती। साम्यवादी दल ने लोहा लेनें की कोशिश की और आम हड़ताल कराई, लेकिन लोकसत्तात्मक समाजवादी नेताओ ने साथ नही दिया और हड़ताल टांय-टॉय फिस होगई। साम्यवादियो का दल टूट गया है, फिर भी उनका काम गुप्त सगठन के रूप में जारी है। मालूम होता है कि यह संगठन दूर-दूर तक फैला हुआ है। नाजियो के जासूसी विभाग के होते हुए भी साम्यवादियो के गुप्त समाचारपत्र का प्रचार कई लाख समझा जाता है। लोक-सत्तात्मक समाजवादियो के जो नेता किमी तरह जर्मनी से निकल भागे हैं उनमें से भी कुछ गुप्त उपायों द्वारा बाहर से थोड़ा बहुत प्रचार-कार्य कर रहे हैं।

भूरी कुर्ती वालो के आतंकवाद से सबसे ज्यादा कष्ट मजदूर-वर्ग को पहुँचा। लेकिन संसार का लोकमत यहूदियो के साथ होनेवाले व्यवहार से अधिक उत्तेजित हुआ था। योरप को वर्ग-युद्ध का अभ्यास-सा होगया है, और उसमें सहानुभूति अपनें-अपने वर्ग के साथ होती है। मगर यहूदियो पर जो हमला हुआ वह जातीय आक्रमण था। वह कुछ ऐसा था जैसा मध्ययुग में हुआ करता था, या हाल के जमाने में जार-शाही रूस जैसे पिछडे देशो में गैरसरकारी तौर पर हुआ करता था। सारी जाति पर सरकारी अत्याचार होने से योरप और अमेरिका को बड़ा आघात पहुँचा। यह आघात इस बात से और बढ़ गया कि जर्मन यहूदियो में संसार-प्रसिद्ध आदमी, तेजस्वी वैज्ञानिक, डाक्टर, वकील, संगीतशास्त्री और लेखक भी थे। इस सूची में एल्बर्ट आइन्स्टीन जैसे महान् व्यक्ति का नाम भी था। ये लोग जर्मनी को अपना घर समझते थे और सब जगह जर्मन समझे जाते थे। इनको पाकर कोई भी देश अपनें को

गैरयहूदी दुकानो को बन्द करके उनके मालिक गिरफ्तार कर लिये गये, क्योकि नाजियो को सन्देह था कि ये लोग बेजा तौर पर ऊँचे भाव लगाकर फायदा उठाते है। नाजियो का पक्ष लेनेवाले किसान पूर्वी एशिया की बडी-बडी जमीदारियो पर आँख लगाये बैठे है और उन्हे खुद बाँट खाया चाहते है। शुरू-शुरू के नाजी कार्यक्रम में एक खास मजेदार बात यह तजवीज थी कि १२ सौ मार्क सालाना से अधिक वेतन किसी को न दिया जाय। यह ८ हजार रुपये वार्षिक या ६६६ रुपये मासिक के बराबर होता है। मालूम नहीं इसपर कहातक अमल किया गया है, लेकिन यह जाहिर है कि कुछ-न-कुछ होरहा है। आजकल प्रधान मत्री की तनखाह २६ हजार मार्क सालाना यानी १ हजार रुपया माहवार है। प्रस्ताव यह है कि जिन खानगी कम्पनियो को सरकार से मदद मिलती है उनके सचालको या मालिको तक को १८ हजार मार्क वार्षिक से अधिक वेतन न दिया जाय। इन लोगो को पहले अक्सर बडी-बडी रकमें दी जाती थी। इन अको की तुलना उन भारी वेतनो से करो जो दरिद्र भारत अपने कर्मचारियो को देता है। कॉंग्रेस ने कराची में वेतन की सीमा ५ सौ रुपया मासिक बाँधने का प्रस्ताव किया है।

यह कल्पना नही करनी चाहिए कि नाजी-आन्दोलन के पीछे केवल पाशविकता और आतक ही है। ये चीजें मुख्य तो है, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि अधिकाश मजदूरो को छोड़कर बाकी के ज्यादातर जर्मनो में हिटलर के लिए बड़ा सच्चा उत्साह है। यदि पिछले चुनाव के अको को सही मानकर चला जाय तो ५२ फीसदी जनता हिटलर के पक्ष में है। ये ५२ फीसदी लोग शेष ४८ फीसदी या उनके एक भाग पर आतक जमा रहे है। इन ५२ फीसदी लोगो में अब तो शायद और भी शामिल होगये हो। ये सब हिटलर को खूब चाहते है। जर्मनी जाकर आये हुए लोग बताते है कि वहाँ एक अजीब मानसिक वातावरण पैदा होगया है और ऐसा मालूम होता है जैसे कोई धार्मिक पुनर्जीवन हो गया हो। जर्मन लोग महसूस करने लगे है कि वर्साई की सधि से वे वर्षो तक जिस अपमान और दमन के शिकार रहे वह अब जाता रहा और अब वे फिर आजादी से साँस ले सकते है। लेकिन जर्मनी के दूसरे आधे या लगभग आधे भाग की भावना दूसरी है। नाजियो के भयंकर प्रतिशोध के डर से जर्मनी का मजदूर-वर्ग उनकी आज्ञा या नियत्रण में है, लेकिन उसके दिल में घृणा और क्रोध की आग जल रही है। सारे मजदूरो को देखा जाय तो उन्होने पशुबल और आतंकवाद के सामने घुटने टेक दिये है और जिस इमारत को उन्होने बडे परिश्रम और त्याग से साथ खड़ा किया था उसकी बर्बादी को उन्होने दु ख और निराशा के साथ अपनी आँखो देखा है। पिछले कुछ महीनो में जर्मनी में जो-जो घटनायें हुई है उनमें सबसे आश्चर्य की बात यह

कुछ दिन तक ऐसा मालूम होने लगा कि योरप में लड़ाई छिड़ने ही वाली है। नाजियो के डर से योरप के राष्ट्रो में अचानक नई गुटबन्दी शुरू हुई। फ्रांस की सोवियट रूस के साथ घुटने लगी। वर्साई की सधि से पोलैण्ड, ज़ेकोस्लोवेकिया, यूगोस्लाविया वगैरा देश या तो स्वतंत्र हुए थे या इन्हे फायदा पहुँचा था। उस सधि के रद होने की सम्भावना से ये सब देश एक-दूसरे के नजदीक आगये और साथ ही रूस की तरफ खिचने लगे। आस्ट्रिया में आश्चर्यजनक स्थिति पैदा होगई। वहाँ (पाँच फुट से भी कम ऊँचे) चांसलर डॉलफस के हाथ में अधिकार आचुका था, मगर इसका फैसिज्म हिटलर के फैसिज्म से भिन्न था। आस्ट्रिया में नाजियो का जोर है, लेकिन डॉलफस उनका विरोध करता रहा है। इटली ने हिटलर की विजय का स्वागत किया, मगर उसके सारे हौसले नही बढाये। इग्लैण्ड अनेक वर्षो से जर्मनी के पक्ष में रहा था, लेकिन अब अकस्मात् उसका प्रबल विरोधी बन गया। अंग्रेज लोग उन्हे फिर से 'हूण' कहकर पुकारने लगे। हिटलर का जर्मनी योरप में बिलकुल अकेला पड़ गया। यह जाहिर था कि लड़ाई होती तो फ्रास की जबरदस्त फौज बेहथियार जर्मनी को कुचल डालती। हिटलर ने अपनी चाल बदल दी और शान्ति की बाते करने लगा। मुसोलिनी उसकी मदद पर पहुँच गया और उसने फ्रास, इग्लैण्ड, जर्मनी और इटली के बीच में चतुरंगी समझौते का प्रस्ताव रक्खा।

फ्रांस को हिचकिचाहट हुई थी, मगर अन्त में जून १९३३ में इस समझौते पर चारो राष्ट्रों के हस्ताक्षर होगये। जहाँतक इस समझौते की भाषा का ताल्लुक है वह निर्दोष-सी है, और उसमें इतना ही कहा गया है कि कुछ अन्तर्राष्ट्रीय मामलो में और खास तौर पर वर्साई की सधि पर पुनर्विचार करने के किसी भी प्रस्ताव के बारे में चारों राष्ट्र आपस में मशविरा कर लेगे। लेकिन यह संधि सोवियट के खिलाफ गुटबन्दी करने की एक कोशिश समझी जाती है। यह तो साफ है कि फ्रास ने उसपर बहुत ही बेमन से दस्तखत किये थे। शायद इस सधि के परिणामस्वरूप और इसके जवाब में पहली जुलाई १९३३ को सोवियट और उसके पडोसियो के बीच एक-दूसरे पर हमला न करने की सधि लन्दन में हुई थी। यह बडी दिलचस्पी की बात है कि सोवियट की इस सधि के प्रति फ्रांस ने बडी सहानुभूति और सहमति प्रकट की है।

हिटलर का मूल कार्यक्रम जर्मन पूँजीवाद का कार्यक्रम है। वह अपनेआपको सोवियट रूस से योरप की रक्षा करनेवाला बताता है। उसे मालूम है कि फ्रांस से तो कुछ मिलना है नहीं, जर्मनी के कही और इलाका हाथ लग सकता है तो सोवियट संघ से छीनकर पूर्व में ही लग सकता है। लेकिन इसके पहले जर्मनी का सशस्त्र होना जरूरी है और इसलिए वर्साई की संधि में इस आशय का परिवर्तन होने की जरूरत है। कम-से-

गौरवशाली समझ सकता था। मगर नाज़ी लोग तो जातीय द्वेष में इतने पागल और अन्धे होगये थे कि उन्होने इन्हे भी मार भगाया। इसपर दुनिया-भर में विरोध की ज़बरदस्त आवाज़ उठी। इसके बाद नाज़ियो ने यहूदी दुकानदारो और धन्धेवालो का बहिष्कार शुरू किया। विचित्र बात यह थी कि इन यहूदियो को आम तौर पर जर्मनी छोडकर जाने भी नहीं दिया जाता था। ऐसी नीति का यही नतीजा होसकता था कि ये लोग भूखो मर जायें। दुनिया के शोर मचाने से यहूदियो के ख़िलाफ़ नाज़ियों के खुले तरीके तो नरम पड़ गये, मगर नीति वही है।

लेकिन यहूदी लोग यद्यपि संसार-भर में बिखरे हुए है और वे किसीको भी अपना राष्ट्र नहीं कह सकते, फिर भी वे इतने निस्सहाय नहीं है कि बदला न ले सकें। व्यवसाय और पूंजी बहुत-कुछ उनके हाथ में है और उन्होने चुपचाप बिना शोरगुल मचाये जर्मन माल के बहिष्कार का ऐलान कर दिया है। इतना ही नहीं, उन्होने न्यूयार्क में मई १९३३ में एक परिषद् करके एक प्रस्ताव किया है, जिसमें निश्चय किया गया है कि "जर्मनी के सारे माल का, सामग्री का और जर्मनी में तैयार हुई, पैदा हुई और सुधारी हुई सब चीज़ो और उनके हिस्सो का बहिष्कार किया जाय। जर्मनी के सब जहाज़ो और माल व मनुष्यो को ले जानेवाले साधनो तथा जर्मनी के स्वास्थ्य और सुखप्रद स्थानो और आरामगाहो का भी बहिष्कार किया जाय। और आम तौर पर ऐसा कोई काम न किया जाय जिससे जर्मनी की मौजूदा व्यवस्था को किसी भी तरह की आर्थिक सहायता पहुंचती है।" इसमें कमी क्या रही? यहूदियो का यह ससारव्यापी और बलशाली बहिष्कार छोटी-मोटी बात नहीं है। इससे जर्मनी की माली हालत, जो पहले से ही अच्छी नहीं थी, और भी ख़राब होरही है।

विदेशो में हिटलरशाही की एक प्रतिक्रिया तो यह हुई। दूसरी प्रतिक्रियायें इस-से भी गहरा असर करनेवाली थीं। नाज़ी लोग शुरू से ही वर्साई की सन्धि की निन्दा करते आये है और उसपर फिरसे विचार करने की उनकी मॉग रही है। ख़ास तौर पर पूर्वी सीमा के बारे में उनका ज्यादा ज़ोर रहा है, क्योकि वहाँ जो बेहूदा व्यवस्था की गई है उसके अनुसार डेन्ज़िग तक पोलैण्ड को एक लम्बा टुकड़ा दे दिया गया है और जर्मनी के शरीर के एक अंग का विच्छेद कर दिया गया है। नाज़ियो की दूसरी ज़ोरदार माँग यह रही है कि शस्त्रो के मामले में सब राष्ट्रो को पूरी समानता होनी चाहिए (तुम्हे याद होगा कि संधि की शर्तो के अनुसार जर्मनी बहुत कुछ नि:शस्त्र कर दिया गया था)। हिटलर के गरजने और आग उगलने वाले भाषणो से और फिर से शस्त्र धारण करने की धमकियो से योरप पूरी तरह घबरा उठा। फ़्रांस को विशेष चिन्ता हुई, क्योकि शक्तिशाली जर्मनी से उसीको ज्यादा खौफ होसकता था।

नरम दल के साथ होगया है। उसके बड़े-बड़े साथी लगभग सभी इस समय ऊँचे पदो पर विराजमान हैं। उन्हे सब तरह का आराम है। इसलिए वे परिवर्तन के लिए उत्सुक नहीं है। परन्तु उन बेशुमार बेकार लोगो का क्या हाल है, जो कुछ-न-कुछ मिलने की आशा से हिटलर के साथ हुए थे? कुछ हजार लोगो की व्यवस्था की जा सकती है, लाखो की नहीं की जा सकती। यह प्रकट है कि नाजियो में बड़ा असन्तोष है और जबतक यह असन्तोष रहेगा तबतक कोई स्थिरता नहीं होसकती। यह नहीं कहा जा सकता कि हिटलर का विरोध होते हुए भी 'दूसरी क्रान्ति' होगी या नहीं। और अगर इस तरह की उथल-पुथल का खतरा बना रहा तो यह सम्भावना हमेशा रहेगी कि हिटलर घर के मामलों से लोगो का ध्यान हटाने के लिए कोई अन्तर्राष्ट्रीय विकट स्थिति पैदा करदे।

हिटलरवाद का वर्णन लम्बा होगया। और इतनी लम्बी चिट्ठी भी मैंने दूसरी नहीं लिखी है। मगर इतना तुम स्वीकार करोगी कि नाजियो की यह विजय और उसके परिणाम योरप और संसार के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण हुए है और उनका दूर-दूर तक असर पहुँच सकता है। इसमें सन्देह नही कि यह फैसिज्म ही है और हिटलर खुद एक आदर्श फैसिस्ट है। परन्तु इटली के फैसिज्म से नाजी आन्दोलन थोड़ा अधिक व्यापक, दूर-दूर तक फैला हुआ और उग्र है। यह देखना है कि ये उग्र अंग कुछ रंग लाते हैं या योही कुचल दिये जायँगे। कुछ हद तक नाजी आन्दोलन की वृद्धि से पुरानें मार्क्सवादियो का यह विश्वास रहा है कि सच्चा क्रान्तिकारी वर्ग श्रमजीवी-वर्ग ही है और जैसे-जैसे हालात बिगड़ते जायँगे वैसे-वैसे निम्न-श्रेणी के मध्यमवर्ग के असन्तुष्ट और वंचित अंग भी मजदूर-वर्ग में अपनेआप आकर मिलते जायँगे और अन्त में मजदूर-क्रान्ति होजायगी। दरअसल जर्मनी में जो कुछ हुआ वह इससे बिलकुल उलटा है। जब उथल-पुथल हुई उस समय मजदूर बिलकुल क्रान्तिकारी नहीं थे। उस वक्त तो निम्न-श्रेणी के वंचित मध्यमवर्ग और दूसरे असन्तुष्ट लोगों का एक नया ही क्रान्तिकारी वर्ग बन गया। यह बात पुराने मार्क्सवाद के अनुसार नहीं हुई। परन्तु दूसरे मार्क्सवादियो का कहना है कि मार्क्सवाद को कोई ऐसा कड़ा नियम, धर्म या संप्रदाय नहीं समझना चाहिए जो अपनी बात को धर्म की तरह अधिकार के साथ अन्तिम सत्य बताता हो। यह तो इतिहास का एक तत्त्वज्ञान है, एक दृष्टिकोण है, जो बहुत-सी बाते समझाता और मिलाता है और समाजवाद या सामाजिक समानता की कार्य-प्रणाली दिखाता है। इसके मूल सिद्धान्त अलग-अलग तरह से इस तरह लागू करने चाहिएँ जिससे भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-भिन्न देशो के बदलते हुए हालात के साथ उनका मेल बैठ सके।

कम इतना आश्वासन तो मिलना ही चाहिए कि कोई दख़ल न देगा। हिटलर को इटली की मदद का भरोसा है। उसे शायद यह भी उम्मीद है कि अगर वह इंग्लैण्ड की मदद भी हासिल कर सके तो चतुरगी सन्धि के अनुसार किसी भी चर्चा में फ़्रास के विरोध का वल घट जायगा। एक तरफ तीन और दूसरी तरफ एक तो हो ही जायेंगे।

इस तरह हिटलर ब्रिटिश मदद हासिल करने की कोशिश कर रहा है। इसके लिए उसने खुले तौर पर यहाँतक कह दिया है कि अगर हिन्दुस्तान पर अग्रेजो का प्रभाव कम हो जायगा तो विपत्ति आजायगी। वैसे उसका सोवियट-विरोधी होना ही ब्रिटिश सरकार के लिए एक आकर्षण है, क्योकि, जैसा मै तुम्हे बता चुका हूँ, ब्रिटिश साम्राज्यवाद को कोई चीज इतनी बुरी नहीं लगती जितना सोवियट रूस लगता है। लेकिन नाजियो की कार्रवाइयो से ब्रिटिश जनता को इतनी नफरत होगई है कि उसे हिटलरशाही के पक्ष में किसी भी प्रस्ताव का समर्थन करने में कुछ वक़्त लगेगा।

तरह-तरह के ख़तरो से दुनिया के होशहवास पहले से ही उडे हुए थे। नाजी जर्मनी ने योरप में तूफान का घर वनकर परेशानियाँ और वढ़ादी है। खुद जर्मनी में क्या होगा? नाजी शासन कवतक रहेगा? जर्मनी में नाजियो के प्रति घृणा और विरोध की कमी नहीं है, लेकिन यह भी साफ है कि संगठित विरोध बिलकुल कुचल दिया गया है। जर्मनी में कोई दल या सगठन बाकी नहीं रहा है और नाजियो का ही वोलवाला है। खुद नाजियो में भी दो दल मालूम होते है। एक ओर पूँजीपति और व्यवसायी वर्ग हैं। यह नाजी दल का दाहिना यानी नरम अंग है। बायें यानी उग्र अग में दल के साधारण सदस्यो का वहुमत है। इसमें हाल ही में शामिल होनेवाले वहुत-से मजदूर भी है। जिन लोगो के कारण हिटलर के आन्दोलन में क्रान्तिकारी भावना आई, उनमें पूँजीवाद के विरुद्ध उग्र परिवर्तन की भावना वहुत थी। इन लोगो ने बाद में वहुत-से समाजवादियो और मार्क्सवादियो को अपनेमें शरीक कर लिया है। नाजी आन्दोलन के दाहिने और बायें अंगो में वहुत कम वाते मिलती-जुलती है। हिटलर की वडी सफलता इसी वात में है कि उसनें दोनो को साथ रख छोड़ा है और एक को दूसरे से भिड़ाकर अपना काम निकालता रहा है। यह वात तभीतक रह सकती है जवतक सामने शत्रु दिखाई देता है। अव शत्रु तो कुचल दिया गया या उसे हजम कर लिया गया है। अव धीरे-धीरे दायें और बायें अंगो में संघर्ष वढ़ेगा।

कुछ गडवड तो अभी से शुरू होगई है। उग्र दल के नाजियो ने माँग की कि जव पहली क्रान्ति पूरी तरह सफल होचुकी है तो अव पूंजीवाद, जमीन्दारी प्रथा वग़ैरा के खिलाफ 'दूसरी क्रान्ति' शुरू होनी चाहिए। परन्तु हिटलर ने इस दूसरी क्रान्ति को बेदर्दी के साथ दवा देने की धमकी दे डाली। इस तरह वह निश्चित रूप में पूंजीवादी

फ्रास को जर्मनो के पिछले हमलो की याद बनी हुई है। इसलिए वह हमेशा 'रक्षा' पर जोर देता रहा है। वह कोई ऐसी व्यवस्था चाहता है जिससे बैठे-बिठाये हमला कर देना असम्भव नही तो कठिन जरूर होजाय। उसने यह सुझाया है, कि हमला करनेवाले देश से आज्ञा-पालन करानें के लिए राष्ट्र-सघ खुद सेना रक्खे। इससे राष्ट्र-सघ राज्यो के ऊपर एक नया राज्य बन जायगा, पर इस बात पर सहमत होने के लिए अधिकाश देश तैयार नही है। आज राष्ट्र-सघ की जिस तरह की रचना है उससे अक्सर उसकी यह टीका की जाती है कि वह कुछ बडे राष्ट्रो के हाथ का हथियार है। ऐसे सगठन की ताकत बढ़ाने का मतलब यही होगा कि इन राष्ट्रो की शक्ति बढ़ जायगी और वे दूसरो का शोषण कर सकेंगे। वे नाम तो अन्तर्राष्ट्रीय हित का लेंगे, मगर असल में वे अपना काम बनावेंगे। दलील कुछ इसी तरह की दीजाती है।

प्रत्येक राष्ट्र परिषद के सामने ऐसा प्रस्ताव रखता है जिससे अपने मुकाबिले में दूसरे राष्ट्रो की ताकत कम होजाय। ऐसी हालत में समझौता किस तरह होसकता है? सोवियट रूस ने ऐसी तजवीजें पेश की जो सारे मामले की तह तक जाती थी और जिनके मंजूर कर लेने से सब जगह असली नि शस्त्रीकरण होजाता। लेकिन दूसरे राष्ट्रो ने कह दिया कि यह तो व्यावहारिक नही है और ऐसी आदर्शवादी योजना का मौजूदा हालात से मेल नहीं बैठ सकता। असल बात यह है कि इन दूसरे राष्ट्रो में से कोई भी सच्चा नि शस्त्रीकरण नही चाहता। वे तो इतनी-सी चर्चा करते है कि खर्च घटाकर छोटे-मोटे परिवर्तन या कमी के साथ अस्त्र-शस्त्र किस तरह कायम रक्खे जायें। इससे बढकर तमाशा और क्या होसकता है कि इधर तो ये राष्ट्र जिनेवा या लूसान में नि शस्त्रीकरण की गम्भीर चर्चा करे और उन्हींमें से एक यानी जापान मंचूरिया में खूनी युद्ध जारी रक्खे या दक्षिणी अमेरिका के प्रजातन्त्र आपस में लड़ते रहे या ब्रिटेन हिन्दुस्तान के सीमाप्रान्त के लोगो पर बम-वर्षा करता रहे।

केलॉग-ब्रियॉद समझौते के अनुसार युद्ध गैर-कानूनी ठहराया गया था। अगर यह बात सही है तो फिर सेनायें रखने की क्या जरूरत है? लेकिन साम्राज्यवादी सरकारो में से कोई भी इन संधियो का ऐसा गम्भीर अर्थ नही लगाती और वे सब एक-दूसरे के विरोध में भयकर रूप से फौजें बढ़ाती जा रही है। तुम्हे याद होगा कि केलॉग-समझौते में भी ब्रिटेन ने कई बडी-बडी बातो के बारे में इतना अधिकार अपने हाथो में रख लिया था कि उस समझौते की जान ही निकल गई थी। नि शस्त्रीकरण-परिषद् में जापानियो के बाद ब्रिटिश प्रतिनिधियो ने ही परिषद के रास्ते में सबसे ज्यादा रोडे अटकाये है। जिस वक्त जापान मंचूरिया में राष्ट्र-संघ की खुली तौहीन कर रहा था, उस वक्त ब्रिटिश प्रतिनिधि-मण्डल बराबर जापानियो का मित्र बना

: १६१ :

निःशस्त्रीकरण

२ अगस्त, १९३३

मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि दुनिया-भर की जो आर्थिक-परिषद् लन्दन में हुई थी, वह असफल रही। फिलहाल परिषद् का काम बन्द करके सब लोग अपने-अपने घर चले गये हैं और कहने को यह आशा प्रकट कर गये हैं कि अधिक अनुकूल परिस्थिति में शायद फिर कभी मिलेंगे।

सहयोग का दूसरा ससार-व्यापी प्रयत्न नि शस्त्रीकरण परिषद् के रूप में हुआ और वह भी इसी तरह असफल हुआ। यह परिषद राष्ट्र-सघ के इकरारनामे का नतीजा थी। वर्साई की सधि में यह तय हुआ था कि जर्मनी और आस्ट्रिया, हगरी आदि दूसरे पराजित राष्ट्र भी नि शस्त्र होजायें। वे जल-सेना, हवाईसेना या बडी स्थल-सेना नही रख सकते थे। यह भी तजवीज थी कि दूसरे देश भी धीरे-धीरे घटाते-घटाते इतनी-सी फौज रक्खें जितनी कि राष्ट्र के लिए जरूरी हो। इस कार्यक्रम के पहले हिस्से यानी जर्मनी को नि शस्त्र करनेवाले हिस्से पर फौरन अमल किया गया। लेकिन दूसरा हिस्सा यानी आमतौर पर सेनायें घटानेवाला हिस्सा ज्यो-का-त्यो एक सपना बना हुआ है। कार्य-क्रम के इस दूसरे हिस्से की पूर्ति के लिए ही वर्साई की सन्धि के करीब १३ साल बाद कही नि शस्त्रीकरण परिषद् बुलाई गई थी। लेकिन पूरी परिषद् के होने से पहले वर्षो तक जांच कमीशन सारे मामले की छान-बीन करते रहे थे।

आखिरकार १९३२ के शुरू में विश्व-नि शस्त्रीकरण परिषद् हुई। डेढ साल से बीच-बीच में इसकी बैठकें होती रही। अगर प्रस्ताव और रिपोर्टो की तादाद या अनन्त वाद-विवाद और व्याख्यानबाजी से इसकी सफलता का अन्दाज लगाया जासकता हो तो सचमुच यह परिषद् खूब सफल हुई। मैं समझता हूँ लगातार एक ही मामले के लिए पहले कभी इतनी तैयारी और बहस नही हुई है और न कभी पहले किसी परिषद् की कारंवाई और रिपोर्ट के कागजात का इतना पहाड़ इकट्ठा हुआ था। फिर भी कोई बात तय ही नही होती। परिषद् नित्य होती है, पर उसका कोई अन्त ही नही होता, क्योंकि कोई राष्ट्र इसके टूटने की जिम्मेदारी नहीं लेना चाहता। फिर भी कोई असाधारण घटना न हुई तो यह टूटकर ही रहेगी, क्योकि असली मुश्किल यह है कि आज की दुनिया में आपस में भयकर लाग-डांट और संघर्ष जारी है और जबतक यह सघर्ष रहेगा तबतक कोई राष्ट्र सेना कम करके अपनेको कमजोर बनाने का साहस नही कर सकता।

कुछ महीनो तक बेकार कोशिशें करने के बाद निःशस्त्रीकरण परिषद् इस बुरी तरह् दल-दल में फँसी कि न वह् आगे बढ़ सकती थी और न उसमें से निकल सकती थी। आर्थिक संकट और व्यापारिक मन्दी के कारण सभी राष्ट्रो के लिए जल, स्थल और हवाई सेनाओ पर बडी रकमें खर्च करते रहना बहुत मुश्किल होरहा था। वे किफायत करना चाहते थे और फौजें घटाने के पक्ष में यह् प्रेरणा शान्ति की इच्छा से भी ज्यादा ताकतवर थी। फिर भी साम्राज्यवादी राष्ट्र किसी बात पर एक मत ही नही होते थे। वे एक-दूसरे से भी डरते थे और कुछ हद तक उन लोगो से भी डरे हुए थे जिनका वे अपने-अपने साम्राज्य में शोषण करते थे। साम्राज्य प्रेम और सद्भाव के आधार पर खडे नही हुआ करते। उनकी पीठ पर तो बल और हिंसा होती है। इनके बिना वे एक दिन भी नही टिक सकते।

परिषद् के सामने एक कठिन समस्या जर्मनी की थी। जर्मनी दूसरे राष्ट्रो के साथ समानता मॉग रहा था। या तो उसे भी औरो के बराबर सेना बढाने दी जाय, या और राष्ट्र भी उसके बराबर अपनी फौज घटा ले। यह् दलील लाजवाब थी। क्या ख़ुद राष्ट्र-संघ ने यह् नहीं कह् दिया था कि जर्मनी के नि.शस्त्र होने के बाद दूसरे राष्ट्र भी निःशस्त्र होगे? अवश्य ही जर्मनी शान्ति और नि·शस्त्रीकरण का कोई बड़ा प्रेमी नही था, मगर उसे मालूम था कि सारे राष्ट्र नि.शस्त्रीकरण की किसी भी व्यापक योजना को मंजूर नहीं करेगे और इसलिए उन्हे झख मारकर जर्मनी की समानता की मॉग स्वीकार करनी पडेगी और उसे सेना रखनें की इंजाजत देनी होगी। जर्मनी की हालत पर बडी हमदर्दी दिखाई गई और बराबरी का हक देनें का यकीन भी दिलाया गया। उसके बाद हिटलर और नाज़ी लोग अपनी धमकिया और आक्रमणकारी रवैया लेकर सामने आये। बस तुरन्त स्थिति बदल गई, फ़्रास तन गया और एक हद तक इंग्लैण्ड और दूसरे राष्ट्रो का रुख भी कड़ा पड़ गया। दूसरे राष्ट्र कहने लगे कि अगर नाज़ी जर्मनी को हथियारबन्द होने दिया जायगा तो वह योरप के लिए बड़ा खतरा बन जायगा और अगर हम सेना कम कर देंगे तो उससे भी शान्ति भंग होने की सम्भावना रहेगी। जर्मनी के पक्ष में कोई भी परिवर्तन होता तो उससे फ़्रांस की ताकत घटती और फ़्रांस को इतनी घबराहट होगई कि वह ऐसे किसी परिवर्तन को सह नहीं सकता। स्थिति यह है कि निःशस्त्रीकरण परिषद् की गाडी अटक गई है। आगे के लिए कोई रास्ता दिखाई नही देता। योरप में लड़ाई का ख़तरा बढ़ गया है और फौज कम करने की किसी राष्ट्र की हिम्मत नही होती। शिक्षा और दूसरे जरूरी और उपयोगी कामो से रुपया बचाकर भी सेनायें रखनी पड़ती है। इन कारणो से निःशस्त्रीकरण के बारे में कोई भी कारगर समझौता होना

रहा। चीन में जापानी हमले का अमेरिका ने विरोध किया। मगर ब्रिटिश रुख के कारण उस विरोध का बहुत-सा जोर मारा गया।

जापान ने इस बहाने का सहारा लिया था कि वह कोई 'युद्ध' नहीं कर रहा है, बल्कि कुछ आवश्यक 'कार्रवाइयाँ' (!) कर रहा है। भविष्य में कोई राष्ट्र ऐसे असाधारण बहाने न बना सके, इसके लिए 'आक्रमणकारी' राष्ट्र की व्याख्या करने का प्रस्ताव हुआ। पहले सोवियट रूस ने, फिर राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने, और अन्त में राष्ट्र-सघ की एक समिति ने व्याख्या की। इन सब व्याख्याओ ने करीब-करीब यह असम्भव कर दिया कि कोई राष्ट्र 'आक्रमणकारी' होने का दण्ड भोगे बिना सीमा पार करके दूसरे देश में सेना भेज सके, या दूसरे देश के समुद्र-तट पर घेरा डाल सके। छोटे-बडे करीब-करीब सभी राष्ट्रो ने, यहाँतक कि फ्रांस ने भी, यह व्याख्या मानली। जापान के लिए यह व्याख्या बहुत परेशान करनेवाली थी। परन्तु इसका असली विरोध इग्लैण्ड की तरफ से हुआ और उसका साथ इटली ने दिया। इग्लैण्ड ने 'आक्रमणकारी' की यह व्याख्या मानने से इन्कार कर दिया और चाहा कि इस मामले को अनिश्चित रहने दिया जाय। इसका असली अर्थ यह था कि जब कभी कोई राष्ट्र इस तरह का हमला करे तो उस वक्त सफलतापूर्वक हस्तक्षेप करने का अधिकार राष्ट्र-सघ के हाथ में देना इंग्लैण्ड नहीं चाहता था।

हाल में सोवियट रूस, पोलैण्ड, एस्टोनिया, लटविया, लिथुएनिया, रूमानिया, ईरान, तुर्की, अफग़ानिस्तान, ज़ेकोस्लोवेकिया और यूगोस्लाविया के बीच में एक-दूसरे पर हमला न करने का जो 'पैक्ट' यानी राजीनामा हुआ है उसमें आक्रमणकारी की यह व्यापक व्याख्या पूरी तरह स्वीकार की गई है। इस राजीनामे के साथ फ़्रास ने भी अपनी सम्पूर्ण सहमति प्रकट की है। रूस के पश्चिमी पडोसियो में से अकेला फिनलैण्ड ही इस समझौते में शामिल नहीं हुआ है। उसपर ब्रिटेन का बहुत असर है।

नि शस्त्रीकरण परिषद् में हवाई जहाजो से गोले बरसाने के मामले में ब्रिटेन ने जो विरोधी रुख इख्तियार किया वह दूसरी मशहूर मिसाल है। हालाकि करीब-करीब सभी राष्ट्रो ने बम-वर्षा के इस रिवाज को बिलकुल उठा देने की ख्वाहिश जाहिर की (मुझे याद नहीं कि ब्रिटेन के पिट्ठू इराक और हालैण्ड के सिवा और किसी देश ने यह इच्छा प्रकट न की हो)। फिर भी ब्रिटेन जिसे 'शान्ति-रक्षा के लिए बम-वर्षा करना' कहता है उसे कायम रखने पर उसका आग्रह बना ही रहा। जिस वक्त मैं यह खत लिख रहा हूँ उस वक्त भी हिन्दुस्तान की उत्तरी-पश्चमी सीमा पर हवाई हमला होने और ब्रिटेन की शाही हवाई सेना द्वारा गाँवो पर बम बरसाये जाकर उन्हे नष्ट करने का हाल अखबारो में आया है।

राष्ट्र-संघ चीन में जापान के हमले की निन्दा कर रहा था उसी वक्त अंग्रेजी, फ्रेंच और दूसरी हथियारो की दुकाने जापान और चीन दोनो को आजादी के साथ हथियार और लड़ाई के सामान पहुँचा रही थी। जाहिर है कि सचमुच निःशस्त्रीकरण होजाय तो इन दूकानो का पटरा बैठ जाय, क्योकि इनका सारा व्यापार जाता रहे। इसलिए उनके खयाल से जो बडी भारी विपत्ति की बात है उसे रोकने के लिए वे खूब कोशिश करते है। असल में वे इससे भी आगे बढ़ते है। राष्ट्र-संघ ने खानगी तौर पर हथियार बनानें के मामले की जॉच करने के लिए एक खास कमीशन बिठाया था। वह इस नतीजे पर पहुँचा कि ये दुकाने लड़ाई की खबरे फैलाने और अपनें-अपने देशो को लड़ाकू नीति इख्तियार करने की प्रेरणा करने में लगी रही है। यह भी पाया गया कि ये दूकाने अलग-अलग देशो के जल और स्थल सेना-सम्बन्धी खर्च के बारे में झूठे समाचार फैलाती है, ताकि दूसरे देशो को अपना फौजी खर्च बढ़ाने की प्रेरणा हो। वे एक देश को दूसरे देश से भिड़ाने की कोशिश करती है और हथियारो के मामले में होड़ लगाने की वृत्ति बढ़ाती है। वे सरकारी कर्मचारियो को रिश्वत देती और लोकमत पर असर डालने के लिए अखबारो को खरीद लेती है। इतना ही नही, अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियाँ बनाकर और ठेके लेकर वे हथियारो और युद्ध के सामान के भाव बढ़ा देती है। राष्ट्र-सघ के जॉच-कमीशन ने सुझाया कि शस्त्रास्त्रो का खानगी तौर पर बनाना बन्द कर दिया जाय। निःशस्त्रीकरण-परिषद् में भी यह प्रस्ताव किया जा चुका है। मगर वहाँ भी विरोध ब्रिटिश सरकार की तरफ से ही हुआ और लगातार हुआ। अलग-अलग देशो के शस्त्रास्त्र बनाने के इन कारखानो का आपस में गहरा ताल्लुक होता है। वे देश-प्रेम से नाजायज फायदा उठाकर मौत के साथ खेलते है, फिर भी उनका अपना काम अन्तर्राष्ट्रीय है। उनके संगठन को 'गुप्त अन्तर्राष्ट्रीय सघ' (Secret International) का नाम दिया गया है। यह स्वाभाविक है कि ये लोग नि.शस्त्रीकरण पर आपत्ति करे और इस बारे में समझौता न होने देने के लिए इनसे जितना कुछ हो सकता था वह सब इन्होने किया ही। इनके आदमी ऊँचे-से-ऊँचे राजनैतिक हलको में आते-जाते है और इनकी मनहूस शक्ले परदे के पीछे से डोर हिलाती हुई जिनेवा में दर्शन देती रही है।

इस 'गुप्त अन्तर्राष्ट्रीय सघ' के साथ अक्सर अलग-अलग सरकारो के गुप्तचर-विभाग या खुफिया पुलिस का गहरा सम्बन्ध होता है। हरेक सरकार दूसरे देशो के पोशीदा हालात जानने के लिए जासूस नौकर रखती है। कभी-कभी ये जासूस पकडे जाते है और उसी समय उनकी सरकार झट कह देती है कि ये हमारे आदमी नहीं है। आर्थर पोन्सनबी कुछ साल पहले, मेरे खयाल से, ब्रिटिश सरकार के वैदेशिक उपमन्त्री थे। आजकल वे लार्ड पोन्सनबी बन गये है। इन गुप्तचर-विभागो की चर्चा करते

बहुत मुश्किल है। दूसरी ओर इस तरह का समझौता न हुआ तो जर्मनी को फिर से शस्त्र धारण न करने के लिए किस मुँह से कहा जा सकता है? और नाजी जर्मनी ने हथियार उठा लिये तो फिर युद्ध छिड़ने में देर नहीं लगेगी! इस तरह योरप दल-दल में फँस गया है! इन सब बातो को ध्यान में रखने से ही यह बात समझ में आ सकती है कि हाल में इटली, जर्मनी, इग्लैण्ड और फ़ांस के बीच जो चतुरंगी समझौता हुआ है वह सिर पर लटकती हुई लड़ाई की तलवार को गिरने से रोकने की और टालने की ही एक कोशिश है और सोवियट ने अपने पडोसियो के साथ आपस में हमला न करने का जो समझौता किया है वह भी आगामी युद्ध से बचने का ही उपाय है।

इस बीच नि शस्त्रीकरण परिषद् तेजी के साथ एक तरह की शस्त्रीकरण-परिषद् होती जारही है। जर्मनी तो बीच-बीच में शस्त्र धारण करने की धमकी देता ही रहता है। जापान ने भी बडी शान्ति के साथ ऐलान कर दिया है कि दो वर्ष बाद जब ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रास के साथ किये हुए वर्तमान समझौते की अवधि पूरी होगी तो वह अपनी जलसेना बढायेगा। (यह समझौता वाशिंगटन-परिषद् में १९२२ में हुआ था)। नि शस्त्रीकरण परिषद के सफल होनें में बहुतेरी दिक्कते है। इन्हे बढाने के लिये परदे की आट में बेशुमार षड्यत्र चलते रहते है। ये कार्रवाइयाँ शस्त्रास्त्र बनानेवाले व्यापारियो के बडी-बडी तनख्वाहे पानेवाले आदमी खास तौर पर करते रहते है। आज की पूंजीवादी दुनिया में अस्त्र-शस्त्र और नाशकारी यंत्र बनाने का धन्धा बडे ही मुनाफे का उद्योग है। ये हथियार बनाये तो जाते है अलग-अलग देशो की सरकारो के लिए, क्योकि आमतौर पर लडाई सरकारे ही करती है, फिर भी विचित्र बात यह है कि हथियार बनानेवाले खानगी व्यापारी होते है। इन कारखानो के मुख्य मालिक खूब मालदार होजाते है और उनका सरकारो से गहरा सम्पर्क रहता है। शुरू की किसी चिट्ठी में सर बेसिल जहरोफ नाम के एक ऐसे ही आदमी का थोडा-सा हाल मै तुम्हे बता चुका हूँ। हथियार बनानें वाले कारखानो के हिस्सो पर बडा मुनाफा मिलता है और उनकी अक्सर माँग रहती है। उस दिन यह साबित हुआ था कि इग्लैंड के बहुत-से बडे-बडे कर्मचारियो, यहाँतक कि मंत्रियो, लाट-पादरियो, पार्लमेण्ट के सदस्यो और दूसरे बडे-बडे सार्वजनिक व्यक्तियो के हिस्से भी इन कम्पनियो में है।

लडाई से और लडाई की तैयारियो से इन हथियार बनानेवाले कारखानो को फायदा होता है। वे सामूहिक मृत्यु का व्यापार करते है और जो कोई उन्हे कीमत देता है निष्पक्ष होकर उसीके हाथो वे अपने नाशकारी यन्त्र बेच देते है। जिस वक्त

इलाके अपने राज्य में मिला लिये है। इसलिए एशिया और अफरीका में मौजूदा हालत बनी रहनें का मतलब यह है कि साम्राज्यवादी शोषण जारी रहे

इस वर्तमान स्थिति को कायम रखने के लिए जो समझौते या कार्रवाइयाँ योरप में हुई है उनसे अबतक अमेरिका का सयुक्तराष्ट्र अलग रहा है। लेकिन मालूम होता है वह भी अब योरप की प्रणाली में थोड़ा-थोड़ा फँसता जा रहा है।

: १६२ :

राष्ट्रपति रूज़वेल्ट का रक्षा का प्रयत्न

४ अगस्त, १९३३

यह किस्सा ख़त्म करने से पहले मै तुम्हे अमेरिका के सयुक्तराष्ट्र की एक झॉकी और करा देना चाहता हूँ (और अब इस कहानी के पूरा होने में बहुत देर नही की जा सकती)। इस वक्त अमेरिका में एक महान् और मनोहर-सा प्रयोग होरहा है। दुनिया की आँखें उसपर लगी हुई है, क्योकि उसके परिणाम पर यह बात निर्भर है कि भविष्य में पूँजीवाद किधर जायगा। मै यह फिर से कहदूँ कि अमेरिका अभीतक सबसे उन्नत पूँजीवादी देश है। मालदार भी वही सबसे ज्यादा है और उसके औद्योगिक यंत्र और कला दूसरे देशो से उन्नत है। उसे किसी और मुल्क का रुपया देना नही है और उसपर अगर किसीका कर्ज़ है तो वह अपने ही नागरिको का है। उसका निर्यात-व्यापार बहुत है और बढ रहा है; फिर भी यह उसके बडे भारी भीतरी व्यापार का एक छोटा-सा भाग (१५ फीसदी के करीब) है। यह देश लगभग सारे योरप के बराबर बड़ा है। मगर बड़ा भारी फर्क यह है कि जहाँ योरप कई छोटे राष्ट्रों में बँटा हुआ है, जिनकी सीमाओ पर भारी चुंगी लगती है, वहाँ संयुक्तराष्ट्र के अपने इलाके के भीतर ऐसी कोई व्यापारिक बाधायें नहीं है। इसलिए योरप की बनिस्बत अमेरिका में जबरदस्त भीतरी व्यापार का विकास बहुत आसान था। योरप के दरिद्र और कर्ज़ से दबे हुए देशो से अमेरिका को ये सब सहूलियते ज्यादा थीं। उसके पास सोने, रुपये और माल की बहुतायत थी।

यह सब होते हुए भी पूंजीवादी सकट ने उसे आदबाया और उसका सारा गरूर तोड़ दिया। जिस राष्ट्र के जीवट और कार्य-शक्ति का कोई पार नहीं था उसपर भाग्यवाद छागया। सारा देश तो फिर भी धनी बना रहा और रुपया भी कहीं गायब नहीं होगया, मगर वह थोडे-से स्थानो में जमा होगया। न्यूयार्क में फिर भी करोडो-अरबो की पूजी के ढेर दिखाई देते थे। जे०पियरपौण्ट मार्गन नामक बड़ा साहूकार अब

हुए पोन्सनबी ने मई १९२७ मे कामन्स सभा में कहा था—"जब हम नैतिकता की बड़ी-बड़ी बातें करते है, उस समय हमें इन सचाइयो का वास्तविक खयाल रखना चाहिए कि जालसाजी, चोरी, झूठ, रिश्वत और भ्रष्टाचार दुनिया के सभी वैदेशिक विभागो और मन्त्रिमण्डलो में मौजूद है। . . मै कहता हूँ कि माने हुए नैतिक नियमो के अनुसार हमारे जो प्रतिनिधि विदेशो में रहते है वे वहांके गुप्त कागजात के भेद मालूम न करे तो यह समझा जायगा कि उन्होने अपना कर्तव्य पालन नहीं किया।"

चूकि इन गुप्तचर-विभागो का काम छिपकर होता है इसलिए उनपर काबू रखना मुश्किल है। उनका अपने-अपने देशो की विदेशी नीति पर बडा असर होता है। इनका सगठन व्यापक और बलशाली होता है। शायद इस समय ब्रिटिश खुफिया विभाग सबसे प्रबल और दूर-दूर तक फैला हुआ है। एक मिसाल ऐसी भी मिलती है कि एक मशहूर ब्रिटिश जासूस रूस में एक उच्च सोवियट कर्मचारी बन गया था! वर्तमान भारत-मन्त्री सर सेम्युअल होर युद्ध-काल में रूस में ब्रिटिश खुफिया विभाग के सरदार थे। उन्होंने हाल ही में कुछ गर्व के साथ खुले तौर पर कहा है कि खबरें मालूम करने का उनका तरीका इतना बढिया था कि रासपुटिन के खून का हाल और किसीकी वनिस्बत उन्हे बहुत पहले मालूम होगया था।

निःशस्त्रीकरण-परिषद् के सामने असली कठिनाई यह थी कि दो तरह के देश है—सन्तुष्ट और असन्तुष्ट, शासक और शासित, मौजूदा स्थिति को कायम रखना चाहनेवाले और उसमें परिवर्तन चाहनेवाले। जिस तरह प्रभुता-प्राप्त वर्ग और दलित-वर्ग में सच्ची स्थिरता नहीं हो सकती, ठीक उसी तरह इन दो तरह के मुल्को में कोई स्थायी समझौता नहीं होसकता। सब बातो को देखते हुए राष्ट्र-संघ इन जोरावर राष्ट्रो की चीज है। इसलिए उसकी कोशिश मौजूदा स्थिति को कायम रखने की ही है। रक्षा के समझौतो और 'आक्रमणकारी' राष्ट्र की व्याख्या के प्रयत्नो का यही उद्देश्य होता है कि जो हालत है वह बनी रहे। कुछ भी हो जाय, जिन राष्ट्रो का राष्ट्र-संघ पर नियन्त्रण है उनमें से किसी एक को भी शायद संघ 'आक्रमणकारी' कहकर बुरा नहीं बनायगा, वह हमेशा ऐसी चालबाजियां करेगा कि दूसरा पक्ष ही 'आक्रमणकारी' घोषित हो जाय।

शान्तिवादी और दूसरे लोग, जो युद्ध रोकना चाहते है, इन रक्षा के समझौतो का स्वागत करते है। इस तरह वे एक अर्थ में अन्यायपूर्ण वर्तमान स्थिति को कायम रखने में मदद देते है। योरप के बारे में अगर यह बात सही है तो एशिया और अफ्रीका के बारे में और भी सही है, क्योंकि वहां साम्राज्यवादी राष्ट्रो ने बड़े-बड़े

संगठित अपराधो में सबसे मशहूर और दिल दहलानेवाला अपराध यह था कि धनवानो के छोटे-छोटे बच्चो को गुण्डे उड़ा लेजाते थे और अपने कब्जे में रखकर उनके बदले में रुपया ऐंठते थे। एक-दो साल पहले की ही बात है, लिण्डबर्ग का दूध पीता लड़का इसी तरह उड़ाया गया था और उसकी पाशविक ढग से हत्या की गई थी। इस घटना से ससार के हृदय पर बड़ा आघात पहुँचा।

इन सब बातो के साथ व्यापारिक मन्दी मिल गई और यह भी मालूम होगया कि बहुत-से बडे-बडे राजकर्मचारी और व्यवसायी भ्रष्ट और अयोग्य है। इससे अमेरिका के लोग घबरा उठे। १९३२ के नवम्बर में राष्ट्रपति के चुनाव के अवसर पर लाखो आदमियो की दृष्टि रूजवेल्ट की ओर गई और उन्हे आशा हुई कि वह उनका कष्ट कम करेगा। रूजवेल्ट 'गीले' पक्ष में था और लोकशाही दल (Democratic Party) का आदमी था। इस दल के आदमी क्वचित् ही संयुक्तराष्ट्र के राष्ट्रपति हुए है।

अलग-अलग देशो के विशेष लक्षणो को सदा ध्यान में रखकर उनकी तुलना करना दिलचस्प और फायदेमन्द होता है। इसलिए सयुक्तराष्ट्र की हाल की घटनाओ का जर्मनी और इंग्लैण्ड की घटनाओ से मुकाबिला करने का लोभ होता है। जर्मनी के साथ अमेरिका की बडी समानता है, क्योकि खूब औद्योगिक देश होते हुए भी दोनो में ही किसानो की आबादी बहुत है। जर्मनी की सारी आबादी में २५ फीसदी और संयुक्त-राष्ट्र में ४० फीसदी किसान है। राष्ट्रीय नीति के निर्माण में इन किसानो का असर पडता है। इंग्लैण्ड में यह बात नहीं है, क्योकि वहाँ थोडे-से किसान है और उनपर कोई ध्यान नही दिया जाता। हाँ, अब जरा उनकी उन्नति की कोशिश की जा रही है।

जर्मनी के नाजी आन्दोलन का मुख्य कारण यह था कि नीचे दर्जे के वञ्चित मध्यमवर्ग की तादाद बहुत बढ गई थी और जर्मन सिक्के का भाव गिर जाने के बाद यह तादाद और भी तेजी से बढ़ रही थी। जर्मनी में यही वर्ग क्रान्तिकारी बना। ठीक यही वर्ग आजकल अमेरिका में बढ़ रहा है। ये 'सफेद कॉलर के ग़रीब' ('White Collar proletariat') कहलाते हैं, ताकि मजदूर-वर्ग के गरीबों से इनका भेद किया जा सके। मजदूर वर्ग शायद ही कभी सफेद कॉलर लगाता ह।

तुलना करने की दूसरी बाते है सिक्के सम्बन्धी सकट, मार्क, पाउण्ड और डालर का सोने के विनिमय से हटना, नोटो का खूब छापा जाना और बैंको का दिवाला निकलना। इंग्लैण्ड में बैंको का दिवाला न निकलने का कारण यह था कि वहाँ छोटे-छोटे बैंक बहुत नही है और साहूकारी के व्यवसाय का नियन्त्रण चार बडे बैंको के हाथ में है। बाकी बातो में घटना-चक्र तीनो में एकसा ही रहा। पहले जर्मनी में सकट आया, फिर इंग्लैण्ड में और बाद में संयुक्तराष्ट्र में। मामूली तौर पर नाजियो के, १९३१ के

भी अपनी विलास-सामग्री से सजी बढ़िया नाव का दिखावा करता था। कहते हैं, उसपर ६० लाख पाउण्ड खर्च हुआ है। फिर भी न्यूयार्क को हाल ही में 'भूखा शहर' बताया गया है। शिकागो जैसे बडे-बडे नगरो की म्यूनिसिपैलिटियाँ लगभग दीवालिया होचुकी हैं और वे अपने हजारो नौकरो का वेतन नहीं चुका सकती। इसी शिकागो शहर में 'उन्नति की शताब्दी' (The Century of Progress) के नाम से एक शानदार नुमाइश या 'विश्व-मेला' भर रहा है।

ये विषमतायें अमेरिका तक ही महदूद नहीं है। लन्दन में जाकर देखो, उच्च-वर्ग के अग्रेजो में सर्वत्र वैभव और विलास के दरिया बहते दिखाई देंगे। अलबत्ता वहाँकी गरीब बस्तियो में यह बात नहीं है। लंकाशायर या उत्तरी या मध्य इंग्लैण्ड के कुछ भागो में जाकर देखोगी तो तुम्हे बेकारो की लम्बी-लम्बी कतारे, पिचके हुए गाल और जीवन के दुःखपूर्ण दृश्य ही दिखाई देंगे।

इन वर्षो में अपराधो की वृद्धि, खास तौर पर संगठित दलो द्वारा होनेवाले जुर्मो की वृद्धि, खूब हुई है। यानी गुण्डो के दल-के-दल मिलकर काम करते है और जो लोग बाधक होते हैं उन्हे अक्सर गोली से उड़ा देते हैं। कहते है कि ये जुर्म उस वक्त से ज्यादा बढे है जबसे कि शराब-बन्दी का कानून पास हुआ है। मदिरा-निषेध का यह कानून महायुद्ध के बाद ही बन गया था। इसका एक कारण यह था कि बडे-बडे कारखानेदार अपने मजदूरो को शराब से इसलिए दूर रखना चाहते थे कि वे लोग ज्यादा अच्छा काम कर सकें। परन्तु धनवान लोग स्वयं इस कानून की अवहेलना करते थे और बाहर से मँगा-मँगाकर शराब पीते थे। धीरे-धीरे शराब का गैरकानूनी व्यापार बहुत बढ़ गया। यह इस तरह होता था कि शराब बाहर से भी छिपकर मँगाई जाती थी और देश में भी गुप्त रूप से बनाई जाती थी। आम तौर पर छिपकर तैयार की हुई शराब असली शराब से कहीं घटिया और हानिकारक होती थी। यह शराब गुप्त स्थानो पर बहुत ऊँचे दामो में बेची जाती थी और इस तरह के खानगी शराबखाने सभी बडे-बडे शहरो में हजारो की तादाद में होगये। ये सब कार्रवाइयाँ गैरकानूनी तो थीं ही, इन्हे जारी रखनें के लिए पुलिसवालो और राज्याधिकारियो को रिश्वत दी जाती थी और कभी-कभी उन्हे डराया-धमकाया भी जाता था। कानून की इस व्यापक अवहेलना से गुण्डो के दल बढ़ गये। इस तरह 'मदिरा-निषेध' का एक ओर तो यह नतीजा हुआ कि मजदूरो और देहातियो को फायदा पहुँचा। दूसरी ओर बड़ा नुक्सान भी हुआ। यानी चोरी से शराब बनानेवालो का एक जबरदस्त स्वार्थी दल पैदा होगया। सारा देश दो दलो में बँट गया। मदिरा-निषेध के पक्ष वाले 'सूखे' (Drys) कहलाये जानें लगे और उसका विरोध करनेवाले 'गीले' (Wets) कहलाये।

लोगों को काम देने के लिए उधार लेकर सार्वजनिक कामो में लगाने के लिए थी।

(६) मदिरा-निषेध का कानून रद करने की कार्रवाई जल्दी से पूरी करली।

ये बडी-बडी रकमें धनवान लोगो से उधार ली जानेवाली थी। रूजवेल्ट की सारी नीति यही थी और यही है कि लोगो की खरीद करने की शक्ति बढाई जाय। उनके पास रुपया होगा तो वे खरीदेंगे और व्यापारिक मन्दी अपनेआप कम हो जायगी। इसी उद्देश्य से वह सार्वजनिक कामो की बडी-बडी योजनायें हाथ में ले रहा है, ताकि उनमें मजदूर लगाये जासके और वे रुपया कमा सके। इसी उद्देश्य से वह मजदूरो की मजदूरी बढाने और उनके काम के घण्टे घटाने की कोशिश कर रहा है। रोज़ाना काम के घण्टे जितनें कम होगे उतने ही अधिक आदमियो को काम मिलेगा।

यह रवैया उस रवैये से बिलकुल उलटा है जो सकट और मन्दी के समय कारखानें के मालिको का रहा करता है। वे प्राय उत्पत्ति का खर्च कम करने के लिए मजदूरी घटाने और काम के घण्टे बढाने की कोशिश किया करते हैं। मगर रूजवेल्ट का कहना यह है कि अगर हमें फिर से सामूहिक रूप से माल पैदा करना है तो हमें सामूहिक रूप से ऊँची मजदूरी देकर जनता में उस माल को खरीदने की शक्ति पैदा करनी चाहिए।

रूजवेल्ट की सरकार ने सोवियट रूस को भी अमेरिका की रुई खरीदने की ग़रज से कर्ज दिया। दोनो सरकारो में इस बात की भी चर्चा चल रही है कि दोनो देशों में बडे पैमाने पर माल का लेन-देन कैसे होसकता है।

अबतक अमेरिका की सरकार विशुद्ध पूंजीवादी सरकार रही है। वहाँ पूरी अबाधित स्पर्धा यानी बेरोक लाग-डाँट रही है। वह 'व्यक्तिवादी' राज्य (Individualistic State) कहलाता रहा है। रूजवेल्ट की नई नीति का इसके साथ मेल नहीं बैठता, क्योकि वह कई तरह व्यवसाय में दखल देरहा है। इसलिए वह एक प्रकार से उद्योग-धन्धो पर राज्य का बहुत-कुछ नियत्रण स्थापित कर रहा है। मगर वह इसे दूसरे नाम से पुकारता है।

असल में ये कार्रवाइयाँ सरकारी समाजवाद की है। यानी सरकार इस बात की व्यवस्था कर रही है कि काम के घण्टे कितने हो और मजदूरी की शर्तें क्या हो और उद्योगो पर सरकार का नियत्रण रहे और भयकर प्रतिस्पर्धा या लाग-डॉट बन्द हो। इसे वह यो कहता है कि "योजना में सब शामिल हो और सब उसे पूरी करने की कोशिश करे।"

यह काम अब अमेरिका वाले अपने स्वभाव के अनुसार पूरे जोर और जोश के साथ कर रहे हैं। बच्चो से काम लेने की प्रथा उठादी गई है। (मजदूरी के मामले

चुनाव में ब्रिटिश राष्ट्रीय सरकार के और नवम्बर १९३२ के चुनाव में राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के सहायक अपने-अपने देश में एक ही वर्ग के लोग थे। यह वर्ग था नीचे दर्जे का मध्यमवर्ग। इनके बहुत लोग पहले दूसरे दलों में रह चुके थे। इस तुलना को बहुत दूर तक नहीं खींचना चाहिए। इसका एक कारण तो यह है कि राष्ट्र-राष्ट्र में भेद होता है, और दूसरा कारण यह है कि स्थिति जर्मनी में जहांतक पहुंच चुकी है वहां-तक इंग्लैंड और अमेरिका में अभीतक नहीं पहुंची है, मगर खास बात यह है कि उद्योगवाद में खूब आगे बढ़े हुए इन तीनों ही देशों से बहुत मिलते-जुलते आर्थिक प्रभाव काम कर रहे हैं। इनका परिणाम भी एक-सा हुए बिना नहीं रहेगा। यह हाल फ्रांस में (या दूसरे देशों में) उसी हद तक नहीं है, क्योंकि फ्रांस अभीतक कृषि-प्रधान ज्यादा और औद्योगिक दृष्टि से कम उन्नत है।

"रूज़वेल्ट ने १९३३ के मार्च के शुरू में राष्ट्रपति का ओहदा सम्हाला। काम सम्हालते ही उसे बैंकों की जबरदस्त उथल-पुथल का सामना करना पड़ा। भयंकर मन्दी तो पहले से थी ही। काम सम्हालने के वक्त देश की जो हालत थी, कुछ सप्ताह के बाद उसका वर्णन करते हुए उसने कहा था कि देश इस समय "धीरे-धीरे मर रहा है।"

रूज़वेल्ट ने तुरन्त निश्चित कार्रवाई की। उसने अमेरिका की कांग्रेस से बैंकों, कारखानों और किसानों के सम्बन्ध में कार्रवाई करने के लिए अधिकार मांगे। कांग्रेस उथल-पुथल यानी अर्थ-संकट से बिलकुल घबराई हुई थी और रूज़वेल्ट के पक्ष में लोगों की भावनाओं का उसपर असर था, इसलिए उसने उसे अधिकार देदिये। रूज़वेल्ट सर्वेसर्वा बन गया। सब उसकी ओर देखने लगे कि वह उन्हें विपत्ति से बचाने के लिए कोई-न-कोई कारगर उपाय फौरन करेगा। हुआ भी वैसा ही। उसने बड़ी तेज़ी से काम किया और महीने-बीस दिन के भीतर-भीतर अपने अलग-अलग तरह के कामों से सारे संयुक्तराष्ट्र को हिला दिया। उसका आत्मविश्वास भी खूब बढ़ गया।

राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने जो अनेक निर्णय किये उनमें से ये भी थेः—

(१) सोने का विनिमय छोड़ दिया और डालर का भाव गिर जाने दिया। इससे कर्ज़दारों का बोझा हल्का होगया।

(२) विशेष सहायता देकर किसानों का कष्ट दूर किया और कृषि का बोझा हल्का करने के लिए दो अरब डालर का बड़ा भारी कर्ज़ जारी करवाया।

(३) जंगलात के लिए और बाढ़ों के रोकने के काम के लिए तुरन्त ढाई लाख मज़दूर भर्ती किये। इसका उद्देश्य बेकारी कम करना था।

(४) बेकारी घटाने के लिए कांग्रेस से पचास करोड़ डालर मांगे। ये मंज़ूर होगये।

(५) लगभग तीन अरब डालर की ज़बरदस्त रकम अलग रखदी। यह

हिटलर नरम पड़ गया है। वह सोवियट रूस के साथ भी सम्पर्क बढ़ा रहा है।

आज अमेरिका में और दूसरे देशो में भी बड़ा सवाल यह है, "क्या रूजवेल्ट को कामयाबी मिलेगी ?" वह बडी बहादुरी से पूंजीवाद को कायम रखने की कोशिश कर रहा है; लेकिन उसकी सफलता का अर्थ यह है कि बडे-बडे व्यवसायियो की गद्दी छिन जावे। और यह मुमकिन नहीं दीखता कि बडे व्यवसायी इसे चुपचाप बर्दाश्त करलें। अमेरिका के इन बडे व्यवसायियो के स्थायी स्वार्थ आज की दुनिया में सबसे प्रबल समझे जाते हैं, और ये लोग राष्ट्रपति रूजवेल्ट के कहने से ही सत्ता और विशेष अधिकार छोड़नेंवाले नहीं हैं। अभी तो लोग लोकमत को देखकर चुप हैं और राष्ट्र-पति की लोकप्रियता के कारण दबे हुए-से हैं। परन्तु वे अपने मौके की घात में जरूर हैं। अगर कुछ महीनो के भीतर हालत में कुछ सुधार नही हुआ तो यह उम्मीद रक्खी जाती है कि लोकमत रूजवेल्ट के खिलाफ हो जायगा और उस समय ये बडे व्यवसायी खुलकर सामने आयेंगे। बहुत-से अधिकारपूर्ण राय रखनेंवालो का खयाल है कि राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने असम्भव कार्य हाथ में लिया है और उसे सफलता नहीं मिलेगी। वह असफल हुआ तो ससार की मन्दी और भी बढ जायगी और अमेरिका में बडे व्यव-सायियो की सत्ता फिर सर्वोपरि होजायगी। शायद उनका बल पहले से भी बढ जाय, क्योकि रूजवेल्ट सरकारी समाजवाद का जो ढॉचा खड़ा कर रहा है वह उस वक्त बडे व्यवसायियो के व्यक्तिगत लाभ के लिए काम में लाया जायगा। अमेरिका में मज़-दूर-आन्दोलन तो जोरदार है ही नहीं, उसे आसानी से दबाया जा सकता है।

दूसरा खयाल यह है कि अमेरिका (और शायद इंग्लैण्ड भी) जर्मनी की राह पर जायगा और फैसिस्ट प्रवृत्तियॉं बढेंगी। रूजवेल्ट के सिक्के का भाव घटा देने की नीति से कई समुदायो को फायदा है, लेकिन मध्यमवर्ग के लोगो को नुक्सान है; क्योकि उनकी आमदनी बँधी हुई है और डालर की कीमत घटने पर भी इन्हे तो वही तनख्वाह मिलती है। इस तरह 'सफेद कॉलर' वाली जनता बढती जा रही है और मजदूरो से भी कहीं अधिक क्रान्तिकारी बनती जा रही है। मध्यमवर्ग के ये क्रान्तिकारी अंग किसानों के साथ मिलकर अमेरिका में फैसिस्ट परिस्थितियॉं पैदा कर सकते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि जर्मनी के हालात की नकल की जायगी; लेकिन यह सम्भावना है कि बेचारे हब्शियो की और भी कमबख्ती आयगी, विदेशी और यहूदी लोगों के प्रति सहिष्णुता कम होगी और दमन बढ़ जायगा। यानी भाषण देने और समाचारपत्र निकालने वगैरा के नागरिक अधिकार छीन लिये जायेंगे। उडरो विल्सन के बाद अमेरिका में रूजवेल्ट जैसा उदार और सुसंस्कृत राष्ट्रपति नही हुआ है। मगर वह ऐसी शक्तियो का प्रतिनिधि मालूम होता है जो उथल-पुथल तीव्र होने के साथ-साथ

में वच्चो की उम्र सोलह साल तक की मानी गई है) । अधिक मजदूरी, ज्यादा वेतन और कम घण्टे काम, यही मूल मंत्र बने हुए है । खुशहाली के इस आन्दोलन में, कहते है, सारा देश एक बड़ा भर्ती का विज्ञापन-केन्द्र बना हुआ है । हवाई जहाज इधर से उधर दौड़ते और कारखाने के मालिको और दूसरे लोगो से बेतार के तार द्वारा अपीले करते फिरते है । प्रत्येक बडे-बडे उद्योग को प्रेरणा की गई है कि वे ऊँची मजदूरी देनें के अलग-अलग नियम बनावें और उनपर अमल करने की प्रतिज्ञा करे । जो उचित ढग के नियम नही बना पाते है उन्हे हलकी-सी धमकी देदी जाती है कि वे नहीं बनावेगे तो सरकार बना देगी । मालिको से अलग-अलग प्रतिज्ञा-पत्रो पर भी हस्ताक्षर कराये जारहे है कि वे अपने-अपने नौकरो की तनख्वाहे बढ़ायेंगे और काम के घण्टे घटायेंगे । जो मालिक इस मामले में आगे बढकर काम करेंगे उन्हे सरकार सम्मान के बिल्ले देना चाहती है और जो पीछे रहेंगे उन्हे शर्माने के लिए हर शहर के डाकखानें में सम्मान-प्राप्त लोगो की सूची रक्खी जायगी ।

इन सब उपायो से भावो और व्यापार में कुछ सुधार हुआ है, लेकिन असली और मार्के का सुधार यह हुआ है कि व्यवसाय की भावना और साहस बढ़ गया है । हार का ख़याल बहुत कुछ जाता रहा है और आमतौर पर साधारण जनता में और ख़ासतौर पर मध्यमवर्ग में राष्ट्रपति रूजवेल्ट के प्रति खूब श्रद्धा है । अभी से ही लोग उसकी तुलना अमेरिका के महान् वीर राष्ट्रपति लिंकन से करनें लगे है । उसने भी वडे सकट यानी गृह-युद्ध के समय काम सम्भाला था ।

योरप तक में बहुत लोग रूजवेल्ट की तरफ देखने लगे थे और यह आशा करने लगे थे कि मन्दी को दूर करनें के लिए वह दुनिया को रास्ता दिखायगा । मगर अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिषद के समय दूसरे देशो के प्रतिनिधियो में उसकी लोकप्रियता जरा घट गई, क्योकि उसने अपने प्रतिनिधियो को यह हिदायत करदी थी कि वे डालर का भाव सोने के साथ बाँधनें या और कोई ऐसा काम करने से इन्कार करदें जिससे सयुक्तराष्ट्र में उसकी बडी-बडी योजनाओ में बाधा पड़ने की सम्भावना हो ।

रूजवेल्ट की नीति निश्चित रूप से आर्थिक राष्ट्रवाद की नीति है और वह अमेरिका की स्थिति सुधारने पर तुला हुआ है । योरप की कुछ सरकारो को यह पसन्द नहीं है और बैंक वाले, ख़ासतौर पर फ्रांस के बैंक वाले, इस बात पर नाराज है कि उनके सोनें के विनिमय को ख़तरा है । अंग्रेज लोग उसको ध्यान से देख रहे है ।

फिर भी रूजवेल्ट अपने पहले के राष्ट्रपति की बनिस्बत संसार के मामलो में ज्यादा अमली हिस्सा लेरहा है । निःशस्त्रीकरण और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय मामलो में उसका रवैया इंग्लैण्ड से आगे बढा हुआ और निश्चित है । उसकी मीठी चेतावनी से

ज्यादातर देशो में मजदूरो की बनिस्बत नीचे दर्जे के मध्यमवर्ग के लोग ज्यादा उग्र है। यह बात सबसे ज्यादा जर्मनी में और उससे कम इंग्लैण्ड और संयुक्तराष्ट्र और दूसरे देशो में दिखाई देती है। कमी-बेशी का कारण यह है कि राष्ट्रो के स्वभाव अलग-अलग है और अर्थ-सकट भी अलग-अलग मात्रा में आया है।

लड़ाई के बाद के कुछ वर्षों तक जो मजदूर-आन्दोलन इतना उग्र और क्रान्तिकारी था, वह इतना नरम और भाग्यवादी क्यो बन गया ? जर्मनी का लोकसत्तात्मक समाजवादी दल बिना लोहा लिये ही क्यो टूट गया और उसने नाजियो के हमले से अपनेआपको चूर-चूर क्यो होजाने दिया ? अग्रेजी मजदूर दल इतना नरम और प्रतिगामी क्यो है ? मजदूर दल के नेताओ पर अक्सर यह दोष लगाया जाता है कि वे अयोग्य होते है और मजदूरो को धोखा देते है। उनमें से बहुत-से जरूर इस दोष के पात्र है और यह देखकर दु.ख होता है कि उनमें से कई लोग दुश्मन से मिल जाते है और मजदूर-आन्दोलन को अपनी व्यक्तिगत महत्वाकाक्षा का साधन बनाते है। बदकिस्मती से इन्सान के सभी कामो में मौका देखकर काम निकालने की प्रवृत्ति मौजूद है। लेकिन यह प्रवृत्ति उस हालत में बहुत ही खेदजनक होजाती है जब अपनी भलाई के लिए लाखो पददलित और दु खी मनुष्यो की आशाओ, आदर्शो और कुर्बानियो से अनुचित लाभ उठाया जाता है।

नेताओ का दोष होसकता है। मगर नेता भी तो आखिर मौजूदा हालत की ही पैदावार होते है। आमतौर पर कोई देश जिस योग्य होता है वैसे ही उसे शासक मिलते है और किसी आन्दोलन को नेता भी वैसे ही मिलते है जैसी कि अनुयायियो की सच्ची इच्छा होती है। असल बात यह है कि इन साम्राज्यवादी देशो में न तो मजदूर नेता और न उनके अनुयायी ही समाजवाद को एक जीवित धर्म के रूप में मानते थे और न यह समझते थे कि यह कोई तुरन्त चाहने लायक चीज है। उनका समाजवाद पूँजीवादी प्रणाली के साथ बहुत ज्यादा उलझ गया और बँध गया। पराधीन देशो के शोषण से जो फायदा हुआ उसका थोडा-सा हिस्सा उन्हे भी मिल गया और वे यह समझते रहे कि रहन-सहन के ऊँचे ढग के लिए पूँजीवाद का कायम रहना जरूरी है। समाजवाद एक दूर का आदर्श बन गया। वह एक ऐसा स्वर्ग होगया जिसके सपने देखते रहे और वर्तमान से उसका कोई ताल्लुक न हो। स्वर्ग की पुरानी कल्पना की तरह समाजवाद भी पूँजीवाद का दास होगया।

इस तरह मजदूर दल, श्रमजीवी संघ, लोकसत्तात्मक समाजवादी लोग, दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ और इस तरह के सारे संगठन सुधार के छोटे-छोटे प्रयत्नो में इतने फँस गये कि पूँजीवाद की सारी इमारत अछूती रह गई। उनका आदर्शवाद

अधिनायकिक फैसिज्म की ओर झुक सकती है। लेकिन अभी तो वह एक तरह से सयुक्तराष्ट्र का सर्वेसर्वा है और नीचे पडे हुए लोगो को ऊपर उठाने की भरसक कोशिश कर रहा है। ससार उसके महान् प्रयोग को देख रहा है।

: १६३ :

पार्लमेण्टों की असफलता

६ अगस्त, १९३३

हाल की घटनाओ की हमने जरा तफसील के साथ देख-भाल की है और बहुत-सी ऐसी शक्तियो और प्रवृत्तियो पर विचार किया है जो हमारी आज की बदलती हुई दुनिया का रग-रूप बना रही है। दो बाते खास तौर पर सामने आई है, जिनका जिक्र तो मै पहले ही कर चुका हूँ लेकिन उनपर ज्यादा विचार करने की जरूरत मालूम होती है। इनमें से एक तो है लडाई के बाद के वर्षो में मजदूर-आन्दोलन और पुराने ढग के समाजवाद की असफलता, और दूसरी बात पार्लमेण्टो की असफलता या उनका ह्रास है।

मै तुम्हे बता चुका हूँ कि किस तरह जब १९१४ में महायुद्ध छिड़ा उस समय सगठित मजदूर दल कुछ न कर सका और दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सघ (Second International) छिन्न-भिन्न होगया। इसका कारण यह बताया गया था कि अचानक लडाई का धक्का लगने से भयकर राष्ट्रीय भावनायें उत्तेजित होगई थीं और लोगो पर थोडे समय के लिए पागलपन सवार होगया था। पिछले चार सालो में जो घटनायें हुई है, वे बिलकुल दूसरी और कही ज्यादा आँखें खोलनेवाली है। इन चार वर्षों में जितनी महान् मन्दी रही है उतनी पूंजीवादी ससार ने पहले कभी नहीं देखी थी। इसलिए मजदूरो पर मुसीबत का बोझ बढता जा रहा है। फिर भी साधारण तौर पर कहीं भी और विशेषकर इग्लैण्ड और सयुक्तराष्ट्र में साधारण मजदूरो में सच्ची क्रान्तिकारी भावना पैदा नहीं होपाई।

यह जाहिर है कि पुराने ढग के पूंजीवाद का ढाँचा बिखर रहा है। जहांतक बाहरी बातो का ताल्लुक है वहांतक स्थितियां समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की शक्ल में तब्दील होने के बिलकुल मुआफिक मालूम होती है, मगर जिन लोगो को क्रान्ति की सबसे ज्यादा इच्छा होसकती है उन मजदूरो में से ही ज्यादातर का ऐसा कोई इरादा नहीं मालूम होता। क्रान्तिकारी भावनायें मजदूरो से कहीं ज्यादा अमेरिका के पुराने ख्याल के किसानो में दिखाई देती है और, जैसा मै तुम्हे कई बार बता चुका हूँ,

होता था कि पूंजीवाद और पूंजीपति उनका शोषण करते है और इसलिए इन्हे उनपर थोड़ा गुस्सा आता था। लेकिन उन्हे मजदूर-वर्ग का और साम्यवादियो के हाथ में सत्ता आजाने का कहीं अधिक डर था। पूंजीपति लोग आम तौर पर इस फैसिस्ट लहर के साथ समझौता कर लेते थे क्योकि उन्हे ऐसा लगता था, कि साम्यवाद को रोकने का और कोई उपाय नही है। धीरे-धीरे जिस किसी को भी साम्यवाद का भय था वह इस फैसिज्म के साथ मिल जाता। इस तरह से कही कम और कही ज्यादा, जहाँ कहीं पूंजीवाद को खतरा है और साम्यवाद के मुकाबिले की सम्भावना दिखाई देती है, वही फैसिज्म का प्रचार होजाता है। फैसिज्म या उग्र राष्ट्रवाद और कम्यूनिज्म या साम्यवाद चक्की के दो पाट है जिनके बीच में पार्लमेण्टरी सरकारो या प्रतिनिधि-शासन का कचूमर निकल रहा है।

अब हम उस दूसरी मुख्य बात तक आपहुंचे है जिसका मैंनें इस खत के शुरू में जिक्र किया है। वह बात है पार्लमेण्टो की असफलता या उनका ह्रास। पिछले खतो में सर्वेसर्वा शासको के बारे में और पुराने ढग की लोकसत्ता की असफलता के बारे में मै तुम्हे काफी बाते बता चुका हूँ। यह बात रूस, इटली और मध्य-योरप में खूब अच्छी तरह जाहिर होगई है। जर्मनी में तो नाजियो के हाथ में सत्ता आने से पहले ही प्रतिनिधि-शासन का खात्मा होचुका था। सयुक्तराष्ट्र में हम देख चुके है कि किस तरह कांग्रेस राष्ट्रपति रूजवेल्ट को पूरे अधिकार देचुकी है और एक तरह से उसे सर्वेसर्वा बना चुकी है। यह सिलसिला फ्रास और इंग्लैण्ड में भी दिखाई देने लगा है। ले-देकर योरप में यही दो देश ऐसे है जहाँ लोकसत्ता की लम्बी-से-लम्बी और मजबूत परम्परा रही है। आओ, पहले इग्लैण्ड का ही विचार करे।

योरप के दूसरे देशो से इंग्लैण्ड का काम करने का तरीका बिलकुल जुदा ही है। अंग्रेज लोग सदा पुरानी सूरते कायम रखने की कोशिश किया करते है और इसीलिए उनके यहाँके परिवर्तन साफ नहीं दिखाई देते। साधारण दृष्टि से देखनेवाले को ऐसा लगता है कि ब्रिटिश पार्लमेण्ट का वही हाल है जो पहले था। मगर सच्ची बात यह है कि उसमें बहुत परिवर्तन हो गया है। पुराने जमाने में कामस सभा अपनी सत्ता को सीधे तौर पर काम में लाती थी और उसके हरेक सदस्य की हर मामले में कुछ-न-कुछ चलती थी। अब मंत्रि-मण्डल या सरकार ही बडे-बडे सवाल तय करती है और कामस सभा केवल 'हाँ' या 'न' कह सकती है। अवश्य ही सभा 'न' कहकर सरकार को खदेड़ सकती है, मगर यह कार्रवाई इतनी गम्भीर है कि बहुत ही कम होती है, क्योकि इससे बडी झंझट पैदा होती है और आम चुनाव करना पड़ता है। इस तरह किसी सरकार का कामंस-सभा में बहुमत हो तो वह जो चाहे सो कर

[illegible] गया और ये बड़े-बड़े नौकरशाही सगठन होगये। उनमें न प्राण रहा, न [illegible]।

नये साम्यवादी दल की दूसरी स्थिति थी। यह मजदूरो के लिए ऐसा सन्देश [illegible] था, जिसमें अधिक जीवन और प्रेरणा थी और उसके साथ सोवियट-सघ की आदर्श पार्श्वभूमि थी। मगर इतना होते हुए भी उसे बहुत कम सफलता मिली। यह योरप या अमेरिका के साधारण मजदूरो को अपने साथ न ले सका। इंग्लैण्ड और सयुक्तराष्ट्र में इसकी ताक़त इतनी कम थी कि देखकर ताज्जुब होता है। जर्मनी और फ्रास में इसका कुछ जोर था। फिर भी हम देख चुके है कि कम-से-कम जर्मनी में यह अपनी ताक़त से कितना कम फायदा उठा सका। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से साम्यवादी दल की दो बडी हार हुई,—एक तो १९२७ में चीन में और दूसरी १९३३ में जर्मनी में। व्यापारिक मन्दी, बार-बार के अर्थ-सकट, थोडी मजदूरी और बेकारी के इस जमाने में साम्यवादी दल क्यो असफल हुआ, यह कह सकना कठिन है। कुछ लोग कहते है कि कार्यकुशलता की कमी थी और काम करने का तरीका गलत था। दूसरे लोग यह बताते है कि यह दल सोवियट सरकार से बहुत ज्यादा बँधा हुआ था और उसकी नीति होनी चाहिए थी अन्तर्राष्ट्रीय परन्तु रह गई अधिकतर राष्ट्रीय। सम्भव है बात यही हो। परन्तु इस स्पष्टीकरण से सन्तोष नहीं होता।

साम्यवादी दल का मजदूरो में तो जोर नही बढा, परन्तु साम्यवादी विचार दूर-दूर तक और खास तौर पर पढे-लिखे लोगो में फैले। सब जगह, यहाँतक कि पूँजीवाद के समर्थको में भी, इस तरह की आशा और आशका होने लगी कि सकट से शायद किसी-न-किसी रूप में साम्यवाद की स्थापना होकर रहेगी। आम तौर पर यह मान लिया गया कि पुराने ढग के पूँजीवाद के दिन लद गये। जिसके जो हाथ लगा वही ले भागने की नीति, कोई योजना नहीं, विनाश और सघर्ष का सदा बना रहना और बार-बार उथल-पुथल होना, यह हालत अब कायम नहीं रह सकती। इसके स्थान पर किसी-न-किसी रूप में एक योजना के अनुसार समाजवादी अर्थ-व्यवस्था या सहयोग-प्रणाली कायम करनी पडेगी। इसका यह अर्थ नहीं है कि इससे मजदूर-वर्ग की जीत ही हो, क्योंकि मालिक-वर्ग के फायदे के लिए भी शासन का सगठन अर्द्ध-समाजवादी ढग पर किया जा सकता है। सरकारी समाजवाद और सरकारी पूँजीवाद एक-सी ही बात है। असली सवाल यह है कि राज्य में चलती किसकी है और लाभ किसको पहुँचता है, सारे समाज को या एक खास मालिक-वर्ग को ?

पढे लिखे लोग बात ही करते रहे और पश्चिम के उद्योग-प्रधान देशो में निम्न-श्रेणी के मध्यमवर्ग व छोटे अमीर काम कर गये। इन वर्गों को धुंधला-सा अनुभव

तरह के परिवर्तन बहुत दूर तक मार करनेवाले दीखते हो और स्वामी-वर्ग की स्थिति डावाडोल होने का या उसपर बहुत बड़ा बोझा आपडने का अन्देशा हो। सितम्बर १९३१ में इग्लैण्ड में यही हालत हो गई थी। उस वक्त संकट शुरू होगया था और उसके कारण आगे चलकर पाउण्ड को सोने का विनिमय छोड़ना पड़ा। इसकी प्रति-क्रिया यह हुई कि समाजवाद के खिलाफ पूंजीवाद की सारी ताकतें एक होगई। मध्यम-वर्ग की जनता को यह भय दिखाकर कि अगर मजदूर दल की जीत हुई तो तुम्हारी सब बचत जब्त कर ली जायगी, राष्ट्रीय सरकार ने इन छोटे अमीरो को पूरी तरह भयभीत कर दिया और भारी बहुमत से चुनाव जीत लिया। मैकडानल्ड और उसके समर्थको ने कहा कि राष्ट्रीय सरकार न रहेगी तो साम्यवाद आवेगा। असल बात यह है कि ब्रिटिश मजदूर दल की नरमी मशहूर है। वह प्रतिष्ठित संस्था है। उसे जितना डर साम्यवाद का लगता है उतना और किसी का नही लगता।

इस तरह इंग्लैण्ड में भी पुरानी लोकसत्ता की कमर टूट गई है और पार्लमेण्ट का पतन होरहा है। लोकसत्ता का दिवाला उस समय निकलता है जब जीवन-मरण के सवाल यानी लोगो के हृदगत भावो को उभाड़नेवाले सवाल सामने आते है। जैसे धार्मिक सघर्ष हो या राष्ट्रीय और जातीय संघर्ष हो (उदाहरणार्थ आर्य-जर्मन बनाम यहूदी) या इनसे भी अधिक आर्थिक संघर्ष हो (मिसाल के लिए गरीब-अमीर का संघर्ष)। तुम्हे याद होगा कि जब आयर्लैण्ड में अल्स्टर और दूसरे भागो के बीच १९१४ में ऐसा ही धार्मिक और राष्ट्रीय सवाल खडा हुआ था तो ब्रिटिश अनुदार दल ने सचमुच पार्लमेण्ट के निर्णय को मानने से इन्कार कर दिया था और गृह-युद्ध तक को उत्तेजन दिया था। इस तरह जबतक जाहिरा तौर पर लोकसत्तात्मक कार्रवाई से अमीरवर्ग का काम बनता है, तबतक वह अपने स्वार्थो की रक्षा के लिए उसे काम में लेकर फायदा उठाता रहता है। जब इससे बाधा होने लगती है और उसके विशेषा-धिकारो और स्वार्थो को धक्का पहुँचने का अन्देशा होता है तो वह लोकसत्ता को ताक में रखकर निरंकुश उपाय करने लग जाता है। यह बिलकुल सम्भव है कि भविष्य में ब्रिटिश पार्लमेण्ट में आमूल सामाजिक परिवर्तनो के पक्ष में बहुमत होजाय। ऐसा हो और वह बहुमत स्थायी स्वार्थों पर हमला करे तो इन स्वार्थों के मालिक पार्लमेण्ट की बात मानने से भी इन्कार कर सकते है और उसके निर्णय के खिलाफ बगावत का झण्डा खड़ा करवा सकते है। अल्स्टर के सवाल पर १९१४ में उन्होने यही तो किया था।

तो हमने समझ लिया कि अमीर लोगो की दृष्टि से पार्लमेण्ट और लोकसत्ता तभीतक वाञ्छनीय समझी जाती है जबतक कि वह मौजूदा हालत को कायम रखती है। अवश्य ही यह सच्ची लोकसत्ता नहीं होती। यह तो लोकसत्ता के विपरीत उद्देश्यो के

सकती है, सभा से भी करवा सकती है और कानून बना सकती है। इस प्रकार सत्ता धारासभा के हाथ से निकलकर शासन-विभाग के हाथ में चली गई है और चली जा रही है।

दूसरे, आजकल पार्लमेण्ट को इतना काम करना पड़ता है, और उसके सामने इतने पेचीदा सवाल रहते हैं, कि परिपाटी यह पड़ गई है कि पार्लमेण्ट तो सिर्फ किसी कानून या प्रस्ताव के साधारण सिद्धान्त-मात्र निश्चय करदे और बाकी की सारी तफसील पूरी करने का काम सरकार या उसके किसी विभाग के लिए छोड़दे। इस तरह शासन-विभाग के हाथ में जबरदस्त अधिकार आगये हैं और विशेष परिस्थिति में वह जो चाहे सो कर सकता है। यों शासन के महत्वपूर्ण कार्यों के साथ पार्लमेण्ट का सम्पर्क दिन-दिन घटता जा रहा है। उसका मुख्य काम अब यह रह गया है कि सरकार के काम-काज की टीका करती रहे, पूछताछ और जाँच-पड़ताल करती रहे और सरकार की सामान्य नीति का समर्थन करती रहे। जैसा हेराल्ड जे० लास्की नामक प्रसिद्ध लेखक कहता है—"हमारी सरकार शासन-विभाग की निरंकुश सत्ता होगई है, उसे सिर्फ पार्लमेण्ट के विद्रोह का किंचित् डर है।"

सितम्बर (या शायद अक्तूबर) १९३१ में मजदूर सरकार का अचानक पतन होगया। यह जिस अजीब ढंग से हुआ उससे मालूम होता है कि इस मामले में पार्लमेण्ट का कितना कम हाथ था। आमतौर पर इंग्लैण्ड में सरकार का पतन कामन्स सभा में हार होने पर हुआ करता है। १९३१ में कोई बात सभा के सामने ही नहीं आई। किसीको, यहांतक कि मन्त्रि-मण्डल के अधिकांश सदस्यों तक को, मालूम नहीं हुआ कि क्या हो रहा है। प्रधानमंत्री रैमजे मैक्डानल्ड की दूसरे दलों के नेताओं से कुछ गुप्त बातचीत हुई। वह राजा से मिले, पुराना मंत्रिमण्डल बात-की-बात में गायब हो गया और नये की अखबारों में घोषणा हो गई! पुराने मंत्रिमण्डल के कुछ सदस्यों को यह सारा हाल पहले पहल अखबारों से मालूम हुआ। यह सारी कार्रवाई असाधारण और लोकसत्तात्मक प्रणाली के बिलकुल खिलाफ थी। आखिरकार कामस-सभा ने इसकी ताईद करदी। इससे स्थिति में कोई फ़र्क नहीं पड़ता। तरीका तो निरंकुशता का ही रहा।

इस तरह रातों रात मजदूर सरकार के स्थान पर राष्ट्रीय सरकार आगई। रैमजे मैकडानल्ड साहब प्रधानमंत्री बने रहे और उदार और अनुदार दल उनके साथ शरीक होगये। 'राष्ट्रीय सरकार' का सीधा अर्थ है ऐसी सरकार जिसमें मालिकवर्ग यानी सम्पत्ति के स्वामी अपने आपस के झगड़े भूलकर समाजवादी परिवर्त्तनों का मुका-बिला करने के लिए एक होजाते हैं। ऐसी सरकार उस वक्त कायम होती है जब इस

कुछ लोग समझते है कि अगर थोडे-से समझदार आदमियो के हाथ में अलग-अलग शासन दे दिये जावे तो यह सारा झगड़ा, संघर्ष और दुःख मिट जाय। वे यह भी समझते है कि इस सारे झगडे की जड राजनीतिज्ञो की मूर्खता या दुष्टता है। उनका ख़याल है कि भले आदमी इकट्ठे हो तो वे सदाचार के उपदेश देकर और भूल सुझाकर दुर्जनो की कायापलट कर सकते है। यह कल्पना बडी भ्रमपूर्ण है; क्योकि दोष व्यक्तियो का नहीं है, बुरी प्रथा का है। जबतक यह प्रथा बनी हुई है, इन व्यक्तियो का आचरण वैसा ही रहेगा जैसा अबतक रहा है। सत्ताधारी समूह दो तरह के होते है। एक तो विदेशी होकर दूसरे राष्ट्रो पर शासन करते है। दूसरे राष्ट्र के भीतर आर्थिक साधनोवाले लोग होते है। ये लोग अजीब आत्म-वचना और दम्भ से यह विश्वास कर लेते है कि उनके विशेषाधिकार उनकी योग्यता का उचित पुरस्कार है। जो कोई इस स्थिति को मानने से इन्कार करता है वह उन्हे दुष्ट, बदमाश और शान्ति भग करनेवाला मालूम होता है। किसी प्रभुता-प्राप्त समूह को यह समझा सकना असम्भव है कि उसके विशेष अधिकार अन्यायपूर्ण है, और उन्हे उसे शान्तिपूर्वक छोड़ देना चाहिए। व्यक्ति फिर भी कभी और वह भी क्वचित् ही यह विश्वास कर सकते है, परन्तु समूह कभी नहीं कर सकते। इसलिए भिडन्त, संघर्ष और क्रान्ति और साथ-ही-साथ अनन्त कष्ट और दु ख भी अनिवार्य रूप से आते है।

: १९४ :

दुनिया पर एक आख़िरी नज़र

७ अगस्त, १९३३

जबतक कलम, कागज और स्याही है तबतक चिट्ठियाँ लिखने का कोई अन्त नहीं। और ससार की घटनाओ पर लिखनें का भी कोई अन्त नही; क्योकि यह घटना-चक्र तो चलता ही रहता है और स्त्री, पुरुष और बच्चो का हँसना और रोना, आपस में प्रेम और घृणा करना और लडना-झगडना कभी बन्द नहीं होता। यह कहानी जारी रहती है, उसका खातमा ही नहीं होता। आज जिस जमाने में हम रहते है, जीवन का प्रवाह और भी गतिशील, उसकी रफ्तार और भी तेज है और एक के बाद दूसरे परिवर्तन जल्दी-जल्दी होते है। मेरे लिखते-लिखते परिवर्तन होरहे है और जो कुछ मैं आज लिख रहा हूँ वह शायद कल ही पुराना पड़ जाय। जीवन की नदी कभी स्थिर नहीं रहती। वह तो बहती ही रहती है। आज की भाँति कभी-कभी वह बहुत जोर से, निर्दयता से, राक्षसी शक्ति से हमारे छोटे-छोटे इरादो और मनोरथो

लिए लोकसत्ता की कल्पना का दुरुपयोग करना हुआ। अबतक सच्ची लोकसत्ता को तो अवसर ही नही मिला है, क्योकि पूंजीवादी प्रणाली और लोकसत्ता में मौलिक विरोध है। लोकसत्ता का कोई अर्थ होसकता है तो समानता होसकता है, और समानता भी केवल मताधिकार की ही नही बल्कि आर्थिक और सामाजिक समानता भी। पूंजीवाद का अर्थ इससे बिलकुल उलटा है। उसमें मुट्ठी भर लोगो के हाथ में आर्थिक सत्ता होती है और वे अपने ही फायदे के लिए उसका इस्तेमाल करते है। वे अपनी विशेषाधिकार-पूर्ण स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए कानून बनाते है और जो कोई इन कानूनो को तोडता है वह शक्ति और व्यवस्था का भंग करने वाला ठहराया जाकर समाज के दण्ड का पात्र बनता है। इस तरह इस प्रणाली में समानता का नामोनिशान तक नहीं होता और जितनी-सी आजादी दी जाती है वह पूंजीवादी कानूनो की सत्ता के भीतर ही दीजाती है। इन कानूनो का उद्देश्य पूंजीवाद की रक्षा करना होता है।

पूंजीवाद और लोकसत्ता के बीच का सघर्ष आन्तरिक और स्थायी है। अक्सर भ्रमपूर्ण प्रचार और पार्लमेण्ट वगैरा लोकसत्ता के बाहरी स्वरूप के कारण यह संघर्ष छिपा रहता है। मालिक-वर्ग के लोग दूसरे वर्गो को थोड़ा बहुत सन्तुष्ट रखने के लिए टुकडे भी फेंकते रहते हैं। ऐसा समय भी आजाता है कि फेंकने के लिए टुकडे नहीं बचते। उस वक़्त दोनो दलो में सघर्ष खूब जोर का होता है। क्योकि उस समय युद्ध असली चीज के लिए, यानी शासन में आर्थिक सत्ता हासिल करने के लिए, होता है। जब यह नौबत आती है तो पूंजीवाद के सारे हिमायती, जो अबतक अलग-अलग दलो के साथ खिलवाड करते रहे है, अपने स्थायी स्वार्थो के खतरे का मुकाबिला करने के लिए एक होजाते है। उदार और इसी तरह के दूसरे दल गायब होजाते है और लोकसत्ता के कायदे ताक़ में रख दिये जाते है। योरप और अमेरिका में यह नौबत आ पहुँची है, फैसिज़्म का अधिकाश देशो में किसी-न-किसी रूप में बोलबाला हो चला है और यह उस नौबत की निशानी है। मजदूर-दल सब जगह अपना बचाव कर रहा है। उसमें पूंजीवादी शक्तियो के इस नये और जबरदस्त सगठन का मुकाबिला करने की ताकत नहीं है। फिर भी अजीब बात यह है कि पूंजीवाद की इमारत खुद लड़खडा रही है और वह अपनेआपको नई दुनिया के अनुकूल नही बना सकती। यह निश्चित दिखाई देता है कि पूंजीवाद किसी तरह जीवित रह भी गया तो उसका स्वरूप बहुत ही बदला हुआ और कठोर होगा। यह भी लम्बे सघर्ष में एक दूसरी मंजिल होगी; क्योकि पूंजीवाद के किसी भी रूप में आधुनिक उद्योग ही क्या, आधुनिक जीवन तक ऐसा युद्धक्षेत्र रहेगा जिसमें सेनाओ की आपस में सदा भिड़न्त होती रहेगी।

जर्मनी या शत्रु-सेना के अधिकार में हारे हुए युद्ध-क्षेत्र में भी नही हुआ है। आज ब्रिटिश राज्य में सचमुच हमारी ऐसी हालत होगई है कि हमें जाने-आने के लिए भी छुट्टी का परवाना लेना पड़ता है और हमारे सीमाप्रान्त के उसपार हमारे पडोसियो पर ब्रिटिश वायुयान बम-वर्षा कर रहे है।

दूमरे देशो में हमारे देशवासियों की कोई इज्जत नहीं की जाती। उनका शायद ही कही स्वागत हो। इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नही है; क्योकि जिनका आदर घर पर ही न हो उनका बाहर कैसे हो सकता है ? दक्षिण-अफरीका में वे जन्मे और पले और वहाँके कुछ हिस्सो को, खास तौर पर नेटाल को, उन्होने अपनी मेहनत से बनाया था; पर वहाँसे भी उन्हे निकाला जा रहा है। रंग-भेद, जातीय द्वेष और आर्थिक संघर्ष, सबने मिलकर दक्षिण अफरीका के इन हिन्दुस्तानियो को ऐसा अछूत-सा बना दिया है, जिनका न कोई घर है और न जिन्हे कहीं शरण मिल सकती है। दक्षिण-अफरीका की यूनियन सरकार उन्हे कहती है कि दक्षिण-अफ्रीका को सदा के लिए छोड़ दो। तुम्हे जहाज में बिठाकर कही दूसरी जगह भेज दिया जायगा। फिर भले ही तुम ब्रिटिश गायना में जाओ, हिन्दुस्तान में वापस जाओ, या और कहीं जाओ, और भले ही भूखो मरो।

पूर्वी अफरीका में केनिया और चौतरफ के इलाको को बनाने में हिन्दुस्तानियो का बड़ा हिस्सा रहा है। लेकिन वहाँ भी उनका रहना पसन्द नहीं किया जाता। इस-लिए नही कि अफरीका के बाशिन्दों को आपत्ति है, बल्कि इसलिए कि मुट्ठीभर यूरो-पियन बगीचेवाले नहीं चाहते। वहाँके अच्छे-से-अच्छे यानी पहाडी प्रदेश इन बगीचे-वालो के लिए सुरक्षित है। वहाँ अफरीकन और हिन्दुस्तानी जमीन नहीं खरीद सकते। बेचारे अफरीकनो की तो बहुत ही बुरी हालत है। शुरू में सारी जमीन उनके कब्जे में थी और यही उनकी आमदनी का जरिया था। इस जमीन के बडे-बडे टुकडे सरकार ने जब्त कर लिये और योरप से आकर बसनेवालो को मुफ्त देदिये। आजकल ये बगीचे-वाले बडे-बडे जमींदार होगये है। उन्हे आय-कर नही देना पड़ता और दूसरे कर भी ये शायद ही देते हो। कर का लगभग सारा भार गरीब पददलित अफरीकनो पर पड़ता है। उनपर कर लगाना आसान काम नहीं है, क्योकि उनके पास कुछ होता ही नहीं। इसलिए आटा और कपडे जैसी जिन्दगी की कुछ जरूरी चीजो पर कर लगाया गया और जब वे उन्हे खरीदते तो अप्रत्यक्ष रूपसे उन्हे यह कर भी चुकाना पड़ता। लेकिन सबसे गैरमामूली टैक्स, और वह भी सीधा टैक्स, यह था कि प्रत्येक घर और १६ वर्षसे ऊपर के हरेक स्त्री-पुरुष पर कर लगा दिया गया। कर लगाने का उसूल यह है कि लोग जो कमावें या जो कुछ उनके पास हो उसपर कर लगाया जाय। अफरीकनो के पास

की उपेक्षा करती हुई, हमारी तुच्छताओं का निर्दय उपहास करती हुई, और हमें अपनी उत्ताल तरंगो पर तिनको की तरह इधर-उधर फेंकती हुई आगे बढ़ती है। यह जीवन की नदी आगे कहाँ जायगी, इसका किसीको पता नहीं। किसी बडी और पैनी चट्टान से टकराकर सहस्र धाराओ में बँट जायगी या उस विशाल, गम्भीर, गौरवशाली, शान्त, सदापरिवर्तनशील और फिर भी कभी न बदलनेवाले समुद्र में जा समावेगी?

जितना लिखने का मैंने कभी इरादा किया था, या जितना मुझे लिखना चाहिए था, उससे कहीं ज्यादा मै अबतक लिख चुका हूँ। मेरी लेखनी चलती ही रही है। अब हम अपना लम्बा चक्कर काट चुके है और आखिरी मंजिल तय कर चुके है। आज के बीच में पहुँच चुके हैं और कल के किनारे पर खडे हुए अचरज कर रहे है कि जब इस कल को भी आज बनने की बारी आयगी तब इसकी क्या शक्ल होगी? जरा देर ठहरकर संसार पर एक दृष्टिपात करे। १९३३ के साल के अगस्त मास के सातवें दिन इसका क्या हाल है?

हिन्दुस्तान में बापू फिर गिरफ्तार होगये है और सजा पाकर यरवडा-जेल में वापस पहुँच गये है। सीमित रूप में ही सही, सविनयअवज्ञा फिर शुरू होगई है और हमारे साथी फिर जेल जा रहे है। एक वीर और प्रिय साथी और मित्र हमें अभी-अभी छोड़कर चल बसा। वह ब्रिटिश सरकार की कैद में मरा है। उससे मैं पहलेपहल २५ वर्ष पहले, जब मैं केम्ब्रिज में गया-ही-गया था, मिला था। वह थे यतीन्द्रमोहन सेनगुप्त। जीवन मृत्यु में समा जाता है, परन्तु भारतवासियो के लिए जीवन को जीनें योग्य बनाने का महान कार्य जारी है। हिन्दुस्तान के हजारो अत्यन्त जोशीले और प्रतिभाशाली पुत्र और पुत्रियाँ जेल या नजरबन्दी में पडे है। वे लोग अपना यौवन और बल हिन्दुस्तान को गुलाम बनानेवाली वर्तमान प्रणाली से जूझने में खर्च कर रहे है। यह जीवन और शक्ति निर्माण में, रचनात्मक कार्य में लगी होती! इस दुनिया में कितना काम बाकी पड़ा है। परन्तु रचना से पहले नाश करना ही पडता है, ताकि नई इमारत के लिए जमीन साफ होजाय। हम किसी घूरे की कच्ची दीवारो पर बढिया इमारत खडी नहीं कर सकते। हिन्दुस्तान की आज की स्थिति का अन्दाजा इस बात से बहुत अच्छी तरह लगाया जा सकता है कि बंगाल के कुछ भागो में कपडे भी सरकारी आज्ञा के अनुसार पहनने पड़ते है। दूसरी तरह की पोशाक पहनने का अर्थ होता है जेलखाने जाना। चटगाँव में बारह-बारह बरस और उससे ऊपर के छोटे-छोटे लड़को को (और शायद लड़कियो को भी) जहाँ कहीं जाना होता है वहा अपनी शिनाख्त के कार्ड ले जाना पड़ता है। मुझे मालूम नहीं कि ऐसी असाधारण आज्ञा और भी कहीं जारी की गई है या नहीं। ऐसा तो शायद नाजियो के

खास टुकडे में बहुत सोना मिले, या न मिले यह उसके भाग्य पर निर्भर है। यह तरीका पूंजीवाद का नमूना है। वैसे होना तो यह चाहिए कि देश की सरकार सोने के क्षेत्र को अपने हाथ में लेले और सारे राज्य के फायदे के लिए उसपर काम करावे। ताजिकिस्तान और दूसरी जगहो के अपने यहाँके सोने के क्षेत्रो के बारे में सोवियट सरकार ऐसा ही कर रही है।

इस अन्तिम विहगावलोकन में मैने तुम्हे केनिया का कुछ हाल बताया है, क्योकि इन खतो में हमने अफरीका की उपेक्षा की है। याद रहे कि यह एक विशाल महादेश है और इसमें अफ़रीकन जातियाँ भरी पडी है। इन जातियो का विदेशी लोग सैकडो वर्षो से आजतक निर्दय शोषण कर रहे है। ये बुरी तरह पिछडी हुई जातियाँ है। लेकिन उन्हे दबाकर रक्खा गया है और आगे बढनें का मौका नही दिया गया है। जहाँ उन्हे अवसर दिया गया है, जैसा कि पश्चिमी किनारे पर स्थापित एक विश्वविद्यालय में अभी-अभी हुआ है, वहाँ उन्होने अच्छी तरक्की की है।

पश्चिमी एशिया के देशो का हाल तो मै तुम्हे काफी बता चुका हूँ। वहाँपर और मिस्र में आज़ादी की लड़ाई मुख्तलिफ सूरतो में और भिन्न-भिन्न स्थितियो 'में चल रही है। यही हाल दक्षिण-पूर्वी एशिया का, भारत के उसपार के देशो का और इण्डोनेशिया यानी स्याम, इण्डोचीन, जावा, सुमात्रा, डचइण्डीज और फिलिपाईन द्वीपो का है। इनमें से स्याम तो स्वतत्र है। उसके सिवा इन सब देशो में आन्दोलन के दो पहलू है। एक तो विदेशी शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय भावना और दूसरा सामाजिक समानता या कम-से-कम आर्थिक सुधार के लिए दलित-वर्ग की तड़प।

एशिया के सुदूरपूर्व में विशाल चीन हमला करनेवालो के सामने निस्सहाय हो रहा है और भीतरी फूट के कारण उसके टुकडे-टुकडे होरहे है। उसका एक अंग तो कुछ करना चाहता है और दूसरे नें इस ओर से मुँह फेर रक्खा है। इस बीच में जापान आगे बढ़ता जारहा है। उसे कोई रोकनेवाला नहीं दीखता और वह चीन के बडे-बडे इलाको पर अपना पजा जमाता जारहा है। लेकिन चीन के लम्बे इतिहास में उसपर कितनी ही बार जबर्दस्त हमले हुए है और बडी आफते आई है; फिर भी उसकी हस्ती कायम रही है। अवश्य ही जापानी हमले के बाद भी चीन जिन्दा रहेगा।

साम्राज्यवादी जापान विश्वव्यापी साम्राज्य के बडे-बडे सपने देख रहा है। वहाँ एक तरफ सामन्तशाही और सैनिकवाद का जोर है और दूसरी ओर उसके उद्योग-धन्धे बहुत बढ़े-चढ़े है। वह नये और पुराने की अजीब खिचडी है। परन्तु इन सपनो में एक असली खतरा छिपा हुआ है, और वह यह है कि उसकी बढ़ती हुई आबादी भयंकर कष्ट में है और उसकी आर्थिक स्थिति गिरती जारही है। इस आबादी को

और तो प्रायः कुछ नहीं था, इसलिए उनके शरीर पर ही टैक्स लगा दिया गया। मगर उनके पास रुपया न हो तो यह फी आदमी १२ शिलिंग सालाना का कर वे कहाँ-से देते ? बस, इसी में इस कर की मक्कारी भरी थी, क्योंकि यूरोपियनो के बगीचो में काम करके उन्हे कुछ-न-कुछ रुपया कमाना पड़ता और उससे वे कर चुकाते। यह न सिर्फ रुपया वसूल करने की बल्कि बगीचो के लिए सस्ते मजदूर हासिल करने की भी तरकीव थी। इस तरह इन अभागे अफरीकनो को कभी-कभी बडी दूर से सफर करके देश के भीतरी हिस्से में से समुद्र-तट के पास सात-आठसौ मील चलकर बगीचो में आना पडता है (भीतरी भाग में रेलें नहीं है और जो थोडी-सी है वे समुद्र के किनारे के पास हैं)। इस तरह कमाई करके इन लोगो को शरीर-कर चुकाना पड़ता है।

इन गरीब शोषित अफ़रीकनो के बारे में मै तुम्हे और भी बहुत-सी बातें कह सकता हू। इन्हे इतना तक मालूम नहीं कि अपनी पुकार बाहरी दुनिया को किस तरह सुनाई जाती है। इनकी दुख-गाथा लम्बी है और ये चुपचाप कष्ट सह रहे है। इनकी अच्छी-अच्छी जमीनें इनके हाथ से छीन कर और यूरोपियनो को मुफ्त देदी गई है। अब उन्हीं जमीनों पर उन्ही यूरोपियनो के कर-दाता बनकर इन बिचारे अफ़रीकनो को काम करना पडता है। ये यूरोपियन जमींदार मध्यकालीन जागीरदार बने हुए है और कोई भी प्रवृत्ति जो उन्हे नापसन्द होती थी, दबा दी गई है। अफ़रीकन लोग सुधार-कार्य के लिये भी कोई मण्डल नहीं बना सकते। क्योंकि रुपया जमा करने की मनाई है। नाचने की मनाई का भी एक विशेष कानून या आर्डिनेन्स है क्योंकि अफरीकन कभी-कभी अपने नाच-गान में यूरोपियन रहन-सहन की नकल किया करते है और उसकी हँसी उड़ाया करते है। किसान बहुत दरिद्र है और उन्हे चाय या कहवे की खेती नहीं करने दी जाती क्योंकि इससे यूरोपियन बगीचो वालो के साथ स्पर्धा होती है। तीन वर्ष हुए ब्रिटिश सरकार ने शपथपूर्वक घोषणा की थी कि वह अफरीकन लोगो की रक्षक है और भविष्य में उनकी जमीन नहीं छीनी जावेगी। अफ़्रीकनो के दुर्भाग्य से केनिया में सोना निकल आया। बस, पवित्र वचन भुला दिया गया। यूरोपियन बगीचे वाले इस जमीन पर टूट पडे। उन्होने अफ्रीकन किसानो को खदेड़ दिया और सोने की खुदाई शुरू कर दी। अंग्रेजो के वादे ऐसे होते है। हमसे कहा जाता है कि अन्त में तो इस सारी कार्रवाई से अफरीकनो का फायदा ही होने वाला है और वह अपनी जमीन खोकर विलकुल सुखी है।

स्वर्ण-प्रदेश से लाभ उठाने का यह पूँजीवादी तरीका बड़ा अजीब है। एक निश्चित स्थान से लोगो को सचमुच वहाँ तक दौड़ाया जाता है और हरेक उस प्रदेश के कुछ हिस्से पर अधिकार कर लेता है। फिर वहाँ काम शुरू कर देता है। उस

मुख्तलिफ जातियाँ एक-दूसरे में खूब मिल गई है। दक्षिणी योरप, स्पेन, पुर्तगाल और इटली के लोग और अमेरिका के आदम-निवासी 'रेड इडियन' और हब्शी सब दूध-पानी की तरह मिल गये हैं। ये रेड इडियन लोग कनाडा और सयुक्तराष्ट्र में तो अपनी हस्ती बहुत कुछ खो चुके है, लेकिन दक्षिणी अमेरिका मे और खासतौर पर वेनेजुएला में अब भी इनकी बहुत बडी तादाद है। वे ज्यादातर बडे शहरो से दूर रहते हैं। तुम्हे यह जानकर शायद आश्चर्य हो कि ब्यूनोआयर्स और रायोदिजनेरो जैसे कुछ शहर न केवल बहुत बडे ही है बल्कि बहुत सुन्दर भी है और उनमें बडी शानदार और चौडी-चौडी छायादार सडके भी हैं। अर्जेण्टाइन की राजधानी ब्यूनोआयर्स की आबादी २५ लाख और ब्रेजील की राजधानी रायोदिजनेरो की आबादी करीब २० लाख है।

यद्यपि वहाँ नस्ले मिल रही है, फिर भी शासकवर्ग तो गोरे अमीरो में से ही है। जिस समूह के हाथ में फौज और पुलिस आजाती है आमतौर पर वही राज्य करता है। और, जैसा मैं तुम्हे बता चुका हूँ, वहाँ ऊपर-ही-ऊपर कई बार क्रान्तियाँ भी हुई है। दक्षिण अमेरिका के सारे देशो में खनिज पदार्थों की बहुतायत है और इसलिए वे कभी भी बहुत धनी होसकते हैं। परन्तु अभी तो वे कर्ज में डूबे हुए है और चार वर्ष पहले, ज्यो ही सयुक्तराष्ट्र ने उन्हे रुपया उधार देना बन्द कर दिया, उनके यहाँ बुरी तरह गडबड मचगई और सब जगह क्रान्तियाँ होगई। आर्थिक कठिनाइयो के कारण वहाँके तीनो मुख्य देश अर्जेण्टाइन, ब्रेजील और चिली भी क्रान्ति के शिकार हुए।

१९३२ की गरमियो के बाद से दक्षिणी अमेरिका में भी दो छोटे-छोटे युद्ध हो चुके है। लेकिन मचूरिया के जापानी युद्ध की तरह इन्हे भी सरकारी तौर पर युद्ध नही कहा गया। राष्ट्र-सघ के इकरारनामे, केलॉग की शान्ति की सधि और दूसरे समझौतो के बाद अब 'लडाइयाँ' बहुत कम होती है। जब एक राष्ट्र दूसरे पर हमला करता है और उसके नागरिको को मार डालता है तो वह 'सघर्ष' कहलाता है। और चूँकि समझौते में सघर्षो की मनाई नही हुई है इसलिए किसी को कोई चिन्ता नही। मचूरिया के युद्ध की तरह इन छोटी-छोटी लडाइयो का कोई ससारव्यापी महत्व नही होता। लेकिन इनसे यह प्रमाण मिल जाता है कि राष्ट्र-सघ से लगाकर अनेक समझौतो और सन्धियो तक ससार में शान्ति स्थापन करने के जो उपाय किये गये है और जिनकी इतनी बडाई की जाती है, वे कितने दुर्बल और निकम्मे है। राष्ट्र-संघ का एक सदस्य दूसरे सदस्य पर हमला करता है और संघ या तो निस्सहाय होकर बैठ रहता है या झगडे को निपटाने की कमजोर और बिलकुल फिजूल कोशिशें करता है।

न अमेरिका में घुसने दिया जाता है और न आस्ट्रेलिया के विशाल निर्जन प्रदेशो में बसने दिया जाता है। इन सपनो के पूरा होने में बडी जबरदस्त रुकावट यह है कि आजकल का सबसे ताकतवर राष्ट्र अमेरिका उसके खिलाफ है। जापान के एशिया में बढने में दूसरी जबरदस्त दिक्कत सोवियट रूस की है। मंचूरिया में और प्रशान्त महासागर के गहरे पानी पर महायुद्ध की छाया कितने ही दूरन्देश लोगो को अभीसे दिखाई देरही है।

सारा उत्तरी एशिया सोवियट सघ का हिस्सा है और वह एक नई दुनिया की रचना करने और नई समाज-व्यवस्था कायम करने के काम में लगा हुआ है। यह विलक्षण बात है कि ये पिछडे हुए देश, जिन्हे सभ्यता अपनी कूच में पीछे छोड गई थी और जहाँ अबतक एक तरह की साम्राज्यशाही मौजूद थी, एकदम छलांग मार-कर ऐसी मजिल पर पहुँच गये जो पश्चिम के उन्नत राष्ट्रो से भी आगे है। आज सोवियट सघ योरप और एशिया में खड़ा होकर पश्चिमी संसार के लड़खड़ाते हुए पूंजीवाद को चुनौती देरहा है। जहाँ एक ओर व्यापारिक मन्दी, बेकारी और बार-बार का सकट पूंजीवाद का गला घोट रहा है और पुरानी व्यवस्था अन्तिम साँस लेरही है, वहाँ सोवियट-सघ के इलाके में आशा, शक्ति और उत्साह का संचार होरहा है और वह बडे वेग से समाजवादी व्यवस्था के निर्माण और स्थापना में लगा हुआ है। इस विपुल यौवन और जीवन की, तथा सोवियट को जो सफलता मिली है उसकी छाप सारे ससार पर पड रही है और विचारशील लोगो का ध्यान उसकी तरफ खिच रहा है।

एक दूसरा महान् प्रदेश यानी अमेरिका का सयुक्तराष्ट्र पूंजीवाद की नाकाम-याबी का नमूना है। बडी-बडी कठिनाइयो, संकटो, मजदूरो की हड़तालो और बे-मिसाल बेकारी से घिरकर भी अमेरिका किसी तरह काम चलाने और पूंजीवादी प्रणाली की रक्षा करने की कोशिश कर रहा है। इस बडे प्रयोग का नतीजा अभी देखना बाकी है। लेकिन कुछ भी हो, अमेरिका को जो बडी-बडी सहूलियते मिली हुई है उन्हे उससे कौन छीन सकता है? उसका इलाका लम्बा-चौड़ा है। मनुष्य को जिस चीज की भी जरूरत होसकती है वह वहाँ बहुतायत से मिलती है। उसके कला-कौशल और सब देशो से बढे-चढे है और वहाँ के लोग बडे कारीगर और तालीम पाये हुए है। सयुक्तराष्ट्र और सोवियट-सघ दोनो ही संसार के आनेवाले मामलो में बहुत महत्वपूर्ण भाग लिये बिना नहीं रह सकते।

और दक्षिण अमेरिका का महान् देश, जिसमें लैटिन जातियाँ रहती है, उत्तरी अमेरिका से कितना भिन्न है? उत्तर की तरह वहाँ जातीय द्वेष का भाव नहीं है और

जाता रहा, और जो कुछ बच रहा है उसकी हिफाजत के लिए वह खूब कोशिश कर रहा है। उसकी समुद्री ताकत जैसी पहले थी, अब नही रही। इसीके कारण उसकी रक्षा थी और दूसरे राष्ट्रो पर उसकी प्रधानता रहती थी। इसीके सहारे वह अपना साम्राज्य बना पाया था। बहुत वक्त नही गुजरा, एक दिन ऐसा था कि उसकी जल-सेना किन्ही दो बडे राष्ट्रो की जल-सेना से बडी और ज्यादा ताकतवर थी। आज तो वह संयुक्तराष्ट्र की जल-सेना के साथ सिर्फ बराबरी का दावा कर सकती है और जरूरत पडे तो सयुक्तराष्ट्र के पास इंग्लैंड से बडी जल-सेना जल्दी से बना लेनें के साधन है। आज समुद्री ताकत से भी हवाई ताकत का महत्व ज्यादा है। इस बारे में इग्लैण्ड और भी कमजोर है। कई राष्ट्रो के पास उससे ज्यादा जगी हवाई जहाज है। उसकी व्यापारिक प्रभुता भी चली गई और उसके लौटकर आने की कोई उम्मीद नही है। उसका विशाल निर्यात-व्यापार दिन-दिन गिरता जारहा है। अब तो वह ऊँची चुगी और संरक्षण-कर लगाकर अपने माल के लिए साम्राज्य के बाजार की रक्षा करने की कोशिश कर रहा है। इसका अर्थ यह है कि उसने साम्राज्य के बाहर संसार-व्यापी व्यापार के हौसले छोड़ दिये है। इस सीमित क्षेत्र में उसे कामयाबी मिल भी गई तो इससे उसकी पुरानी प्रभुता थोडे ही वापस आजाती है। वह तो सदा के लिए जाती रही। साम्राज्य के भीतर भी उसे कितनी सफलता मिलेगी और वह कितने दिन टिकेगी, इसमें सन्देह ही है।

अमेरिका के साथ भयंकर द्वन्द्व-युद्ध होजाने के बाद भी इंग्लैण्ड संसार के व्यापार का सराफा-केन्द्र और लन्दन नगर हुण्डी की मण्डी बना हुआ है। लेकिन जैसे-जैसे ससार का व्यापार घटता और मिटता जा रहा है वैसे-वैसे इस आर्थिक प्रधानता का खिचाव और मूल्य भी कम होता जा रहा है। इंग्लैण्ड और दूसरे देश खुद अपने आर्थिक राष्ट्रवाद और चुंगी वगैरा की नीति से ससार के व्यापार के इस तरह घटने में मदद कर रहे है। संसार का बहुत-सा व्यापार बना रहा और मौजूदा पूंजीवादी प्रणाली कायम रही तो भी इसमें सन्देह नही कि संसार का आर्थिक नेतृत्व अन्त में लन्दन के हाथ से निकलकर न्यूयार्क के हाथ में चला जायगा। मगर शायद उससे पहले पूंजीवादी प्रणाली में विशाल परिवर्तन हो चुके होगे।

इंग्लैण्ड की यह तारीफ है कि वह अपनें-आपको बदलते हुए हालात के अनुकूल बना लेता है। लेकिन यह गुण उसी वक्त तक है जबतक कि उसकी सामाजिक बुनियाद नहीं हिलती और उसके सम्पन्नवर्ग की विशेष स्थिति बनी हुई है। अनुकूल बन जानें की यह ताकत मौलिक सामाजिक परिवर्तनो के बीच भी कायम रहेगी या नहीं, यह आगे ही देखा जायगा। इसकी बहुत कम सम्भावना मालूम होती

दक्षिण अमेरिका की इन लडाइयो या 'संघर्षों' में से एक संघर्ष बोलीविया और पेरागुए के बीच में है। झगडा चाको नामक एक छोटे-से जंगली इलाके के कारण है। एक विनोदप्रिय फ्रासीसी ने कहा है—"चाको जंगल के बारे में बोलीविया और पेरागुए के बीच जो झगडा चल रहा है उससे मुझे उन दोनो गजो की याद आती है जो कघे के लिए झगड रहे थे।" झगडा तो है, लेकिन वह इतना ही बेहूदा तो नहीं है। इस विशाल जगली इलाके में तेल-सम्बन्धी स्वार्थ गुँथे हुए है और पेरागुए नदी जो इसमें बहती है वह बोलीविया को अटलाण्टिक महासागर से मिलाती है। दोनो देशो ने राजीनाम नहीं किया और अभीतक हजारो जाने कुरबान कर चुके है।

दूसरी भिडन्त कोलम्बिया और पेरू के बीच होरही है। यहाँ झगडे की जड लटीशिया नामक छोटा-सा गाँव है। इसपर पेरू ने बडे अनुचित ढग से कब्जा कर लिया था। मेरा खयाल है कि राष्ट्र-संघ ने भी पेरू की कडी टीका की थी। शायद यह झगडा अब तय होगया है।

लैटिन अमेरिका (और इसमें मैक्सिको शामिल है) धर्म से कैथलिक है। मैक्सिको में राज्य और कैथलिक पादरियो के बीच में बडी जोर की टक्करें हुई है। स्पेन की तरह मैक्सिको की सरकार भी शिक्षा और लगभग सभी बातो में रोमन पादरियो की बडी शक्ति को दबा देना चाहती थी।

दक्षिण अमेरिका की भाषा स्पेनिश है। सिर्फ ब्रेजील में पुर्तगाली सरकारी भाषा है। चूंकि इस विशाल प्रदेश में स्पेनिश भाषा का ही बोलबाला है, इसलिए यह संसार की बडी-से-बडी भाषाओ में से एक है। शायद तादाद के लिहाज से अंग्रेजी के बाद इसीका दर्जा है। यह एक सुन्दर आनुनासिक भाषा है। इसमें बढिया आधुनिक साहित्य है और अब तो दक्षिण अमेरिका के कारण यह एक बहुत महत्वपूर्ण व्यापारिक भाषा भी बन गई है।

: १६५ :

युद्ध की छाया

८ अगस्त, १९३३

पिछले खत में हमने एशिया, अफरीका और दोनो अमेरिका के महादेशो पर सरसरी नजर डाली थी। योरप बाकी रह गया था। योरप में झगडे-टण्टे बहुत है; पर उसमें अनेक गुण भी है।

इंग्लैण्ड अबतक ससार का मुखिया राष्ट्र था। मगर अब उसका पुराना प्रभुत्व

goodwill We should never sell goods to India by cotton streamers on the end of a bayonet"

अर्थात् "वे दिन लद गये जब हम हिन्दुस्तान को आज्ञा देकर कह सकते थे कि उसे कब और कहाँ से माल खरीदना है। व्यापार की रक्षा सद्भाव से ही हो सकती है। सगीनों के सहारे जहाज भर-भरकर हिन्दुस्तान को कपडा वेचने की आशा नही रखनी चाहिए।"

हिन्दुस्तान की अन्दरूनी हालत की वात छोड़दें तो भी इग्लैण्ड को यहाँ, पूर्व के सभी देशो में और कुछ उपनिवेशो में जापान की भयकर लाग-डाँट का सामना तो करना ही पडेगा।

इसलिए इग्लैण्ड जो उसके पास वच रहा है उसे वनाये रखने की खूब कोशिश कर रहा है। इसके लिए वह अपने साम्राज्य को एक आर्थिक इकाई वना रहा है और उसमें डेनमार्क या स्कैण्डिनेविया सरीखे और भी छोटे-छोटे देश जो उससे समझौता कर लेते है उन्हे भी अपनेमें मिला रहा है। यह नीति उसे घटना-चक्र से मजबूर होकर इख्तियार करनी पड रही है। उसके लिए और कोई मार्ग ही नहीं है। युद्ध में अपनी हिफाजत करने के लिए भी उसे अधिक स्वावलम्वी वनना पडेगा। इसलिए वह अव अपनी खेती की भी तरक्की कर रहा है। आर्थिक राष्ट्रवाद की यह साम्राज्यव्यापी नीति कहाँतक कामयाव होगी, यह अभी कोई नही वता सकता। मैंने कई कठिनाइयाँ वताई है, जो इसकी सफलता में वाधक होगी। अगर असफलता हुई तो साम्राज्य का सारा ढाँचा ही वैठ जायगा और अग्रेज लोगो को वहुत गरीबी से रहना पडेगा। इस नीति की कामयावी भी खतरे से खाली नही है, क्योकि इसके कारण वहुत-से यूरोपियन देशो की वर्वादी होसकती है। वह इस तरह से कि इन देशो के व्यापार को तो काफी वाजार नही मिलेगा और इग्लैण्ड के कर्जदार देशो का दिवाला निकलने से खुद इग्लैण्ड की हालत को ठेस पहुँचे विना नही रह सकती।

जापान और अमेरिका के खिलाफ भी आर्थिक सघर्ष पैदा होकर रहेगे। सयुक्तराष्ट्र के साथ कई वातो में स्पर्धा मौजूद है और, जैसी दुनिया की आज हालत है और सयुक्तराष्ट्र के पास जितने विशाल साधन है उनको देखते हुए, ज्यो-ज्यो इग्लैण्ड की अवनति होगी त्यो-त्यो अमेरिका की उन्नति होगी। इस क्रिया का परिणाम यही होसकता है कि या तो इस झगडे में इग्लैण्ड चुपचाप हार मानले या जो कुछ उसके पास रह गया है उसके भी हाथ से निकल जाने से पहले और अपने वरावरीवालो का मुकाविला करने की ताकत खो देने के पहले अपनी रक्षा के लिए युद्ध की जोखिम उठावे।

इग्लैण्ड का दूसरा वड़ा प्रतिस्पर्धी सोवियट-संघ है। इन दोनो की नीति में

है कि इस तरह के परिवर्तन चुपचाप और शान्तिपूर्वक होजायँगे। क्योंकि जिनके पास सत्ता और विशेष अधिकार होते है वे उन्हे राजी-खुशी से नही छोड़ा करते।

अभी तो इग्लैंड बडी दुनिया से सिकुड़कर अपने साम्राज्य में सीमित हो रहा है। इस साम्राज्य को बचाकर रखने के लिए उसने इसकी रचना में बडी-बडी तब्दीलियाँ मन्जूर करली है। उपनिवेश कितनी ही तरह से ब्रिटेन की अर्थ-प्रणाली से बँधे हुए है, फिर भी उन्हे एक हद तक आजादी मिल गई है। इंग्लैण्ड ने अपने बढ़ते हुए उपनिवेशो को सन्तुष्ट रखने के लिए बहुत-सा त्याग किया है, फिर भी उनमें सघर्ष हो ही जाता है। आस्ट्रेलिया बैंक आफ इंग्लैण्ड से बुरी तरह बँधा हुआ है और जापानी हमले के डर के कारण इग्लैण्ड के साथ उसका मजबूत गठ-बन्धन है। कनाडा के बढ़ते हुए उद्योगो की इग्लैण्ड के कुछ उद्योगो के साथ लाग-डॉट है और वह इस मामले में इग्लैण्ड के सामने झुकने को तैयार नहीं है। कनाडा के अपने पडोसी संयुक्तराष्ट्र के साथ भी कई तरह के ताल्लुक़ात है। दक्षिणी अफरीका में पुरानी कटुता तो अब नही रही, पर वहाँ साम्राज्य के लिए बहुत प्रेम भी नही है। इंग्लैण्ड ने आयर्लैण्ड के माल पर कर लगाये तो इसलिए थे कि वह डरकर घुटनें टेक देगा, मगर नतीजा उलटा ही हुआ। इन करो से आयर्लैण्ड के कारखानो और खेती को खूब उत्तेजन मिला है और आयर्लैण्ड को स्वावलम्बी राष्ट्र बनने में बडी कामयाबी मिल रही है। वहाँ नये-नये कारखाने खडे होगये है और जहाँ पहले घास उगती थी वहाँ अब अनाज की खेती होने लगी है। हल फिर से चलने लगा है। जो खाद्य-पदार्थ पहले इग्लैण्ड भेज दिये जाते थे उन्हे लोग खुद काम में लेने लगे है और उनके रहन-सहन का ढग ऊँचा होरहा है। इस तरह डि वेलरा ने सफल होकर अपनी नीति को ठीक साबित कर दिया है। आज आयर्लैण्ड उग्र और मुकाबिले के लिए तैयार होकर ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति में काँटे की तरह चुभ रहा है। ओटावा-सरीखे समझौते के साथ उसका बिलकुल मेल नहीं बैठता।

इस तरह उपनिवेशो के साथ व्यापारिक सम्बन्ध रखकर इंग्लैण्ड को कोई फायदा नही होरहा है। हिन्दुस्तान से वह बहुत फायदा उठा सकता था, क्योंकि यहाँ फिर भी उसके लिए लम्बा-चौड़ा बाजार था। लेकिन हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्थिति और यहाँका आर्थिक कष्ट ब्रिटिश व्यापार के लिए अनुकूल नहीं है। लोगो को जेल भेजकर ब्रिटिश माल खरीदने के लिए मजबूर नही किया जा सकता।

श्री स्टैनली बाल्डविन ने हाल ही में मैंचेस्टर में कहा था:—

"The day when we could dictate to India and tell her when and where to buy her goods was gone The safeguard for trade was

शरण है। यह बात सच होसकती है, क्योंकि अब जर्मनी के लिए हिटलरशाही के सिवा दूसरा रास्ता साम्यवाद का ही है।

मुसोलिनी के अधीन इटली का दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बारे में बहुत व्यावहारिक और स्वार्थपूर्ण है। उसमें भावना का कोई स्थान नही है। वह दूसरे राष्ट्रो की तरह शान्ति और सद्भाव की बडी-बडी बाते भी नहीं बनाता। वह लड़ाई के लिए जी-जान से तैयारी कर रहा है, क्योकि उसे विश्वास है कि थोडे समय बाद लड़ाई होकर रहेगी। इस बीच में वह अपनी हालत मजबूत करने के लिए चाले चल रहा है। खुद फैसिस्ट होने के कारण उसने जर्मनी में फैसिज्म का स्वागत किया है। हिटलर के अनुयायियो से उसकी दोस्ती है। मगर आस्ट्रिया के साथ एक होने का जर्मन नीति का जो बड़ा उद्देश्य है, उसके इटली खिलाफ है। इस तरह की एकता होजानें से जर्मन सीमा ठेठ इटली की सरहद से मिल जाती है और मुसोलिनी जर्मनी के अपने फ़ैसिस्ट बन्धु का इतना नजदीक आना पसन्द नही करता।

मध्ययोरप के छोटे-छोटे राष्ट्र मन्दी के पंजे में फँसे हुए हॉफ रहे हैं और महायुद्ध के बाद के असर से दुःख भोग रहे है। हिटलर और नाजियो के डर के मारे तो अब इन देशो के पूरी तरह होश उडे हुए है। मध्य-योरप के इन सब देशो में, और खासतौर पर जहाँ जर्मनी या आस्ट्रिया की तरह जर्मन या फैंटन लोग है वहाँ, नाजी-दल बढ़ रहे हैं। लेकिन साथ ही नाजी-विरोधी भावना भी बढ़ रही है और इसका नतीजा संघर्ष है। आजकल इस भिड़न्त का खास मैदान आस्ट्रिया बना हुआ है।

कुछ समय हुआ, शायद १९३२ में, मध्य-योरप और डैन्यूब प्रदेश के फ़्रास के समर्थक तीनों देश जेकोस्लोवेकिया, रूमानिया और युगोस्लाविया ने अपना एक संघ बनाया था। महायुद्ध का जो निपटारा हुआ था उससे इन तीनो राज्यो को फायदा हुआ था और उन्हे जो कुछ मिला था उसकी वे रक्षा करना चाहते थे। इस काम के लिए वे आपस में मिल गये है और सचमुच युद्ध के लिए उन्होने आपस में मित्रता करली है। उनके गुट को लघु राष्ट्र-संघ (Little Entente) कहते है। इन तीनो राज्यो का यह गुट्ट एक तरह से योरप में एक नई महाशक्ति बन गया है। यह शक्ति फ़्रांस के पक्ष में और जर्मनी और इटली के खिलाफ है।

जर्मनी में नाजियो की जीत इस लघु राष्ट्र-संघ और पोलैण्ड के लिए खतरे की घण्टी थी, क्योंकि नाजी लोग वर्साई की सन्धि पर पुर्नविचार तो कराना चाहते ही थे (यह बात सभी जर्मन चाहते थे), साथ ही वे बोलते भी ऐसी भाषा में थे कि जिससे युद्ध नजदीक आता हुआ दिखाई देता था। नाजियो की भाषा और दूसरी कार्रवाइयाँ इतनी उग्र और हिंसामय थी कि वर्साई के अहदनामे में तब्दीली चाहनेवाले आस्ट्रिया और

आसमान-पाताल का अन्तर है। ये एक-दूसरे पर आँखें निकालते और योरप और एशिया-भर में एक-दूसरे के खिलाफ साजिश करते रहते हैं। इन दोनो शक्तियो का थोडे समय के लिए परस्पर शान्तिपूर्वक रहना सम्भव है, मगर इनमें हमेशा के लिए मेल होना बिलकुल नामुमकिन है, क्योकि इनके आदर्श बिलकुल अलग-अलग है। अगर इन दोनो में कोई बडी भिडन्त होनी ही है तो इग्लैण्ड यह नहीं चाहेगा कि उसमें बहुत देर हो, क्योंकि सोवियट की ताकत हर साल बढती जाती है। उधर रूस कुछ दिन ठहरकर, यानी थोडा बलवान और पूरी तरह तैयार होकर, दो-दो हाथ करना चाहेगा।

इग्लैण्ड आज एक सन्तुष्ट शक्ति है, क्योकि उसे जो कुछ चाहिए वह सब मिला हुआ है। उसे डर है कि कहीं यह सब हाथ से जाता न रहे; और यह डर सच्चा है। वह वर्तमान स्थिति को कायम रखने की खूब कोशिश करता है और इस काम के लिए राष्ट्र-संघ का उपयोग करता है। लेकिन घटना-चक्र को रोकना उसके या और किसी राष्ट्र के बस की बात नही है। बेशक आज वह मजबूत है, लेकिन इसमें शुबहा नही कि साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में वह कमजोर होरहा है और उसके दिन ढल रहे हैं। हम उसके महान साम्राज्य को अस्त होते हुए देख रहे है। (कही यह बात तो नहीं है कि चूकि मैं ऐसा चाहता हूँ इसीलिए मैं ऐसा सोचता हूँ ?)

इग्लिश चैनल के उस पार योरप के महादेश में पहुँचने पर पहलेपहल फ्रास आता है। यह भी एक साम्राज्यवादी राष्ट्र है। अफरीका और एशिया में उसका बडा साम्राज्य है। सैनिक अर्थ में एक प्रकार से वह योरप में सबसे प्रबल राष्ट्र है। उसके पास बडी शक्तिशाली सेना है और वह पोलैण्ड, जेकोस्लोवेकिया, बेलजियम, रूमानिया और यूगोस्लाविया वगैरा दूसरे देशो के एक समूह का नेता है। फिर भी उसे खास तौर पर हिटलर के शासन के समय से जर्मनी की लडाकू भावना का डर है। सचमुच हिटलर ने पूजीवादी फ्रास और सोवियट रूस की आपसी भावनाओ में मार्के का परिवर्तन कर दिया है। समान शत्रु सामने होने के कारण दोनो आपस में बडे मित्र हो-गये है।

जर्मनी में नाजियों का आतक अभी जारी है और नित नये अत्याचारो की खबरें आती रहती है। यह पाशविकता कबतक बनी रहेगी, यह नही कहा जा सकता। पाच महीने तो हो चुके है और उसमें कमी नहीं हुई है। ऐसा दमन स्थायी शासन का निशान कभी नहीं होसकता। मुमकिन है जर्मनी की फौजी ताकत काफी होती तो कभी की योरप में लडाई छिड गई होती। शायद आगे चलकर छिड़ भी जाय। हिटलर को यह कहने का शौक है कि वह साम्यवाद को छोड़कर आये हुओ के लिए अन्तिम

की सभी चीजें तैयार कर सकता हो। लेकिन प्रवृत्ति यह है कि जो कुछ चाहिए वह अपने ही यहाँ पैदा या तैयार कर लिया जाय। कुछ जरूरी चीजें ऐसी हो सकती है जो आबोहवा के कारण देश के भीतर तैयार न होसकें। मिसाल के लिए इग्लैण्ड रुई, सन, चाय, कहवा और कई ऐसे पदार्थ पैदा नही कर सकता जिनके लिए गरम आबो-हवा की जरूरत होती है। इसका यह अर्थ हुआ कि भविष्य में व्यापार ज्यादातर उन्ही देशो के बीच में होगा जिनके जल-वायु भिन्न होगे और इसलिए उनमें पैदावार भी अलग-अलग तरह की होगी और माल भी भिन्न प्रकार का बनेगा। एक ही तरह की चीजें तैयार करनेवाले देशो का माल उनके आपस में काम नहीं आयगा। इस तरह व्यापार उत्तर और दक्षिण के बीच में होगा। पूर्व और पश्चिम के बीच में न होगा, क्योंकि आबोहवा उत्तर और दक्षिण के हिसाब से बदलती है। गरम देश का ठण्डे देश के साथ व्यापार हो सकेगा, परन्तु दो गरम देशो का या दो समशीतोष्ण देशो का आपस में व्यापार नही हो सकेगा। अवश्य ही देश के खनिज साधनो जैसे दूसरे कारण भी होसकते है। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मामले में मुख्यतः उत्तर और दक्षिण वाली बात ही लागू होगी, चुगी की दीवारे और सब तरह का व्यापार रोक देंगी।

आज यह प्रवृत्ति अनिवार्य दिखाई देती है। जब सब देशो के उद्योग काफी उन्नत होजायँगे तब औद्योगिक क्रान्ति की यह आखिरी शक्ल होगी। यह सच है कि अभी एशिया और अफरीका का उद्योगवादी होना बहुत दूर की बात है। अफरीका तो इतना पिछडा हुआ और गरीब है कि वहाँ बहुत पक्का माल नही खप सकता। अलबत्ता भारत, चीन और साइबेरिया ये तीन बडे प्रदेश ऐसे है जहाँ इस विदेशी माल की खपत की गुजाइश रहेगी। बाहर के उद्योगवादी देश इन तीनो बडी मण्डियों पर उत्सुक दृष्टि लगाये हुए है। इन देशो के मामूली बाजार उनके हाथ से छिन गये है, इसलिए अपना फालतू माल ठिकानें लगाने और इस उपाय से अपने जर्जर पूंजीवाद को जीवित रखने के लिए वे एशिया पर हल्ला बोलनें का विचार कर रहे है। परन्तु अब एशिया का शोषण करना इतना आसान नहीं रहा; क्योंकि एक तो एशिया के उद्योग बढ़ चले है और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धा भी खूब है। इग्लैण्ड तो चाहता है कि हिन्दुस्तान में उसीका माल बिके। लेकिन जापान, अमेरिका और जर्मनी चाहते है कि उनका भी बिके। यही बात चीन के बारे में है। वहाँ एक कठिनाई व्यापार के रास्ते में और है; और वह यह है कि आजकल उसकी स्थिति बडी अशान्त है-और आमद-रफ्त के जैसे साधन चाहिएँ वैसे साधन भी नहीं है। सोवियट रूस बाहर का बहुत-सा तैयार माल लेनें को राजी है, मगर उसे उधार मिलना चाहिए, यानी उसकी कीमत उसे तुरन्त न देनी पडे। थोडे समय बाद तो सोवियट संघ अपनी जरूरत की चीजें तैयार करने लगेगा।

भी चले जाओ, ऊँची-ऊँची बाजियाँ लगी हुई है और भले ही पुरानी प्रणाली की जड़ थोडी देर के लिए मजबूत जमी हुई मालूम देती हो फिर भी उसे शनि की दशा लग गई है। आज तो साम्राज्यवाद और पूँजीवाद की सारी इमारत की जड़ हिल चुकी है और उसपर जो कर्ज चढ़ा हुआ है और उससे जो माँगें की जारही है उनका निपटारा करने की भी उसमें ताकत नहीं है। ऐसी हालत में छोटे-मोटे सुधारो से आज की समस्या हल नही होसकती।

इन बेशुमार राजनैतिक, आर्थिक और जातीय सघर्षो ने आज संसार को अन्धकारमय बना रक्खा है और युद्ध के काले बादल इनके साथ है। कहा जाता है कि सबसे बड़ा और मौलिक सघर्ष साम्राज्यवाद और फैसिज्म की सम्मिलित शक्ति और साम्यवाद के बीच में है। इन दोनो का दुनिया-भर में मुकाबिला है और इनके बीच समझौते की कोई गुजाइश नहीं है।

सामन्तशाही, पूँजीवाद, समाजवाद, संघवाद, अराजकतावाद और साम्यवाद इन सब 'वादो' की आड़ में अपना काम बनाने की प्रवृत्ति भी जारी है। मगर एक आदर्शवाद और भी है। यह उन्ही लोगो के लिए है जो सचमुच इसे चाहते हो। यह आदर्शवाद कोरी कल्पनाओ और ख़याली पुलावो का खेल नहीं है, बल्कि किसी बडे मानवीय उद्देश्य के लिए काम करनें का आदर्शवाद है—एक महान् आदर्श जिसे हम वास्तविक बनाना चाहते है। जार्ज बर्नार्ड शा ने कही कहा है :—

"जीवन का सच्चा आनन्द यह है कि जिसे तुम कोई महान् उद्देश्य मानते हो उसीमे जीवन को लगादो, कचरे मे फेक दिये जाने से पहले अपने शरीर का कण-कण इस काम मे जर्जर हो जाने दो और प्रकृति के हाथ मे एक शक्ति बनकर रहो। इसमे क्या धरा है कि तुम विकार और स्वार्थ के पुतले बनकर अपने दु ख-दर्द रोते रहो और यह शिकायत करते रहो कि दुनिया तुम्हारे सुख के लिए नही खप रही है ?"

इतिहास की खोज से मालूम होता है कि किस तरह संसार एक होता आया है। किस प्रकार भिन्न-भिन्न भाग मिलते रहे है और एक-दूसरे पर निर्भर रहते आये है। दुनिया सचमुच एक ऐसी चीज बन गई है कि उसके टुकडे नहीं किये जा सकते और उसके सब हिस्सो का आपस में असर पड़ता है। अब राष्ट्रो का अलग-अलग इतिहास बनाना बिलकुल असम्भव है। वह मंजिल पार होचुकी। अब तो ऐसे ही इतिहास से कोई लाभ होसकता है जो सारे ससार को एक समझकर लिखा जाय, जिसमें सारे राष्ट्रो के अलग-अलग सूत्र आपस में मिलाये जायें और जिसमें राष्ट्रो को प्रेरणा करनेवाली असली शक्तियो की खोज की जावे।

प्राचीन काल में भी राष्ट्र अनेक भौतिक और दूसरी रुकावटो के कारण एक-

पिछली सारी प्रवृत्ति यह रही है कि राष्ट्र एक-दूसरे पर अधिक निर्भर रहे और अन्तर्राष्ट्रीय भावना बढे। यद्यपि अलग-अलग स्वतत्र राज्य रहे, फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और व्यापार की एक बडी भारी और पेचीदा इमारत खडी होजाय। यह सिलसिला यहांतक पहुँचा कि राष्ट्रीय राज्यो और खुद राष्ट्रवाद के साथ इसका सघर्ष होने लगा। इसके आगे की सीढी कुदरती तौर पर यही है कि समाजवाद की अन्तर्राष्ट्रीय रचना की जाय। पूंजीवाद के दिन पूरे हो चुके और वह एक ऐसी मंजिल पर पहुंच गया है, जहाँ उसे समाजवाद के लिए जगह खाली कर देनी चाहिए। लेकिन बदकिस्मती से इस तरह अपने-आप कोई सन्यास नही लेता। सकट के कारण मौत नजदीक आती देखकर पूंजीवाद अपनी खोल में घुस गया है और वहाँ बैठा-बैठा सहयोग की वृत्ति को उलट देने की कोशिश कर रहा है। आर्थिक राष्ट्रवाद का यही कारण है। सवाल यह है कि क्या इसमें कामयाबी मिलेगी और मिलेगी तो वह कब तक टिकेगी ?

सारी दुनिया एक अजीब खिचडी बन गई है। संघर्ष और ईर्षा-द्वेष का भयंकर ताना-बाना लगा हुआ है और नई-नई प्रवृत्तियो के कारण सघर्ष के क्षेत्र का विस्तार बढता जारहा है। प्रत्येक महादेश में और हरेक मुल्क में कमजोर और पीड़ित लोग जीवन की अच्छी चीजो में हिस्सा बँटाना चाहते है। इन्हे वे ही तो पैदा करते है। वे कहते हैं कि हमसे कर्जा लिए बहुत दिन होगये, अब वह चुका दिया जाय। कहीं यह मांग बहुत जोर की, कर्कश और उग्र भाषा में की जारही है, और कहीं जरा शान्त शब्दो में। उनके साथ इतने दिन जैसा व्यवहार किया गया है और जिस तरह उनका शोषण हुआ है उसपर उनके हृदय में रोष और कटुता हो और वे कोई अवाञ्छनीय व्यवहार करे तो क्या हम उन्हे दोष दे सकते है ? वे तो उपेक्षा और तिरस्कार के शिकार रहे हैं। उन्हे ड्राइग रूम यानी बैठक की सभ्यता सिखाने की तकलीफ किसने गवारा की ?

गरीबो और पीडितो में यह उथल-पुथल देखकर सभी जगह के सम्पन्न वर्ग घबरा उठे है और मिलकर इसे दबाने की कोशिश कर रहे है। फैसिज्म की वृद्धि इसी तरह होरही है और साम्राज्यवाद विरोध मात्र को इसी तरह कुचल रहा है। लोकसत्ता, लोक-कल्याण और ट्रस्टीशिप यानी थाती की अच्छी-अच्छी बाते ताक में धरी जा रही है और स्थापित स्वार्थ रखनेवाले सम्पन्न वर्ग का निरंकुश शासन असली रूप में सामने आरहा है। बहुत जगहो पर उसकी जीत भी होती दिखाई देरही है। एक ज्यादा कठोर युग—उग्र हिंसा का एक युग—अपना मुंह निकाल रहा है, क्योकि सर्वत्र नये और पुराने में जीवन-मरण का युद्ध चल रहा है। योरप, अमेरिका या हिन्दुस्तान कहीं

हम सभी, या कम-से-कम जो विचारशील हैं वे, भावी पर आशा लगाये देख रहे हैं कि आगे चलकर क्या-क्या होता है और भविष्य का वर्तमान कैसे बनता है। जो कुछ होनेवाला है उसकी कुछ लोग आशा के साथ और दूसरे लोग भयभीत होकर बाट जोह रहे हैं। क्या यह आनेवाला ससार अधिक सुन्दर और अधिक सुखी होगा और उसमें जीवन की अच्छी-अच्छी चीजें मुट्ठीभर लोगो के लिए ही सुरक्षित न रह-कर आजादी के साथ आम लोगो के काम भी आयेंगी ? या वह संसार आज से भी ज्यादा कठोर होगा और मौजूदा सभ्यता की दी हुई बहुत-सी सुख-सामग्री भयंकर और नाशकारी युद्ध में खप जायगी ? इन दोनो बातो में जमीन-आसमान का अन्तर है और इनमें से कोई भी होसकती है। यह तो मुमकिन नही दिखाई देता कि कोई बीच का रास्ता निकल आयगा।

हम ध्यान से देखते और इन्तजार करते हैं और साथ ही हम जिस प्रकार का संसार चाहते हैं उसके लिए काम भी करते हैं। पशु की हालत से निकलकर मनुष्यत्व की दिशा में प्रगति इस तरह नहीं हुई है कि प्रकृति के सामने लाचार होकर सिर झुका दिया जाय, बल्कि अक्सर इस प्रकार हुई है कि प्रकृति का सामना किया जाय और मनुष्यो के हित के लिए प्रकृति पर हावी होने की इच्छा रक्खी जाय।

आज की हालत तो यह है। कल का बनना और बिगड़ना तुम्हारे और तुम्हारी पीढी के लाखो लड़को और लड़कियो के हाथ में है, जो दुनियाभर में बड़े हो-होकर कल के काम में भाग लेने के लिए तालीम पा रहे हैं।

: १९६ :

आख़िरी ख़त

९ अगस्त, १९३३

लो बेटी, हमारा काम ख़त्म हुआ। यह लम्बी कहानी समाप्त हुई। अब मुझे और नहीं लिखना है। लेकिन ख़त्म करते-करते सारी बात को सँवारने के ढग पर एक ख़त और लिख डालने की इच्छा होती है। यह आख़िरी ख़त है।

वैसे ख़त्म करने का समय भी होचुका, क्योकि मेरी दो साल की मियाद भी पूरी होने आई। आज से तेतीस दिन में मै छूट जाऊँगा। जेलर तो कभी-कभी यह धमकी भी देता है कि शायद इससे पहले ही छोड दिया जाऊँ। अभी पूरे दो बरस तो नहीं हुए हैं, मगर अच्छी चाल-चलनवाले कैदियो को जो छूट मिलती है उसके अनुसार मेरी सजा में भी साढ़े तीन महीने घट गये हैं। मै जेलख़ाने में भलामा-

दूसरे से जुदा रहते थे, परन्तु हम देख चुके है कि उस समय भी अन्तर्राष्ट्रीय और अन्तर्देशीय सामान्य शक्तियाँ कितना असर डालती थीं। महान् व्यक्तियो का इतिहास में सदा ही महत्त्व रहा है, क्योकि भाग्य-चक्र में मनुष्य बडी चीज है ही। परन्तु बडे-से-बडे व्यक्तियो से भी बडी वे प्रबल और सक्रिय शक्तियाँ होती है जो अन्धी और निर्दय होकर हमें इधर-उधर धकेलती हुई आगे बढ़ाती रहती है।

हमारा भी आज यही हाल है। करोडो मनुष्यो के हृदयो में जबरदस्त शक्तियाँ काम कर रही है और वे भूचाल या कुदरत की और किसी उथल-पुथल की तरह आगे बढ रही है। हम लाख कोशिश करे तो भी उन्हे नहीं रोक सकते। फिर भी हम अपनी दुनिया के छोटे-छोटे कोनो में उनकी गति या दिशा में कुछ अन्तर कर सकते है। हम उन शक्तियो का सामना अपने अलग-अलग स्वभाव के अनुसार करते है। कुछ लोग उनसे डर जाते है, कुछ उनका स्वागत करते है। कुछ उनके साथ लड़ने की कोशिश करते है, और कुछ लाचार होकर भाग्य के प्रबल हाथो के सामने हाथियार डाल देते है। कुछ लोग उन शक्तियो का सीधा सामना करते है और उनपर काबू करके एक खास दिशा में उन्हे लेजाने की कोशिश करते है। ये लोग उन तमाम आपत्तियो को खुशी से बर्दाश्त करते है जो किसी बडी क्रिया में प्रत्यक्ष सहायता करने के काम में आती है। इसका आनन्द भी वे ही भोगते है। यह बीसवीं सदी अशान्ति और कोलाहल का युग है। इसमें हमारे लिए कहीं अमन-चैन नही है। इस सदी का तीसरा भाग बीत चुका है और उसमें युद्ध और क्रान्तियो की भरमार रही है। महान् फैसिस्ट मुसोलिनी कहता है कि 'सारी दुनिया में क्रान्ति होरही है। घटनाओ में इतनी जबरदस्त शक्ति है कि वह अटल भाग्य की तरह हमें आगे धकेलती लेजा रही है।' महान् साम्यवादी ट्राटस्की भी हमें सचेत करता है कि इस शताब्दी से आराम और शान्ति की बहुत आशा नहीं रखनी चाहिए। वह कहता है—"यह साफ है कि इतनी अशान्ति पिछली किसी सदी में नहीं हुई जितनी बीसवीं सदी में होरही है। अगर हमारे समय का कोई आदमी और सब बातो से पहले सुख और शान्ति चाहता है तो उसने संसार में जन्म लेने के लिए बुरा वक्त चुना है।"

सारा ससार प्रसव-पीड़ा भोग रहा है। सब जगह युद्ध और क्रान्ति के काले बादल छाये हुए है। अगर यह सब कुछ होना ही है और इससे बचने का कोई उपाय ही नहीं, तो इसका सामना कैसे किया जाय? क्या शुतुरमुर्ग़ की तरह मुँह छिपाले? या यह कि वीरो की भाँति घटना-चक्र को बनाने की कोशिश करे, जरूरत हो तो जोखिम और विपत्ति उठायें, एक बड़ा, पवित्र और साहस का काम करने का आनन्द भोगें और यह अनुभव करे कि "हमारे कदम भी इतिहास के साथ मिल रहे है?"

सत्रहवी सदी का एक मशहूर कानून-दॉं और तत्त्वज्ञानी था। उसे उमर-कैद की सजा हुई थी, लेकिन वह किसी तरह दो वर्ष बाद ही निकल भागा था। उसने ये दोनो साल जेल में तत्त्वज्ञान और साहित्य-सम्बन्धी काम में बिताये थे। और भी बहुत-मे प्रसिद्ध साहित्यिक लोग जेल की हवा खा चुके हैं। शायद इनमें से सबसे मशहूर दो आदमी हुए हैं। एक तो स्पेन-निवासी सर्वेटीज़ जिसने "डॉन क्विग्ज़ोट" लिखा, और दूसरा जॉन बनियन अग्रेज़ था जिसने "दि पिल्ग्रिम्स प्रॉग्रेस" लिखा था।

मैं कोई साहित्यिक आदमी नही हूँ और यह कहने के लिए भी तैयार नहीं हूँ कि मैंने जो अनेक वर्ष जेलखाने में काटे हैं वे मेरे जीवन के सबसे मधुर वर्ष थे। मगर मैं यह जरूर कहूँगा कि यह वक्त गुजारने में मुझे लिखने-पढ़ने के काम से अद्भुत सहायता मिली। मैं साहित्यकार भी नहीं और इतिहासकार भी नहीं। तो मैं असल में हूँ क्या? मुझे इस सवाल का जवाब देने में कठिनाई होती है। मै बहुत बातो में दखल देता रहा हूँ। मैंने कालेज में विज्ञान शुरू किया, फिर कानून पास किया, और अन्त में जीवन की भिन्न-भिन्न बातो में रस लेने के बाद जेल जाने का धन्धा ग्रहण कर लिया। हिन्दुस्तान में यह पेशा बहुत लोग करने लगे हैं!

इन चिट्ठियो में मैंने जो कुछ लिखा है उसे तुम किसी भी विषय पर आखिरी बात न समझना। राजनीतिज्ञ लोग हर विषय पर कुछ-न-कुछ कहा चाहते हैं और उन्हे दर-असल जितना ज्ञान होता है उससे अधिक दिखाया करते हैं। इसलिए उनपर कडी नजर रखने की जरूरत है। मेरी इन चिट्ठियो में अलग-अलग विषयो का सिर्फ ऊपरी खाका खींचा गया है और एक हलका-सा सिलसिला मिला दिया गया है। मैं तो जो जी में आया लिखता गया हूँ। कहीं तो मैंने सदियो का और अनेक महत्वपूर्ण घटनाओ का थोडा-सा जिक्र कर दिया है और कहीं किसी एक ही घटना पर मुझे दिलचस्पी हुई तो बहुत समय लगा दिया है। तुमने देखा होगा कि यह बात खूब स्पष्ट है कि कौनसी बातें मुझे पसन्द हैं और कौनसी बातें मुझे नापसन्द हैं। इसी तरह से मुझपर जेल में कभी कुछ और कभी कुछ धुन सवार होती रही है। मैं नहीं चाहता कि तुम ये सब बातें ज्यो-की-त्यो मान लो। मुमकिन है मेरे वर्णन में सचमुच बहुत भूलें हो। जेल में न पुस्तकालय होता है और न ऐसी पुस्तकें पास होती हैं जिन्हे देखकर आदमी अपनी जानकारी को सही या ताजा कर सके। इसलिए इतिहास के विषय पर लिखने के लिए वह जगह बहुत अनुकूल नही होती। मुझे बहुत-कुछ उन यादादाश्तो पर निर्भर रहना पड़ा है जो मैंने बारह वर्ष पहले जेल-यात्रा शुरू करने के समय से ही इकट्ठी कर रक्खी थीं। मेरे पास यहाँ बहुत-सी किताबें भी आईं, लेकिन वे जैसी आईं वैसी ही चली गईं, क्योकि मैं यहाँ उन्हे इकट्ठी नहीं रख सकता था। मैंने उन किताबो में से विचार

नुष समझा जाता हूँ, हालांकि मैंने यह नाम कमाने के लिए सचमुच कुछ नहीं किया है। इस तरह मेरी छठी सजा पूरी होती है और मैं विशाल संसार में यहाँसे निकलकर फिर आऊँगा। मगर किस लिए? उससे फ़ायदा क्या? (Quoi Bon ?) जब मेरे ज्यादातर साथी और दोस्त जेलों में पड़े हुए हैं और सारा देश एक बड़ा जेलखाना-सा दिखाई देता है, तो मैं ही बाहर क्या करूँगा?

मैंने ख़तों का पहाड़-सा खड़ा कर दिया! और कितने स्वदेशी काग़ज़ पर कितनी स्वदेशी स्याही फैलादी! आश्चर्य होता है कि यह काम इस लायक था या नहीं? क्या इस सारे काग़ज़ और स्याही से तुम्हे कोई रोचक सन्देश मिलेगा? तुम ज़रूर 'हाँ' कहोगी क्योंकि, तुम समझोगी कि और किसी जवाब से मेरा जी दुखेगा और तुम्हारा मेरे साथ इतना पक्षपात तो है ही कि तुम इस तरह का जोखिम नहीं उठा सकतीं। मगर तुम्हे यह अच्छा लगे या न लगे, तुम्हें इतना तो ख़याल होगा ही कि दो साल की इस लम्बी अवधि में रोज़-रोज़ इन्हे लिखकर मैं सुखी हुआ हूँ। जब मैं यहाँ आया था, जाड़े के दिन थे। सर्दी के बाद थोड़े दिनों के लिए वसन्त-ऋतु आई और फिर गर्मी के मौसम ने उसकी जल्दी ही हत्या कर डाली। बाद में जब ज़मीन सूख गई और गर्मी के मारे मनुष्य और पशुओं का साँस लेना मुश्किल होगया तब वर्षा-ऋतु आई और उसने सब जगह ताज़ा और ठण्डा पानी-ही-पानी बरसा दिया। उसके बाद फिर जाड़ा आया और आकाश निहायत साफ़ और नीला होगया और तीसरे पहर का वक्त सुहावना मालूम होने लगा। वर्ष का चक्र ख़त्म होकर फिर शुरू हुआ। जाड़े के बाद वसन्त, वसन्त के बाद गर्मी और गर्मी के बाद वर्षा—यही दौर रहा। मैं यहाँ बैठा-बैठा तुम्हे लिखता रहा हूँ, तुम्हारी याद करता रहा हूँ, ऋतुओं को आते और जाते देखता रहा हूँ और अपनी बैरक की छत पर मेंह की तड़ातड़ सुनता रहा हूँ:

"O doux bruit de la pluie
Par terre et sur les toit's!
Pour un Coeur quis'ennuie,
Oh! le chant de la pluie!"

अर्थात्—'पृथ्वी और छतों पर होनेवाले वर्षा के ऐ मुलायम शब्द! एव हृदय, जो प्यासा और उत्सुक है, उनके लिए हे वर्षा के सगीत!"

बेंजमिन डिज़रैली उन्नीसवीं सदी का एक बड़ा अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ था। उसने लिखा है कि "और लोग अगर देश-निकाले और कैद की सजा भुगतने के बाद ज़िन्दा रहते हैं तो निराश होजाते हैं। लेकिन साहित्यिक लोग उन्हीं दिनों को जीवन का सबसे मधुर काल समझ सकते हैं।" वह ह्यूगो ग्रोटिउस के बारे में लिख रहा था, जो

लन, निनेवा, भारत की प्राचीन सभ्यता, आर्यों का हिन्दुस्तान में आना और योरप और एशिया में फैल जाना, चीनी सस्कृति के अद्भुत कारनामे, नोसास और यूनान, शाही रोम और बेजटीर, अरबो का दो महादेशों में विजय-दुन्दुभी बजाना, भारतीय सस्कृति का पुनर्जीवन और पतन, अमेरिका की माया और आजटी सभ्यतायें, जिन्हे बहुत कम लोग जानते है, मंगोलो की विशाल विजयो का सिलसिला, योरप का मध्ययुग और उसमें बने हुए गोथिक ढग के विलक्षण गिरजे, इस्लाम का हिन्दुस्तान में आना और मुगल साम्राज्य, पश्चिमी योरप में विद्या और कला का पुनर्जीवन, अमेरिका का आविष्कार और पूरब में आने के लिए समुद्री मार्गो का मालूम होना, पूर्व में पश्चिमी हमलो की शुरुआत, बडी मशीनों का पैदा होना और पूजीवाद का विकास, उद्योगवाद का फैलना और योरप का प्रभुत्व और साम्राज्यवाद, और आज की दुनियाँ में विज्ञान की अद्भुत करामातें।

बडे-बडे साम्राज्य चढे है और गिरे है। हजारो वर्ष तक मनुष्य नें उन्हे भुला भी दिया। बाद में किसी धैर्यवान अन्वेषक ने रेत के नीचे ढके हुए उनके खण्डहरो को फिर खोद निकाला। परन्तु साम्राज्यो की अपेक्षा अनेक विचार और कल्पनायें अधिक बलवान और दृढ सिद्ध हुई है।

मेरी कालरिज ने गाया है:—

"Egypt's might is tumbled down
Down a-down the deeps of thought,
Greece is fallen and Troy town,
Glorious Rome hath lost her crown,
Venice's pride is nought'
But the dreams their children dreamed
Fleeting, unsubstantial, vain,
Shadowy as the shadows seemed,
Airy nothing, as they deemed,
These remain"

अर्थात्—"मिस्र की शक्ति उलट गई, यूनान का आज पतन होगया है, और ट्राय नगर धूल मे मिल गया है, ऐश्वर्यशाली रोम का मुकुट नष्ट होगया है, वेनिस का वह अभिमान अब बाकी नही रहा, पर उनके बच्चो ने जो उडते धुंधले और छाया के समान दिखाई देनेवाले स्वप्न देखे थे वे आज भी जीवत है।"

प्राचीन काल से हमें बहुत-सी चीजें देन के रूप में मिली है। सच बात तो यह है कि सस्कृति, सभ्यता, विज्ञान या सत्य के कई पहलुओ के ज्ञान के रूप में आज जो हमें मिला हुआ है वह दूर या निकट के भूत की देन है। हम इस ऋण को स्वीकार करे, यह ठीक ही है। परन्तु हमारा कर्तव्य प्राचीन के साथ ही खत्म नहीं होजाता।

और अक नि मकोच होकर लिये है। मैंने जो कुछ लिखा है उसमें कुछ भी मौलिक नहीं है, शायद कहीं-कहीं मेरे पत्र समझ सकना तुम्हें मुश्किल भी पडता होगा। उन हिस्सो को जल्दी-जल्दी देख जाना और कोई ख़याल न करना। कभी-कभी मुझपर अपनी वडी उम्र का असर ज्यादा रहा और मै यह भूल गया कि मैं ये चिट्ठियाँ एक लड़की के लिए लिख रहा हूँ। इस कारण मैं कहीं-कही इस ढंग से लिख गया, जिसमें कि मुझे नही लिखना चाहिए था।

मैंने तुम्हारे सामने सिर्फ रूप-रेखा रखदी है। यह इतिहास नहीं है। इसमें तो लम्बे भूतकाल की केवल उडती हुई झलक दिखाई गई है। अगर तुम्हे इतिहास में रुचि हो और तुमपर उसका कुछ भी जादू होता हो, तो तुम्हे बहुत-सी ऐसी कितावें मिल जायेंगी जिनसे तुम्हे प्राचीन काल का सिलसिला बाँधने में मदद मिले। मगर सिर्फ कितावें पढने से ही काम न चलेगा। अगर तुम्हे प्रचीन काल का हाल जानने की इच्छा हो तो तुम्हे उसे सहानुभूति और समझ की दृष्टि से देखना होगा। जो आदमी बहुत समय पहले हुआ हो उसे समझने के लिए तुम्हे यह समझना होगा कि वह कैसे वातावरण और कैसी परिस्थिति में रहा था और उसके दिमाग में क्या-क्या विचार भरे हुए थे। प्राचीन काल के मनुष्यो के वारे में इस तरह से राय बनाना मानो वे आज जीवित हैं और उनके विचार भी हमारे ही जैसे हैं, वेहूदा वात है। आज गुलामी का समर्थक कोई नहीं मिल सकता। मगर महान् अफलातून समझता था कि दास-प्रथा जरूरी है। वहुत समय नहीं हुआ, जव सयुक्तराष्ट्र में गुलामी की रक्षा के लिए हजारो आदमियो ने अपने प्राण देदिये थे। हम आज की नाप से पुरानी वातो का निर्णय नहीं कर सकते, यह वात हर शख्श खुशी से मन्जूर करेगा। लेकिन सव लोग यह कवूल नहीं करेगे कि वर्तमान के वारे में पुराने समय की नाप से राय वनाना भी उतनी ही वेहूदा आदत है। खासतौर पर विभिन्न धर्मो ने भी पुराने विश्वासो और रीति-रिवाजो को सड़ा दिया है। इनका देश-काल के अनुसार उपयोग रहा होगा, मगर हमारे वर्तमान युग के लिए तो यह जरा भी अनुकूल नहीं है।

इसलिए तुम पुराने इतिहास को हमदर्दी की नजर से देखोगी तो सूखी हड्डियो पर मास और खून चढ जायगा और तुम्हे एक जिन्दा और जंगी जुलूस दिखाई देगा। इसमें हर मुल्क और हर जमाने के स्त्री-पुरुष और वच्चे मिलेंगे, जो हमसे भिन्न पर फिर भी हम-जैसे ही होगे और वे ही मानवीय गुण और कमजोरियाँ उनमें भी मिलेंगी। इतिहास कोई जादू का खेल नहीं है, मगर जिनकी आँखें है उनके लिए उसमें जादू खूव है।

इतिहास के अजायवघर के वेशुमार चित्र हमारे दिलो पर अंकित हैं। मिस्र, वेवि-

बहुत-से भ्रम दूर होगये हैं और कोई बात निश्चित नही है। हमारा बहुत-सी पुरानी बातो पर विश्वास नही रहा। एशिया, योरप, अमेरिका, सभी जगह पुराने विश्वासो और रीति-रिवाजो को स्वीकार नही किया जाता। इस तरह हम अपनी परिस्थिति के अनुकूल सत्य के नये तरीको और नये पहलुओ की खोज करते हैं। हम एक-दूसरे से सवाल करते हैं, बहस करते हैं, झगड़ा करते हैं और बेशुमार 'वाद' और दर्शन बना लेते हैं। सुकरात के जमाने की तरह हम भी पूछताछ के युग में रहते हैं, मगर यह पूछताछ एथेन्स जैसे एक शहर में ही महदूद नही है, यह दुनिया भर में फैली हुई है।

कभी-कभी दुनिया के अन्याय, दुःख और पाशविकता से हमारा जी दुखता है, हमारे मस्तिष्क में अँधेरा छाजाता है और हमें कोई रास्ता नही सूझता। मैथ्यू आर्नाल्ड की तरह हमें भी लगता है कि इस संसार में कोई आशा नहीं है, हम इतना ही कर सकते है कि एक-दूसरे के प्रति सच्चे रहे :

"For the world which seems
To lie before us, like a land of dreams,
So various, so beautiful, so new,
Hath really neither joy, nor love, nor light,
Nor certitude, nor peace, nor help for pain,
And we are here, as on a darkling plain
Swept with confused alarms of struggle and flight,
Where ignorant armies clash by night"

अर्थात्—"यह दुनिया जो हमारे सामने स्वप्नो के एक देश के समान फैली हुई है—इतनी विविध, इतनी सुन्दर, इतनी नवीन—इसमे न आनन्द है, न प्रेम है, न प्रकाश है, न स्थिरता है, न शान्ति है, न दुःख-दर्द मे सहायता है। और हम मानो अन्धकार से घिरते हुए मैदान मे, युद्ध और पलायन की अस्पष्ट ध्वनियो के बीच, लडखडा रहे है—उस अन्धेरे मैदान मे जहाँ अज्ञानी सेनाये रात के अन्धकार मे लडती है।"

फिर भी हम इस तरह की निराशाभरी निगाह रक्खें तो कहना होगा कि हमनें जीवन या इतिहास किसीसे भी ठीक-ठीक शिक्षा ग्रहण नही की है। इतिहास तो हमें यह सिखाता है कि वृद्धि और उन्नति होती रहती है और मनुष्य की प्रगति कितनी होसकती है इसका तो अन्त ही नही। इसी प्रकार जीवन भी भिन्न-भिन्न तत्त्वो से भरा हुआ है। जहाँ उसमें बहुत जगह दलदल और कीचड़ है, वहाँ उसमें महासागर, पर्वत, बर्फ़, बर्फ़ की नदियाँ और (खासकर जेल में!) तारों-भरी अद्भुत रातें है, कुटुम्ब और मित्रों का प्रेम है, एक ही उद्देश्य के लिए काम करनेंवाले साथियो का साथ है, संगीत है, पुस्तकें है और विचारो का साम्राज्य है। इन सब चीजो को देखकर हम कह सकते है कि—

हमारा भविष्य के प्रति भी कुछ कर्तव्य है, और शायद यह कर्तव्य उससे भी बड़ा है जो हमारा प्राचीन काल के प्रति है; क्योंकि जो बात हो चुकी, सो हो चुकी, उसे हम बदल नही सकते। भविष्य तो अब आयगा। मुमकिन है हम उसे थोड़ा बना सके। अगर भूतकाल ने हमें सत्य के कुछ दर्शन कराये है तो भविष्य के गर्भ में भी उसके कुछ पहलू छिपे हुए है और वह हमें उनकी खोज का आमत्रण देता है। मगर अक्सर गुजरे हुए जमाने को आनेवाले समय से ईर्षा होती है और वह अपने पजे में हमें जकडे रखना चाहता है। हमारा काम है कि हम उससे अपनेंआपको छुडाकर भविष्य से मिलने और उसकी ओर बढने की कोशिश करे।

कहते है कि इतिहास हमें अनेक पाठ पढाता है। दूसरी कहावत यह है कि इतिहास बार-बार अपने-आपको नहीं दोहराता। ये दोनो कहावते सच है, क्योकि हम न तो पुरानी बातो की अन्धे होकर नकल करने से ही कुछ सीख सकते है और न यह उम्मीद रखकर कोई लाभ उठा सकते है कि इतिहास अपनेको दोहरायगा या जहॉं-का-तहॉं रहेगा। हम थोड़ा-बहुत सीख सकते है तो इसी तरह सीख सकते है कि हम भूतकाल के भीतर घुसकर देखें और जो शक्तियॉं उसमें काम कर रही थी उनकी खोज करे। इतना सब कुछ करने पर भी हमें सीधा उत्तर नही मिलनेवाला है। कार्ल मार्क्स कहता है--"इतिहास तो उत्तर देने का एक ही तरीका जानता है, और वह है पुराने सवालो के जवाब में नये सवाल पेश कर देना।"

पुराना जमाना श्रद्धा का, अन्धविश्वास का, बिना पूछे-ताछे मान लेने का जमाना था। अगर कारीगरो, बनानेवालो और साधारणतः सभी लोगो में श्रद्धा न होती, तो क्या पिछली सदियो के ये अद्भुत मन्दिर, मस्जिद और गिरजे बन सकते थे? जिन पत्थरो को उन्होने भक्ति-भाव से एक-दूसरे पर चुना या जिनके उन्होने सुन्दर चित्रण किये, वे उस श्रद्धा के बोलते-चालते प्रमाण है। पुराने मन्दिरो के शिखर, मस्जिदो की नाजुक मीनारे, गोथिक ढंग के गिरजे एक ऐसी गहरी भक्ति-भावना का प्रमाण दे रहे है जिसे देखकर हम चकित रह जाते है और ऐसा मालूम होने लगता है मानो ये पत्थर और सगमरमर आकाश की तरफ मुँह करके प्रार्थना कर रहे हो। भले ही उनके जैसी श्रद्धा हममें न हो, पर इन्हे देखकर हमें रोमाञ्च होआता है। लेकिन उस श्रद्धा के दिन गये, और उनके साथ ही पत्थर का वह मुँह-बोलता जादू भी चला गया। हजारो मन्दिर, मस्जिद और गिरजे बन रहे है, मगर उनमें वह भावना कहॉं है जो मध्ययुग के पूजास्थानो को सजीव करती थी? उनमें और हमारे युग के निशान व्यापारिक दफ्तरो में बहुत कम अन्तर है।

हमारा युग दूसरी ही तरह का है। यह तो शका और तर्क का युग है। इसमें

"Where the mind is without fear and the head is held high,
Where knowledge is free,
Where the world has not been broken up into fragments by narrow domestic walls,
Where words come out from the depth of truth,
Where tireless striving stretches its arms towards perfection,
Where the clear stream of reason has not lost its way into the dreary desert sand of dead habit,
Where the mind is led forward by thee into ever-widening thought and action—
Into that heaven of freedom, my Father, let my country awake."[१]

"जहाँ मन निर्भय है और सिर ऊँचा उठा हुआ है,
जहाँ ज्ञान बन्धन-मुक्त है,
जहाँ सकुचित घरेलू दीवारो से दुनिया तुच्छ टुकड़ो मे विभाजित नही है,
जहाँ शब्द सत्य की गहराई से आते है,
जहाँ परिपूर्णता के लिए निरन्तर चेष्टा अपनी भुजाये फैला रही है,
जहाँ विवेक का उज्ज्वल सोता निर्जीव प्रथा के शुष्क मरुस्थल मे सूखकर नष्ट नही होगया है,
जहाँ तेरे द्वारा मन प्रतिक्षण विकसित होते हुए विचार और कार्य की ओर जा रहा है,
हे मेरे पिता ! उस मुक्ति के स्वर्ग मे मेरे देश को जाग्रत कर।"

१ श्री सुधीन्द्र ने इस गीत का अनुवाद यो किया है :—

स्वतत्रता-स्वर्ग मे पिता हे, जगे जगे देश यह हमारा !
अशक मन हो, उठा हुआ शिर,
स्वतत्र हो पूर्ण ज्ञान जिसमे
जहाँ घरो की न भित्तियाँ ये करे जगत् खण्ड-खण्ड न्यारा
स्वतत्रता-स्वर्ग मे पिता हे, जगे जगे देश यह हमारा !
सदैव ही सत्य के तले से
जहाँ पिता, शब्द-शब्द निकले
छुए बढा हाथ पूर्णता को जहाँ परिश्रम अथक हमारा
स्वतत्रता-स्वर्ग मे पिता हे, जगे जगे देश यह हमारा !
छिपे भटक कर सुबुद्धि-धारा
न रूढ़ियो के दुरन्त मरु मे
विशाल-विस्तृत विचार-कृति मे लगे जहाँ चित्त, पा सहारा
स्वतत्रता-स्वर्ग मे पिता हे, जगे जगे देश यह हमारा !

"Lord, though I lived on earth, the child of earth,
Yet was I fathered by the starry sky"

अर्थात्—"हे प्रभु, यद्यपि मैं पृथ्वी की सन्तति हूँ और पृथ्वी पर ही पला हूँ, पर मुझे तारिका-जटित आकाश का वात्सल्य प्राप्त हुआ।"

विश्व के सौन्दर्य की तारीफ करना और विचार और कल्पना के जगत् में रहना आसान है। मगर इस तरह औरों के दुःखों से जी चुराना, उनका क्या हाल है इसकी परवा न करना, साहस या हमदर्दी की निशानी नहीं है। विचार की अच्छाई और सचाई इसीमें है कि उसके अनुसार अमल किया जाय। हमारे मित्र रोम्याँ रोलाँ कहते हैं—"कार्य विचार का अन्त है। जिस विचार की दृष्टि कार्य की ओर नहीं होती वह, कैसा भी हो, निरर्थक है और धोखाधड़ी है। इसलिए हमें अगर विचार के सेवक बनना है तो कार्य के सेवक भी बनना ही होगा।"

अक्सर लोग कार्य से इसलिए कन्नी काटते हैं कि उन्हें नतीजे का डर होता है, क्योंकि कार्य का अर्थ है जोखिम और खतरा। खतरा दूर से ही भयानक दीखता है। नज़दीक से देखने पर वह इतनी बुरी चीज़ नहीं है; ज्यादातर तो वह सुहावना साथी ही होता है और उससे जीवन का स्वाद और आनन्द बढ़ता है। कभी-कभी जीवन का साधारण क्रम बड़ा सुस्त होजाता है। हमें बहुत-सी चीज़ें योंही मिल जाती है और उनसे हमें कोई आनन्द नहीं मिलता, परन्तु जब उन मामूली चीज़ों के बिना हम थोड़े दिन रह लेते हैं तब हमें उनकी कितनी कद्र होजाती है! बहुत लोग ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों की चढ़ाई करते हैं और चढ़ाई का आनन्द लेने के लिए प्राण और शरीर को जोखिम में डालते हैं। जब वे किसी कठिनाई को पार कर लेते हैं, किसी ख़तरे को जीत लेते हैं, तब उन्हें कितनी ख़ुशी होती है! जिन ख़तरों से वे चारों ओर घिरे रहते हैं उनके कारण उनकी इन्द्रियाँ कितनी तेज़ होजाती हैं, और जो जीवन कच्चे धागे से लटकता रहता है उसका आनन्द कितना तीव्र होजाता है!

हम सबके सामने दो मार्ग हैं। हम जिसे चाहे पसन्द करलें। एक तो नीची घाटियों में रहना, जहाँ धुन्ध और कोहरे से तंग होना पड़ता है परन्तु जहाँ शरीर की रक्षा ठीक-ठीक होती है। दूसरा ऊँचे पर्वतों पर चढ़ना, जोखिम और ख़तरे में पड़ना और साथियों को डालना, आकाश का शुद्ध वायु सेवन करना, दूर-दूर दृश्यों का मज़ा लूटना और उगते हुए सूर्य का स्वागत करना।

मैंने इस ख़त में कवियों और दूसरे लेखकों के कई उद्धरण दिये हैं। अन्त में एक और दे देता हूँ। यह गीताञ्जलि का है। यह रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता या प्रार्थना है:

परिशिष्ट—१

विश्व-इतिहास का तिथि-क्रम

[१]

मानवी इतिहास के बहुत शुरू के जमाने की तिथियाँ कभी-कभी बिलकुल अन्दाज-ही-अन्दाज होती हैं। कभी-कभी वे इतनी अनिश्चित होती हैं कि विशेषज्ञो में एक-दूसरे से हजार वर्षों का मतभेद होता है। मानव-संस्कृति के सबसे प्रारम्भिक जो चिन्ह मिलते हैं वे हमें ईस्वी सन् के ५००० वर्ष पूर्व यानी अबसे लगभग ७००० वर्ष पूर्व तक लेजाते हैं। ख़याल किया जाता है कि मिस्र के इतिहास का आरम्भ उस समय हुआ था। यह प्रस्तर-युग का अन्त था। उस समय मिस्र कई छोटे राज्यो में बँटा हुआ था। प्राचीन वस्तु-विद्या के पण्डितों ने भी कैल्डिया अथवा एलम (मेसोपोटामिया) में एक ऐसी सभ्यता के भग्नावशेषो का पता लगाया है जो ईसा के पांच हजार वर्ष पहले शुरू हुई थी। इसका राजनगर सूसा था। प्राचीन वस्तुओ के सम्बन्ध में ज्यादातर खोज मिस्र और मेसोपोटामिया में ही हुई है, क्योंकि ज्यादातर खुदाई भी वही हुई है। सम्भवतः इतनी ही पुरानी तिथि वाली खोज दूसरे देशो में भी की जायगी। प्राचीन वस्तुओं के दूसरे समूह का पता लगने से भी, जिनकी तिथि लगभग ३५०० वर्ष ईसा के पूर्व बताई जाती है, इस धारणा की पुष्टि होती है। ये खोजें हमें एशिया के आर-पार—मिस्र, कैल्डिया, पूर्वी फारस, भारत की सिन्धु घाटी, पश्चिमी तुर्किस्तान से चीन की ह्वांगहो या पीत नदी तक ले जाती हैं। इन सब स्थानों पर विकास की एकसी अवस्था का पता चलता है। यह पालिश किये हुए पत्थरो के युग के अन्त की बात है, जब कि ताँबे का इस्तेमाल शुरू होरहा था। इनमें कृषि है, घरेलू एवं पालतू चौपाये हैं, व्यापार है, एक ही तरह के औजार हैं, सोने-चाँदी के सुन्दर आभूषण हैं और कई तरह के समान चित्रों से चित्रित मिट्टी के रंगीन पात्र हैं। लेखन-कला या लिपि का आरम्भ होचुका था। जान पड़ता है इस जमाने में, लगभग ५५०० वर्ष पहले, मिस्र से उत्तर-भारत और चीन तक एक ही सभ्यता का प्रसार था। मिट्टी के एक-से पात्रों के मिलने से इस सभ्यता को "मिट्टी के रंगीन बर्तनों की सभ्यता" (Painted Pottery Civilization) कहते हैं। यह सभ्यता इस वक़्त भी इतनी उन्नत थी, इसकी संस्कृति और ललित कलायें इतनी विकसित होचुकी थी, कि इसके पीछे संस्कृति की बाढ़ के हजारों वर्ष पहले ही बीत चुके होंगे। हिन्दुस्तान में यह मोहेनजोदारो का युग था जिसमें सुन्दर भवनो, सड़कों और कला के विकास का दर्शन हमें होता है। इस समय मिस्र में फरोहाओं यानी देव-

तो अपना काम खत्म हुआ और यह आखिरी खत भी। आखिरी खत ! हरगिज नहीं ! मैं तुम्हें और भी बहुत-से खत लिखूंगा। परन्तु यह सिलसिला यहीं समाप्त होना है और इसीलिए—

तमाम शुद !

इटली, सिसली, सोर और फ्रांस के दक्षिणी भाग में हेलेनिक उपनिवेश खडे होगये। होमर ने अपने महाकाव्य ईसा-पूर्व की ग्यारहवी शताब्दी में लिखे थे।

इस बीच पूर्व में सभ्यता के प्राचीनतर केन्द्रो में बहुतेरी घटनायें घट गई थी। मिस्र और कैल्डिया में साम्राज्यों का विकास भी हुआ और पतन भी होगया। भारत में उत्तर में आर्यो का प्रभुत्व स्थापित होचुका था और वे दक्षिण की ओर बढ रहे थे। जब वे यूनान में पहुँचे, उससे बहुत पहले वे भारत में आ चुके थे। यहाँ आने पर उन्होने सभ्य और संस्कृत द्रविडो को इस देश में बसा हुआ पाया और उन्हे दक्षिण-भारत की तरफ खदेड़ दिया था। वेद आर्यो के आक्रमण के प्रारम्भिक दिनो में लिखे गये थे और वेदो के बहुत दिनों बाद महाकाव्य—रामायण आदि—लिखे गये थे। चीन संगठित होरहा था और एक महान् राज्य विकसित होरहा था। रेशम के कीडे पालने और रेशम निकालने की कला निकल चुकी थी।

अब हमें अपने नकशे पर आना चाहिए। लेकिन याद रक्खो कि सभ्यताओ और ऐतिहासिक युगों के विभिन्न नामो (जैसे मिनोयन, माईसीनियन, एजियन इत्यादि) को एक-दूसरे से बिलकुल स्वतंत्र अथवा स्पष्टतः निश्चित युगो के रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए। ये अस्पष्ट शब्द हैं जिनका उपयोग आजकल के प्राचीन वस्तु-विद्या के विशेषज्ञ और इतिहासकार विभिन्न सभ्यताओ और युगो को एक-दूसरे से अलग करने या एक-दूसरे की अलग पहचान के लिए करते हैं, पर ये सभ्यतायें और युग अक्सर एक-दूसरे की सीमा में मिल या प्रवेश कर जाते हैं। यह भी याद रक्खो कि चार्ट या नकशे में तिथियो को समान अन्तर से यानी एक काल को समान ही जगह देना असम्भव है। ऐसी माप रखना बहुत अच्छी और ज्यादा सही चीज होगी, क्योकि इससे इतिहास के बारे में ज्यादा सही धारणा बनाई जा सकेगी, पर ऐसा नकशा बहुत ज्यादा लम्बा होजायगा, क्योंकि इतिहास की प्रारम्भिक अवस्थाओ में हमें हजारो वर्षो से काम पडेगा और प्रागैतिहासिक अथवा इतिहास के पहले के काल तो बहुत ज्यादा बडे-बडे हैं। इसलिए हमें एक ही माप का खयाल छोड़ देना पडेगा। कभी तो एक इञ्च हजार वर्षो या उससे भी ज्यादा समय के प्रति कर्त्तव्य-पालन करेगा और दूसरी जगह वही एक इंच सिर्फ दस वर्षो या उससे भी कम समय का काम देगा।

नोट—किसी तिथि के पूर्व 'ल०' का का मतलब यह है कि वह तिथि बिलकुल निश्चित नही है, बल्कि लगभग है। यह लगभग का सक्षिप्त रूप है।

सम्राटो की मातहती में अलग-अलग राज्य एक बडे राज्य में मिल जाते है। इसी वक्त के करीब कैल्डिया में सुमेर और अक्कद नाम के दो शक्तिमान और ऊँची संस्कृतिवाले राज्यो का जन्म होता है। फुरात (Euphiates) नदी के तटो पर 'उर' नाम का मशहूर शहर उठ खडा होता है, जिसे बाइबल में 'कैल्डिया का उर' कहा गया है। इसी 'मिट्टी के रगीन वर्तनो की सभ्यता' से मिस्री, मेसोपोटामियन या इराकी (इसमें फारसी अथवा ईरानी सभ्यता भी शामिल है), भारतीय और चीनी नामक पूर्व की चार महान् सभ्यतायें निकलती है और अलग-अलग विकसित होती है। इस तरह हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते है :—

तिथि (ईसा के पूर्व)	मिस्र	कैल्डिया या एलम (मेसोपोटामिया)	भारत	चीन
	मिट्टी के रगीन बर्तनों की सभ्यता			
ल० ३५०० वर्ष ल० ३३०० वर्ष	फरोहाओ की मातहती में एक राज्य बन जाता है।	सुमेर और अक्कद नामक दो शक्तिशाली राज्य। उर नगर	सिंधु की घाटी में मोहेन-जोदारो और हरप्पा (ईसा के ३३०० वर्ष पूर्व से २७ वर्ष पूर्व तक के ऊपर एक करके तीन नगर।)	ह्वांगहो या पीत नदी के तटों की बस्तियाँ

यह संभव है कि पूर्व की 'मिट्टी के रगीन बर्तनो की सभ्यता' के ही समकालिक उसी तरह की सभ्यता पूर्वी भूमध्यसागर में यूनानी टापुओ में और एशिया-माइनर के पश्चिमी किनारो पर रही हो। इस प्रारम्भिक भूमध्यसागरीय सभ्यता से २००० ईसापूर्व से १५०० वर्ष ईसापूर्व की नोसॉस लोगों की ऊँची मिनोयन सभ्यता निकली जो धीरे-धीरे नष्ट होगई और ग्रीक द्वीपो की माईसीनियन (Mycenean) या एजियन (Aegean) सभ्यता में बदल गई, जिसका समय ईसा पूर्व १६०० से ११०० तक बताया जाता है। इसी समय के लगभग (ल० १३०० वर्ष ईसा पूर्व के वाद) प्राचीन पश्चिमी दुनिया के महान् व्यापारी सेमिटिक फोनिशियन प्रधानता प्राप्त करते है और भूमध्यसागर के तट पर सब जगह उनकी वस्तियां वस जाती है। एशिया-माइनर में टायर नामक नगर इन बस्तियो में सबसे प्रधान वस्ती थी। इसी समय के लगभग आर्य लोग योरप में फैले। वे यही आर्य यूनानी, हेलेनीज, थे जिन्होने ईसा के पहले की बारहवी शताब्दी में ट्राय का घेरा डाला था। धीरे-धीरे हेलेनिक सभ्यता का विकास हुआ और एशिया-माइनर, दक्षिण-

पश्चिमी एशिया कैल्डिया-फिलस्तीन-फारस	भारत	चीन, कोरिया और जापान
...	उत्तर-पश्चिम में सिंधु की घाटी की सभ्यता।	
		२३५६ याओ सम्राट।
	भारत के अधिकांश भागो में द्रविड।	२२०५ हसिया वंश का आरंभ (१७६५ तक) रेशम की उत्पत्ति।
२१०० हम्मूरब्वी द्वारा बेबिलोनियन साम्राज्य की स्थापना। बेबिलन नगर।		
...	उत्तर-पश्चिम से आर्यो का निरन्तर प्रवाह आता है और उत्तरमें बसता जाता है	
१९२५ हिट्टाइट लोग बेबिलोनियन साम्राज्य को नष्ट कर देते हैं।		
	वैदिक काल।	१७६५ शाग अथवा यीन वंश (११२२ तक)
...	महाकाव्य काल—रामायण और महाभारत (परन्तु ये पुस्तकें लिखी बहुत बाद में गई)	
...	दक्षिण भारत का आर्यकरण	
असीरियनों का उत्थान—सम्राट तिगलल्थ—पिलेसर।		

तिथि या काल	भूमध्यसागर-तट यूनान-कार्थेज-रोम	मिस्र
(ई० पू०) २८००		मेम्फाइट साम्राज्य २८००–२३०० चियोपो-द्वारा महान् पिरामिडो का निर्माण। गिजेह का महान् स्फिक
२३००	भूमध्यसागर की प्रारम्भिक सभ्यता	..
		मिस्र पर हाइक्सो-आक्रमण। २१६०से १६६०तक प्रथम थीवन-साम्राज्य
२१००		रैमेसेस द्वितीय द्वारा कर्नाक और लक्सर मन्दिरों का निर्माण
२०००	नोसॉस की मिनोयन सभ्यता (ल० २०००-१५००)	...
१७००		
	माईसीनियन सभ्यता (ल० १६००-११००)	१५८० द्वितीय थीवन साम्राज्य (११०० तक)
१५००		
१३००	एशिया-माइनर का टायर नगर। भूमध्यसागर की फोनीशियन बस्तियाँ	

तिथि या साल	भूमध्यसागर–तट यूनान–कार्थेज–रोम	मिस्र
(ई०पू०)	योरप में आर्यों का फैल जाना हेलेनिक यूनानियों द्वारा ट्राय का घेरा ११४८	...
११००	ल० १००० होमर ईलियड और ओडेसी महाकाव्यों की रचना करता है । एशिया-माइनर, दक्षिण-इटली, सिसली और दक्षिण-फ्रास में हेलेनिक उपनिवेश	
८००	८०० फोनीशियन लोग उत्तरी अफरीका में कार्थेज की स्थापना करते हैं । यूनानी नगर-राज्य . एथेंस, स्पार्टा, थीबस, कोरिन्थ इत्यादि । ७७६ यूनान में ओलिम्पिक खेलो की स्थापना । ७५३ रोम का निर्माण हुआ ।	
७००		
६००	ल० ६०० ल्यूब्रोस में महान् कवयित्री सैफो	

[सम्भवत मध्य-अमेरिका के मैक्सिको और पेरू की प्राचीन अमेरिकन

तिथि या काल	यूनान, रोम और कार्थेज	मिस्र
(ई० पू०)		
६००	कार्थेज महान् व्यापारिक केन्द्र—भूमध्यसागर में प्रधान शक्ति समोस में पाइथागोरस ल० ५७०—५०४	५५२ फ़ारस का सम्राट् कैम्बिसेस मिस्र विजय कर लेता है।
५००	रोमन प्रजातन्त्र का आरम्भ ल० ५०० ४९० मैराथान का युद्ध—यूनानी फारसियो को खदेड़ देते हैं ४८० थर्मापोली और सेलेमिस	...
४००	यूनान का सुवर्ण-युग : सुकरात, यूरीफाइड्स, पेरीक्लिस, एस्किलस, सोफोक्स, प्लेटो, पिण्डार, अरिस्टोफेनिस फीडियास। ४०४ स्पार्टा द्वारा एथेंस का विनाश। ३५९ मेसीडोनिया का बादशाह फिलिप ३३६ सिकन्दर महान्	... ३३२ मिस्र में सिकन्दर मिस्र पर यूनानी टालमी का राज्य

शताब्दियां (ई० पू०)	यूनान, रोम और कार्थेज	मिस्र
३००		यूनानी सभ्यता का एक महान् केंद्र अलेग्जेण्ड्रिया
	२६४ (से २४१ तक) प्रथम प्यूनिक युद्ध। कार्थेज के विरुद्ध रोम।	
	२१९ (से २०२ तक) द्वितीय प्यूनिक युद्ध। हैनीबाल। रोमन साम्राज्य का स्पेन, यूनान, एशिया-माइनर में विस्तार।	
२००		
१००	१४९ तृतीय प्यूनिक युद्ध। कार्थेज नष्ट कर दिया जाता है।	
	९१ इटली में गृह-युद्ध।	
	७३ रोम में स्पार्टकस के नेतृत्व में गुलामों का विद्रोह। गॉल-विजय। जूलियस सीजर द्वारा ब्रिटेन और पाम्पी द्वारा पूर्वी प्रदेशों की विजय।	
	४८ सीजर फार्सेलू स्थान पर पाम्पी को हरा देता है।	अन्तिम टालमी क्लियोपैट्रा का राज्य।
	४४ रोम में सीजर मारा गया।	३० मिस्र रोम साम्राज्य का एक प्रांत होजाता है।

भारत	बृहत्तर भारत; मलाया इत्यादि	चीन	जापान और कोरिया
बौद्धधर्म का महान् कलह—महायान और हीनयान			
मलाया और पूर्वी द्वीपो में उपनिवेशो की स्थापना के लिए पल्लवो की संगठित यात्रायें। समुद्री व्यापार का विकास।	महत्वपूर्ण भारतीय (पल्लव) उपनिवेशो की विशेषतः कम्बोडिया में स्थापना। सुमात्रा में श्रीविजय। दक्षिण मलाया मध्य जावा पूर्वी बोर्नियो		
	......	चीन में बौद्धधर्म का प्रवेश। उत्तर-काल के हन् सम्राट तातारियो को पश्चिम में भगा देते हैं (और ये बाद में हूण की शक्ल में योरप और भारत में जाते हैं)।	
		२२१ हन् राजवंश का पतन। तीन राज्य।	

भारत	बृहत्तर भारत; मलाया इत्यादि	चीन	जापान और कोरिया
३२० उत्तर भारत में गुप्त साम्राज्य का आरम्भ। राष्ट्रीय पुनरुत्थान । राजधानी अयोध्या । संस्कृत का सुवर्ण काल ।			
३२० चन्द्रगुप्त ।			
३३५ समुद्रगुप्त । दूर-दूर तक विजय ।			यामातो (जापान) ३५० के लगभग फैलता है ।
३८० विक्रमादित्य । कवि कालिदास			
चीनी यात्री फाहियान का भारत में आगमन ।			
ल० ४५० भारत में हूणो का आक्रमण ।			
४९५ हूण तोरमान उत्तरी भारत पर कब्जा करलेता है			
हूण मिहिरगुल ५१०-५२८			
५२५ चीन में आबाद होने के लिए भारतीय बौद्धधर्म के प्रधान धर्माध्यक्ष बोधिधर्म का भारत से प्रस्थान।	हिन्दीचीन में हिंदू राज्य।	बोधिधर्म कैण्टन पहुँचते हैं ।	

तिथि या काल	रोमन साम्राज्य	पश्चिमी एशिया
(ई० प०) 300	३०६ महान् सम्राट् कास्टैण्टाइना राजधानी विजंण्टियम ले जाई गई, जिसका नाम कुस्तुन्तुनिया हो जाता है। ईसाई धर्म साम्राज्य का राजधर्म बन जाता है। साम्राज्य पश्चिमी और पूर्वी दो भागों में बँट जाता है।	
४००	ल० ४०० रोम पर बर्बरों के हमले। ४१० एलेरिक के नेतृत्व में गॉथ लोग रोम पर कब्ज़ा कर लेते और उसे तबाह करते हैं। ४५०ल एटिला के नेतृत्व में हूण गाल और इटली को पामाल करते हैं और ४५७ ई० में फ्रांस में शालों के युद्ध में अन्तिम रूप में पराजित होते हैं। ४५५ जेनसेरिक के नेतृत्व में वण्डाल लोग रोम को तबाह करते हैं। ४७६ पश्चिमी साम्राज्य की हस्ती ख़तम हो जाती है। गॉथ ओडोका इटली का राजा। अन्य गॉथ बादशाह। ४८१ फ्रांस का क्लोविस।	
५५०	बर्बरों और हूणों के हमलों से बहुत कमज़ोर हो जाने पर भी पूर्वी रोमन साम्राज्य कायम रहता है। उसकी राजधानी कुस्तुन्तुनिया है। जस्टीनियन के समय में, जो ५२७ से ५६५ तक राज्य करता है, वह फिर सबल होता है।	

तिथि या काल	पश्चिमी योरप	पूर्वी योरप	पश्चिमी एशिया
ई सन् ५५०		विजेण्टाइन (कुस्तुनतुनिया) साम्राज्य और ससानी (फारसी) साम्राज्य के बीच अक्सर लड़ाइयाँ जिनसे दोनो कमजोर होजाते हैं।	
६००		अरबो द्वारा विजेण्टाइन साम्राज्य की पराजय। पर वह अपने को सुरक्षित रखता हैं।	५७० मक्का में मुहम्मद का जन्म (मृत्यु ६३२); खुसरो द्वितीय के राज्य में ससानी साम्राज्य मिस्र, सीरिया, एशिया माइनर, फारस तक फैल जाता है। ६१९ ६२२ हिजरत। मुहम्मद साहब की मदीना यात्रा ६३२ अबूबकर खलीफा। ६३४ उमर खलीफा। ६३२—६७० अरब लोग विजेण्टाइन साम्राज्य को हराते और फारस, मिस्र, उत्तरी अफरीका और मध्य एशिया के कुछ भागो को विजय कर लेते हैं। राजधानी दमिश्क। उम्मैया खलीफे (अरबो की विजय से सासानी साम्राज्य का अन्त)।
७००	७११ उत्तरी अफरीका से अरबो की स्पेनविजय। फ्रान्स पर आक्रमण		

तिथि या काल	पश्चिमी योरप	पूर्वी योरप	पश्चिमी एशिया
ई सन्	७३२ फ्रास में टूर्स का युद्ध । चार्ल्स मार्टल अरबो को हरा देता और अरब हमले को रोक देता हैं ।		
	७५० स्पेन में कारडोवा का अरब राज्य । प्रसिद्ध नगर और विश्वविद्यालय		७५० उम्मैया खलीफा अधिकार-च्युत कर दिये गये । अब्बासी खलीफो का आरम्भ । स्पेन स्वतत्र हो जाता है । वहाँ का अरब-राज्य उम्मैयो के कब्जे में । अरब साम्राज्य छोटा पर संगठित होजाता है । राजधानी बगदाद चली जाती है ।
			७८६ (से ८०९ तक) खलीफा हारूनल रशीद । उज्ज्वल शासन । चीन और शार्लमेन के पास राजदूतो का भेजा जाना ।
८००	८०० पश्चिमी पवित्र रोमन साम्राज्य आरम्भ होता है और शार्लमेन उसका सम्राट बनता है ।	पूर्वी रोमन (बिजे-न्टाइन) साम्राज्य चारो तरफ से कठिनाइयों में पडजाने के बाव-जूद सिकुडे रूप में कायम रहता है ।	८५० अब्बासी खलीफाओं और अरब साम्राज्य का ह्रास । स्व-तंत्र मुस्लिम राज्यो का उदय ।
९००	९६२ जर्मनो का महान् ओटो पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट बन जाता है		पश्चिमी एशिया में सेलजूक तुर्क
	९८७ ह्यूकैपेट फ्रान्स का राजा बन जाता हैं ।		९६९ मिस्र स्वतंत्र होजाता है । अलग फातिमाई खिलाफत पश्चिम एशिया पर सेलजूक तुर्कों का प्रभुत्व

तिथि या काल	पश्चिमी योरप (और अमेरिका)	पूर्वी योरप
ईस्वी सन् १०००	[मध्य अमेरिकाः महान् नगर उक्षमल का उदय : १००० तीन मध्य अमेरिकन राज्यों के संघ—मायापान सघ—का निर्माण]	
	१०६६ नार्मण्डी के विलियम द्वारा इंगलैण्ड पर विजय ।	
	१०७३ हिल्डेब्रैण्ड ग्रेगोरी सप्तम के नाम से पोप बनता है ।	ईसाई जिहादी (क्रूसेडर्स) पूर्वी योरप को लूटते और वहाँ असभ्याचरण करते हैं ।
	१०९६ प्रथम क्रूसेड । (जिहाद) बहुत ज्यादा आदमी मारे गये । ग्यारहवी-बारहवी सदियो में पश्चिमी योरप में गाथिक शिल्प ।	
११००		
	११४७ दूसरा क्रूसेड । ११४७ कार्डोवा के मुसलमान राज्य से पुर्तगाल जीत लिया जाता और वहाँ ईसाई राज्य कायम किया जाता है ।	
	११५२ होहेनस्टाफन वंश का फ्रेडरिक बार्बरोसा । पवित्र रोम साम्राज्य का सम्राट ११८९ तीसरा क्रूसेड । इग्लैण्ड का शेरदिल रिचर्ड प्रथम [मध्य अमेरिका· ल० ११९० मायापान का विनाश]	

तिथि या काल	पश्चिमी योरप (और अमेरिका)	पूर्वी योरप
ईस्वी सन् १२००	१२०२ चौथे क्रूसेड द्वारा पूर्वी (बिजेण्टाइन) साम्राज्य पर हमला १२१२ लडको का क्रूसेड १२१५ इग्लैण्ड के राजा जॉन द्वारा मैग्नाचार्टा पर हस्ताक्षर। १२२१ पाचवाँ क्रूसेड (जिहाद)। १२२८ होहेनस्टाफन वंश का फ्रेडरिक द्वितीय, पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट, (१२१२-१२५०) छठे क्रूसेड का नेतृत्व करता है यद्यपि पोप उसे समाज से बहिष्कृत कर देता है। १२३३ स्पेनिश 'इनक्वीजिशन' की स्थापना	१२०४ क्रूसेडवाले कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा कर लेते है और एक लैटिन सम्राट खड़ा कियाजाता है (१२६१ तक)। चंगेज के नेतृत्वमें मंगोल दक्षिण रूस पर हमला करते हैं। १२४० रूस, पोलैंड पर मंगोलों का हमला। रूस मंगोलो को खिराज देता है। १२४१ साइलेशिया के लिगनिज में मगोलो की विजय।
१२५०	१२५० फ्रेडरिक द्वितीय की मृत्यु। होहेनस्टाफन वश का अन्त। १२५० स्पेन के कार्डोबा राज्य का अन्त। दक्षिण स्पेन में ग्रेनाडा नामक छोटे अरब राज्य का आरंभ। १२६५ दाते का जन्म। १२७३ हैप्सबर्ग का रूडोल्फ पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट चुना जाता है। १३ वीं-१४ वी सदियो में यूरोपियन नगरो का विकास: वेनिस, जिनोआ, फ्लोरेस, बोलोन, पीसा, मिलन, नेपल्स, पेरिस, एण्टवर्प, हैम्बर्ग, फ्रैंकफुर्त, कोलोन, म्यूनिच आदि प्रजातंत्र।	१२६१ यूनानी लैटिनो से कुस्तुन्तुनिया फिर छीन लेते हैं।
१३००		रूस के अधिकांश हिस्सों में सुनहरे कबीले के मंगोलो की स्थापना

तिथि या काल	पश्चिमी योरप (और अमेरिका)	पूर्वी योरप
ई० सन् १३००		
	[मध्य अमेरिका और मैक्सिको। ल० १३२५ अजटेक लोग माया देश को जीत लेते हैं और 'टेनोच्लेटन' नामक महानगरी बसाते हैं]	
	ल० १३४८ योरप, उत्तरी अफरीका और एशिया के कुछ हिस्सों में महाप्लेग—'काली मौत'। इन देशों में आबादी का भयकर विनाश।	दक्षिण रूस में महाप्लेग।
१३५०		१३५३ उस्मानी तुर्क योरप में घुस जाते, बालकन विजय करलेते और एड्रियानोपुल को राजधानी बनाते हैं।
	१३७८ पश्चिमी ईसाई धर्म में महाविभेद। दो पोप—एक रोम में, दूसरा फ्रास के एविग्नन में। १४१७ में समझौते से झगड़ा समाप्त होता है।	कुस्तुन्तुनिया में बिजेण्टाइन साम्राज्य अब भी कायम रहता है।
१४००		

तिथि या काल	पश्चिमी योरप (और अमेरिका)	पूर्वी योरप
ई० सन्		
	१४३० रून में अंग्रेजो द्वारा जोन ऑफ़ आर्क का जलाया जाना।	
१४५०	१४७३ कोपरनिकस की पैदाइश। १४८६ डायज गुडहोप के अतरीप के गिर्द घूमकर जाता है। १४९२ ग्रेनाडा के अरब राज्य का अंत। मूर (मुसलमान) स्पेन के बाहर खदेड़ दिये जाते हैं। १४९२ कोलम्बस अटलाण्टिक पार करके अमेरिका पहुँचता है।	१४५३ उस्मानी तुर्क कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा करलेते हैं। पूर्वी रोमन (विज़ेण्टाइन) साम्राज्य का अन्त। दक्षिण-पूर्व योरप में उस्मानी साम्राज्य का प्रसार। ...
१५००	१४९८ गुडहोप के अंतरीप होता हुआ वास्को डि गामा भारत पहुँचता है। इटली में 'रिनैसाँ' (पुनर्जागरण) का आरंभ : ल्यूनार्डो दविंसी, माइकेल एंजेलो, राफेल। १५१३ बलवोआ प्रशात सागर में पहुँचता है। १५१९ मैगेलन दुनिया की परिक्रमा करता है १५१९ कोर्टे मैक्सिको के अजटेको को विजय कर लेता है।	
१५३०	१५३० पेरू के 'इनका' पर पिजारो की विजय। स्पेनी अमेरिकन साम्राज्य का उदय। १५३० हैप्सवर्ग चार्ल्स पचम : पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट; स्पेन, निदरलैण्ड, अमेरिकन राज्य इत्यादि का राजा।	१५२० उस्मानी साम्राज्य का सुलतान सुलेमान। उस्मानी साम्राज्य फैलता है और हँगरी एवं बालकन उसमें आजाते हैं।

तिथि या सन्	उत्तर और दक्षिण अमेरिका	पश्चिमी योरप	पूर्वी योरप
ई० सन् १५३०		मार्टिन लूथर (मृत्यु १५४६)। उत्तर-पश्चिम योरप में रिफार्मेशन और प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय का आरम्भ।	
१५५०		१५५८ (से १६०३ तक) इग्लैंण्ड में एलिज़ाबेथ का राज्य।	...
		१५६४ शेक्सपीयर का जन्म।	
		१५६७ स्पेन के ख़िलाफ़ निदरलैण्ड्स की बगावत।	
	१५७७ फ्रांसिस ड्रेक जहाज़ी विश्वभ्रमण आरम्भ करता है।		ल १५८१ रूसी डाकू यरमक अपने कज़्ज़ाक सिपाहियो के साथ यूरल पार करता और पूर्व की ओर बढ़ता है। ...
१६००		१६०० ब्रिटिश ईस्ट-इडिया कम्पनी की स्थापना।	
		१६०२ डच ईस्ट-इण्डिया कम्पनी की स्थापना।	
	१६२० 'मेफलावर' इंग्लैण्ड मे उत्तरी अमेरिका को प्यूरिटन (कट्टर ईसाई) लोगो को बसने के लिए लाता है।		बालकन, हंगरी आदि पर उस्मानी साम्राज्य। १६३६ रूसी पूर्व की ओर बढते हैं और प्रशान्त सागर तक पहुँच जाते है।

तिथि या काल	उत्तर और दक्षिण अमेरिका	पश्चिमी योरप	पूर्वी योरप
ई० सन्			
१६५०		१६४२ फ़ास का 'महान् बादशाह' चौदहवां लुई अपने ७२ वर्ष लम्बे राज्यकाल का आरम्भ करता है। १६४८ वेस्टफेलिया की सधि। हालैण्ड और स्वीजरलैण्ड स्वतन्त्र राज्य के रूप में स्वीकृत कर लिये जाते है। १६४९ इगलैड में गृहयुद्ध। बादशाह पर पार्लमेण्ट की विजय। चार्ल्स प्रथम को फासी। अग्रेजी प्रजातन्त्र १६६० तक। ओलिवर क्रामवेल।	१६८३ वियेना के फाटको पर उस्मानी तुर्क रोक लिये जाते है। १६८९ रूस में महान् पीटर १६८९ से १७२५ तक राज्य करता है।
१७००		१६८८ ब्रिटिश क्रान्ति	चीन से सन्धि। चीन को राजदूतो का भेजा जाना। पीटर रूसी स्त्रियो का परदा छुड़वा देता है।
१७३०	उत्तरी अमेरिका के पूर्वी समुद्र-तट पर यूरोपियन बस्तियो का बढना। ब्राज़ील के अतिरिक्त सारे दक्षिण-अमेरिका में स्पेनी साम्राज्य। ब्राज़ील में पोर्चुगीजो का राज्य।		१७३० रूसी-तुर्की युद्ध (सारी अठारहवी-उन्नीसवी सदी भर होनेवाली लड़ाइयो में से एक)

तिथि या काल	उत्तर और दक्षिण अमेरिका	पश्चिमी योरप
ई० सन् १७३०		
	यूरोपियन देशों द्वारा सारी अठारहवीं सदी भर अफरीकन गुलामों का व्यापार होता रहा। अठारहवीं सदी के अंत में यह व्यापार पूरे जोर पर था। लिवरपूल और न्यूयार्क इस व्यापार के केन्द्र थे।	१७४० प्रशा के फ्रेडरिक महान् के राज्य-काल का आरम्भ। वाल्टेयर (१६९४-१७७८)
१७५०		गेटे (१७४९-१८३२)।
		१७५६-१७६३ सप्तवर्षीय युद्ध—प्रभुत्व के लिए अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच होनेवाले विश्वव्यापी संघर्ष में अंग्रेजों की विजय।
	१७६३ फ्रांस इंग्लैण्ड को कनाडा दे देता है।	बीथोवेन, महान् संगीतकार (१७७०-१८२७)
	१७७५ उत्तरी अमेरिकन उपनिवेशों का इंग्लैण्ड से युद्ध।	
	१७७६ अमेरिकन क्रांति। स्वतंत्रता की घोषणा।	
	जॉर्ज वाशिंगटन।	१७८९ पेरिस में बैस्तील पर धावा। फ्रेंच राज्यक्रान्ति का आरम्भ।
		१७९२ फ्रांस प्रजातंत्र बन जाता है।
		१७९९ नेपोलियन बोनापार्ट। प्रथम कौंसल।
१८००		
	दक्षिण अमेरिका में क्रान्तियाँ। स्वतंत्र प्रजातंत्रों की स्थापना। साइमन बोलिवर।	१८०४ नेपोलियन सम्राट्।
		१८०६ 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का बाकायदा अन्त।
		१८१५ वाटरलू का युद्ध। वियेना की संधि।

तिथि या काल	उत्तर और दक्षिण अमेरिका	पश्चिमी योरप
ई० सन्		इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति (अठारहवीं सदी के अन्त से आगे)।
	स्पेनी और पुर्तगाली अमेरिकन साम्राज्यो का अन्त।	
	अधिकाश देशो द्वारा अफरीकन गुलामो के व्यापार का निषेध, पर ग़ैरकानूनी तरीके पर वह काफी बडे रूप में चलता रहता है और अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र के दक्षिणी राज्यो तक हबशी पकड़कर लेजाये जाते है।	१८२५ पहली रेलवे (इंग्लैण्ड में)। १८३० योरप में क्रान्तियाँ। लुई फिलिप फ्रांस का बादशाह होजाता है। बेलजियम स्वतंत्र होजाता है। १८३२ ब्रिटिश रिफार्म बिल।
	संयुक्तराष्ट्र अमेरिका पश्चिम की तरफ फैलता है और केलीफोर्निया लेलेता है।	कार्लमार्क्स (१८१८–१८८३)। १८४८ योरप में क्रान्ति-वर्ष। फ्रांस में प्रजातंत्र की स्थापना।
१८५०		चार्ल्स डार्विन (१८०९–१८८२) १८५२ द्वितीय फ्रेंच प्रजातंत्र का अन्त। फ्रांसीसियो का सम्राट् नेपोलियन तृतीय।

तिथि या काल	उत्तर और दक्षिण अमेरिका	पश्चिमी योरप	पूर्वी योरप
ई० सन् १८६०	१८६१-६५ अमेरिकन गृह-युद्ध, हबशियों का उद्धार । राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ।	१८६१ इटली संयुक्त और स्वतंत्र हो जाता है। मैजिनी-गेरीवाल्डी-कावूर ।	
	सारी उन्नीसवीं सदी भर खास तौर से उत्तरी अमेरिका और उत्तर-पश्चिमी योरप में तथा थोड़ी-बहुत दूसरी जगहों में विज्ञान, उद्योग तथा यांत्रिक आयात-निर्यात की उन्नति । प्रजासत्तावाद, पूंजीवाद, राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद का विकास ।		बालकन में राष्ट्रीयता । तुर्की की अधीन जातियाँ धीरे-धीरे अपनेको स्वतंत्र करती हैं ।
		१८७०–१८७१ फ्रांस-प्रशा युद्ध—फ्रांस की हार । वर्साई में जर्मन साम्राज्य की घोषणा । बिस्मार्क । फ्रांस प्रजातंत्र बनता है । पेरिस की अल्पजीवी पंचायत ।	१८७६ सुलतान तुर्की को विधान देता और फिर उसे स्थगित कर देता है ।
		१८७८ रूस-तुर्की युद्ध के बाद बर्लिन की सन्धि ।	१८७७ रूस-तुर्की युद्ध ।
			१८७८ बलगेरिया, सर्बिया, रूमानिया और माण्टेनिग्रो तुर्की शासन से स्वतंत्रता प्राप्त कर लेते हैं ।
	१८९८ स्पेनी-अमेरिकन युद्ध । संयुक्त-राष्ट्र फिलिपाइन पर कब्जा कर लेता है। क्यूबा स्वतंत्र हो जाता है ।	विशेषत उत्तर-पश्चिमी योरप में मजदूर-आन्दोलन की वृद्धि । मजदूर-संघ—अन्तर्राष्ट्रीय संघ—समाजवाद । कार्ल मार्क्स ।	
		१९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अमेरिका पर कब्जे के लिए पाश्चात्य शक्तियों की भाग-दौड़ ।	१९०५ जापान द्वारा रूस की हार के कारण रूस में असफल क्रान्ति होती है । ड्यूमा की स्थापना ।
१९००		१८९९–१९०२ दक्षिण अफरीका में अंग्रेज और बोअरों का युद्ध ।	१९०८ तुर्की-क्रान्ति । १८७६ के विधान की पुनः स्थापना । ऐक्य और उन्नति की समिति ।

तिथि या काल	उत्तर और दक्षिणी अमेरिका	पश्चिमी योरप	पूर्वी योरप
ई० सन्	१९१७ सयुक्तराष्ट्र महायुद्ध में शामिल होता है । १९१९–१९२९ संयुक्त राष्ट्र में महान् वैभव के दस वर्ष । १९२९अर्थ–सकट या मदी । १९३० दक्षिण अमेरिका में अर्जेण्टाइन, ब्राजील, चाइल इत्यादि में क्रान्तियाँ। सरकारो का दिवाला ।	१९१४–१९१८ महायुद्ध । १९१८ जर्मनी, आस्ट्रिया आदि में क्रान्तियाँ। राजवंशो का अन्त। प्रजातत्रो की स्थापना। १९१९ वर्साई की सुलह। योरप में अनेक नये राष्ट्र। हर्जानि–शासनादेश-राष्ट्रसंघ। मजदूरो की हलचले, हड़ताले, आर्थिक कठिनाइयाँ—मुद्रा का पतन—अनेक अन्तर्राष्ट्रीय कांफ्रेंसे । १९२०–२२ एग्लो-आयरिश युद्ध। सिनफीन 'आयरिश फ्री स्टेट की स्थापना । १९२२ इटली में फैसिज्म की विजय : बेनिटो मुसोलिनी । योरप के अनेक देशो में डिक्टेटरशिप । १९२६ ग्रेट ब्रिटेन में आम हड़ताल । १९२९ समस्त विश्व में महान् व्यापारिक मंदी और संकट का आरभ। भावो का गिरना। सरकारो का दिवाला। बैंको का टूटना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नाश (अभीतक मदी है) । १९३१ स्पेन में क्रान्ति । प्रजातत्र की स्थापना।	१९११ ट्रिपोली के सम्बन्ध में तुर्की से इटली का युद्ध । १९१२ बालकन युद्ध। तुर्की प्रायः योरप से खदेड़ दिया जाता है । १९१४-१९१८महायुद्ध १ ९१७ दो रूसी क्रान्तियाँ । बोलशेविक राज्य पर कब्जा कर लेते हैं। गृह-युद्ध । रूस और साइबेरिया में हस्त-क्षेप की लड़ाइयाँ। १९२३ यू. एस. एस. आर की स्थापना । १९२९ तेजी से औद्योगीकरण के लिए सोवियट संघ की पंचवर्षीय योजना।
१९३३	१९३३ मदी और अर्थ-सकट का मुकाबला करने के लिए काग्रेस द्वारा राष्ट्रपति रूजवेल्ट को सर्वसत्ता दिया जाना। राष्ट्रपति मजदूरी की वृद्धि का महान् कार्य शुरू करते हैं। उद्योगो पर राज्य का नियत्रण।	१९३३ जर्मनी में नाजी-विजय। एडोल्फ हिटलर। प्रजातंत्र को दबा दिया गया। मजदूरो और यहूदियो पर अत्याचार। योरप के अनेक देशो में फैसिज्म की वृद्धि ।	१९३३ सोवियट की द्वितीय पंचवार्षिक योजना का आरंभ ।

निर्देशिका

अं-अ

तिथि-क्रम की सूची

इ

क

ओ-औ

ख

ज-झ

ट-ठ

ड-ढ

थ

द

न

म

य

स

'सस्ता साहित्य मण्डल' के प्रकाशन

सस्ता साहित्य मण्डल के ये उच्चकोटि के सस्ते और जीवन निर्माणकारी प्रकाशन, १) प्रवेश फीस देकर स्थायी ग्राहक बन जाने पर सबको पौने मूल्य में मिल सकते हैं। ग्राहकों को प्रत्येक पुस्तक की एक-एक ही प्रति मिल सकती है। विशेष जानकारी के लिए बड़ा सूचीपत्र मँगाइए।

—व्यवस्थापक

१—**दिव्य जीवन**। प्रसिद्ध लेखक श्री स्वेट मार्डेन के The Miracle of Right Thought का अनुवाद। जीवन की कठिन समस्याओं से निराश युवक के लिए संजीवनी विद्या। मूल्य ।=)

२—**जीवन-साहित्य**। गुजराती के महान् विचारक काका कालेलकर के शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता, राजनीति आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर लिखे निबन्धों का संग्रह। दो भागों में। १।)

३—**तामिलवेद**। दक्षिण के अछूत ऋषि तिरुवल्लुवर का उत्तम और उत्कृष्ट नैतिक, धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, शिक्षाओं से भरा हुआ ग्रंथ। मूल्य ।।।)

४—**भारत में व्यसन और व्यभिचार**। [शैतान की लकड़ी] भारत में व्यसन और व्यभिचार सम्बन्धी हिन्दी की सर्वोत्तम पुस्तक। इन दुर्व्यसनों में फँसे देश का नग्न दर्शन तथा उन व्यसनों को दूर करने का उपाय। मूल्य ।।।=)

५—**सामाजिक कुरीतियाँ**। [जब्त अप्राप्य] मूल्य ।।।)

६—**भारत के स्त्री-रत्न**। प्राचीन भारतीय देवियों के आदर्श जीवन चरित्र, तीन भागों में। मूल्य ३)

७—**अनोखा**। फ्रान्स के प्रसिद्ध उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो के 'लाफिंग मैन' नामक उपन्यास का अनुवाद। राजाओं तथा दरबारियों की कुटिल क्रीडाओं का नग्न दर्शन। मनोरंजक, करुण और गम्भीर। मूल्य १।=)

८—**ब्रह्मचर्य-विज्ञान**। ब्रह्मचर्य पर अत्युत्तम पुस्तक। उपनिषदों, पुराणों तथा बहुत से अन्य धार्मिक ग्रन्थों के प्रमाणों से युक्त। मूल्य ।।।=)

९—**योरप का इतिहास**। अर्थात् बलिदान, राजनीति, देशप्रेम तथा स्वाधीनता का इतिहास। तीन भागों में। मूल्य २)

१०—**समाज-विज्ञान**। समाज की रचना उसके विकास तथा निर्माण पर लेखक ने

कुल पृष्ठ-संख्या

१५०६ + २२ (पृष्ठ १३५८ से १३७३ तक तिथिक्रम के नक्शो मे ज्यादा लगे)
= १५२८

२४—**हमारे ज़माने की गुलामी।** [जब्त अप्राप्य] मूल्य ।)

२५—**स्त्री और पुरुष।** स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध तथा ब्रह्मचर्य पर टाल्स्टाय के उत्तम विचार। मूल्य ॥)

२६—**सफ़ाई।** घरो, गाँवो तथा शरीर की सफाई पर उत्तम पुस्तक। मूल्य ।=)

२७—**क्या करें?** टाल्स्टाय की मशहूर पुस्तक What to do? का अनुवाद। गरीबो एव पीडितो की समस्याये और उनका हाल। मूल्य १॥=)

२८—**हाथ की कताई-बुनाई।** [अप्राप्य] मूल्य ॥=)

२९—**आत्मोपदेश।** यूनान के प्रसिद्ध विचारक महात्मा एपिक्टेटस के उत्तम और महत्वपूर्ण उपदेशो का सग्रह। मूल्य ।)

३०—**यथार्थ आदर्श जीवन।** [अप्राप्य] मूल्य ॥-)

३१—**जब अंग्रेज़ नहीं आये थे**—तब भारत हरा-भरा था। भारत की दुर्दशा तो अग्रेजो के यहा आने के बाद से शुरू हुई है। पार्लमेण्ट द्वारा नियुक्त रिपोर्ट के आधार पर लिखित। मूल्य ।)

३२—**गंगा गोविन्दसिह।** [अप्राप्य] मूल्य ॥=)

३३—**श्रीरामचरित्र।** श्री० चिन्तामणि विनाशक वैद्य लिखित रामायण की कहानी। करुण और मधुर। मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी का उत्तम जीवन-चरित्र। मूल्य १।)

३४—**आश्रम-हरिणी।** पौराणिक उपन्यास। विधवा-विवाह-समस्या पर पौराणिको के विचार। मूल्य ।)

३५—**हिन्दी-मराठी-कोष।** मराठी भाषा-भाषियो को हिन्दी सीखने मे बडे काम की चीज है। मूल्य २)

३६—**स्वाधीनता के सिद्धान्त।** आयर्लैण्ड के अमर शहीद टिरेन्स मेक्स्विनी के Principles of Freedom का अनुवाद। आज़ादी की इच्छावालो की नसो मे नया खून, नया जोश और स्फूर्ति भरने वाली पुस्तक। मूल्य ॥)

३७—**महान् मातृत्व की ओर।** स्त्री-जीवन की प्रारम्भिक कठिनाइयो का दिग्दर्शन कराती हुई मातृत्व की जिम्मेदारी का दिग्दर्शन करानेवाली स्त्री-उपयोगी उत्तम पुस्तक। मूल्य ॥।=)

३८—**शिवाजी की योग्यता।** छत्रपति शिवाजी का चरित्र-विश्लेपण। मूल्य ।=)

३९—**तरंगित हृदय।** गुरुकुल कागडी के आचार्य श्री देवशर्माजी के अनुपम विचार। मूल्य ॥)

बहुत अच्छा प्रकाश डाला है। 'समाज-शास्त्र' पढनेवाले विद्यार्थियो के लिए यह अत्युत्तम ग्रन्थ है। मूल्य १॥)

११—खद्दर का सपत्तिशास्त्र। खादी के अर्थशास्त्र पर श्री० रिचर्ड बी० ग्रेग लिखित The Economics of Khaddar का हिन्दी अनुवाद। खादी की उपयोगिता आपने वैज्ञानिक तथा आर्थिक ढग से सिद्ध की है। मूल्य ॥≈)

१२—गोरों का प्रभुत्व। इसमे बतलाया गया है कि ससार की सवर्ण जातियाँ अपनी आजादी के लिए किस प्रकार गोरी जातियो के शोषण से लड रही है और अपने को स्वतन्त्र कर रही है। मूल्य ॥=)

१३—चीन की आवाज। [अप्राप्य] मूल्य ।-)

१४—दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास। सत्याग्रह की उत्पत्ति तथा उसके प्रयोग का स्वय गाँधीजी द्वारा लिखा इतिहास पढे कि किस प्रकार इस शस्त्र द्वारा अफ्रीका वासियो ने अपने अधिकारो की बहादुरी से और बिना दूसरो को तकलीफ पहुँचाते हुए रक्षा की। मूल्य १)

१५—विजयी बारडोली। [अप्राप्य] मूल्य २)

१६—अनीति की राह पर। ब्रह्मचर्य तथा अप्राकृतिक सतति-निरोध पर लिखी गई महात्मा गाधीजी की सर्वोत्कृष्ट पुस्तक। मूल्य ॥=)

१७—सीता की अग्नि परीक्षा। लका विजय के बाद सीताजी की अग्नि-शुद्धि का यह वैज्ञानिक विश्लेषण है। इसमे विज्ञान का हवाला देकर यह बताया है कि वह घटना सच्ची है। मूल्य ।-)

१८—कन्या शिक्षा। इसमे बताया गया है कि छोटी बालिकाओ को अपने बाल्य जीवन के विषय मे किस तरह शिक्षा देनी चाहिए। मूल्य ।)

१९—कर्मयोग। श्री अक्षयकुमार मैत्रेय लिखित गीता के कर्मयोग का सरल विवेचन। मूल्य ।=)

२०—कलवार की करतूत। महर्षि टाल्स्टाय की सरल भाषा मे शराब के आविष्कार की मनोरजक कहानी। मूल्य =)

२१—व्यावहारिक सभ्यता। युवको, बच्चो तथा अवस्थाप्राप्त लोगो के लिए रोज के व्यवहार मे आनेवाली शिक्षाओ की पोथी। बोधप्रद शिक्षाप्रद तथा ज्ञानप्रद। मूल्य ।)

२२—अँधेरे में उजाला। महर्षि टाल्स्टाय के नाटक का अनुवाद। हृदय-मन्थन की अनुपम कहानी। मूल्य ।)

२३—स्वामीजी का बलिदान। [अप्राप्य] मूल्य ।-)

५३—**युगधर्म** । [ज़ब्त : अप्राप्य] मूल्य १=)

५४—**स्त्री-समस्या** । नारी-जीवन की जटिल समस्याओ का गम्भीर अध्ययन । मूल्य १॥) २)

५५—**विदेशी कपड़े का मुकाबला** । प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री मनमोहन गाधी लिखित । इसमे बताया गया है कि किस प्रकार भारत अपनी आवश्यकतानुसार पूरा कपड़ा तैयार कर सकता है । मूल्य ॥=)

५६—**चित्रपट** । श्री शान्तिप्रसाद वर्मा के गद्य-गीतो का सग्रह । भावनामय, करुण और मधुर । मूल्य ।=)

५७—**राष्ट्रवाणी** । [अप्राप्य] मूल्य ॥=)

५८—**इंग्लैण्ड में महात्माजी** । श्री महादेव देसाई का लिखा हुआ महात्मा गाधी की इग्लैण्ड की यात्रा का सुन्दर, सरस और सुबोध वर्णन । हिन्दी मे अपने ढग का सर्वोत्तम यात्रा-वृत्तान्त । मूल्य १)

५९—**रोटी का सवाल** । मशहूर रूसी क्रातिकारी लेखक प्रिंस क्रोपाटकिन की अमर कृति Conquest of Bread का सरल अनुवाद । समाजवाद का सुन्दर, सरल और सुबोध विवेचन । मूल्य १)

६०—**दैवी-सम्पद्** । सर्वोत्तम नैतिक एव धार्मिक पुस्तक । 'दैवी-सम्पद से मनुष्य को मोक्ष होती है ।' गीता की इस उक्ति का सुन्दर विवेचन है । मनुष्य को मोक्ष का रास्ता बतानेवाली पुस्तक । मूल्य ।=)

६१—**जीवन-सूत्र** । अग्रेजी मे थॉमस केम्पिस लिखित सर्व प्रसिद्ध पुस्तक 'इमिटेशन ऑफ क्राइस्ट' का अनुवाद । जीवन को उन्नत और विचारो को सात्विक बनानेवाली । मूल्य ॥)

६२—**हमारा कलंक** । अस्पृश्यता-निवारण पर महात्माजी के विचारो एव लेखो का सग्रह, उनके महान् उपवास की कहानी । महात्माजी के आशीर्वाद सहित । मूल्य ॥=)

६३—**बुद्बुद्** । (हरिभाऊ उपाध्याय) अपने आदर्शों से जीवन का मेल मिलानेवाले युवको के लिए विचारणीय पुस्तक । मूल्य ।)

६४—**संघर्ष या सहयोग ?** प्रिंस क्रोपाटकिन की Mutual A'd नामक पुस्तक का अनुवाद । इसमे दिखलाया है कि पशु और पक्षियो से लेकर मनुष्य तक सबके जीवन का आधार सहयोग है, सघर्ष नही, एकता है, लडाई नही । मूल्य १॥)

६५—**गाँधी-विचार दोहन** । श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला, इसमे महात्माजी के

४० हालैंड की राज्यक्रान्ति [नरमेध] डच-प्रजा के आत्मयज्ञ का पुनीत और रोमांचकारी इतिहास। हृदय में उथल-पुथल मचा देने वाली क्रान्तिकारी पुस्तक। मूल्य १॥)

४१—दुखी दुनिया। गरीब और पीडित मानवी दुनिया के करुण चित्र। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य की सच्ची घटनाओ पर लिखी कहानियाँ। मधुर, करुण और सुन्दर। नया और सस्ता संस्करण। मूल्य ।=)

४२—जिन्दा लाश। टाल्स्टाय के The Living Corpse नामक नाटक का अनुवाद। मूल्य ॥)

४३—आत्म-कथा। महात्मा गांधी लिखित। संसार के साहित्य का एक रत्न। उपनिषदों की भाति पवित्र और उपन्यासो की भांति रोचक। चरित्र को ऊँचा उठानेवाली। हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा किया गया प्रामाणिक अनुवाद। दो खण्डो में। बढ़िया जिल्द, सुन्दर छपाई। मूल्य १।)

४४—जब अंग्रेज़ आये। [जप्त : अप्राप्य] मूल्य १।=)

४५ जीवन-विकास। विकासवाद को विषद रूप से समझाने वाली हिन्दी की एक ही पुस्तक। मूल्य १।) १॥)

४६—किसानों का बिगुल। [ज़ब्त : अप्राप्य] मूल्य =)

४७—फाँसी। विक्टर ह्यूगो लिखित। फाँसी की सजा पाये हुए एक युवक के मनोभावों का चित्रण। करुण और रुलानेवाला। मूल्य ।=)

४८—अनासक्तियोग और गीता-बोध। गीता पर गांधीजी की व्याख्या। मूल श्लोक, अनुवाद तथा महात्माजी के गीता के तात्पर्य—गीताबोध—सहित ३५० पृष्ठों में मूल्य केवल ।=) केवल अनासक्तियोग =), सजिल्द ।) गीताबोध -)॥

४९—स्वर्ण विहान [ज़ब्त : अप्राप्य] मूल्य ।=)

५०—मराठों का उत्थान और पतन। मराठा साम्राज्य का विस्तृत और सच्चा इतिहास। मराठी इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान श्री गो० दा० तामसकर लिखित। मराठी भाषा में भी मराठों का ऐसा इतिहास नहीं है। मूल्य २॥)

५१—भाई के पत्र। स्त्री-जीवन पर प्रकाश डालने वाली, उनकी घरेलू एव रोजमर्रा की कठिनाई में पथप्रदर्शक बहनों के हाथों मे दिये जाने योग्य एक ही पुस्तक। अपनी बहनों, बहुओ और बेटियों को इसकी एक प्रति अवश्य दे। मूल्य १॥) २)

५२—स्वगत। (हरिभाऊ उपाध्याय) चरित्र को गढनेवाले उच्च तथा युवकों को सच्चा रास्ता दिखानेवाले उत्तम विचार। मूल्य ।=)

दुनिया का इतिहास बडी सरलता से बताया है । हिन्दी साहित्य का एक बेजोड ग्रन्थ । दो भागो मे । मूल्य ८)

७५—**हमारे किसानों का सवाल** । भूमिका लेखक पण्डित जवाहरलाल नेहरू । ले० डॉ० अहमद । इसमे हमारे गरीब किसानो के सवाल और उसके हल को बहुत अच्छी तरह समझाया गया है । मूल्य केवल ।)

आगे प्रकाशित होनेवाले ग्रन्थ

१—**गांधीवाद समाजवाद**—सम्पादक आचार्य काका कालेलकर ।

२—**विनाश या इलाज**—ले० म्यूरियल लिस्टर ।

३—**गीता-मंथन**—ले० किशोरलाल मशरूवाला ।

४—**राजनीति का परिचय**—ले० हेराल्ड लास्की ।

५—**जब से अंग्रेज़ आये**—ले० डॉ० अहमद ।

६—**महाभारत के पात्र** (५ भागो मे)—ले० नानाभाई ।

७—**संतवाणी**—वियोगी हरि ।

८—**गांधी साहित्य माला** । (१५ भागो मे)

९—**भारत का नया शासन-विधान** ।

(प्रातीय स्वराज्य)—ले० हरिश्चन्द्र गोयल

१०—**हमारे गाँवों की कहानी**—ले० स्व० रामदास जी गौड ।

———०———

नार राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक एव नैतिक विचारो का बडा सुन्दर दोहन किया है। मूल्य ॥)

६६—रशिया की क्रान्ति। [ज़ब्त : अप्राप्य] मूल्य १॥)

६७—हमारे राष्ट्र-निर्माता। लो० तिलक, स्व० मोतीलालजी, मालवीयजी, महात्मा जी, दास बाबू, जवाहरलालजी, मौ० मुहम्मदअली, सरदार और प्रेसिडेन्ट पटेल की जीवनिया—उनके ससमरण, जीवन की झाँकिया एव व्यक्तित्व के विश्लेपण के साथ—लिखी गई है। हिन्दी मे अपने किस्म की एक पुस्तक, मूल्य २॥) ३)

६८—स्वतन्त्रता की ओर—(हरिभाऊ उपाध्याय) इसमें बताया गया है कि हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है ? हम उस लक्ष्य—स्वतत्रता—को किस प्रकार और किन साधनो से प्राप्त कर सकते है। हमारा समाज कैसा हो, हमारा साहित्य कैसा हो, हमारा जीवन कैसा बने जिससे हम स्वतत्रता की ओर बढते चले जाते। हिन्दी मे इस पुस्तक का बडा आदर हुआ है। मूल्य १॥)

६९—आगे बढ़ो। स्वेट् मार्डेन के Pushing to the Front का सक्षिप्त अनुवाद। कठिनाई मे पडे युवको को सच्चे साथी के समान रास्ता बतानेवाली। मूल्य ॥)

७०—बुद्ध-वाणी। (वियोगीहरि) भगवान् बुद्ध के चुने हुए वचनो का सग्रह। बुद्धधर्म का सार तत्त्व। बौद्ध-धर्म के हिन्दी मे मिले सब ग्रन्थो का सार। मूल्य ॥≈)

७१—काँग्रेस का इतिहास। डॉ० पट्टाभिसीतारामैया की लिखी तथा काँग्रेस की स्वर्ण-जयन्ती पर प्रकाशित अग्रेज़ी पुस्तक History of the Congress का यह प्रामाणिक अनुवाद है। इसकी भूमिका राष्ट्रपति श्री राजेन्द्र बाबू ने लिखी है। हिन्दी अनुवाद तथा सपादन श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने किया है। यह दूसरा सस्करण है। बडे आकार के ६५० पृष्ठो की सजिल्द पुस्तक। मूल्य केवल २॥)

७२—हमारे राष्ट्रपति। काग्रेस के पहले अधिवेशन से अवतक के तमाम सभापतियो के जीवन-परिचय सक्षेप मे इस पुस्तक मे दे दिये गये है। हिन्दी मे अपने विषय की यह उत्तम तथा एक-मात्र पुस्तक है। इसकी भूमिका श्री राजेन्द्र बाबू ने लिखी है। सब सभापतियो के चित्रो के साथ, पृष्ठ सख्या ४०० मूल्य १)

७३—मेरी कहानी। प० जवाहरलाल नेहरू की आत्म-कथा। हिन्दी अनुवाद और सपादन हरिभाऊ उपाध्याय ने किया है। इस पुस्तक के प्रकाशित होने से हिन्दी और अग्रेज़ी साहित्य मे एक जीवन पैदा हो गया है। वर्तमान समय की एक ही पुस्तक। बडे आकार मे, पृष्ठ-सख्या ७७५। सजिल्द मूल्य ४)

७४—विश्व-इतिहास की झलक। पण्डित जवाहरलालजी के अपनी पुत्री इदिरा के नाम लिखे पत्रो का सग्रह। इसमे १९६ पत्र है और इसमे उन्होने सारी